हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

चतुर्दश भाग

अद्यतन काल (संवत् १९९५-२०१७ वि०)

संपादक

डा० हरवंशलाल शर्मा

सहायक संपादक

डा० कैलाशचंद्र भाटिया

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०२७ वि०

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

संपादक मंडल

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

श्री डा० नगेंद्र

श्री करुणापति त्रिपाठी

सुधाकर पांडेय—संयोजक

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०२७ वि०

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की सुचिंतित योजना बनाई है। यह इतिहास १७ खंडों[1] में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने में सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस शृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठों का है छप गया है। प्रस्तुत योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढ़ने से ही पता लग जाता है। निश्चय ही इस इतिहास में व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की भाषा है। गत एक हजार वर्ष से इस भूभाग की अनेक बोलियों में उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जनजीवन के निर्माण में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संत और भक्त कवियों के सारगर्भित उपदेशों से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसके अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये यह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसलिये, इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशों में बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशों में अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखों के रूप में देश के कोने कोने में बिखरी पड़ी है। नागरीप्रचारिणी सभा ने पिछले पचास वर्षों से इस सामग्री के अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, और उत्तर प्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखों की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालयों के शोधप्रेमी अध्येताओं ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाए।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओं में अनेक गीतों, वीरगाथाओं, प्रेमगाथाओं, तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। विद्वानों का ध्यान इस ओर भी गया है। यद्यपि यह सामग्री अभी तक अप्रकाशित ही है। लोककथा और

---

१. बाद में यह योजना सोलह भागों तक ही सीमित कर दी गई।—'सभा०'।

लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना में इस साहित्य को भी स्थान दे कर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक और दृष्टि से भी आवश्यक तथा वांछनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी संबंध को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। इंडोआर्यन वंश की जितनी भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ट संबंध रहा है और आज इन सब भाषाओं और हिंदी के बीच जो अनेकों पारिवारिक संबंध हैं उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे में हमारी जानकारी अधिकाधिक हो। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मेलजोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सद्भावना तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लिये भी यह जानकारी उपयोगी होगी।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगा और मैं समझता हूँ, यह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभ कामना प्रकट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ।

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
३, दिसंबर, १९५७

राजेन्द्र प्रसाद

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

नागरीप्रचारिणी सभा के संक्षिप्त खोज विवरणों के प्रकाशन के साथ ही सन् १९०३ ई० से हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन के लिये प्रचुर सामग्री उपलब्ध होनी आरंभ हुई और उसका विस्तार होता गया। इस क्षेत्र में धीरे धीरे अतुल सामग्री का भांडार उपस्थित हो गया। इन उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग और प्रयोग समय समय पर विद्वानों ने किया और सभा के भूतपूर्व खोजनिरीक्षक स्व० मिश्रबंधुओं ने मिश्रबंधु विनोद में सन् १९१० ई० तक उपलब्ध गई सामग्री का व्यापक रूप से उपयोग भी किया। यद्यपि उनके पूर्व भी गार्सो द तासी (सं० १८९६ वि०), शिवसिंह सेंगर (सं० १९३४ वि०), डा० सर जार्ज ग्रियर्सन (सं० १९४६ वि०), एफ० ई० की (सं० १९७७) द्वारा क्रमशः हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास, शिवसिंह सरोज, माडर्न वर्नाक्यूलर लिटेरेचर ऑव हिंदुस्तान, ए हिस्ट्री ऑव द हिंदी लिटेरेचर प्रकाशित हो चुके थे, तो भी ये ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास नहीं माने जा सकते क्योंकि इनकी सीमा इतिवृत्तसंग्रह की परिधि के बाहर नहीं। निश्चय ही ग्रियर्सन का मान अधिक वैज्ञानिक कालविभाजन के कारण और मिश्रबंधु विनोद की गरिमा उसके कालविभाजन तथा तथ्य संग्रह की दृष्टि से है।

सभा ने हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का गंभीर आयोजन हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया, जिसका परिवर्धित संशोधित रूप हिंदी साहित्य का इतिहास के रूप में सभा से सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। यह इतिहास अपने गुणधर्म के कारण अनुपम मान का अधिकारी है। यद्यपि अबतक हिंदी साहित्य के प्रकाशित इतिहासों की संख्या शताधिक तक पहुँच चुकी है तो भी शुक्लजी का इतिहास सर्वाधिक मान्य एवं प्रामाणिक है। अपने प्रकाशनकाल से आज तक उसकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी है। शुक्लजी ने अपने इतिहासलेखन में १९८६ वि० तक खोज में उपलब्ध प्रायः सारी सामग्री का उपयोग किया था। तब से इधर उपलब्ध होनेवाली सामग्री का बराबर विस्तार होता गया, हिंदी का भी प्रसार दिन पर दिन व्यापक होता गया और स्वतंत्रताप्राप्ति तथा हिंदी के राष्ट्रभाषा होने पर उसकी परिधि का और भी विस्तार हुआ।

संवत् २०१० में अपनी हीरक जयंती के अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी शब्दसागर और हिंदी विश्वकोश के साथ ही हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रस्तुत करने की भी योजना बनाई। सभा के तत्कालीन सभापति तथा इस

योजना के प्रधान संपादक स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा की प्रेरणा से इस योजना ने मूर्त रूप ग्रहण किया। हिंदी साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत करने के लिये इस योजना का संघटन किया गया। मूलत: यह योजना ५ लाख ९६ हजार ८ सौ ५४ रुपए ४४ पैसे की बनाई गई। भूतपूर्व राष्ट्रपति देशरत्न स्व० डा० राजेंद्र प्रसाद जी ने इसमें विशेष रुचि ली और प्रस्तावना लिखना स्वीकार किया। इस मूल योजना में समय समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन परिवर्धन भी होता रहा है। प्रत्येक विभाग के अलग अलग मान्य विद्वान इसके संपादक एवं लेखक नियुक्त किए गए जिनके सहयोग से बृहत इतिहास का पहला खंड सं० २०१४ वि० में, छठा खंड २०१५ में, सोलहवाँ खंड २०१७ में, दूसरा और तेरहवाँ खंड २०२२ में तथा चौथा खंड २०२५ में, प्रकाशित हुए। अब यह चौदहवाँ खंड प्रकाशित हो रहा है। आठवाँ और दसवाँ खंड भी तीव्र गति से मुद्रित हो रहे हैं और शीघ्र ही प्रकाशित हो जायँगे। शेष खंडों का कार्य भी आगे बढ़ रहा है। उनके लेखन और संपादन में विद्वान् मनोयोगपूर्वक लगे हुए हैं। इस योजना पर अब तक तीन लाख से ऊपर रुपया व्यय हो चुका है जिसमें से मध्यप्रदेश, राजस्थान, अजमेर, बिहार, उत्तरप्रदेश और केंद्रीय सरकारों ने अबतक १ लाख ५२ हजार रुपए के अनुदान दिए हैं। शेष डेढ़ लाख से ऊपर सभा ने इसपर व्यय किया है और आगे व्यय करती जा रही है। यदि सरकार ने सहायता न की तो योजना का आगे संचालन कठिन होगा: देश के व्यस्त तथा निष्णात लेखकों को यह कार्य सौंपा गया था। पर इस योजना की गरिमा तथा विद्वानों की अति व्यस्तता के कारण इसमें विलंब हुआ। एक दशक बीत जाने पर भी कुछ संपादकों और लेखकों ने रंचमात्र कार्य नहीं किया था। किंतु ऐसी व्यवस्था कर ली गई है कि इसमें अब और अधिक विलंब न हो। संवत् २०१७ तक इसके संयोजक डा० राजबली पांडेय थे और उसके पश्चात् सं० २०२० तक डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा रहे।

इस योजना को गति देने तथा आर्थिक बचत को ध्यान में रखकर इस योजना को फिर से सँवारा गया और इसके लिये एक संपादक मंडल गठित किया गया जिसके प्रधान महामहिम डा० संपूर्णानंद जी थे। अब इसके सदस्य निम्न-लिखित हैं:

श्री रामधारी सिंह दिनकर
श्री डा० नगेंद्र
श्री करुणापति त्रिपाठी
श्री सुधाकर पांडेय—संयोजक

इस बीच हमारे संपादक मंडल के तीन श्रेष्ठ विद्वान् सदस्यों—श्री डा० संपूर्णानंद, श्री डा० ए० चंद्रहासन् और श्री पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'—को काल ने हमसे छीन लिया जिसका हमें हार्दिक शोक है।

इस योजना का अद्यतन प्रारूप निम्नांकित है:

विषय और काल	भाग	संपादक
हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका	प्रथम (प्रकाशित)	डा० राजबली पांडेय
हिंदी भाषा का विकास	द्वितीय (प्रकाशित)	डा० धीरेंद्र वर्मा
हिंदी साहित्य का उदय और विकास (१४०० वि० तक)	तृतीय	पं० करुणापति त्रिपाठी डा० शिवप्रसाद सिंह
भक्तिकाल (निर्गुण) १४००—१७०० वि०	चतुर्थ (प्रकाशित)	पं० परशुराम चतुर्वेदी
भक्तिकाल (सगुण) १४००—१७०० वि०	पंचम	डा० दीनदयालु गुप्त डा० देवेंद्रनाथ शर्मा
रीतिकाल (रीतिबद्ध) १७००—१९०० वि०	षष्ठ (प्रकाशित)	डा० नगेंद्र
रीतिकाल (रीतिमुक्त)	सप्तम	डा० भगीरथ मिश्र
हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदु काल १९००—५० वि०)	अष्टम	डा० विनयमोहन शर्मा
हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदी काल १९५०—७५ वि०)	नवम	पं० कमलापति त्रिपाठी पं० सुधाकर पांडेय
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (काव्य १९७५—९५ वि०)	दशम	डा० नगेंद्र, डा० अंचल, पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (नाटक १९७५—९५ वि०)	एकादश	डा० सावित्री सिनहा डा० दशरथ ओझा डा० लक्ष्मीनारायण लाल
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (कथा साहित्य १९७५—९५ वि०)	द्वादश	डा० कल्याणमल लोढ़ा श्री अमृतलाल नागर
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष समालोचना, निबंध, पत्रकारिता (१९७५-९५ वि०)	त्रयोदश (प्रकाशित)	डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु

हिंदी साहित्य का अद्यतन काल (सं० १९९५ वि० से २०१७)	चतुर्दश (प्रकाशित)	डा० हरवंशलाल शर्मा डा० कैलाशचंद्र भाटिया
हिंदी में शास्त्र तथा विज्ञान	पंचदश	श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' डा० गोपाल नारायण शर्मा
हिंदी का लोक साहित्य	षोडश (प्रकाशित)	महापंडित राहुल सांकृत्यायन

संयोजक—श्रीसुधाकर पांडेय

इतिहासलेखन के लिये जो सामान्य सिद्धांत स्थिर किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं :

१—हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया जायगा।

२—व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

३— साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात् तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्यकारण संबंध, पारिस्परिक संपर्क, संघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, तिरोभाव, अंतर्भाव, आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जायगा।

४—संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके। ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरंजन। साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य किस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ, इसे स्पष्ट किया जायगा। उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जायगा जहाँतक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हुए होंगे।

५—हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्यशास्त्रीय होगा। इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जायगा। विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी—

क—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि : अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि।
ख—दार्शनिक।

ग—सांस्कृतिक।
घ—समाजशास्त्रीय।
ङ—मानववादी, आदि।
च—विभिन्न राजनीतिक मतवादों और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा। जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक होगा।
छ—साहित्य के विभिन्न कालों में उसके विभिन्न रूपों में परिवर्तन और विकास के आधारभूत तत्वों का संकलन और समीक्षण किया जायगा।
ज—विभिन्न मतों की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा। सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धांतों का निरूपण संभव होगा।
झ—उपर्युक्त सामान्य सिद्धांतो को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। संपादक मंडल इतिहास की व्यापक स्वरूपता और आंतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करता रहेगा।

पद्धति—

६—प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उनके साहित्यक्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनके जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निर्देशन किया जायगा।

७—तथ्यों के आधार पर सिद्धांत का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और संमतियों पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी।

८—प्रत्येक निष्कर्ष के लिये प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे।

९—लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा, संकलन, वर्गीकरण, समीकरण (संतुलन), आगमन आदि।

१०—भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होगी।

११—प्रत्येक अध्याय के अंत में संदर्भग्रंथों की सूची आवश्यक होगी।

१२—संपादकों के यहाँ से विभिन्न भागों की संपादित पाडुलिपियाँ आने पर प्रधान संपादक को अथवा जिन्हें सभा निश्चित करे, उन्हें दिखा दी जाया करें। भलीभाँति देख परख लेने पर ही लेखन और संपादन के पुरस्कारों का भुगतान किया जाया करे। एतदर्थ प्रति भाग २५०) रु० तक का व्यय स्वीकार किया जाय।

१३—सभा का आरंभ से ही यह विचार रहा है कि उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, बल्कि हिंदी की ही एक शैली है, अतः इस शैली के साहित्य की यथोचित चर्चा भी ब्रज, अवधी, डिंगल की भाँति, इतिहास में अवश्य होनी चाहिए।

१४—बृहत् इतिहास पर लेखकों को प्रति मुद्रित पृष्ठ ६) रु० की दर से और संपादक को प्रति मुद्रित पृष्ठ १) रु० की दर से पुरस्कार दिया जायगा।

१५—किसी भाग के संपादक यदि अपने भाग के किसी अंश के लेखक भी हों तो उन्हें अपने लिखे अंश पर केवल लेखन पुरस्कार दिया जाय, संपादन पुरस्कार (उतने अंश का) पृथक् से न दिया जाय।

१६—बृहत् इतिहास के लेखकों और सभा के बीच परस्पर अनुबंध होगा जिसमें यह भी उल्लेख रहेगा कि इतिहास की पुरस्कृत सामग्री पर सभा का स्वत्व सदा सर्वदा और सर्वत्र के लिये होगा और उसका उपयोग आवश्यकतानुसार करने के लिये सभा स्वतंत्र रहेगी।

यह योजना अत्यंत विशाल है तथा अतिव्यस्त बहुसंख्यक निष्णात विद्वानों के सहयोग पर आधारित है। यह प्रसन्नता का विषय है कि इन विद्वानों का तो योग सभा को प्राप्त है ही, अन्यान्य विद्वान् भी अपने अनुभव का लाभ हमें उठाने दे रहे हैं। हम अपने भूतपूर्व संयोजकों—डा० पांडेय और डा० शर्मा—के भी अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने इस योजना को गति प्रदान की। हम भारत सरकार तथा अन्यान्य सरकारों के भी आभारी हैं जिन्होंने वित्त से हमारी सहायता की।

इस योजना के साथ ही सभा के संरक्षक स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद और उसके भूतपूर्व सभापति स्व० डा० अमरनाथ झा तथा स्व० पं० गोविंदवल्लभ पंत की स्मृति जाग उठती है। जीवनकाल में निष्ठापूर्वक इस योजना को उन्होंने चेतना और गति दी और आज उनकी स्मृति प्रेरणा दे रही है। विश्वास है, उनके आशीर्वाद से यह योजना शीघ्र ही पूरी हो सकेगी।

अबतक प्रकाशित इतिहास के खंडों को त्रुटियों के बावजूद भी हिंदी जगत् का आदर मिला है। मुझे विश्वास है, आगे के खंडों में और भी परिष्कार और सुधार होगा तथा अपनी उपयोगिता और विशेष गुणधर्म के कारण वे समादृत होंगे।

इस खंड के संपादक श्री डा० हरवंशलालजी शर्मा संस्कृत तथा हिंदी के अधिकारी विद्वान् हैं। उनका मैं विशेषरूप से अनुगृहीत हूँ क्योंकि व्यस्त होते हुए भी हिंदी के हित में इस कार्य को उन्होंने गरिमा के साथ पूरा किया। इस खंड के लेखकों के प्रति भी सभा अनुगृहीत है। अंत में इस योजना में योगदान करनेवाले ज्ञात और अज्ञात अन्य सभी मित्रों एवंहितैषियों के प्रति अनुगृहीत हूँ और विश्वास करता हूँ, उन सबका सहयोग इसी प्रकार सभा को निरंतर प्राप्त होता रहेगा।

सुधाकर पांडेय
संयोजक,
बृहत् इतिहास उपसमिति, तथा
प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

भूमिका

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के सोलह भागों में प्रकाशन की नागरी-प्रचारिणी सभा की योजना अपने क्षेत्र में अद्भुत कार्य है। हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन के क्षेत्र में विशिष्ट अधिकारी विद्वानों द्वारा किया गया यह अनुष्ठान अपना अन्यतम मौलिक गौरव रखता है। यह खंड सन् १९३८ से लेकर लगभग १९६० तक अद्यतन काल से संबद्ध है। इसके संपादक हिंदी के कीर्तिलब्ध विद्वान् डा० हरवंशलाल शर्मा हैं और उनके सहायक श्री डा० कैलाशचंद्र भाटिया। दोनों के संपादकत्व में यह खंड प्रकाशित हो रहा है। इससे निश्चय ही हम सबको प्रसन्नता है। इतिहासलेखन और संपादन के लिये तत्वग्राही दृष्टि एवं व्यापक अध्ययन के साथ ही साथ युग का मर्मांत बोध तो आवश्यक है ही उसके साथ ही तटस्थ सरस सहिष्णु दृष्टि की भी आवश्यकता होती है। यह उत्तरदायित्व तब और अधिक बढ़ जाता है जब समसामयिक इतिहासलेखन या संपादन का कार्य करना पड़ता है। निश्चय ही संस्कृत साहित्य के तथा प्राचीन साहित्य के विश्रुत विद्वान् डा० शर्मा ने अपने इस कार्य द्वारा इतिहास-सर्जन के इन मूल्यों की प्रतिष्ठा स्थापित रखी है। देश के जाने माने विद्वान् यथा डा० नगेंद्र, केसरीनारायण शुक्ल; इंद्रनाथ मदान, डा० विजयेंद्र स्नातक जैसे सिद्ध लोगों से उन्होंने योगदान लिया है। वहीं युवा पीढ़ी के मर्मज्ञ विद्वानों का भी सहयोग उन्हें प्राप्त हुआ है। इससे इस कृति के सामर्थ्य की श्रीवृद्धि हुई है।

आधुनिक साहित्य विचारों, वादों और चिंतनों का युग है तथा विधा के क्षेत्र में भी निरंतर परिवर्तन का। इसलिये सभी क्षेत्रों में आंदोलन, प्रत्यांदोलन, समांदोलन दीख पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में मूल्यांकन सहज कार्य नहीं। क्योंकि काल किसी भी कृति के गुणधर्म की महिमा का सनातन निकष है और सामयिक साहित्य की आलोचना में इस निकष के उपयोग और प्रयोग तथा उसके फल दर्शन के लिये अवकाश नहीं रहता। ऐसी स्थिति में लेखक और संपादक का उत्तरदायित्व बड़ा गहन हो जाता है। इस उत्तरदायित्व का निर्वाह इस खंड के सर्जकों ने सफलता के साथ किया है।

प्रायः जानकारी की जितनी सामग्री इस भाग में आनी चाहिए थी आ चुकी। उर्दू साहित्य का इतिहास भी, जो हिंदी की एक सर्वमान्य विशिष्ट शैली है,

इसमें दिया गया है। इसके लेखक सुप्रसिद्ध साहित्यकार राही मासूम रज़ा हैं। इन्होंने बड़े व्यवस्थित ढंग से और विद्वत्तापूर्ण ढंग से यह कार्य किया है।

इन विद्वानों के प्रति ऐसे मानक कार्य के लिये मैं हिंदी जगत् की ओर से बधाई प्रस्तुत करता हूँ और ऐसी आशा करता हूँ कि अपने गुणधर्म के कारण इस कृति का सर्वत्र संमान होगा। इस खंड के लिये किसी भूमिका की आवश्यकता नहीं थी और कम से कम इसके संयोजक को यह कार्य नहीं करना चाहिए था किंतु इसके संपादक का निर्देश टाल सकना मेरे लिये क्या उनके संपर्क में आए किसी भी व्यक्ति के लिये असंभव है क्योंकि डा० शर्मा जो कुछ भी करते हैं भगवत्प्रेरणा से। मुझे विश्वास है कि यह कृति हिंदी के समीक्षा क्षेत्र में अशेष संमान की अधिकारिणी होगी, अपने तत्व और धर्म के कारण।

सुधाकर पांडेय

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

चतुर्दश भाग : अद्यतन काल

लेखक और लिखित पृष्ठ

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

चतुर्दश भाग : अद्यतन काल

विषयसूची

प्रथम खंड : पृष्ठभूमि और परिस्थितियाँ

द्वितीय खंड : काव्य

तृतीय खंड : कथा साहित्य

चतुर्थ खंड : नाटक

पंचम खंड : निबंध और समीक्षा

षष्ठ खंड : विविध विधाएँ

———

प्रथम खंड

पृष्ठभूमि और परिस्थितियाँ

लेखक

डॉ० केसरी नारायण शुक्ल

●

पृष्ठभूमि और परिस्थितियाँ

(सन् १९३७–१९५२ ई०)

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में १९३७ से लेकर १९५२ तक की कालावधि अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इस अवधि में जहाँ एक ओर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांप्रदायिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में अनेक आंदोलन हुए, वहाँ दूसरी ओर रचनात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी विविध विचारधाराओं का आविर्भाव और विकास हुआ। इस अवधि के आरंभिक भाग मे द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ जिसके गंभीर परिणाम सामने आए तथा इसी अवधि में भारतवर्ष को स्वतंत्रता प्राप्त हुई और भारतविभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई परिस्थितियाँ भी सामने आई। साहित्य के क्षेत्र पर इन परिस्थितियों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। युद्ध और शांति के समय रचा गया साहित्य स्पष्ट रूप से पारस्परिक पार्थक्य लिए हुए होता है। उदाहरण के लिये यदि शांति का समय होता है तो बड़े बडे महाकाव्य, नाटक, महान् उपन्यास तथा शास्त्रीय ग्रंथ आदि लिखे जाते है और इसके विपरीत यदि युद्धकाल का वातावरण व्याप्त होता है तो साहित्य के संक्षिप्त रूप लघुकथा, लघुउपन्यास, रिपोर्ताज, एकांकी एवं स्फुट काव्य का सृजन होता है। इस कथन का आशय यह नही है कि इस कालावधि में महान् साहित्यिक ग्रंथ नही लिखे गए। यहाँ पर इसका आशय केवल इतना ही है कि इस युग में जो साहित्य के संक्षिप्त रूप थे वे ही जनता मे प्रिय हो सके और उन्हीं को लौकिक स्तर पर स्वीकृति मिल सकी। परंपरागत रूप से प्रचलित संक्षिप्त साहित्यिक रूपों के साथ साथ इस युग मे अनेक नई विधाओं का भी विकास हुआ जिनमें रेडियो-रूपक, रिपोर्ताज, यात्रा संस्मरण, शब्दचित्र तथा व्यंग्यचित्र आदि हैं।

आधुनिक हिदी साहित्य मे सन् १९३८ तथा उसके आसपास का काल नवीनता की व्यापकता की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। पंत जी का 'युगांत' १९३८ में प्रकाशित हुआ और यह कृति अपनी संज्ञा के ही अनुरूप एक युग की समाप्ति और दूसरे युग के आरंभ का संकेत बन गई। इसी समय हिंदी साहित्य कल्पना और आदर्श के घेरे को तोड़कर वैयक्तिकता, यथार्थ और प्रगति की प्रशस्त भूमि पर पदार्पण करता है। 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना १९३६ मे हुई जिसका प्रथम अधिवेशन मुंशी प्रेमचंद के सभापतित्व में हुआ। इसी समय अनेक नवीन पत्र और पत्रिकाओं का जन्म हुआ जिसमें 'हंस' और 'जागरण' का विशेष महत्त्व है। प्रगतिशील और (बाद में) प्रयोगशील लेखको को इन पत्रों से बड़ा बल मिला। हिंदी कविता में

व्यक्तिवादी स्वर बच्चन, नरेंद्र शर्मा, अंचल आदि की कविताओं के माध्यम से इसी समय प्रस्फुटित होता है कुछ आगे चलकर रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, सुमन, शील जैसे समर्थ कवियों की कृतियों में प्रगतिवाद का रूप धारण करता है और प्रथम 'तारसप्तक' (१९४३) के रूप मे अज्ञेय के नेतृत्व में प्रयोगवाद की अवतारणा करता है। गद्य के क्षेत्र मे जैनेंद्र, यशपाल, इलाचंद्र जोशी तथा अन्य अनेक समर्थ लेखक इसी समय उभरते है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

प्रस्तुत आलोच्यकाल राजनीतिक घटनाओं की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस युग में कतिपय राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय महत्व की घटनाएँ घटी जिनमें सबसे प्रमुख द्वितीय विश्वयुद्ध, भारत की स्वतंत्रता तथा भारत का विभाजन है। इसका भारतीय साहित्य की गतिविधि पर व्यापक एवं गंभीर प्रभाव पड़ा।

इन घटनाओं तथा इनके प्रभाव का आकलन एवं विश्लेषण करने के पूर्व बीसवी शताब्दी के आरंभ की भारतीय राजनीतिक वस्तुस्थिति का संक्षिप्त विवरण अप्रासंगिक न होगा, क्योंकि इससे इनके स्वरूप को ठीक ठीक समझने में सहायता मिलेगी। बीसवी के आरंभिक वर्षो मे ब्रिटिश शासन की भारतीय नीति शासन में भारतीयो को भी (अत्यंत सीमित क्षेत्र में तथा अत्यंत संकुचित रूप में) संमिलित करने की बनी। भारत के नए मंत्री माटेग्यु ने जो नवीन नीति की घोषणा की उसपर इसका पूरा पूरा प्रभाव था। माटेग्यु ने कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य भारत मे स्वशासन की व्यवस्था विकसित करना चाहता है। १९०९ मे 'चैम्सफोर्ड बिल' के नाम से इस नई नीति को वैधानिक रूप मिला। इसके अनुसार अंग्रेजों के साथ भारतीयों को भी कुछ मंत्रिपद दिए गए, गवर्नर को 'विटो' का अधिकार दिया गया। यह नई नीति वस्तुत. एक प्रकार की छलप्रवंचना थी। व्यवस्था इस प्रकार थी कि भारतीय मंत्री अंग्रेजोके अधीन और उन्हीं पर निर्भर थे। पट्टाभि सीतारमैया 'कांग्रेस का इतिहास' मे लिखते है : 'चैम्सफोर्ड बिल ने लोगों के दिलो को आघात पहुँचाया। द्विविध शासन प्रणाली, कौंसिल मे नामजद सदस्यो का रहना, राज्यपरिषद्, सार्टिफिकेशन और विटो का अधिकार, आर्डिनेंस बनाने की सत्ता और ऐसी तमाम पीछे हटानेवाली बाते उस बिल मे थी।' इसी के साथ साथ ऐसा बिल भी बनाया गया जिसके अनुसार कोई भी राजद्रोह के अभियोग मे दंडित किया जा सकता था। 'मांटफोर्ड बिल' और 'रौलट बिल' दोनों ही सरकार के हथकंडे थे। प्रथम के माध्यम से वह साधारण भारतीय जनता को अपना समर्थक बनाना चाहती थी और दूसरे के द्वारा राष्ट्रीय आदोलन मे भाग लेनेवाले तत्वों के दमन का सूत्र उसने अपने हाथ में पकड़ रखा था। देश इस दोहरी चालाकी को समझ गया और गांधीजी के नेतृत्व मे जनता ने 'रौलट बिल' का विरोध किया। सरकार इस स्थिति को समझ

गई और उसने दूसरा हथकंडा अपनाया। १९२२ में वाइसराय 'रीडिंग' ने नरेश संरक्षण बिल पारित किया जिसे असेंबली ने ठुकरा दिया था। अंग्रेजों ने यह प्रचार करना आरंभ किया कि भारत के लिये सामंती रियासतों का शासनप्रबंध ही उचित है। अंग्रेज लेखक फ्रेडरिक लुगार्ड ने पूरे ब्रिटिश भारत को देशी राज्यों में बाँट देने का प्रस्ताव रखा। यह सब राष्ट्रीय आंदोलन को असफल बनाने के लिये किया जा रहा था। इसी के परिणामस्वरूप १९१८ में 'लिबरल फेडरेशन' की स्थापना हुई जिसके सदस्य ब्रिटिश शासन मे पोषित तथाकथित लिबरल नेता थे। ये नेता उच्च मध्यम श्रेणी के थे और ब्रिटिश सत्ता के समर्थक थे। इन नेताओं ने राष्ट्रीय आदोलन से जनता का ध्यान हटाने के लिये तथा उसकी शक्ति को क्षीण करने के लिये औपनिवेशिक राज्य की माँग की। इन्होंने संघ राज्य का समर्थन गोलमेज परिषद् में किया। यह दल सरकार और कांग्रेस के बीच मध्यस्थ का काम करने लगा और दोनों के बीच समझौता कराने में इसने अपनी दिलचस्पी दिखाई। इस दल को जनता का समर्थन न प्राप्त हो सका और राष्ट्रीय आंदोलन अपनी गति से आगे बढ़ता रहा। १९१६ मे हिंदू मुस्लिम समझौता हुआ था और राष्ट्रीय आदोलन की शक्ति के कुछ और संघटित होने का आभास सा प्रतीत हुआ। इस प्रकार १९१७ से कांग्रेस जनता की प्रतिनिधि संस्था के रूप मे और भी दृढ हुई। १९१९ में दूसरा आदोलन समग्र भारतीय जनता का आंदोलन बन गया और इसका नेतृत्व गाधीजी ने किया। इसके पहले यह आंदोलन बंगभंग समस्या पर केंद्रित था। अब आंदोलन का रूप व्यापक हुआ। अब गांधीजी ने सत्याग्रह पद्धति पर युद्ध छेड़ा। जनता ने अपने राष्ट्रीय आवेश मे हिंसा का भी रास्ता अपनाया जिसके फलस्वरूप सरकार ने पंजाब का हत्याकांड करवाया। १९२१ में इसी संदर्भ में कांग्रेस ने गांधीजी के ही नेतृत्व में असहयोग आंदोलन आरंभ किया। इस आदोलन मे नारियों तथा मजदूरों ने भी सक्रिय भाग लिया। किंतु चौराचौरी का हत्याकाड देखकर गाधीजी को बड़ा क्षोभ हुआ और उन्होने आंदोलन स्थगित कर दिया। सरकार को सांप्रदायिकता को आग भड़काने का अवसर मिल गया क्योकि आंदोलन स्थगित होने से राष्ट्रीय एकता बिखर गई। सरकार ने मुस्लिम लीगी नेताओं को भड़काया कि यह आदोलन मुसलमानों के हित के लिये नही है वरन् हिंदुओं के हित के लिये है। फलतः मुस्लिम लीग राष्ट्रीय आदोलन से सदैव के लिये अलग हो गई। कांग्रेस संघटन भी तीन दलों मे बँट गया। गांधीजी असहयोग आंदोलन के समर्थक थे। मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास के नेतृत्व में स्वराज्य पार्टी बनी जो 'वैधानिक व्यवधान' की नीति पर चलना चाहती थी। मालवीयजी और लाजपत राय ने 'नेशनलिस्ट पार्टी' संघटित की, जिसके पास कोई निश्चित कार्यक्रम न होते हुए भी उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता थी। इस बिखराव का फल यह हुआ कि १९३० तक केवल कौंसिलों में व्यवधान डालने की नीति की सक्रियता के अतिरिक्त कोई व्यापक आंदोलन न हो सका। १९३० से 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' गांधीजी ने लाहौर में

रावी के तट पर जवाहरलाल नेहरूजी की अध्यक्षता मे आरंभ किया जिसमें पूर्ण स्वराज्य को पहली बार लक्ष्य माना गया। यह आंदोलन १९३४ के मध्य तक चलता रहा। सरकार ने दमनचक्र की गति तेज कर दी और कांग्रेस को अवैधानिक घोषित कर दिया। जनता को बहलाने और बहकाने के लिये लंदन में तीन बार 'गोलमेज कांफ्रेंस' भी गई जिसमें नए विधान की बात उठाई गई और पाखंड सा रचा गया। सरकार ने अछूतों को विशेष प्रतिनिधित्व देकर उनको हिंदू जाति से पृथक् कर दिया जिसके फलस्वरूप गांधीजी को एक बार फिर आंदोलन वापस लेना पड़ा और उन्होंने हरिजनों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। १९३५ मे प्रांतों को स्वायत्त शासन दिया गया और विभिन्न राजनीतिक संस्थाएँ चुनाव की तैयारी मे लग गईं। इस तैयारी मे समाजवादी प्रभाव बड़े उभरे हुए रूप में सामने आया। १९३६ मे लखनऊ में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमे समाजवादी धारणा को बाजी मिली। इस अधिवेशन की अध्यक्षता पं० जवाहरलाल नेहरू ने की थी। वे अभी अभी योरोप से लौटे थे और उनके हृदय तथा मस्तिष्क समाजवादी विचारो से पूरी तरह प्रभावित और प्रेरित थे। उन्होंने यह विचार अनेक अवसरों पर व्यक्त किया। उन्होंने कहा—'चाहे समाजवादी सरकार की स्थापना सुदूर भविष्य की ही बात क्यों न हो और हममें से बहुत लोग उसे अपने जीवन में भले ही न देख पावें, लेकिन समाजवाद वर्तमान मे वह प्रकाश है जो हमारे पथ को आलोकित करता है'।[1] यह समाजवादी प्रभाव ही था कि कांग्रेस का अधिवेशन सन् १९३७ मे प्रथम बार फैजपुर गाँव मे हुआ जहाँ से नेहरूजी ने समाजवादी संमेलन को यह संदेश भेजा : 'जैसा कि आप लोगों को मालूम है कि मुझे हर समस्या के प्रति समाजवादी दृष्टिकोण मे बड़ी भारी दिलचस्पी है। इस पद्धति के पीछे जो सिद्धांत है, उसे हमे समझना चाहिए। इससे हमारी दिमागी उलझन दूर होती है और हमारे काम की कुछ उपयोगिता हो जाती है।'[2]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन् १९३७ मे कांग्रेस का अधिवेशन प्रथम बार फैजपुर गाँव में हुआ। इसकी अध्यक्षता पं० जवाहरलाल नेहरू ने की। इस वर्ष कांग्रेस की स्वर्णजयंती भी मनाई गई थी। यह अधिवेशन इस दृष्टि से पहला कहा जा सकता है कि किसी बड़े नगर मे न होकर यह एक छोटे से ग्राम में हुआ। इस कांग्रेस अधिवेशन ने १ अप्रैल १९३७ को ब्रिटिश सरकार के नए ऐक्ट के विरुद्ध हड़ताल का प्रस्ताव पास किया। १९३८ मे बाबू सुभाषचंद्र बोस को अध्यक्षता मे कांग्रेस का ५१वाँ अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन गुजरात के एक गाँव हरिपुरा में हुआ था। स्वरूपरानी नेहरू, जगदीशचंद्र बोस, शरद्चंद्र चटर्जी तथा जयशंकर प्रसाद जैसे महान् व्यक्तियों की मृत्यु पर शोकप्रस्ताव पास किया गया। इस समय अंग्रेजी

१. एटीन मंथ्स इन इंडिया, पृ० ४१।

२. कांग्रेस का इतिहास, डॉ० प० सीतारमैया, भाग २, पृ० १६।

सरकार की ओर से भारतवर्ष पर नया संघशासन विधान लागू किया जानेवाला था। इसी कांग्रेस अधिवेशन में सुभाषचंद्र बोस ने अध्यक्षपद से बोलते हुए कहा था : 'राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के विषय में हमारी प्रमुख समस्या होगी देश की गरीबी दूर करना। इसके लिये यह आवश्यक होगा कि वर्तमान भूमिव्यवस्था में बुनियादी रद्दोबदल की जाय। निस्संदेह जमींदरीप्रथा का नाश करना भी इसमें शामिल हो। किसानों के सारे कर्ज बेबाक कर देने होंगे और देहाती भाइयों के लिये सस्ते दर पर कर्ज पाने की व्यवस्था करनी होगी। वैज्ञानिक तरीकों से खेती करना होगा जिसमें भूमि की पैदावार बढ़े।' अपने इन कृषकसुधार संबंधी मंतव्यों की पूर्ति के लिये सुभाष बाबू ने किसानसभा की आवश्यकता पर बल दिया। १९३९ में कांग्रेस का ५२वाँ अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन त्रिपुरी में हुआ था। इस अधिवेशन में सुभाष बाबू ने यह घोषणा की कि अब स्वराज्य का प्रश्न दृढ़तापूर्वक उठाने का समय आ गया है और अल्टीमेटम के रूप मे हमें अपनी समस्याएँ अंग्रेजी सरकार के सामने रख देनी चाहिए। १९४० में मौलाना अबुलकलाम आजाद के सभापतित्व में रामगढ़ में कांग्रेस का ५३वाँ अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में सभापति ने मुसलमानों के संदर्भ में राष्ट्रीयता के प्रश्न पर विचार किया। उन्होने विभिन्न धर्मावलंबियों के देश के रूप मे हिंदुस्तान का उल्लेख किया और सबको एकता के सूत्र में आबद्ध होने का आह्वान किया।

फैजपुर काग्रेस अधिवेशन से समाजवादी विचारधारा को जो प्रोत्साहन प्राप्त हुआ उसने जनता को एक नया उत्साह दिया और नया रास्ता दिखाया। किसानों और श्रमिकों में यह प्रभाव विशेषरूप से उभरा और उन्होंने संघटित होकर अपने सामूहिक हितों की रक्षा के लिये अनेक आंदोलन किए। सीतारमैया लिखते हैं : 'जहाँ एक ओर जीवनभर रक्त की होली खेलनेवाले अहिंसा की तरफ आकर्षित हो रहे थे या कम से कम हिंसा से मुँह मोड़ते जा रहे थे, वहाँ दूसरी ओर असंख्य किसान सैकड़ों मील चलकर गाँवों से आते थे और अपने संघटन अलग कायम करते थे। ये नए संघटन कम या अधिक मात्रा में कांग्रेस के विरुद्ध होते थे इसके लिये उन्हें एक उद्देश्य, एक झंडा और एक नेता मिल गया। किसानों की हिमायत कोई नई बात न थी, लेकिन अबतक ऐसा कांग्रेस ही करती आई थी। इस बार उन्होने लाल रंग का सोवियत झंडा अपनाया जिसमें हँसिया और हथौड़ा के चिह्न अंकित थे। किसानों और कम्युनिस्टों में यह झंडा अधिकाधिक चल पड़ा।.........किसानों के नेताओं ने देहातों में दूर दूर तक दौरे किए।.........इस प्रकार इस दल की शक्ति और संघटन मे वृद्धि हुई और वह कांग्रेस के मुकाबले पर डट गया'।[1] किसानों की ही भाँति श्रमिकों के भी मन में एक स्वतंत्र समाजवादी भारत का स्वप्न पल रहा था। श्री ए० आर० देसाई लिखते हैं : 'जब तत्कालीन भारतीय समाज के दूसरे वर्ग भारत को स्वतंत्र करने की

१. कांग्रेस का इतिहास, भाग २, पृ० ७३।

कामना कर रहे थे, भारतीय श्रमिक स्वतंत्र समाजवादी भारत का स्वप्न देख रहे थे।'[1] किसानों और श्रमिकों के आंदोलन में तब और तेजी आई जब १९३७ के चुनावों के अनंतर बने कांग्रेसी मंत्रिमंडलो मे उनकी समस्याओं पर विशेष ध्यान नही दिया गया, यद्यपि कांग्रेस ने उन्हे इस प्रकार के आश्वासन दिए थे और इन्ही की सहायता से वह विजयिनी हुई थी। 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना है जिसमे अखिल भारतीय स्तर पर श्रमजीवी वर्ग साम्राज्यवादी और पूँजीवादी सत्ता से लोहा लेने के लिये खुले मैदान में आया। १९३८ के आसपास और उसके बाद अनेक श्रमिकसंस्थाएँ स्थापित हुईं, श्रमिकों की सभाएँ हुई और अनेक ऐतिहासिक हडतालें हुई। इसी प्रकार किसानों का असंतोष विभिन्न संस्थाओं और अभियानो, 'किसानमार्च' आदि के माध्यम से व्यक्त हुआ। इसी के साथ दूसरी ओर बुर्जुवा वर्ग की भी विभिन्न संस्थाएँ बनी जो कांग्रेस की समर्थक थी और अपने हितों के संरक्षण की दृष्टि से राष्ट्रीय आंदोलन को आगे बढाने मे मुख्यत. आर्थिक सहयोग देती थी। श्रमिकों और किसानों की इस चेतना को प्रगतिवादी साहित्य में बड़ी सशक्त वाणी मिली है। नरेंद्र शर्मा, अंचल, सुमन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, निराला आदि कवियों ने अपनी अनेक कविताओ से इस समाजवादी चेतना को अभिव्यक्ति दी है।

सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया जिसे जर्मनी ने शुरू किया। जर्मनी, इटली तथा जापान एक पक्ष मे तथा ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका और रूस दूसरे पक्ष में हुए। इस युद्ध से प्रत्यक्षत: भारत का कोई सबंध नही था परंतु ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन होने के कारण भारतवर्ष को भी इसमे अनिच्छा से भाग लेना पड़ा। इस समय तक हमारे देश की राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना जाग्रत हो चुकी थी, इसलिये इस विश्वयुद्ध मे भारत के भाग लेने का तीव्र विरोध किया गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने लड़ाई मे भाग लेने के पूर्व सारी परिस्थितियो तथा अंग्रेजो के पक्ष के स्पष्टीकरण की माँग की। इसके साथ ही साथ भारतीय नेताओं ने यह भी स्पष्ट माँग रखी कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय स्वतंत्रता के विषय मे अंग्रेजी सरकार निश्चित घोषणा करे। अंग्रेजी सरकार ने इनमे से किसी भी माँग को मानना पूर्णत: अस्वीकार कर दिया। फलत देश मे प्रांतीय कांग्रेसी सरकारों ने असहयोग करते हुए अपने अपने मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिए। ब्रिटिश सरकार की ओर से वाइसराय ने समस्त अधिकार अपने हाथ मे लेकर भारत को भी युद्ध मे भाग लेने के लिये बाध्य कर दिया। इस लड़ाई मे जहाँ एक ओर अनेक राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय समस्याएँ उलझी हुई थीं वहाँ दूसरी ओर सिद्धांत का प्रश्न भी संलग्न था। अंग्रेजी पक्ष की ओर से ही युद्ध मे भाग लेने का आशय प्रत्यक्षत. साम्राज्यवाद का पोषण करना था। इसके अतिरिक्त

१. द सोशियोलाजिकल बैकग्राउंड आफ इंडियन नेशनलिज्म, पृ० १८३।

इस समय कांग्रेस के कर्णधार तथा देश के महान्तम नेता महात्मा गांधी अपनी अहिंसावादी नीति के कारण इस युद्ध में सक्रिय रूप मे भाग लेने के विरुद्ध थे। भारतवर्ष में जो अन्य राजनीतिक दल थे वे भी अपनी अपनी पृथक् नीति के कारण इस युद्ध में भाग लेने के पक्ष अथवा विपक्ष में थे। विश्वयुद्ध संबंधी ये दृष्टिकोण भारत में प्रचलित समकालीन राजनीतिक विचारधाराओं और चेतना के द्योतक थे।

सन् १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हो गया। कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक दलों ने अपनी अपनी पूर्वघोषित नीति के अनुसार ब्रिटेन के पक्ष और विपक्ष मे अपना समर्थन और विरोध प्रकट किया। युद्ध के बीच जापान ने भारत के कुछ भागों पर आक्रमण किया और उन्हें बमबारी द्वारा नष्ट करने का प्रयत्न किया। कांग्रेस महासमिति ने अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता की माँग और भी दृढ़तापूर्वक दोहराई। इसके पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति को अपना ध्येय बता चुकी थी। १९३७ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने कांग्रेस के सदस्यों को मंत्रीपद ग्रहण करने की अनुमति केवल इस शर्त पर प्रदान की थी कि वे स्वच्छंद होंगे एवं उनपर गवर्नर का सामान्य नीतियों में अंकुश न रहेगा। इसी के अनुसार कुल ११ प्रदेशों में से ७ में कांग्रेस मंत्रिमंडल बने। इसके कुछ समय पश्चात् अनेक स्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुई कि ये मंत्रिमंडल भंग हुए तथा पुनः नियोजित हुए। परंतु १९४० तक स्थिति इतनी विषम हो गई कि इन मंत्रिमंडलों का अस्तित्व ही खतरे मे पड़ गया। जब भारतको अनिच्छा से ही विश्वमहायुद्ध में झोंक दिया गया और कांग्रेस की युद्धनीति तथा उद्देश्य संबंधी स्पष्टीकरण की माँग का कोई उत्तर अंग्रेजी सरकार ने न दिया तब राष्ट्रीय आंदोलन और भी अधिक तीव्र रूप में उभरा। फलतः अंग्रेजी सरकार ने सदैव की भाँति दमन की नीति पुनः अपनाई। कांग्रेस के सदस्यगण सहस्रों की संख्या मे गिरफ्तार करके जेल भेज दिए गए। इन गिरफ्तार हुए व्यक्तियों में प्रादेशिक व्यवस्थापिकाओं के सदस्य, केंद्रीय व्यवस्थापिका संस्थाओं के सदस्य, अनेक मंत्रिमंडलों, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति तथा कांग्रेस कार्यकारिणी के भी सदस्य थे। चूंकि इस स्थिति में भी मुस्लिमलीग सरकार का समर्थन कर रही थी इसलिये सरकार ने उसे अपना संरक्षण और प्रोत्साहन दिया।

यह युद्ध फासिज्म और नाजीवाद के विरुद्ध था अतएव भारतीय जनता में इसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई। साहित्यकारों ने भी इस दिशा में जनता का साथ दिया और जागरण का शंख फूँका। ब्रिटिश सरकार ने यद्यपि भारतीय नेताओं से परामर्श लिए बिना ही भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी थी और इसी आधार पर कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र भी दे दिए थे किंतु जनता अपनी समाजवादी मनोदृष्टि के कारण और जननेता गांधीजी अंतरराष्ट्रीय नैतिकता की दृष्टि से सरकार को सहयोग देने के समर्थक थे। जनता राष्ट्रीय स्तर पर अब भी सरकार के विरुद्ध थी किंतु फासिज्म के विरुद्ध अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उसकी सहानुभूति मित्रराष्ट्रों के साथ

थी। इस महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की सेना ने अप्रतिम शौर्य दिखाया, विशेषकर रूस की लालसेना का साहस अपूर्व था। भारतीय जनता रूस की विजय चाहती थी। उसके हृदय में लालसेना के प्रति अगाध सहानुभूति और आदर था। इस समय अनेक कविताएँ लालसेना की प्रशस्ति के रूप मे लिखी गई। इस युद्ध के दौरान हिंदी में बड़ा सशक्त साहित्य रचा गया जिसमें फासिज्म और नाजीवाद के प्रति घृणा और गहरा विक्षोभ व्यक्त हुआ और रूसी एवं भारतीय सैनिको के शौर्य और साहस के गीत गाए गए।

यह पहले कहा जा चुका है कि मुस्लिम लीग के हुकूमतपरस्त होने के कारण उसे ब्रिटिश शासन का प्रश्रय प्राप्त था। अंग्रेजों ने उसे अपनी कूटनीति का माध्यम बनाया और भारतीय राष्ट्रीयता की शक्ति को क्षीण करने के लिये उसे भेद डालने के लिये उकसाया। फलत: मुस्लिम लीग प्रतिदिन नई माँगें सामने रखने लगी और सांप्रदायिकता का विषाक्त वातावरण उसके माध्यम से बनाया जाने लगा। यद्यपि उस समय इस माँग की विभीषिका किसी ने नही समझी, फिर भी आगे चलकर इसी ने देश का विभाजन कराया और फलस्वरूप भीषण नरमेध हुए।

मार्च १९४२ मे सर स्टेफर्ड क्रिप्स समझौते के प्रस्ताव लेकर भारत आए। वे ब्रिटेन के समाजवादी नेता थे और इस कारण उनका प्रभाव पड़ सकता था, किंतु उनके प्रस्तावों में बड़ी अस्पष्टताएँ और उलझनें थी। उनके प्रस्ताव अमान्य ही रहे और वे अपने अभियान में असफल होकर वापस चले गए। भारतीय जनता मे साम्राज्यवाद के विरुद्ध आक्रोश और असंतोष गहरा होता जा रहा था और वह छोटे-छोटे दिखावटी प्रस्तावो पर रीझनेवाली न थी। नेता भी समझौतो का छलावा देख चुके थे। अतएव अगस्त १९४२ मे भारतीय स्वाधीनता की सर्वप्रथम घोषणा के रूप में ८ अगस्त को कांग्रेस ने अहिसा और सविनय अवज्ञा की नीति के अनुरूप 'भारत छोड़ो' का नारा लगाया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने स्पष्ट रूप से भारत से ब्रिटिश सत्ता हटाने की माँग की क्योकि उसका विचार था कि भारतीय स्वाधीनता से ही एशिया की मुक्ति होगी। स्वतंत्र राष्ट्रों का विश्वसंघ स्थापित करने की आवाज भी इसी समय लगाई गई। स्वाधीनता के लिये अहिंसात्मक युद्ध के सूत्रधार महात्मा गांधी बने।

गांधीजी ने ८ अगस्त सन् १९४२ को अर्धरात्रि के समय संदेश देते हुए कहा : 'मेरे जीवन की यह अंतिम लड़ाई है। इस निश्चय को किसी भी हालत में, मैं बदल नही सकता। इस आंदोलन से कोई अपने को अलग नहीं रख सकता। रचनात्मक कार्य करनेवाले सभी स्वतंत्रता संग्राम में पूरा पूरा हिस्सा लेंगे। कल से सब हिंदुस्तानी अपने को आजाद समझें और उसी तरह से व्यवहार करें। या तो हिंदुस्तान को हम आजाद करके रहेंगे या शहीद होकर मरेंगे।' गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में विदेशी शासकों से भारत छोड़ देने को कहा। इस संमेलन में कहा गया कि 'आज के खतरे

को देखते हुए भारत को स्वतंत्र कर देने की आवश्यकता है। भविष्य के लिये किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञाओं और गारंटियों से वर्तमान परिस्थिति में सुधार नहीं हो सकता और न उसका मुकाबला किया जा सकता है। इसी लिये अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पूरे आग्रह के साथ भारत से ब्रिटिश सत्ता को हटा लेने की माँग को दुहराती है।'[1] इस घोषणा के पश्चात् ही दूसरे दिन से गिरफ्तारियों और दमन का आरंभ हो गया। यह समाचार आँधी की तरह सारे देश में फैल गया। पुलिस की गोलियों से अनेक राष्ट्र-भक्त शहीद हुए। बिहार में भी क्रांति की आग इस समय विशेष रूप से भड़की। उत्तर प्रदेश के अनेक जिलों में भयंकर अराजकता की स्थिति आ गई। बंगाल में भी अनेक अभिशापयुक्त दृश्य सामने आए। मध्यप्रदेश में क्रूर दमननीति अपनाई गई। गुजरात मे अनेक स्थलों पर हिंसात्मक कार्य हुए। जमशेदपुर मे तीन हजार मजदूरों ने राष्ट्रीय सरकार की माँग करके हड़ताल कर दी। आंदोलन बढ़ने पर बंबई, पूना, अहमदनगर, कानपुर, दिल्ली आदि अनेक नगरों मे उसका दमन करने के लिये अनेक अमानुषिक कृत्य हुए। इसी समय गुरिल्ला युद्ध का भी श्रीगणेश हुआ। कुल मिलाकर यह अनुमान किया जाता है कि अगस्त १९४२ की इस महान् क्रांति मे लगभग दो लाख आदमियों को दंड दिया गया। अनेक राष्ट्रभक्तो को तीस तीस साल तक की सजा दी गई और कुछ को फाँसी की सजा मिली। कांग्रेस के आँकड़ों के अनुसार इस आदोलन मे दस हजार से अधिक व्यक्ति शहीद हुए। अगस्त १९४२ की यह क्रांति भारतीय स्वतंत्रता-आदोलन की बहुत महत्वपूर्ण घटना थी। डा० ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं : 'अगस्त की यह क्रांति आधुनिक भारत के इतिहास में एक नवीन युग आरंभ करती है। यह अत्याचार और शोषण के विरुद्ध एक जनक्रांति थी और इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बसील के पतन अथवा रूस की अक्टूबर क्रांति से की जा सकती है।'[2] इस आदोलन के समय गाधीजी पूना जेल मे थे और उन्होंने वहाँ इस दमनचक्र के विरोध मे अनशन किया। गांधीजी मुक्त कर दिए गए। १९४३ मे लार्ड लिनलिथिगो के स्थान पर 'लार्ड वावेल' नियुक्त किए गए। शिमला के संमेलन मे सरकार और काग्रेस के बीच समझौते का प्रयास किया गया, किंतु वह सफल न हुआ।

१९४३ का वर्ष भारतीय इतिहास में विभीषिका का दृश्य प्रस्तुत करता है। इसी वर्ष बंगाल मे इतिहासप्रसिद्ध भयंकर अकाल पड़ा। यह अकाल दैवी कम और मानवप्रसूत अधिक था। बंगाल मे चावल की कमी नहीं थी किंतु उसका भाव १०० रु० प्रति मन तक पहुँच गया था और सामान्य जनता के लिये उसे क्रय करना किसी भी प्रकार संभव नही था। संपूर्ण महायुद्ध में भी जितने व्यक्ति नही मरे, उतने इस भीषण अकाल की भेंट चढ़ गए। लाखों की संख्या में मनुष्य इस अकाल में मर गए।

१. 'कांग्रेस का इतिहास', डा० पट्टाभि सीतारमैया, भाग २, पृ० ४००।
२. माडर्न हिस्ट्री आव इंडिया, पृ० ५५८-५९।

यह अकाल बंगाल में तो अपनी विभीषिका दिखा ही रहा था, सुदूर ट्रावनकोर और मलाबार के गाँव भी उसकी लपेट में आ गए थे। अकाल के बाद जैसा कि स्वाभाविक है, भीषण महामारियाँ फैलीं और हजारों मानव उनके शिकार हुए। साहित्य में इन विभीषिकाओं के रोमांचक, यथार्थ और करुणचित्र प्रस्तुत किए गए। निराला, बच्चन, सुमन, रांगेय राघव, रामविलास शर्मा आदि ने अपनी कविताओं में इसका चित्रण किया। अनेक कहानियाँ और उपन्यास इसे वस्तुविषय बना कर लिखे गए। महादेवी वर्मा ने 'बंगदर्शन' नामक एक संकलन मे अकाल से संबंधित हिंदी की कविताओं का संग्रह किया। भूमिका मे उन्होंने लिखा है : 'बंगाल का पुनः निर्माण प्रत्येक व्यक्ति का सहयोग चाहता है, परंतु कलाकार तथा लेखकों के निकट तो यह उनके आत्मनिर्माण की परीक्षा है। इस दुर्भिक्ष की ज्वाला का स्पर्श करके हमारे कलाकारों की तूली यदि स्वर्ण न बन सकी, तो उसे राख हो जाना पड़ेगा।'[1] पत्र पत्रिकाओ ने भी अकाल विशेषाक निकाले। इनमे हंस का 'बंगाल का अकाल' अंक विशेष महात्वपूर्ण है। अमृतलाल नागर का 'महाकाल' उपन्यास इस अकाल और महामारी का बडा लोमहर्षक चित्र प्रस्तुत करता है।

जनता शासकों के दमनचक्र से यूँ ही विक्षुब्ध थी। इस अकाल ने उसे और भी झकझोर दिया। इसी समय 'आजादहिंद फौज' के नेताओं पर अभियोग लगाए गए जिसके कारण जनता और उग्र हो उठी। ये नेता मुक्त तो कर दिए गए किंतु बहुत से लोग दमनचक्र की भेंट चढ गए। तत्कालीन साहित्य मे आजादहिंद फौज और उसके नेताओं, विशेषकर सुभाषचंद्र बोस के प्रति संमानपूर्ण उद्गार व्यक्त किए गए।

विश्वयुद्ध २ सितंबर १९४५ को टोकियो की संधि से समाप्त हुआ। इस युद्ध मे रूस उत्पीड़क के विरोधी और शोषितों के रक्षक रूप में प्रकट हुआ। रूस की इस महान् विजय से विश्व का समाजवाद पर विश्वास और दृढ़ हो गया और गुलाम, पराधीन एवं शोषित देश साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से उद्धार पाने के लिये संनद्ध हुए। चीन में नवीन जनवादी सरकार की स्थापना से समाजवादी दृष्टिकोण को और भी शक्ति मिली। विश्व के सभी जनवादी और शांतिप्रेमी देशों ने 'नए चीन' को हार्दिक बधाई दी और उसका अभिनंदन किया। अपने देश के कवियों ने भी इस अवसर पर उल्लासपूर्ण कविताएँ लिखी। इस प्रकार अंतरराष्ट्रीय परिवेश जनात्मकता के भाव से व्याप्त हो उठा। इस वर्ष के ब्रिटेन के आम चुनाव में मजदूर दल की विजय और चर्चिल के टोरी दल की पराजय जनात्मकता अथवा प्रगतिशील मनोदृष्टि का एक और संकेत है।

१. बंग दर्शन, भूमिका, पृ० ७।

विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद भारत और भी जर्जर रूप में सामने आया क्योंकि युद्ध का सारा व्यय अंग्रेजों ने भारत से ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लिया। यह देखकर जनता के मन में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति गहरा आक्रोश घर कर गया। इस आक्रोश का ही एक रूप १८ फरवरी १९४६ को भारतीय नौसेना के सैनिकों के विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। इन सैनिकों ने जलयानों में लगे हुए ब्रिटिश सत्ता के प्रतीक यूनियन जैक उतार फेंके और उनके स्थान पर कांग्रेस, मुस्लिम लीग और कम्युनिस्ट पार्टी के झंडे फहराए। बंबई में प्रदर्शन, जलूस और हड़तालें लगातार होने लगीं। बंबई की जनता और मजदूरवर्ग ने इस आंदोलन मे पूरा पूरा सहयोग दिया। ब्रिटिश सत्ता ने एक बार फिर भारतीय जनता के रक्त से अपने को रँग लिया। यह नौसैनिक विद्रोह सफल तो नहीं हुआ किंतु इसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को एक करारा धक्का निस्संदेह दिया। भारतीय नेताओं के कहने से नौसैनिकों ने अपना आंदोलन वापस ले लिया। उनकी ऐक्शन कमेटी के सभापति ने जो यह बात कही कि 'हम भारत को आत्मसमर्पण करते है, ब्रिटेन को नहीं',[1] यह उनकी अपराजेयता और उनके अकुंठित स्वाभिमान का परिचायक है।

इस महायुद्ध ने विश्वशांति को अपने समय में तो भंग किया ही, भविष्य के लिये भी उसने एक शाश्वत खतरा पैदा कर दिया। विश्व के प्रमुख राष्ट्रों ने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर शांति की स्थापना के लिये १९४५ में संयुक्त राष्ट्रसंघ को जन्म दिया। इसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सहयोग भी मिला। इसके पूर्व 'लीग आफ नेशंस' नामक विश्वसंस्था यही उद्देश्य लेकर निर्मित हुई थी, किंतु वह अपने उद्देश्य की पूर्ति मे नितांत असफल रही। 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' उसका स्थानापन्न था जो उससे अधिक समर्थ और व्यापक था।

१९४५ के आम चुनाव मे ब्रिटेन मे मजदूर दल बहुमत से विजयी हुआ था। चर्चिल के स्थान पर 'एटली' प्रधान मंत्री हो गए थे। श्रमिक पार्टी की इस विजय से भी भारतीय जनता का मनोबल दृढ़ हुआ। १९ फरवरी १९४६ को 'एटली' ने एक कैबिनेट मिशन भारत भेजने की घोषणा की जिसके प्रस्ताव भारत में अंततः स्वीकार कर लिए गए। १९४६ के संविधान सभा के चुनाव मे कांग्रेस को आशातीत सफलता मिली। कांग्रेस की इस सफलता से मिस्टर जिन्ना बहुत चिढ़े और उन्होंने 'सीधी कारवाई' घोषित कर दी जिसके फलस्वरूप १० अगस्त १९४६ को कलकत्ते मे हिंदुओं का खुलकर बध किया गया। इस हत्याकांड में ३,००० से अधिक हिंदू मारे गए। इसके बाद नोआखाली में भी यही और इससे भी अधिक भयंकर नरमेध हुआ। अब देश भर में सांप्रदायिकता की आग फैल गई। हिंदुओं ने कलकत्ते और नोआ-

१. 'वी सरेंडर टु इंडिया ऐंड नाट टु ब्रिटेन'—इंडिया टुडे ऐंड टुमारो, आर० पी० दत्त, पृ० २५९।

खाली के हत्याकांड का बदला बिहार में लिया। गांधीजी के प्रयत्नों से यह सांप्रदायिक दंगे शांत तो हो गए किंतु हिंदू और मुसलमानों के हृदय फट गए जो शीघ्रता से फिर न मिल सके। खैर, देश स्वतंत्र हुआ और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य अब पूरा हुआ। अनेक आंदोलनों और बलिदानों के पश्चात् सैकड़ों वर्षों की दासता से देश को छुटकारा मिला और अब एक स्वतंत्र देश के रूप में उसके विकास की संभावनाएँ सामने आईं।

फरवरी १९४७ में श्रीएटली ने यह घोषणा कर दी कि ब्रिटेन जून १९४८ तक भारत छोड़ देगा। इसी समय लार्ड वावेल के स्थान पर माउंटबेटेन भारत आए। उन्होंने अपनी योजना में पाकिस्तान की माँग को स्वीकार लिया जिसको अंततोगत्वा सभी दलों ने मान लिया। यह इसलिये भी हुआ क्योंकि इतनी जल्दी पूरे देश की शासनव्यवस्था संचालित करने के लिये कोई भी दल अपने को समर्थ नहीं पा रहा था। १५ अगस्त १९४७ को भारत को आजादी मिली।

१५ अगस्त सन् १९४७ को भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के पूर्व ही ३ जून १९४७ को ब्रिटिश सरकार ने पाकिस्तान की मांग मान ली थी। वह इन दोनों राज्यों को स्वतंत्र रूप से राजनीतिक सत्ता प्रदान करने को सहमत हो गई थी। अंग्रेजी सरकार की घोषणा के अनुसार पंजाब तथा बगाल के कुछ भाग, सीमाप्रांत, सिंध तथा आसाम आदि का कुछ भाग मिलाकर एक स्वतंत्र राज्य बनेगा जो पाकिस्तान कहलाएगा। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से पाकिस्तान के अंतर्गत वह भूभाग लिया जाना था जिसमे बहुमत मुसलमानों का हो। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह एक बहुत कठिन कार्य था क्योंकि शताब्दियों से ये दोनो जातियां एक साथ सारे देश मे सभी स्थानो पर रहती आ रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जब पाकिस्तान बना तब दोनों ही देशों में दगे, लूटपाट, अत्याचार आदि हुए जिन्होंने समकालीन साहित्य को प्रभावित किया।

साहित्यकारो ने स्वतंत्रता का अभिनंदन किया किंतु इसी के साथ उन्होंने इसके विभाजन पर दु:ख भी प्रकट किया। साप्रदायिकता, विभाजन तथा शरणार्थियों की समस्याओ को लेकर अनेक साहित्यिक कृतियाँ सामने आई जिनमें करुणा, यथार्थता के निर्वाह के साथ साथ, प्रगतिशील दृष्टिकोण सर्वोपरि था। यशपाल और ऊषादेवी मिश्रा इनमे प्रमुख हैं।

अब शासनसूत्र कांग्रेस के हाथ मे था। स्वतंत्रता के साथ एक बहुत बड़ी समस्या देश के सामने आई। यह समस्या शरणार्थियों की थी। आजादी मिलने के पहले ही पंजाब में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए थे जिनमे पशुता और बर्बरता का नंगा नाच हुआ था। दिल्ली और भरतपुर मे भी इस शृंखला की कड़ी के रूप में भयानक दंगे हुए थे। नागरिकों का इतना बड़ा स्थानांतरण भारतीय इतिहास की

एक बहुत बड़ी घटना थी। शरणार्थियों की समस्या ने राष्ट्र के सामने एक बहुत बड़ा संकट उपस्थित कर दिया था। इस समस्या को सुलझाया तो गया किंतु इसने देश की अर्थव्यवस्था को गहरी क्षति पहुँचाई। इस क्षति पर उस समय ध्यान नहीं गया क्योंकि उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता संविधान और व्यवस्था की थी। कांग्रेस ने एक ओर नया संविधान बनाना आरंभ कर दिया दूसरी ओर देशी रियासतों की समाप्ति के लिये व्यापक प्रयत्न किए। सरदार पटेल के प्रयत्नों से धीरे धीरे समस्त रियासतों का भारत में विलयन हो गया।

३० जनवरी १९४८ को गांधीजी की हत्या हो गई। जो महापुरुष सांप्रदायिकता के विरोध में जीवनभर लड़ता रहा था वही सांप्रदायिकता का शिकार बन गया। पूरे देश ने इस पैशाचिक कांड की भर्त्सना की और महात्मा गांधी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

१९५० के आसपास अमरीका और रूस के संबंधों में हमें विशेष तनाव लक्षित होता है। शीतयुद्ध चल ही रहा था। विश्व के दो सबसे बड़े राष्ट्रों के इस द्वंद्व में भारत ने तटस्थता की नीति अपनाई। अमरीका, ब्रिटेन तथा उनके पक्षपाती देशों को भारत की यह नीति पसंद न आई और उन्होंने कई तरह से दबाव डाला किंतु भारत तटस्थता की नीति पर दृढ़ रहा। इसी समय साम्राज्यवादी देशों ने सीटो तथा अटलांटिक संधियों की नींव रखी। इन संधियो का रुख आक्रामक था। अतएव रूस, चीन एवं विश्व के तटस्थ राष्ट्रों ने इसकी आलोचना की। भारत के प्रधान मंत्री नेहरू ने इन संधियो की कड़ी आलोचना करते हुए इन्हें तृतीय विश्वयुद्ध की स्थिति का जनक कहा। जून १९५० की अपनी इंडोनेशिया यात्रा मे भी उन्होंने अपना यह मंतव्य सबके सामने रखा। २५ जून १९५० को कोरिया का युद्ध आरंभ हुआ जिसके कारण साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी देशों के प्रति शांतिकामी देशों का असंतोष और भी उभरकर सामने आया। १९५४ में अमरीका और पाकिस्तान की सैनिक संधि ने तृतीय महायुद्ध की संभावना को और भी प्रत्यक्ष कर दिया। इसके पूर्व ही रूस तथा अमरीका उद्जन बमों के निर्माण की घोषणा कर चुके थे। एशिया मे जन जागरण का एक स्वर फिर बुलंद हुआ। वियतनाम ने फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों को देश से बाहर निकाल देने के लिये संकल्प के साथ युद्ध छेड़ दिया। २६ अप्रैल १९५४ को जिनेवा में चार बडे राष्ट्रों का अंतरराष्ट्रीय संमेलन प्रारंभ हुआ जिसमें जनवादी चीन को भी निमंत्रण मिला। इसी समय भारत, पाकिस्तान, बर्मा, लंका और इंडोनेशिया ने कोलंबो संमेलन किया जिसमें तटस्थता की नीति का समर्थन और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध किया गया। इन संमेलनों का प्रभाव पड़ा और वियतनाम में युद्धविराम हो गया। विश्व के शांतिकामी देश शांतिस्थापना के प्रयासों में लगे रहे जिसका एक महत्वपूर्ण रूप 'पंचशील' के रूप में सामने आया।

यह भारत और चीन की मैत्रीसंधि के आधारभूत नियम थे जिन्हें विश्व के अनेक देशों ने माना और अपनाया। १८ अप्रैल १९५५ में बंडुंग में तीस एशियाई अफ्रीकी देशों का संमेलन हुआ जिसमें पंचशील को सबने व्यापक रूप में स्वीकारा। इस प्रकार एशियाई देशों—जिनमें निश्चय ही भारत का नाम अग्रगण्य है—के प्रत्यत्न से तृतीय विश्वयुद्ध का संकट कुछ समय के लिये टल गया।

जैसा ऊपर उल्लिखित स्थितियों से स्पष्ट है, इस समय देश के सामने बड़ा आर्थिक संकट था। अनेक ऐसे मोर्चे थे जिन पर पैसा पानी की तरह अनवरत रूप से बह रहा था। अंग्रेजो ने यो ही भारत की अर्थव्यवस्था को खोखला कर दिया था और उसपर इसे शरणार्थी पुनर्वास तथा कश्मीर का भारी व्यय वहन करना पड़ रहा था। देश के सामने खाद्यसंकट इस समय बड़े भयंकर रूप में था। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रीय सरकार ने अमरीका से आर्थिक सहायता माँगी। अमरीका ने भारत को खाद्यान्न दिया। इस सहायता से तात्कालिक संकट से देश कुछ उबरा किंतु इस उबरने का मूल्य उसे बहुत महँगा चुकाना पड़ा। अमरीका ने अपनी विदेश नीति के अंतर्गत भारत तथा अन्य देशों को जो सहायता दी थी वह मानवतावादी दृष्टिकोण से नही वरन् विस्तारवादी मनोभाव से प्रेरित थी। देश के स्वाभिमान को इससे गहरा धक्का लगा और उसका समाजवादी व्यवस्था का चिरपोषित स्वप्न चूर चूर हो गया। कांग्रेस सरकार ने न विदेशी पूँजी जब्त करने की दिशा मे कोई प्रयत्न किया और न उसने उद्योगों का राष्ट्रीकरण ही किया। जवाहरलाल नेहरू ने कहा : 'आर्थिक ढाँचे में कोई आकस्मिक परिवर्तन न होगा और जहाँतक संभव होगा, उद्योगों का राष्ट्रीकरण नहीं होगा'।[1] इसका प्रभाव देश की आर्थिक स्थिति पर बहुत गहरा पड़ा। देश की संपत्ति का एक बहुत बड़ा भाग अमरीका और ब्रिटेन पहुँचने लगा। केवल अमरीका को १९५० में साठ करोड रुपए का मुनाफा हुआ। साढ़े नौ करोड़ रुपया ब्रिटेन के उन व्यक्तियों के लिये प्रति वर्ष भेजा जाता रहा जो आजादी से पूर्व भारत मे उच्च पदो पर रह चुके थे। इस गहरी आर्थिक क्षति से जनता में गहरा असंतोष व्याप्त हो गया और कांग्रेस सरकार के समक्ष एक बहुत बड़ी समस्या उपस्थित हो गई। इस अर्थव्यवस्था को सबल बनाने के लिये सरकार ने पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा बनाई और १९५१ में उसे लागू कर दिया। यह प्रथम पंचवर्षीय योजना थी जिसमें खाद्यान्नों के उत्पादन पर प्रमुख बल दिया गया। यह योजना अपनी आधारभूत नीतियो के कारण सफल न हो सकी और जनता ने इसका स्वागत नही किया। 'यह योजना वस्तुतः उन अतिशय महत्वपूर्ण प्रतिज्ञाओं का छलावा थी जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भूतकाल मे की थी। इस योजना में शक्तिशाली भारतीय पूंजीपतियों के स्वार्थ और उनकी ब्रिटेन और अमरीका के तुष्टीकरण की इच्छा

१. इंडिया टुडे ऐंड टुमारो, आई आर० पी० दत्त, पृ० ७२।

प्रतिबिंबित हो रही थीं'।[1] इस प्रथम पंचवर्षीय योजना की असफलता की प्रतिक्रिया तत्कालीन साहित्य में लक्षित होती है। नागार्जुन ने इसपर कई व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखी।

१९५२ में स्वतंत्रताप्राप्ति के अनंतर पहला आम चुनाव हुआ जिसमे कांग्रेस विजयिनी हुई और उसने फिर से शासनसूत्र सम्हाला। इस बार कांग्रेस सरकार ने विशेष तत्परता से जनसमस्याओं को परखा और उन्हें दूर करने की कोशिश की। उसने सामुदायिक विकास योजनाएँ चलाई जिनका लक्ष्य गांवों की दशा में सुधार करना था। जुलाई १९५२ तक उसने उत्तरप्रदेश मे जमींदारी प्रथा समाप्त कर दी जो देश के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इसी समय अमरीका और पाकिस्तान की सैनिक संधि हुई जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय सरकार को सुरक्षा की दृष्टि से सैनिक बजट बढ़ाना पड़ा। भारत की राष्ट्रीय सरकार अपने विविध कार्यक्रमों के माध्यम से समाजवादी व्यवस्था की ओर बढ़ रही थी। इसी समय प्रधानमंत्री नेहरू समाजवादी देशों का दौरा करके लौटे और उन्होंने प्रगति के लिये समाजवादी व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया। १९५५ मे अवाडी मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमे समाजवादी ढाँचे को अपना आदर्श घोषित किया गया। सरकार ने इस ध्येय के अनुरूप अपनी आर्थिक नीतियों मे अनेक परिवर्तन किए।

साहित्य पर राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय दोनों स्थितियों का प्रभाव पड़ता है। विश्व में होनेवाली महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक घटनाएँ प्राय. सभी विकासशील देशों के हृदय और मस्तिष्क पर अपनी छाप छोड़ती हैं। राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों के संक्षिप्त आकलन से देश की मनोदृष्टि दो दिशाओ मे विशेष अग्रसर लक्षित होती हैं . प्रथम विदेशी शासन से स्वतंत्र होने की और द्वितीय देश की समाजवादी व्यवस्था की। साम्राज्यवादी अतिचार और शोषण ने ही भारत मे आजादी का भाव जगाया और उसे समाजवादी विचारधारा की ओर प्रेरित किया। 'स्वतंत्र भारत' ने १९४९ में समाजवादी देशों के साथ व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध स्थापित कर अपनी समाजवादी रुझान को प्रकट किया जिसका देश की जनता ने मुक्तकंठ से स्वागत किया। तत्कालीन अंतरराष्ट्रीय परिवेश भी हमें जनतंत्र एवं समाजवादी प्रवृत्ति से व्याप्त मिलता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप साम्राज्यवादी शक्तियाँ दुर्बल पड़ गईं जिसका एक परिणाम यह हुआ कि एशिया और अफ्रीका के अनेक देश या तो स्वतंत्र हो गए अथवा स्वतंत्र बना दिए गए। १९५२ तक भारत के अतिरिक्त लंका (१९४७), बर्मा (१९४८) तथा इंडोनेशिया (१९४९) स्वतंत्र हो चुके थे। इसके बाद भी गुलामी से मुक्ति पाने की जनात्मक विचारधारा विकसित होती रही और इंडोचाइना (१९५५), मोरक्को (१९५६), घाना (१९५७), मलाया (१९५७), ट्यूनीशिया

१. इंडिया इन ट्रांजिशन, बाई रमेश थापर, पृ० सी २ सी ३।

(१९५७), कीनिया, उगांडा, टंगानिका जंजीबार, जेंबिआ आदि आजाद हुए। इन नवस्वतंत्र देशों की राजनीति की एक विशिष्टता तो साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध है और दूसरी ओर समाजवाद की किसी न किसी रूप में स्वीकृति एवं प्रतिष्ठा है। भारत इस दिशा में अग्रणी ठहरता है और व्यापक रूप से वह अंतरराष्ट्रीय जागति का सजग साझीदार है।

हमारा आलोच्यकाल राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से गहरी राजनीतिक उथलपुथल का समय है। इस कालावधि मे मानवता के विनाश की अनेक भूमिकाएँ बड़े पैमाने पर रची गई और उनसे उबरने के उतने ही प्रयास भी किए गए जिनमे उल्लेखनीय सफलता मिली। इस सारी हलचल की गूँज तत्कालीन साहित्य में सुनाई पड़ती है। सामंत और जमीदार वर्ग का शोषण और पाखंड 'रतिनाथ की चाची' (नागार्जुन), 'संघर्ष' (विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक), 'विषादमठ' (रांगेय राघव), 'महाकाल' (अमृतलाल नागर) आदि उपन्यासों में चित्रित किया गया है। समाजवादी दर्शन का वर्गसंघर्ष 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' (यशपाल) आदि कृतियों में देखा जा सकता है। किसान आंदोलन का भी चित्रण कुछ कृतियों मे है जैसे 'अचल मेरा कोई', 'रतिनाथ की चाची' तथा 'संघर्ष।' राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में एक उल्लेखनीय बात यह है कि सरकार के दमनचक्र का वर्णन साहित्यकारों ने खुलकर नही किया। उस समय वे ऐसा कर भी नही सकते थे क्योकि प्रतिबंध बड़े कठोर थे। स्वातंत्र्योत्तर लिखे गए साहित्य में ब्रिटिश शासकों के दमनचक्र और अत्याचार का यथार्थ और बीभत्स चित्र उतारा गया है। आलोच्यकाल मे साहित्यकारों ने या तो अंग्रेज शासकों की प्रशंसा की है जैसे 'जीने के लिये' (राहुल सांकृत्यायन) तथा 'घरौंदे' (रांगेय राघव) उपन्यासों मे या फिर इधर से अपने को हटाकर सामाजिक वर्गसंघर्ष और जनजागरण का अंकन किया है। स्वातंत्र्योत्तर देशविभाजन से संबद्ध सांप्रदायिक दंगों का चित्रण बाद के उपन्यासों में बड़े सजीव रूप में किया गया है। यशपाल का 'झूठा सच' उपन्यास इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस काल मे लिखे गए नाटकों में राष्ट्रीयता का स्वर सांस्कृतिक और ऐतिहासिक रूपावरण में व्यक्त हुआ है। हरिकृष्ण प्रेमी (शिवासाधना १९३७, प्रतिशोध १९३७, स्वप्नभंग १९४०, आहुति १९४०, उद्धार १९४९, प्रकाश स्तंभ १९५४), उपेंद्रनाथ अश्क (जयपराजय १९३७), प्रो० सत्येंद्र (मुक्तियज्ञ १९३७), वृंदावनलाल वर्मा (बीरबल १९५०), जगदीशचंद्र माथुर (कोणार्क १९४९), देवराज दिनेश (मानव प्रताप १९५२) आदि के नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं।

आर्थिक सामाजिक परिस्थितियाँ और पृष्ठभूमि

ऊपर इस तथ्य की ओर संकेत किया जा चुका है कि सन् १९३७ से लेकर सन् १९५२ तक का काल राजनीतिक दृष्टिकोण से भारी उथलपुथल का था। सामाजिक

दृष्टिकोण से भी यह समय विशेष रूप से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि प्रत्येक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना की सामाजिक प्रतिक्रिया व्यापक रूप में मिलती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक स्थिति में अंतर आने से आर्थिक स्थिति प्रभावित हुई। समाजवादी विचारधाराओं ने भी देश की सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित किया। महात्मा गांधी ने अछूतोद्धार तथा हरिजनोद्धार से संबंधित जो आंदोलन किया उसके फलस्वरूप देश की अर्थव्यवस्था भी प्रभावित हुई। औद्योगिक क्रांतियों का भी समाज की पारिवारिक व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त कृषिप्रधान देश होने के कारण भी राजनीतिक क्रियाकलाप की सामाजिक प्रतिक्रिया व्यापक रूप से मिली।

इस अवधि के मध्य राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में जो आंदोलन और क्रांतिकारी परिवर्तन हुए उनके फलस्वरूप देश की आर्थिक व्यवस्था भी प्रभावित हुई। कृषिप्रधान देश होने के कारण हमारे देश की ८० प्रतिशत से अधिक संख्या कृषि पर ही निर्भर रहती है। एक बहुत बड़ी संख्या उन श्रमिकों की भी है जो छोटे छोटे उद्योगधंधों में लगी हुई है। विश्वयुद्ध, जनक्रांति, स्वतंत्रताप्राप्ति तथा भारतविभाजन के फलस्वरूप जो परिस्थितियाँ सामने आईं उनके कारण कृषि तथा औद्योगिक व्यवस्थाओं में भारी परिवर्तन हुआ और इसके फलस्वरूप नवीन वर्गों का निर्माण आर्थिक आधार पर हुआ।

कृषकवर्ग

भारतवर्ष में कृषकवर्ग के जीविकोपार्जन का सबसे बड़ा साधन उसकी भूमि है। यद्यपि भूमि के अनेक उपयोग हैं परंतु कृषकवर्ग उस पर मूलत: खेती ही करता है। उस युग में जो आर्थिक परिवर्तन हुए उनके फलस्वरूप किसानों का स्वत्व स्वयं अपनी ही भूमि पर से धीरे धीरे हटने लगा। जमींदार, महाजन तथा पूँजीपतियों के रूप में लोग उनकी भूमि का स्वामित्व ग्रहण करने लगे। कृषक अनेक ओर से शोषित होने लगा। फलत: खाद्यान्नों का उत्पादन कम होने लगा। इसी कालावधि में बंगाल में भयानक अकाल पड़ा। इसमें कई लाख व्यक्ति मर गए। सरकार ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कृषकवर्ग के शोषण तथा उसके संरक्षण का अवलोकन करते हुए जमींदारी की प्रथा समाप्त कर दी। ग्रामपंचायतों तथा सरकारी कृषि योजनाओं के अनुसार अब कृषकवर्ग की स्थिति में क्रमशः परिवर्तन आता जा रहा है।

श्रमिक वर्ग

कृषकवर्ग के समान ही दूसरा शोषित वर्ग समाज का श्रमिक (वर्ग) है। कृषकवर्ग का शोषण जमींदारवर्ग के द्वारा होता है और श्रमिकवर्ग का पूँजीपतिवर्ग के द्वारा। श्रमिकवर्ग की एकता के लिये अनेक प्रयत्न आलोच्य युग में हुए। श्रमजीवियों को संघटित करने के लिये श्रमजीवी क्रांति हुई और अनेक विचारधाराएँ प्रचलित हुईं। अंग्रेजी सरकार की औद्योगिक व्यवस्था के फलस्वरूप श्रमिकों की स्थिति पहले से भिन्न हो गई। पूर्वकाल

में जहाँ श्रमिकों का संबंध प्रायः छोटेमोटे व्यावसायिक संस्थानों अथवा वैयक्तिक संस्थाओं से होता था वहाँ अंग्रेजी सरकार ने उद्योगधंधों का जो प्रचार और प्रसार किया उसके फलस्वरूप बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाएँ बनी। कृषक जीवन के क्षेत्र में भी जो अनेक संकटपूर्ण स्थितियाँ आईं उनके फलस्वरूप भी एक बहुत बड़ी संख्या में कृषकों को श्रमजीवी होने के लिये बाध्य होना पड़ा। आर्थिक दुरवस्था, सामाजिक हीनता, तथा शिक्षा के अभाव में श्रमिकवर्ग समाज मे उपेक्षित सा रहा। सन् १९४२ में राष्ट्रीय क्रांति की जो लहर फैली उसमें इस वर्ग ने भी तन, मन, धन से भाग लिया। अनेक विदेशी विचारको की विचारधाराओं का प्रसार भी इस वर्ग में हुआ और उसमे वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना का जागरण हुआ। समाजसुधार से संबंधित आंदोलनों के फलस्वरूप इस वर्ग में भी व्याप्त कुरीतियों एवं अंधविश्वासों आदि को दूर करने का प्रयास किया गया जिसके फलस्वरूप श्रमिककल्याण की अनेक योजनाएँ सामाजिक, सहकारी तथा राजकीय स्तर पर बनाई गईं।

जमींदार वर्ग

कृषकवर्ग के शोषण का कारण मुख्यतः जमीदारवर्ग ही रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व जमीदारों द्वारा शोषण की कोई सीमा न थी। उनपर किसी तरह का कोई भी प्रतिबंध व्यवहारतः नही था। आलोच्य युग के अनेक लेखकों ने इस तथ्य की घोषणा की है कि भूमि मुख्य रूप से उस किसान की है जो उसपर खेती करता है। इसलिये भूमि से उत्पन्न खेती पर भी उसी का अधिकार है किंतु परंपरागत रूप से चली आनेवाली जमीदारों की व्यवस्था ने कुछ ऐसा रूप ग्रहण कर लिया था कि कृषक का भूमि पर कोई स्वत्व नही रह गया था। सन् १९४७ मे जब भारतवर्ष को स्वतंत्रता प्राप्त हुई तब सबसे महत्वपूर्ण कार्य जो इस दिशा से किया गया वह था जमीदारी उन्मूलन का आदेश। जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् इस वर्ग द्वारा कृषकवर्ग का शोपण समाप्त हो गया।

पूँजीपति वर्ग

श्रमिकों का शोपण भारतीय समाज में मुख्य रूप से पूँजीपतिवर्ग द्वारा ही होता रहा है। इसके दो रूप मिलते है, एक तो छोटे स्तर पर महाजनवर्ग और दूसरे बड़े स्तर पर पूँजीपतिवर्ग। महाजनवर्ग द्वारा शोपण केवल व्याज आदि के आधार पर होता है तथा पूँजीपतिवर्ग द्वारा शोपण व्यापक स्तर पर। स्थूलतः इन दोनो ही द्वारा शोपण का आधार उनकी संपत्ति है। अंतर यह है कि एक पूँजीपति अपनी समस्त संपत्ति किसी बड़ी मिल मे लगा देता है और महाजन समाज के विभिन्न वर्गों में व्याज पर पूँजी वितरित करता है। जमीदारो की तुलना मे पूँजीपतियो द्वारा शोपण की विधि भिन्न होती है क्योंकि जमींदार शोपितों को शारीरिक यातनाएँ भी देता है और पूँजीपति केवल उसके श्रम द्वारा अर्जित पूँजी का ही शोपण करता है। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् हमारे देश में औद्योगिक व्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित हो गया। राजकीय तथा सहकारी स्तर

पर अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं जिनका उद्देश्य यह है कि शोषक और शोषित वर्गों की पारस्परिक कटुता कुछ कम हो और उनमें कुछ सामंजस्य अथवा सौमनस्य स्थापित हो।

मध्यमवर्ग

हमारे देश में नागरिक समाज का सबसे बड़ा अंग मध्यमवर्ग है। इस वर्ग के स्थूल रूप से तीन भेद किए जा सकते हैं। निम्न मध्यमवर्ग, मध्य ममध्यमवर्ग तथा उच्च मध्यमवर्ग। इनमें से निम्न मध्यमवर्ग के अंतर्गत वे लोग आते हैं जिनकी स्थिति श्रमिकों तथा कृषकों से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। अंतर केवल इतना ही है कि थोड़ी बहुत शिक्षा प्राप्त कर वे कोई लिपिक आदि का कार्य सरकारी या गैरसरकारी दफ्तरो में बहुत कम वेतन पर स्वीकार कर लेते हैं। उनमें अपने वर्ग और वंश की मिथ्या धारणा होती है और कभी कभी उसका निर्वाह करना उनके लिये कठिन हो जाता है। मध्य ममध्यम-वर्ग वह समाज है जो किसी प्रकार से अपनी मर्यादा का निर्वाह करता चला जा रहा है। उसी की समस्याएँ समाज में सबसे अधिक हैं। दूसरे शब्दो मे, यह कहा जा सकता है कि यही समाज का सबसे अधिक बौद्धिक वर्ग है और अधिकाश वैचारिक आंदोलनों का सूत्रपात इसी वर्ग से हुआ है। उच्च मध्यमवर्ग वह है जो आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता के कारण अपने आप को मध्यमवर्ग मे नही रखता और उच्चवर्ग के अंतर्गत अपने आप को माने जाने का अभिलाषी रहा है। आलोच्य कालावधि मे मध्यमवर्ग के यही तीन रूप मिलते हैं और इन्ही के जीवन खंडों का चित्रण सम-कालीन लेखको ने अपनी कृतियों मे विशेष रूप से किया है।

हमारा आलोच्य काल देश की आर्थिक दशा की दृष्टि से विपन्नता, विषमता एवं उनसे उत्पन्न संघर्ष का समय है। प्रथम विश्वयुद्ध ने उद्योगपतियों के सामने लाभार्जन का एक सुनहरा अवसर प्रस्तुत कर दिया था। उन्होने बड़े बड़े उद्योगोमे पूँजी लगाई और उन्हें अपने हाथ मे कर लिया। चायबागान, जूट की मिलें आदि जो पहले विदेशी पूँजीपतियों के अधिकार में थीं, अब भारतीय पूँजीपतियों के हाथ में आ गईं। गाँवों में इसी समय साहूकार और महाजनवर्ग उभरता है। दैनिक उपयोग की वस्तुओं—कपड़ा, नमक आदि के मूल्य इतने चढ़ गए थे कि किसान बिना कर्ज लिए अपना जीवन आवश्यकतानुसार उचित स्तर पर नहीं चला पाता था। १९२९ में अंतरराष्ट्रीय मंदी हुई थी और खाद्यान्नों के मूल्य गिर गए थे। इस प्रकार किसान पर दुहरी मार पड़ी। एक ओर उसकी आय कम हो गई और दूसरी ओर अन्य वस्तुओं का मूल्य बढ जाने के कारण उसकी क्रयशक्ति का ह्रास हो गया। अतएव उसे ब्याज की किसी भी दर पर महाजन से ऋण लेना ही पड़ता था। सरकार की ओर से महाजनवर्ग पर कोई कैद न थी। अतएव धीरे धीरे वह भूमि का स्वामी बनता गया और उसकी स्थिति जमींदार से भी अधिक संपन्न और शक्ति-शाली हो गई। पुराने जमींदार तो गाँव में रहने के कारण गाँववालों के प्रति कुछ

जिम्मेदारी का भी अनुभव करते थे किंतु यह नया शोषकवर्ग नगरों में रहता था और कारिंदों के माध्यम से अपना काम करता था। उसके लिये खेती एक व्यापार था। किसान लगान भी चुकाता था, सरकारी कर भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे देता था और सबके ऊपर इन साहूकारो के दिन दूने रात चौगुने बढ़नेवाले कर्ज की किश्तें अदा करता था। इसका प्रभाव किसान के जीवन पर भी पड़ा और भूमि की उपज पर भी। फलतः अकाल पड़ने लगा और किसान बिलकुल टूट गया। बंगाल का अकाल इन्हीं परिस्थितियों की भीषणतम परिणति थी जिसमे द्वितीय महायुद्ध के दौरान बर्मा पर जापान का अधिकार हो जाने से वहाँसे चावल का निर्यात बंद हो गया था और असहाय जनता के सामने भूख से मरने के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं रह गया था। सच तो यह है कि अंग्रेजों के शासनकाल में किसान का जीवन अकालो का ही सामना करते बीता। इन स्थितियो में खेतिहर श्रमिको की संख्या बढ़ती गई। उद्योग बड़े नगरों मे थे, अतः लोग जीविकोपार्जन के लिए उनकी ओर बढते गए। मजदूरवर्ग मे इस प्रकार लगातार वृद्धि होती गई। सरकार ने इस वर्ग के पक्ष मे कुछ कानून बनाए थे किंतु वे व्यवहार मे कभी न लाए गए। मजदूरी इतनी कम थी कि खुराक भी पूरी न पडती थी। पूँजीपतियो को उनके कल्याण की कोई चिंता न थी। उनके आवास की स्थिति यह थी कि एक कमरे मे औसतन ७८ मजदूर रहते थे।

इसी समय दूसरा महायुद्ध आरंभ हो गया। ब्रिटिश सरकार ने पहले तो भारतीय औद्योगिक विकास का विरोध किया किंतु मित्रराष्ट्रों की सहायता के लिये भारत में औद्योगिक उत्पादन आवश्यक होने से उसे अपनी नीति बदलनी पड़ी। फ्रांस का पतन, ब्रिटिश कलकारखानों और जहाजो का विध्वंस और भारतीय सीमा पर जापानी आक्रमण—ये ऐसे अनिवार्य कारण थे कि भारत मे औद्योगिक विकास को बढ़ावा देना आवश्यक हो गया। पूँजीपतियों के लिये यह अनुपम अवसर था और उन्होने इस युद्ध मे दो हजार प्रतिशत तक लाभ कमाया। यह औद्योगिक प्रगति सरकार और पूँजीपतियों के ही हित मे थी, जनता के हित मे नही। मजदूरी नही बढी, काम बढ़ गया। जबतक युद्ध चलता रहा, सभी कलकारखाने युद्ध-सामग्री तैयार करने मे व्यस्त रहे और मजदूरों को न्यूनतम वेतन देकर मनमाना लाभ उठाते रहे। ज्यों ही युद्ध की समाप्ति हुई, युद्धसामग्री की माँग कम हो गई। इसका परिणाम श्रमिको के पक्ष मे और भी बुरा हुआ। अब उत्पादन कम कर दिया गया और लगभग ४१ प्रतिशत मजदूर कम कर दिए गए। इस दौरान सारी राष्ट्रीय आय और आर्थिक शक्ति पूँजीपतियों के हाथ में आ गई। सामान्य जनता और विशेषकर मध्यम-वर्ग की स्थिति अत्यंत शोचनीय हो गई। किसानों और मजदूरों के सामने बेकारी की समस्या तो आ ही गयी, मध्यमवर्ग मे शिक्षितों के बीच बेकारी और भी भयंकर तथा असह्य हो उठी।

भारतीय जनता इस आर्थिक विभीषिका के बावजूद अपने मन में स्वतंत्र भारत का सपना संजोए हुए थी जिसके द्वारा उसे इन अभावों और कष्टों से त्राण पाने की आशा थी। स्वतंत्रता मिली, किंतु उसके हर्षोल्लास के साथ साथ ऐसा दुर्योग भी उपस्थित हुआ कि सबकी आशाएँ मिट्टी में मिल गईं। स्वतंत्रता के साथ विभाजन भी सामने आया। देशविभाजन का कार्य बड़ी तेजी से हुआ। चार पाँच सप्ताहों मे ही यह संपन्न हो गया जिसमें भारत को एक बड़ी रकम पाकिस्तान को देनी पड़ी। इसी के साथ कश्मीर की समस्या सामने आई और सेना पर व्यय बहुत बढ़ गया। शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या ने इस लगातार ढहती हुई अर्थव्यस्था को और भी खोखला कर दिया। इधर उद्योगपति, भारतीय ही सही, अपने ढंग से जनशोषण कर ही रहे थे। परिणामस्वरूप शोषण और उत्पीड़न के बीच द्वंद्व शुरू हुआ। आधुनिक हिंदी साहित्य ने इस आर्थिक विषमता का बड़ा सजीव तथा यथार्थपरक चित्रण किया है। उसमे कृषक श्रमिक वर्ग के उत्पीडन और उससे उत्पन्न वर्गसंघर्ष का पर्याप्त अंकन हुआ है। लेखकों ने इस संघर्ष में प्रगतिवादी दृष्टिकोण अपनाया और उन्होंने अपनी सहानुभूति शोषित और दलित को अर्पित की।

समाज में वर्ण-व्यवस्था

हमारे देश में हिंदू समाज की संरचना का मूल आधार परंपरागत वर्णव्यवस्था है। विविध वर्णों में सुदीर्घ काल से रीतिरिवाज, प्रथाएँ, मान्यतायें तथा कर्मकांड आदि की प्रणालियाँ चली आ रही हैं। वर्णव्यवस्था के अनुसार सारा हिंदू समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों में विभाजित था। आगे चलकर द्राविड जाति को भी पाँचवें वर्ण के रूप मे मान्यता दी गई। विभिन्न युगों में हुए सामाजिक जागरण के फलस्वरूप यह वर्णव्यवस्था स्फुट रूप मे छिन्नभिन्न होती चली गई और प्रत्येक वर्ग अनेक जातियों तथा उपजातियो मे बँट गया। आरंभ मे इसका आधार केवल श्रमविभाजन था जब कि आगे चलकर अर्थव्यवस्था ने भी इसे प्रभावित किया। यातायात की सुविधाओं के प्रचार तथा जीविकोपार्जन के नवीन साधनों के उद्भव के साथ साथ जन-स्तर पर समानता की भावना का इस रूप में विकास हुआ कि अनेक रूढियों का निर्वाह कठिन हो गया। खानपान आदि मे भी उतने नियमविधान का पालन कठिन हो गया। आधुनिक रूप में शिक्षा के प्रसार तथा समाजसुधार विषयक आदोलनों के फलस्वरूप भी समानता की भावना विकसित हुई। स्वामी दयानंद सरस्वती तथा महात्मा गांधी के प्रभाव ने भी वर्णव्यस्था तथा जातिव्यवस्था की संकीर्णता को थोड़ा दूरकर समाज के मानवतावादी आधार पर बल दिया। इसके फलस्वरूप एक नवीन सामाजिक चेतना का उदय होने लगा जिसका आधार रूढिवादी जाति व्यवस्था नही थी।

भारतीय समाज मे परंपरागत रूप से संयुक्त परिवार की ही प्रथा चली आ रही है। संयुक्त परिवार की प्रथा हिंदू तथा मुसलमान दोनों ही जातियों में है। इस व्यवस्था के अनेक धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारण हैं। सामान्य रूप

से यदि सन् १९३७ से सन् १९५२ तक के काल पर ही विशेष रूप से विचार किया जाय तो इस तथ्य का बोध होगा कि संयुक्त परिवार की प्रथा धीरे-धीरे ह्रास की ओर बढ़ती जा रही है। मध्य तथा निम्न वर्गों में इस व्यवस्था का आधार व्यवसायिक था। इस कालविशेष में शिक्षा के विकास के साथ साथ स्त्रीपुरुषों में वैयक्तिक स्वातंत्र्य की भावना इतनी अधिक बढ़ गई कि किसी भी प्रकार का संयुक्त पारिवारिक अंकुश सहन करना उनके लिये कठिन हो गया। यह व्यवस्था विशेष रूप से मध्यम वर्ग में समाप्त हुई क्योंकि यही वर्ग बौद्धिक समाज का सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करनेवाला वर्ग कहा जा सकता है। संयुक्त परिवार की परंपरागत धारणा और तीन तीन पीढ़ियों के आधार मध्यमवर्ग में अब लगभग समाप्त हो गए हैं।

पारिवारिक व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था के ऊपर आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। जीवन की आवश्यकताएँ सर्वोपरि होती हैं और उन्हीं की सुविधा के अनुरूप समाज का गठन होता है। धर्म अवश्य ही अध्यात्मप्रधान देशों में समाजव्यवस्था का एक निर्धारक तत्व होता है किंतु जब दैनिक जीवन की नितांत आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पड़ने लगती है तब मनुष्य का ध्यान स्वाभाविक रूप में जिजीविषा पर केंद्रित हो जाता है और इसी स्थिति मे आर्थिक सुविधा प्राचीन व्यवस्था के विघटन और नवीन के निर्माण का आधार बन जाती है। भारतीय सामाजिक जीवन मे यह विघटन और नए वर्गों का निर्माण उन्नसवी शताब्दी से प्रारंभ हो जाता है जो अबतक चल रहा है। उद्योगप्रधान आर्थिक प्रणाली इस संक्रमण का मूलभूत कारण है। मध्ययुगीन भारत मे सामाजिक संघटन का आधार वर्णव्यवस्था थी और यह पारस्परिक रूप मे जन्म पर आधारित थी (जब कि आज की माँग यह है कि सिद्धांततः इसका आधार कर्म होना चाहिए था)। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक वर्ग और जाति का पेशा निश्चित था। पेशों का यह विभाजन मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के उपयुक्त ही था क्योंकि उस समय गाँव एक आर्थिक इकाई थी। १९वी शताब्दी मे और उसके बाद पूरा राष्ट्र एक आर्थिक इकाई के रूप मे सामने आया और साथ ही नवीन औद्योगिक अर्थप्रणाली ने श्रमविभाजन की प्रक्रिया को जटिल और विस्तृत बना दिया। इस नवयुग मे कोई भी वर्ग अपने ही गाँव या नगर मे रहकर स्वपरंपरानुमोदित, निश्चित पेशे को अपनाकर जीवन व्यतीत करने की न रुचि रखता था और न ऐसा करने मे समर्थ ही था। भारत की इस आर्थिक जर्जरता तथा वैषम्य ने मध्यमवर्ग तथा किसानों की प्राचीन जीवनपद्धति में उथल-पुथल पैदा कर दी। बड़े उद्योगों ने लघु तथा गृह उद्योगों को निगल लिया और उन्हें बहुत कुछ नष्ट कर दिया। अब नए नए पेशे जन्म ले रहे थे और व्यक्ति जीविका उपार्जन के लिये नए नए पेशों को सीखने तथा अपनाने के लिये विवश था। साथ ही उद्योगप्रधान बड़े बड़े नगरों मे जीविकोपार्जन की संभावना भी अधिक थी। अतएव

व्यक्ति दूरस्थ औद्योगिक केंद्रों में जाकर अपनी रोजी कमाने लगा। यातायात की आधुनिक सुविधाओं ने इस सामूहिक स्थानांतरण में सहायता दी। फलतः औद्योगिक केंद्रों में श्रमिकों के बाड़, हाते या उपनिवेश बन गए जो कई दृष्टियों से नवीन, विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण थे। इनमें रहनेवाले लोग आए तो विभिन्न स्थानों से थे जहाँ विभिन्न धर्म तथा विभिन्न सामाजिक संस्कार चलते थे किंतु अब इन विभिन्न मतावलंबियों को एक ही वातावरण में रहना पड़ता था और इनकी आर्थिक समस्याएँ तथा लक्ष्य भी एक ही थे। एक साथ रहने और समान परिस्थितियों को झेलने के कारण उनके वैयक्तिक धर्मों की विभिन्नता तो गौण हो गई और समान आर्थिक चेतना या वर्गचेतना उभर कर ऊपर आ गई जिसने इनको एकता के सूत्र में ग्रथित कर दिया। इस प्रकार श्रमिकों के बीच वर्गसंघर्ष की भावना का क्रमशः उदय हुआ और वे विभिन्न धर्मावलंबी व्यक्तियों के रूप में नहीं वरन् एक निश्चित आर्थिक समूह या वर्ग के रूप में प्रकट हुए। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में वर्णव्यवस्था का पुराने रूप में चलना असंभव था। नगरों में छोटे बड़े तमाम होटल खुलने लगे थे जिनमें लोग एकसाथ बैठ कर खाते पीते और उसी के साथ साथ मिलों और कारखानों में सब एकसाथ काम करते थे। अतएव खानपान, छुआछूत आदि के पुराने नियमों का टूटना अनिवार्य ही था। इस विघटन में समाजसुधार संबंधी आंदोलनों और स्वाधीनता संग्राम ने और भी योग दिया। अब शिक्षा भी धर्ममूला न होकर उदार तथा धर्मनिरपेक्ष हो गई थी। स्वाधीनता का आंदोलन जनात्मकता तथा राष्ट्रीय एकता को आधार बनाकर चल रहा था। अतएव वर्णव्यवस्था तेजी से बिखरने लगी। स्वामी दयानंद सरस्वती तथा महात्मा गांधी दोनों ही उपजातियों का विरोध करते थे। उनका दृष्टिकोण था कि पहले उपजातियाँ मिटें और बाद में उनके स्थान पर बनी हुई बड़ी जातियों का विलयन हो। २०वीं शताब्दी में उपजातियाँ विलीन होने लगीं और बड़ी जातियाँ संघटित होने लगीं। नेताओं और सुधारकों के सामने वर्णविहीन और धर्मनिरपेक्ष समाजवादी समाज का आदर्श था अवश्य किंतु वह पूर्णतया चरितार्थ न हो सका। समाजवादी आदर्श को सैद्धांतिक स्वीकृति ही प्राप्त हो सकी क्योंकि मनोभाव या लक्ष्य और रूढ़िबद्ध संस्कारों में व्यापक अंतर था और गहरी खाई थी। इस आदर्श को प्रतिगामिता की ओर खींचनेवाली औद्योगिक प्रणाली भी साथसाथ चल रही थी जिसने जातिभेद को पूरी तरह मिटने नहीं दिया। उपजातियों के बंधन कुछ शिथिल अवश्य हुए किंतु बड़ी जातियों की श्रृंखलाएँ और दृढ़ हो गईं। डा० राधाकमल मुखर्जी लिखते हैं कि 'जातिगत भावना नवीन प्रातिनिधिक शासनव्यवस्था, पेशेवर संघटन तथा ट्रेडयूनियन जैसी संस्थाओं में चुनाव-एजेंट जैसा काम करती है[१]।' बहुधा ऐसा होता है कि शिक्षा के प्रसार से जातिवादी दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है और लगभग मिट सा जाता है, किंतु भारतीय समाज

१. इकोनामिक प्राब्लेम्स आव माडर्न इंडिया, खंड १, पृष्ठ ५१।
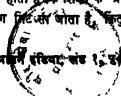
में हमें इसका उलटा रूप दिखाई पड़ता है। इसका कारण है शिक्षित मध्यमवर्ग की बेकारी की समस्या। डा० मुखर्जी का विचार है कि जातिभेद और कटुता बढ़ने का कारण मध्यमवर्ग की बढ़ती बेकारी की समस्या है[1]।

नवीन आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव पारिवारिक जीवन पर भी पड़ा। भारतीय जीवनपद्धति में संयुक्त परिवार की प्रथा का विशिष्ट स्थान था और अन्य अनेक कारणों के अतिरिक्त इसका एक महत्वपूर्ण कार्य पारस्परिक जीविकोपार्जन की पद्धति थी। पहले जीवन कृषिप्रधान था। अतएव परिवार के सभी पुरुष सदस्य शारीरिक श्रम करके जीविका उपार्जित करते थे। शारीरिक श्रम की पद्धति में व्यक्तियों की आय में कोई असाधारण विषमता नहीं होती। अतएव उसमें व्यक्तिगत मनमुटाव या असंतोष के लिये कम स्थान रहता है और यही कारण है कि इस व्यवस्था में लोग संमिलित रूप से रहना चाहते हैं। दूसरी बात यह भी है कि कृषि का कार्य सामूहिक पद्धति पर विशेष सुविधा के साथ हो सकता है और इसी रूप में उससे अधिकतम उपज प्राप्त की जा सकती है। लघु गृह उद्योगों पर आश्रित संयुक्त परिवारों की सफलता का भी यही कारण है क्योंकि उनमें भी शारीरिक श्रम की ही प्रधानता है। नए युग में औद्योगिक प्रणाली के विकास के कारण लघु उद्योगों की खपत की संभावना समाप्त सी हो गई और खेती के लिये उपयोगी भूमि महाजनों ने हथिया ली थी। अतएव लोग स्वाभाविक रूप से ही इन बड़े उद्योगों की ओर झुके। ये उद्योग बड़े बड़े नगरों में केंद्रित थे। अतएव लोगों को अपने पारिवारिक वातावरण का मोह त्याग कर इन औद्योगिक केंद्रों में जाकर बसना पड़ा। अब वर्णगत तथा परिवारगत पेशे बिखर गए थे और एक ही वर्ग और परिवार के व्यक्ति विभिन्न पेशे अपनाने लगे थे। वैयक्तिकता का उद्भव यहीं से होता है। इस वैयक्तिकता में पेशों की रुचि संबंधी वैचित्र्य के साथ साथ औद्योगिक नगरों की दूरी ने भी बड़ा योग दिया। शिक्षित वर्ग में यह वैयक्तिकता की प्रवृत्ति और भी उभर कर सामने आई। सरकारी नौकरियों या व्यापार में आय के अनेक स्तर थे और उनमें बहुत विषमता थी। अतएव लोग संमिलित आयव्यय की पद्धति से कतराने लगे। फलतः लोग, विशेषकर समाज के मध्यवर्गीय लोग व्यक्तिगत परिवार की पद्धति अपनाने लगे जो व्यक्तिगत होते हुए भी कुछ न कुछ संमिलित भी था, जिसके साथ कभी कभी छोटा भाई या बहिन भी होती थी। परिवार का अर्थ हुआ पति, पत्नी एवं उनके बच्चे। पाश्चात्य देशों में परिवार का जो वैयक्तिक रूप चला आ रहा था उसने भी इस दिशा में प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया। फिर भी भारत में विभक्त परिवारों का ठीक वही रूप तो नहीं हो पाया जैसा पाश्चात्य आणविक परिवारों का होता है किंतु व्यक्ति की स्वतंत्र इकाई अवश्य उभरकर सामने आ गई। भारत में व्यक्तिगत या विभक्त परिवार अलग

१. वही, पृ० ५१।

इकाई रखते हुए भी आपस में आर्थिक संबंध रखते हैं और विवाहादि जैसे महत्वपूर्ण अवसरों पर सामूहिक रूप से काम करते हैं। उनके परिवारों का इष्टदेवता भी एक ही होता है और प्रायः संपत्ति भी संमिलित रहती है। संयुक्त तथा संमिलित परिवार की धारणा का पूरी तौर से लोप भी नहीं हो सका है क्योंकि प्रायः तीन पीढ़ी तक लोग साथ ही रह जाते हैं और इसे आधारभूत समूह कहा जा सकता है। बच्चे बालिग होते ही अलग हो जायँ—पाश्चात्य पारिवारिक जीवन की यह वैयक्तिकता, सामान्य रूप से यहाँ कम ही लक्षित होती है। हमारे आलोच्यकाल में विभक्त परिवारों का ऐसा ही रूप था। बाद में यह वैयक्तिकता की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी और फलतः वर्तमान समय में हमने बहुत कुछ आणविक परिवार की पद्धति अपना ली।

संयुक्त परिवार के विघटन का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव नारी के जीवन पर पड़ा। यह प्रभाव विशेषकर मध्यवर्गीय नारी के जीवन में लक्षित होता है। संयुक्त पद्धति में नारी अबला, साधनहीन और अधिकारहीन होते हुए भी जीवननिर्वाह कर लेती थी किंतु अब उसे जीने के लिये आर्थिक संघर्ष करने के लिये तैयार होना पड़ा। परिणामतः नारीशिक्षा एक आत्यंतिक आवश्यकता बन गई और इसी के साथ साथ विधवाविवाह को भी प्रश्रय दिया जाने लगा। अब तलाक और पुनर्विवाह भी कतिपय परिस्थितियों में वैध है। हिंदी साहित्य में इसके उदाहरण प्राप्त हैं। नारी अब पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी हुई और उसमें स्वाभिमान और आत्म-गौरव के भाव जागे। नारीजागरण की भूमिका पहले से ही बन चुकी थी। कांग्रेस की स्थापना के साथ ही जनतंत्र और समाजवादी व्यवस्था का जो आदर्श उभरा उसका प्रभाव पुरुष के नारी के प्रति दृष्टिकोण पर भी पड़ा। पाश्चात्य जीवनपद्धति में नारी को जैसा बराबर का संमान्य स्थान दिया जाता था वह भी सबके सामने आ रहा था। साथ ही शिक्षा का प्रसार होने से लोग बौद्धिक रूप से इसके लिये तैयार भी हो रहे थे। कलकत्ताकांग्रेस ने १९१७ में प्रस्तावित किया था कि मत देने एवं उम्मीदवार के रूप मे खड़े होने के लिये स्त्रियों को भी अवसर दिया जाय और उनके लिये भी वही शर्तें हों जो पुरुषों के लिये थी। सरोजिनी नायडू, एनीबेसेंट तथा श्रीमती हीराबाई ने १९१९ में ब्रिटिश सरकार के सामने नारी को राजनीतिक अधिकार देने की माँग पेश की। देश इसके लिये मानसिक रूप से तैयार ही था। प्रांतीय धारासभाओं ने शीघ्र ही महिलाओं को मतदान का अधिकार दे दिया। मद्रास ने इस दिशा में पहल की। संयुक्तप्रांत (उत्तर प्रदेश) ने १९२३ में नारी को वोट देने का अधिकार एकमत होकर प्रदान किया, जो विश्व के सामाजिक इतिहास का अद्वितीय उदाहरण है। १९३१ में कराची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें स्त्रीपुरुष के बुनियादी अधिकारों की समानता की घोषणा की गई। नारी का यह उत्थान वस्तुतः राष्ट्रीय आंदोलन के संबद्ध था। राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। गांधीजी के असहयोग और अवज्ञा आंदोलनों में उन्होंने

सोत्साह भाग लिया। गांधीजी की विरोधपद्धति अहिंसात्मक थी और वह भारतीय नारी की प्रकृति के अनुकूल पड़ती थी। अतएव उसने घर की चहारदीवारी से बाहर आकर राष्ट्रीय आंदोलन को अपने सहयोग से बल प्रदान किया। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का मोर्चा महिलाओं ने सम्हाला। कहना न होगा कि यह मोर्चा हमारे स्वाधीनता संग्राम का सबसे जोरदार पहलू था जिसने विदेशी हितों की कमर तोड़ दी थी। होमरूल आंदोलन की भी मुख्य शक्ति नारीवर्ग ही था। इस आंदोलन की शक्ति, 'स्त्रियों के उसमे एक बहुत बड़ी संख्या में भाग लेने, उसके प्रचार में सहायता करने, स्त्रियोचित अद्भुत वीरता दिखाने, कष्ट सहने और त्याग करने के कारण दस गुनी अधिक बढ़ गई थी। हमारी लीग के सबसे अच्छे रंगरूट और सबसे अच्छी रंगरूट बननेवाली स्त्रियाँ ही थीं'।[1]

इस व्यापक नारीजागरण के पीछे राष्ट्रीय स्वाधीनता का उत्साह तो था ही, संयुक्त परिवारप्रथा के भीतर उसकी असहाय और दयनीय स्थिति ने भी उसे घर की सीमाओं से बाहर निकलने के लिये प्रेरित किया था। पं० जवाहरलाल नेहरू का यह विचार है कि—इन स्त्रियों के लिये आजादी की पुकार हमेशा दुहरी माने रखती थी और इस बात मे कोई शंका नही कि जिस जोश और जिस दृढ़ता के साथ वे आजादी की लड़ाई मे कूदीं उनका मूल उस धुँधली और लगभग अज्ञात, लेकिन फिर भी उत्कट आकांक्षा में था, जो उनके मन मे घर की गुलामी से अपने को मुक्त करने के लिये बसी हुई थी।.........मामूली तौर पर लड़कियों और स्त्रियो ने हमारी लड़ाई मे क्रियात्मक भाग अपने पिताओं और भाइयों या पतियो की इच्छा के विरुद्ध ही लिया। किसी भी हालत में उन्हें अपने घर के पुरुषों का पूरा सहयोग नही मिला। स्वाधीनता का आंदोलन नारी के लिये वस्तुतः अपनी मुक्ति का भी आंदोलन था। राजनीतिक समानाधिकार मिल जाने से उसे बाहर आने के लिये एक सहारा मिला और उसका मनोबल दृढ़ हुआ। भारतीय पुरुष आर्थिक स्तर पर उसे समानता नही देना चाहता था और इसी लिये १६३१ में 'हिंदू विडोज प्रापर्टी बिल' पास न हो सका किंतु वह नैतिक स्तर पर उसे मुक्ति के महायज्ञ मे भाग लेने से रोक भी नही सकता था क्योंकि वह स्वयं इस यज्ञ मे आहुति दे रहा था। आधुनिक भारतीय नारी का उद्भव इसी समय होता है। आगे चलकर शिक्षाप्रसार और औद्योगिक विकास के साथ साथ उसमें आर्थिक स्वाधीनता का भाव प्रबल हुआ और वह पुरुष के ही समान समाजव्यवस्था के शक्तिशाली आधार के रूप मे कर्मक्षेत्र मे उतरी।

संयुक्त परिवारप्रथा से विघटन के एक और वैशिष्ट्य परिलक्षित हुआ। प्राचीन पारिवारिक पद्धति में पुरानी रूढ़ियो एवं मान्यताओं का यथावत् निर्वाह संभव था क्योंकि उसमे परिवार के बड़े बूढ़ों का निर्देश चलता था जो बहुधा परंपरा के समर्थक

१. कांग्रेस का इतिहास, अनु० हरिभाऊ उपाध्याय, पृ० १३६।

होते हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि उन्हीं के सहारे परंपराएँ आगे बढ़ती हैं। सामूहिक अर्थसंचय एवं सामूहिक आवास से रूढ़ियों के संवर्धन में सुविधा का होना इसका दूसरा और उससे भी महत्वपूर्ण कारण था। नए युग में वैयक्तिक परिवारों का रूप इस दृष्टि से सुविधाजनक न था। अतएव बहुत से पुराने रीतिरिवाज, जो सामयिक जीवन की दृष्टि से अनुपयोगी और किसी सीमा तक हानिकर सिद्ध हो रहे थे, समाप्त होने लगे। नई शिक्षा ने इस दिशा में विशेष मार्गप्रदर्शन किया। फलतः धार्मिक और सामाजिक अंधविश्वास टूटने लगे और उनके स्थान पर प्रगतिशील नए विचार स्थान पाने लगे। यह सच है कि इसी युग में बड़े बड़े सांप्रदायिक दंगे हुए जिनमें अपार धनजन का नाश हुआ किंतु जैसा कि पहले कहा गया है, उनके राजनीतिक तथा अन्य व्यापक कारण थे। साधारण सामाजिक जीवनदृष्टि में प्रगति आ गई थी। इस नए औद्योगिक युग ने जहाँ भारतीय जनजीवन में बहुत सी विडंबनाओं, विषमताओं और विभीषिकाओं को जन्म दिया, वहाँ उसने जीवनदृष्टि में व्यापकता का भी समावेश किया।

सामाजिक जीवन में मध्यवर्ग का स्वरूप इसी युग में उभरा। प्रशासन को चलाने के लिये सरकार को ऐसे कर्मचारी वर्ग की आवश्यकता थी जो शिक्षित हो और जो साधारण जिम्मेदारियाँ निभा सके। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को भी चलाने के लिये बहुत से पढ़लिखे कर्मचारियों की आवश्यकता थी क्योंकि व्यापार उनके बिना सुचारु रूप से बड़े पैमाने पर नहीं चल सकता था। इन सेवाओं से इनका अर्थोपार्जन मात्र इतना होता था कि जीवन बिना किसी विरोध बाधा के साधारण स्तर पर चलाया जा सके। इस वर्ग में आनेवालों की स्थिति निर्धन किसानों और श्रमिकों से बेहतर थी और समाज में शिक्षित समुदाय के रूप में इनकी एक स्तरीय प्रतिष्ठा भी बन गई थी। यह वर्ग शारीरिक श्रम न करके बौद्धिक श्रम करता था। समाज का यही वर्ग मध्यमवर्ग कहलाया। स्पष्ट रूप से यह वर्ग प्राचीन वर्णव्यवस्था के आधार पर न बनकर प्रशासनप्रणाली और अर्थव्यवस्था के आधार पर बना था। नौकरी करनेवाले मध्यवर्गीय लोगों के लिये अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य था क्योंकि सारा काम उसी के माध्यम से करना होता था। शासनतंत्र यही चलाता था। इस मध्यमवर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। शासनतंत्र चलाना और साथ ही स्वाधीनतासंग्राम में योग देना—दो परस्पर विरोधी बातें लग सकती हैं किंतु मध्यमवर्ग के संदर्भ में उसमें कोई असंगति नहीं है। सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्था को चलानेवाला मध्यमवर्ग ही है और क्रांतिकारी अभियान चलानेवाला भी यही बुद्धिजीवी मध्यमवर्ग है। समाज का दो तिहाई भाग इसी श्रेणी में आता है। अतएव इनके पास जीवन की एक पद्धति होती है जिसमें अपना स्तर और अपनी प्रतिष्ठा का विचार निहित रहता है। इसी लिये यह वर्ग सामाजिक प्रश्नों के प्रति विशेष जागरूक होता है। नए विचार तथा नई मान्यताएँ उसी के माध्यम से जन-

जीवन में प्रवेश पाती है और वह सामाजिक चेतना का संवाहक और अग्रदूत होता है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में हम भारतीय मध्यमवर्ग को युग की प्रगति और शक्ति के संचालक और प्रतीक के रूप में पाते हैं और इसी के बीच से हमारे लोकनायक जन्मते हैं। यह वर्ग अपने स्वरूप की व्यापकता और विविधता के कारण संघटित नहीं हो सकता किंतु इसका यही दोष प्रगतिशीलता और वैचारिक उदारता की दृष्टि से विशिष्ट गुण बन जाता है। यह वर्ग नई चेतना का संवाहक है; किंतु इस सत्य के पीछे एक दूसरा सत्य भी छिपा हुआ है जो इसका प्रेरक है और वह है मध्यमवर्ग का अभावग्रस्त, संत्रस्त और कुंठित जीवन। आधुनिक हिंदी साहित्य मध्यमवर्ग की इसी कुंठा की कथा कह रहा है। काव्य, उपन्यास और कहानियाँ इसी कुंठाग्रस्त खोखले जीवन के सामाजिक, वैयक्तिक और मनोविश्लेषणात्मक चित्र प्रस्तुत करती है। व्यवस्था में नवीनता और परिवर्तन की आवश्यकता तभी अनुभूत होती है जब प्रचलित व्यवस्था की विषमता असह्य हो जाय। अंग्रेजों की शासनप्रणाली तथा उनकी औद्योगिक अर्थव्यवस्था ने अपनी सुविधा के लिये इस वर्ग को जन्म दिया था। इस वर्ग में बौद्धिक श्रम की ही प्रधानता थी। अतएव जब देश में अकाल तथा पूर्ववर्णित अर्थसंकट आए तो इसकी दशा अत्यंत शोचनीय और दयनीय हो गई। यह शारीरिक श्रम कर नहीं सकता था क्योंकि इसका उसे अभ्यास नहीं था और दूसरी ओर इतनी नौकरियाँ भी नहीं थी कि यह बेकारी के अभिशाप से मुक्त रहे। १९३० के बाद से ही मध्यमवर्ग की दशा दयनीय हो जाती है और वह चिताओं से विजड़ित हो जाता है। सामाजिक उत्तरदायित्व उसे सबके सब निबाहने थे, और अपनी स्तरीय सामाजिक मर्यादा के अनुरूप ही निबाहने थे किंतु आर्थिक साधन की दृष्टि से वह पंगु हो रहा था। फलस्वरूप मध्यमवर्गीय परिवारों के इतिहास में बड़े उतार चढ़ाव इस कालावधि में लक्षित होते है। इस काल में लिखे गए सामाजिक उपन्यासों का प्रधान वस्तुविषय मध्यमवर्ग का विषम जीवन है।

सामाजिक जीवन में इस समय हमें अछूतोद्धार की भावना भी परिलक्षित होती है। अछूत समस्या को लेकर सबसे पहले १९१७ मे कलकत्ता कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पारित किया था : 'यह कांग्रेस भारतवासियों से आग्रह करती है कि परंपरा से दलित जातियों पर जो रुकावटें चली आ रही है वे बहुत दु:ख देनेवाली और क्षोभकारक हैं जिससे दलित जातियो को बहुत कठिनाइयों, सख्तियों और असुविधाओं का सामना करना पड़ता हैं, इसलिये न्याय और भलमंसी का यह तकाजा है कि ये तमाम बंदिशें उठा दी जायँ'।[1] गांधीजी का नेतृत्व पाकर अछूतोद्धार की समस्या समाज के सामने उभरकर आई और उसे सबकी सहानुभूति मिली। गांधीजी का कहना था कि अछूत कहलानेवाले वर्ग को हिंदू समाज में प्रतिष्ठित स्थान मिलना चाहिए। वे

१. कांग्रेस का इतिहास, अनु० हरिभाऊ उपाध्याय, पृ० ५९।

महात्मक कहते थे कि हिंदुत्व का मिट जाना अच्छा है अपेक्षाकृत इसके कि उसपर अछूत का कलंक लगा हो। उन्होंने इस समस्या को अपने असहयोग आंदोलन का एक मुख्य अंग बना लिया। ब्रिटिश शासक भेद नीति के समर्थक थे और वे समझते थे कि अछूतों को हिंदू समाज में प्रतिष्ठा मिल जाने से जनता की एकता व्यापक हो जायगी और इससे राष्ट्रीय आंदोलन को विशेष बल मिलेगा। अतएव उन्होंने यह प्रचार करवाया कि अछूत हिंदू नहीं हैं। वे मुसलमानों की भाँति अछूतों को भी स्वतंत्र प्रतिनिधित्व देकर उन्हें कांग्रेस से पृथक् कर देना चाहते थे। उनकी इस चाल को अछूतवर्ग के नेता डा० अंबेदकर और श्रीनिवासन् ने आगे बढ़ाया और अछूतसमस्या को उन्होंने राजनीतिक प्रश्न बना दिया। इन्होंने गोलमेज परिषद् में बुनियादी अधिकार, बालिग मताधिकार के अतिरिक्त स्वतंत्र प्रतिनिधित्व की भी माँग प्रस्तुत की। कांग्रेस ने तीसरी माँग का विरोध किया और यह सभा असफल हो गई। रामजे मैकडानल्ड के 'कम्युनल एवार्ड' ने अछूतों के स्वतंत्र प्रतिनिधित्व की माँग स्वीकार कर ली। इसपर १९३२ में गांधीजी ने आमरण अनशन आरंभ कर दिया जिसके फलस्वरूप कांग्रेस और अछूतवर्ग मे समझौता (पूना पैक्ट) हुआ। इस समझौते के अनुसार कांग्रेस ने अछूतवर्ग को १४२ सीटें देना स्वीकार किया जब कि अंग्रेज सरकार केवल ९१ सीटें दे रही थी। इस पैक्ट के बाद ही 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना हुई जिसके मंत्री ठक्कर बप्पा की सेवाएँ अविस्मरणीय हैं। इस संघ का लक्ष्य अछूतों को सामाजिक अधिकार दिलाना था। श्रीजगजीवनराम के नेतृत्व में दलित जातिसंघ ने अछूतवर्ग की बड़ी सेवाएँ कीं। इन संघों से राष्ट्रीय आंदोलन को बल मिला और दूसरी ओर समाज में अछूतों के प्रति सहानुभूति का भाव उत्पन्न हुआ। हमारे आलोच्यकाल में अछूतोद्धार की समस्या को पिछले युग की अपेक्षा साहित्य में बहुत कम स्थान दिया गया है। 'शेखर : एक जीवनी' में विद्रोही शेखर ब्राह्मण छात्रों का छात्रावास छोड़कर अछूतों के छात्रावास में रहने लगता है। वह अछूतोद्धार समिति की स्थापना करता है और अछूत बालकों के लिये स्कूल खोलकर स्वयं उन्हें पढ़ाता है। 'मनुष्यानंद' उपन्यास में भंगी बुधुआ नगरपालिका को झुका देने की शक्ति रखता है।

हमारे आलोच्य काल का सामाजिक परिवेश संक्रांति, संघर्ष एवं प्रगति की संभावनाओं से परिव्याप्त लक्षित होता है। इस युग में लिखे गए उपन्यास इस परिवेश को बड़े जीवंत रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैनेंद्र के 'कल्याणी' उपन्यास में नारी के घर और बाहर के जीवन का द्वंद्व बड़े सजीव रूप में चित्रित किया गया है। 'पर्दे की रानी' (इलाचंद्र जोशी), 'दादा कामरेड' (यशपाल), 'घरौंदे' (रांगेय राघव), 'अचल मेरा कोई' (वृंदावनलाल वर्मा) आदि उपन्यासों मे विवाह की प्रथा में ढिलाई, स्वच्छंद प्रेम, तलाक आदि की बात उठाई गई है जो आधुनिक नारी की परिवर्तित परिस्थिति तथा बदले हुए मनोभावों का परिचय देती हैं। नारी की आर्थिक

को प्रस्तुत करने में बहुधा कुछ लेखकों ने प्रगति, यथार्थ और प्रकृतचित्रण के नाम पर बहुत सी दमित वासनाओं और कामविकृतियों को चित्रित किया है और इस प्रस्तुतीकरण में मनोवैज्ञानिक आधारभूमियाँ दी हैं। 'निमंत्रण', 'जीजी जी', 'परख', 'प्रेत और छाया', 'देशद्रोही', 'पिपासा' आदि उपन्यास ऐसे ही हैं। इनमें वेश्याओं की समस्या भी प्रस्तुत की गई है और उन्हें भी प्रबुद्ध और जागरूक रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'पर्दे की रानी', 'निमंत्रण', 'घरौंदे, 'प्रेत और छाया' आदि उपन्यासों में यह समस्या सामने आई है। यशपाल ने 'मनुष्य के रूप' उपन्यास में नारीविक्रय की समस्या चित्रित की है। संयुक्त परिवारप्रणाली का जर्जर स्वरूप 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप', 'गिरती दीवारें' आदि उपन्यासों में देखा जा सकता है। इन सभी सामाजिक उपन्यासो का वस्तुविषय मध्यमवर्गीय घेरे के भीतर ही है। इनके प्रायः सभी पुरुषपात्र मध्यमवर्गीय अस्थिरता से व्याप्त है, ये कामकुंठा से ग्रस्त है, असामाजिक हैं और प्रायः सभी का व्यक्तित्व निस्तेज है। तत्कालीन समाज के मध्यमवर्ग की सही स्थिति इनमें देखी जा सकती है। सामाजिक परिवेश को इस युग की कहानियों में विशेष व्यापकता के साथ वाणी मिली है। यशपाल, उपेंद्रनाथ 'अश्क' (निशानियाँ, काले साहब, पिंजरा, दो धारा, छींटें), चंद्रगुप्त विद्यालंकार, निर्गुण, भैरवप्रसाद गुप्त, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा (इंस्टालमेंट, राख और चिनगारी), अमृतलाल नागर, चंद्रकिरण सौनरिक्सा, विष्णु प्रभाकर (आदि और अंत, रहमान का बेटा, जिंदगी के थपेड़े, संघर्ष के बाद), अमृतराय, मार्कंडेय आदि की अधिकांश कहानियों में मध्यमवर्गीय जीवन और उनकी समस्याओं का यथार्थ चित्रण प्राप्त होता है। नाटकों मे भी ये सामाजिक समस्याएँ प्रस्तुत की गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृथ्वीनाथ शर्मा, उपेंद्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, गोविंदवल्लभ पंत, हरिकृष्ण प्रेमी, वृंदावनलाल वर्मा, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, भारतभूषण अग्रवाल, कृष्णकुमार, मार्कंडेय आदि के अधिकांश नाटक व्यक्ति, परिवार और समाज की समस्याएँ जीवंत रूप में चित्रित करते हैं।

सांस्कृतिक परिस्थिति

संस्कृति मूल्यों की अंतश्चेतना है जिसकी बाह्य चरितार्थता सभ्यता के नाम से अभिहित होती है। संस्कृति की दृष्टि से यह कालावधि बड़ी रोचक और महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें दो एक नए पक्ष जुड़ गए है। इसमे कतिपय नई विशिष्टताएँ लक्षित हुई। वास्तव मे यह नवता उस विकास का परिणाम थी जिसका सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी मे ब्रिटिश जाति के भारत मे सत्तारूढ़ हो जाने पर भारतीय तथा योरोपीय संस्कृति के संघर्ष के रूप मे हो गया था। ब्रिटिश शासन की राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि व्यवस्था का भारत की परिस्थिति और भावनाओं पर शनैः शनैः प्रभाव पड़ने लगा जिससे भारतीय मनःस्थिति में गहरा परिवर्तन हुआ।

आरंभ में सभी योरोपीय बातों का विरोध हुआ क्योंकि भारतीय संस्कारों में जकडा मन उनको स्वीकार कर अपने को सहसा परिवर्तित करने को तैयार न था। इसलिये आरंभ में भारतीय संस्कृति ने सर्वोपरि होने का दम भरते हुए योरोपीय संस्कृति के सभी पक्षों के प्रति विरोध और उपेक्षा का भाव भरा। किंतु चूँकि इस भाव की जड़ें वास्तविकता मे जमी नहीं थीं इसलिये यह मनोवृत्ति टिकाऊ न हो सकी। दूसरे, भारतीय संस्कृति की सहज प्राणशक्ति ने अपने को परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल ढाल लिया और सदा के समान उसकी सामंजस्यप्रियता उभरकर ऊपर आ गई। फलतः एक मध्यम मार्ग निकल आया जिसमें पूर्व और पश्चिम, नवीनता और प्राचीनता का प्रेम तथा परंपरा और बौद्धिक व्याख्या का समन्वित रूप ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, वेदसमाज, देवसमाज, आर्यसमाज; थियोसाफिकल सोसाइटी आदि के सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में प्रस्फुटित और प्रस्तुत हुआ और सामंजस्य इस प्रकार के मानसिक समझौते के रूप मे प्रकट हुआ कि आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हम संपन्न हैं किंतु ऐहिक क्षेत्र में हमे ब्रिटेन से बहुत कुछ सीखना है। उनके इतिहास, समाजसुधार, राजतंत्र, विज्ञान, औद्योगिक और आर्थिक नीति से हमे शिक्षा ग्रहण करनी है। भौतिक इस तरह क्षेत्र में धीरे धीरे ब्रिटेन गुरु बन गया और हम योरोपीय संस्कृति में रँग गए।

ऐतिहासिक सास्कृतिक संघर्ष के फलस्वरूप भारतीय सामंतीय संस्कृति समाप्त हुई और औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। इसने अंग्रेजी पढ़ेलिखे मध्यम-वर्ग को आगे बढ़ाया जो भारतीय राजनीति में थोडे समय बाद काफी सक्रिय हो गया। औद्योगिक व्यवस्था ने राष्ट्रीयता को भी बढ़ावा दिया, श्रमिकवर्ग को (न चाहते हुए भी) संघटित कर दिया, और आगे चलकर अंतर्राष्ट्रीयता को भी जन्म दिया।

अंग्रेजी पढ़ेलिखे भारतीय मध्यमवर्ग ने राजनीति के सूत्र को अपने हाथ मे ले लिया। राजनीति के रंगमंच पर सबसे पहले उदारदल ने पदार्पण किया जो भारत के प्रति अंग्रेजों की सद्‌भावना मे विश्वास करता था, अंग्रेजी शासन का गुणगान करता था, और जो ब्रिटिश शासन से सुविधा और सुधार प्राप्त करने के लिये वैधानिक उपायों की वकालत करता था। भारतीय राजनीति और जागरण में इस उदारदल का पर्याप्त योगदान है लेकिन फिर भी शासन द्वारा जनता के उत्पीड़ित होने, तथा जनता में व्याप्त बेकारी और असंतोष के कारण, और लिबरलदल के ब्रिटिश शासन का अनुमोदन करने के कारण वह जनसहानुभूति से विलीन हो गया और राजनीतिक दौड़ में पीछे रह गया।

अब कांग्रेस पार्टी आगे आई और उसकी आंदोलनवादी नीति प्रमुख हुई, जिससे राष्ट्रीयता को बढ़ावा मिला। गांधीजी के नेतृत्व में राजनीति में नैतिक तत्वों का समावेश हुआ और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये सत्य तथा अहिंसा साधन और शस्त्र रूप में अपनाए गए। जब देश स्वतंत्र हुआ तो शासनसूत्र कांग्रेस के हाथ में आ

गया और अंतर्राष्ट्रीय संबंध भी स्थापित हुए। द्वितीय महायुद्ध तथा देश के स्वतंत्र होने के बाद राष्ट्रीयता के तत्व के साथसाथ अंतर्राष्ट्रीयता का तत्व भी उभरा। फलतः राष्ट्रवाद को स्वीकार करने के साथसाथ समस्याओं को व्यापक उदार अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की दृष्टि से भी देखने और सोचने की प्रवृत्ति बढ़ी। उस समय से आजतक राष्ट्रीय तत्व—अर्थात् देश की स्वतंत्रता की रक्षा—और अंतर्राष्ट्रीय तत्व (विश्व की समस्याओं और देश की समस्याओं को पारस्परिक परिप्रेक्ष्य में देखना, तथा उनका समाधान, और अन्य राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति तथा सहायता की भावना) भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण के विशिष्ट अंग बन गए है।

आलोच्य कालावधि में यह अंतर्राष्ट्रीयता प्रगतिवाद के रूप में आई। प्रगतिवाद के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीयता और मानवतावाद दोनों को अभिव्यक्ति मिली। भारत की राष्ट्रीयता ने जहाँ देश की स्वतंत्रता की घोषणा की वहाँ उसकी अंतर्राष्ट्रीयता ने साम्राज्यवाद का विरोध किया, विश्वशांति की माँग की और मानवतावादी दृष्टिकोण को पुष्ट किया।

सन् १९३७ से लेकर १९५२ तक का समाज सांस्कृतिक जागरण की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण रहा है। इस युग मे जो नवीन विचारधाराएँ आविर्भूत और विकसित हुई उनका प्रभाव सांस्कृतिक विकास पर भी पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वैचारिक चिंतन आरंभ हुआ। विदेशी विचारधाराओं के संपर्क और सांस्कृतिक आदानप्रदान ने भी इस क्षेत्र में जागरण उत्पन्न किया। सन् १९४२ की क्रांति तथा सन् १९४७ की भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति ने राष्ट्रीय चेतना को बढ़ावा दिया। यातायात के साधनों के विकास तथा बढ़ती हुई औद्योगिक प्रगति ने जीवन को व्यस्त और वैज्ञानिक बना दिया। जनतांत्रिक भावना का विकास भी इस युग में हुआ।

आदर्शवादी जीवनदर्शन

भारतीय चिंतन मे परंपरागत रूप से आदर्शवादी जीवनदर्शन की ही प्रधानता रही है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक साधनों के विकास के बावजूद भारतीय समाज के अनेक वर्ग अब भी आदर्शवादी चिंतन में विश्वास रखते हैं। उनका दृष्टिकोण भावनात्मक अधिक है, यथार्थपरक कम। इसी का यह परिणाम दिखाई देता है कि आलोच्ययुग में जितने भी महत्वपूर्ण आंदोलन हुए, वे सब मुख्यतः भावनात्मक पृष्ठभूमि पर आधारित थे। भावनात्मक उद्रेक ने सन् १९४२ की क्रांति को एक ऐतिहासिक घटना बना दिया। हमारे देश के महान् नेताओं को जनता का एक स्वर से जो समर्थन प्राप्त हुआ उसका कारण भी यही आदर्शवादी भावना है। राष्ट्रप्रेम की भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये लाखों नर नारियों ने जो अपने प्राणों की आहुति दे दी वह भी एक भावनात्मक सत्य पर ही आधारित

था। आज भी हमारा समाज बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त होता हुआ भी भावनात्मक आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण करता है।

राष्ट्रीय चेतना का विकास

आलोच्य युग राष्ट्रीय चेतना के विकास की दृष्टि से पिछली कई शताब्दियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसी काल में 'भारत छोड़ो' आंदोलन हुआ और जनक्रांति के फलस्वरूप भारतवर्ष को कई सौ वर्षों की खोई हुई स्वतंत्रता प्राप्त हुई। इस समय तक लोगों में राष्ट्रीय चेतना इस सीमा तक जाग्रत हो चुकी थी कि वे स्वतंत्रता के लिये सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। इसलिये यह कहा जा सकता है कि इस युग में सांस्कृतिक विकास की जो पृष्ठभूमि निर्मित हुई उसका मूल आधार राष्ट्रीय चेतना ही रही। प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामों ने भारतीय जनता के सामने यह स्पष्ट कर दिया था कि प्रत्यक्षत: युद्ध से संबंध न रखते हुए भी उसका अंतर्राष्ट्रीय कुप्रभाव किसी भी प्रकार बचाया नहीं जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जब भारत को अपनी इच्छा के विरुद्ध भाग लेने के लिये बाध्य होना पड़ा तब राष्ट्रीय एकता की भावना बलवती हो उठी। हमारे देश में जो अनेक जाति और धर्म के लोग रहते हैं उन सबने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि जबतक उनमें राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय चेतना का उदय नहीं होगा तबतक उन्हें वर्तमान स्थिति से मुक्ति नहीं मिल सकती। इस तथ्यबोध के पश्चात् ही राष्ट्रीय एकता की भावना इतनी विकसित हुई कि सबने अपने धर्म और जाति को गौण मानते हुए भी राष्ट्रीय हित का लक्ष्य सर्वोपरि रखा है।

इस प्रकार राष्ट्रीय भाव बीसवीं शताब्दी की सांस्कृतिक स्थिति का निर्धारक तत्व बन जाता है। १९वीं शताब्दी के अंतिम भाग में और २०वीं शताब्दी के प्रारंभ में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति भारतीय जनता में विशेष लगाव दृष्टिगत होता है और उसी के साथसाथ पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण के प्रति कभीकभी किन्हीं विचारकों और लेखकों का क्षोभ भी लक्षित होता है। अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य रहन-सहन के प्रति असंतोष प्रकट करनेवाले पुरानी पीढ़ी के, अथवा प्राचीन भारतीय संस्कृति के हिमायती थे। उनके असंतोष की मूल प्रेरणा अतीतोन्मुख तथा प्राचीन व्यवस्था में उथलपुथल की आशंका थी। २०वीं शताब्दी के दूसरे दशक से राष्ट्रीय भावना में प्रगति और व्यापकता लक्षित होती है और इसका विकसित रूप तब देखने में आया जब विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आंदोलन व्यापक रूप में जनता द्वारा समर्थित और कार्यान्वित हुआ। यहीं से राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर सांस्कृतिक मनोदृष्टि का नवोन्मेष प्रारंभ होता है। अब अत्यधिक अंग्रेजियत के प्रति असंतोष, अपनी संस्कृति के प्रति प्रबल आकर्षण और मोह के भाव जाग्रत होते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक रूप से आगे बढ़ाने के लिये भारतीय जनमानस की एकता

आत्यंतिक आवश्यकता थी और प्रेरणा देने के लिये सांस्कृतिक पुनरुत्थान आवश्यक साधन था। भारतीय जनजीवन में प्रारंभ से ही व्यापक विविधता रही है और इस वैविध्य मे एकता का सूत्र संस्कृति ने ही धारण किया है। प्राचीन संस्कृति के महान् उदार, सामंजस्यप्रिय और व्यवस्थित होने के कारण इस दिशा में सांस्कृतिक भावना को विशेष सफलता मिलती रही है। यही कारण है कि इधर के भारतीय साहित्य में विदेशी जीवनपद्धति के प्रति थोड़ा उपेक्षाभाव दिखाई पड़ता है और इसी के साथ भारतीय संस्कृति के प्रति व्यापक समादर का भाव भी उभरता है। स्वतंत्रता मिलने के पूर्व तक भारतीय मनोभूमि मे यह सास्कृतिक संक्रमण परिलक्षित होता है। अतीत के प्रति इस प्रबल आकर्षण के भावों की गूंज प्रसाद के नाटकों और उनकी राष्ट्रीय कविताओं मे सुनी जा सकती है। इस दृष्टि से उनका 'तितली' उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रसाद ही क्यो, इस खेवे के सभी साहित्याकार अतीत के गौरव की याद दिलाकर राष्ट्रीयता के मनोभाव को प्रेरित, उद्दीप्त और प्रसारित करते हैं।

इसलिये इस अतीतजीवी सांस्कृतिक भावना के उन्मेषकाल मे जहाँ हमें पाश्चात्य संस्कृति के प्रति परपरावादियो मे अवज्ञा का भाव लक्षित होता है वहाँ दूसरी ओर वैज्ञानिक मनोदृष्टि का उदय और उसके लिये एक प्रबल आग्रह, जिसमे प्रत्येक वस्तु की बुद्धिसम्मत व्याख्या का प्रयत्न लक्षित होता है, भी दिखाई पडता है। सांस्कृतिक जागरण के साथ यह वैज्ञानिक प्रबुद्धता विरोधात्मक स्थिति की सूचक न होकर पूर्णतया स्वाभाविक है। मूलरूप मे यह युग वैज्ञानिक एव बौद्धिक उन्मेष का ही था। सांस्कृतिक जागरण इस युग की परिस्थिति से प्रसूत हो राष्ट्रीय मनोभाव के उद्दीपक तथा सहायक के रूप मे उभरा था और बहुत कुछ इस नवीन बौद्धिक उन्मेष से प्रेरित था। राजनीतिक दासता की चेतना ने हमे स्वतंत्रता और जनतत्र की ओर उन्मुख किया और अपनी सस्कृति के प्रति आवश्यकता से अधिक विशेष लगाव का अनुभव कराया। यही कारण है कि जब स्वतत्रता प्राप्त हो गई तब हमारे सास्कृतिक मनोभाव की दिशा भी बदल गई और वैज्ञानिकता और बौद्धिकता तथा मानवतावाद की ओर हमारी रुझान बढती गई। आधुनिक भारत के सास्कृतिक निर्माण मे विज्ञान और बौद्धिकता का सबसे अधिक सबसे महत्वपूर्ण योगदान रहा है। बौद्धिकता और वैज्ञानिकता का एक परिणाम यथार्थवाद हुआ जो आगे चलकर प्रगतिवाद के रूप मे प्रकट हुआ और जिसने मानवतावाद को पुष्ट किया। पाश्चात्य जीवनप्रणाली का मोह भी हमारे भीतर से नहीं मिट सका है और आज भी हम उसी जीवनपद्धति की ओर बढ रहे हैं। आंदोलनकाल मे पाश्चात्य संस्कृति की विगर्हणा समयविशिष्ट से प्रसूत अल्पकालिक अभिव्यक्ति थी जो आदोलन की समाप्ति के साथसाथ समाप्त हो गई। फलतः हमने बाद मे पाश्चात्य संस्कृति की अच्छाइयों को स्वीकार कर लिया। हमारी इस स्वीकृति का एक अतिवादी रूप भी है जिसमें कि हममे मे कुछ ने अपने राष्ट्रीय संमान और स्वाभिमान को तिलांजलि देकर अंग्रेजी भाषा का मानसिक दासता भी स्वीकार कर ली है। यह स्थिति

धीरे धीरे समाप्त हो रही है और अब राष्ट्र को राष्ट्रभाषा मिल रही है। स्पष्ट ही स्वतंत्रताप्राप्ति के अनंतर हमारी सांस्कृतिक मनोदृष्टि अतिवाद को छोड़ समन्वयात्मक हो गई है जिसमें वैज्ञानिकता और बौद्धिकता की विशेष प्रेरणा है।

प्रमुख विचारधाराएँ

आदर्शवाद

आदर्शवादी विचारधारा भारतीय साहित्य के क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। आदर्शवादी सिद्धांत का उद्देश्य मनुष्य की बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक क्षेत्रों में उन्नति करना है। विदेशी साहित्य में भी आदर्शवादी विचारधारा को पर्याप्त प्रश्रय मिला है। प्राचीन यूनानी विचारकों में प्लेटो तथा अरस्तू आदर्शवादी चिंतक ही थे। आगे चलकर सर टामस मूर ने भी आदर्शवादी विचारधारा का परिचय दिया। रूसो ने भी एक आदर्श संस्था के रूप में राज्य को मनुष्य की बौद्धिक, आध्यात्मिक उन्नति का आधार माना है। कांट ने भी विश्वसंघ को शांति के लिये आदर्श संस्था बताया है। जान फिश्टे भी आदर्श राज्य को मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिये महत्वपूर्ण मानता था। हमबोल्ट भी राज्य के आदर्श स्वरूप के संबंध में परंपरावादी विचारों से सहमत थे। टी० एच० ग्रीन, ब्रैडले, हीगेल आदि ने भी अपनी चिंतनपद्धतियों में आदर्शवाद को ही मान्य किया।

हिंदी मे आदर्शवाद शब्द का प्रयोग अंग्रेजी 'आइडियलिज्म' के अर्थ मे किया जाता है। दूसरे शब्दों में, इसे विचारवाद भी कहा जाता है क्योंकि इसका संबंध किसी विचार अथवा 'आइडिया' से ही होता है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में आदर्शवादी विचारधारा उसे कहा जाता है जो उदात्तता के स्वरूप पर बल दे। संयम, त्याग तथा बलिदान आदि की उच्च भावनाएँ इसके आधार हैं। यह विचारधारा मूल वृत्ति के अनुसार अंतर्मुखी कही जा सकती है। अंतर्मुखी वृत्ति के कारण इसमें आध्यात्मिकता का समावेश मिलता है। इस विचारधारा के अनुसार आदर्श जीवनमूल्य ही उच्चतर जीवनस्तर के निर्वाह की प्रेरणा दे सकते हैं। अध्यात्मवाद के साथ इसका समन्वय भी इसके उदात्तीकरण का कारण है। इस रूप मे इसे एक शाश्वत विचारधारा कहा जा सकता है।

हिंदीसाहित्य मे आदर्शवादी विचारधारा का समावेश प्राचीन युग से ही होता रहा है। कबीर, सूर, तुलसी आदि महाकवि भी मूलतः आदर्शवादी ही थे। आधुनिक युग में छायावादी जीवनदृष्टि भी आदर्शवादी विचारधारा से प्रभावित और प्रेरित ही कही जा सकती है। कथासाहित्य के क्षेत्र मे प्रेमचंद, नाट्यसाहित्य के क्षेत्र में प्रसाद, काव्य के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त तथा आलोचना के क्षेत्र में पं० रामचंद्र शुक्ल आदि लेखक आदर्शवादी विचारधारा का ही अनुगमन करते हैं।

अभिव्यंजनावाद

आलोच्ययुग की विशिष्ट चिंतनधाराओं में अभिव्यंजनावाद का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस वाद का आरंभ जर्मनी में सन् १९२० के लगभग हुआ था। सूत्र रूप में इसके संकेत उन्नीसवी शताब्दी के अंतिम वर्षों में भी मिलते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनसाहित्य में इसका विशेष रूप से विकास हुआ। अभिव्यंजनावाद का प्रमुख प्रवर्तक इटेलियन चिंतक क्रोचे हैं जो कला को सदैव ही आत्माभिव्यक्ति का एक रूप मानता है। क्रोचे ने प्राचीन साहित्य के आधार पर अनेक प्रकार के उदाहरण देते हुए यह सिद्ध कर दिया कि कलात्मक अभिव्यक्ति साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। अभिव्यंजनावाद के मुख्य सिद्धांतों के अनुसार साहित्य में उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्ति, उद्देश्यपूर्ण प्रदर्शन अथवा संकेत एवं मनोवैज्ञानिक आंतरिक स्थिति की अभिव्यंजना होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त जिसे अभिव्यक्त किया जाता है, जो अभव्यक्ति करता है तथा जिसके माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है, उनके परीक्षण से साहित्य में अभिव्यंजना को विवेचित किया जा सकता है। किसी भी कला में अभिव्यक्ति को प्रायः सदैव ही उसकी प्रक्रिया मे एक मुख्य तत्व तथा अभिव्यंजना को उस कार्य में एक मुख्य तत्व के रूप मे मान्यता दी जाती है। शास्त्रीय काव्यसिद्धांतों में अभिव्यंजना को आकार अथवा रचना की तुलना में कम महत्वपूर्ण माना जाता है। शास्त्रीय सिद्धात कला मे इसी विचार या अनुभूति को महत्वपूर्ण मान सकते है परंतु बिना किसी रचना के यह असभव है। क्रोचे कला मे समानता और सौंदर्यतत्वों का कट्टर समर्थक हैं। क्रोचे इन्हे परस्पर पृथक् करता हुआ यह तर्क देता है कि सौदर्य किसी वस्तु का कोई गुण नही है बल्कि सौदर्य किसी आत्मिक क्रियाशील के स्वभाव के रूप में उत्पन्न होता है। इसीलिये क्रोचे, हीगल, शापेनहावर तथा कांट आदि विचारकों के अनुसार कला ज्ञान का एक रूप है। अभिव्यंजनावाद का पाश्चात्य वैचारिक आंदोलनों मे विशेष रूप से महत्व है। कला और साहित्य मे विशुद्ध अभिव्यंजना को प्रधानता देनेवाली यह विचारप्रणाली सौंदर्यशास्त्रीय आधार लेकर अपेक्षाकृत व्यापक पृष्ठभूमि पर साहित्य में प्रतिष्ठित हुई। क्रोचे ने अभिव्यंजना को विस्तृत और महत्तर अर्थ दिया है। उसने अभिव्यंजना को अंतरंग बताया है जो स्वयं अपने आप में साहित्य और कला की चरम परिणति है। हिंदी साहित्य में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की काफी चर्चा हुई और रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, सुधांशु आदि समीक्षकों ने इस संबंध में अपनी प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त की।

रूपवाद

रूपवाद अथवा 'फार्मलिज्म' साहित्य अथवा कला के बाह्य रूप एवं आकार से संबंध रखनेवाला सिद्धात है। इसका आरंभ साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में योरोप मे बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से आरंभ हुआ। इस सिद्धांत के आधार पर कला में

शिल्प का ही विशेष महत्व स्वीकार किया जाता है। इसलिये कोई कलाकार अपनी कला में जिस शिल्पविधान का प्रयोग करता था अथवा जिस रूप की योजना करता था उसी का वास्तविक महत्व होता था। इस दृष्टिकोण से आकार या रूप किसी उद्देश्य की विशेषता को कहते हैं जो अनुभव की गई हो, या वह रचना जिसमें किसी अनुभव या किसी वस्तु के तत्वों को संयोजित किया गया हो। प्लेटो जैसे प्राचीन विचारक रूप को एक प्रकार का अनुकरण तत्व मानते थे। उनके विचार से किसी वस्तु या अनुभव की विशेषता अथवा किसी रचना के संदर्भ में विशिष्ट रूप अथवा आकार का स्पष्ट विश्लेषण संभव होता है। अरस्तू कहता है कि रूप उन चार मूल कारणों में से एक है जो किसी वस्तु के अस्तित्व के आधार होते हैं। इन चार तत्वों में उत्पादक तथा उद्देश्य बाह्य होते हैं तथा विषय और रूप आंतरिक होते हैं। विषय उसे कहते हैं जिससे कोई वस्तु बनती है और रूप उसे जो उस वस्तु को आकार देता है। इसलिये अरस्तू के अनुसार रूप केवल आकार ही नहीं है वरन् आकार का प्रदानकर्त्ता भी है। वह केवल रचना की विशेषता ही नहीं है वरन् वह उसका सिद्धांत भी है जो उसे विशेषता देता है। इसलिये अरस्तू का यह मत है कि किसी कलाकृति में रूप केवल रचना ही नहीं है बल्कि उसका आधार भी है। अर्थ अथवा अभिव्यक्ति किसी कलात्मक रचना के बाह्य तत्व होते हैं। कोई साहित्यिक कृति एक अर्थ अथवा संदर्भ लिए हुए होती है। उसका रूप केवल वही हो सकता है जो एक कृति की विशेषता में से शेष रह गया हो और उसका अर्थ निकाल दिया गया हो अर्थात् उसकी भौतिकरचना और ध्वनिरचना ही निःशेष हो। एक लेखक जब साहित्यसृजन का कार्य करता है तब बाह्य तत्वों से युक्त एक रूप तथा आकार वह उसे देता है। जो आकार वह अपनी कृति को देता है वह भाषागत होता है। रूपवाद के इस सैद्धांतिक स्वरूप का यूरोप में मार्क्सवादी विचारधारा द्वारा कट्टर विरोध किया गया। रूसी क्रांति के पश्चात् रूपवाद का प्रभाव यूरोप में घटने लगा और मार्क्सवाद का बढ़ने लगा। आधुनिक हिंदी साहित्य के क्षेत्र में भी रूपवाद एक विचारधारा के रूप में नहीं पनपने पाया जब कि मार्क्सवाद यथार्थवाद एवं प्रकृतिवाद का आधार लेकर निरंतर विकासशील रहा।

प्रगतिवाद

यथार्थवाद से ही विकसित एक विचारप्रणाली हिंदी साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद के रूप में विख्यात और प्रचलित है। साहित्यिक आंदोलन के रूप में प्रगतिवाद का जन्म हिंदी साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से आरंभ हुआ। सन् १९३६ में मुंशी प्रेमचंद की अध्यक्षता में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखकसंघ का अधिवेशन हुआ। उस समय से रचनात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद का प्रचार बढ़ा। छायावाद के उत्तरकाल में काव्य साहित्य के क्षेत्र

में प्रगतिवाद बड़ी प्रबल विचारधारा थी। प्रगतिवाद का मूल उद्देश्य सामाजिक यथार्थ के आधार पर उस सामाजिक चेतना का जागरण करना था जो छायावाद युग में ह्रासोन्मुख हो गई थी। मार्क्सवादी विचारधारा की साहित्यिक परिणति के रूप मे भी कुछ लोगों ने प्रगतिवाद को मान्यता दी। समाज के उपेक्षित वर्गों, विशेषरूप से निम्नवर्ग, कृषक, श्रमिक, तथा अछूत वर्गों मे सामाजिक चेतना का जागरण भी प्रगतिवादी लेखकों का उद्देश्य था। आलोच्ययुग के साहित्य में प्रगतिवाद एक सशक्त विचारधारा रही है जिसके विकास मे राहुल सांकृत्यायन, मन्मथनाथ गुप्त, रांगेयराघव, यशपाल तथा रामविलास शर्मा आदि ने योग दिया है। सैद्धांतिक रूप से प्रगतिवादियो के अनुसार साहित्य की पहली शर्त प्रगतिशीलता है। सामान्य अर्थ से प्रगति जनस्तर पर चेतना के जागरण का द्योतक है।

कोई भी नवयुग, चाहे वह साहित्य का हो, चाहे समाज का अथवा राजनीति का हो वह अपने साथ घटनाओ, विचारों एवं वातावरण की एक लंबी शृंखला लिए रहता है जिसे अलगकर हम उस युग को ठीक तरह से नही समझ सकते। पूर्वयुग या अतीत अपनी भूमिका समाप्तकर नवीन को मार्ग प्रदान करता है (और वही स्वयं आगे बढ़कर उसका स्वागत करता है)। इसी कारण युग का संघर्ष हमारे लिये केवल घटनाओं और व्यक्तियो की ही टकराहट नही है, वह हमारी दृष्टि मे विचारों का संघर्षस्थल तथा संघर्षकाल भी है जिसमे ये विचार घटनाओ को जन्म देते हैं और घटनाएँ विचारों को पुष्ट करती है। इस प्रकार विचार और घटनाओं की लंबी शृंखला बनती चली जाती है। इसी कारण हमे प्रगतिशील तथा क्रांतिकारी विचारधाराएँ किसी घटनात्मक परिणाम के रूप मे सहसा उद्भूत नही प्रतीत होतीं वरन् हम उनकी अपनी वैचारिक परंपरा से भी परिचित होते है जो एक निश्चित समय में अनुकूल अवसर पाकर सबसे ऊपर आ जाती है। इसी कारण हमें यह परिवर्तन आकस्मिक तथा अस्वाभाविक नही लगता। १६३८ और उसके बाद की प्रगतिवादी कृतियों में जिस वर्गसंघर्ष, मानवतावाद और वैयक्तिक उद्घोष का रूप दृष्टिगत होता है उसकी वैचारिक झलक, अन्य प्रभावो के अतिरिक्त, प्रसाद, निराला तथा महादेवी की रचनाओं मे है। प्रसादजी के 'आँसू' का उत्तरार्ध मानव की विषमता और वेदना का करुण चित्र प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार महादेवी की रचना करुणा का जो आदर्श प्रस्तुत करती है उसका प्रेरक मानवतावादी मनोभाव ही है। निरालाजी ने 'भिक्षुक' शीर्षक कविता १६२१ मे लिखी थी, जिसमे यथार्थचित्रण की प्रवृत्ति सजीव रूप में दिखाई पड़ती है। उससे भी पहले १६२० ई० मे उनकी 'बादल राग' शीर्षक कविता में, तथा पंत के 'गरज गगन के गान' मे वर्गसंघर्ष का संकेत है, और पूंजीपतियों के अत्याचार और विनाश की बात कही गई है। सर्वहारावर्ग के प्रति सहानुभूति उनमें पहले से ही विद्यमान है। इसी कारण जब हम 'युगांत' मे कवि पंत की क्रांतिमयी उक्तियाँ पाते है अथवा श्रमिकों का करुण चित्र देखते हैं तो हमे कोई आश्चर्य नही

होता। इसी प्रकार वैयक्तिकता, मनोवैज्ञानिकता और प्रयोगशीलता की प्रवृत्तियाँ जो १६३८ के बाद के साहित्य में सर्वोपरि हो गयी हैं, पूर्ववर्ती साहित्य में बीज रूप में विद्यमान हैं। पंत, निराला आदि की ऐसी उक्तियाँ प्रगतिवाद की भूमिका बन गई।

भारतीय 'प्रगतिशील लेखकसंघ' का प्रथम अधिवेशन १६३६ में लखनऊ में हुआ जिसमें पंत, यशपाल, फैज, सज्जाद ज़हीर, रामकृष्ण राव, सुरेशचंद्र गोस्वामी आदि ने भाग लिया। इस संघ की स्थापना १६३५ में डा० मुल्कराज आनंद, सज्जाद ज़हीर, भवानी भट्टाचार्य आदि भारतीय लेखकों ने लंदन में की थी और इसकी प्रेरणा इन भारतीय लेखकों को १६३५ में ही पेरिस में संस्थापित 'प्रगतिशील लेखकों के अंतर्राष्ट्रीय संघ' से मिली थी जिसके प्रथम अधिवेशन के सभापति अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार तथा लेखक श्री ई० एम० फार्स्टर थे। समाजवादी शक्तियों के प्रसार और फासिस्ट विरोधी शक्तियों के प्रसार को रोकने के लिये इस प्रगतिशील संघ की स्थापना की गई थी। इसके संघटन में मैक्सिम गोर्की का भी हाथ था। भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की नीव पड़ जाने के बाद १६३५ के अंतिम भाग में जिस घोषणापत्र का प्रकाशन हुआ उसमें कहा गया था, 'हमारा समाज जो नया रूप धारण कर रहा है उसको साहित्य में प्रतिबिंबित करना और वैज्ञानिक युक्तिवाद को साहित्य में प्रतिष्ठा करना, प्रगतिशील चिंताधारा को वेगवती करना, यही हमारे लेखकों का कर्त्तव्य हैं'।[1] इस अधिवेशन की अध्यक्षता प्रेमचंद ने की थी। अपने भाषण में उन्होंने कहा :

'हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था।.... कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौंदर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावनाओं को प्रकट करने में कविमंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी।.... ....

'निस्संदेह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है, पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री पुरुष के प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरहव्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो, जिसमें दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भावसंबंधी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? शृंगारिक मनोभाव मानवजीवन का एक अंग मात्र है और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से संबंध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिये गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।........'हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं

१. द्रष्टव्य डा० हीरेंद्र मुखर्जी—'प्रगतिशील आंदोलन का आरंभ', नया साहित्य, १६५१।

समझते। हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है'।[1]

संघ का दूसरा अधिवेशन १९३८ में कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन के घोषणापत्र में देश के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिवेश पर प्रकाश डालते हुए लेखकों को उनके प्रति सजग होने की प्रेरणा दी गई। इसमें कहा गया है कि—'प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्तव्य है कि वह भारतीय जीवन में होनेवाले परिवर्तनों को अभिव्यक्ति दे और साहित्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश करके देश में क्रांति की भावना के विकास में सहायता पहुँचाए। उन्हें साहित्यसमीक्षा में एक ऐसे दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए जो परिवार, धर्म, काम, युद्ध और समाज के प्रश्नों पर सामान्यतः प्रतिक्रियाशील तथा प्रणयसंबंधी प्रवृत्तियों का विरोध करे। उन्हे ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विरोध करना चाहिए जो सांप्रदायिकता, जातिद्वेष तथा मनुष्य के शोषण की भावना को प्रतिबिंबित करती हैं।.........'हमारे संघ का उद्देश्य साहित्य तथा अन्य कलाओं को जो अबतक रूढ़िपंथी के हाथों में पड़ कर निर्जीव होती जा रही है, उनको मुक्त कराकर उनका निकटतम संबंध जनता से कराना और उन्हें जीवन के यथार्थों की अभिव्यक्ति का माध्यम और नए विश्व का निर्माण करनेवाली शक्ति बनाना है'।[2]

इस अधिवेशन के घोषणापत्र में प्रगति और प्रतिक्रिया का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया.........जो भी हमे परमुखापेक्षी, निष्क्रिय और तर्कहीन बनाता है, वह सभी हमारे लिये प्रतिक्रियात्मक हैं और जो भी हममे आलोचनात्मक प्रवृत्ति जगाता है, बुद्धि और तर्क के प्रकाश में संस्थाओं और परंपराओं की समीक्षा करता है, जो भी हमें सक्रिय बनाता, परस्पर संगठित करता है, हमें बदल कर समुन्नत करता है, हम प्रगत्यात्मक मानते है[3]।

साहित्यिकों पर इन घोषणाओं का प्रभाव पड़ा और वे रूमानियत और कल्पना के स्थान पर यथार्थ की ओर उन्मुख हुए। पंतजी ने कभी छायावाद की कोमल कल्पना का घोषणापत्र प्रसारित किया था और अब वे ही प्रगतिवाद का संदेश मुखरित करते हुए देखे जाते हैं। अपने द्वारा संपादित 'रूपाभ' में वे लिखते है,.........'इस

१ द्रष्टव्य 'प्रेमचंद साहित्य का उद्देश्य', (प्रगतिशील लेखकसंघ) के प्रथम अधिवेशन में सभापति पद से किया गया भाषण।

२. श्रीशिवदान सिंह चौहान, प्रगतिवाद, पृ० २३७।

३. भ० श० उपाध्याय—'प्रगति का ऐरावत', संकेत—संपा० 'अश्क', पृ० २४५।

युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं, अतएव इस युग की कविता स्वप्नों मे नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषणसामग्री ग्रहण करने के लिये कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। हमारा उद्देश्य उस इमारत में थूनियाँ लगाने का कदापि नहीं है जिसका कि गिरना अवश्यंभावी है। हम तो चाहते हैं उस नवीन के निर्माण में सहायक होना, जिसका प्रादुर्भाव हो चुका है[1]।

संघ का तीसरा अधिवेशन दिल्ली में १९४२ में हुआ। यह अधिवेशन बढ़ते हुए फासिज्म के विरोध से संबंधित था। फासिज्म की विजय ने प्रगतिशील विचारों के विकास का मार्ग बंद कर दिया था। अतएव इसे 'अंधकारयुग' कहा गया। फासिज्म के विनाशकारी रूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया कि 'फासिज्म अपरिचित शत्रु नहीं है, फासिज्म के अनिवार्य संस्कृतिविरोधी तथ्य की उपेक्षा करने या उसकी ओर से आँख मीचने का मतलब स्वेच्छा से अपने को बर्बर आक्रमणकारी की लंबी और घातक गुलामी का शिकार बनाना होगा। आज हमारा कर्त्तव्य होगा कि हम फासिज्म के आक्रमण के खिलाफ अपनी मातृभूमि की रक्षा करने की राष्ट्रीय भावना देश की जनता में जगाएँ·······आज हमारा कर्त्तव्य है कि हम देश में एकता पैदा करें और जातियों के बीच खाईं को पूरें जिससे तत्कालीन राष्ट्रीय सरकार और हमारे देश के सौ फीसदी बचाव का रास्ता साफ होगा। हम हिंदुस्तान के महान् और बहुमूल्य और सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रहरी हैं। फासिस्ट लुटेरों से उसकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। अपनी रचानाओं के द्वारा हमे फासिज्म के खिलाफ अपने को दिमागी तौर पर मजबूत बनाने मे हमें जनता की मदद चाहिए'।[2]

चौथा अधिवेशन १९४३ में बंबई म हुआ और इसकी अध्यक्षता 'डाँगे' ने की। यह समय देश के लिये गंभीर संकट का था। एक ओर साम्राज्यवाद दबा रहा था और दूसरी ओर जापान प्रहार कर रहा था। इस अधिवेशन के पूर्व घोषणापत्र में कहा गया :

'इस गंभीर संकट के काल मे हिंदुस्तान के प्रगतिशील लेखकों का कर्तव्य है कि वे राष्ट्र के मनोबल को सुदृढ़ बनाएँ। इनका फर्ज है कि वे जनता के साहस और संकल्प को मजबूत करें ताकि हमारी आजादी का दिन नजदीक आए, हमारी संस्कृति और सभ्यता सुरक्षित रहे, उनकी उन्नति हो, और हम कठिन संकटकाल से स्वतंत्र शक्तिशाली और संगठित होकर निकल सकें। प्रगतिशील लेखक सदा से भारत की स्वतंत्रता और देश में एक न्यायोचित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के लिये लड़ते

१. श्री पंत--'रूपाभ', संपादकीय, अंक १, जुलाई १९३८।
२. प्रगतिवाद, श्री शिवदान सिंह चौहान : फैसिस्ट आक्रमण के खिलाफ भारतीय लेखकों का घोषणापत्र।

रहे है। यही नहीं उन्होंने हर प्रकार की सामाजिक प्रतिक्रिया और प्रगतिविरोधी विचारधारा के खिलाफ भी संघर्ष किया है। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता को उन्होंने विश्व की स्वतंत्रता के एक अभिन्न अंग के रूप में समझा है और जहाँ उन्होंने जनता के हर प्रकार के साम्राज्यवादी प्रभुत्व से मुक्त होने और अविच्छिन्न अधिकार की घोषणा की है वहाँ उन्होंने फासिज्म का विरोध किया है जो साम्राज्यवादी सत्ता का खूँखार रूप है'।[1]

इस संमेलन में संघ के लेखकों को रचनात्मक कार्यों के लिये प्रेरित किया गया।

इसका पाँचवाँ अधिवेशन १९५० में बंबई के किसी भाग में हुआ। नगर मे इसपर प्रतिबंध लगा दिया गया था। इसके सभापति श्रमिक कवि 'अन्नामऊ' थे। संचालन डॉ० रामविलास शर्मा ने किया था। इस संघ का छठा और अंतिम अधिवेशन दिल्ली में १९५३ में हुआ जिसमें विश्वसंघ के स्वरूप को व्यापक बनाने का निश्चय किया गया।

प्रगतिशील लेखक संघ ने अपने कार्यकाल मे भारतीय लेखकों को बहुत प्रभावित किया। इस संघ के अतिरिक्त प्रगतिशील लेखकों के और भी कई संमेलन हुए जिनमे प्रगतिवादी साहित्य के संबंध मे चर्चाएँ हुई। इस प्रकार के संमेलन की अध्यक्षता १९४७ मे राहुलजी ने की थी जिसमें उन्होने प्रगतिवाद के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा था :

'प्रगतिवाद कोई कल्ट या संकीर्ण संप्रदाय नहीं है। प्रगतिवाद का काम है प्रगति के रास्ते को खोलना, उसके पथ को प्रशस्त करना। प्रगतिवाद कलाकार की स्वतंत्रता का नही, परतंत्रता का शत्रु है। प्रगति जिसके रोम रोम में भींज गई है, प्रगति ही जिसकी प्रकृति बन गई है, वह स्वयं सीमाओं का निर्धारण कर सकता है। उसकी सीमा अगर कोई है तो यही कि लेखक और कलाकार की कृतियाँ प्रतिगामी शक्तियों की सहायक न बने। प्रगतिवाद कला की अवहेलना नहीं करता। यह तो कला और उच्च साहित्य के निर्माण मे बाधक रूढ़ियों को हटाकर सुविधा प्रदान करता है। यह रूढ़िवाद और कूपमंडूकता का विरोधी है'।[2]

प्रगतिशील लेखको की संस्थाएँ प्रांतीय स्तरो पर भी बनी। उत्तरप्रदेश की प्रगतिशील संस्था के तीन अधिवेशन क्रमशः १९४१, १९५०-५१ तथा १९५२ में हुए। अंतिम अधिवेशन मे हिंदीउर्दू के लेखकों ने साहित्यिक समस्याओं पर मिल-जुल कर विचार किया था। बंगाल में भी प्रगतिशील लेखकों की कई बैठकें १९३७ में हुई। इसी संदर्भ मे वहाँ 'प्रगति' नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ, जिसमें

१. प्रगतिशील लेखकसंघ के चतुर्थ अधिवेशन का घोषणापत्र, शिवदान सिंह चौहान : प्रगतिवाद, पृ० ३४४।

२. प्रगतिशील साहित्य और राष्ट्रीय नवनिर्माण : हंस, अक्तूबर १९४७, अंक १, ले० महापंडित राहुल सांकृत्यायन।

भूपेंद्रनाथ दत्त, विभूतिभूषण, विनयलाल चट्टोपाध्याय, विधायक भट्टाचार्य, समरसेन आदि की रचनाएँ छपीं। इसमें मार्क्स, इलियट आदि की रचनाओं का अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया। प्रगतिशील लेखकों की बैठकें क्षेत्रीय स्तर पर भी हुई, जैसे काशी में प्रगतिशील लेखकों के दो महत्वपूर्ण अधिवेशन हुए—प्रथम अंबिकाप्रसाद वाजपेयी के सभापतित्व में और द्वितीय १६४५ में नंददुलारे वाजपेयीजी के सभापतित्व में। प्रथम अधिवेशन के घोषणापत्र में केंद्रीय भाषा अथवा राष्ट्रभाषा के अस्तित्व पर बल दिया गया और द्वितीय के घोषणापत्र में यह स्पष्ट किया गया कि प्रगतिशील लेखकों का संगठन एक साहित्यिक संस्था है और उसे जातीय संकीर्णता, सांप्रदायिकता और राजनीतिक दलबंदी से दूर रखना चाहिए।[1]

प्रगतिशील लेखकों के इन विविध संमेलनों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर बड़े व्यापक रूप में पड़ा, और एक युगांतर सा समुपस्थित हो गया। छायावाद के उन्नायक निराला और पंत जैसे कवि युग की माँग की ओर उन्मुख हुए। 'युगांत' के बाद पंत समाजवादी विचारदर्शन की ओर बड़ी तीव्रता से आगे बढ़े और उनकी कविता ने सामान्य मानव और धरती का वरण किया। निराला ने गद्य और पद्य दोनों के माध्यम से प्रगति को स्वर प्रदान किया। 'देवी', 'चतुरी चमार', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'चोटी की पकड़' और 'कुल्ली भाट' उनकी यथार्थपरक गद्यरचनाएँ हैं; 'बेला', 'नये पत्ते', 'कुकुरमुत्ता' 'अणिमा' आदि काव्यकृतियाँ युग की नई चेतना को बड़े प्रखर और व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करती हैं। प्रगतिशील साहित्य को आगे बढ़ाने में 'रूपाभ' पत्रिका और 'जागरण' तथा 'हंस' पत्रों का विशेष महत्व है। 'रूपाभ' का संपादन पंत और नरेंद्र शर्मा ने किया। 'जागरण' के संपादकों में आचार्य नरेंद्रदेव, प्रेमचंद्र तथा संपूर्णानंद विशेष उल्लेखनीय हैं। 'हंस' के संपादक प्रेमचंदजी थे। इन पत्र पत्रिकाओं ने प्रगतिवादी साहित्य की रचना में विशेष योगदान दिया और इनके माध्यम से अनेक प्रगतिशील लेखक प्रकाश में आए।

मानवतावाद

मानवतावादी दृष्टिकोण भारतीय साहित्य के लिये नया नहीं है किंतु युगविशेष की विभिन्न और विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार इसका स्वरूप निर्मित, निर्धारित और परिवर्तित होता रहा है। प्राचीन मानवतावाद व्यक्तिवादी, उदारतावादी, भाग्यवादी, करुणासिक्त और अध्यात्मपरक था। वह आध्यात्मिक दृष्टि से मानव की समस्या पर विचार करता था और वह विश्व के प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य की सार्थकता इसी में मानता था कि वह सांसारिकता से विरक्त हो मनुष्यशरीर को ईश्वरानुभूति के साधन रूप में स्वीकार करे और उपयोग में लाए। आधुनिक युग से

१. हंस : मार्च १९४५, अंक ५, ६, पृ० ३०३।

पूर्व के मानवतावाद का योगदान महत्वपूर्ण है क्योंकि मध्ययुग के धार्मिक बंधनों की जकड़ के बीच उसने मनुष्य मनुष्य के बीच समता, प्रेम और सहानुभूति की प्रतिष्ठा की और मनुष्यो के बीच उठी संकीर्णता की दीवारों को तोड़कर उसे मुक्त वातावरण में सांस लेने का अवसर प्रदान किया।

आज का मानवतावाद प्राचीन मानवतावाद का विकास होते हुए भी भिन्न है क्योंकि वर्तमान युग मे विज्ञान और तकनीक की आश्चर्यजनक प्रगति और सामाजिक परिवर्तनो के आतिशय्य के कारण उसने मनुष्य की समस्याओं को विभिन्न सामाजिक शक्तियों के संघर्ष के केंद्रबिंदु के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। प्राचीन मानवतावाद के समान आज का मानवतावाद भी मनुष्य के व्यक्तित्व की गरिमा, उसकी स्वतंत्रता, उसकी समानता तथा उसके विकास का प्रबल समर्थक है किंतु 'ऐब्स्ट्रैक्ट' या सूक्ष्म रूप में नही। वह केवल स्वप्निल, कोरी आशामात्र व्यक्त करके नही बैठ जाता कि मनुष्य सुखी रहे और मनुष्य मनुष्य के बीच भेदभाव मिट जाय और उनमें उदारता, प्रेम और करुणा का संबंध रहे, वरन् वह मानवतावाद को सामाजिक संघर्ष के क्रांतिकारी शस्त्र और साधन के रूप मे ग्रहण और प्रस्तुत करता है जिससे समाज की वे परिस्थितियां नष्ट हों जिनमे मानवता पिसती और उत्पीड़ित होती रहती है।

आलोच्यकाल के मानवतावाद को संघर्षशील मानवतावाद कहा जा सकता है क्योंकि वह सामाजिक विषमताओं को ईश्वरेच्छा मानकर आत्मसमर्पण नही करता वरन् उनको मिटाने के लिये और समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिये क्रांति और संघर्ष का आह्वान करता है। संघर्षशील मानवतावाद इस प्रकार समाजवाद की प्रतिष्ठा का प्रबल समर्थक बन जाता है क्योंकि वह जानता है कि समाजवाद ही सामाजिक रोगो अथवा सामाजिक विषमताओं की दवा है। वह यह भी जानता है कि व्यक्ति अकेले अपने आप उत्पीड़न से मुक्त नही हो सकता वरन् यह कार्य सारे समाज और विशिष्ट रूप से समाज के सबसे अधिक क्रांतिकारी वर्ग, सर्वहारा वर्ग से ही संपन्न हो सकता है। वह व्यक्ति की समानता को वर्गभेद, शोषण और उत्पीड़न का विरोधकर, सामाजिक रूप मे प्रस्तुत करता है, सामाजिक संबंधो मे जातीय और राष्ट्रीय अतिचारों को मिटाता है; अंतर्राष्ट्रीय संबंधो के क्षेत्र मे साम्राज्यवाद तथा अन्यायपूर्ण युद्धों की भर्त्सना करता है तथा मानवता के विकास और सर्वतोमुखी प्रगति के लिये विश्वशांति की स्थापना पर साग्रह बल देता है। इस प्रकार स्वतंत्रता, शांति, सामाजिक संबंधों का समाजवादी रूप, सामाजिक प्रगति और सर्वहारावर्गीय अंतर्राष्ट्रीयता, संघर्षशील मानवता के विशिष्ट लक्ष्य हैं। इसके द्वारा आदर्शवादी मानवतावाद के स्थान पर संघर्षशील क्रांतिकारी मानवतावाद की स्थापना हुई। समाजवादी विचारधारा ने साहित्य के क्षेत्र मे यथार्थवाद को समाजवादी यथार्थवाद की दिशा प्रदान की। उसी प्रकार उसने मानवतावाद को भी सर्वहारावर्गीय मानवतावाद का रूप प्रदान किया

क्योंकि इसमें समस्त मानवजाति का हित संनिविष्ट है और यह सामान्य मानवीय मूल्यों का सबसे बड़ा समर्थक है।

आलोच्यकाल के मानवतावाद को यदि हम कहना चाहें तो 'प्रगतिवादी मानवताद' या 'समाजवादी मानवतावाद' का नाम भी दे सकते हैं। इसका विश्वास है कि सामाजिक संबंधों के समाजवादी परिवर्तित रूप के बिना मानवता का कल्याण नहीं हो सकता क्योंकि जबतक व्यापक जनसमूह आर्थिक, राजनीतिक, तथा अन्य उत्पीड़नों से दमित और त्रस्त हैं तबतक व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है और वह एक प्रकार से मिथ्या है। इसी लिये वह वर्गवैषम्य और जातीय वैषम्य को समाप्त करने पर जोर देता है जिससे कि समाज के सभी सदस्यों के व्यक्तित्व का अनवरुद्ध सर्वतोमुखी विकास हो सके और वे विज्ञान, तकनीक तथा जीवन संबंधी अन्य उपलब्धियों का समुचित उपयोग कर सकें। वैज्ञानिक प्रगति ने अब स्पष्ट कर दिया है कि आज के युग में दरिद्रता और बेकारी अवैज्ञानिक और अनावश्यक है और यदि ये हैं तो दोष भाग्य का नहीं वरन् उस व्यवस्था का है जो जनता को शोषक और शोषित में बाँटकर समाज का संचालन कर रही है। समाजवादी व्यवस्था उत्पीड़ित तथा दमित मानवता के उद्धार तथा उत्थान के लिये ऐसी दोषपूर्ण व्यवस्था पर कुठाराघात करती है।

समाजवादी मानवतावाद क्रांतिकारी और संघर्षशील है। यह युद्धशील है। इसी से वह अनुनयविनय और प्रार्थना पर बहुत अधिक विश्वास नही करता और वह अन्याय और उत्पीड़न का डटकर प्रतिवाद और विरोध करता है। अन्याय को वह सहने और स्वीकार करने को तैयार नहीं है और इसी से उदारवादियों की समझौते की नीति और मनावन मनुहार आदि में उसकी आस्था नही है। वह करुणा, अहिंसा, सहानुभूति और सहनशीलता के महत्व को मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये स्वीकार करता है किंतु एक सीमा तक ही। ये ही विशिष्टताएँ यदि सामाजिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अन्याय या उत्पीड़न को प्रश्रय और प्रोत्साहन देने लगती है तो वह इनको अपना समर्थन नहीं देता और वह इनकी निंदा करता है। अन्याय और उत्पीड़न के प्रति सतत युद्ध और 'जेहाद' समाजवादी मानवतावाद का विशिष्ट नारा है।

चूँकि मानवतावाद ईश्वर में नहीं, वरन् मानव में, उसकी अजेय परिवर्तनकारी शक्ति में विश्वास करता है इसलिये वह वह धर्म की अलौकिक (धार्मिक) शक्ति का निराकरण करता है। इसी प्रकार चूँकि उसका, मनुष्य की, अपने कार्यों द्वारा अपने को इच्छानुसार और इच्छानुरूप ढालने की अद्भुत क्षमता में, अडिग विश्वास है, वह भाग्यवाद को ठुकराकर आधुनिक विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की शरण लेता है। आज के मानवतावाद की, इसलिये, मनुष्य के व्यक्तित्व की गरिमा और प्रतिष्ठा में बड़ी आस्था है। इसलिये उसका मनुष्य के प्रति जो व्यापक प्रेम है उसमें एक ओर

तो उत्पीड़ित मानवता के लिये अत्यधिक स्वार्थरहित सहानुभूति है और दूसरी ओर उन लोगों के प्रति अत्यधिक तीव्र घृणा है जो उसका शोषण और उत्पीड़न करते हैं और सामाजिक अन्याय की सृष्टि तथा उसका पोषण करते हैं। इस प्रकार मानवता के इतिहास में प्रथम बार सच्चा मानवप्रेम, रचनात्मक शक्ति के रूप में संघटित किया गया, जो विश्व के करोड़ों अरबों श्रमजीवियों को, शोषित मानवता को, शोषकों के उत्पीड़न और चंगुल से त्राण, मुक्ति और उद्धार दिलाने के लिये सक्रिय रूप से प्रयत्नशील हुआ। मानवता के सर्वतोमुखी विकास के लिये, उसकी सुखसमृद्धि के लिये, मानवतावाद मानव की महत्ता की घोषणा करता है, उसके श्रम की महत्ता की घोषणा करता है, उसकी प्रगति के लिये शांति, स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की घोषणा करता है।

आज का मानवतावाद नए युग की चेतना से अनुप्राणित हो व्यष्टि के साथ समष्टि को भी अपनी व्यापक दृष्टि की परिधि और विचार के उदार क्षितिज में समाहित किए हुए है। इसी से वह केवल अति भावुक, रोचक तथा उच्च किंतु वायवीय आदर्श सिद्धांतो का कथनमात्र न होकर मानव व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा से संबंधित सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक आदि भावनाओ की अभिव्यक्ति भी है। इसी से वह एक ओर जहाँ मानव के व्यक्तित्व के वैविध्यपूर्ण उत्कर्ष की इच्छा प्रकट करता है वहाँ वह समस्त मानवजाति की एकता की घोषणा भी करता है। आज के युग की आवश्यकताओ और समस्याओं से परिचालित हो वह जातियों के संबंधों के बीच सहानुभूति और मानवीयता का, तथा विश्व के राष्ट्रो के बीच शांति और समानता का पक्ष ग्रहण करता है। इसी से वह विश्व के छोटे बड़े सभी राष्ट्रों की स्वतंत्रता की घोषणा करता है और साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष करता है। शांति इस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसलिये वह साम्राज्यवादी शक्तियो द्वारा छेड़े गए या उकसाए गए युद्धों के भी विरुद्ध है। उसका कहना है कि मानवता को अपनी प्रगति के लिये शांति चाहिए और चाहिए उत्पीड़न से मुक्ति। उसकी घोषणा है स्वतंत्रता, शांति तथा सामाजिक प्रगति।

आज के युग मे मानव अपने विकास की एक नई मंजिल पर पहुँच गया है और उसके व्यक्तित्व को नया स्वरूप प्राप्त हो रहा है। उसके स्वरूप में नई, उच्च प्रकार की सामाजिकता का संनिवेश हो रहा है जिसमे समष्टि के प्रति कर्त्तव्यपालन और स्व अथवा व्यष्टि के विकास के बीच समुचित अनुपात है, विचार और व्यवहार के बीच सामंजस्य है, रुचियों को व्यापकता और सौंदर्य की चेतना को संवेदना प्राप्त हो रही है, ज्ञान और नैतिकता तथा श्रेय और प्रेय के बीच की खाई पट रही है। आज के मानवतावाद का यही सबसे बड़ा योगदान है। मानवतावाद का यह आधुनिक रूप भावुकता का परिणाम नही वरन् वैज्ञानिक दृष्टिकोण की परिणति है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण और प्रबुद्धता

सांस्कृतिक जागरण की दृष्टि से आलोच्य कालावधि की सबसे बड़ी विशेषता भारत में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय और प्रबुद्धता का आविर्भाव है। विज्ञान ने समाज के विभिन्न वर्गों में अंधविश्वासों को नष्ट कर दिया है। अशिक्षित वर्गों को छोड़ कर लगभग सभी वर्गों ने मध्ययुगीन अंधविश्वासों को हटाकर आधुनिक जीवन को स्वीकार किया। राजा राममोहनराय, दयानंद सरस्वती तथा महात्मा गांधी आदि समाजसुधारकों ने बौद्धिकता और तर्क पर जोर दिया और सामाजिक प्रगति के लिये घातक सतीप्रथा, बालहत्या, अस्पृश्यता, तथा धार्मिक कर्मकांड आदि के अनेक रूपों के उन्मूलन की प्रेरणा दी। इस युग में बंगाल में जो भयानक दुर्भिक्ष पड़ा उसकी भी प्रतिक्रिया ने लोगों को कर्मठ बनाया और जनता ने भाग्य के भरोसे बैठे रहने की तुलना में अपने पुरुषार्थ पर भरोसा करना सीखा। आदर्श और कल्पना के जगत् से हटकर इस युग में मानव यथार्थवाद की ओर उन्मुख हुआ। कार्ल मार्क्स, काम्टे, डार्विन, बरट्रेंड रसल, एंगेल्स आदि की विचारधाराओं ने जहाँ उसे एक ओर कर्म में आस्था रखने को बताया वहीं दूसरी ओर परंपरा से चले आनेवाले अनेक अंधविश्वासों से भी मुक्ति दिलाई जो भ्रमवश भारतीय संस्कृति के अनिवार्य अंग समझ लिए गए थे। वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने इनका खंडन किया।

आलोच्यकाल में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रधानता का प्रभाव जीवनपद्धति और जीवनदर्शन पर बड़े व्यापक रूप में पड़ा। भारतीय जनजीवन अब तक श्रद्धा और धर्म से ही अनुप्राणित रहा। अब वह बुद्धि और तर्क को प्रधानता देने लगा। अब उसे वे ही विचार संगत लगते थे जो तर्क की कसौटी पर खरे उतरें और बुद्धि के लिये स्वीकार्य हों। फलतः इस समय बहुत सी पुरानी रूढ़ियाँ और अंधविश्वास टूटते हुए लक्षित होते हैं। राजा राममोहनराय के समय से ही वैज्ञानिक मनोवृत्ति उभरने लगी थी और सामाजिक मान्यताओं पर उसका प्रभाव पड़ने लगा था। आलोच्यकाल में यह मनोदृष्टि प्रधान हो गई और सामाजिक जीवनपद्धति का एक निर्धारक तत्व बन गई। इस परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अब ईश्वर के स्थान पर मानव को महत्व दिया जाने लगा और यह मानव ही विश्व का नियंता माना जाने लगा। 'वैज्ञानिक युग के पूर्व विश्व में ईश्वर सर्वशक्तिमान् समझा जाता था। ईश्वर को प्रसन्न रखना ही प्राकृतिक दुर्घटनाओं से बचने का एकमात्र उपाय था। अतः ईश्वर को प्रसन्न रखने के लिये आवश्यक था कि मानव अपनी असमर्थता, शक्तिहीनता तथा नम्रता व्यक्त करके ईश्वर की इच्छा के प्रति अपने को समर्पित कर दे'। अब दृष्टि बदल गई और ईश्वर के स्थान पर मानव विचारों का केंद्र बना। इस युग के साहित्य में मानवतावादी विचारधारा बड़े आकर्षक और तेजस्वी रूप में व्याप्त होती है। साहित्यकारों ने मुक्त हृदय से मानव की महानता का वर्णन किया

और उसे प्रकृतिजयी के रूप में संमान दिया। मानवतावादी दृष्टिकोण इस युग के साहित्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

यथार्थवाद

इस समय यथार्थोन्मुखता की प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है। यथार्थवादी विचारधारा भी अपने मूल स्वरूप में प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होती है। मनुष्य की ज्ञानसंबंधी शक्तियों के विश्लेषण की प्रक्रिया ही यथार्थवाद का मूलतत्व कही जा सकती है। यथार्थवादी विचारधारा के अनुसार बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान ही वास्तविक होता है। यूरोप में कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों का आश्रय लेकर ही यथार्थवाद का विकास हुआ है। काडवेल, फ़्लाबेयर, ज़ोला तथा मोपासाँ आदि साहित्यकारों ने यथार्थवाद के विकास में योग दिया। यथार्थवाद आधुनिक युग की महत्वपूर्ण विचार-धाराओं में अपना स्थान रखता है। आधुनिक हिंदी साहित्य की विविध विधाओं के क्षेत्र में यथार्थवाद का समावेश और उसका अनेकरूपात्मक विकास बहुलता से मिलता है। अब भौतिक या प्रमुखतः आर्थिक स्थितियों को ही सभी कार्यों और समस्याओं के लिये उत्तरदायी माना जाने लगा है। अब अकाल, महामारी आदि का कारण दैवी अप्रसन्नता को मानकर उसके निवारण के लिये पूजापाठ आदि का चलन नहीं रहा। अब तो विचारक स्पष्ट कहते हैं कि यह सब सरकारी शोषणनीति का परिणाम है और इसका एकमात्र इलाज है इस अत्याचारी शासन के जुए को उतार फेंकना और गुलामी की जंजीरों से मुक्त होना। इस युग के साहित्य में श्रमिकों और किसानों के जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है जो एक ओर तो करुणा से मन को मथ देता है और दूसरी ओर उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा देता है। व्यंग्यसाहित्य भी इस अवधि में बहुत लिखा गया जिसमें सामाजिक तथा राजनीतिक विकृतियों, पाखंडों, आडंबरों का पर्दा फाश किया गया। निराला के 'बेला' और 'नये पत्ते' काव्यसंग्रह में इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

मार्क्सवाद

इस यथार्थवादी जीवनदृष्टि ने सामाजिक क्षेत्र में मार्क्सवादी विचारधारा को प्रोत्साहन दिया। मार्क्सवाद एक सामाजिक दर्शन है जो व्यावहारिक जीवन को आधार बनाकर चलता है। मार्क्स ने सर्वप्रथम यह विचार प्रस्तुत किया कि दर्शन या किसी विचारधारा की सर्वोत्तम कसौटी यह है कि उसे व्यावहारिक रूप दिया जा सके। दर्शन की इस व्याख्या का पाश्चात्य दार्शनिकों पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा और व्यावहारिक उपयोगिता दर्शन की कसौटी के रूप में स्वीकृत हुई। मार्क्स का चिंतन वर्गसंघर्ष को आधार बनाकर चलता है। उसके मतानुसार ऐतिहासिक विकास सामाजिक वर्गों से निर्दिष्ट होता है। इन वर्गों का निर्माण उत्पादन और उसके साधनों की परिस्थितियों से होता है। इनके साथ विभिन्न जीवनदृष्टियाँ, सांस्कृतिक रुचियाँ

और विचारधाराएँ पनपती हैं जिनमें पारस्परिक वैषम्य और विरोध चलता रहता है और इस विरोध के ही कारण ऐतिहासिक प्रक्रिया गतिशील रहती है। गतिशीलता की प्रक्रिया गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित करती रहती है जिसके चरम फल के रूप में वेगपूर्ण परिवर्तन होता है जिसे क्रांति कहते हैं। इस क्रांति का नेतृत्व युग की विकास की आवश्यकताओं को तुष्ट करनेवाला दृढ़, प्रगतिशील, व्यवस्थित और शक्तिसंपन्न वर्ग करता है और फलस्वरूप सत्ता उसके हाथ में आ जाती है। क्रांति के अनंतर नवीन सुदृढ़ व्यवस्था जन्म लेती है जिसका पूरा उत्तरदायित्व क्रांतिकारी वर्ग सम्हालता है। इस क्रांति को कुछ अर्थों में रचनात्मक विद्रोह कहा जा सकता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कोई दर्शन या काव्य दास या गुलामों के मालिकों या सामंतों का समर्थक होने से ही मार्क्सवाद के लिये निंदनीय नहीं हो जाता। देखना यह चाहिए कि मानवसंस्कृति के विकास में किस वर्ग की किसी युगविशेष में कौन सी भूमिका रही है'। मार्क्सवाद यह अवश्य मानता है कि वर्गीय समाज में दो प्रकार की संस्कृति होती है एक मेहनतकश जनता की, दूसरी उन लोगों की जो जनता की मेहनत का उपभोग करते हैं। किंतु वह एकांगी विचार न करके सभी वर्गों की भूमिका को ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में देखता है। 'एक समय आदिम समाजव्यवस्था के मुकाबले में दासप्रथा ने मनुष्य के विकास में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। यही बात सामंती समाज के लिये भी ठीक है।.........मार्क्सवाद इन वर्गों की रची हुई संस्कृति को आँख मूँदकर ठुकराता नहीं है, न हवा में नई मानवसंस्कृति की रचना करता है। वर्गयुक्त समाज में वर्ग के आधार पर मनुष्य ने जितना भी ज्ञान अर्जित किया है, मार्क्सवाद उसका मूल्यांकन करके उसे विकसित करता है'।[१] 'सामंती समाज में रचा हुआ सभी साहित्य सामंती वर्ग के हितों का प्रतिनिधि नहीं होता। समाज के वर्ग एक ही व्यवस्था के अंदर काम करते हैं, इसलिये परस्पर एक दूसरे के संपर्क में आकर परस्पर प्रभाव भी डालते हैं। इसलिये जनता का पक्ष लेनेवाले कवियों में भी बहुधा उन विचारों की झलक मिलती है जो सामंतों के लिये हितकर होते हैं। इससे साहित्य में वर्गसिद्धांत की निरर्थकता साबित नहीं होती। साबित होती है संस्कृति के क्षेत्र में वर्गाधार की पेचीदगी जो सीधे 'दो दुनी चार' रूप में प्रकट न होकर संश्लिष्ट रूप में प्रकट होती है। इसका कारण यह है कि उत्पादन व्यवस्था के आधार पर एक बार सांस्कृतिक रूपों का निर्माण हो जाने पर मनुष्य जल्दी उन्हें छोड़ता नहीं है बल्कि पुराने रूपों में नए तत्व ढालने की कोशिश करता है। मार्क्सवाद संस्कृति का विश्लेषण करके बतलाता है कि उसका क्षेत्र सापेक्ष दृष्टि से स्वतंत्र होता

१. 'प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें', डा० रामविलास शर्मा, पृ० ७६।

है। संस्कृति और उत्पादन संबंधों में ईंट और गारे का संबंध न होकर उनके बीच अक्सर फासला भी रहता है'।[१]

मार्क्स ने सामाजिक विषमताओं को दूरकर संस्कृति के संतुलित विकास के लिये समाजवादी व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत किया। उसके मतानुसार इस व्यवस्था में उत्पादन अधिक होगा और फलतः सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास भी अधिक होगा। इसमें व्यक्तिचेतना का परिमार्जन होगा और उदात्त व्यक्तित्व का निर्माण होगा। मार्क्स के विचार को ऐंजल्स, लेनिन तथा स्तालिन ने विकसित किया। भारत में समाजवादी विचारों का अध्ययन १९२५-३० में प्रारंभ हो चुका था और कांग्रेस ने इसको सिद्धांततः और भी पहले स्वीकार कर लिया था किंतु चिंतनपद्धति में इसकी प्रतिष्ठा और साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति १९३६ के अनंतर विशेष रूपसे लक्षित होती है जब कि यहाँ 'प्रगतिशील लेखकसंघ' की स्थापना हुई। मार्क्सवादी विचारधारा ने आलोच्यकाल के हिंदीसाहित्य पर व्यापक प्रभाव डाला है। कवियों में निराला, नागार्जुन, शिवमंगल सिंह 'सुमन', रांगेयराघव, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल तथा रामविलास शर्मा इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाओं में वर्गसंघर्ष का चित्रण हुआ है और सर्वहारावर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है। यशपाल की अधिकांश कहानियाँ इस धरातल पर लिखी गई हैं। उनकी 'अभिशप्त (१९४३), 'दो दुनियाँ' (१९४८), 'ज्ञानदान' (१९४३), 'पिंजरे की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत चिनगारी' (१९४६), 'फूलो का कुर्ता' (१९४९), 'उत्तराधिकारी' (१९५१), 'चित्र का शीर्षक' (१९५१) कहानियाँ ऐसी ही हैं। रांगेय राघव (जीवन के दाने, अधूरी मूरत, अंगारे न बुझे), अमृतराय (कठघरे, भोर से पहले, कस्बे का एक दिन, लाल धरती, जीवन के पहलू, गीली मिट्टी), राहुल सांकृत्यायन तथा नागार्जुन की भी अनेक कहानियाँ मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित हैं।

समाजवाद

विश्व में समाजवादी विचारधारा का आरंभ फ्रांस की राज्यक्रांति के समय से हुआ। इसके जन्मकाल से लेकर अबतक समय समय पर इसके मूल स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। इसी लिये इसका वर्तमान रूप इसके मूल रूप से सर्वथा भिन्न है। अपने आविर्भाव के प्रारंभिक काल में समाजवाद का सीधा विरोध साम्राज्यवाद से था। परवर्ती काल में इसका विरोध पूँजीवाद से हुआ। इस नवीन रूप का प्रवर्तन कार्ल मार्क्स द्वारा किया गया। सन् १८४८ में उसने साम्यवादी घोषणापत्र प्रकाशित किया और सर्वप्रथम इतिहास की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए एक नए सिद्धांत की पुष्टि की। लगभग इसी समय से समाजवाद को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त हुई। कार्ल मार्क्स से पूर्व यूरोप में हीगेल के दार्शनिक विचारों का पर्याप्त प्रचार था।

१. वही, पृ० ८०।

मार्क्स ने हीगेल के आदर्शवादी विचारों से न सहमत होते हुए भी उसकी चिंतनपद्धति का अनुसरण किया। मार्क्स का विचार था कि पूँजी ही वह शक्ति है जो समाज के विभिन्न अंगों पर अपना प्रभुत्व रखती है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि पूँजी ही समाज की आर्थिक रचना का आधार है और इसलिये इसी पर उसके विभिन्न कार्यक्षेत्रों की प्रणालियां, राज्यव्यवस्था, साहित्य तथा कला आदि स्थिर है। आर्थिक व्यवस्था ही समाज की नींव है और साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ इसकी ऊपरी मंजिलें हैं। उसके मत से सामाजिक उत्पादनव्यवस्था में मनुष्य कुछ ऐसे निश्चित उत्पादन संबंध स्थापित करता है जो उसकी इच्छानुसार नहीं होते। ये उत्पादन संबंध उत्पादन की भौतिक शक्तियों की एक निर्दिष्ट विकसित अवस्था से मिलतेजुलते हैं। इन्हीं उत्पादन संबंधों के योग से सामाजिक आर्थिक प्रणाली निर्मित होती है। मार्क्स के विचार से यही संबंध का आधार है जिसपर विधि और राजनीतिक भवन का निर्माण होता है। इसलिये इसी आधार पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या करते हुए उसने बताया है कि संसार की समस्त क्रांतियो का मूल कारण आर्थिक ही रहता है। सेना, शासक तथा राष्ट्र आदि केवल उसके सहायक मात्र होते हैं। कार्ल मार्क्स को आधुनिक समाजवाद का जन्मदाता कहा जाता है यद्यपि उसके बाद भी समाजवादी विचारधारा मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। प्रसिद्ध भारतीय समाजवादी नेता आचार्य नरेंद्रदेव ने सामाजिक उत्पादन व्यवस्था के विकासक्रम के संबंध मे विचार करते हुए यह बताया है कि उत्पादन शक्ति के विकास मे एक मुख्य अवस्था ऐसी भी आई थी जब सामंत तथा कृषक वर्गों के स्थान पर पूँजीपति और श्रमिक नामक दो आधारभूत नए वर्ग प्रभुत्व मे आए। सामाजिक संघटन के इस वर्गआधार में परिवर्तन का कारण उत्पादन शक्तियों की नई धारा का आविर्भाव ही है। उनका यह भी विचार है कि पूँजीवादी युग मे उत्पादन शक्तियों का जो विकास हुआ है उसमे स्वामी और सेवक का ठीक वही संबंध नही स्थापित किया जा सकता जो प्राचीन काल में था। इसी प्रकार से दासप्रथा के युग में उत्पादन की शक्तियों का जो विकास हुआ उससे आधुनिक पूँजीपति और श्रमिक उत्पन्न नही हो सकते। वस्तुतः उत्पादन शक्तियों की जैसी अवस्था होती है, सामाजिक उत्पादन के प्रयत्न मे उन उत्पादन शक्तियों का संबंध उन्ही के अनुरूप स्थापित होता है। उत्पादन संबंधों को जोड़कर ही समाज का आर्थिक ढाँचा बनता है और उसी आर्थिक ढांचे के आधार पर राजनीतिक और सांस्कृतिक दीवारें खड़ी होती हैं। समाजवाद अपने मूलरूप मे एक प्रगतिशील आंदोलन है। सेलार्स ने इसे एक प्रजातंत्र आंदोलन बताया है जिसका उद्देश्य समाज की आर्थिक व्यवस्था का अधिक से अधिक न्यायसंगत सुधार करना है। हुगन का विचार है कि यह श्रमिकों द्वारा संचालित एक राजनीतिक आंदोलन है जिसका उद्देश्य मिलमालिकों के शोषण का उन्मूलन करके एक ऐसी प्रजातंत्र व्यवस्था स्थापित करना है जिसमें

उत्पादनयंत्र तथा वितरणशक्ति समाज के अधिकार में हो। लिटर ने समाजवाद को राष्ट्रीय स्वरूप में परिवर्तन की एक प्रेरणा कहा है जिसका स्रोत श्रमिक वर्ग है। फिलंट ने अपनी पुस्तक मे समाजवाद को साम्यवाद और समूहवाद नामक दो शाखाएँ बताते हुए उनकी व्याख्या की है। समाजवादी दृष्टिकोण से उत्पादन के समस्त साधनों पर थोड़े से व्यक्तियों अथवा जनसमूहों का अधिकार नही होना चाहिए। भूमि, पूँजी, तथा अन्य आर्थिक व्यवस्थाओं पर कुछ व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों का ही अधिकार है जो उस संपत्ति पर अपने पैतृक अधिकार बनाए हुए हैं। इसलिये समाजव्यवस्था में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है और यह परिवर्तन तभी हो सकता है जब प्रचलित आर्थिक व्यवस्था का अंत करके उसके स्थान पर एक नवीन व्यवस्था की स्थापना की जाय। यह परिवर्तन विधान द्वारा संभव न होकर केवल क्रांति के द्वारा ही हो सकता है। इसलिये क्रांति के द्वारा ही राज्यसत्ता पर समाजवादियोंका अधिकार होगा और तभी समाजवादी व्यवस्था संभव होगी। संक्षेप में समाजवाद का उद्देश्य हानिकारक प्रतिद्वंद्विता, पूँजीवाद तथा पैतृक अधिकारों का अंत करके उसके स्थान पर उत्पादन के साधनों तथा उत्पादक यंत्रों का पुर्नवितरण करना है। आलोच्ययुग मे हिंदी साहित्य के क्षेत्र में समाजवादी विचार-धारा को प्राय: हर विधा में प्रश्रय मिला।

साम्यवाद

साम्यवाद मूलत: एक प्रगतिशील अथवा परिवर्तनशील वाद है। उसके इसी गुण के कारण प्लेटो के समय के साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद मे बहुत बड़ा अंतर आ गया है। आधुनिक युग में कार्ल मार्क्स के साम्यवाद में लेनिन, स्तालिन आदि साम्यवादी आमूल परिवर्तन कर चुके हैं। उनके भी पश्चात् साम्यवादी विचारधारा क्रमशः परिवर्तित होती रही है। इसी लिये राबर्ट फिलट जैसे विचारक साम्यवाद को समाजवाद की ही एक प्रमुख विचारधारा मानते हैं। नोयज के विचार से साम्यवाद जीवन के ऐक्य का रूप है और जीवन का ऐक्य ही साम्यवाद की नीव है। साम्यवादी विचारको का यह दावा है कि यह मत आधुनिक युगीन समस्त विश्वस्तरीय समस्याओं को सुलझाने के लिये एक क्रांतिकारी और सार्वभौम दर्शन है। प्रसिद्ध भारतीय साम्यवादी डाँगे ने बताया है कि साम्यवादी विचारधारा अत्यंत प्राचीन है। प्राचीन साम्यवादी व्यवस्था मे सामूहिक परिश्रम और सामूहिक उपयोग था। निजी संपत्ति नहीं होती थी। आरंभ में श्रमविभाजन भी नही होता था पर बाद में उत्पादन शक्तियों के बढ़ने पर वह होने लगा। वर्गों का अस्तित्व नही था और सामाजिक संघटनों के रूप गण के नाम से संघटित होते थे। जितने भी सामाजिक कार्यकलाप होते थे वे साम्यसंघ के मतानुसार ही होते थे। इस आदिम साम्यसंघ में कोई वर्णभेद या जातिभेद नहीं संभव था। आगे चलकर उत्पादन और धन की वृद्धि ने युद्धबंदियों को मृत्यु का शिकार होने से

बनाकर उन्हें दासों में बदल दिया। इस प्रकार समाज दो विरोधी वर्गों में बँट गया। एक वह वर्ग जो दासों और धन का स्वामी था, और दूसरा वह वर्ग जो अपने स्वामियों की दासता करता था। सन् १८४८ में मार्क्स और एंगिल्स का साम्यवादी घोषणापत्र प्रकाशित हुआ। इसके अनुसार साम्यवाद का आधार आर्थिक सिद्धांत नही है बल्कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है। मार्क्स की धारणा है कि समाज मूलतः तीन श्रेणियों में होकर चलता है। आदि साम्यवाद, ऐतिहासिक साम्यवाद और उच्चतर साम्यवाद। मार्क्स का मत है कि व्यक्तिगत संपत्ति को बदल देना पर्याप्त नहीं, उसे नष्ट कर देना आवश्यक है क्योंकि किसी वर्गविशेष की बुराइयों पर टीका टिप्पणी करने का नही बल्कि वर्गों की समाप्ति का प्रश्न है। दूसरे शब्दों में वर्तमान समाज को परिष्कृत करने का नही वरन् एक सर्वथा नवीन समाज की स्थापना का प्रश्न है। मार्क्स कहता है कि मानव जीवन तथा ऐतिहासिक घटनाओं का आधार मनुष्य की दैनिक आवश्यकताएँ है। ज्यों ज्यों इनमें परिवर्तन होता है त्यों त्यों सामूहिक जीवन भी बदलता है। प्रागैतिहासिक काल से आजतक सामाजिक जीवन के उन्नत होने के साथ साथ मनुष्य की अनेक आवश्यकताओं का प्रभाव समाज पर अधिक व्यापक होता गया है। समाज व्यक्तिगत जीवन के संबंधों से बनता है और समाज में रहनेवाले मनुष्यों का पारस्परिक संबंध उनके आर्थिक व्यवहारों से प्रकट होता है। वह दूसरों से इसलिये संबंध बनाए रखता है जिससे उसकी आवश्यकताएँ पूरी हों। इसलिये आवश्यकता ही मौलिक और मुख्य है। जो शक्ति मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है उसे उत्पादनशक्ति कहते है। उत्पादनशक्ति का विकास ही इतिहास की प्रक्रिया का संचालन करता है। आजतक संसार में जितने भी युद्ध, क्रांति तथा विद्रोह आदि हुए हैं उनके मूल में यही भावना रही है कि उत्पादन की शक्ति को अपने अधिकार में रखा जाय। प्राचीन काल में उत्पादन का मुख्य साधन केवल भूमि थी परंतु आज भूमि के साथ साथ बड़े उद्योग भी उत्पादन के महत्वपूर्ण साधन बन गए हैं। इस कारण पूँजीवादी देशों को अपने अधीन कृषिप्रधान देशों की आवश्यकता होती है जिन्हें वे अपने अधिकार में रखना चाहते हैं। अपनी इस व्यापारिक नीति को वह साम्राज्यवाद कहते हैं जिसे लेनिन ने पूँजीवाद का अंतिम रूप माना है। चूँकि शोषकवर्ग की संख्या की तुलना में शोषितवर्ग की संख्या बहुत अधिक होती है अतः वर्गयुद्ध में उनकी विजय निश्चित है। उनकी विजय ही वर्गसंघर्ष का अंत कर सकती है, और स्वार्थविहीन समाज की स्थापना होने पर मानवता का पुनर्विकास हो सकता है। मार्क्स का यह भी विचार है कि क्रांति तथा शांति एक ही सिद्धांत के दो विभिन्न पक्ष है जिनमें से एक के अभाव में दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं है। शांति के लिये ही क्रांति की आवश्यकता होती है। डा० संपूर्णानंद जैसे विचारकों ने साम्यवाद और धर्म मे भी एक प्रकार का संघर्ष माना है। आधुनिक हिंदी साहित्य के क्षेत्र में गद्य और पद्य की सभी विधाओं में साम्यवादी विचारधारा का समावेश मिलता है। यशपाल, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि

साहित्यकारों की कृतियों में यह विचारधारा अपेक्षाकृत बौद्धिक आधार पर समाविष्ट हुई मिलती है।

मनोविश्लेषणवाद

आलोच्यकाल की यथार्थवादी जीवनदृष्टि के कारण एक ओर जहाँ सामाजिक क्षेत्र में मार्क्सवाद को प्रतिष्ठा मिली वहीं दूसरी ओर व्यक्ति के आभ्यंतरक्षेत्र में फ्रायडीय मनोविश्लेषण के कामसिद्धांत को भी मान्यता प्राप्त हुई। फ्रायड का मत है कि समस्त कलाओं के मूल में दमित और अतृप्त कामभावना होती है। सामाजिक निषेध कामवृत्तियों की मुक्त अभिव्यक्ति को बाधित करते हैं। फलस्वरूप ये कामवृत्तियाँ कुंठित एवं दमित रूप मे अवचेतन एवं अचेतन मन में निहित रहती हैं और अपनी अभिव्यक्ति का अवसर खोजती रहती है। कला इन्हें यह अवसर प्रदान करती है। यह कुंठित काम मानवमात्र में छिपा रहता है और सामान्यतया विभिन्न मानसिक रोगो एवं विकृतियों को जन्म देता है। कलाकार के पास कला जैसा उदात्त माध्यम होता है। अतएव उसके संदर्भ मे यह काम उदात्त रूप पा लेता है।

फ्रायड की दूसरी महत्वपूर्ण स्थापना उसका स्वप्नसिद्धांत है। इसके अनुसार स्वप्न दमित इच्छाओं की ही पूर्ति, प्रत्यक्ष के प्रतीकात्मक रूप मे करते है। सुप्तावस्था में दमित कामनाएँ, जो अवचेतन में निहित होती है, सामाजिक वर्जनाओं की पहुँच के बाहर होने के कारण एक एक करके व्यक्त होने लगती है, कभी अपने बिलकुल यथार्थ नग्नरूप मे, कभी अर्धनग्नरूप मे, और कभी वेश बदलकर प्रतीकात्मक रूप में।

मनोविश्लेषण शास्त्रियों ने इन कुंठित और दमित इच्छाओं का पता लगाने के लिये 'फ्रीएसोशिएशन' पद्धति को जन्म दिया जिसमे व्यक्ति को पूर्ण विश्राम की अवस्था मे रखकर उसे अपने मन मे उठनेवाले सभी भावो एवं विचारो को ज्यों का त्यों, उसी क्रम से, निर्बाध रूप से व्यक्त करने को कहा जाता है। स्पष्ट ही ये विचार और भाव विशृंखल होते है किंतु इन्ही विशृंखल और असंबद्ध मनोविकारो के आधार पर मानसिक विश्लेषण किया जाता है और मनोग्रंथियों को खोला जाता है। इस प्रक्रिया के द्वारा मानसिक रोगो का उपचार संभव हो सका है।

फ्रायड के बाद युंग, एडलर मैक्डूगल आदि मनोवैज्ञानिकों ने मनोविश्लेषणविज्ञान को आगे बढ़ाया। वर्तमान समय में होने, फ्रोम, सलीवन, कार्डीनर, मार्गरेट मीड, रूथबेनेडिक्ट आदि इस क्षेत्र मे प्रयोगरत है। आलोच्यकाल के साहित्य पर फ्रायड की मान्यताओं का प्रभाव व्यापक रूप मे लक्षित होता है। इस काल की कविताओं में जिस कुंठा और असंगत निरावृत शृंगारिकता को वाणी मिली है वह फ्रायडीय मनोविश्लेषण की ही देन है। यौनप्रतीको, यौनबिंबो, स्वप्नप्रतीकों और स्वप्नचित्रों का प्रयोग इन रचनाओं मे खुलकर किया गया है। 'फ्री एसोशिएशन' की पद्धति को

भी काव्यशिल्प के रूप में ग्रहण किया गया है जैसे 'कंकरीटका पोर्च' (अज्ञेय), 'वेदनानिग्रहरस' (नरेश) आदि कविताओं में। एडलर द्वारा निरूपित कलाकार की सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति और इस अनुभूति से उत्पन्न हीनता की भावना से त्राण पाने एवं अपनी उपयोगिता प्रमाणित करने के लिये कलात्मक सर्जन के सिद्धांत का समर्थन अज्ञेयजी ने 'त्रिशंकु' नामक अपने निबंधसंग्रह में किया है। यशपाल, जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी तथा 'अश्क' के उपन्यासों में इन धारणाओं को व्यापक रूप से अभिव्यक्ति मिली है। इस युग की कहानियों में यह मनोवैज्ञानिक धारा विशेष सजीवता और प्रवाह के साथ बहती हुई लक्षित होती है। जैनेंद्र (पाजेब १९४२, जयसंधि १९४९), अज्ञेय (त्रिपथगा १९३७, परंपरा १९४४, कोठरी की बात १९४५, शरणार्थी १९४८, जयदोल १९५१), इलाचंद्र जोशी (धूपरेखा १९३८, दीवाली और होली १९४२, रोमांटिक छाया १९४३, आहुति १९४५, खंडहर की आत्माएँ १९४८, डायरी के नीरस पृष्ठ १९५१) की कहानियों मे अंत:पीड़ा और मानसिक ग्रंथियों के स्वरूप देखे जा सकते हैं। फ्रायड की यौन प्रवृत्ति संबंधी धारणाओं का रूप 'उग्र' (चिनगारियाँ, इंद्रधनुष, रेशमी, बलात्कार, दोज़ख की आग, सनकी अमीर), 'अज्ञेय', यशपाल, इलाचंद्र जोशी, उपेंद्रनाथ 'अश्क', पहाड़ी (हिरन की आँखें १९३९, छाया में १९४३, यथार्थवादी रोमांस, तूफान के बाद १९५३, छिपकली, ऐस्प्रिन की टेबलेट), मन्नू भंडारी (ईसा के घर इंसान) आदि की कहानियों में देखा जा सकता है। कतिपय नाटक—यद्यपि अपेक्षाकृत बहुत कम—भी मनो वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर इस काल में लिखे गए हैं। नरेश मेहता का 'सुबह के घंटे' तथा विष्णु प्रभाकर का 'डाक्टर' जो आलोच्यकाल के कुछ बाद छपे, ऐसे ही नाटक है।

अतियथार्थवाद

फ्रायडीय मनोविश्लेषण की ही परंपरा में उठ खड़े हुए अतियथार्थवादी आंदोलन (सर्रीयलिज्म) ने भी आलोच्यकाल के साहित्य को प्रभावित किया। आधुनिक अर्थ में यथार्थवाद का उदय प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् हुआ। लगभग इसी काल में प्रतिक्रियात्मक रूप में इसका एक नवीन रूप विकसित हुआ जिसे अतियथार्थवाद कहते थे। इसका प्रमुख प्रवर्तक चार्ल्स बौदलेयर था। जिन पूर्ववर्ती लेखकों में अतियथार्थवादी तत्व विद्यमान मिलता था उनमे ह्यूगोमान, आर्थर रिंबो तथा मेलार्मे आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं। सन् १९२० के बाद से इस विशिष्ट वाद की स्पष्ट रूप से चर्चा हुई। इसकी नई व्याख्या उस सत्ता के रूप में की गई जो यथार्थ होते हुए भी दृष्टिगत न हो। सन् १९३० के बाद यह आंदोलन फ्रांस के बाहर विश्व के अन्य देशों में प्रचलित हुआ। हरबर्ट रीड आदि ने इसकी व्याख्या करते हुए इसके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया। मूलभूत रूप से अतिय-

यार्थवाद का ध्येय यथार्थ की सीमाओं को विस्तृत करना ही था। कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि अतियथार्थवाद का मूल स्वरूप यथार्थवाद न होकर स्विटजरलैंड में प्रचलित दादावाद नामक विचारधारा थी। इस आंदोलन के घोषणापत्र १९३० में सामने आए। १९३६ में अतियथार्थवादी चित्रों की प्रदर्शनी लंदन में हुई जिसमें इसका रूप विशेष स्पष्टता के साथ उभरा। इसके अंतर्गत अवचेतन के यथार्थ का चित्रण किया जाने लगा। इस चित्रण या अभिव्यक्ति में बौद्धिक नियंत्रण की उपेक्षा की गई और स्वतःचालित लेखन का आदर्श सामने रखा गया। इस पद्धति में प्रतीकात्मक संकेतों की बहुलता थी क्योंकि अवचेतन की दमित एवं कुंठित वृत्तियाँ अधिकतर सांकेतिक रूप में ही स्वप्नप्रत्यक्ष होती हैं। यह चित्रण बहुत कुछ स्वप्नों के यथावत् छायांकन जैसा होता था। इस पद्धति के कारण जहाँ मानसिक यथार्थ को स्वाभाविक वाणी मिली वहाँ वस्तुविषय की दृष्टि से नैतिकता और सौंदर्यसंबंधी मूल्यों का ह्रास हुआ और शैली की दृष्टि से विशृंखलता और स्पष्टता आ गई। साहित्यकारों और कलाकारों का वस्तुजगत् से भागकर अवचेतन में शरण लेना वस्तुतः प्रथम महायुद्ध की विभीषिकाओं का ही एक परिणाम था जिसमें नैतिक एवं मानवीय मूल्य बुरी तरह टूट चुके थे। इस आंदोलन को अनेक समर्थ साहित्यकारों ने आगे बढ़ाया और एक पूरी पीढ़ी इससे प्रभावित हुई किंतु अपनी अनास्था और असामाजिकता के कारण यह अधिक समय तक जीवित न रह सका। अज्ञेय तथा धर्मवीर भारती के कलात्मक सिद्धांतों मे इस आंदोलन की छाप है।

व्यक्तिवाद

साहित्य के क्षेत्र में व्यक्तिवाद एक महत्वपूर्ण विचारधारा है जिसका उदय १८वीं शताब्दी मे हुआ। गार्नर का यह मत है कि व्यक्तिवाद की उत्पत्ति १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे यूरोप में अतिशासन अथवा कठोर प्रशासन के दोषों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुई थी। यह विचारधारा व्यक्ति को राज्य की तुलना मे अधिक महत्व देती है। बिल्हेल्म हम्बोल्ट का यह विचार है कि राज्य को कम से कम शासन करना चाहिए क्योंकि इसी से उस राज्य मे रहनेवाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व का सम्यक् रूप से विकास हो सकता है। फिख्टर नामक जर्मन व्यक्तिवादी का भी यही मत है कि व्यक्तित्व का प्रसार स्वस्थ होना चाहिए। स्पर्जन भी यही कहता था कि जो अधिक महान् कार्य होते हैं वे आदमियों के समुदाय के द्वारा न होकर एक एक व्यक्ति के द्वारा ही होते हैं। इकाइयाँ ही समाज की महान् शक्तियाँ हैं। चैपिन और इमर्सन आदि की भी यही धारणा थी कि विभिन्न जातियों की उन्नति सेनाओं से नहीं बल्कि किसी महान् व्यक्तित्व के माध्यम से ही हुई है। साहित्य के क्षेत्र में व्यक्ति ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा है। व्यक्तिवादी सिद्धांत के समर्थक

राज्य को आवश्यक मानते हुए भी उसका कार्यक्षेत्र अत्यंत सीमित कर देना चाहते हैं क्योंकि यदि यह कार्यक्षेत्र असीमित होगा तो उससे व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधा पड़ेगी। व्यक्तिगत स्वतंत्रता में सामूहिक मत के हस्तक्षेप से भी बाधा पहुँचती है। जो वस्तु व्यक्तित्व का नाश करे वह स्वेच्छाचारिता है। स्पेंसर तो यहाँतक कहता है कि किसी राष्ट्र की संस्थाएँ और आस्थाएँ उसमें रहनेवाले व्यक्तियों के आचरण पर ही निर्भर हैं। इसलिये वह राज्य के अस्तित्व को मनुष्य के जन्मजात एवं परंपरागत अहंभाव तथा कुप्रवृत्ति का दुष्परिणाम मानता है। उसका विचार है कि राज्य व्यक्ति और उसके अधिकारों का रक्षक होने की अपेक्षा भक्षक अधिक होता है। लगभग दो शताब्दियों तक विश्व में व्यक्तिवादी विचारधारा की प्रधानता रहने के पश्चात् बीसवीं शताब्दी से इसका विरोध आरंभ हुआ जो क्रमशः बढ़ता जा रहा है। हिंदी साहित्य में आधुनिक युग की अनेक प्रवृत्तियों के साथ व्यक्तिवादी विचारधारा का भी अपना महत्व है।

अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद संसार की नवीनतम चिंतनधाराओं मे एक है। मूलतः यह एक दार्शनिक प्रणाली है। परंतु साहित्य के क्षेत्र में इसका विशेष प्रभाव दृष्टिगत होता है। दर्शन के क्षेत्र में इस विचारधार के मूल व्याख्याताओं में हुसरेल, हेडेगर तथा कीर्केगार्ड के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। साहित्य के क्षेत्र मे ज्यॉं पाल सार्त्र तथा अल्बेयर कामू आदि लेखकों ने इसके विकास में योग दिया। सिद्धांततः अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट, गतिरोध अथवा संक्रांति का सूचक है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद पराभववाद का दार्शनिक प्रतिरूप है और इसमें उसी की व्याख्या है। अस्तित्ववाद के साहित्यक स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये उसके दार्शनिक स्वरूप का बोध आवश्यक है। प्रत्येक अस्तित्ववादी आत्मचेतना अथवा आंतरिकता से अपना तर्क आरंभ करता है। अपने प्रथम व्यक्तित्व को मानवजगत् की विराट् पृष्ठभूमि में रखकर वह संसार की असीमता के प्रति अपनी लघुता की अवगति प्राप्त करता है। सृष्टि के महाशून्य में अस्तित्वान् क्षुद्र मनुष्य के हृदय में भय का उदय होता हैं। कीर्केगार्ड आदि अस्तित्ववादी विचारकों ने आध्यात्मिकता को बौद्धिकता की तुलना में अधिक प्रश्रय दिया है। वे जीवन में व्यक्तिगत गुणों की प्रधानता इसलिये मानते हैं क्योंकि उनके विचार से व्यक्ति का अर्थ ही आध्यात्मिक जागरण है। कीर्केगार्ड मानवजीवन के दो उद्देश्य मानता है जो क्रमशः चिरंतनता की प्राप्ति तथा लौकिक अस्तित्व की उपलब्धि हैं। वह नैतिकता को भी एक सिद्धांत मानता है, मानवजीवन का चरम लक्ष्य नहीं। आस्था अथवा विश्वास को वह नैतिकता से उच्चतर महत्व प्रदान करता हैं। अस्तित्ववाद का आधुनिक युग में विचारधारा के रूप में हिंदी के गद्य और पद्य साहित्य में समावेश

करनेवाले लेखकों में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का नाम उल्लेखनीय है।

ज्याँ पाल सार्त्र की विचारधारा मनुष्य के 'अस्तित्व' को आधार बना कर चली है अतएव उसे अस्तित्ववाद के नाम से जाना जाता है। इस दर्शन के सूत्रधार कीर्केगार्ड और प्रो० हैडिगर हैं और इसकी परंपरा प्रतिष्ठित करनेवालों में यास्पर्स मार्सेल, काफ्का, सार्त्र आदि उल्लेखनीय हैं। सार्त्र ने अस्तित्ववादी दर्शन को स्पष्ट और व्यापक रूप में प्रस्तुत किया और उसका प्रभाव नई पीढ़ी पर विशेष रूप से पड़ा। सार्त्र के मतानुसार मनुष्य अपनी रुचि के निर्धारण तथा अपने निर्णयों में पूर्णतया स्वच्छंद है और वह अपने किसी भी कार्य के लिये किसी अन्य व्यक्ति या संस्था के प्रति उत्तरदायी नहीं। मनुष्य स्वतंत्र है, वह जैसा अपने को बनाएगा वैसा ही बनेगा और उसका वही रूप 'चरम' या 'परम' ट्रांसिडेंटल है। उससे परे और कुछ हो ही नहीं सकता। मनुष्य के अपने व्यक्तित्व का सारा उत्तरदायित्व उसी पर है और इस तथ्य की चेतना उसमें जाग्रत होनी चाहिए। 'क्षण' की महत्ता पर बल देनेवाली क्षणवादी विचारधारा, जिसके अनुसार व्यक्ति को तृप्ति देनेवाला एक क्षण शेष सारे जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है और उसे भोग लेने के अनंतर भविष्य में उससे अधिक भोगने की आशा रखना व्यर्थ है, भी इसी के अंतर्गत है। यह दर्शन अंतर्मुखता एवं वैयक्तिकता को प्रेरित करता है और इसी के साथ वह नग्नयथार्थ, के जो कुरूप, वीभत्स और भयानक होता है, प्रस्तुतीकरण का समर्थन करता है। सार्त्र के उपन्यासों, नाटकों और कथासाहित्य में इसी यथार्थ को प्रस्तुत किया गया है। उसकी रचनाओं के नायक और पात्र बर्बर, कायर, नपुंसक, मानवता के सामान्य स्तर से गिरे हुए हैं। हिंदी के गद्य और पद्य साहित्य पर अस्तित्ववादी विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा है। एजरापाउंड, सार्त्र आदि के विचारों तथा टी० एस० इलियट, डी० एच० लारेंस ने भी समसामयिक साहित्य को बहुत प्रभावित किया है। उन्होंने मनोविश्लेषणवादी, यथार्थवादी और अस्तित्ववादी विचारों को ही घुलेमिले रूप में प्रस्तुत किया। इलियट का दृष्टिकोण निराशावादी और अनास्थावादी है। उसे सारी मानवता रोगग्रस्त जान पड़ती है और मानवभविष्य अंधकारपूर्ण लगता है। उसने यद्यपि विश्वमानवता और विश्वसंस्कृति की भी आदर्श कल्पना प्रस्तुत की है किंतु उसकी इन कल्पनाओं की आधारभूमि संकुचित और सांप्रदायिक थी। फलतः वह व्यक्तिवादी अनास्था के प्रचारक और विचारक के रूप में ही देखा गया। उसके 'वेस्टलैंड' और 'हालोमेन' में उसका यही रूप लक्षित होता है। डी० एच० लारेंस ने फ्रायड की परंपरा में कामवृत्तियों को प्रमुखता प्रदान की। 'वह चाहता था कि प्रत्येक मानव अपनी कामवृत्तियों को अन्य वृत्तियों के समान ही महत्व दे। उसका विचार था कि अपनी कामवृत्तियों के प्रति स्वस्थ और उचित दृष्टिकोण ही आज के मानवमन को संतुलित बनाए रख सकता है, अन्यथा समाज की विविध वर्जनाओं से आक्रांत उसका काम-

संबंधी जीवन कलुषित और विकृत होता जाएगा'।[१] लारेंस के ये विचार उसकी साहित्यिक कृतियों में मुक्त रूप में प्रतिफलित हुए हैं। उसके साहित्य में कामप्रतीकों की भरमार है और आद्योपांत एक निर्बाध यौनभावना को अभिव्यक्ति मिली है। नारी और पुरुष का चिरंतन द्वंद्व उसके उपन्यासों का एक सामान्य विषय है। जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी आदि के उपन्यासों तथा प्रयोगवादी कवियों की कृतियों में लारेंस का प्रभाव बड़े व्यापक रूप में देखा जा सकता है।

आलोच्यकाल के साहित्यशिल्प, विशेष रूप से काव्यशिल्प पर प्रतीकवाद और बिंबवाद का प्रभाव लक्षित होता है।

प्रतीकवाद और बिंबवाद

प्रतीक का प्रयोग चिह्न अथवा प्रतीक के रूप में किया जाता है। स्थूल रूप में मनुष्य की भाषा अथवा शब्द भी प्रतीक है क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने आप में किसी न किसी भावनात्मक अथवा दृश्यात्मक सत्य की निहिति रखता है तथापि शब्द अथवा भाषा और प्रतीक में पर्याप्त अंतर है। शब्द अथवा भाषा प्रधानतः विचारों के माध्यम हैं क्योंकि उनके अभाव में कुछ भी अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। प्रतीकवाद का प्रवर्तन एक आधुनिक वैचारिक आंदोलन के रूप में फ्रांस में हुआ था। आगे चलकर यह सारे विश्व में एक प्रतिनिधि विचारधारा के रूप में व्याप्त हो गया। एक साहित्यिक विचारधारा के रूप मे प्रतीकवाद को इस प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है कि किसी भी विषय की प्रतीक के रूप में अभिव्यंजना करना ही प्रतीकवाद है। साहित्यिक प्रतीक मुख्य रूप से भावनात्मक तथा व्यंजनात्मक साम्य पर आधारित होते हैं और वैज्ञानिक प्रतीक किसी विशिष्ट पदार्थ अथवा बिंब को अभिव्यंजित करते हैं। प्रतीकवाद का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसके विषय मे यहाँ-तक कहा जा सकता है कि हमारे सारे कार्यकलाप ही प्रतीकात्मक होते हैं। भावप्रेषण तथा अभिव्यक्ति के जितने माध्यम होते हैं उन सबको प्रतीकात्मक कहा जा सकता है। समाज, धर्म, संस्कृति तथा साहित्यिक क्षेत्रों की अधिकांश क्रियाएँ सूत्र रूप में प्रतीकात्मक होती हैं। व्यावहारिक जीवन के अतिरिक्त अचेतन में होनेवाली प्रक्रियाएँ भी प्रतीकात्मक ही कही जा सकती हैं। इसी लिये केनथवर्ग कहता है कि प्रतीकों का कार्य किसी अनुभव के प्रतिरूप अथवा प्रतिकृति का शाब्दिक साम्य अभिव्यंजित करना है। मानवभाव तथा अनुभूतियों के लिये प्राकृतिक प्रतीकों का उपयोग होता है। साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकों का प्रयोग मूलतः इस उद्देश्य से हुआ कि यथार्थ के आधार पर होने वाली नग्नचित्रण से युक्त अभिव्यक्तियों को रोका जाय। इसी लिये प्रतीकवाद नग्न तथा यथार्थ चित्रण के स्थान पर प्रतीकात्मक चित्रण पर बल देता है।

१. नया हिंदी काव्य, पृ० ४२३।

प्रतीकवाद उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य में फ्रांस में प्रकृतिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में जन्मा था। इसे बाद में मेलार्मे, वलेरी, वर्ले, रिंबो आदि ने आगे बढ़ाया और अपने प्रयोगों द्वारा इसे साहित्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया। प्रतीकवादी साहित्यकार विशिष्ट अनुभूतियों—रहस्यात्मक और अतींद्रिय—को सांकेतिक भाषा में प्रस्तुत करने पर बल देते हैं और विवरणपद्धति की उपेक्षा करते हैं। मेलार्मे का कहना है कि 'वही कविता श्रेष्ठ हो सकती है जो अनुभूति का संकेत मात्र दे कर रह जाय, उसका शनैः शनैः उद्घाटन करे। अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यक्ति के अर्थ हैं—कविता के तीन चौथाई सौंदर्य को नष्ट कर देना'।[1] प्रतीकवादी रचनाओं में सांकेतिक चित्रों एवं बिंबों की भरमार रहती है। बिंबवाद के मूल में भी नए काव्यरूप के अन्वेषण की ही प्रेरणा है। इसका प्रवर्तक ह्यूम (टी० इ० ह्यूम) था जिसके मतानुसार प्रत्येक युग की कविता के लिये विशिष्ट काव्यरूप अपेक्षित होता है। ह्यूम के इस विचार ने समसामयिक कवियो को प्रबल रूप में आकर्षित किया है और एजरा पाउंड रिचर्ड एलडिंग्टन, एफ० एस० फ्लिन्ट आदि उसके अनुयायी हो गए। १९१४ में 'दि इमैजिस्ट' शीर्षक से बिंबवादी कविताओं का एक संग्रह एजरा पाउंड के संपादन में छपा। १९१५ में 'सम इमैजिस्ट पोएट्स' नाम से बिंबवादियो का दूसरा संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें इन लोगों ने अपनी मान्यताओं पर प्रकाश डाला। इनके मतानुसार कम से कम शब्दों मे पूरे चित्र को उतार देना ही सफल कविकर्म है। इसके लिये ऐसे शब्दों का चुनाव आवश्यक है जो उस चित्र के प्रस्तुतीकरण के लिये पूर्णतया उपयुक्त हों। शब्दो के इस चुनाव मे दृष्टि व्यापक रखनी चाहिए क्योंकि सामान्य से सामान्य शब्द भी अपनी अर्थवत्ता और चित्रात्मक साकेतिकता के लिये अद्वितीय हो सकता है। बिंबवादियों के इस विचार पर प्रभाववादी चित्रकला का गहरा प्रभाव था। इस आंदोलन की अवधि १९०९ से १९१९ तक है—कुछ और उदार दृष्टि से देखें तो अंतिम अवधि १९३० हो सकती है क्योंकि बिंबवादियों का अंतिम कवितासंग्रह इसी वर्ष प्रकाशित हुआ था। हिंदी कविता मे इस आंदोलन का प्रभाव या उद्भव १९४० के बाद दिखाई पड़ता है। छोटे छोटे शब्दचित्रो द्वारा भाव या विचार के अंकन की पद्धति जो अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर प्रभृति कवियों मे लक्षित होती है, बिंबवादी विचारो से ही प्रेरित प्रतीत होती है। इसी परंपरा मे आगे चलकर काव्यशिल्प की दृष्टि वाक्यरचना पर विशेष रूप से केंद्रित हो गई और अनुभूति की ओर विरामचिह्नादि के विशिष्ट प्रयोगों से संकेत दिया जाने लगा। कमिंग्ज ने इस प्रकार के बाह्य शिल्प संबंधी प्रयोगों पर बल दिया था। 'नकेनवादी' (नलिनविलोचन शर्मा, केसरी कुमार, नरेश) कवियों ने कमिंग्ज के प्रभाव को स्वीकार किया है।

१. 'नया हिंदी काव्य', पृ० ४१६।

गांधीवाद

आधुनिकयुगीन भारतीय विचारधाराओं में गांधीवाद का नाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। महात्मा गांधी ने बीसवीं शताब्दी के प्रथम अर्धभाग में भारतवर्ष का सबसे अधिक नेतृत्व किया। उनके बहुपक्षीय व्यक्तित्व मे चिंतनपक्ष कितना अधिक महत्वपूर्ण था इसका परिचय उनके विचारों से भलीभाँति मिल जाता है। उनकी विचारधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह किसी प्रकार की तर्कप्रणाली पर आधारित नहीं है जैसी कि आधुनिकयुगीन अधिकांश विचारधाराएँ हैं। उसमें आत्मानुभूति, आध्यात्मिकता और आत्मशक्ति की प्रधानता है। किशोरीलाल मशरूवाला ने गांधीवाद के तीन मुख्य भाग किए जो वर्णव्यवस्था, ट्रस्टीशिप तथा विकेंद्रीकरण हैं। आचार्य विनोबा भावे के अनुसार गांधीजी समाज की परंपराओं को नष्ट नहीं करना चाहते थे वरन् उनका परिष्कार और विकास करना चाहते थे। इसी लिये समाज में वर्णव्यवस्था के अंतर्गत उन्होंने परिश्रम की समानता, होड़ का अभाव तथा आनुवंशिक संस्कारों से लाभ उठानेवाली शिक्षणयोजना का प्रस्ताव किया। गांधीवाद का सामाजिक आदर्श सर्वोदय है। गांधीजी का जीवनादर्श सत्याग्रह है तथा गांधीवाद का शासनादर्श रामराज्य है। समाज मे सभी व्यक्तियों और सभी वर्गों की समान उन्नति गाधीवाद का लक्ष्य है। गाधीवाद के मूलभूत स्तंभ सत्य और अहिंसा हैं। गांधीजी ने सत्य का ही दूसरा नाम ईश्वर बताया है। सत्य के साक्षात्कार से समबुद्धि की प्राप्ति और समबुद्धि के प्राप्त होने से सबके प्रति अहिंसा के भाव की उत्पत्ति होती है। अतः गांधीवादी जीवनदर्शन के अनुसार सत्य का दूसरा पक्ष अहिंसा है। अहिंसा में वैराग्य और प्रेम का समन्वय होता है। उन्होंने सभी क्षेत्रों में समन्वय का सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए अहिंसा की उपलब्धि के लिये आत्मशुद्धि अनुमोदित की है। आत्मशुद्धि की प्रक्रिया अहंभावना का त्याग एवं आत्मपीड़न आदि है। यदि कोई व्यक्ति आत्मशुद्धि का व्रत लेता है तो उससे उसकी आत्मा तो शांत होती ही है, समाज का भी उससे कल्याण होता है। गांधीजी के विचार से कला के अंतर और बाह्य दो भेद होते है। इनमें से बाह्य का मूल्य तभी होता है जब अंतर का भी विकास हो। उन्हीं के शब्दों में 'समस्त कला अंतर के विकास का आविर्भाव ही है। जो कला आत्मा को आत्मदर्शन करने की शिक्षा नहीं देती, वह कला ही नहीं है तथा प्राकृतिक कलाकृतियों की अपेक्षा मानुषी कला तुच्छ और अपूर्ण है। जिसमें सत्य की अभिव्यक्ति है, जिसमे ऊर्ध्वगामिनी प्रकृति की अभिव्यंजना या सहायता होती है, वही सच्ची कला है।' हिंदीसाहित्य मे गांधीवादी जीवनदर्शन और सिद्धांतों का समावेश प्रायः सभी विधाओं में मिलता है। प्रेमचंद, सुदर्शन, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी तथा सुमित्रानंदन पंत आदि लेखकों ने गांधीदर्शन को आत्मसात् करके उसका समावेश अपनी कृतियों में किया है।

●

द्वितीय खंड

काव्य

लेखक

डा० नगेंद्र
डा० रामदरश मिश्र
डा० बुद्धसेन नीहार
डा० कमलेश

●

प्रथम अध्याय

आधुनिक हिंदी कविता

मूल्यांकन

१. यद्यपि प्रस्तुत कालावधि (संवत् १९९५–२०१० वि०) के सीमांकन को भारतराष्ट्र अथवा हिंदी साहित्य के इतिहास की कोई युगरेखा न मानकर संपादनकर्म की सुविधा और आवश्यकता ही मानना चाहिए, फिर भी इसके पूर्व सीमांत का तो अपना ऐतिहासिक महत्त्व असंदिग्ध है। सामान्यतः उसे हम छायावाद युग की परा सीमा कह सकते हैं और इस दृष्टि से विवेच्य कालखंड को छायावादोत्तर युग कहना अनुपयुक्त न होगा। पंद्रह वर्ष की इस सीमित परिधि में प्रबल राजनीतिक घटनाएँ घटी, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में द्वितीय विश्वयुद्ध और राष्ट्रीय मंच पर वामपक्ष का शक्ति-विस्तार, १९४२ का आंदोलन, स्वतंत्रता की घोषणा, सांप्रदायिक विप्लव, गांधीबलिदान, शरणार्थी समस्या, संविधान का निर्माण और गणतंत्र की स्थापना—ये सभी महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। हिंदी साहित्य में विषयवस्तु तथा प्रेरक प्रभाव—दोनों रूप में—इनका किसी न किसी प्रकार से ग्रहण हुआ; इनके परिणामस्वरूप कुछ सशक्त प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आईं और कुछ प्रबल कृतियाँ उपलब्ध हुईं। इनमें से पहली तीन घटनाएँ परस्पर संबद्ध हैं और उनसे साहित्य में वामशक्तियों का प्रभाव बढ़ा; प्रगतिवाद के स्वरूपनिर्माण और प्रभावविस्तार मे इन घटनाओं का स्पष्ट योगदान था। इनकी परवर्ती शेष घटनाएँ भी एक दूसरे के साथ संश्लिष्ट हैं; वस्तुतः वे एक ही शृंखला की कड़ियाँ है। इनका प्रभाव प्राय. विपरीत हुआ अर्थात् इनसे वाम शक्तियों का विस्तार अवरुद्ध हुआ और दक्षिणमार्गीय शासक सत्ता के वर्धमान प्रभाव के कारण रचनात्मक तत्त्वों और आस्तिक प्रवृत्तियों को संवर्धन मिला। सांप्रदायिक विप्लव ने इस विश्वास को झकझोरा, परंतु अंततः उसने भी जो रचनात्मक रूप ग्रहण कर लिया उससे विद्रोह और अनास्था की भावनाओं का शीघ्र ही शमन हो गया। गांधी के बलिदान ने इस आस्था को और भी पुष्ट किया—जीवित गांधी से भी अधिक हुतात्मा गांधी ने देश का कल्याण किया; अनेक प्रकार की विकृतियाँ जो राष्ट्रीय जीवन को विषाक्त कर सकती थीं, इस आत्माहुति से शांत हो गईं और राष्ट्र एक सात्त्विक उल्लास के साथ नवनिर्माण की दिशा में अग्रसर हो गया।

२. प्रस्तुत कालखंड की उपलब्धियों का मूल्यांकन करने से पहले उसके प्रति-मानों का निर्णय करना आवश्यक है। उपलब्धि का आधार प्रवृत्तिगत हो सकता है—

अर्थात् यह कि इस अवधिविशेष में कितनी सक्षम काव्यप्रवृत्तियाँ आविर्भूत हुई, व्यक्तिगत हो सकता है—यानी यह कि इसमें कितने समर्थ कवि सामने आए और कृतिगत भी हो सकता है—अर्थात् कालजयी या महत्वपूर्ण कृतियों की संख्या के आधार पर भी इसका निर्णय किया जा सकता है।

इस कालावधि में जो काव्यप्रवृत्तियाँ मिलती हैं, उनमें से कुछ तो पूर्वप्रवृत्तियों का विस्तार हैं और कुछ नवीन हैं। राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता और छायावाद पूर्व-प्रवृत्तियाँ हैं जिनका सम्यक् विकास पहले ही हो चुका था। मूलवर्ती चेतना में परिवर्तन होने के कारण इस युग की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के स्वरूप में निश्चय ही परिशोधन हुआ। साम्यवादी विचारधारा के साथ टकराहट होने से गांधीदर्शन का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो गया और सियारामशरण गुप्त के काव्य में हमें उसकी अत्यंत निश्चित एवं सूक्ष्म गहन अभिव्यक्ति मिलती है। राष्ट्रीय भावना में जीवन के सूक्ष्मतर शाश्वत मूल्यों का समावेश हुआ; स्वतंत्रता की घोषणा के बाद आक्रोश कम हो गया और एक सात्त्विक उल्लास का स्वर उभरकर सामने आया; कल्याण कामना की परिधि राष्ट्रीय सीमांतों को पारकर विश्वमैत्री का रूप धारण करने लगी। इस मंगलभावना का अमृततत्त्व इतना प्रबल था कि साप्रदायिक विप्लव का विष इसमें विलीन हो गया। राष्ट्रीय चेतना की बहिर्मुख अभिव्यक्ति भी इस युग की कविता में होती रही और उसका नैतिक—व्यावहारिक रूप श्यामनारायण पांडेय आदि के काव्य में लोकप्रिय हुआ। छायावादी कविता का विशेष उत्कर्ष इस समय नहीं हुआ—उसकी एकमात्र उपलब्धि है: महादेवी की 'दीपशिखा'। परंतु उसका अरविंद दर्शन के प्रभाव से रूपांतर हो गया था। पंत का 'स्वर्णकाव्य' अंतश्चेतना की सुवर्णमयी (चिन्मय) अनुभूतियों का काव्य है जिसमें छायावाद की मूल चेतना अधिक सूक्ष्म परिष्कृत और निश्चित हो गई थी। उसमें भावना की रंगीनी के स्थान पर अंतश्चेतना के सूक्ष्मतर अनुभवों का प्राधान्य होने से आत्मतत्व अधिक स्पष्ट हो गया था। यह प्रवृत्ति छायावाद से भिन्न न होकर उसका रूपांतर मात्र थी—अतः इसके लिये उत्तर छायावादी काव्यप्रवृत्ति नाम ही अधिक सार्थक है। नवीन प्रवृत्तियों का आविर्भाव प्रायः उपर्युक्त दोनों काव्यधाराओं की प्रतिक्रिया में हुआ। प्रगतिवाद दर्शन और राजनीति के क्षेत्र में गांधीवाद के विरुद्ध और साहित्य के क्षेत्र में छायावाद के विरुद्ध खड़ा हुआ था। प्रयोगवाद की परिधि साहित्य तक ही सीमित रही, उसने छायावाद की अतिशय रोमानी वायवी प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह करते हुए मूर्त एवं यथार्थ सौंदर्यबोध का आग्रह किया। इन दोनों से भिन्न एक तीसरी प्रवृत्ति थी जो व्यक्ति के सुख-दुःख, अहंभाव और कुंठा की सहज अभिव्यक्ति में विश्वास करती थी—जिसे न सामाजिक यथार्थ की चिंता थी और न आधुनिक सौंदर्यबोध की जिज्ञासा।

३. इस कालावधि में लगभग ३०-३५ परिचित प्रख्यात कवियों ने हिंदी काव्य के भांडार को समृद्ध किया और १०० से ऊपर काव्य तथा काव्यसंग्रह प्रकाशित

हुए। पूर्वप्रतिष्ठित कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, पंत, निराला, महादेवी और सियारामशरण गुप्त की कतिपय अमर कृतियाँ प्रकाश में आईं—जैसे, नहुष और जयभारत—मैथिलीशरण गुप्त : ग्राम्या और स्वर्णकिरण—पंत : तुलसीदास—निराला : दीपशिखा—महादेवी : उन्मुक्त और नकुल—सियारामशरण गुप्त। यद्यपि माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन अपना स्थान पहले ही बना चुके थे, फिर भी उनके काव्यसंग्रह प्रायः इसी अवधि में प्रकाशित हुए और उनके कर्तृत्व का सच्चा रूप अभी निखर कर सामने आया; उधर उदयशंकर भट्ट, दिनकर, बच्चन, नरेंद्र, अंचल तथा प्रभात सदृश कवियों के कवित्व्यक्तित्व का निर्माण तो इस युग में ही हुआ। दिनकर की रसवंती और कुरुक्षेत्र, बच्चन के निशानिमंत्रण और सतरंगिनी, नरेंद्र की प्रभातफेरी और प्रवासी के गीत, अंचल के करील, प्रभातकृत कैकेयी आदि उत्कृष्ट काव्यों का रचनाकाल यही है। गुरुभक्तसिंह, अनूप शर्मा, मोहनलाल महतो 'वियोगी' और लक्ष्मीनारायण मिश्र के विक्रमादित्य, सिद्धार्थ, आर्यावर्त्त और कर्ण आदि महाकाव्यों का अधिक प्रचार नहीं हुआ, परंतु काव्यगुण की दृष्टि से उनका महत्त्व नगण्य नहीं है। गीतकारों में जानकीवल्लभ शास्त्री और नेपाली, उधर राष्ट्रीय कवियों में श्यामनारायण पांडेय तथा सोहन लाल द्विवेदी की लोकप्रियता का समय यही है। प्रगतिशील वृत्त के कवियों में रांगेय राघव, सुमन, नागार्जुन और प्रयोगवादी कवियों के अग्रणी अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, मुक्तिबोध तथा भारती के सफल काव्यप्रयोगों का श्रेय भी इसी युग को है।

४. इनके अतिरिक्त मूल्यांकन के कतिपय और भी गंभीर आधार हो सकते हैं, जैसे—(१) सक्रियता, (२) सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव, (३) साहित्यिक परंपरा को नई दिशा प्रदान करने की सामर्थ्य, (४) वर्तमान जीवन के यथार्थ को व्यक्त करने की क्षमता या आधुनिक भावबोध, (५) रसात्मक शक्ति, (६) कलात्मक उपलब्धि और (७) समाकलित प्रभाव। सक्रियता का मापक है रचनापरिमाण और प्रचार या चर्चा। काव्य की जिस प्रवृत्ति के अंतर्गत अधिकाधिक रचना हो रही हो और साहित्यिक वृत्तों में जिसकी अधिक चर्चा हो, उसी को अधिक महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। अधिकाधिक रचना की एक व्यंजना यह है कि प्रवृत्तिविशेष अपने युग की चेतना का प्रतिनिधित्व करती है और अधिक चर्चा का अभिप्राय यह है कि काव्य के जिज्ञासु इसकी ओर अधिक आकृष्ट है। इस दृष्टि से आरंभ के कुछ वर्षों में प्रगतिवाद का सबसे अधिक जोर था—प्रगति की भावना—सामाजिक यथार्थदर्शन से प्रेरित रचनाएँ विपुल परिमाण में हुईं, बड़े से बड़े कवियों—पंत और निराला—ने उसमें स्वर मिलाया, पत्रपत्रिकाओं में, गोष्ठीसंमेलनों में उसकी चर्चा बड़े ही जोरशोर के साथ होती थी—कभी कभी लगता था मानों दूसरों के लिये उस तूफान में खड़े रहना मुश्किल हो रहा हो। इतिहास की दृष्टि से इसका भी अपना महत्त्व था; यह आंदोलन इस बात का प्रमाण था कि साहित्य में एक प्रबल चेतना का उदय हो रहा है और

काव्य की धारा में एक नया आयाम जुड़ रहा है, जीवन और काव्य के कुछ नए मूल्य उभर कर सामने आ रहे हैं। परंतु सन् १९४५ के आसपास इसमें विघटन आरंभ हो गया; पंत ने 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' में भौतिकवाद का खंडन किया जिस पर उग्र आलोचक बौखला उठे—प्रगतिवाद के अपने शिविर में फूट पड़ गई, सिद्धांतों का आदर्श व्यक्तिगत आकांक्षाओं के यथार्थ से टकराकर बिखरने लगा। स्वतंत्रता के साथ सत्ता दक्षिणपक्ष के हाथ में आ गई; कांग्रेस और कांग्रेस में भी गांधीनीति के अनुयायी राष्ट्रीय निर्माण के सूत्रधार बने। प्रगतिशील दल में जिनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय और रचनात्मक था, वे नवनिर्माण में योगदान के लिये अग्रसर हुए, जो ऐसा नही कर सके वे भी आलोचना और व्यंग्य से आगे कोई संघटित या प्रभावी विरोध नही कर सके। इस प्रकार प्रगतिवाद की शक्ति सन् १९४७-४८ तक प्रायः निःशेष हो गई। स्वतंत्रता के साथ नई स्फूर्ति और नए उल्लास का उदय हुआ; राष्ट्रीयता का स्वर उदात्त और धरातल व्यापक बना तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा मे नई चेतना और नया वेग आया। स्वतंत्रता के प्रथम चरण मे यही प्रवृत्ति सर्वाधिक प्रबल बन गई; पंत, सियारामशरण गुप्त, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर आदि ने इस नवजागरण को अनेक सक्षम रचनाओं में अभिव्यक्ति प्रदान की। इसी समय एक तीसरी प्रवृत्ति भी उभरने लग गई थी जिसको आलोचकों ने प्रयोगवाद नाम देना शुरू कर दिया था यद्यपि इस वर्ग के कवि उसे स्वीकार नही कर रहे थे। प्रगतिवाद की शक्ति क्षीण होने से क्रमश. इस प्रवृत्ति में अधिक बल आता जा रहा था—और वे कवि, जो परंपरा के विरोधी होने पर भी प्रगतिकामी काव्यधारा के मनगढ़ समाजवाद से सर्वथा असंतुष्ट थे, साहित्य की परिधि के भीतर ही नवीन सौंदर्यबोध का अन्वेषण कर रहे थे। अज्ञेयजी इस वर्ग का नेतृत्व करने लगे थे। सन् १९४३ मे 'तारसप्तक' के प्रकाशन के कई वर्ष बाद उन्होंने 'दूसरा सप्तक' का संपादन किया और उनके अपने संपादकीय तथा अन्य नए कवियों के वक्तव्यों के माध्यम से एक नई काव्य-चेतना के उदय की भूमिका तैयार होने लगी थी। इसी बीच में परिमल वृत्त के धर्मवीर भारती आदि कतिपय लेखकों ने 'आलोचना' पत्रिका का संपादनभार सम्हाला और काव्य के नए मूल्यों का संधान और प्रसारण नियमित रूप से होने लगा। इस प्रकार नवलेखन के क्षेत्र में हलचल प्रारंभ हो गई थी, यद्यपि शक्ति का संचार उसमें काफी बाद में हुआ।

मूल्यांकन का दूसरा प्रतिमान हो सकता है सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव—जीवनमूल्यों और जनरुचि पर प्रभाव। इस दृष्टि से सबसे अधिक और स्वस्थ प्रभाव पड़ा राष्ट्रीय सांस्कृति कविता का। जीवनावस्था को नई शक्ति और नया रूप मिला, चेतना का परिष्कार हुआ और दृष्टिकोण में स्वास्थ्य तथा औदार्य का समावेश हुआ। यह ठीक है कि ऐसा वातावरण अधिक समय तक नहीं रहा परंतु अपनी सीमित परिधि में भी इसके प्रभाव का निषेध नही किया जा सकता। उधर, प्रगतिवाद ने

भी, अपनी संकीर्णताओं के बावजूद, आस्था को पुष्ट किया, जीवन और जगत् के प्रति विश्वास को दृढ़ किया तथा सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण योगदान किया। इसमें संदेह नहीं कि उसके प्रभाव से स्थूल उपयोगितावाद और अनगढ़ सामाजिक भावना को प्रोत्साहन मिला और जीवन के सूक्ष्मतर सात्विक मूल्यों की उपेक्षा हुई, फिर भी अपने ढंग से प्रगतिवाद ने जीवनचेतना को शक्ति प्रदान की : संस्कार वह नहीं दे पाया, पर स्वास्थ्य उसने अवश्य दिया। प्रयोगवाद की कविता न स्वास्थ्य दे सकी और न संस्कार : संस्कार वह अवश्य दे सकती थी, परंतु नूतनता और वैचित्र्य की उत्कट लालसा के कारण यह भी संभव नहीं हुआ।

साहित्यिक परंपरा को नई दिशा प्रदान करने की क्षमता का भी अपना महत्व है और किसी प्रवृत्ति, कवि अथवा कृति के मूल्य का आकलन इसके आधार पर भी किया जा सकता है। इस दृष्टि से कथ्य और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और वैयक्तिक गीतकाव्य अपने अपने दावे पेश कर सकते हैं। इन्होंने अपने अपने ढंग से कल्पनात्मक अनुभूति के स्थान पर यथार्थ अनुभूति पर बल दिया और रंगीन अभिव्यंजना के स्थान पर व्यावहारिक भाषा तथा प्रयोगगत कथनभंगिमाओं की सार्थकता को रेखांकित किया। सौंदर्यबोध के नए रूप, कलाभाषा के नए मुहावरे और छंद के नूतन विधान सामने आए। नए काव्यमूल्यों की शोध और परंपरागत काव्यमूल्यों के संशोधन के अत्यंत सचेष्ट प्रयत्न किए गए।

मूल्यांकन का एक आधार हो सकता है वर्तमान जीवन के यथार्थ की सही अभिव्यक्ति—यानी आधुनिक भावबोध। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और जीवन का सबसे प्रमुख रूप है वर्तमान जीवन; उसकी मूल चेतना को पहचान कर सही और यथार्थ रीति से शब्द अर्थ के माध्यम से प्रतिफलित करना ही साहित्य का लक्ष्य है—यही आधुनिक भावबोध है और यही साहित्य की मूल्यवत्ता का सही निकष है। इस आधार पर एक ओर प्रगतिवाद ने और दूसरी ओर प्रायः उसके विपरीत रूप में नए कवियों ने आधुनिक यथार्थबोध का सच्चा प्रतिनिधित्व करने का दावा किया। उधर, गीतकार भी यही दावा कर रहा था कि छायावाद के स्वाप्निक हर्षविषाद और राष्ट्रीय कवियों की आदर्श कल्पनाओं के स्थान पर आज के व्यक्तिजीवन के हर्षविषाद की सहज अभिव्यक्ति उसी के गीतों में हो रही है। ये तीनों दावे एक सीमा के भीतर अपने अपने ढंग से सही थे। प्रगतिवाद के कुछ कवियों ने वर्गदृष्टि से अपने युग के सामाजिक यथार्थ को अंकित करने का प्रयत्न किया था, गीतकार व्यक्ति मन की आशा निराशा को व्यक्त कर रहा था और नया कवि एक विशेष बुद्धिजीवी वर्ग की बौद्धिक चेतना को काव्य में प्रतिफलित करने का प्रयास कर रहा था।

इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रतिमान हैं जिनका काव्य और कला के साथ अंतरंग संबंध है और वे हैं—रसात्मक शक्ति तथा कलात्मक उपलब्धि। काव्यमर्मज्ञों के एक प्रमुख वर्ग का मत है कि अन्य प्रतिमान अप्रासंगिक हैं या अधिक से अधिक आनुषंगिक

माने जा सकते हैं। काव्य के मूल्यांकन का आधार उसकी रसात्मक शक्ति और कलात्मक सिद्धि ही हो सकते हैं और ये दोनों भी तत्वतः भिन्न नहीं हैं—काव्य में रसात्मक शक्ति का संचार कलात्मक सिद्धि के बिना संभव नहीं है और कलात्मक सिद्धि रसात्मक अभिव्यक्ति की सफलता का ही मूर्त रूप है। जिस काव्यप्रवृत्ति अथवा काव्य में जितनी अधिक रागात्मक समृद्धि होगी अर्थात् उसमें निहित अनुभूतियाँ जितनी अधिक सूक्ष्म, कोमल, प्रबल और व्यापक, भव्य और उदात्त होंगी, साथ ही उनकी अभिव्यक्ति जितनी अधिक परिपूर्ण होगी उतना ही अधिक उसका मूल्य होगा। व्यक्तिपरक दृष्टि से इसका अर्थ यह होगा कि जिस कविता में सहृदय अर्थात् संस्कारी पाठक की संवेदना का परिष्कार और उन्नयन करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उतना ही अधिक उसका मूल्य होगा। इस निकष पर प्रगतिवाद का महत्व अधिक नहीं माना जा सकता; इन दोनों प्रवृत्तियों के अंतर्गत ऐसी रचना अल्प परिमाण में ही उपलब्ध होती हैं और जो हैं भी, उनमे उक्त गुणों की सिद्धि इतर तत्वों के समावेश के कारण ही मानी जा सकती है। 'ग्राम्या' या उधर 'हरी घास पर क्षण भर' तथा सप्तकों की कविताओं में जो रसात्मकता तथा कलापरिष्कृति मिलती है उसका श्रेय प्रगतिचेतना अथवा नवीन काव्यचेतना को नहीं, वरन् इन कवियों के छायावादी संस्कारों को ही दिया जा सकता है। इस दृष्टि से सर्वाधिक मूल्यवान् काव्यसर्जना राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति, छायावाद, उत्तर छायावाद और वैयक्तिक गीत कविता के अंतर्गत ही हुई : 'जयभारत' के युद्ध, हिडिंबा, स्वर्गारोहण आदि नवीन सर्ग, तुलसीदास, 'कुरुक्षेत्र', 'उन्मुक्त', माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा, नवीन और दिनकर आदि की अनेक मुक्तक कविताएँ, 'युगांत', 'स्वर्णकिरण', 'दीपशिखा' के कलारमणीय प्रगीत, बच्चन, गिरिजाकुमार माथुर, नरेंद्र शर्मा, अंचल, सुमन आदि के सहज आत्मानुभूति से प्रेरित गीत अपने रागात्मक प्रभाव के कारण निश्चय ही इस कालखंड की अतिशय मूल्यवान् थाती हैं। अभिव्यंजना के वैभव की दृष्टि से पंत की सौंदर्यचेतना अधिक समृद्ध हुई; परवर्ती कवियों में दिनकर और गिरिजाकुमार माथुर ने नए उपकरणों और नई भंगिमाओं से हिंदी कविता की कलात्मक क्षमता का विकास किया।

५. इस प्रकार मूल्यांकन के विविध प्रतिमानों के अनुसार आलोच्य कालावधि की उपलब्धियों का बहुविध मूल्यांकन किया जा सकता है। अंत में, यह प्रश्न भी उठ सकता है कि इन प्रतिमानों में सबसे अधिक प्रभावी या सार्थक प्रतिमान कौन सा है। हमारा उत्तर यह है कि यों तो इनमें सभी अपने अपने ढंग से सार्थक है, परंतु इन सबकी मूल्यवत्ता समान नहीं है। उदाहरण के लिये सक्रियता का प्रतिमान इस अर्थ में तो सार्थक है कि वह साहित्यिक जागृति का लक्षण है, परंतु परिमाण अपने आप में गुण का स्थान नहीं ले सकता और चर्चा और प्रचार भी काफी हद तक पत्रकारिता के अंग हो सकते हैं। इस युग में ही नहीं प्रत्येक युग में कोई न कोई आंदोलन होता

रहा है, पर मूल्य वास्तव में आंदोलन या हलचल का न होकर उसके स्थिर परिणामों का होता है। द्विवेदी युग में जागरणसुधार का आंदोलन बड़ा प्रबल था, पर उसकी स्थायी उपलब्धि 'प्रियप्रवास' आदि एकाध काव्य, या काव्यभाषा के रूप में खड़ी बोली के विकासप्रयत्नों से आगे नहीं आँकी जा सकती। छायावाद के आंदोलन का महत्व उसकी विपुल कलात्मक सिद्धियों में ही निहित है। इस प्रकार सक्रियता का मूल्य केवल आंशिक ही है। सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव वस्तुतः साहित्येतर मूल्य है—वह नगण्य नहीं है, परंतु उसका महत्त्व प्राथमिक नहीं माना जा सकता। यह काव्य का सामाजिक दायित्व है, मौलिक दायित्व नहीं। इसका मूल्य अप्रत्यक्ष रूप में है, अर्थात् यह काव्यकथ्य की शिवता का द्योतक है। इसी प्रकार आधुनिकता या वर्तमान का यथार्थबोध भी प्राथमिक मूल्य नहीं है—वह इस बात का प्रमाण अवश्य है कि कवि की चेतना अपने परिवेश के प्रति जागरूक है, परंतु यह कविव्यक्तित्व के अनेक गुणों में से केवल एक गुण है—इसके अभाव में भी अन्य अधिक मौलिक गुणों के बल पर कविकर्म सफल हो सकता है और इसके बावजूद अन्य गुणों के अभाव में काव्य असफल हो सकता है। 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता' से महत्तर काव्य है, इसका निषेध कौन कर सकता है? अब रह जाते हैं दो या तीन प्रतिमान : साहित्य की परंपरा को नई दिशा प्रदान करने की सामर्थ्य और रसात्मकबोध तथा कलात्मक सिद्धि। इनका काव्य के साथ अंतरंग संबंध है, परंतु इनमें भी पहला काव्य के अंतरंग या साहित्यिक महत्त्व की अपेक्षा ऐतिहासिक महत्त्व पर ही बल देता है। किसी प्रवृत्ति या कवि अथवा कृति का ऐतिहासिक महत्त्व अपने आप में बड़ी सिद्धि है। भारतेंदु हरिश्चंद्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी का गौरव अक्षय है; परंतु जब हमारे सामने उनकी कृतियों के निर्वाचन का प्रश्न आता है तो मुश्किल पड़ती है : ऐतिहासिक विकासक्रम से आगे काल के अनंत प्रवाह में उनकी कौन सी रचना स्थिर रहेगी—कालजयी प्रतिमानों के आधार पर विश्वसाहित्य के अंतर्गत क्या उनका कोई नाटक अथवा निबंध संकलन ठहर सकता है? 'युगवाणी' ने हिंदी कविता को नया मोड़ दिया, पर 'स्वर्णकिरण' का ही साहित्यिक मूल्य अधिक है। अतः ऐतिहासिक महत्त्व भी अपने आप में पूर्णतः प्रामाणिक नहीं है। अब रह जाते हैं रसात्मक बोध और कलात्मक सिद्धि—अर्थात् रागात्मक समृद्धि और उसका व्यंजक शब्दविन्यास। इस प्रतिमान के विषय में भी मतभेद है। इसपर एक आक्षेप यह है कि रसात्मक बोध किसका? इसका उत्तर है—संस्कृत पाठक का। दूसरा आक्षेप यह है कि रागात्मक समृद्धि पर बल देने से विचारगरिमा की उपेक्षा हो जाती है : पर इसका भी उत्तर स्पष्ट है और वह यह कि विचारगरिमा रागात्मक अनुभूति का अंग बनकर रसात्मक बोध को समृद्ध करती है; स्वतंत्र रूप में वह शास्त्र का विषय है काव्य का नहीं। जब हम काव्य के अंतरंग मूल्य की बात करते हैं तो हमारे सामने यह अंतिम प्रतिमान ही रहता है, अतः काव्य के संदर्भ में यह निश्चय ही सबसे अधिक प्रामाणिक है। इसी के आधार पर

काव्य के स्थायी मूल्य का आकलन किया जा सकता है—कालजयी कृतित्व का निर्णायक यही है और इस दृष्टि से सभी प्रकार के विरोधी प्रचार के बावजूद यह मानना होगा कि स्थायी उपलब्धियाँ उत्तर छायावादी तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधाराओं के अंतर्गत ही हुई।

६. पंद्रह वर्षों के इस सीमित कालखंड में, गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से, हिंदी काव्य का विकास हुआ। भारत की सांस्कृतिक गरिमा के व्यंजक अनेक प्रबंध-काव्य प्रकाशित हुए; स्वतंत्र राष्ट्र के प्राणों की सात्विक ऊर्जा और उल्लास से दीप्त शत शत प्रगीतों की सृष्टि हुई; एक ओर दिव्य जीवन की मधुर कोमल अनुभूतियों के कल्पनारमणीय चित्र अंकित किए गए और दूसरी ओर व्यक्तिजीवन के सुखदुःख की हार्दिक अभिव्यक्ति के मार्मिक गीत लिखे गए; सामुदायिक चेतना के विकासप्रयत्नों के फलस्वरूप काव्य में स्वस्थ सामाजिक मूल्यों को फिर से बल मिला; काव्यशिल्प की समृद्धि और विस्तार हुआ—एक ओर उसके रम्याद्भुत उपकरणों की वृद्धि और शब्द अर्थ के आंतरिक सौंदर्य की विवृति हुई और दूसरी ओर जीवंत प्रयोगों के संघात से उसमें नवीन प्राणशक्ति का संचार हुआ; पूर्व युग की काव्यचेतना का संशोधन और परिष्कार और नवीन काव्यदृष्टियों का उन्मेष हुआ। समग्र रूप में, अपने पूर्ववर्ती युग की तुलना में इस कालखंड का महत्त्व निश्चय ही कम है, परंतु आगामी चरण की उपलब्धि (?) को देखते हुए यह निश्चय ही गौरव का अधिकारी है।

सर्वेक्षण

इस अवधि के उल्लेखनीय कवियों में से कुछ ऐसे हैं जो १९३८ तक प्रतिष्ठित हो चुके थे, जैसे—मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, माखनलाल चतुर्वेदी, सुमित्रानंदन पंत, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सियारामशरण गुप्त और महादेवी वर्मा। शेष कवि १९३८ के बाद प्रतिष्ठित हुए। वे हैं—हरिवंशराय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, नरेंद्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल, उदयशंकर भट्ट, अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन, शिवमंगल सिंह सुमन, जानकीवल्लभ शास्त्री, शंभूनाथ सिंह, गोपाल सिंह नेपाली, गुरुभक्त सिंह, श्यामनारायण पांडेय, सोहनलाल द्विवेदी, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', आरसी प्रसाद सिंह, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर, भारतभूषण अग्रवाल और धर्मवीर भारती।

इस अवधि में प्रकाशित काव्य

मैथिलीशरण गुप्त अपने लेखनकार्य में निरंतर सक्रिय रहे। १९३८ के बाद उनकी जो प्रमुख काव्यकृतियाँ प्रकाश में आईं, वे हैं—'नहुष', 'कुणाल गीत', 'जय भारत', विष्णुप्रिया और 'अजित।' ये सभी प्रबंधकाव्य हैं। 'नहुष' (१९४०) में राजा नहुष की कथा प्रस्तुत की गई है। 'कुणालगीत' (१९४१) अशोक के पुत्र कुणाल के

जीवन से संबद्ध काव्य है। 'प्रजित' (१९४६) कारावास की स्मृति में लिखा गया काव्य है जिसमें कारावास का वातावरण ध्वनित है। कवि के शब्दों में इसमें वर्णित अनेक घटनाएँ सच्ची हैं। 'जयभारत' (१९५२) में महाभारत की संपूर्ण कथा का समावेश किया गया है। कवि ने इस प्रबंधकाव्य में महाभारत की कथाओं को अपने ढंग से स्फीति और संक्षिप्ति देकर अभिप्रेत प्रभाव पैदा करने का प्रयत्न किया है। 'विष्णुप्रिया' (सं० २०१४) में चैतन्य महाप्रभु व उनकी गृहिणी विष्णुप्रिया का चरित्र अंकित किया गया है।

माखनलाल चतुर्वेदी की कई प्रमुख काव्यपुस्तकें प्रकाशित हुईं। ये उनकी फुटकल कविताओं के संग्रह हैं। 'हिमकिरीटिनी' (१९४१) में ४४ कविताएँ संगृहीत हैं। इन कविताओं के स्वर दो प्रकार के हैं। कुछ कविताओं में आध्यात्मिक रहस्यवाद की गूँज है, कुछ में राष्ट्रीय चेतना की पुकार। 'हिमतरंगिनी' (१९४८) में भी मूलतः काव्यस्वर वही है जो 'हिमकिरीटिनी में है। 'हिमतरंगिनी' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। 'माता' (१९५१) में ५६ कविताएँ संगृहीत हैं। इसका प्रधान स्वर राष्ट्रवादी है। इसमें ओज, त्याग, बलिदान से भरा हुआ यौवन मुखर है। 'युगचरण' (१९५६) 'समर्पण' (१९५६)। 'वेणु लो गूँजे धरा' (१९६०) संग्रह में छोटी छोटी (केवल एक लंबी कविता को छोड़कर) ७२ मुक्तक रचनाएँ हैं। रचनाएँ अनुभूतिपरक एवं वस्तुपरक—दोनों प्रकार की हैं। इन कविताओं में कवि की आत्मान्वेषण, आस्तिकता, भक्ति, प्रेम और देशप्रेम आदि की भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। कवि की भाषा शैली मौलिक एवं नवीन है। इस कृति में भी वही आनंद और रस उपलब्ध है, जो अन्य कृतियों में सहज रूप में मिलता है। कृति महत्वपूर्ण है। 'मरणज्वार' (१९६३) और 'बिजुरी काजर आँज रही' (१९६४) धूम्रवलय कवि की अत्यधिक महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। विद्रोही कवि माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य में शेष और अशेष का सुंदर समन्वय है। 'चले हम सूर्य ने हमको पुकारा' के गायक ३० जनवरी सन् १९६८ ई० को दिवंगत हो चुके हैं।

नवीन के काव्य में तीन स्वर लक्षित होते हैं—राष्ट्रवाद का स्वर, रहस्यवादी स्वर और प्रेम तथा सौंदर्य एवं तज्जन्य थकान और उल्लास का स्वर। उनकी भिन्न भिन्न कृतियों में वे ही स्वर भिन्न भिन्न अनुपात में दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार की कविताओं के तीन संग्रह–'रश्मिरेख', 'अपलक' तथा 'क्वासि'–इस बीच प्रकाशित हुए तथा विनोबास्तवन नाम से एक चौथी कृति भी सामने आई। 'रश्मिरेख' (१९५१) कवि के ५७ गीतों संग्रह हैं। इसमें मुख्यतः मानवप्रेम और सौंदर्य तथा प्रकृतिछवि की अभिव्यक्ति है। 'अपलक' (१९५१) में ५२ कविताएँ संगृहीत हैं जिनमें मुख्यतः प्रेम और थकान का स्वर है। 'क्वासि' (१९५२) की कविाएँ भी इसी क्रम की हैं। इन दोनों संग्रहों में कुछ राष्ट्रीय कविताओं का भी समावेश है। 'विनोबास्तवन'

(१९५३) में विनोबा के सिद्धांतों और चरित्र के चित्रण के माध्यम से गांधीवादी आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई है। अपने 'उर्मिला' (१९५७) नामक महत्वपूर्ण प्रबंध काव्य में कवि ने उर्मिला के चरित्र का सफल अंकन किया है। नवीनजी का 'प्राणार्पण' नामक खंडकाव्य १९६२ में प्रकाशित हुआ। 'हम विषपायी जनम के' नामक स्थायी महत्त्व की काव्यकृति कवि की मृत्यु के उपरांत प्रकाशित हुई।

इस बीच **सियारामशरण गुप्त** की पाँच कृतियाँ सामने आईं। 'उन्मुक्त' (१९४०) काल्पनिक घटना पर आधारित खंडकाव्य है जिसमें युद्ध का प्रश्न उठाया गया है। 'दैनिकी' (१९४२) फुटकल कविताओं का संग्रह है जिसमें आधुनिक जीवन की अभावग्रसित अवस्था चित्रित है, साथ ही गांधीवादी दृष्टि से एक ऐसे समाज की रचना की ओर संकेत किया गया है जिसमें मानवता का सौंदर्य विकसित हो सके। 'नकुल' (१९४६) प्रबंधकाव्य है। इसका आधार महाभारत का वनपर्व है किंतु रचयिता ने मूलवस्तु का उपयोग स्वतंत्रता से किया है। 'नोआखाली' (१९४६) में गांधीजी की नोआखाली यात्रा के माध्यम से हिंदूमुसलिम कलह तथा उसके मानवतावादी समाधान का चित्रण है। 'जयहिंद' (१९४८) में कवि की राष्ट्रीय कविताएँ है। 'आत्मोत्सर्ग (१९४७) हिंदूमुसलिम एकता के लिये प्रयास करनेवाले स्वर्गीय श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी के आत्मोत्सर्ग से संबद्ध खंडकाव्य है।

निरालाजी इस अवधि मे छायावादी काव्यपरंपरा मे उच्चकोटि का सृजन तो करते ही रहे, साथ ही साथ लोकजीवन के प्रति अधिकाधिक उन्मुख होकर 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा' 'बेला' 'नये पत्ते' जैसी कवितापुस्तकें भी लिखी। 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते', 'अर्चना' और 'आराधना' इस बीच की इनकी ये ७ कृतियाँ है। 'तुलसीदास' (१९३८) एक प्रबंधकाव्य है। कवि तुलसीदास इसके नायक हैं। इसमे तुलसीदास संस्कृतिनेता के रूप में प्रस्तुत किए गए है। वे भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक दासता से पीड़ित होकर देश के उद्धार का संकल्प लेते है। कुकुरमुत्ता (१९४२) रूपक काव्य है जिसमे गुलाब और कुकुरमुत्ता के माध्यम से शोषक अभिजात वर्ग और स्वावलंबी, श्रमशील तथा उपेक्षित जनसामान्य के जीवनसंबंधों को दिखाया गया है। 'कुकुरमुत्ता' में कुकुरमुत्ता के अतिरिक्त 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम संगीत', 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग्ज' तथा 'स्फटिक शिला' जैसी अन्य छह प्रगतिशील कविताएँ संगृहीत है। बाद में अन्य कविताए निकाल दी गई। 'अणिमा' (१९४३) में ४५ गीत और गीतेतर कविताएँ हैं इन कविताओं मे विषय का वैविध्य है। एक ओर स्वानुभूतिपरक गीत हैं तो दूसरी ओर विजयलक्ष्मी पंडित, प्रेमानंद जी, संत रविदास जी, बुद्ध आदि विविध क्षेत्रों के व्यक्तियों पर कविताएँ हैं। 'कुकुरमुत्ता' की कविताओं में लोकसंपृक्ति का जो स्वर दिखाई पड़ा वह क्रमशः उभरता ही गया और वह अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना सभी में भिन्न भिन्न रूपों मे और भिन्न भिन्न अनुपात में लक्षित होता है। 'बेला' (१९४३)

में १११ कविताएँ हैं, जिनमें गीत भी हैं और गीतेतर कविताएँ भी। इनमें लोकछंद, लोकभाषा और सामाजिक भावभूमि की ओर विशेष उन्मुखता दिखाई पड़ती है। 'नये पत्ते' (१९४६) की २८ कविताओं मे कुछ वे कविताएँ भी हैं जो कुकुरमुत्ता में आ चुकी थीं। कुछ कविताएँ लोककथात्मक तथा संवादात्मक शैली में हैं। 'अर्चना' (१९५०) में १२८ गीत हैं। ये गीत कई तरह के है। इनमें प्रेम की संवेदना भी है और प्रार्थनापरकता भी। अन्य प्रकार की मानवीय संवेदनाएँ भी इसमें अभिव्यक्त हुई हैं। 'आराधना' (१९५३) में ९९ गीत हैं। इनमें भी अर्चना के गीतों का स्वरवैविध्य है। जीवन के लौकिक संवेदनों के चित्रण के साथ ही साथ अलौकिक सत्ताओं के प्रति कवि की समर्पणभावना का भी अंकन है। 'गीतगुंज' में सन् १९५३ से लेकर सन् १९५९ तक के गीत हैं। 'नेत्र' तथा 'पथ' नामक रचनाएँ क्रमशः वीणा और समन्वय में बहुत समय पहले छपी थी और इन रचनाओं को भी इस कृति मे स्थान मिला है। इस पुस्तक के परिशिष्ट मे छह कविताएँ हैं। इनमें सबसे पहली कविता 'पथ' है। दूसरी और तीसरी कविताएँ स्वामी विवेकानंद की कविताओं के अनुवाद है। चौथी कविता मे 'बापू तुम मुर्गी खाते यदि' कहकर गांधीजी पर व्यंग्य किया गया है। पाँचवी कविता पंतजी द्वारा ब्रजभाषा मे निराला को लिखा गया पत्र है। अंतिम कविता बँगला भाषा मे निराला द्वारा पंत को लिखा गया पत्रोत्तर है। अंतिम कविता इस तथ्य का प्रमाण है कि निराला में बँगला भाषा में भी काव्यसर्जन की शक्ति थी। 'गीतगुंज' मे प्रथम गीत में शारदाजी की स्तुति करते हुए उन्हें नए रूप में कवि ने देखा है। अधिकांश गीत प्रकृति और ऋतु संबंधी हैं, कुछ गीत शृंगारपरक भी है। एक अन्य गीत में कवि मृत्यु के मधुर रूप का दर्शन करता है। समग्रतः इन गीतों में कवि के हृदय का उल्लास सहज रूप से व्यक्त हुआ है। 'सांध्यकाकली' निराला की अंतिम अप्रकाशित कविताओं का संग्रह है, जो कि महाकवि की मृत्यु के उपरात जनवरी सन् १९६९ ई० मे प्रकाशित हुआ है। 'सांध्यकाकली' में 'गीतगुंज' की, परिशिष्ट को छोड़कर, प्रायः अधिकांश रचनाएँ भी सम्मिलित कर ली गई हैं। कवि अपनी इस अंतिम कृति में मृत्यु की नीली रेखा का गहरा अनुभव करता है और जानता है कि उसके पार्थिव शरीर का अंत अवश्यंभावी है। इसी लिये कवि अनेक गीतों मे अलौकिक शक्ति के प्रति समर्पित है। कुछ रचनाएँ अन्य विषयों से भी संबद्ध हैं। इस कृति में विषयगत वैविध्य एवं भाषागत नए प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण कहे जायँगे।

महाकवि निराला का प्रभाव विषय एवं शैली के क्षेत्र में अनेक नए कवियों और गीतकारों पर पड़ा है। वास्तव मे उनका प्रभाव लगभग समस्त भारतीय साहित्य पर पड़ा है। निराला का देहावसान १५ अक्तूबर सन् १९६१ ई० को हुआ।

१९३८ के बाद **पंतजी** की कृतियाँ क्रमशः प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) और अरविंदवादी दर्शन से प्रभावित होकर सर्जित हुई। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' प्रगतिवादी

काव्यकृतियाँ हैं। युगवाणी (१९३९) में कवि की वे कविताएँ संगृहीत हैं जिनमें कवि ने मार्क्सवादी दृष्टि से नए युग की वास्तविकताओं को देखा है और वाणी दी है। इस अवधि में इनकी लगभग ८ काव्यकृतियाँ सामने आईं। 'ग्राम्या' (१९४०) में कवि मार्क्सवादी दृष्टि लेकर गाँव के जीवन की ओर गया है और उसके विविध पक्षों को बड़ी सहानुभूति से देखा है। 'स्वर्णकिरण' (१९४७) में कवि पुनः नया मोड़ लेता है वह भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय करना चाहता है। उसे यह समन्वय अरविंदवाद में लक्षित होता है। 'स्वर्णकिरण' में ऐसी कविताओं के दर्शन होते हैं। 'स्वर्णधूलि' (१९४७) की कविताएँ भी इसी क्रम की हैं। 'शिल्पी' (१९५२) में कवि के तीन काव्यरूपक संगृहीत हैं। इनमें कवि के शब्दों में वर्तमान विश्वसंघर्ष को वाणी देने के साथ ही नवीन जीवननिर्माण की दिशा की ओर इंगित करने का प्रयत्न किया गया है। अतिमा (१९५५), सौवर्ण (१९५७), वाणी (१९५८), चिदंबरा (१९५८), रश्मिबंध (१९५९), कला और बूढ़ा चाँद (१९५९), अभिषेकिता (१९६०), हरी बाँसुरी सुनहरी टेर (१९६३), लोकायतन, किरणवीणा (१९६७), पौ फटने से पहले (१९६७) नामक कृतियाँ हिंदी काव्य के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान की अधिकारिणी कही जा सकती हैं। 'चिदंबरा' पर पंतजी को ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ है। पंतजी के काव्य में कई महत्वपूर्ण मोड़ आए हैं। ये अब भी सर्जनरत हैं।

इस बीच **महादेवीजी** की केवल एक काव्यकृति आई—'दीपशिखा'। 'दीपशिखा' (१९४२) मे ५१ गीत संगृहीत हैं तथा आरंभ में कवयित्री द्वारा लिखित ६५ पृष्ठों की भूमिका है जिसमें काव्य की सैद्धांतिक विवेचना है। इन गीतों में कवयित्री के मूल स्वर विषाद के गहरे रंग के भीतर से कहीं कहीं उल्लास और आशा का हलका हलका रंग भी उभरा है। क्षणदा (१९५६), संधिनी (१९६४) भी कवयित्री की महत्वपूर्ण कृतियाँ है। 'सप्तपर्णा' संस्कृत की रचनाओं का अनुवाद है।

'दिनकर' राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना और व्यक्तिगत सौंदर्यप्रेममूलक संवेदना दोनों के सक्षम कवि है अतः इनके काव्यों में संवेदना और चिंतन दोनों का सुंदर संयोग दिखाई पड़ता है। इस बीच इनकी पाँच कृतियाँ आईं। 'हुंकार' (१९३८) २९ कविताओं का संग्रह है। इन कविताओं में राष्ट्र की ओजमयी चेतना की बड़ी सहज अभिव्यक्ति है। 'द्वंद्वगीत' (१९३९) में ११५ रुबाइयाँ संगृहीत हैं। ये रुबाइयाँ स्वतंत्र है किंतु कहीं कहीं एक दूसरे से जुड़ी हुई भी हैं। इनमें कवि ने जगत् जीवन संबंधी कुछ नए विचार व्यक्त किए है जो सर्वत्र उसके संवेदन से स्पंदित हैं। कहीं कहीं द्वंद्वात्मक जीवन सत्यों की भी अभिव्यक्ति है। 'रसवंती' (१९४०) में २९ कविताएँ संगृहीत हैं। अधिकांश कविताएँ गीत रूप में हैं। बहुत सी कविताएँ प्रेम-सौंदर्यमूलक है। प्रकृति, देशप्रेम और कुछ अन्य विषयों से भी संबंधित कविताएँ हैं। 'कुरुक्षेत्र' (१९४६) विचारसूत्रों से संबद्ध एक प्रबंधकाव्य कहा जा सकता है।

इसमें महाभारत की एक छोटी सी कथा अपने ढंग से ग्रहण की गई है। महाभारत के युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर युद्ध में होनेवाले नरसंहार के कारण बहुत दुखी होते हैं, आत्मग्लानि से तपते हैं और पितामह के पास जाते हैं। पितामह युद्ध की अनिवार्यता की परिस्थितियों और कारणों पर प्रकाश डालते हुए युधिष्ठिर को निर्दोष और अन्याय के प्रतिकार के लिये युद्ध को अनिवार्य बताते हैं। धर्मराज और पितामह के संवादों के माध्यम से कवि ने आज के विश्व में व्याप्त युद्ध और शांति के प्रश्न पर विचार किया है। 'इतिहास के आँसू' (१९५१) में कवि की दस ऐतिहासिक कविताएँ संगृहीत हैं। इसमें कुछ कविताएँ नई हैं, अधिकांश अन्य संग्रहों में संगृहीत हो चुकी हैं। 'रश्मिरथी' कर्ण के जीवन पर आधारित प्रबंधकाव्य है। 'नीलकुसुम' (१९५४), 'चक्रवाल' (१९५६), 'उर्वशी' प्रेम तथा काम के केंद्रीय बिंदु पर विकसित, चिंतन प्रधान, विश्लेषणात्मक काव्य है। पुरूरवा एवं उर्वशी सनातन नर नारी के प्रतीक हैं। 'उर्वशी' का हिंदी काव्यधारा में ऐतिहासिक महत्व है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' (१९६३), कोयला व कवित्व, मृत्तितिल्का (१९६४) का भी कवि की कृतियों में, पाकिस्तान के युद्ध के उपरांत, विशेष महत्व हो गया है। युगचारण दिनकरजी अब भी सर्जन के पथपर अग्रसर हैं। 'सीपी और शंख' तथा 'आत्मा की आँखें' विदेशी कविताओं की प्रेरणा से किए गए अनुवाद हैं। दिनकरजी की कुछ कविताओं का रूसी भाषा में भी अनुवाद हुआ है।

उदयशंकर भट्ट दृष्टि और शिल्प की दृष्टि से छायावादी हैं, परंतु प्रेम उनका मुख्य विषय नहीं रहा। वे जीवन के विविध विषयों और सत्यों को व्यक्त करने का प्रयत्न करते रहे। विषय की दृष्टि से ये द्विवेदीकालीन कविता, छायावादी कविता और प्रगतिवादी कविता तीनों के क्षेत्र में संचरण करते दीखते हैं। 'राका', 'विसर्जन', 'मानसी', 'अमृत और विष', 'युगदीप', 'यथार्थ और कल्पना', 'एकला चलो रे', 'विजय', 'अंतर्दर्शन—तीन चित्र', 'इत्यादि' और 'पूर्वापर' भट्टजी की अन्य काव्यकृतियाँ हैं।

बच्चनजी का प्रायः सारा महत्त्वपूर्ण कृतित्व १९३८ के बाद ही प्रकट हुआ। इस बीच इनकी लगभग सात पुस्तकें आईं। 'निशा निमंत्रण' (१९३८) के १०० गीतों में विरहजन्य विषाद को रात के विविध चित्रों के माध्यम से उभारा गया है। ये सभी गीत हैं। 'एकांत संगीत' (१९३९) में कवि के १०० गीत हैं। इन गीतों में कवि के अकेलेपन और निजी हर्षविषाद, असंतोष तथा निराशा का चित्रण है। 'आकुल अंतर' (१९४३) के ७१ गीतों में कवि ने आत्मानुभव के आधार पर विविध जीवनसत्यों की व्यंजना की है। 'सतरंगिनी' (१९४५) में सात खंड हैं। प्रत्येक खंड में सात कविताएँ हैं। 'प्रवेश गीत' में एक कविता है। इस संग्रह में आशा के खुले हुए लोक में कवि की यात्रा है। नाश के स्थान पर निर्माण का, रुदन के स्थान पर गीत का, मुसकान का, संशय के स्थान पर विश्वास का स्वर प्रधान हो उठा है। 'बंगाल का काल' (१९४६) एक लंबी कविता है जिसमें १९४३ में पड़े हुए बंगाल

के भीषण अकाल की विभीषिकाओं और उनसे उत्पन्न कविमन की प्रतिक्रियाओं का ओजस्वी चित्र है। यह कविता जगह जगह तुकांत होकर भी मूलतः मुक्त छंद में है। 'सूत की माला' (१९४८) में १११ कविताएँ हैं। यह काव्य गांधीजी की मृत्यु से आरंभ होता है तथा उनके जीवनादर्श और चरित्र के अनेक पहलुओं को अभिव्यक्ति देता है। 'मिलनयामिनी' (१९५०) मे ९९ कविताएँ हैं। इसके तीन भाग हैं, प्रत्येक भाग में ३३ कविताएँ है। ये सभी गीत है और इनमें प्रकृति के मोहक चित्रों के बीच प्रेम की मस्ती और सौंदर्य की मादकता अंकित की गई है। 'प्रणयपत्रिका' (१९५५), 'धार के इधर उधर' (१९५७), 'आरती और अंगारे' (१९५८), 'बुद्ध और नाचघर' (१९५८), 'जनगीता'–अनुवाद (१९५८), 'त्रिभंगिमा' (१९६१), 'चार खेमे चौसठ खूंटे' (१९६२), 'दो चट्टानें' (१९६५)—इस कृति में आधुनिक भावबोध से पूरित ५३ कविताएँ संगृहीत हैं। प्रस्तुत कृति का बच्चनजी की कृतियों एवं हिंदी कविता में विशेष स्थान है। इस कृति पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। 'मरकत द्वीप का स्वर' (१९६५), 'नागर गीता' (१९६६), 'बहुत दिन बीते' (१९६७)—इस कृति मे कवि की १९६५-६७ के बीच की कविताएँ संगृहीत हैं। 'कटती प्रतिमाओं की आवाज' (१९६८) भी महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि 'हालावाद' के प्रवर्त्तक कवि का जीवनदर्शन बहुत पहले ही बदल चुका था, किंतु अब विशेषतः जीवन कवि के लिये 'कर्म' न रहकर 'चिंतन' बन गया है तथा 'काव्य' न रहकर 'दर्शन' हो गया है : 'जीवन कर्म नहीं है अब

चिंतन है,

काव्य नहीं है अब

दर्शन है।'

बच्चन की परवर्ती कृतियों मे उनके दृष्टिकोण का परिवर्तन और विकास इस तथ्य का द्योतक है कि कवि युग और अपने जीवन की माँग के अनुरूप अपने आपको बदलता चला गया है।

नरेंद्र शर्मा उत्तरछायावादी व्यक्तिपरक कविताधारा के विशिष्ट कवि है। इनमें तीव्र रूमानी संवेदना के साथ ही साथ सांस्कृतिक और सामाजिक स्वर भी दिखाई देता है जो इनकी बाद की कविताओं मे उत्तरोत्तर उभरता गया। इस बीच इनकी ७ काव्यकृतियाँ आईं। 'प्रभातफेरी' (१९३९) में ७७ कविताएँ संगृहीत हैं, सभी गीत हैं। प्रकृतिसौंदर्य, प्रेम, राष्ट्रीयता और संस्कृति के स्वर से स्पंदित इस संग्रह में 'भिखारिन', 'कंगाल' जैसी सामाजिक विषमता से प्रेरित कविताएँ भी हैं। 'प्रवासी के गीत' (१९३९) में ५३ विरह गीत है। विरह की अनेक स्थितियों को बहुत सहज ढंग से गाया गया है। 'पलाशवन' (१९४०) की ४३ कविताओं में अधिकांश गीत हैं। इन कविताओं के स्वर में वैविध्य, खुलापन और प्रसन्नता है। इनमें सौंदर्य के अनेक रूपरंग उभरे हैं। मिट्टी और फूल' (१९४२) में ७१ कविताएँ है। गीत-

प्रधान इस संग्रह में कुछ गीतेतर कविताएँ भी हैं। प्राकृतिक सौंदर्य, मानवसौंदर्य तथा प्रणय को वाणी देनेवाले इस संग्रह में 'युवक क्लर्क' जैसी कुछ प्रगतिशील कविताएँ भी हैं। कवि इसमें अपने अंतःसंघर्ष (बुद्धि और भावुकता के द्वंद्व) की प्रधानता मानता है। 'कामिनी' (१९४२) एक गीतकथा है, जिसमें मिलन, विरह, पुर्नमिलन का चित्रण हुआ है। अग्निशस्य (१९५१) की ८० कविताओं में कवि की मिट्टी और फूल की ही विशेषताएँ लक्षित होती हैं। हाँ, प्रगतिवादी स्वर कुछ अधिक उभरा है। 'कदलीवन' (१९५३) में ७० कविताएँ संगृहीत हैं। सभी प्रगतिशील हैं। 'द्रौपदी' में महाभारत के प्रसिद्ध आख्यान को द्रौपदी के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। द्रौपदी जीवन सत्य की प्रतीक है। अन्य पात्र भी प्रतीक रूप में ग्रहण किए गए हैं। इस कृति में कवि दर्शन की ओर विशेषतः झुका हुआ है। वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से यह कृति नवीनता लेकर सामने आई। 'द्रौपदी' एक महत्त्वपूर्ण कृति कही जा सकती है।

'अंचल' ने अपने तीव्र रूमानी संवेदन को लेकर अपने अंतर की यात्रा तो की ही है समाज में भी घूमे हैं। इसलिये इनके सामाजिक काव्यों में भी इनकी रूमानी संवेदना की ही प्रधानता है। 'मधूलिका' (१९३८) में मूलतः कवि की मांसल उद्दाम शृंगारानुभूति ही व्यक्त हुई है किंतु कुछ कविताओं द्वारा कवि के सामाजिक, प्रगतिशील बोध (जिसका उभार बाद में हुआ) का संकेत मिलता है। 'अपराजिता' (१९३९) की भावभूमि भी वही है जो 'मधूलिका' की है। हाँ, विकास जरूर लक्षित होता है। 'किरणबेला' में मुख्यतः प्रगतिशील कही जानेवाली कविताएँ हैं। 'करील' भी 'किरणबेला' के ही क्रम का काव्यसंग्रह है। 'लाल चूनर' (१९४४) में प्रगतिशीलता से पुनः व्यक्तिवादिता की ओर लौटने का उपक्रम है। 'वर्षांत के बादल (१९५४) ५४ गीतों का संग्रह है। 'विरामचिह्न' (१९५७) में ५१ कविताएँ संगृहीत हैं। प्रत्यूष की भटकी किरण यायावरी (६४ ई०) है। अंचलजी की मूल चेतना रागात्मक ही है।

केदारनाथ मिश्र प्रभात भी मुख्यतः प्रबंधकार हैं और अपनी कृतियों में राष्ट्रीय संस्कृति को वाणी देने का प्रयत्न करते हैं। 'कालदहन' (१९४९) गीतिनाट्य है। 'कैकेयी' (१९५१) प्रबंधकाव्य है। इसमें कैकेयी के चरित्र को एक नए रूप में रखा गया है। वह इस प्रबंध में स्वार्थिनी विमाता नहीं है वरन् एक सच्ची क्षत्राणी है। 'कर्ण' (१९५१), 'ऋतंभरा' (१९५७) तथा 'सेतुबंध' (१९६७), 'शुभ्रा' (६७) का कवि की अपनी कृतियों में विशेष स्थान है।

'तारसप्तक' (१९४३) **अज्ञेय** द्वारा सात कवियों की उन कविताओं का संकलन है जिनमें क्रमागत काव्यधारा से अलग नए प्रयोग उभर रहे थे। इन कवियों के विषय, विश्वास और दृष्टिकोण अलग अलग थे किंतु सभी नए सत्य की खोज और नए शिल्प के प्रयोग के कारण एक ओर परंपरागत काव्यधारा से अपने को अलग

करते दीखते हैं दूसरी ओर एक मंच पर एकत्र होने की सार्थकता प्राप्त करते है। इस संकलन के कवि हैं गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय। इस संकलन से ही प्रयोगवाद का आंदोलन आरंभ होता है। 'इत्यलम्' (१९४६) अज्ञेय की १२६ कविताओं का संग्रह है। इसे ५ भागों में बाँटा गया है—भग्नदूत, बंदी स्वप्न, हिम हारिल, बंधना के दुर्ग, मिट्टी की ईहा। इस संग्रह में संवेदना और छंद दोनों का बहुत वैविध्य है। 'हरी घास पर क्षण भर' (१९४९) में ४९ कविताएँ संगृहीत हैं। इनमें कुछ गीत हैं, शेष मुक्त छंद में लिखी गई कविताएँ हैं। पुष्करिणी (भाग—१९५३), 'बावरा अहेरी' (१९५४), 'इंद्रधनु रौंदे हुए ये' (१९५७), 'अरी ओ करुणा प्रभामय' (१९५९), 'तीसरा सप्तक' (१९५९), 'पुष्करिणी' (संपूर्ण—१९५९), 'आँगन के पार द्वार' (१९६१) इस कृति में ४७ कविताएँ संगृहीत हैं। 'असाध्य वीणा' इस संग्रह की सबसे लंबी व सबसे महत्त्वपूर्ण कविता है। 'पूर्वा' (१९६५), 'सुनहले शैवाल' (१९६६) में कवि के छायांकनों सहित ४७ कविताएँ हैं। 'कितनी नावों में कितनी बार' (१९६७) भी अज्ञेय की एक श्रेष्ठ कृति है।

सोहनलाल द्विवेदी ने राष्ट्रीय कविताएँ दो रूपों में लिखी हैं—एक तो आधुनिक राष्ट्रचेतना को व्यक्त करनेवाली फुटकल कविताओं के रूप में, दूसरे भारत की अतीत सांस्कृतिक महिमा को व्यक्त करनेवाले प्रबंधों के रूप में। 'भैरवी' (१९४१) में ३७ राष्ट्रीय कविताएँ संगृहीत है। विषय में वैविध्य है परंतु सबका स्वर राष्ट्रीय है। 'कुणाल' प्रबंधकाव्य (१९४२) अकशोकपुत्र कुणाल के जीवन पर आधारित है। इसमें अतृप्त तिष्यरक्षिता के षडयंत्र से निर्वासित कुणाल के उदात्त चरित्र की गाथा गाई गई है। 'चित्रा' (१९४२) में ४८ कविताएँ है जिनमें कुछ गीत-रूप में हैं। प्रायः सभी कविताएँ प्रेम संबंधी है। 'तुलसीदास', 'बोधिवृक्ष' और 'बुद्धदेव के प्रति' जैसी कुछ कविताएँ अन्य प्रकार की भी हैं। 'युगाधार' (१९४४) ३३ कविताओं का संग्रह है। ये कविताएँ राष्ट्रीय आंदोलन, देश की शक्ति और उमंग तथा देशविदेश के महापुरुषों के बारे में लिखी गई हैं। 'वासंती' (१९५१) में ५४ कविताएँ हैं जिनमे अधिकांश गीत हैं। 'वासवदत्ता भी उल्लेखनीय हैं। सारी कविताओं का स्वर रूमानी है और विषय भी मूलतः मानव और प्रकृतिसौंदर्य तथा प्रेम से संबंधित है। इस अवधि मे कुल मिलाकर इनकी छह कृतियाँ प्रकाशित हुई।

गुरुभक्त सिंह का 'नूरजहाँ' नामक प्रबंधकाव्य अपने काल में बहुत लोकप्रिय हुआ। इसमें नूरजहाँ का आख्यान गाया गया है। इसमें प्रकृति का बड़ा सहज और वैविध्यपूर्ण चित्रण हुआ है। इसी परंपरा में उन्होंने विक्रमादित्य पर आधारित 'विक्रमादित्य' नामक प्रबंधकाव्य लिखा। 'तारसप्तक' में संगृहीत रचनाओं के अतिरिक्त 'मंजीर' तथा 'नाश और निर्माण' इस अवधि की गिरजाकुमार माथुर की दो प्रमुख काव्यकृतियाँ हैं। 'मंजीर' में रूमानी कविता की प्रेमपरकता, सौंदर्यप्रियता तथा

प्रेम की असफलताजन्य निराशा और व्यथा देखी जा सकती है। 'नाश और निर्माण' (१९४६) में रूमानी संस्कार, प्रगतिवादी चेतना और प्रयोगधर्मिता की संक्रांति दिखाई पड़ती है। 'धूप के धान' शिलापंख चमकीले (१९६१) ३४ कविताओं का संग्रह है। 'जो बँध नहीं सका' (१९६८) भी माथुरजी की कविताओं का महत्वपूर्ण संग्रह है।

आरसीप्रसाद सिंह के पाँच काव्यसंग्रह प्रकाशित हुए—'कलापी' (१९३८), 'संचयिता' (१९४२), 'जीवन और यौवन' (१९४४), 'नई दिशा' (१९४४), 'पांचजन्य' (१९४५)-इन संग्रहों में व्यक्तिपरक कविता की मूल संवेदना लक्षित होती है। विषय भी मूलतः नारी है और प्रस्तुत कवि भी सामाजिक जीवन की ओर उन्मुख होकर तथा उसका असफल गान गाकर अपने में लौट आया है।

जानकीवल्लभ शास्त्री मधुर गीतकार हैं। 'रूप अरूप', 'तीर तरंग', 'शिप्रा', 'मेघगीत' और 'अवंतिका' इनके पाँच प्रमुख काव्यसंग्रह हैं। 'रूप अरूप' (१९४०) की कविताओं में कवि की अनुभूतियों के साथ साथ उसका रूढ़ चिंतन भी लक्षित होता है। तीर तरंग (१९४४) के ६६ गीतों में मूलतः व्यक्तिगत आशानिराशामूलक स्वर है। कुछ गीत युगजीवन से भी संबंधित हैं। 'शिप्रा' (१९४५) मे कुछ ऐतिहासिक विषय भी लिए गए हैं। इस संग्रह की कविताओं में वैज्ञानिक युग की कठोर वास्तविकताओं के विरुद्ध भावुक प्रतिक्रिया लक्षित होती है। 'मेघगीत' (१९५०) में अनेक मनःस्थितियों में बादल के विविध रूपों को देखा गया है। 'अवंतिका' (१९५३) में गीत और गीतेतर दोनो प्रकार की कविताएँ है। कवि अपनी गीतात्मक संवेदना के साथ साथ सामाजिक सत्यों की भी अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख हुआ है। 'संजीवनी' (१९६४) भी उल्लेखनीय संग्रह है।

गोपाल सिंह नेपाली यौवन और प्रकृति के गायक के रूप में उभरे किंतु बाद में फिल्मी दुनियाँ में पड़कर अपनी सहज शक्ति खो बैठे। 'उमंग', 'पंछी', पंचमी', 'रागिनी' और 'नवीन' इनकी पाँच काव्यकृतियाँ हैं। इन कृतियों में प्रकृतिछवि और प्रणयानुभूति का बड़ा सहज अंकन है। 'नवीन' में कुछ राष्ट्रीय कविताएँ भी हैं। सुमित्राकुमारी सिनहा का नारी कवयित्रियो मे प्रमुख स्थान है। इस बीच इनके चार काव्यसंग्रह प्रकाशित हुए—विहाग, आशापर्व, पंथिनी और बोलों के देवता। इन सारे संग्रहों की कविताओं में नारी हृदय का प्रेम और प्रेमजन्य पीड़ा तथा उल्लास व्यक्त हुआ है। इन कविताओं में रहस्यात्मकता के स्थान पर एक खुलापन है। पीड़ा और निराशा का स्वर रुग्ण न होकर नारीसुलभ औदात्य से दीप्त है।

श्रीशंभुनाथ सिंह के कई संग्रह प्रकाश में आए हैं। 'रूपरश्मि' (१९४५) में कवि की प्रारंभिक रूपप्यास, उसके अभाव में तीव्र विरहानुभूति तथा विषादवेदना का साक्षात्कार बहुत गाढ़ भाव से व्यक्त हुआ है। 'छायालोक' (१९४६) 'रूपरश्मि' की संवेदना का ही अगला चरण है। यह अवश्य है कि इसका स्वर 'रूपरश्मि' के स्वर की अपेक्षा कुछ कम उत्तेजक है। 'उदयाचल' (१९४६) में निराशा, विषाद

और अभाव से आशा, विश्वास और शक्ति की ओर यात्रा है। इसमें दोनों स्थितियों की संक्रमित चेतना का दर्शन होता है। 'मन्वंतर' (१९५१) में कवि की १४ लंबी लंबी प्रगतिशील कविताएँ संगृहीत हैं। कवि के शब्दों में युग और समाज को बदल कर नए जीवनमूल्यों की स्थापना करना ही इन कविताओं का उद्देश्य है। 'दिवालोक' (१९५३) भी कवि की रूमानी दृष्टि से लिखी गई मिलनविरह, आशानिराशा, रूपाकांक्षा और सुधि की कविताओं का संग्रह है। 'माध्यम मैं' भी कवि की एक महत्वपूर्ण कृति है। श्री सिंह का नवगीतकारों में विशेष स्थान है।

शमशेर की कविताएँ 'दूसरा सप्तक' में संकलित हैं। दूसरा सप्तक तारसप्तक की परंपरा में अज्ञेय के ही संपादन मे प्रकाशित हुआ। इसमें भी सात कवि संकलित हैं—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुंतला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय, और धर्मवीर भारती। शमशेर समाजवादी विचारों के होते हुए भी संस्कारों से व्यक्तिवादी हैं अतः इनकी कविताओं में दो स्वर उभरते हैं—एक तो समाजवादी स्वर जो इनके व्यक्तित्व में रचपच न सकने के कारण कविता को सतही बना देता है दूसरा व्यक्तिवादी स्वर जो इनके व्यक्तित्व से फूटने के कारण इनकी कविताओं को बहुत गहरा सूक्ष्म और असामाजिक रूप प्रदान करता है। शमशेरबहादुर सिंह का 'कुछ कविताएँ' नामक संग्रह १९५९ में प्रकाशित हुआ। 'बात बोलेगी हम नहीं' और 'उदिता' नामक कृतियाँ भी शमशेरजी की अच्छी कृतियाँ हैं।

'नींद के बादल' और 'युग की गंगा' **केदारनाथ अग्रवाल** के इस अवधि के दो संग्रह हैं। 'नींद के बादल' (१९४७) रूमानी कविताओं का संग्रह है। किंतु इसकी प्रेम कविताएँ लोकपरिवेश में उभरने के कारण बहुत खुली हुई, स्वस्थ और सहज है। 'युग की गंगा' (१९४७) कवि की प्रगतिवादी कविताओं का संग्रह है। इसमें सामाजिक विषमता और संघर्ष के साथ लोकजीवन और प्रकृति की उन्मुक्त मस्त छवि को भी चित्रित किया गया है। 'फूल नही रंग बोलते हैं' (१९६५) भी उल्लेखनीय कृति कही जा सकती है।

'युगधारा' (१९५३) **नागार्जुन** का प्रतिनिधि काव्यसंग्रह है। इसमें तीन तरह की कविताएँ है। कुछ कविताएँ ऐसी है जो जीवन के गहन अनुभवों और सौंदर्य-बोध से स्पंदित है। कुछ कविताओं मे हमारी सामाजिक विसंगतियों पर गहरे व्यंग्य उभरे हैं। कुछ ऐसी हैं जो मार्क्सवादी सिद्धांत या मार्क्सवादी दृष्टि से जीवन सत्यों का प्रचार करती है। 'सतरंगे पंखों वाली' (१९५९) एक महत्वपूर्ण रचना है। नागार्जुनजी को साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिल चुका है।

त्रिलोचन की कविताओं में उभरनेवाला अभाव, वैषम्य, संघर्ष उनके जीवनानुभव से फूटा है। 'धरती' (१९४५) इनकी प्रगतिशील कविताओं का संग्रह है। इसमें जीवन के अनुभवसिक्त स्वर है। इन स्वरो में वैविध्य हैं जो सहज चित्रों के माध्यम से उभारा गया है।

'हिल्लोल', 'जीवन के गान' और 'प्रलय सृजन' इस अवधि में **शिवमंगल सिंह सुमन** के तीन संग्रह हैं। 'हिल्लोल' रूमानी कविताओं का संग्रह है। इसमें असफल प्रेम की व्यथा और निराशा दीखती है। कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जो कवि के प्रगतिवादी विकास की ओर संकेत करती हैं। 'जीवन के गान' (१९४०) प्रगतिवादी कविताओं का संग्रह है। 'प्रलय सृजन' (१९४४) 'जीवनके गान' की परंपरा की अगली कड़ी है। 'विंध्य हिमालय', 'पर आँखें नहीं भरीं', 'विश्वास बढ़ता ही गया' इनके अन्य महत्त्वपूर्ण संग्रह हैं।

भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएँ दूसरा सप्तक में संकलित हैं। मिश्रजी की कविताओंमें लोकजीवन का संस्पर्श है, अतः खुलापन और वैविध्य है। इन कविताओं का सुखदुख और आशानिराशा बहुत सहज लगती है। मिश्रजी की 'गीतफरोश' (१९५६) में 'भूमिका' सहित ६९ कविताएँ है। 'चकित है दुःख' भी मिश्रजी की एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

मुक्तिबोध की कविताएँ तार सप्तक में संकलित हैं। इनकी कविताओं में समाजवादी स्वर है, सामाजिक विषमताओं की विवृति हैं तथा जीवन के प्रति गहरी निष्ठा और जिजीविषा है। सामाजिक विसंगतियो और अंधकारग्रस्त मूल्यों को मुक्त आसंगों वाले बिंबो के माध्यम से अभिव्यक्ति देने वाली मुक्तिबोध की कविताएँ प्रायः लंबी हैं।

तार सप्तक की कविताओं के अतिरिक्त **भारतभूषण अग्रवाल** के कई काव्यसंग्रह है। 'छवि के बंधन' रूमानी कविताओ का संग्रह है। प्रणयपाश में बँधा हुआ कवि कभी कभी समाज की ओर देख लेता है। 'जागते रहो' प्रगतिशील कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह में कवि के रूमानी संस्कार से उसकी सामाजिक चेतना जूझती हुई प्रतीत होती है इसलिये वह सामाजिक चेतना को संस्कार नहीं बना सका है। 'मुक्तिमार्ग' (१९४७) मे सामाजिक चेतना स्वस्थ रूप से आई है। कवि की चेतना उसके प्रयोगों का संस्पर्श पाकर सशक्त रूप में व्यक्त हुई है। 'ओ अप्रस्तुत मन' (१९५८), 'कागज के फूल' (१९६३), 'अनुपस्थित लोग' (१९६५) उनके अन्य काव्यसंग्रह है। 'अनुपस्थित लोग' मे ३८ कविताएँ हैं। अग्रवालजी ने अपने तुक्तकों द्वारा हास्य व्यंग्य के कवियों में भी अपना स्थान बना लिया है। हिंदी में तुक्तकों के प्रयोगकर्ता भी आप ही हैं। रांगेय राघवजी के 'अजेय खँडहर', 'पिघलते पत्थर' और 'मेधावी' तीन काव्यग्रंथ है। 'अजेय खँडहर' (१९४४) एक प्रबंधात्मक कृति है जिसमें स्तालिनग्राद के युद्ध का सजीव अंकन है। 'पिघलते पत्थर' (१९४६) प्रगतिशील कविताओं का संग्रह है जिसमें प्रगतिवाद की शक्तियाँ अशक्तियाँ खुल कर दिखाई पड़ती हैं। 'मेधावी' (१९४७) चिंतनप्रधान कृति है। इसमें दर्शन, भूगोल, इतिहास, काव्य, समाजशास्त्र सबका समावेश है, इसकी भूमि बहुत ही विस्तीर्ण है।

नरेश मेहता की कविताएँ 'दूसरा सप्तक' में संकलित है। संकलित कविताओं में कुछ सुंदर प्रकृतिचित्र हैं, कुछ 'समय देवता' जैसी विचारात्मक कविताएँ हैं, किंतु बिंबबहुलता होने से इनकी विचारात्मक कविताएँ भी अनुभव से संपृक्त रहती हैं। वैसे इनकी मूल प्रवृत्ति गीतात्मक ही कही जा सकती है। नरेश मेहता की 'बनपाँखी सुनो', 'बोलने दो चीड़ को' तथा 'मेरा समर्पित एकांत' प्रकाशित कृतियाँ हैं।

धर्मवीर भारती की कविताएँ 'दूसरा सप्तक' में संकलित हैं तथा 'ठंडा लोहा' (१९५२) नामक एक काव्यसंग्रह प्रकाशित हुआ है। इन दोनों में गीत भी है और मुक्त छंदवाली कविताएँ भी। विषय कई प्रकार के है किंतु मूल संवेदना रूमानी ही प्रतीत होती है। रूमानी संवेदना नए प्रयोगों और सूक्ष्म भाव संश्लिष्टताओं से संपृक्त होने के कारण नई छवि प्राप्त कर लेती है। भारती की 'कनुप्रिया' और 'सात गीत वर्ष' नामक कृतियाँ अपना विशेष महत्त्व रखती है।

प्रमुख प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त रचनाओं की परीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत कालावधि के काव्यसाहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ है। इस बीच का इतिहास कई वादों और धाराओं से होकर गुजरा है। कई कई जीवनदृष्टियाँ तथा काव्य की वस्तु और शिल्पसंबंधी मान्यताएँ उभरी है। किसी धारा में व्यक्तिगत अनुभूति का घनत्व अधिक है तो किसी में सामाजिक अनुभूति की स्फीति। किसी में रूमानी दृष्टि की प्रधानता है तो किसी मे बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की। उपर्युक्त कृतियों के आधार पर यदि हम इन अनेक दृष्टियों, मान्यताओं और रचनारूपों का वर्गीकरण करें तो स्पष्ट रूप से पाँच काव्यधाराएँ उभर कर आती लक्षित होती हैं। उन्हे राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा, उत्तर छायावादी काव्यधारा, वैयक्तिक (प्रगीत) काव्यधारा, प्रगतिवादी काव्यधारा और प्रयोगवादी नई कविता की धारा कहा जा सकता है। इनमें से पहली दो धाराएँ नई धाराएँ नही हैं। राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा भारतेंदुकाल से आरंभ होकर द्विवेदीकाल, छायावादकाल को पार करती हुई इस काल की कविताओं मे समकालीन प्रश्नों, स्वरों से संयुक्त होकर और भी उदार एवं वैविध्यपूर्ण हो गई। उत्तर छायावादी काव्यधारा छायावादकाल में अपना पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त कर चुकी थी और परंपरा के निर्वाह सी इस काल मे भी बहती हुई दिखाई पड़ती है। शेष तीन धाराएँ प्रस्तुत कालखंड की ही उपज है। वे अपने अपने ढंग से ऐतिहासिक अनिवार्यता के गर्भ से फूटी है।

इस युग की कृतियों में कुछ ऐसी भी है जिनमें एक ही साथ कई धाराएँ दिखाई पड़ती हैं। वे कृतियाँ भले ही किसी एक वर्ग में न रखी जा सकें किंतु वे इस बीच उभरनेवाली एकाधिक काव्यप्रवृत्तियों का निर्देश तो करती ही हैं। किंतु इनके

अतिरिक्त शेष कृतियाँ स्पष्ट रूप से किसी न किसी धारा या प्रवृत्ति का स्वरूप निर्धारित करती हैं। इनका वर्गीकरण करें तो चित्र कुछ इस प्रकार होगा :

नहुष, कुणालगीत, अजित, जयभारत (मैथिलीशरण गुप्त), हिमकिरीटिनी, हिमतरंगिनी, माता (माखनलाल चतुर्वेदी), अपलक, क्वासि, विनोबास्तवन (बालकृष्ण शर्मा नवीन), उन्मुक्त, नकुल, नोआखाली, जयहिंद, आत्मोत्सर्ग (सियारामशरण गुप्त), हुंकार, द्वंद्वगीत, कुरुक्षेत्र, इतिहास के आँसू (दिनकर), वासवदत्ता, भैरवी, कुणाल, चित्रा, युगाधार (सोहनलाल द्विवेदी), सूत की माला (बच्चन), हल्दीघाटी, जौहर (श्यामनारायण पांडेय), नूरजहाँ, विक्रमादित्य (गुरुभक्तसिंह भक्त), विसर्जन, मानसी, अमृत और विष, युगदीप, यथार्थ और कल्पना, एकला चलो रे, विजयपथ (उदयशंकर भट्ट), कालदहन और कैकेयी (केदारनाथ मिश्र प्रभात) राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा की कृतियाँ हैं। इनमें अपलक, क्वासि और चित्रा ऐसी कृतियाँ हैं जिनमें राष्ट्रीय स्वर गौण है, प्रेम का स्वर प्रधान है। तुलसीदास, अणिमा, अर्चना, आराधना (निराला), स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, मधुज्वाल, युगपथ, उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी (सुमित्रानंदन पंत), दीपशिखा (महादेवी वर्मा), विहाग, आशापर्व, पंथिनी और बोलों के देवता (सुमित्राकुमारी सिनहा), रूप अरूप, शिप्रा, मेघगीत, अवंतिका (जानकीवल्लभ शास्त्री) उत्तरछायावादी कृतियाँ हैं। अणिमा में कुछ कविताएँ राष्ट्रीय और सांस्कृतिक व्यक्तित्वों पर भी हैं। तुलसीदास अपने विषय में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय है किंतु प्रकृति में छायावादी। पंतजी की इस काल की सभी छायावादी कृतियों में सांस्कृतिक स्वर सुनाई पड़ता है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय की एक बेचैनी इनमें बराबर लक्षित होती है। इस तरह इन कृतियों का मूल स्वर तो छायावादी है किंतु विषय की दृष्टि से इन्हें अन्यान्य धाराओं से भी जोड़ा जा सकता है।

रूमानी धारा मे आनेवाली किंतु छायावाद से अलग ऐसी अनेक कृतियाँ हैं जो एक नई प्रवृत्ति को सूचित करती है उसे वैयक्तिक प्रगीत कविता कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति के अंतर्गत आनेवाली कृतियाँ हैं—निशानिमंत्रण, आकुल अंतर, सतरंगिनी, बंगाल का काल, मिलन यामिनी (हरिवंश राय बच्चन), रसवंती (दिनकर), प्रभातफेरी, प्रवासी के गीत, पलाशवन, मिट्टी और फूल, अग्निशस्य, कदलीवन (नरेंद्र शर्मा), मधूलिका, अपराजिता, किरणवेला, लाल चूनर (रामेश्वर शुक्ल अंचल), कलापी, संचयिता, जीवन और यौवन, पांचजन्य (आरसीप्रसाद सिंह), रूपरश्मि, छायालोक, उदयाचल, मन्वंतर, दिवालोक (शंभूनाथ सिंह), पंछी, पंचमी, रागिनी और नवीन (गोपाल सिंह नेपाली), नींद के बादल (केदारनाथ अग्रवाल), हिल्लोल (सुमन), मंजीर (गिरिजाकुमार माथुर), छबिके बंधन (भारतभूषण अग्रवाल)। इनमें बंगाल का काल तथा मन्वंतर पुस्तकें और शेष अन्य अनेक कृतियों की कुछ कुछ कविताएँ सामाजिक विषमता और अभाव के प्रति विद्रोह और अस्वीकृति

का स्वर मुखर करती हैं किंतु वे अपनी चेतना में मूलतः व्यक्तिवादी ही हैं। इसलिये इन्हें वस्तुतः इसी धारा के अंतर्गत रखा जा सकता है।

युगवाणी, ग्राम्या (पंत), कुकुरमुत्ता (निराला), युग की गंगा (केदारनाथ अग्रवाल), युगधारा (नागार्जुन), धरती (त्रिलोचन), जीवन के गान, प्रलय सृजन (शिवमंगलसिंह सुमन), अजेय खँडहर, पिघलते पत्थर और मेधावी (रांगेय राघव), मुक्तिमार्ग, जागते रहो (भारतभूषण अग्रवाल) प्रगतिवादी धारा की सृष्टि करती हैं। इन कृतियों के अतिरिक्त नरेंद्र शर्मा, अंचल, आरसीप्रसाद सिंह और शंभूनाथ सिंह की उपर्युक्त पुस्तकों की अनेक कविताएँ ऐसी हैं जो इस धाराके अंतर्गत आती हैं।

प्रगतिवादी और वैयक्तिक कविताधारा की कृतियों के साथ साथ कुछ ऐसी कृतियाँ भी सामने आईं जिन्हें प्रयोगवादी धारा की कृतियाँ कहा गया। प्रगतिवादी और वैयक्तिक धारा की कविताएँ १९३५ के आसपास ही प्रारंभ हो गई थी किंतु प्रयोगवादी धारा की कविताएँ १९४३ ई० के आसपास उभरती हुई दीखती हैं। फिर सभी साथ साथ चलती हैं। तारसप्तक (संपा० अज्ञेय), इत्यलम्, हरी घास पर क्षण भर (अज्ञेय), मंजीर, नाश और निर्माण (गिरिजाकुमार माथुर), ठंडा लोहा (धर्मवीर भारती) तथा दूसरा सप्तक (संपा० अज्ञेय), इस धारा की प्रमुख कृतियाँ हैं।

इन कृतियों के आधार पर इनके माध्यम से उभरनेवाली काव्यप्रवृत्तियों की सापेक्षिक शक्ति का आसानी से आकलन किया जा सकता है। निश्चय ही शक्ति का आकलन कृतियों की संख्या से नहीं किया जा सकता। किसी धारा में कृतियों की संख्या की अधिकता अनिवार्य रूप से यह नहीं सूचित करती कि धारा की जीवंतता ही लोगों को इस धारा में विपुल सर्जन करने के लिये आकृष्ट कर रही है, चुकी हुई, या चुकती हुई धारा से पिच्छल भूमि पर फिसलते चलने में प्राप्त होनेवाली सुविधा भी इसका कारण हो सकती है। अतः शक्ति के आकलन का यह विश्वसनीय आधार नहीं है। वास्तव में किसी धारा की शक्ति का आधार उसकी जीवंतता और उसमें सर्जित कृतियों का काव्यसौंदर्य ही हो सकता है।

छायावादी काव्य १९३५ तक अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। धारा के रूप में वह स्वयं अपनी ताजगी, जीवंतता और युगसौंदर्य में अनिवार्यता की अनुभूति नहीं कर पा रहा था। स्वयं छायावादी कवि पंत के शब्दों में अलंकृत संगीत बन गया था। इसलिये इस अवधि मे लक्षित होनेवाली छायावादी काव्यधारा में वह उन्मेष नहीं दिखाई पड़ता जो उसमें आरंभ और उत्कर्ष काल में था। प्रस्तावित काल में छायावाद के लब्धप्रतिष्ठ और नए दोनों प्रकार के छायावादी कवियों की कविताओं को समय की आकांक्षा से संपृक्त काव्य नहीं कहा जा सकता। लब्धप्रतिष्ठ कवियों की कविताओं में उनकी प्रतिभा की शक्ति के कारण एक वैभव अब भी दृष्टिगत होता है किंतु सामान्य प्रतिभा के कवियों में तो उसका चुका हुआ पिष्टपेषित और फारमूलाबद्ध रूप ही अधिक दीखता है। इसलिये अपने बड़े बड़े कवियों के बावजूद छायावाद इस काल में

उन्मेषशून्य ही होता गया। निराला की अनेक कृतियाँ इस काल में भी शक्तिसंपन्न होकर आईं किंतु इनकी शक्तिसंपन्नता का कारण निराला की प्रतिभा तो है ही, इनका निरंतर लोकजीवन के स्वर से संपृक्त होते जाना भी है। इन सभी कृतियों में लोक-संवेदना और लोकस्वर से स्पंदित कविताएँ हैं। पंत इस अवधि में छायावादी काव्य-परंपरा में कुछ भी बहुत जीवंत नहीं दे सके, यद्यपि उन्होंने अपने काव्य को बराबर युगयथार्थ से जोड़ते रहने का प्रयत्न किया। महादेवी की 'दीपशिखा' निश्चय ही उनके मूल स्वर की चरम परिणति के रूप में दीखती हैं। किंतु इस बिंदु पर पहुँच कर महादेवी भी इस धारा और इस धारा से निर्मित अपनी काव्यशक्ति की सीमा का अनुभव कर एकदम चुप हो जाती हैं। छायावादी काव्यधारा में आनेवाले शेष कवि केवल पिष्टपेषण करते रहे। छायावादी धारा इस अवधि में अपने को समय की गति-विधियों और आकांक्षाओं से भले ही न जोड़ सकी हो किंतु संख्या और काव्योपलब्धि दोनों दृष्टियों से निराला, पंत और महादेवी की ये कृतियाँ अन्य धाराओं की कृतियों की तुलना में कम नहीं ठहरतीं, इनका अपना वैशिष्ट्य है।

वैयक्तिक प्रगीत कविता निश्चय ही युगमानस के स्तर से कहीं न कहीं जुड़ी होने के कारण सजीव और ताजा प्रतीत होती है। इस युग का युवा मानस अपनी तीव्र स्वच्छंद संवेदना को निर्व्याज रूप से गा उठने के लिये आकुल था। इन कवियों की कविताओं में इसी आकुलता को स्वर मिला। संवेदना और अभिव्यक्ति के ऊपर बिछी आतंक और संकोच की परतें चरमरा कर टूट उठीं और कवि ने युगव्यक्ति की थकान, उदासी, टूटन, प्यास, उल्लास, अस्वीकृति आदि के स्वरों को मुखर किया। इस प्रकार यह मूलतः रूमानी स्वर होते हुए भी एक नया स्वर था जो अपने को नए व्यक्ति की आकांक्षा से जोड़ कर अर्थ प्राप्त कर रहा था। यह इसकी शक्ति थी। साथ ही साथ यह धारा काव्यवैभव से भी संपन्न है। बच्चन, नरेंद्र शर्मा के अच्छे गीत उच्च काव्यसौंदर्य से मंडित हैं। साथ ही साथ अन्य धाराओं के भी कवियों की कुछ कृतियाँ इस धारा को ऐश्वर्यवान् कर रही हैं। राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के कवि दिनकर, नवीन और सोहनलाल द्विवेदी की कृतियाँ रसवंती, रश्मिरेख, अपलक और चित्रा की अधिकांश कविताएं इसी धारा में आती हैं। व्यक्ति की तीव्र रूमानी चेतना और संवेग को ये कविताएँ बहुत सीधी भाषा में व्यक्त करने में समर्थ हुईं। व्यक्ति की तीव्र संवेदनाएँ तीव्र और प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्ति पाने के कारण सुंदर ताजे गीतों के रूप में फूट चलीं। यह कहा जा सकता है कि अपने समग्र रूप में छायावाद अधिक उपलब्धि में का काव्य है किंतु उत्तर छायावादी व्यक्तिवादी कविता अपने समग्र रूप में छायावाद की अपेक्षा अधिक सहज, लोकसंपृक्त और निश्छल है। किंतु व्यक्तिवादी अनुभूतियाँ आगे चलकर स्वयं अपनी सीमाएँ बन जाती हैं, अपने को दुहराने लगती हैं और अपनी ताजगी, शक्ति तथा अनिवार्यता खो देती हैं। यही बात इस धारा की कविताओं के बारे में कही जा सकती है।

प्रगतिवाद छायावाद की व्यक्तिवादी रूमानी चेतना के विरुद्ध समाजवादी यथार्थ की चेतना लेकर आया। यह धारा युगचेतना की अभिव्यक्ति है। युगाकांक्षा से जुड़ी होने के कारण यह नवीन धारा अधिक जीवनसंपन्न है। इसने साहित्य के कथ्य, दृष्टिकोण, सौंदर्यबोध और अभिव्यक्ति को सामाजिक जीवन से जोड़कर अधिक क्षमतासंपन्न तथा व्यापक बनाया। इस तरह जहाँ तक साहित्य की जीवंतता, शक्ति, यथार्थता और लोकोन्मुखता का प्रश्न है प्रगतिवाद अधिक सामर्थ्यवान् है। यद्यपि पुस्तकों के रूप में प्रगतिवादी कृतियाँ संख्या में थोड़ी हैं किंतु पुस्तकों की संख्या की कमीबेशी महत्ता का मानदंड नहीं है। फुटकर रचनाओं के रूप में अनेक प्रगतिवादी कविताएँ तत्कालीन पत्रपत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं। प्रगतिवाद सामाजिक जीवन की शक्ति पाने के बावजूद समग्र भाव से अपनी साहित्यिक उपलब्धियों में अन्य धाराओं की अपेक्षा घट कर है। उसने नए कथ्य को कच्चे माल के रूप में लिया और उसी रूप में रख दिया। उस कथ्य को कवि अपने अनुभव और संस्कार की आँच में गला नहीं सके और न तो उसे कलात्मक अभिव्यक्ति ही दे सके। शहरी अभिजात संस्कारों और अनुभवों के लोग किसानों मजदूरों के संघर्षों की बात करके अनुभवहीन, सिद्धांत-संचालित कविताएँ लिखने लगे जिनमें प्रचार का स्वर उभरकर आने लगा। अभिव्यक्ति कलात्मक भंगिमा, चित्रात्मकता, बिंबात्मकता छोड़कर वर्णन और कथन पर उतर आई। इसलिये इतनी क्षमतासंपंन होकर भी यह धारा काव्यात्मक उपलब्धि में व्यक्तिकेंद्रित धाराओं से पीछे रह गई।

प्रयोगवाद को यदि नई कविता से अलग करके देखें तो उसका जीवनकाल बहुत अल्प होगा—उसे १९४३ से १९५० तक मानना होगा। यदि नई कविता से संबद्ध मानें तो कहना होगा कि उसका बहुत थोड़ा भाग प्रस्तुत अवधि में समाविष्ट है क्योंकि नई कविता का विकास प्रस्तुत अवधि के पश्चात् ही अधिक हुआ है। नई कविता से जुड़कर प्रयोगवाद कृतियों की संख्या और काव्यात्मक उपलब्धि दोनों दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण दिखाई पड़ेगा। यद्यपि प्रयोगवाद की बहुत सी मूलभूत बातें नई कविता में हैं किंतु दोनों को पर्याय नहीं माना जा सकता, दूसरे नई कविता का काल मुख्यतः हमारी कालावधि में नहीं आता। अतः तारसप्तक, दूसरा सप्तक, अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर आदि की इस अवधि मे आनेवाली कृतियों को प्रयोगवादी धारा में ही मान कर चलना चाहिए। रूमानी व्यक्तिमूलक कविता की भावाकुलता, रूमानी दृष्टि, आरोपित आदर्शवादिता, भावुक अभिव्यक्ति तथा प्रगतिवाद की यांत्रिक सामूहिकता, सपाट भावबोध तथा असंयत प्रचारात्मक अभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में प्रयोगवाद की अनुभूतिमूलक व्यक्तिवादिता, अंतरस्थ अनुभवजन्य जटिल संवेदना, बौद्धिकता आदि को शक्ति के रूप में ही स्वीकार करना होगा। नई कविता ने प्रयोग-वाद की इन शक्तियों का विकास किया किंतु प्रयोगवाद अपने आपमें अपनी इन शक्तियों के बावजूद एक बहुत बड़ी सीमा लिए हुए आया था। उसका व्यक्ति परिवेश

से कटा हुआ व्यक्ति था और वह यथार्थवादी तथा बौद्धिक होने के कारण अपनी निजी यौन तथा अन्यान्य कुंठाओं को (यही उसकी मूल संवेदना थी) साहस के साथ प्रस्तुत कर रहा था। अनुभव उसका निजी अनुभव था अर्थात् परिवेशविच्छिन्न व्यक्ति का अनुभव। इसलिये वह तीव्र होकर भी न तो गतिशील हो सका और न जीवंत ही। उसकी बौद्धिकता ने कहीं कहीं उसके भावबोध को आक्रांत कर उसके प्रभाव को कुंठित कर दिया। बौद्धिकता के नाम पर भाषा और भाव में एक नए प्रकार की कृत्रिमता उभरने लगी।

उपर्युक्त विविध धाराओं का एक साथ विवेचन करें और उनकी उपलब्धियों का आकलन करें तो प्रतीत होगा कि साहित्य में केवल समय की गतिविधियों या उसकी आकांक्षाओं-समस्याओं से संपृक्त होना ही पर्याप्त नहीं होता वरन् उन्हें अनुभव में आत्मसात् करना होता है। इसके साथ ही परंपरा की जीवंत निधियों को पहचान कर समेटना होता है। परंपरा और वर्तमान के यथार्थ और मूल्यों, अनुभवों और विचारों को समेटने और व्यक्त करने का आधार रचनात्मक सौंदर्य ही हो सकता है। इस रचनात्मक सौंदर्य का आधार पाकर अपेक्षाकृत प्राचीनबोध पर आधारित कृतियाँ अधिक उपलब्धि प्राप्त कर लेती हैं और इस आधार से रहित नए से नए बोधवाली कृतियाँ एक तात्कालिक सतही संतोष देकर चुक जाती हैं। जब हम आज के समय-बिंदु पर खड़े होकर पीछे देखते है तो नई कविता सबसे पास दीखती है, उसके पीछे प्रगतिवाद और फिर व्यक्तिवादी प्रगीत कविता, राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता तथा छायावादी कविता। यह सच है कि सबसे पास दीखनेवाली आज की कविता—नई कविता में गतिविधियाँ अधिक हैं तथा इतिहास के विकास का नवीनतम मोड़ होने के कारण अपने में उन नए अनुभवों और चिंतनों को समेटे हुए है जिनका ग्रहण पिछले काव्य मोड़ों के लिये ऐतिहासिक दृष्टि से संभव नहीं था फिर भी क्या यह कहा जा सकता है कि रचनात्मक उपलब्धि की दृष्टि से नई कविता अन्य पिछली धाराओं से आगे है ?

वास्तव में कविता की मूल चेतना सौंदर्यचेतना है। यह चेतना अपने परिवेश से बनती और विकसित होती है; किंतु जब परिवेश प्रधान हो जाता है तब वह प्रगतिवाद की सतही रचनाओं की सृष्टि करता है और जब सौंदर्यचेतना परिवेश से कट जाती है तब वह व्यक्तिवादी अहम् की सृष्टि करती है। यह व्यक्तिवादी अहम् छायावाद और प्रयोगवाद दोनों में अलग अलग ढंग से देखा जा सकता है। जो रचनाएँ परिवेश और कवि की सौंदर्यचेतना के समन्वित रूप को लेकर फूटती हैं वे अधिक स्वस्थ और सुंदर होती है। इस दृष्टिकोण से साकेत, कामायनी, तुलसीदास, राम की शक्तिपूजा, कुरुक्षेत्र, उर्वशी, उन्मुक्त, अंधा युग, आत्मजयी आदि कृतियों को समय की छोटी छोटी सीमाओं से मुक्तकर एक वृहत्तर समय के फलक पर रखा जा सकता है। दूसरी ओर निराला, पंत, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, बच्चन, नरेंद्र, अंचल, अज्ञेय,

केदारनाथ अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर आदि के व्यक्तिचेतना स्पंदित गीतों या छोटी छोटी सुंदर कविताओं को भी एक ही रचनालोक में देखा जा सकता है। फालतू कविताएँ हर धारा में हुई हैं। जो कविताएँ अनुभूति की आँच से उष्ण नहीं होंगी, जिनमें गहरे जीवन अनुभवों और सौंदर्यदृष्टि के स्थान पर उत्तेजना होगी या नकली बौद्धिकता होगी वे कविताएँ कविता की दृष्टि से असफल और निरर्थक होंगी वे चाहे छायावाद की हों, चाहे प्रगतिवाद की, चाहे नई कविता की। नई कविता चूँकि सबसे निकट की धारा है इसलिये उसकी उपलब्धियों के साथ साथ उसकी रचनात्मक व्यर्थताओं का भी अनुभव बहुत सरलता से किया जा सकता है।

काव्यप्रवृत्तियों की सापेक्षिक शक्तियों का आकलन करते समय यह देखना होता है कि वास्तव में कौन सी धारा जीवन को अधिक समीप से ग्रहण करती है तथा किसकी प्रकृति अधिक साहित्यिक है। उस धारा के अधिक जीवंत और साहित्यिक होने के बावजूद हो सकता है कि उसमें महान् कृतियाँ न सर्जित हो सकी हों। इसलिये महान् प्रतिभाओं का प्रश्न भी इसके साथ जुड़ा होता है। महान् प्रतिभाएँ सदा नहीं पैदा होतीं, किंतु धाराएँ बदलती रहती है और महान् व्यक्तित्वों के अभाव में भी उनका सामूहिक व्यक्तित्व महान् कवियोंवाली धाराओं के सामूहिक व्यक्तित्व से अधिक साहित्यिक जीवनसंपृक्त और सुंदर हो सकता है।

उत्तर छायावाद

छायावाद अपने उन्मेषपूर्ण यौवन के दिन देख चुका था और अब अपने को युग की आकांक्षा और संवेदना के अनुकूल नहीं पा रहा था, यही कारण है कि छायावाद के श्रेष्ठ कवियों ने या तो लिखना बंद कर दिया (जैसे महादेवी ने) या युगाकांक्षा के अनुरूप नया मोड़ दिया (जैसे पंत और निराला ने)। किसी धारा को नया मोड़ देने में और नई धारा आरंभ करने में अंतर होता है। नई धारा अपनी संवेदना, दृष्टि और अभिव्यक्ति शक्ति में नई होती है जब कि नया मोड़ पानेवाली धारा अपनी प्रकृति, भाषा और दृष्टि में पूर्ववत् सी रहकर नए नए विषयों को ग्रहण करती है। इसलिये उसमें पहले और बाद के रूप का संगम होता है। यह संगम वास्तव में प्रायः उपलब्धि न बनकर बेमेल खिचड़ी बन जाता है। उससे अच्छा होता है उसी धारा की समस्त संभावनाओं को उभारकर शक्ति के साथ प्रस्तुत करना। यही कारण है कि इस अवधि में लिखे गए निराला के शुद्ध छायावादी गीत या महादेवी की 'दीपशिखा' के गीत पंत की निरंतर विकासशील छायावादी कविताओं से अधिक सशक्त दिखाई पड़ते है। इस प्रकार प्रस्तुत कविताओं की व्याख्या से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ये कविताएँ दो रूपों में दिखाई पड़ती हैं— (१) छायावाद की संभावनाओं से निर्मित कविताएँ और (२) नई वस्तुओं और भावभूमियों को ग्रहण करती विकासमान छायावादी कविताएँ।

पहले प्रकार की कविताओं में निराला और महादेवी के श्रेष्ठ गीत हैं और सुमित्राकुमारी सिनहा, विद्यावती कोकिल, आदि नए छायावादी गीतकारों के पिष्ट-पेषित भावोंवाले सामान्य गीत भी। दूसरे प्रकारमें पंत की कविताएँ आती हैं जो अपने छायावादी संस्कारों वाले व्यक्तित्व में प्रगतिवाद और अरविंदवाद के सांस्कृतिक सामाजिक स्तर तथा यथार्थ को समेटने का प्रयत्न करती हैं। ये कविताएँ अपने प्रयत्न में निश्चय ही बहुत स्तुत्य हैं किंतु एक तो नए नए सिद्धांतों को या जीवन-तथ्यों को अनुभव में पाग नहीं पाती, दूसरे नए जीवनसत्यों के अनुकूल भाषा की खोज नहीं करतीं, इसलिये वे काव्य की ऊँचाई नहीं प्राप्त कर पाती। वे अपने मूल संस्कार से थोड़ा हट जाती हैं और नए संस्कार से जुड़ भी नहीं पातीं। यह द्विधा की स्थिति उनके अनुकूल नहीं पड़ती।

वास्तव में इस अवधि के छायावाद का इतिहास मूलतः निराला और पंत के काव्यविकास का इतिहास है। यों छायावाद की शैली में लिखनेवाले और भी बहुत से लोग आए किंतु उनमे अपना कोई उन्मेष नही। वे इस धारा को स्फीति भले ही दे सके हों कोई वैशिष्ट्य नही प्रदान कर सके, इसलिये उनकी चर्चा अनपेक्षित है। अच्छे गीतकार जानकीवल्लभ शास्त्री के गीतों का भी अपना ऐसा व्यक्तित्व नहीं बन सका जिसे छायावाद के श्रेष्ठ कवियों की छाया से मुक्त किया जा सके। महादेवीजी की दीपशिखा उनकी रचनाओं के क्रम में ही अगली कड़ी के रूप में आई, इसलिये उन्हे भी १९३८ के पहले की महादेवी से मूलतः अलग नहीं किया जा सकता और फिर उसके बाद तो मौन ही हो गईं। इसलिये इस अवधि के छायावाद के विकास को समझने का अर्थ हैं निराला और पंत के काव्यविकास को समझना।

कहा जा चुका है कि निराला के गीत छायावाद से अलग न हट कर उसकी संभावनाओं से निर्मित हैं। किंतु उनमें एक बहुत बड़ी शक्ति का विकास होता गया है, वह है लोकोन्मुखता। किंतु यह लोकोन्मुखता ओढ़ी हुई नहीं है वह निराला के संस्कार में है जिसका आभास आरंभ से ही मिलता रहा है, अर्थात् निराला की छायावादी कविताओं में निराला का लोकोन्मुख व्यक्तित्व प्रारंभ से ही झलकता रहा है। निराला का जीवन संघर्षमय तथा लोकसंपृक्त रहा है, इसलिये वे स्वभावतः प्रेमसौंदर्य के बोध के साथ साथ जीवन के अन्य अनुभवों को अपने में समेट लेते हैं और व्यक्तिगत प्रणय के ही गीत न गाकर लोकजीवन के सु:ख दुख को, यातना और संघर्ष को, गहराई से उभारते है और उनकी व्यक्तिगत प्रणयानुभूति भी एकांतवासिनी न रहकर प्रायः लोकगंध से उष्म हो उठती है। निराला की यह विशेषता प्रस्तुत अवधि में अधिक विकसित होती गई है। यही कारण है कि जब छायावाद इस अवधि के अन्य कवियों की कविताओं मे अपना उन्मेष खो कर चुका रहा था तब निराला की कविताओं में ताजगी बनाए हुए था।

निराला की कविताओं में यह लोकोन्मुखता दो रूपों में आई—छायावाद से एकदम अलग हटकर कवि ने प्रगतिशील कविताएँ लिखीं। इन कविताओं में छंद, भाषा और भावभूमि सभी छायावाद के प्रभाव से मुक्त हैं। कुकुरमुत्ता, गर्म पकौड़ी, प्रेम संगीत, रानी और कानी, खजोहरा, मास्को डायलाग्स, स्फटिक शिला और नए पत्ते की अधिकांश कविताएँ इस प्रकार की कविताएँ हैं। इन कविताओं में प्रगतिशीलता अपने दार्शनिक रूप में नहीं हैं, बल्कि लोकानुभूतियों के रूप में हैं। 'कुकुरमुत्ता' में अलबत्ता शोषक शोषित की धारणा उभारी गई है। अधिकांश कविताओं में आभिजात्य को तोड़कर ठेठ लोकजीवनके बीच यात्रा करने की, उसके अनुभवों और सत्यों को उभारने की तड़प है।

'रानी और कानी' मे एक कुरूप लड़की तथा उसकी माँ की व्यथा का चित्र है। माँ कानी को रानी कहती है लेकिन इस भावात्मकता के बावजूद वह इस यथार्थ से तो परिचित है ही कि इसकी शादी कैसे होगी ? और तब ?

सुनकर रानी का दिल हिल गया
काँपे सब अंग
दाईं आँख से
आँसू भी बह चले माँ के दुःख से
लेकिन वह बाईं आँख कानी
ज्यों की त्यों रह गई करती निगरानी

कहीं कही कवि ने प्रगतिशील बननेवाले अभिजात लोगों की विसंगतियों की बड़ी मीठी चुटकी ली है जैसे मास्को डायलाग्स मे। श्रीगिडवानी बहुत बड़े 'सोशयलिस्ट' है मास्को डायलाग्स लेकर मिलने आए है और कवि से देश के मूर्ख बड़े आदमियों की शिकायत करते है तथा उन्हें फाँस कर अपना उपन्यास छपवाना चाहते हैं। कवि ने उपन्यास देखा। श्रीगणेश में मिला—

'हय असनेहमयी स्यामा मुझे प्रेम है।'

कवि ने कुकुरमुत्ता मे गुलाब और कुकुरमुत्ता के माध्यम से शोषक शोषित वर्गों का संघर्ष उभार कर रखा है और अपने लाभ के लिये जनता का उपभोग करनेवाले शौकिया जनवादी लोगों पर मानो व्यंग्य करता हुआ माली के माध्यम से कवि कहता है—

फर्माएँ मआफ खता
कुकुरमुत्ता उगाए नहीं उगता

और यह सच है कि अभिजात संस्कारों के कवियों के अनुभवों की वाटिका में शौकिया कुकुरमुत्ता नहीं उगाया जा सकता, जनता नही उगाई जा सकती।

निराला के अनुभव की वाटिका में कुकुरमुत्ता अपने आप उगा है—उगाया नहीं गया है। यहीं वे पंत से अलग दीखते हैं। यही कारण है कि निराला इन कविताओं में एकदम अलग हैं—छायावाद से। इन कविताओं की भाषा लोक की है, मुहावरे लोक के हैं, शैली लोक की है। इनमें लोककथात्मक तथा संवादात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार निराला इस बात को समझते थे कि लोकजीवन को केवल उसके भाव, दृश्य, व्यापार में ही नहीं लिया जा सकता, उसके लिये उसकी भाषा भी आवश्यक होती है, पंत इस बात को समझते हुए भी चरितार्थ नहीं कर सके।

छायावाद की परंपरा में आनेवाली इनकी कृतियों में भाव दृष्टि और विषय की दृष्टि से कोई ऐसी नवीनता नहीं जिसे इस अवधि की विशेष देन कहा जा सके। यह नहीं कि इधर की कविताओं में वैविध्य नहीं है किंतु निराला में वैविध्य आरंभ से ही रहा है। इधर की छायावादी कविताओं में इन्होंने एक ओर तो स्वानुभूतिपरक गीत लिखे हैं दूसरी ओर विजयलक्ष्मी पंडित, प्रेमानंदजी, संत रविदासजी, प्रसादजी, बुद्ध आदि, विविध क्षेत्रों के व्यक्तियों पर कविताएँ लिखी है। ये गीत कई तरह के हैं—इनमें प्रेम की संवेदना भी है और प्रार्थनापरकता भी। अन्य प्रकार की मानवीय संवेदनाएँ भी इनमें व्यक्त हुई हैं। ये सारी बातें निराला की ३८ से पहले की कविताओं में भी हैं, उनका अनुपात भले ही थोड़ा भिन्न हो। 'तुलसीदास' इस अवधि की इनकी विशिष्ट देन है। इसमें भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक पराजय का चित्र है तथा तुलसीदास के माध्यम से देश को इस पराजय के गर्त से निकालने का संकल्प है। एक कृति के रूप में उपलब्धि होते हुए भी प्रवृत्ति के रूप में यह कोई नई वस्तु नहीं है।

निराला की इस अवधि की नई देन है उनकी लोकवादी कविताएँ, ये लोकवादी कविताएँ वास्तव में कविता की उपलब्धि के रूप में नहीं स्वीकारी जा सकतीं, वरन् वस्तु और भाषा के एक नए प्रयोग के रूप मे ही महत्व प्राप्त करती हैं। ये कविताएं एक ठहराव को तोड़ती है और कवि को पुनः समग्र भाव से जनजीवन से जोड़ती हैं। जहाँतक इनकी छायावादी कविताओं का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि दो ऐसी बातें हैं जो इनमें विशेष रूप से उभरती हैं (यद्यपि उनके बीज इनकी पहले की कविताओं में विद्यमान हैं) वे हैं—भाषा और भाव की सापेक्षिक लोकोन्मुखता तथा भक्ति की ओर विशेष झुकाव। स्वानुभूतिमूलक गीतरचना तो छायावाद की विशेषता रही है। निराला की इस अवधि की कविताओं में उनकी जीवनानुभूति के जो स्वर उभरे उनमें टूटन और पराजय भी थी। यह टूटन, पराजय कवि को भक्ति की ओर उन्मुख करती है। साथ ही कवि का असंतुलित मानस प्रेम, भक्ति, खुलेपन और उलझाव का कुछ ऐसा मिश्रित रूप प्रस्तुत करता है कि ये कविताएँ उलझे प्रभाव से ग्रस्त हो जाती हैं।

पंतजी के इस काल के काव्यसाहित्य का विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि ये अपने चिंतन और विषय में अधिक विकासशील रहे हैं और चूँकि ये अपने संस्कार और भाषा में मूलतः छायावादी ही रहे अतः यह कहा जा सकता है कि पंत के माध्यम से छायावाद को इस अवधि में नया चिंतन और नया विषयजगत् प्राप्त हुआ है। १६३६ में 'युगांत' की घोषणा कर पंत ने १६३६ में 'युगवाणी' और १६४० में 'ग्राम्या' की रचना की। कवि ने छायावाद को अलंकृत संगीत मानकर नए दर्शन, नए विषय और नए स्वर से अपने काव्य को जोड़ना चाहा। इसलिये वे मार्क्सवाद के भौतिक दर्शन और जनजीवन के सत्यों की ओर उन्मुख हुए। यहाँ निराला और पंत के अंतर को समझ लेना चाहिए। निराला ने चिंतन के माध्यम से नहीं संवेदना और अनुभव के माध्यम से जनजीवन को ग्रहण किया, इसलिये उनकी कविताओं में मार्क्सवाद या समाजवाद का दर्शन कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं पा सका, जनजीवन अपने समस्त संवेदन के साथ उभरा। दूसरी ओर पंत ने चिंतन के स्तर पर मार्क्सवादी दर्शन को स्वीकारा। यह स्पष्ट है कि पंत कभी भी जनजीवन के बीच से नहीं गुजरे, इसलिये जनजीवन के यथार्थ संघर्ष, पीड़ा और उल्लास को अनुभव के स्तर पर नहीं जी सके थे। यही वजह है कि पंत मार्क्सवाद के स्वरूप को चिंतन के स्तर पर अभिव्यक्ति देने में पूर्णतया सफल रहे हैं किंतु जनजीवन के यथार्थ और अनुभव स्पंदित बिंब सफलता से उभार नहीं सके हैं। वे प्रायः मार्क्सवादी सिद्धांतों को ही व्यक्त करते रहे हैं, कहीं स्पष्ट रूप में, कहीं प्रतीकों के द्वारा। 'ग्राम्या' में वे गाँव के जीवन के यथार्थ को समझने और उसे स्वर देने की ओर अग्रसर हुए हैं। कहना न होगा कि कवि ने मार्क्सवादी दृष्टि के आलोक में गाँव के जीवन की विविध यथार्थ छवियों का बड़ा सुंदर चित्र अंकित किया है। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि कुशल शिल्पी पंत ने गाँव के जीवन यथार्थ को जितना उसके रूप रंग में पकड़ा है उतना भीतर की चेतना में नहीं।

प्रगतिवाद छायावाद से एक अलग धारा है। प्रश्न होता है कि पंत की इन प्रगतिशील कविताओं को छायावाद का एक नया विकास माना जाय या सर्वथा अलग एक धारा। निराला के संदर्भ में मैंने कहा है कि उनकी प्रगतिशील कविताएँ उनकी छायावादी कविताओं से एकदम कट कर अलग हो जाती हैं अतः उन्हें उनकी छायावादी कविताओं का एक नया विकास नहीं माना जा सकता। पंत के संदर्भ में यह बात ठीक नहीं जँचती अर्थात् उनकी प्रगतिशील कविताएँ उनकी छायावादी कविताओं से सर्वथा मुक्त न होकर उन्हीं का विकास मालूम पड़ती हैं। कारण यह है कि प्रगतिशील कविता जिस एक नए संस्कार और भाषा की अपेक्षा रखती थी वह पंत में नहीं है। केवल चिंतन से संस्कार नहीं बदलते, उसके लिये अनुभव के स्तर पर अभिप्रेत सत्य का साक्षात्कार आवश्यक होता है और इसके बिना उस सत्य

से संबद्ध भाषा भी नहीं मिलती। पंत ने यह बात समझी थी तभी उन्होंने घोषणा की थी—

> तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
> वाणी तुमको चाहिए और क्या अलंकार।

और इस घोषणा के अनुसार कवि ने अपनी प्रगतिशील कही जानेवाली कविताओं की भाषा को अपेक्षाकृत सरल बनाने का प्रयत्न किया था किंतु यह भी तो है कि भाषा केवल कवि के ही विचार जनमन तक प्रेषित नहीं करती परंतु जनमन के सत्य को कवि तक ले जाती है इसलिये यदि कवि जनजीवन की भाषा को पकड़ने में असमर्थ रहता है तो इसका अर्थ यह है कि उस भाषा से रूपायित होनेवाले जनजीवन के विविध आंतरिक बिंबों को पकड़ पाने में सफल नहीं हो सकता। यह सच है कि पंत संस्कार और भाषा के स्तर पर जनजीवन को पा लेने में समर्थ नहीं हुए हैं, उनके संस्कार (चिंतन के स्तर पर नहीं अनुभव के स्तर पर) छायावादी हैं और भाषा भी छायावादी है।

यह बात और भी स्पष्ट हो उठती है जब वे ग्राम्या से आगे की यात्रा में अरविंद दर्शन से प्रभावित हो उठते हैं। बीच में प्रगतिवाद के भौतिक दर्शन की ओर भटके हुए उनके विचार पुनः आध्यात्मिक लोक की ओर उठने लगते हैं। छायावादी संस्कार और भाषा दोनों पुनः अपनी परिधि में आश्वस्त हो उठते हैं। किंतु विचार के स्तर पर छायावाद को एक नई दिशा प्राप्त होती है। कवि मार्क्स के भौतिकवाद से संतुष्ट नहीं है किंतु उसे आवश्यक भी मानता है। कवि प्रारंभ से ही मनुष्यमात्र के सुख, प्रेम, शांति का स्वप्न देखता रहा है। इस वायवी स्वप्न को उसने रूप देना चाहा तो उसे मार्क्सवाद दिखाई पड़ा किंतु पुनः उसे ऐसा लगा कि मार्क्सवाद एकांगी है, केवल भौतिक योगक्षेम की व्यवस्था कर सकता है। कवि इसे आवश्यक मानता हुआ भी पर्याप्त नहीं मानता और अरविंदवाद में उसे भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का समन्वय दिखाई पड़ता है। कवि ने 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'शिल्पी' आदि परवर्ती कृतियों में इसी समन्वय को स्वर देना चाहा है।

पंत बहुत ही जागरूक विचारक और सचेत स्वप्नशिल्पी हैं। अतः वे अपने युग के विचारों को अपनाते रहे हैं साथ ही युग की यथार्थ विभीषिका में छटपटाते मानवसमाज को सुंदर और शिव रूप देने का स्वप्न देखते रहे हैं। 'ज्योत्स्ना' का स्वप्न, प्रगतिशील कविताओं में उभरता सामाजिक समता और भौतिक स्वास्थ्य का स्वर तथा अरविंद दर्शन से प्रभावित कविताओं की समन्वयवादी दृष्टि कवि की निरंतर विकसनशील चिंतना तथा मानव मंगलाकांक्षा को सूचित करती है। इस यात्रा में शुद्ध सौंदर्य और आनंद को व्यक्त करनेवाली प्रकृति क्रमशः कवि की चिंतना और स्वप्न की प्रतीक या परिवेश बनती गई है। 'पल्लव' और 'गुंजन' की प्रकृति तथा

'ग्राम्या', 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्ण धूलि', 'उत्तरा' आदि की प्रकृति में यह अंतर देखा जा सकता है। इस प्रकार क्या प्रकृति, क्या मानव जगत्, क्या भावलोक, क्या विचार पंत के परवर्ती काव्य में सभी नए रूप में दिखाई पड़ते हैं। कहा जा सकता है कि पंत के माध्यम से छायावाद को यथार्थ, भाव और विचार के नए आयाम प्राप्त हुए हैं।

किंतु इस विकासयात्रा में पंत का काव्यपक्ष आहत होता गया है, धारणा पक्ष उठता गया है। कारण यही है कि वे मानव समाज की समस्याओं और उनके समाधान, नए विचार और दृष्टि को धारणा और आकांक्षा के स्तर पर स्वीकार करते हैं अनुभूति के स्तर पर नहीं। इसलिये वह चाहे मार्क्सवाद हो, चाहे अरविंदवाद, पंतकाव्य को समृद्ध बनाने में समर्थ नहीं हुआ है। अरविंदवादी धारणाओं को भी कवि ने रूपक या प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया है और स्थान स्थान पर आकांक्षा, आशीर्वाद और उद्बोधन की झड़ी लगा दी है। स्वर्णरजत, स्वर्णकिरण जैसे कुछ विशेषणों की इतनी आवृत्ति की है कि वे अर्थहीन लगते हैं। होते होते यह हुआ कि पंतकाव्य मानवसंवेदना का काव्य न रह कर रूढ़ियों, रहस्यों और अवधारणाओं का काव्य बन गया है और इस संवेदनशून्यता के विस्तार में 'यह धरती कितना देती है' 'बाँध दिये क्यों प्राण प्राणों से' जैसी कुछ प्राणवान् कविताएँ कितनी सुखद प्रतीत होती हैं।

महादेवी वर्मा की दीपशिखा में उनकी क्रमागत भावधारा का ही उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। प्रेम उनका मुख्य विषय है। कवयित्री ने संयोग और वियोग में उभरनेवाले प्रेम के अनेक कोणों को अपने अनुभव के आलोक में देखा है। वेदना महादेवी की मूल संवेदना है, यह वेदना विरहजन्य है। करुणा, वेदना और निराशा से आक्रांत इनका प्रारंभिक काव्य दीपशिखा में कुछ आलोक पा सका है—आशा का, उल्लास का, मिलन का। एक प्रश्न बार बार उठता है कि महादेवी के प्रेम और उसके विरहमिलन की अनुभूतियाँ लौकिक हैं या पारलौकिक। वास्तव में इन अनुभूतियों के पारलौकिक होने का कोई तर्क समझ में नहीं आता। ये लौकिक अनुभूतियाँ ही हैं जिन्हें संकोचवश खोलकर नहीं रखा गया है। एक रहस्यात्मकता का आभास उन्हें यहाँ से वहाँ तक ढँके है। महादेवी में गीतकाव्य के उत्कर्ष की सुंदर संभावनाएँ हैं लेकिन यह रहस्यात्मकता का आवरण उनके प्रभाव की तीव्रता को कुछ कुंठित कर देता है।

कवयित्री के पास सीमित संवेदनाएँ हैं, वह इन्हें भिन्न भिन्न प्रतीकों और रूपकों से व्यक्त करती है। ये प्रतीक और रूपक भी बहुत सीमित और अभिजात हैं। कवयित्री की लौकिक संवेदनाएँ रहस्यवादी आभास से लिपट कर निश्चय ही नए अर्थ का विस्तार करती हैं किंतु साथ ही अपनी लौकिक मूर्तता, प्रत्यक्षता और तीव्रता खो देती हैं। दीप, चंदन, मंदिर, क्षितिज, आकाश, कसक, धूल, मेघ, विद्युत, सागर, तरणी आदि प्रतीक और शब्द बार बार आते हैं और रहस्यात्मक संकेत में

उलझ जाते हैं। महादेवी की संवेदनाएँ और प्रतीक परिवेश से विच्छिन्न होने के कारण वैविध्य तथा प्रत्यक्षता नहीं प्राप्त कर पाते। इसलिये जब कवयित्री अपनी व्यथा सागर, बादल, दीप आदि में देखती है तो लगता है कि वह अपनी व्यथा की केंद्रीय सघनता को सायास चारों ओर फैलाकर उसकी लौकिक मांसलता को कम करना चाहती है या उसे एक रहस्यवादी रूप देकर आध्यात्मिक गरिमा से मंडित कर रही है। प्रायः लगता है कि उसकी व्यथा सहज भाव से तड़प कर बादल, सागर आदि में व्याप्त नहीं हो जाती वरन् कवयित्री बड़े कौशल से बादल, सागर आदि का आयोजन करती है।

'दीपशिखा' में 'पंथ रहने दो अपरिचित', 'हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चंदन' आदि कविताओं की भक्तियों करुणा, व्यथा तथा निराशा के भीतर से आशा, संकल्प, मिलनसुख आदि का स्वर उभारा गया है। प्रश्न होता है—यह उत्कट संकल्प और संघर्ष किस संदर्भ में है? आध्यात्मिक अर्थ में वह साधक की अटूट साधना का परिचायक हो सकता है किंतु लौकिक अर्थ में ये 'दुखव्रती निर्माण उन्मद' स्वर किस व्रत और निर्माण की बात करना चाहते हैं, ये किस प्रकार तिमिर में स्वर्णवेला बाँध लेना चाहते हैं? व्यक्ति के संदर्भ मे यह आकांक्षा से अधिक कुछ नही ठहरता। निर्माण, संघर्ष और प्रकाश की खोज के लिये सामाजिक भूमिका आवश्यक होती है। वह सामाजिक भूमिका इन कविताओं मे स्पष्ट नही है, स्पष्ट है केवल एक व्यक्ति का निजी परिधि मे सुख दुःख झेलते रहने का भाव। इन सारे संकल्पवादी शब्दों का कोई बिंब नही उभरता, ये मात्र अर्थबोध कराते हैं।

इन निजी और छायावादी सीमाओं के बावजूद महादेवीजी छायावाद की विशिष्ट और समर्थ कवयित्री हैं, और दीपशिखा उनकी विशिष्ट कृति। महादेवी के गीत गीत की दृष्टि से समस्त छायावादियों के प्रगीतों मे अपना विशिष्ट ही नहीं श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। रहस्य और संकोच के आवरण के बावजूद कवयित्री की अंतरंग निजता गीतों में बहती रहती है। जहाँ कही वह पारदर्शी हो जाती है या समग्र दृश्य सिमट कर उसी की ओर संकेत करने लगते हैं वहाँ वह उत्कृष्ट गीतों की रचना करती है। कवयित्री की मूल काव्यसंवेदना करुणा और व्यथा अपनी सघनता और तरलता में बहुत प्रभावशाली हो उठती है, वहाँ पीड़ा के बिंब पर बिंब उभरते चले आते हैं। वैसे देखा जाय तो यह विशेषता खंडित रूप में उनके अधिकांश गीतों में पाई जाती है किंतु 'जो न प्रिय पहिचान पाती', 'कहाँ से आये बादल कारे', 'मेघ सी घिर कर चली', 'अलि कहाँ संदेश भेजूँ', 'झिप चली पलकें तुम्हारी पर कथा है शेष', 'धूप सा तन दीप सी मैं' जैसी कविताएँ समग्रतः इस विशेषता से दीप्त हैं। महादेवी की दूसरी विशेषता है सूक्ष्म चित्रात्मकता। ये चित्र रूपजगत् और भावजगत् दोनों के हैं किंतु रूप-जगत् के चित्र भी कवयित्री के मानसिक संदर्भ में ही होते हैं। जहाँ ये चित्र कोई गहन व्यथा उभारते हैं वहाँ अपनी सूक्ष्मता में ही पारदर्शी और प्रभावशाली हो जाते हैं, अन्यथा अवस्था में अपनी निरी रूपगत बारीकियों के बावजूद अपनी सार्थकता

सिद्ध नहीं कर पाते, बायवी और आरोपित लगते हैं। कुछ चित्र तो बहुत ही ताजे और संश्लिष्ट अनुभव बिंबों से रचित है—'किरण के निर्झर झुके', 'सिंधु चलता मेघ पर रुकता तड़ित का कंठ गीला', 'गिरि कपोलों पर न सूखी आँसुओं की रेख', 'उड़ रहे यह पृष्ठ पल के', 'धूपमयी बीथी बीथी मे छिप कर मैं विद्युत सी रोई', 'पुतली ने आकाश चुराया'। लोकपरिवेश और लोकभाषा से दूर, सीमित आत्मानुभूति की परिधि में विचरण करनेवाले, भाषा की अभिजात छवि से मंडित ये गीत शब्दचयन, पदसंतुलन, प्रांजलता, कोमलता और स्वर लय में बहुत विशिष्ट हैं।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता

राष्ट्रीय शब्द अपने आधुनिक अर्थ मे आधुनिक है जिसमें जाति, संप्रदाय, धर्म, सीमित भूभाग आदि की संकीर्णता के स्थान पर क्रमशः एक समग्र देश और उसके भीतर निवास करनेवाली समस्त जातियों, भिन्न भिन्न भूखंडो, संप्रदायों और रीति-रिवाजों के लोगों का संश्लिष्ट, सामूहिक रूप उभरता गया है। कहना न होगा कि अंग्रेजों के आने के समय तक अपनी सांस्कृतिक एकता के बावजूद भारत व्यावहारिक रूप से भिन्न भिन्न राज्यों मे बँटा हुआ था। एक राजा दूसरे पर चढ़ाई किया करता था। इतना ही नही बल्कि ये राजे एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये विदेशी आक्रमणकारियों का भी साथ दिया करते थे। इनके पारस्परिक झगड़ो के मूल मे कोई बृहत्तर सामाजिक या मानवीय आदर्श नही था बल्कि राज्यविस्तार की भावना, अहंकार की तृप्ति या किसी की सुंदर बहू बेटी का अपहरण करने की लालसा थी। इसलिये ये अपने पड़ोसी या सगोत्री राजा को पराजित करने के लिये लुटेरे विदेशियों का स्वागत करते थे, उनसे मिल जाया करते थे। हिंदी साहित्य का इतिहास देखें तो प्रतीत होगा कि आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल मे देश की स्थिति यही थी। राजाओं के आश्रित कवि अपने अपने आश्रयदाताओं के वास्तविक या कल्पित शौर्य को उदात्त रूप देने का प्रयास करते थे किंतु इस वास्तविकता की ओर न उनकी दृष्टि थी न उनके आश्रयदाओं की कि यह सारा (असली या नकली) शौर्य राष्ट्रीय संदर्भ से जुड़ नही पा रहा है। राष्ट्रीय तो दूर आसपास के सामूहिक हित से भी नहीं जुड़ पा रहा है। यदि कहीं दो राजाओं में एकता दिखाई भी पड़ी तो उसका आधार या तो संमिलित भय रहा या समधार्मिकता या समसांप्रदायिकता। हाँ कभी कभी विदेशी शासकों के विरुद्ध कोई भारतीय राजा बहुत बहादुरी से जूझता दिखाई पड़ा तो लगा कि उसमें बहुत राष्ट्रीय भावना काम कर रही है किंतु वास्तव में यह राष्ट्रीय भावना नहीं, जातीय गौरव की रक्षा का स्फूर्जित अभिमान था।

वास्तव मे पूरे भारतवर्ष की एकता के अर्थ मे राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक काल में हुआ। अंग्रेजो ने समूचे देश में एक शासन स्थापित किया जिससे पूरे देश के लोग एक राजा की प्रजा हुए और पूरे देश को समान यातना का अनुभव हुआ।

अपने अपने में बँटे हुए लोगों को यह प्रतीत हुआ कि वे सब मिलकर एक हैं, वे चाहे किसी जाति या धर्म के हों, अंग्रेजों के गुलाम हैं। और फिर जब अंग्रेजी शासन के विरुद्ध मुक्ति का अभियान आरंभ हुआ तो मुक्ति की चेतना किसी एक धर्म या प्रदेश में सीमित न रहकर पूरे देश में व्याप्त हुई। इस प्रकार आधुनिक काल में जो राष्ट्रीयता का स्वरूप उभरा और विकसित हुआ उसके तीन आधार हैं—पूरे देश में अंग्रेजी शासन की स्थापना, समग्र भारतीय प्रजा द्वारा अंग्रेजी शासन की अव्यवस्था, अत्याचार आदि से उत्पन्न यातना का समान अनुभव तथा स्वाधीनता आंदोलन और उसका देशव्यापी प्रसार।

राष्ट्रीयता का विकास सबसे पहले पश्चिम में हुआ, विशेषतया इंगलैंड मे; किंतु वहाँ पराधीनता की समस्या नहीं थी। इसलिये वहाँ राष्ट्रीयता के जो तत्व उभरे वे भारत में उभरनेवाले तत्वों से थोड़े भिन्न थे। अंग्रेज अपने साथ अपनी राष्ट्रीय भावना लाए थे साथ ही साथ भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के लिये परिस्थितियाँ भी। भारतीय राष्ट्रीयता में स्वरक्षा का भाव प्रधान था जब कि स्वतंत्र पश्चिमी देशों में स्वविकास का। भारत एक विशाल देश है, जहाँ अनेक संस्कृतियों, भाषाओं, रीतिरिवाजो के लोग रहते हैं। ऊपर ऊपर जो एक दूसरे से अलग अलग दीखते है परंतु सबका मूल स्रोत एक ही है जो आंतरिक रूप से स को बाँधता है। वह मूल स्रोत है अपनी प्राचीन संस्कृति और अपना प्राचीन आध्यात्मिक सत्य। कहा जा सकता है कि हमारे यहाँ उभरनेवाली राष्ट्रीयता मे तीन मुख्य बाते लक्षित होती हैं—(१) भारतीय पराधीनता की यातना का अहसास और उससे मुक्ति पाने का प्रयास, (२) पश्चिमी सभ्यता और अलगाव की भावना से आक्रांत होती हुई भारतीय चेतना के उद्धार के लिये तथा उसमे एकता और स्वाभिमान का बल फूँकने के लिये अपनी प्राचीन संस्कृति के समुज्ज्वल रूप का प्रस्तुतीकरण, तथा (३) उपयोगी आधुनिक मूल्यों के आलोक मे राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का पुनर्विचार तथा पुनर्गठन। कहना न होगा कि स्वाधीनता-प्राप्ति तक प्रथम दो तत्व बहुत प्रबल रहे किंतु स्वाधीनताप्राप्ति के पश्चात् तीसरे तत्व की ही सार्थकता शेष रह गई किंतु उससे बड़ी बात जो आई वह थी देश की राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा और विकास करने का प्रयास तथा नवीन राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण उत्पन्न समस्याओं से जूझने और उनका समाधान खोजने की चेष्टा। यह नहीं है कि अब हम अपने अतीत गौरव अर्थात् प्राचीन संस्कृति-सभ्यता के औदात्य की बात नहीं करते किंतु अब गौरवस्मरण के स्थान पर गौरव-परीक्षण प्रमुख होता जा रहा है। वर्तमान समस्याओ और प्रश्नों के संदर्भ में जब हम अपने अतीत गौरव को देखते है तब उससे अभिभूत होने के स्थान पर उसका पुनर्मूल्यांकन करते है और विचार के स्तर पर हम उससे अपने को जोड़ते या काटते हैं, उसके भीतर निहित द्वंद्वों, विसंगतियों और मानवीय संवेदनाओं की तलाश करते हैं। यों ऐसे लोगों की कमी आज भी नही है जो प्राण प्राण से रहित होकर अतीत

गौरव से अभिभूत हो उठते हैं, बात बात मे उसकी दुहाई देते हैं और आचरण में घोर वर्तमान स्वार्थ को ढोते रहते हैं।

ऊपर की चर्चा से जो बातें उभरकर सामने आती है वे ये हैं—राष्ट्रीयता अपने आधुनिक अर्थ में आधुनिक काल की देन है। राष्ट्रीयता की भावना में राजनीतिक चेतना के साथ अपने देश की सांस्कृतिक चेतना भी निहित होती है। सांस्कृतिक चेतना की उद्‌बुद्धता के नाते राष्ट्रीयता वर्तमान की समस्याओं के साथ साथ अतीत गौरव के भाव से जुड़ जाती है। पराधीन राष्ट्र अतीत गौरव या अपनी उदात्त सांस्कृतिक परंरा से अभिभूत होता है, स्वाधीन राष्ट्र उसका पुनः परीक्षण भी करता है। पुन. परीक्षण की प्रक्रिया में वर्तमान के मूल्य और दृष्टिकोण क्रियाशील हो उठते है अतः प्राचीन काल के बहुत से उदात्त दिखाई पड़नेवाले तत्व अर्थहीन, और उपेक्षित तत्व सार्थक हो उठते हैं। राष्ट्रीयता मात्र विचार नही है वह संवेदना और आचरण भी है। जो व्यक्ति अपने देश की परंपरा, देश की मिट्टी, प्रजा के सुख दुःख आदि से संवेदना और आचरण के स्तर पर जुड़ा नही होता वह केवल देश की समस्याओं पर विचार कर सकने के कारण ही राष्ट्रीय नही कहा जा सकता। किंतु विचार को राष्ट्रीयता का अपरिहार्य तत्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। विचारशक्ति, बुद्धि और विवंक से ही व्यक्ति देश के संश्लिष्ट रूप को समझ सकता है, उसकी वर्तमान समस्याओं और सांस्कृतिक परंपराओं की व्याख्या कर सकता है, समस्याओं से निकलने का मार्ग ढूँढ सकता है। जहाँतक आधुनिक हिंदी कविता मे राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति का प्रश्न है कहा जा सकता है कि वह भारतेंदुकालीन कविताओं से प्रारंभ होती है। किंतु राष्ट्रीयता का स्वरूप तबसे लेकर आजतक विकसित होता रहा है। आरंभ में मोटे मोटे दु.ख दर्दों, सहज भावात्मक प्रतिक्रिया तथा अतीत स्मरण के रूप मे लक्षित होनेवाली राष्ट्रीयता धीरे धीरे जटिल और संश्लिष्ट होती गई तथा अनेक मानवीय और सार्वभौम प्रश्नों तथा संवेदनों से संपन्न होती चली गई, नई नई राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने उसे जटिल रूप प्रदान किया। द्विवेदीकाल तक भारतीय राष्ट्रीयता बहुत कुछ हिंदू राष्ट्रवाद के रूप मे दिखाई पड़ती है। इसका कारण सायास हिंदू राष्ट्रवाद का प्रसार नहीं था वरन् उस भारतीय दृष्टि का अभाव था जो गांधीजी के व्यक्तित्व से उभर कर आई। वैसे देखा जाय तो भारतीय गौरव का इतिहास हिंदूगौरव या आर्यगौरव का इतिहास है इसलिये अतीत का स्मरण करते ही स्वत. वह इतिहास सामने आ जाता है, वह अपने समस्त प्रतीकों और घटनाओं के साथ साकार हो उठता है, इसलिये भारतेंदुकाल और द्विवेदीकाल के कवियों के मन में जो अतीत उभरता था वह इसी प्रकार का था। किंतु उन्होंने कहीं भी हिंदूराष्ट्र स्थापित करने की बात नही कही है। यह अवश्य है कि उनमें वर्तमान भारत के जाति, संस्कृति और धर्मसंकुल स्वरूप को पहचानने की वह दृष्टि नही दिखाई पड़ती जो बाद मे विकसित हुई। यद्यपि बाद में भी ऐसे कवियों का

प्रभाव नहीं जो यह दृष्टि नहीं पा सके और जानबूझ कर हिंदू राष्ट्रवाद पर जोर देते रहे।

प्रस्तुत कालावधि में आनेवाली कृतियों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि राष्ट्रीयता के सारे रूप—कहीं खंडित रूप में, कहीं संश्लिष्ट रूप में—इनमें दिखाई पड़ते हैं। राष्ट्रीयता का जो सबसे स्थूल रूप है वह है विदेशी शासन के अत्याचारों, उनसे प्रसूत जनयातनाओं और जनता के मन में उठती हुई क्रोध तथा असंतोष की ललकारों का चित्रण। यह क्रिया बहुत स्थूल रूप में भी हो सकती है और बहुत सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट रूप में भी। आवेश की प्रधानता के कारण प्रायः यह स्थूल ही होती है। दैनिकों, साप्ताहिकों में प्रकाशित होनेवाली सामान्य कवियों की इस कोटि की कविताएँ तो स्थूल और सामयिक हैं ही अच्छे कवियों की भी कविताओं को कोई स्थायी महत्व नहीं प्राप्त हो सका। फिर भी इन कविताओं का ऐतिहासिक महत्व तो है ही। इस प्रकार की राष्ट्रीय कविताओं का महत्वपूर्ण स्वर प्रस्तुत अवधि में दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी की कृतियों में सुनाई पड़ता है। वास्तव में प्रेमचंद के उपन्यासों में तत्कालीन भारतीय जीवन को जकड़ती हुई विदेशी सत्ता, सामंतवाद, महाजनी सभ्यता के जिस जटिल और बुनियादी स्वरूप को उभारा गया है उसे भावुकता से संचालित इस प्रकार की राष्ट्रवादी कविताएँ मुखर नहीं कर सकी हैं। इनमें वस्तुस्थिति की सही व्याख्या के स्थान पर भावुक प्रतिक्रिया है। ये कविताएँ जितना स्पंदित करती हैं उतना समझने की दृष्टि नहीं देतीं। और यह स्पंदनशक्ति समय के साथ चुक गई है। हाँ, इस संदर्भ में एक बात अवश्य लक्षित करने की है कि १६३८ के आसपास के राष्ट्रीय जीवन की यातना और आक्रोश के स्वर में एक नया उभार लक्षित होता है। छायावाद काल में गांधीजी के प्रभाव से आत्मपीड़न तथा अहिंसाजन्य नरम प्रतिरोध दिखाई पड़ता है किंतु वामपंथी दलों के उदय, समाजवादी सिद्धांतों के प्रचार तथा विदेशी शासन के झूठे वायदों और अधिकाधिक कठोर, विषम एवं जटिल होती हुई परिस्थितियों के कारण साहित्य का स्वर अधिक उग्र, यथार्थवादी और लोकोन्मुख होता गया। दूसरी बात यह हुई कि प्रगतिवाद के प्रभाव से देश के भीतर बनते हुए शोषकों तथा शोषितों के अनेक वर्गों की पहचान होती गई। लड़ाई केवल अंग्रेजी सत्ता से ही नहीं है सामंती, महाजनी सभ्यता से और उनके प्रतिनिधि देशी शोषकों से भी है जो अपने ही देश की जनता के लिये अपने अपने ढंग से भयंकर शोषण के अस्त्र शस्त्र बन रहे हैं। राष्ट्रीयता का यह नया स्वर दिनकर में अधिक उभर कर आया। छायावाद की राष्ट्रीयता में जो हवाई आदर्श और लक्ष्य की अरूपता थी उसे दिनकर जैसे कुछ कवियों ने ठोस धरातल पर, ग्रामपरिवेश में मूर्त रूप प्रदान किया। कवि की दृष्टि में भारत का स्वरूप उसके गाँवों, शोषित जनता और उसके समूचे प्रत्यक्ष सुख दुःख के साथ उभरने लगा। अतः कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद ने भारतीय राष्ट्रीयता को अधिक प्रत्यक्ष किया,

उसे प्रकाश से धरती पर उतारा, उसे जनजीवन से जोड़ा। राष्ट्र की मुक्ति को नए समाजनिर्माण के भाव से संयुक्त किया :

उठो, उठो ओ नंगों भूखों
ओ मजबूर किसान उठो।
इस गतिमय मानव समूह के
ओ प्रचंड अभिमान उठो।
....
शतियों के आदर्श तुम्हारे
मूर्त रूप धर आए हैं।
नव समाज के नवल सृजन का
नया संदेशा लाए हैं।
दिशि दिशि में समता स्थापन के
ये अभिनव स्वर छाए हैं।
महाक्रांति के नव विधान हित
तुम करने बलिदान उठो।
'हम विषपायी जनम के'
(नवीन)

कहा जा चुका है कि राष्ट्रीयता का संबंध देश के स्थूल सुख दुःख और आक्रोश के चित्रण से ही नही होता है बल्कि राष्ट्र की आत्मा या चेतना की पहचान से होता है, वरन् उसी से अधिक होता है। यह चेतना स्थिर न होकर गतिशील रहती है अर्थात् नई नई परिस्थितियों में नए नए कोण उभारती रहती है और पुराने कोण छोड़ती रहती है। संस्कृति का संबंध इसी आत्मा या चेतना से होता है। यह संस्कृति जहाँ इतिहास के रूप में हमारे लिये प्रेरणा और पृष्ठभूमि बनती है वहाँ वर्तमान चेतना से स्पंदित होकर हमारा जीवन बन जाती है, वर्तमान चेतना से अनुप्राणित होकर ही संस्कृति की धारा जीवंत प्रवाह प्राप्त करती रहती है, मात्र इतिहास बन कर वह नहीं जी सकती, अवरुद्ध हो जाती है। हिंदी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविताओं के इस स्वर की परीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि प्रतिभावान्, नवदृष्टि संपन्न और महत्वपूर्ण कवियों ने संस्कृति के उदात्त अतीत रूप को वर्तमान जीवनसंदर्भों में पुनः परीक्षित करके स्वीकार किया है। इस प्रकार इतिहास सहज ही आज के प्रश्नों, दृष्टियों और मानव संवेदनों से जुड़कर इसके लिये अधिक मूल्यवान् और सार्थक बन गया है। यह प्रयास प्रस्तुत अवधि के पूर्व रचित महत्वपूर्ण काव्यकृतियों—यशोधरा, पंचवटी, साकेत, प्रियप्रवास, कामायनी, राम की शक्तिपूजा, आदि—में भी लक्षित होता है। प्रस्तुत अवधि में प्रकाशित काव्यकृतियों में प्रमुख हैं—'कुरुक्षेत्र', 'जयभारत', 'नकुल', 'रश्मिरथी'। इनके अतिरिक्त 'इतिहास के आँसू' की फुटकल

कविताओं को भी इस संदर्भ में लिया जा सकता है। इन कृतियों में वर्तमान जीवन-प्रश्नों का प्रत्यक्ष या परोक्ष अंकन आकलन तो अवश्य है, किंतु उन्हें समेटनेवाला, उन्हें परिणति देनेवाला स्वर भारतीय है अर्थात् भारतीय संस्कृति के किसी उदात्त स्वर की तलाश ही इन प्रश्नों के बीच भटकती है। कुरुक्षेत्र का प्रसंग महाभारत से लिया गया है किंतु उसकी यातना, टूटन, ध्वंस महाभारत की अपेक्षा आज का अधिक है—विश्वयुद्धों की छाँह में छटपटानेवाली विश्वमानवता की यातना, टूटन और ध्वंस। कवि ने इतिहास से जानबूझ कर ऐसा प्रसंग लिया है जो उसे वर्तमान की यातना और समस्या से जोड़ सके। कवि का शंकाकुल हृदय भाव और विचार बनकर, युधिष्ठिर और भीष्म बनकर संहार के विस्तार के बीच असहाय सा घूमता फिरा है किंतु इन वर्तमान विभीषिकाओं से निकलने का कोई मार्ग है तो एक ही है—त्याग, सत्य, समवेदनामयी मानवता जो भारतीय संस्कृति का जाना पहचाना मार्ग रही है। यह बात भी लक्षित करने की है कि कवि ने इन चमकीले मूल्यों की परीक्षा की है और कालांतर में उत्पन्न उनके खोखलेपन तथा विसंगतियों को निर्ममता से अनावृत किया है एवं उचित वर्तमान जीवनसंदर्भों, विचारों, साम्यवाद, विज्ञान, कर्म आदि से जोड़कर उन्हें नया अर्थ दिया है। इसी प्रकार रश्मिरथी में इतिहास के एक उपेक्षित पात्र (या वह पात्र जिसकी विशेषताएँ उपेक्षित कर दी गई थीं) कर्ण को वर्तमान जीवनप्रसंगों में नए दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत किया है। प्राचीन काल में आभिजात्य का आतंक था जिसमें भारतीय सभ्यता का मूल मानवीय स्वर डूब डूब जाता रहा है और कर्ण जैसे पौरुषमय व्यक्तित्व को निरंतर यातना भोगनी पड़ती रही है। आज भी आभिजात्य का आतंक कम नहीं हुआ है किंतु इसके बावजूद आज का युग जनसामान्य की महत्ता स्थापित करने में संलग्न है। आज के मनीषी और कलाकार की दृष्टि में अभागे मानव की यातना और महत्ता स्पष्ट होती जा रही है। इसी दृष्टि ने कर्ण को इतिहास के खंडहरों में से निकाल कर नया रूप प्रदान किया है या यों कहा जाए कि उसके व्यक्तित्व के उन पहलुओं को संघटित कर एक नई रचना का रूप दिया गया है जो उपेक्षित थे किंतु आज के जीवन के बहुत समीप जान पड़ते हैं। उसका अभाग्य, उसकी यातना, उसका पौरुष, उसका संघर्ष, उसका अकेलापन उसे आज के ईमानदार लांछित अभागे आदमी के बहुत पास ला देता है। कवि ने कर्ण और परशुराम के माध्यम से वर्तमान जीवनसंदर्भों में उभरनेवाले अनेक प्रश्नों, संवेदनाओं और संबंधों को आधुनिक दृष्टि से देखा परखा है किंतु अहंतक प्रश्न मूल्य का है उसे उसने भारतीय संस्कृति से ही प्राप्त किया है। हाँ, यहाँ भी नए संदर्भों की खराद पर चढ़कर उसमें नई चमक आ गई है, परंपरा से चिपकी पपड़ियाँ झड़ गई हैं। त्याग, दान, मैत्री, सत्यवादिता आज के व्यावसायिक युग के मूल्य नहीं रह गए हैं किंतु अत्यंत मानवीय नियति से गुजरनेवाला कर्ण इन मूल्यों का प्रतीक है जिन्हें उसने अपनी भारतीय संस्कृति से प्राप्त किया है।

अभागे मानव की नियति और पौरुष का प्रतीक कर्ण स्वयं अपने बारे में कहता है :

मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग, किंतु, पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा,
मन में लिये उमंग, जिन्हें चिरकाल कलपना होगा।

....

श्रम से नहीं विमुख होंगे जो दुख से नहीं डरेंगे,
सुख के लिये पाप से जो नर संधि न कभी करेंगे।
कर्णधर्म होगा धरती पर बलि से नहीं मुकरना,
जीना जिस अप्रतिम तेज से, उसी शान से मरना।।

'जयभारत' संपूर्ण महाभारत की कथा को संक्षिप्त रूप में ग्रहण करता है : इस प्रकार उसका फलक विस्तृत है तथा कलेवर बड़ा। किंतु सर्जन की जो सार्थकता गुप्तजी की अन्य कृतियों—साकेत, पंचवटी, यशोधरा में दिखाई पड़ती है वह इसमें नहीं। क्योंकि यहाँ महाभारत की सारी कथा को प्रायः उसके अपने क्रम में स्वीकारा गया है। इतनी बड़ी कथा को संपूर्ण रूप से थोड़े में कहने के कारण कवि को कथा के ही सुलझाने में व्यस्त रहना पड़ा है। मुक्त भाव से किसी पक्ष को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में विकसित करना कठिन हो गया है। हाँ, कहीं कहीं स्वीकृत कथा के ही प्रसंग में कवि ने छोटी छोटी भावोद्भावनाएँ कर काव्य को चमक देने का प्रयत्न किया है, जैसे स्वर्ग से च्युत होता हुआ नहुष कहता है :

गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी,
मैं ही तो उठा था आप गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूंगा, और बढ़ के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं चढ़ के रहूँगा मैं।।

इससे सिद्ध यह होता है कि संस्कृति अपने प्राचीन रूप में (वह चाहे कितना हो उदात्त क्यों न हो) प्रस्तुत होकर सार्थक और जीवंत नहीं बनती, वह वर्तमान जीवनसंदर्भों और दृष्टियों से जुड़कर ही सार्थक तथा जीवंत होती है। इसलिये जो राष्ट्रीय सांस्कृतिक कृतियाँ अपने गौरवमय अतीत को, उसकी किसी मूल्यवान् घटना, पात्र या आदर्श को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देती हैं, उन्हें अपने काल के जीवन से किसी प्रकार नहीं जोड़तीं, वे वास्तव में सर्जन के स्तर पर अपनी कोई बड़ी सार्थकता प्रमाणित नहीं करतीं, वे राष्ट्र की चेतना को स्पर्श नहीं करतीं, उसके नवीन चिंतन, प्रश्न, संक्रांत जीवनसंबंधों को उजागर न कर अतीत का मोहासक्त रूप प्रस्तुत करती हैं।

इस प्रकार भारतीय अतीत के किसी गौरवमय प्रसंग पर आधारित प्रस्तुत कालावधि की कृतियों को दो भागों में बाँट सकते हैं—एक ओर दिनकर की 'कुरुक्षेत्र',

'रश्मिरथी', सियारामशरण गुप्त की 'नकुल', मैथिलीशरण गुप्त की 'जयभारत' (आंशिक रूप से) कृतियाँ हैं जो अतीत को वर्तमान से जोड़ती हैं; दूसरी ओर सोहनलाल द्विवेदी की 'कुणाल' तथा अन्य फुटकल कविताएँ, श्यामनारायण पांडेय की 'हल्दीघाटी', 'जौहर', गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ' आदि कृतियाँ हैं जो अतीत का रसमय चित्र प्रस्तुत करती हैं तथा किसी भारतीय जीवनादर्श को ध्वनित करती हैं। वे वर्तमान जीवन को अनुप्राणित नहीं कर सकतीं, हाँ 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' जैसी कृतियाँ अवश्य अपने ओजस्वी स्वरों से उन लोगों में जोश जगाती हैं जो आज के भारत की संश्लिष्ट संस्कृति और संश्लिष्ट प्रकृति से अवगत न होकर भारतीय नहीं, हिंदू संस्कृति और हिंदू राज्य का सपना देखते हैं। चंदवरदाई, भूषण और श्यामनारायण पांडेय की राष्ट्रीयता में कोई अंतर नहीं दिखाई पड़ता।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता का एक और पक्ष है जो छायावाद काल से ही लक्षित होता है—वह है रहस्योन्मुखता। राष्ट्रीयता संस्कृति के साथ जुड़ जाने के कारण उसकी सभी छायाओं से संपृक्त हो उठती है। रहस्यवादिता प्रारंभ से ही भारतीय संस्कृति की एक छाया रही है, वह छायावाद की परोक्ष शैली, प्रच्छन्न अनुभूति और अरूप दार्शनिकता तथा विवेकानंद, गांधी, टैगोर के व्यक्तित्वों का स्पर्श पाकर आधुनिक काल में और मुखर हो उठी। इसलिये प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि शुद्ध छायावादी कवियों के साथ साथ माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जैसे राष्ट्रीय कविता लिखनेवाले कवियों में भी रहस्योन्मुखता दिखाई पड़ती है। अन्य राष्ट्रवादी कवि इस स्वर से आक्रांत नहीं हैं, बल्कि ३८ के पश्चात् दिखाई पड़नेवाली धारा तो इतनी प्रत्यक्षतावादी है कि उसमें इसका अवकाश ही नहीं हो सकता था। माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन भाव और शिल्प दोनों दृष्टियों से छायावाद से असंयुक्त नहीं हैं भले ही इन्होंने मुख्यतः राष्ट्रीय आंदोलन को स्वर दिया हो। इसलिये, उसकी रहस्यवादिता से भी ये मुक्त नहीं हो सके। इन दोनों की राष्ट्रीय कविताओं के बीच बीच में इस प्रकार रहस्योन्मुखता उभर आती है कि पूरी की पूरी कविता कोई निश्चित प्रभाव ही नहीं जगा पाती। इस प्रकार 'हिमकिरीटिनी', 'हिमतरंगिनी', 'रश्मिरेख', 'अपलक', 'क्वासि' सभी की राष्ट्रीय कविताएँ आध्यात्मिक रहस्यवाद से आक्रांत हैं और लगता है कि वह रहस्यवाद राष्ट्रीय कविताओं के संदर्भ में कुछ बेमेल दीखता है।

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी इस धारा के श्रेष्ठ कवि हैं। कवि ने अपने समय की समस्त राष्ट्र-चेतना को अपने शब्दों में स्वर दिया है। काव्यात्मक दृष्टि से यह स्वर बड़ा ही विषम है, कहीं बहुत उठा हुआ, कहीं एक दम सपाट, सामान्य विवरणात्मक। फिर भी जहाँ तक अपने युग को उसके बहुरंगी रूप में पकड़ने का प्रश्न है गुप्तजी बहुत जागरूक

कवि रहे हैं। इनका काव्य युग की घटनाओं, राष्ट्र की विषम अवस्थाओं, स्वाधीनता आंदोलन के विविध प्रयासों, प्राचीन आदर्शों और मूल्यों, नवीन चेतनाओं का साक्षी रहा है और निश्चय ही 'साकेत', 'यशोधरा' जैसी कृतियों में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना बहुत काव्यात्मक रूप में व्यक्त हुई है। या यों कहा जाय कि युग के संदर्भ में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना की पकड़ ने हिंदी साहित्य को 'साकेत', 'यशोधरा' जैसी विशिष्ट काव्यकृतियाँ प्रदान कीं। किंतु जहाँतक प्रस्तुत कालावधि का प्रश्न है गुप्तजी अपने इस क्षेत्र में सक्रिय रहकर भी पहले से कुछ विशिष्ट नहीं दे सके।

रामधारी सिंह दिनकर

इस धारा के इस कालावधि के सबसे सशक्त कवि 'दिनकर' हैं। दिनकर में संवेदना और विचार का बड़ा सुंदर समन्वय दिखाई पड़ता है। चाहे व्यक्तिगत प्रेम-सौंदर्यमूलक कविताएँ हों, चाहे राष्ट्रीय कविताएँ, सभी कवि की संवेदना से स्पंदित हैं। दिनकर में आरंभ से ही अपने को अपने परिवेश से जोड़ने की तड़प दिखाई पड़ती है इसलिये उनमें सर्वत्र एक खुलापन है, लोकोन्मुखता है, सहजता है। व्यक्तिगत प्रेम-सौंदर्यमूलक कविताओं में भी छायावाद या उत्तर छायावादी वैयक्तिक कविता की कुंठा, अतिरिक्त अवसाद तथा निराशा के घिराव के स्थान पर प्रसन्नता और सर्वत्र सौंदर्य के प्रति स्वस्थ मानवीय प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। दिनकर की सबसे बड़ी विशेषता है अपने देश और युग के सत्य के प्रति जागरूकता। कवि देश और काल के सत्य को अनुभूति और चिंतन दोनों स्तरों पर ग्रहण करने मे समर्थ हुआ है इसलिये उसकी कविताओं में युगसत्य शुष्कचिंतन, सिद्धांत या फार्मूला बनकर नहीं उभरा है, सर्वत्र कविता का रूप पा सका है। कवि ने राष्ट्र को उसकी तात्कालिक घटनाओं, यातनाओं, विषमताओं, समस्याओं आदि के ही रूप में नही उसकी संश्लिष्ट सांस्कृतिक परंपरा के रूप में भी पहचाना है और उसके प्राचीन मूल्यों का नए जीवन संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में आकलन कर एक ओर उन्हें जीवंतता प्रदान की है दूसरी ओर वर्तमान की समस्याओं और आकांक्षाओं को महत्त्व देते हुए उन्हें अपने प्राचीन किंतु जीवंत मूल्यों से जोड़ना चाहा है। स्वाधीनताप्राप्ति के पश्चात् देश में उभरनेवाली राजनीतिक सामाजिक विसंगतियों को भी कवि की तीव्र दृष्टि ने पहचाना तथा पूरे विश्व में उभरनेवाले समाजवाद, युद्ध और शांति जैसे प्रश्नों (जिनपर भारत अहिंसा की दृष्टि से विचार करता रहा है) की तड़प का अनुभव किया। इस प्रकार दिनकर की राष्ट्रीयता बहुत गतिशील, संश्लिष्ट और उदार है, उसमें तात्कालिकता, परंपरा, राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता, मानवता, भावनाशीलता, वैचारिकता का अद्भुत समन्वय है। दिनकर ने राष्ट्रीयता को भावनात्मक प्रतिक्रिया से उबारकर चिंतन परीक्षण का, आत्मालोचन का, स्वस्थ रूप देने का प्रयत्न किया।

माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन

इन दोनों कवियों में बहुत साम्य है। यों नवीनजी सौंदर्य और प्रेम की आसक्त कविताएँ लिखने के कारण छायावादी कवियों के समीप पहुँच जाते हैं किंतु जहाँतक राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता का प्रश्न है इन दोनों की प्रवृत्तियाँ समान दिखाई पड़ती हैं। दोनों का संबंध मूलतः राष्ट्र की तत्कालीन अवस्था से है, दोनों ने पराधीन राष्ट्र की व्यथा, अंग्रेजी शासन के अत्याचार, स्वाधीनता के सेनानियों के अदम्य उत्साह, कारागार यात्रा और उसकी बेबसियों आदि के चित्रण में ही अपनी व्यस्तता दिखाई है, सांस्कृतिक पक्ष उनसे प्रायः छूट ही गया है। वर्तमान के संदर्भ में अतीत के पुनः परीक्षण, संक्रांत मूल्यों के आकलन, बृहत्तर मानवीय प्रश्नों और संवेदनाओं के अनुभव में ये कवि नहीं रम सके हैं। संस्कृति के नाम पर इनके यहाँ सपाट आध्यात्मिकता और रूढ़ रहस्योन्मुखता दिखाई पड़ती है जो कहीं तो अलग रहकर अपना रंग दिखाती है और कहीं राष्ट्रीय चेतना के साथ लिपटकर उसे भी उलझा देती है। इन सामान्य विशेषताओं के बावजूद नवीन कई दृष्टियों से कुछ अलग या कि विशिष्ट दीखते हैं। इनकी कई राष्ट्रीय कविताएँ भावात्मक आक्रोश से अलग हटकर देश की दीन-हीन जनता के अभाव का चित्रण करती हैं तथा धनी और निर्धन वर्गों के बीच के वैषम्य को उद्‌घाटित करती हैं। इन राष्ट्रीय कविताओं से अलग भी नवीन का एक सशक्त कवि व्यक्तित्व है। वे प्रेम और सौंदर्य के भी कवि हैं। प्रेम और सौंदर्य की कविताओं में एक ओर छायावादी परंपरा का सपाट निर्वाह दीखता है तो दूसरी ओर कवि की मस्ती, बनजारापन, औघड़पन आदि के संस्पर्श से एक विशिष्ट व्यक्तित्व उभरता दीखता है। वास्तव में नवीन काव्य का वैशिष्ट्य और सौंदर्य इन्हीं कविताओं में है।

सियारामशरण गुप्त

गुप्तजी और दिनकर के समान सियारामशरण गुप्त भी इस धारा के विशिष्ट कवि हैं। ये पक्के गांधीवादी हैं। इनकी कृतियों में सर्वत्र गांधीवाद की अभिव्यक्ति दीखती है। आपने देश की ज्वलंत घटनाओं और समस्याओं का बड़ा जीवंत चित्र प्रस्तुत किया है किंतु संस्कृति के उदात्त तत्वों के प्रति गहरी आस्था रखनेवाले सियारामशरणजी इन घटनाओं, अवस्थाओं और समस्याओं को तात्कालिक तथ्य के रूप में न देखकर उन्हें बृहत्तर मानवीय मूल्यों, संवेदनाओं और संदर्भों से जोड़ देते हैं। इसलिये इनके काव्यों की पृष्ठभूमि अतीत हो या कि वर्तमान, उनमें आधुनिक मानवता की करुणा, यातना और द्वंद्व का समन्वित रूप उभरा है। इस प्रकार कवि अतीत को ('नकुल' में) इस प्रकार सजित करता है कि वह वर्तमान से अपने को जोड़ सके। सियारामशरण ने भारत की जिस किसी तात्कालिक घटना को लिया है उसे एकदेशीयता से ऊपर उठाकर बृहत्तर मानवीय मूल्य का स्तर प्रदान किया है।

मात्र राष्ट्रीयता कवि को स्वीकार्य नहीं। चाहे कवि की कृति 'बापू' हो, चाहे 'नोआखाली', चाहे 'आत्मोत्सर्ग', चाहे 'उन्मुक्त' सर्वत्र गांधीवाद (जो कि राष्ट्रीय चेतना से जुड़कर भी सार्वभौम मानवता के लिये एक उच्चतर जीवनसंदेश है) का उदात्त स्वर ध्वनित होता है। भारत की राष्ट्रीयता का सच्चा रूप उसके सामयिक प्रश्नों को सुलझाने के साथ साथ उसकी संस्कृति के मानवीय स्वर को पहचानने में है। 'उन्मुक्त' आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण कृति है। युद्ध और शांति को लेकर तो बहुत सी छोटी छोटी कृतियाँ आईं किंतु युद्ध को व्यापक राष्ट्रीय और मानवीय संदर्भ में रखकर उसके संश्लिष्ट रूप को उभारनेवाली तथा काव्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण दो ही कृतियाँ आई—'कुरुक्षेत्र' और 'उन्मुक्त'। इन दोनों कृतियों में अपने अपने ढंग से युद्ध की अनिवार्यता, त्याग बलिदान, यातना विभीषिका और मानवीय करुणा का अद्भुत समन्वय हुआ है। 'उन्मुक्त' में कुसुमद्वीप एक शांतिप्रिय द्वीप है। वह शांतभाव से कला, सौंदर्य और शांति की उपासना करता है किंतु अत्याचारी लौहद्वीप के लोग उसे युद्ध करने पर मजबूर करते हैं। कवि की दृष्टि में यथार्थ और स्वप्न का बड़ा सुंदर सामंजस्य है। यथार्थ यह कि कवि ने लौहद्वीप जैसे युद्धप्रिय शक्तिशाली नगर के आक्रमण के फलस्वरूप कुसुमद्वीप जैसे शांत कोमल द्वीप की होनेवाली अनिवार्य परिणतियों को बड़ी सच्चाई से प्रस्तुत किया है, उसके शौर्य और पराजय को सही ढंग से आँका है, मानवीय घृणा और कुरूपता को उभारा है किंतु इस सारे कठोर यथार्थ के भीतर से मानवीय यातना और करुणा को उभारकर मनुष्य और समाज के प्रेम और अहिंसा को बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रतिष्ठित किया है। यथार्थ और स्वप्न दोनों के निरूपण के लिये कवि ने बहुत समर्थ और जीवंत बिंबों की रचना की है।

वैयक्तिक प्रगीत कविता

सन् १९३५ के पश्चात् छायावादी कविता का विरोध दो दिशाओं से आरंभ हुआ—एक तो स्वयं उसी की रूमानी धारा में उभरनेवाली प्रत्यक्ष निर्भीक व्यक्तिसंवेदना को निश्छल अभिव्यक्ति देनेवाली व्यक्तिवादी कविता की ओर से, दूसरे सामाजिक जीवन के सत्यों से प्रेरित होकर निर्मित होनेवाली प्रगतिवादी कविता की ओर से। पहली धारा को वैयक्तिक या व्यक्तिवादी प्रगीत कविता कहा जा सकता है।

छायावाद भी व्यक्तिपरक संवेदना की कविता है (अर्थात् उसके भी केंद्र में कवि का अपना अनुभव और संसार ही है, परंपरा द्वारा गृहीत या सिद्धांतपरिचालित अनुभवहीन महत् जीवन का आरोपण नहीं) किंतु उसकी व्यक्तिपरकता अपनी प्रकृति और अभिव्यक्ति दोनों में बहुत वायवी और अस्पष्ट है। छायावाद का कवि स्वच्छंद रूप से सौंदर्य के अनुभव को भोगना और व्यक्त करना चाहता है किंतु वह

ऐसा करने का साहस नहीं कर पाता। इसलिये वह अपनी प्रेम और सौंदर्यानुभूति या तो घुमाफिरा कर कहता है या रहस्य के आवरण में लपेट कर कहता है या प्रकृति के रूपक के माध्यम से कहता है या फिर (प्रबंधकाव्यों में) पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है। वह अपने उद्दाम सौंदर्यानुभव को प्रायः एक आदर्शवादी मोड़ दे देता है। इन अनेक कारणों से उसकी अत्यंत आत्मिक अनुभूतियाँ भी तीव्रता से नहीं फूट पातीं। उसके बिंब स्पष्ट रूप से उभर नहीं पाते। गीत भावसंपन्न होते हुए भी तीव्र प्रभाव की सृष्टि नहीं कर पाते। कवि का संकोच, सामाजिक मर्यादा का आतंकबोध और इसलिये बात को घुमाफिरा कर कहने की प्रवृत्ति या उसे अनावश्यक रूप से रहस्य या आदर्श से जोड़ने की चेष्टा बात को उलझा देती है। उलझी अभिव्यक्ति या बिंबों की जटिलता कृत्रिमता का भी परिणाम होती है और सूक्ष्म, जटिल भावबोध और सौंदर्यचेतना का भी। कहना न होगा कि छायावाद के श्रेष्ठ कवियों की दृष्टि स्थूल के विस्तार पर फिसलने के स्थान पर सूक्ष्म की गहराई मे उतरना चाहती थी। वह भाव और सौंदर्य के सूक्ष्म स्तरों को पहचानना और व्यक्त करना चाहती थी। इसलिये छायावाद की कविताएँ जहाँ अनुभूति के सघन और संश्लिष्ट बिंब, भावप्रेरित, सूक्ष्म, लाक्षणिक अभिव्यक्ति के कारण उच्चतम स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाती हैं वहाँ अन्यथा होने पर वायवी, मिथ्या और अमूर्त प्रभाव से ग्रस्त होकर रह जाती हैं। छायावाद में व्यक्ति की अनुभूति की तीव्रता क्रमश. कुंद प्रभाव पैदा करनेवाले सुखदुःख, रुदनहास, आशानिराशा के फारमूलो मे बदलती गई और अनुभव की प्रामाणिकता तथा वैशिष्ट्य के स्थान पर एक प्रकार का कोहरा फैलाती गई जिसमे कोई शकल उभरती लक्षित नही होती।

व्यक्तिवादी प्रगीत कवियों ने अनुभव और अभिव्यक्ति की इस अमूर्तता, वायवीपन, रहस्यमयता तथा संकोच के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया। इन कवियों में तथा छायावादी कवियों में दृष्टि और विषय में बड़ी समानता है। इन कवियों की भी दृष्टि रूमानी है—वस्तुजगत् के प्रति इनकी भी प्रतिक्रिया अत्यंत भावात्मक है। ये भी वस्तुजगत् से नही, वस्तुजगत् की प्रतिक्रिया से उत्पन्न अपने निजी सुखदुःख के आवेग से संबंधित थे इसलिये इनकी कविताओं में भी भयंकर आत्मसंपृक्ति और उत्तेजना मिलती है। इनका भी विषय मूलतः सौंदर्य और प्रेम तथा तज्जन्य उल्लास और विषाद की अनुभूति है। इनकी भी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम गीत ही है क्योंकि इनके भी काव्यविषय की प्रकृति छायावादी काव्य की प्रकृति के समान गीतात्मक है। किंतु इन कृतियों में छायावादी कविता का सा संकोच, रहस्यमयता और आदर्शवादिता नहीं है, साहस के साथ सीधे साफ तौर पर अपने निजी प्रेमसंवेग तथा सुखदुःख कहने की आकुलता है, इनकी वेदना छायावाद की घिसती हुई वेदना की तरह सामान्य नही वरन् निजी प्रतीत होती है। अतः उससे अनुभव का एक विशिष्ट बिंब उभरता लक्षित होता है। यह अवश्य है कि इनके ये अनुभवबिंब छायावाद के सुंदर

अनुभवकर्त्रियों के समान सूक्ष्म, संश्लिष्ट और गहरे नहीं हैं, किंतु जो कुछ है वह छल नहीं ओढ़ता, उसके ही रूप में उभरकर सहज प्रवाह का सुख देता है। छायावादी कविता भी प्रायः 'मैं' के माध्यम से अपना अनुभव उभारती है और उत्तरछायावादी व्यक्तिवादी कविता भी। किंतु छायावाद का मैं संकोच या मर्यादा का अनुभव करने के कारण तीव्रता से आलोकित होने के स्थान पर मंद मंद दीप्त होता है जब कि उत्तरछायावादी व्यक्तिवादी कविता का मैं अपने समूचे राग विराग के साथ निर्व्याज भाव से फूट चलता है।

व्यक्तिवादी कविता की प्रवृत्तियों को समझने के लिये ऐतिहासिक सामाजिक परिस्थितियों की ओर दृष्टिपात किया जा सकता है। डा० नगेंद्र ने इस धारा की प्रवृत्ति के लिये उत्तरदायी कुछ कारणों की ओर संकेत किया है। आपका मत है कि '३१ के सत्याग्रह आंदोलन की विफलता से देश की चिंताधारा आदर्शवाद से कुछ भिन्न सी होने लगी। समाज में कुछ ऐसे तत्व धीरे धीरे उभरने लगे जो गांधीजी के आदर्शवाद से असंतुष्ट होकर यथार्थ समस्याओं का यथार्थ समाधान चाहते थे। राजनीति में गांधीवाद के विरुद्ध वामपक्षीय समाजवादी चिंताधारा का धीरे धीरे आविर्भाव होने लगा और यह प्रभाव स्वभावतः राजनीति से आगे बढ़कर सामाजिक और बौद्धिक जीवन पर भी पड़ने लगा। आर्थिक विषमताओं ने—बेकारी आदि ने—उसे और प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप सूक्ष्म आदर्शपरक जीवन के प्रति अनास्था और स्थूल यथार्थपरक जीवन के प्रति आस्था बढ़ने लगी। विश्वास की भूमि डगमगाने लगी और विद्रोह एवं संदेह के अंकुर फूटने फैलने लगे।' वास्तव में व्यक्तिवादी कविता साम्यवाद की कविता नहीं है। इन कवियों का राग और चिंतन समाज से संबद्ध नहीं है, अपने में ही केंद्रित है। इसलिये इस धारा को इसकी समकालीन प्रगतिवादी धारा से अलग करके देखा गया। फिर उपर्युक्त उद्धरण में साम्यवाद के साथ इसे कैसे जोड़ा गया ? वास्तव में डाक्टर नगेंद्र ने इस धारा को साम्यवाद की संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं, आंशिक अभिव्यक्ति माना है। वे आगे स्पष्ट करते हैं—'साम्यवाद की रूपरेखा भारतीय नवयुवकों के मन में स्पष्ट नहीं थी। उसकी धुँधली झलक भर उन्होंने देखी थी, प्रकाश उनकी आँखों में नहीं उतरा था। उसका असंतोष, विद्रोह और अनास्था तो उन्होंने ग्रहण कर ली थी परंतु उसकी सामाजिक चेतना का आभास उन्हें नहीं हुआ था। परिणाम यह हुआ कि वामपक्षीय चिंताधारा से उस समय तक व्यक्तिवाद को उभार ही मिला, व्यक्तित्व के सामाजिक उन्नयन की आवश्यकता का अनुभव तबतक नहीं हुआ।' डा० नगेंद्र ने दूसरा कारण यह दिया है कि क्रमशः संयुक्त परिवार टूटने लगे थे और विभक्त परिवारों के अस्तित्व में आने से व्यक्तिवादी भावनाओं को विकसित होने का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ। शिक्षित समुदाय अपने पैतृक व्यवसाय को न अपनाकर घर से अलग रहकर अपनी रुचि के अनुसार कार्य खोजने लगा, तथा पैसे अर्जित कर 'स्व' की महत्ता का अनुभव करने लगा। दर्शन के क्षेत्र

में बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद की पुनः प्रतिष्ठा को भी डॉ० नगेंद्र ने व्यक्तिवाद के प्रादुर्भाव का कारण माना है।

यदि हम इस धारा में आनेवाली कृतियों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि प्रेम इनकी केंद्रीय वृत्ति है। यह प्रेम स्पष्ट रूप से लौकिक है और लौकिक रूप में ही व्यक्त होता है। प्रेम के संयोग वियोगजन्य उल्लास, पीड़ा, उदासी, टूटन, असंतोष आदि का सघन स्वर इन कविताओं में मुखर हुआ है। परिस्थिति, अनुभव और संस्कार के अनुसार कवियों के स्वरों में भिन्नता अवश्य है किंतु मूलवृत्ति में अंतर नहीं। इनका प्रेम किसी लौकिक सौंदर्य आलंबन पर ठहरा होने के कारण अधिक मूर्त रूप धारण करता है। यह भी सही, वह भी सही की ध्वनि इनमें नहीं है; एक निश्चित रूप, भाव और प्रभाव फूटता है इनमें से। चूंकि प्रेम लौकिक है, प्रत्यक्ष है, इसलिये उसका उल्लास और व्यथा भी बहुत मूर्त और स्पष्ट है। इनका हर्षविषाद न तो आदर्श का छल ओढ़ता है और न धरती आकाश के बीच झूलता है। वह शुद्ध धरती पर यात्रा करता है—धरती के परिवेश के बीच; और अपने रूप में बहुत ही उभड़ा हुआ होता है। बच्चन के 'निशानिमंत्रण' और 'एकांतसंगीत' यदि प्रेम के अवसाद के घनत्व को मुखर करते हैं तो 'मिलनयामिनी' मिलन की मादकता और उमंग को। नरेंद्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' में यदि लौकिक विरह की कथा की प्रधानता है तो अन्य कृतियों में प्रेयसी के सौंदर्य, भोग और संयोग की उष्मा के भी मादक चित्र हैं। इसी प्रकार अंचल, नवीन, दिनकर आदि की इस धारा में आनेवाली कृतियों के बारे में कहा जा सकता है। इस संदर्भ में कुछ कविताएँ द्रष्टव्य हैं :

कितनी रातों को मन मेरा
चाहा, कर दूँ क्षीण सबेरा
पर मैंने अपनी पीड़ा को चुपचाप अश्रुकणों में घोला
मध्य निशा में पंछी बोला

(एकांतसंगीत)

क्या तुम्हें भी कभी आता है हमारा ध्यान ?
नाम ले लेकर हमारा, सींचता आंचल तुम्हारा
क्या कभी सुनसान ?
राह चलते कभी मुड़ कर
देख उजड़े हुए खँडहर
क्या कभी बिछुड़े हुए की
याद आती तुम्हें मन भर।
खँडहरों में घूमने वाली हवा क्या
सुना जाती तुम्हें मेरे गान ?

(प्रवासी के गीत)

वास्तव में इस धारा की कृतियों का मूल स्वर प्रेम है और प्रेमजन्य व्यथा तथा उदासी यहाँ से वहाँतक व्याप्त है किंतु अनेक स्थलों पर प्रेम के संदर्भ से मुक्त होकर भी उदासी, टूटन आदि के भाव मुखर हुए हैं। प्रेम के संदर्भ में कहा जा सकता है कि इनकी स्वच्छंद वृत्ति सौंदर्य और प्रेम की भूख लिए उड़ती थी, वह तृप्त नहीं हो पाती थी। स्वच्छंद उड़ान सामाजिक प्रतिबंधों से टकराती थी और टूटकर विरह की पीड़ा बन जाती थी। कवि अनुभव करता था कि संसार को उसके ये गान वासना के गान लग रहे हैं और इसलिये उसे स्वीकार्य नहीं हैं। किंतु कवि इन्हें अपने अनुभव का गान मानता था। इन अनुभवसत्यों को उसका स्वच्छंद हृदय अनियंत्रित भाव से गाना चाहता था। वह अपने और समाज के इस तनाव को स्पष्ट अनुभव करता हुआ गा पड़ता था :

> कह रहा जग वासनामय
> हो रहा उद्गार मेरा।
> वृद्ध जग को क्यों अखरती
> है क्षणिक मेरी जवानी,
> मैं छिपाना जानता तो
> जग मुझे साधू समझता
> शत्रु मेरा बन गया है
> छल रहित व्यवहार मेरा।
> कह रहा जग···

(मधुकलश)

> है चिता की राख कर में,
> मांगती सिंदूर दुनिया,
> आज मुझसे दूर दुनिया।

(निशानिमंत्रण)

वह अपनी अबाध सौंदर्यपिपासा और संसार की क्रूरता की टकराहट से उत्पन्न विषाद को कभी कभी नियतिशासित भी मान लेता है, इसलिये बारबार नियति का विधान भी उसके मार्ग में आता दीखता है। संसार तो एक प्रत्यक्ष शक्ति है उसके विरुद्ध ललकार भी उठाई जा सकती है किंतु नियति तो एक अज्ञात सत्ता है उसके प्रति समर्पण के सिवा और कुछ नहीं सूझता और इस प्रकार पीड़ा के घनत्व को और अधिक गहराई से अनुभव करने के सिवा कुछ शेष नहीं बचता। किंतु इन कवियों ने नियति की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी कभी प्रत्यक्ष, कभी परोक्ष भाव से उसके विरुद्ध अपनी जिजीविषा का स्वर मुखर किया है। नरेंद्र शर्मा विशेषतया नियति से अपने को शासित अनुभव करते हैं। इसलिये उनके व्यक्तिगत प्रेम की उदासी

जैसे उनके समस्त परिवेश और समूचे जीवन की उदासी बनकर छा जाती है किंतु नियति के क्रूर शासन में भी कोई जीवनेच्छा उन्हें सँभाले रहती है :

> साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी,
> क्या किसी की याद आई, ओ विरह व्याकुल प्रवासी।
> ओ निराश्रित ! नियति शासित ! व्यथित क्यों अबतक नही है,
> बलिकरण, तृण को सदा जो आसरा देती रही है।

× × ×

> है दो दिन का दर्शन मेला।
> विवश, नियतिशासित यह जीवन
> दृष्टि न धुंधली कर लो रोकर
> मिले आज क्षण भर जब लोचन
> पर क्यों ?—किस भावी के भय से भर लाती हो युगलोचन ?

× × ×

> विश्व में अपवाद हूँ, उपहास हूँ निष्ठुर समय का,
> हथकड़ी बेड़ी बना दीं नियति ने सब कामनाएँ।
> दीन बंदी हूँ सुमुखि, पर भृकुटि संचालन करो तो,
> तोड़ सकता हूँ निमिष में विश्व की सब शृंखलाएँ।

(प्रवासी के गीत)

इस धारा की कृतियों में निराशा और उदासी का जो स्वर है वह केवल प्रेममूलक नही है, वह जीवन के अन्य संदर्भों में भी मुखर हुआ है, यों कहा जा सकता है कि इन कृतियों (चाहे वे किसी परिप्रेक्ष्य में हों) का प्रमुख स्वर निराशा का है, अवसाद का है, थकान का है, टूटन का है। इसका कारण सामाजिक संदर्भों में भी ढूंढा जा सकता है। देश को पराधीनता, सामाजिक रूढ़ियों और आर्थिक रिक्तता के भयंकर अहसास से गुजरता हुआ अकेला, स्वच्छंद, संवेदनशील, युवा मानस बार बार अपने को टूटता हुआ पा रहा था, उसका व्यक्तिवादी आक्रोशस्वर सारी असुंदर वस्तुओं को अस्वीकार करता हुआ और स्वयं कही स्वीकृत न होता हुआ अपने ही में लौट आता था और आत्मपीड़न, टूटन, कुंठा की एक नई पर्त लपेट लेता था और उसे गा चलता था। इसलिये इन कवियों का पूरा जीवन उदासी और निराशा के रंग में रँगा दिखाई पड़ता है। इनके पास जीवनदृष्टि नहीं थी—न तो पुरानी आध्यात्मिक जीवनदृष्टि और न तो नवीन समाजवादी दृष्टि। वे केवल अपने अनुभवों से परिचालित हो रहे थे, उनके अनुभव भावुक हृदय के अनुभव थे, उनकी दृष्टि रूमानी थी अतः वे व्यक्ति को न तो

सामाजिक शक्ति से जोड़ सके, न आध्यात्मिक आदर्शों से। जीवनदृष्टि के अभाव में ये व्यक्तिवादी अनुभव, निराशा, क्षण, मृत्यु की छाया, नियतिबोध से ग्रस्त हैं। ये अनुभव जहाँ अपनी तीव्रता में सूक्ष्म परंतु खुले हुए बिंबों की रचना में एक नए साहित्यिक सौंदर्य की सृष्टि करते है वहाँ अपने आत्यंतिक अकेलेपन, उदासी और अपने दुहराव में क्षयोन्मुख दीखने लगते हैं। और जहाँ ये काव्यात्मक दृष्टि से सपाट हो जाते हैं वहाँ वे अपनी सार्थकता किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं कर पाते। आलोचकों ने इस धारा के रोमांस को क्षयी रोमांस कहा है। उनकी दृष्टि मे यह रोमांस स्वस्थ मन की प्रतिक्रिया नही, बल्कि रुग्ण, असामाजिक मन का उच्छ्वास है। इस धारा की समग्र कविताओं के बारे मे यह नही कहा जा सकता। वास्तव मे स्वच्छंद भावुक मन के उद्गार अपने खुलेपन, सहजता और तीव्रता मे जहाँ बहुत आकर्षक और नए लगते है वही परिवेश तथा जीवन के अन्य प्रश्नों से असंबद्ध हो जाने के कारण और बार बार अतृप्ति तथा असफलता से गुजरने के नाते क्षयोन्मुख हो जाते है, टूटे स्वरों से भर जाते हैं, मदिरा की मादकता को ओढ़ना चाहते है। प्रस्तुत धारा की कविताओ मे सुंदर और अस्वस्थ दोनों रूप दिखाई पड़ते है।

वास्तव में कविता के संदर्भ में आशानिराशा, आस्थाअनास्था का प्रश्न बहुत मौलिक प्रश्न नही है, मौलिक है अनुभवों की प्रामाणिकता और सार्थकता। अनुभव प्रामाणिक होकर भी निरर्थक हो सकता है, वह दूसरों को अपने से जोड़ने में असमर्थ हो जाता है। इस धारा की कविताएँ अनुभव की दृष्टि से प्रामाणिक होकर भी जहाँ निरर्थक है वहाँ प्रभावहीन है। जहाँ सार्थक है वहाँ औरों को अपने से जोड़ने के कारण प्रभावशाली है। ये अनुभव प्रामाणिक तो है किंतु जीवनयथार्थ के संश्लिष्ट अनुभव न होकर एक भावुक स्वच्छंद व्यक्ति के रूमानी अनुभव है, इसलिये ये जीवनानुभव के बहुत गहन और जटिल स्तरों को न उभारकर विरहमिलन, आशानिराशा (विशेषतया निराशा) के सहज प्रसूत आवेगों को गा चलते हैं। ये सहज प्रसूत आवेग जिस सहजता से यौवन के सपनों की रचना कर लेते हैं, सौंदर्य की प्यास अनुभव कर लेते है, उसी सहजता से सपनों के टूटने और प्यास के अतृप्त रह जाने से उत्पन्न अकेलेपन, पराजय, उदासी का भी। एक ओर तो कवि की यह अदम्य प्यास और स्वप्न कि वह अनियंत्रित भाव से प्रिया को प्यार करे और उसे पा कर सारे संसार को पा ले—

> जब करूँ मैं प्यार,
> हो न मुझ पर कुछ नियंत्रण
> कुछ न सीमा, कुछ न बंधन
> तब रुकूँ जब प्राण प्राणों से करें अभिसार।
>
> (एकांत संगीत)

तुम दुबली पतली दीपक की लौसी सुंदर।
मैं अंधकार
मैं दुर्निवार
मैं तुम्हें समेटे हूं सौ सौ बाँहों में, मेरी ज्योति प्रखर।
आपुलक गात में मलयवात
मैं चिर मिलनातुर जन्मजात
तुम लज्जाधीर शरीरप्राण
थरथर कंपित ज्यों स्वर्णपात
कंपती छायावत् रात काँपते तम प्रकाश आलिंगन भर।

(पलाश वन)

इस प्रेरित लोलित रति गति में अब झूम झमकता विसुध गात।
गोरी बाँहों में कस प्रिय को कर दूं चुंबन से सुरा स्नात।

(अपराजिता)

मैं इच्छा के मरुपथ का यात्री चंचल,
प्रज्वलित पिपासा से मेरा अंतस्तल।
मैं अर्थ बताता द्रोह भरे यौवन का,
मैं नग्न वासना की गीता उच्छृंखल।

(मधूलिका)

यह दुनिया है, हम दोनों हैं, और वासना ज्वार प्रिये!
रोके कौन जगी अंतर में, जब इच्छा दुर्वार प्रिये!

(कलापी)

होने दे परिरंभण चुंबन, चलने दे व्यापार रसमय,
छोड़ प्रिये यह अचिर, दुराग्रह, यह नीरसता लज्जा अभिनय।
रोम रोम में नाच रहा अति प्रथम प्रवाह प्रेम का अक्षय,
नस नस में बहता उद्वेलित यौवन विद्युद्वेग निरामय।

(संचयिता)

शिथिल होंगे न ये बंधन।
तुम्हें मन में पुकारूँगा, तुम्हें वन में पुकारूँगा,
गगन का गान बन कर मैं तुम्हें क्षण में पुकारूँगा,
नयन से फूल जो झरते बना देंगे मधुर जीवन।

(छायालोक)

दूसरी ओर उसका हारा हुआ अकेलापन है जो बार बार आहत स्वर में रो उठता है जीवन की निरर्थकता, असफलता और भाग्यहीनता का क्रंदन करता है। अकेलेपन का यह स्वर केवल प्रेम के ही संदर्भ में सीमित नहीं रहता अखिल जीवन में व्याप्त हो जाता है :

कितना अकेला आज मैं।
संघर्ष में टूटा हुआ
दुर्भाग्य से लूटा हुआ
परिवार से छूटा हुआ, कितना अकेला आज मैं।

(एकांत संगीत)

मैं प्रेम प्यार से वंचित हूँ,
मैं अपने भावी से निराश।
मैं हूँ मुरझाया सा प्रसून,
कोई न कहीं भी आसपास।

(संचयिता)

देखता हूँ दूर बैठा,
नीम की मजरित डाली
वायु जिससे खेलती, पिक ने
जिसे अपनी बना ली,
तू अकेला है अकेला, कहा मुझसे हर सुबह हर शाम ने।

इस अकेलेपन का कारण यही है कि कवि ने अपनी स्वच्छंद प्रकृति के कारण रूढ़िबद्ध संस्थाओं और मूल्यमान्यताओं से नाता तोड़ लिया है और किसी नई संस्था या समाज का दर्शन न कर या उससे न मिलकर अकेले ही सब कुछ तोड़ने फोड़ने और स्वप्न साकार करने का प्रयत्न किया है और असफल होने पर अपने ही एकाकीपन से ग्रस्त होकर विलाप किया है :

अकेला मानव आज खड़ा है!
दूर हटा स्वर्गों की माया
स्वर्गाधिप के कर की छाया
सूने नभ, कठोर पृथ्वी का ले आधार अड़ा है।
धर्मों संस्थाओं के बंधन
तोड़ बना है वह विमुक्तमन
संवेदना स्नेह संबल भी खोना उसे पड़ा है।

(एकांत संगीत)

और फिर वह चारों ओर अवसाद ही अवसाद देखता है, जो अवसाद है वह खुला हुआ लौकिक अवसाद है। कवि के साथ ईश्वर नहीं है, देवता नहीं है, रूढ़ समाज नहीं है, संस्था नहीं है, इसलिये वह किसी प्रकार के आश्रय, सहारा का आभास नहीं पाता। उसे यदि कोई सहारा नजर आता है तो केवल प्रेयसी से मिलन का, किंतु वह भी कहाँ हो पाता है। इसलिये कवि अपनी नंगी पीड़ा असफलता, निराशा को प्रत्यक्ष, बेलौस झेलता हुआ जीवन को असफल और निराधार अनुभव करता है, उसे मृत्यु का बोध होता है :

मुझे लग रहा है यह मेरा जीवन विफल महान।
फटा फटा सा मुझे लग रहा निज अस्तित्व-वितान।
सभी ओर से जुट आई हैं असफलताएँ आज।
कहाँ गया यह सृजनपरिश्रम ? कहाँ नवल निर्माण ?

(हम विषपायी जनम के)

हृदय में संताप मेरे, देह में है ताप।
कौन है जो बात पूछे ?
कौन है जो अश्रु पोंछे।
अश्रु मेरे सूख जाते किंतु अपने आप।
बात पीले पात-सा जो
ले उड़ी थी वे भुलावा
छोड़ कर चल दी मिला जब
उसे फूलों से बुलावा
कर लिया हलका हृदय को झींख कर चुपचाप।

(पलास वन)

इस प्रकार की व्यक्तिवादी अनुभवयात्रा के दो परिणाम दिखाई पड़ते हैं—एक तो यह विश्वास कि जीवन क्षणभंगुर है, इस क्षणभंगुर जीवन में विशेषतया अवसाद की ही प्रधानता है। इस अवसाद के विस्तार में यदि उल्लास के कुछ क्षण मिल जाते हैं तो उन्हें मस्ती से भोगो, आगे पीछे मत देखो। मस्ती के क्षणों में दार्शनिक की सी निस्संगता या छद्म गंभीरता नहीं ओढ़नी है :

जीवन में दोनों आते हैं
मिट्टी के पल, सोने के पल
जीवन से दोनों जाते हैं
पाने के पल, खोने के क्षण

हम जिस क्षण में जो करते हैं
हम बाध्य वही हैं करने को

हंसने के क्षण पाकर हंसते
रोते हैं या रोने के क्षण

विस्मृति की आई है वेला
कर पाय न, इसकी अवहेला
आ भूलें, हास रुदन दोनों
मधुमय होकर दो चार पहर

है आज भरा जीवन मुझ में
है आज भरी मेरी गागर।

(मधुकलश)

दूसरा परिणाम यह कि कवि अपने गम को गलत करने के लिये मधु का सहारा लेता है, और सारे सहारे तो छूट चुके हैं। इतना ही नहीं वह अपनी मादकता और प्रेम या उल्लास की उत्तेजना को तीव्र करने के लिये भी मधु का पान करना चाहता है। यह मधु धीरे-धीरे इतना आत्मीय हो जाता है कि वह अन्य जीवनसत्यों का प्रतीक बन जाता है जैसा कि मधुशाला, मधुबाला आदि में हुआ है। बच्चन की कविताओं में इसकी प्रधानता तथा अन्य कवियों की कविताओं में भी इसका पर्याप्त अस्तित्व देखकर लोगों ने इन कविताओं को हालावादी कविताएँ कहना आरंभ कर दिया।

इस धारा की प्रमुख कृतियों मे कहीं कहीं विद्रोह का स्वर दिखाई पड़ता है। इन कृतियों के कवियों ने इनके अतिरिक्त ऐसी कृतियाँ भी दी हैं जिनमें प्रमुख रूप से सामाजिक स्वर मुखर हुआ है—प्रगतिवादी कविता का सा विद्रोह ध्वनित हुआ है, जैसे बच्चन के 'बंगाल का काल', नरेंद्र शर्मा के 'अग्निशस्य', अंचल के 'किरण बेला', शंभुनाथ सिंह के 'मन्वंतर' आदि में। इन कवियों में लक्षित होनेवाला विद्रोह का स्वर व्यक्तिगत अस्वीकृति तथा सामाजिक असंतोष दोनों रूपों में है। व्यक्तिगत अस्वीकृति में वह अपने को घेरनेवाले सामाजिक, धार्मिक और संस्थागत बंधनों को ललकारता है :

प्रार्थना मत कर मत कर मत कर।
युद्ध क्षेत्र में दिखला भुजबल
रह कर अविजित अविचल प्रतिपल
मनुज पराजय के स्मारक हैं मठ, मस्जिद, गिरिजाघर।

(एकांत संगीत)

तथा समाजिक असंतोषवाली कविताओं में वह समाज की विषमता को—शोषकों और शोषितों के भयानक अंतर को—देखता है और अपने भीतर समाज के असंतोष

का अनुभव करता है। कभी तो अभावग्रस्त, दैन्यजड़ित शोषित समाज का सहानुभूतिपरक चित्र खींचता है, कभी शोषकों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर ऊँचा करता है। लेकिन इस धारा का समस्त विद्रोही स्वर मूलतः रूमानी है, उसमें व्यक्तिगत भावावेश अधिक है, सामाजिक दर्शन और रचनात्मक चिंतन कम। इसलिये यह विद्रोहस्वर भी वस्तुतः उनके अन्य स्वरों से भिन्न नहीं है। विषय थोड़ा भिन्न अवश्य है किंतु दृष्टि और स्वर में भिन्नता नहीं। यही कारण है कि इस धारा के प्रायः सभी कवि कुछ देर के लिये इस विषय की ओर भटककर पुनः अपने मूल विषय की ओर लौट गए या बहुत हुआ तो एक आरोपित अध्यात्म की ओर मुड़ गए।

वैयक्तिक कविता की अभिव्यक्तिमूलक सादगी उसकी एक बहुत बड़ी देन है। कवि सीधेसादे शब्दों, परिचित चित्रों और सहज कथनभंगिमा के द्वारा अपनी बात बड़ी सफाई से कह देता है। इसलिये कवि की शक्तियाँ और अशक्तियाँ दोनों बड़ी स्पष्टता से उभरती हैं। शक्तियाँ अस्पष्ट बिंबों में उलझकर अपनी तीव्रता और प्रभाव नहीं खोतीं और अशक्तियाँ रहस्यात्मकता का लाभ उठाकर महान् होने का आभास नहीं दे पातीं। यद्यपि इन कवियों की संवेदना व्यक्तिवादी है किंतु वे अपने को जिस माध्यम (परिवेश, प्रकृतिचित्र, बिंब, उपमा, भाषा आदि) के द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं वह हमारा अति परिचित होता है, लोक के निकट का होता है, अतएव मांसल और मूर्त प्रतीत होता है। वह वायवी और गढ़ा हुआ नहीं, रक्तिम तथा देखा, सुना, भोगा हुआ लगता है। यद्यपि इस धारा की कविता की भी भाषा मूलतः संस्कृत पदावली निष्ठ है किंतु वे शब्द या पद हमारे निकट के लगते हैं। दूसरे यह कि बोलचाल के शब्द और मुहावरे भी इनमें पर्याप्त मात्रा में आए हैं। कुल मिलाकर यह जीवंत भाषा प्रतीत होती है। दो एक दृष्टांत देखें :

> फिर फिर रात और दिन आते,
> फिर फिर होता साँझ सबेरा।
> मैंने भी चाहा फिर आए,
> बिछुड़ा जीवनसाथी मेरा।
> × × ×
> कच्चे धागे सा सुख सपना,
> टूट गया सो टूट गया।
>
> (पलाश वन)

> शांत है पर्वत समीरण मौन है यह नीड़ का वन भी,
> बालकों की बात सी आई गई सी हो गई है बात,
> मखत क्यों आँसू पुछे दृग, चुप हुई चुपचाप रो रो रात,
> थकेंगे निश्वास मेरे, शांत होगा चिर विकल मन भी।
>
> (पलाश वन)

हरिवंशराय बच्चन

बच्चन इस धारा के सर्वोत्तम कवि हैं। इस धारा की समस्त संभावनाएँ और सीमाएँ बच्चन में पुंजीभूत है। बच्चन मूलतः आत्मानुभूति के कवि हैं इसलिये उनकी जिन कृतियों में आत्मानुभूति की सघनता है वे अपने प्रभाव में तीव्र और मर्मस्पर्शी हैं। जिन कृतियों में आत्मानुभूति के साथ धारणाओं का संयोग होता चला है उनमें प्रभाव की अन्विति टूट टूट गई है। लगता है कवि अपनी बात कहने के बाद उसे जनरलाइज्ड करने लगता है। जहाँ धारणाएँ अनुभूति के प्रवाह में बहती हुई आती हैं, वहाँ प्रभाव में योग देती हैं, जहाँ अनुभूति से टूट जाती हैं या अनुपात में असंतुलित हो जाती हैं वहाँ कविता को प्रभावहीन बनाने लगती हैं। 'निशानिमंत्रण', 'एकांतसंगीत' और 'मिलनयामिनी' के गीत इस दृष्टिकोण से गीति-काव्य की उपब्धियाँ है—धारणाएँ अनुभूतियो के रंग मे भींग गई हैं। जैसे 'आज मुझसे दूर दुनिया' वाले गीत के अनुभूतिप्रवाह में 'प्रेमियों के प्रति रही है हाय कितनी क्रूर दुनिया' जैसी धारणा भींग कर ही उभरती है। कवि ने स्वानुभूति-जन्य सुखदुःख, सौंदर्य, प्रेम के उन्मुक्त सहज गीत गाए है किंतु उसका स्वर यहीं तक सीमित नही है। वह सुखदुःख, प्रेमसौंदर्य, हारजीत के भीतर से उभरती हुई सामाजिक विसंगतियों का चित्रण करता है तथा उनके प्रति विद्रोह भी करता है। ऐसा करने में धारणा, सूक्ति, प्रवचन आदि के उठ आने की आशंका होती है। बच्चन-काव्य में ऐसा हुआ भी है।

लगता है विद्रोह या सामाजिक सत्यचित्रण बच्चन के स्वभाव में नहीं अँटते। इसके लिये जिस सामाजिक जीवनभोग और बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की आवश्यकता होती है वह बच्चन या इस धारा के किसी कवि में नही है। इसलिये विद्रोह आक्रोश बनकर रह जाता है और सामाजिक यथार्थ व्यक्तिगत अनुभव के साथ आरोपित धारणा बनकर। बच्चन के गीत जहाँ अपनी सहज भाषा और अनुभूति की निश्छलता के कारण गीतकाव्य को नई गरिमा प्रदान करते हैं, वही कहीं कहीं उत्तेजना, भाषा के सपाटपन, शब्दों, बिंबों के अपव्यय तथा स्फीति के कारण बहुत प्रभावहीन सिद्ध होते हैं। जैसे 'जो बीत गई सो बात गई' गीत का आरंभ एक धारणा से होता है और इस धारणा को स्पष्ट करने के लिये कवि ने अनावश्यक रूप से तीन चित्र लिए हैं। कहा जा सकता है कि बच्चन के काव्यसौंदर्य का धरातल बहुत विषम है, कहीं काफी ऊँचा, कही नीचा या सपाट। कुल मिलाकर बच्चन एक विशिष्ट कवि हैं, महान् नहीं।

नरेंद्र शर्मा

नरेंद्र शर्मा के गीतों का अपना वैशिष्ट्य है। उनमें बड़ी चित्रात्मकता और आत्मीयता है। उनके गीतों का सुखदुःख सीधे सीधे प्रेमपात्र को निवेदित है, बीच में

न कोई कारण आती है और न छल। इन गीतों का एक परिवेश होता है और वह परिवेश कवि का ही नहीं, हमारा भी निकट का परिचित होता है। वह कवि के अनुभवों को जीवंतता प्रदान करता है। कुल मिलाकर नरेंद्र शर्मा के गीत अधिक अपने मालूम पड़ते हैं। प्रकृति का बहुत घटक और सुपरिचित परिवेश इन्हें घेरे रहता है। शर्माजी का अपना आत्मीयक्षेत्र है—प्रकृतिसौंदर्य, मानवसौंदर्य और उससे उत्पन्न विरहमिलन की अनुभूतियाँ। इस क्षेत्र में सर्वत्र मिट्टी की गंध व्याप्त दीखती है। नरेंद्र शर्मा में भी सामाजिक यथार्थ का चित्रण तथा विसंगतियों के विरुद्ध विद्रोही स्वर है। यद्यपि यहाँ भी कवि की रूमानी दृष्टि ही प्रधान है तो भी उसका स्वर बच्चन की अपेक्षा अधिक वस्तुवादी और अनुभूतिप्रवण है तथा उसमें समाजवादी चिंतन का पुट भी है। यदि नरेंद्र शर्मा के समग्र काव्य का मूल्यांकन किया जाय तो ज्ञात होगा कि भाषा और भाव की रंगमयता के कारण ये छायावाद के बहुत निकट हैं, अलगाव केवल प्रत्यक्षता के कारण है, अर्थात् इनकी भाषा और भाव में छायावाद की अपेक्षा अधिक खुलापन और प्रत्यक्षता है। ये अपनी पूरी आत्मीयता के बावजूद अनुभव के नए नए आयाम खोलते लक्षित नहीं होते। सौंदर्य, प्रेम के जाने पहचाने भाव मूर्तरूप में आते रहते हैं—कभी कुछ सूक्ष्म नूतन छायाओं के साथ, कभी कभी बहुत सपाट स्फीति और आवृत्ति के साथ। कुछ ताजे अनुभवों की बिंबात्मक अभिव्यक्ति इनके काव्य को बहुत उच्च धरातल प्रदान कर देती है। किंतु पूरी कविता में यह धरातल नहीं रहता, दो चार अच्छी पंक्तियों के पश्चात् कविता सपाट सतह पर उतर कर सरकने लगती है। सामान्य गीतों की तो बात ही क्या, 'क्या तुम्हें भी कभी आता है हमारा ध्यान' जैसे सुंदर गीत की आरंभिक तीन पंक्तियाँ जिस सुंदर सूक्ष्म बिंब का निर्माण करती हैं, बाद की पंक्तियाँ उसका निर्वाह नहीं कर पातीं। फिर भी कुल मिलाकर नरेंद्र शर्मा के गीतों में ऐसी आत्मीयता है कि उन्हें प्यार करने को जी होता है।

रामेश्वर शुक्ल अंचल

अंचल ने भी अपने तीव्र रूमानी संवेदन को लेकर अपने अंतर की यात्रा तो की ही है, समाज में भी घूमे हैं। इसलिये इनके भी सामाजिक यथार्थवाले काव्यों में रूमानी संवेदना की ही प्रधानता लक्षित होती है। अंचल उद्दाम वासना के कवि हैं। रूप की उद्दाम आसक्ति, उद्दाम वासना, उद्दाम पीड़ा और उद्दाम जिजीविषा इनके काव्य की प्रकृति निर्मित करती है। यही उद्दामता इनकी प्रगतिशील कही जानेवाली कविताओं में भी दिखाई पड़ती है। वासना की उद्दामता कविता को एक ओर सामाजिक संयम से काटकर उसे अस्वस्थ रूप देती है, दूसरी ओर रचनात्मक स्तर पर उसे अनुभूति की गहराई और संश्लिष्टता न प्रदान कर उत्तेजना देती है, और उत्तेजना उच्च और स्थायी काव्य का आधार नहीं बन सकती। उत्तेजना या स्नायविक

तनाव अंचल में इस प्रकार हावी है कि वे अबतक अपनी कविताओं में किशोरावस्था की शृंगारिक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त किए जा रहे हैं। इस धारा के प्रायः सभी कवि व्यक्तिवादी आवेश के साथ सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख होकर पुनः व्यक्तिवादी भावक्षेत्र में लौट गए। किंतु जहाँ नरेंद्र शर्मा, बच्चन आदि अध्यात्म की ओर उन्मुख हुए, वहाँ अंचल अपनी यात्रा के आरंभिक बिंदु की ओर।

प्रगतिवाद

प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा उस काव्य को दी गई जो छायावाद की समाप्ति पर १९३६ के आसपास से सामाजिक चेतना को लेकर निर्मित होना प्रारंभ हुआ। इसके शब्दार्थ से इसके स्वरूप को समझने में भ्रांति पैदा होती रही है इसलिये यही समझना चाहिए कि यह नाम उस काव्यधारा का है जो मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में सामाजिक चेतना और भावबोध को अपना कथ्य बनाकर चली। प्रगतिवादी काव्य के उद्भव और विकास में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ तो सहायक हुई ही, साथ ही साथ छायावाद की जीवनशून्य होती हुई व्यक्तिवादी वायवी काव्यधारा की प्रतिक्रिया भी उसमें निहित थी।

एक ओर भारतीय समाज में उभरता हुआ जनसंकट था तो दूसरी ओर इसमें मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर स्थापित साम्यवाद था, जो वहाँ के विषम संकट और संघर्ष से गुजरे जनजीवन को त्राण दे रहा था, जो सामंतवाद और पूँजीवाद की विभीषिकाओं को कुचलकर सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित कर रहा था। भारतीय बुद्धिजीवी एक ओर अपने समाज मे उत्पन्न अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक विसंगतियों तथा संकटों को देख रहा था दूसरी ओर वह रूस के उस समाज को देख रहा था जो इन विसंगतियों और सकटो से गुजरकर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर रहा था जिसमें सामान्य जनजीवन को महत्ता प्राप्त हो रही थी। जहाँ समता, सुख, सुविधा की प्रतिष्ठा हो रही थी। रूस में प्रतिष्ठित साम्यवाद और पश्चिम के अन्य देशों में फैलता हुआ उसका मार्क्सवादी दर्शन भारतीय बुद्धिजीवियों के लिये प्रेरणाकेंद्र बन रहा था। इधर देश की परिस्थिति विषम हो रही थी और उस विषम परिस्थिति में नौजवानों का हृदय असंतोष और विद्रोह से कसमसा रहा था। देश की अवस्था प्रगतिवादी विश्वासों और स्वरों के लिये उपयुक्त भूमि बन रही थी।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिवादी साहित्य की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए कहा है, 'आरंभ में मानवतावाद मानवता को शोषण और बंधन से मुक्त करने के बड़े महान् और उदार आदर्शों से चालित हुआ था। तत्वचिंतकों और साहित्य मनीषियों के मन में इस आदर्श का रूप बहुत ही उदार था पर व्यवहार में मनुष्य की उदारता केवल एक ही राष्ट्र के मनुष्यों की मुक्ति तक सीमित होकर रह गई।

धीरे धीरे राष्ट्रीयता नामक नवीन देवी का जन्म हुआ। यह एक हद तक प्रगतिशील विचारों की ही उपज थी। हमारे देश में भी नए जीवनसाहित्य के स्पर्श से नवीन जीवन आदर्श जाग पड़े। मानवतावाद भी आया, दलितों, अधःपतितों और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति का भाव भी आया और साथ ही साथ राष्ट्रीयता भी आई।....संसार में एक ओर राष्ट्रीयता ने सिर उठाया, दूसरी ओर मानवतावाद के विकृत चिंतन ने उस विकृत मतवाद को जन्म दिया जिसके अनुसार मनुष्यों में दो श्रेणी के मनुष्य हैं—एक उत्तम, दूसरे निकृष्ट। एक में देवत्व की संभावनाएँ हैं और दूसरे में पशुता से कोई विशेष अंतर नहीं है। इन विकृत विचारों ने ठाँय ठाँय दो महायुद्धों को पृष्ठभूमि पर उतार दिया। इस प्रकार मनुष्यता की महिमा भी विकृत रूप में भयंकर हो उठी। इसका परिणाम यह हुआ कि संसार का संवेदनशील चित्त व्याकुल होकर सोचने लगा कि—मानवतावाद ठीक है? पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति मानव की? नहीं। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को—व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि मनुष्य को—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा।'

हमारा राष्ट्रीय वातावरण नवीन परिस्थितियों के कारण एक नए प्रकार के युयुत्सा भाव से आंदोलित हो रहा था। गाधीजी के नेतृत्व में जो स्वाधीनता आंदोलन चल रहा था उससे युवाहृदय की विद्रोही भावना को अभिव्यक्ति नहीं मिल पा रही थी। सन् १९३४ में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। इससे विदित होता है कि स्वयं कांग्रेस में गांधीजी के अहिंसावादी सिद्धांतों से असंतुष्ट लोग उभर रहे थे जो अधिक उग्र विचारों के थे, और उग्र आचरण में विश्वास करते थे। महात्मा गांधी ने हिंसा के भय से बार बार जनता के आंदोलन को रोक दिया था। उमड़ता हुआ जनजीवन इसे सहज भाव से स्वीकार नहीं कर पाता था अतः उग्र प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। मजदूरों का आंदोलन भी जोर पकड़ रहा था। धीरे धीरे राजनीति में वामपंथी शक्तियों का जोर बढ़ता गया। इस वैचारिक उग्रता और समाजोन्मुखता को बल दे रही थीं तत्कालीन परिस्थितियाँ। राजनीतिक दासता देश में एक ओर पूँजीवाद और सामंतवाद की शोषक शक्तियों को प्रश्रय दे रही थी, दूसरी ओर जन-सामान्य के लिये अपार भयावह गरीबी, अशिक्षा, असुविधा, अपमान की सृष्टि कर रही थी। इसके अतिरिक्त अकाल, युद्ध की भीषण विभीषिकाएँ भी देश को निगल रही थीं। द्वितीय महायुद्ध और बंगाल का काल देश को निगलनेवाली भीषण घटनाएँ थीं। युद्ध के दबाव में अतिरिक्त कर, असुविधा आदि के दुष्परिणाम से देश की सामान्य जनता और भी आक्रांत हो रही थी। उगती हुई उग्र जनचेतना, देश की तदनुकूल परिस्थिति, रूस में स्थापित समाजवाद तथा पश्चिम के अन्य देशों में प्रचारित कम्यु-निज्म के सिद्धांतों से उभरते हुए विश्वव्यापी प्रभाव के कारण भारत में १९३५ के

आसपास साम्यवादी (या समाजवादी) आंदोलन उगने लगा था। साहित्य भी उससे प्रभावित हुआ और प्रगतिवादी साहित्य का आंदोलन आरंभ हुआ।

छायावाद अपने अंतिम काल में कुंठाग्रस्त हो गया था। उसमें गत्यवरोध उत्पन्न हो गया था, पतनोन्मुख पूँजीवाद की साँसों को अभिव्यक्ति देता हुआ वह स्वयं निर्जीव हो रहा था। धीरे धीरे हिंदी के साहित्यकारों ने इस ह्रास की स्थिति का अनुभव कर नवीन सशक्त सामाजिक तत्वों को पहचानना शुरू किया और उन्हें रूप देने को उत्सुक हो उठे। समाज की ऐसी स्थिति रूस आदि देशों में आ चुकी थी और वे देश और उनके साहित्य ऐसे संक्रमण से गुजर चुके थे। हिंदी साहित्य में भी १६३५ के आसपास प्रगतिवाद का स्वर मुखर होने लगा। सन् १६३५ में ई० एम० फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस मे प्रोग्रेसिव राइटर्स असोसियेशन नामक अंतर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ। सन् १६३६ में सज्जाद जहीर, डा० मुल्कराज आनंद के प्रयत्नों से भारतवर्ष में भी इस संस्था की शाखा खुली और प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में उसका प्रथम अधिवेशन हुआ। छायावादी स्वयं अपनी छायावादी कविताओं की कुंठाओं से ऊब चुके थे अतएव इस नए दर्शन और नवीन समाज कल्पना ने उनमें नवीन साहित्य निर्माण के लिये उल्लास भर दिया और वे स्वनिर्मित धारा से निकल कर प्रगतिवाद के पक्षधर हुए। इन कवियो मे श्रीसुमित्रानंदन पंत का नाम अग्रगण्य है।

प्रगतिवाद रचना और आलोचना के क्षेत्र मे सर्वथा नवीन दृष्टिकोण लेकर आया। प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को ही रचना का उद्देश्य मानता है। 'जिस प्रकार साम्यवाद समष्टि या समूह के हितों की चिंता और रक्षा करता है व्यक्ति की नही, उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य समाज के सुखदुःख की अभिव्यक्ति को ही महत्व देता है, व्यक्ति के सुखदुःख की अभिव्यक्ति को नही। अर्थात् प्रगतिशील लेखक की भावना सामाजिक भावना है, व्यक्तिगत नही। वह सौंदर्य को अपने हृदय या दूसरे की आँखों मे देखने की अपेक्षा सामाजिक स्वास्थ्य में देखता है। अपनी ही समस्याओं और भावनाओं मे उलझे रहना--व्यक्ति को समष्टि से पृथक् देखने का प्रयत्न--मिथ्या है, और साथ ही एक रुग्ण या विकृत मनोवृत्ति का परिचायक है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहं का सामाजीकरण है'[1]।

'सामाजिक यथार्थ' शब्द का भ्रांत अर्थ लेनेवाले भी कम नही हैं। वे समाज की ऊपरी सतह पर दिखाई पड़नेवाली निर्जीव और पतनोन्मुख विकृतियों को ही सामाजिक यथार्थ मान बैठते हैं। ऐसा माननेवालों में दो वर्ग हैं। एक तो आदर्शवादी हैं जो वास्तविक जगत् को छोड़कर हमेशा ऊपर ऊपर उड़ने की कोशिश करते हैं।

१. आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—डा० नगेंद्र, पृष्ठ १०१।

वे इन विकृतियों को ही यथार्थ मानकर घृणा करने लगते हैं। दूसरे वे व्यक्तिवादी हैं जो इन्हीं विकृतियों को ही समाज का यथार्थ मानकर उनका चित्रण करने लगते हैं और सबसे बड़ा यथार्थवादी होने का दम भरते हैं। मार्क्सवादी दृष्टि इस प्रकार की सतही यथार्थजन्य भ्रांतियों में न फँसकर बुनियादी सत्य को देखती है। बुनियादी सत्य क्या है? प्रत्येक युग में और पदार्थ में दो शक्तियों का द्वंद्व चलता रहता है— मरणोन्मुख पुरानी शक्तियों और नवीन जीवंत शक्तियों का। सामाजिक स्तर पर पुरानी शक्तियों में शोषक लोग होते हैं और नवीन शक्तियों में शोषित गरीब किसान मजदूर होते हैं। नवीन जीवंत शक्तियाँ पुरानी शक्तियों को काटकर नवीन जनमंगल-शाली समाज की स्थापना की कोशिश करती हैं। ऊपरी सतह पर तो पुरानी शक्तियों की विकृतियाँ उतराई रहती हैं लेकिन उसके नीचे नवीन शक्तियाँ धीरे धीरे उन्हें काटती रहती हैं। ये शक्तियाँ व्यक्ति की नहीं समाज की होती हैं, उनमें पीड़ा और अभाव के साथ ही साथ जिंदगी का अडिग विश्वास और भविष्य की सुंदर आकांक्षा होती है। इन अनेक बुनियादी तत्वों को ग्रहण करनेवाला ही सच्चा यथार्थवादी है। ऐसा ही साहित्य अपने युग की वास्तविकता का सच्चा प्रतिनिधि होता है और भावी युगों के साहित्यों के लिये प्रेरणास्रोत होता है। 'प्राचीन काल में लिखी गई पुस्तकें जो अपने काल में जीवन की सतह का ठीक चित्रण करती थीं और जो आज हमारे अनुभवसिद्ध जीवन के बारे में हमें कुछ नहीं बतातीं, साहित्य के नाते मृत हैं, चाहे ऐतिहासिक लेखपत्र के रूप में उनका महत्व भले ही हो। तथापि अतीत में जिस पुस्तक ने जीवन की सतह के नीचे काम करनेवाली शक्तियों को प्रतिबिंबित किया है वह बहुत संभव है हमारे आज के बुनियादी यथार्थों के बारे में भी महत्वपूर्ण बातें बता सके। सतह के ऊपर गति नीचे से अधिक क्षिप्र होती है और जितनी ही गहराई से किसी लेखक की अंतर्दृष्टि सतह भेदकर नीचे पहुँचेगी उतने ही अधिक दीर्घकाल तक उसकी कृति परिवर्तनशील यथार्थ जगत् के प्रति बासी पुरानी नहीं पड़ेगी[1]।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक यथार्थ के अंतर्गत पुरानी शक्तियों के अत्याचार और कुरूपताएँ तथा उनसे युद्ध करती नवीन शक्तियों के दुःख दर्द, सामूहिक विश्वास और संघर्ष तथा भविष्य के प्रति अडिग आस्था, ये सारी बातें मिले जुले रूप में आती हैं। प्रगतिवाद जिसका दर्शन मार्क्सवादी है भिन्न भिन्न युगों के साहित्यों की उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर परीक्षा करता है। भिन्न भिन्न युगों के संबंधों और सामाजिक संबंधों की रूपरेखाएँ भिन्न भिन्न होती हैं। प्रत्येक युग का जीवंत साहित्य अपने युग के सामाजिक संबंधों और जनविश्वासों को व्यक्त करता है। वह युग की नवीन सामाजिक जागृति और उसके अनेक पहलुओं को चित्रित करता

१. साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या, 'हंस', प्रगति अंक—एडवर्ड अपवर्ड

है। प्रगतिशील साहित्य समाज के युगीन संबंधों को छोड़कर हवा में शाश्वत का महल बनाने वाले साहित्य को नकली और निर्जीव मानता है। यदि कोई शाश्वत वस्तु है तो यही कि नवीन सामाजिक मानवता सदैव पुरानी और जर्जर दानवी शक्तियों से युद्ध करती है। विभिन्न युगों की ये सामाजिक मानवता की भावनाएँ ही परंपरा का निर्माण करती हैं।

आज के युग में बुनियादी शक्तियाँ वे हैं जो पूँजीवाद को नष्टकर समाजवाद स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है। इन बुनियादी शक्तियों को पहचानने और उनका समर्थन करनेवाला साहित्य अनिवार्य रूप से किसानों, मजदूरों के संघर्ष को रूपायित कर उसे बल प्रदान करता है तथा पूँजीवादी (और सामंतवादी भी) शक्तियों की शोषक, स्वार्थी, स्वकेंद्रित, जर्जर, विसंगतिमय प्रवृत्तियों पर चोट करता है। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य नाश और निर्माण दोनों को साथ लेकर चलता है। (१) वह सड़ी गली, रूढ़, जर्जर, शोषक और मानवघाती पुरानी जीवनदृष्टियों, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं तथा मान्यताओं का ध्वंस करता है। उसके ध्वस का तरीका संघर्षात्मक होता है। (२) वह पुरानी व्यवस्थाओं के स्थान पर नया निर्माण करता है। यह नया निर्माण नवीन युग और नवीन समाज की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये होता है। समाजवाद की स्थापना में ही समूची मानवता के हित की भावना निहित होती है। सच पूछिए तो इसी निर्माण के महोद्देश्य के लिये ध्वंस जरूरी होता है। बिना निर्माण के स्वप्न के ध्वंस का कार्य अराजकता है। प्रगतिवाद सुधारवादियों की भाँति जर्जर व्यवस्था के सड़ेगले कपड़े में पैबंद जोड़ने का पक्षपाती नहीं है और न तो वह गला फाड़ फाड़ कर निरुद्देश्य ध्वंस की पुकार मचानेवाला व्यक्तिवादी विद्रोह है। वह आमूल क्रांति चाहता है।

प्रगतिवाद ने सौंदर्य को नए दृष्टिकोण से देखा। उसने जनजीवन में सौंदर्य खोजा। हमारा सौंदर्यबोध परिस्थितियों और सामाजिक संबंधों से बनता है। प्रगतिवाद द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है। अतः वह सौंदर्य को इसी जीवन की वस्तु मानते हुए भी व्यक्ति व्यक्ति की निजी रुचि और शाश्वतवाद के हवाले नहीं करता। वह वर्तमान जनजीवन में सौंदर्य खोजता है। सौंदर्य का संबंध हमारे हार्दिक आवेगों और मानसिक चेतना दोनों से होता है। इन दोनों का संबंध सामाजिक संबंधों से होता है। नए समाजमें पलने वाला अथवा उसके साथ चलने का प्रयास करनेवाला नए उठते हुए समाज मे सौंदर्य देखेगा, वह संघर्षों से भागकर किसी अतीत लोक या कल्पनालोक के निष्क्रिय सौंदर्य में मुँह नहीं छिपाएगा। प्रसिद्ध मार्क्सवादी रूसी दार्शनिक एन० जी० चरनीशवस्की के शब्दों में 'मनुष्य को जीवन सबसे प्यारा है इसी लिये सौंदर्य की यह परिभाषा अत्यंत संतोषजनक मालूम पड़ती है—सौंदर्य जीवन है।'

प्रगतिवाद साहित्य को सोद्देश्य मानता है। सोद्देश्यता और प्रचार को एक नहीं कर देना चाहिए। सोद्देश्यता का अर्थ है किसी विशेष अभिप्राय से, किसी विशेष दृष्टि से कला की रचना करना। प्रचार का अर्थ है बहुत स्पष्ट रूप से किसी सिद्धांत की, दृष्टिकोण की या मान्यता की घोषणा करते फिरना। सोद्देश्यता रचना की प्रकृति के विरुद्ध नहीं, परंतु प्रचार विरुद्ध है। सोद्देश्यता रचना की शक्ति को या उसकी रचनात्मकता को बल भी प्रदान करता है तथा आग्रह से बहुत ग्रस्त होने पर रचना को कमजोर भी कर सकता है किंतु प्रचार रचनात्मकता से असंबद्ध होने के कारण कृति को कमजोर ही बनाता है। प्रगतिवाद का उद्देश्य स्पष्ट किया जा चुका है अर्थात् वह सामाजिक यथार्थ का इस प्रकार चित्रण करता है कि कुरूप, शोषक, सड़ी गली विसंगतिग्रस्त शक्तियों का पर्दाफाश हो और नई सामाजिक शक्तियों के संघर्षों, युयुत्सा और आस्था को बल मिले। 'साहित्य जनता का जनता के लिये चित्रण करता है' यह दृष्टिकोण प्रगतिवादी साहित्य के सर्जन के मूल में काम कर रहा था। प्रचार साहित्य को हलका बनाता है और सिद्धांत के स्तर पर मार्क्सवादी दर्शन के मनीषियों और साहित्यचिंतकों ने साहित्य में प्रचार का विरोध ही किया है। किंतु व्यवहार में यह देखा गया कि अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य प्रचार बनकर रह गया। हिंदी में ही नहीं अन्य भाषाओं के प्रगतिवादी साहित्यों में भी प्रचार इतना प्रधान हो गया कि सामाजिक जीवन की संश्लिष्ट वास्तविकता और मन के गहन द्वंद्वों के स्थान पर फारमूले के रूप में विचार, सिद्धांत और क्रांति के मोटे मोटे स्वर उभरने लगे। सामाजिक जीवन की संश्लिष्ट वास्तविकता से कटकर केवल सिद्धांत का प्रचार करने का परिणाम यह हुआ कि कवि अपनी जमीन, अपने परिवेश से संबद्ध न रहकर लाल सेना, लाल रूस, फिर बाद में लाल चीन का गीत गाने लगा। फारमूला, सिद्धांत या मत के प्रचार के लिये अपने समाज के जटिल यथार्थ से संबद्ध होने की आवश्यकता नहीं होती, नारा तो कभी भी और कहीं भी उछाला जा सकता है। प्रचार का दूसरा खतरा यह भी हुआ कि कवियों ने जनजीवन से अपने को संबद्ध किए बिना ही जनजीवन का गीत गाना शुरू किया। अनुभव के स्थान पर फारमूला कविताओं का प्रेरक बना, शहर में रहकर गांवों के, किसानों के, खेतों खलिहानों के, मजदूरों के गीत गाये जाने लगे। इस प्रकार प्रचारात्मक कविताओं की भरमार हो गई। चाहे सुमित्रानंदन पंत हों, चाहे केदारनाथ अग्रवाल, चाहे सुमन, चाहे नागार्जुन सबमें प्रचारकाव्य देखा जा सकता है।

कला का शिल्प उसके वक्तव्यविषय के अनुसार होता है। प्रगतिवादी कविता चूँकि सामाजिक जीवन की वास्तविकता को लेकर चली, जनता तक पहुँचना और जनता के जीवन की ही बात कहना उसका लक्ष्य रहा, इसलिये वह छायावाद की वायवी, असामान्य, रेशमी परिधानशालिनी और सूक्ष्म भाषा को छोड़कर सुस्पष्ट, सामान्य और प्रचलित भाषा को अपनाकर चली। उसके प्रतीक, बिंब, शब्द, मुहावरे,

चित्र सभी जनजीवन के बीच से लिए गए, इसलिये एक बहुत ही जीवंत भाषा का उदय हुआ—जैसे रंगीन कुहासे को तोड़कर विषम यथार्थ धरातल उभर गया हो। किंतु प्रगतिवाद के आरंभ में भाषाशैली की यह स्पष्टवादिता प्रतिवादिता को पहुँचकर व्याख्यान की भाषा की तरह सपाट हो गई, उसमें अभिधा की प्रधानता हो गई। शैली सांकेतिक और चित्रात्मक न होकर उपदेशात्मक हो गई। इस प्रकार काव्य का कलात्मक सौंदर्य निखर नहीं पाया। किंतु यह दृष्टिकोण का दोष नहीं था, यह उस दृष्टिकोण को ठीक से न समझ पाने का परिणाम था। ज्यों ज्यो आंदोलन का उफान मंद पड़ता गया या ज्यों ज्यों लोग मार्क्सवादी दृष्टि को साहित्य के संदर्भ में ठीक से समझते गए, त्यों त्यों काव्य प्रचारात्मक, अभिधात्मक और सपाट रूप को छोड़कर अधिक चित्रात्मक, गहन और सांकेतिक होता गया। कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद और नई कविता में बहुत सी कविताएँ ऐसी हैं जो प्रगतिवाद का स्वस्थ रूप प्रस्तुत करती हैं। प्रचार के समय भी ऐसी कविताएँ काफी संख्या में लिखी गई जो स्वस्थ सुंदर काव्य की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। रामविलास शर्मा, नागार्जुन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन की बहुत सी कविताएँ उच्चकोटि की कविताएँ हैं।

प्रगतिवाद ने अपनी सीमाओं के बावजूद हिंदी काव्यधारा के विकास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ा। उसने काव्य को (साहित्य को) व्यक्तिवादी यथार्थ के बंद कमरे से निकालकर जनजीवन के बीच प्रवाहित कर दिया, और साहित्य के मूल्य, सौंदर्यबोध और लक्ष्य को समाज के यथार्थ और उसकी रचना से जोड़ा, भाषा को कुहरे से निकालकर धरातल पर प्रतिष्ठित किया। सुमित्रानंदन पंत, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, शिवमंगल सिंह 'सुमन', त्रिलोचन इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

सुमित्रानंदन पंत : सच्चे अर्थों में पंतजी हिंदी के पहले प्रगतिवादी कवि कहे जा सकते है। पंतजी छायावाद के श्रेष्ठ कवियों में से एक हैं। उनकी प्रतिभा, उनकी कल्पनाशक्ति और अभिव्यक्तिकौशल से हिंदी साहित्यजगत् पहले परिचित हो चुका था। उन्होंने छायावाद की नवयुगोचित काव्य रच सकने की असमर्थता की घोषणा की और मार्क्स के भौतिक दर्शन के आधार पर नया (प्रगतिशील) काव्य रचने का संकल्प सा लिया। पंतजी की रचनाओं में प्रगतिशील साहित्य का सही रूप दिखाई पड़ता है। उन्होंने एक ओर प्राचीन सामंती रूढ़ियो और मान्यताओं को ठुकराया, दूसरी ओर नवनिर्माण का स्वर मुखर किया और साथ ही साथ जनजीवन की दशा का सही चित्र अंकित करने की चेष्टा की। अभिव्यक्ति के पक्ष में भी उन्होंने अपने पूर्वसंस्कारों से अद्भुत संघर्ष किया और सरल से सरल भाषा में लिखने की कोशिश की। उन्होंने छायावादी अलंकारों और सूक्ष्म काल्पनिक चित्रविधानों की अपेक्षा जनमन तक भावों को सहज ढंग से ढोनेवाली वाणी को प्यार किया :

तुम वहन कर सको जनमन में मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?

पंतजी ने भावात्मक विद्रोह की बात न कर ठोस बौद्धिक आधार पर मार्क्सवाद की मान्यताओं को स्वर दिया। मार्क्सवादी भौतिकवाद पदार्थ से चेतना की उत्पत्ति और विकास मानता है। चेतना को भौतिक परिस्थितियों से अलग करके नहीं देखा जा सकता :

कहता भौतिकवाद वस्तुजग का कर तत्वान्वेषण
भौतिकभव ही एकमात्र मानव का अंतरदर्पण
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय हमारा जो मन
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अंतर परिवर्तन।

पंतजी के ही शब्दों में नवीन भौतिकवाद (मार्क्सवाद) दर्शन और विज्ञान, मानव सभ्यता के अंतर्बाह्य विकास का ऐतिहासिक समन्वय है :

दर्शनयुग का अंत, अंत विज्ञानों का संघर्षण
अब दर्शन विज्ञान सत्य का करता भव्य निरूपण।

पंतजी ने इस बात को गहराई से समझा है कि ध्वंस सृजन के लिये अनिवार्य है और सृजन के लिये ही ध्वंस की सार्थकता है :

आओ हे दुर्धर्षवर्ष, लाओ विनाश के साथ नवसृजन
विंश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले उत्तर यौवन।

प्रगतिवाद मनुष्य के सांस्कृतिक प्रयत्नों, उसके मन की छवियों और चेतना-सत्ताओं को नकारता नहीं है बल्कि उन्हें बहुत महत्त्व देता है। भौतिक और सामाजिक स्थितियों के पतनकाल में उच्चकोटि की संस्कृति निर्मित नहीं हो सकती। प्रगतिवाद अत्यंत उच्चकोटि की संस्कृति और मानवचेतना की छवि की प्रतिष्ठा के प्रयत्न में विश्वास करता है :

अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय निष्प्राण
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तुविधान।

प्रगतिवाद ने कविता के लिये जीवन का अपार क्षेत्र मुक्त किया, उसकी दृष्टि आकाश में ताकने के स्थान पर धरती की रंग बिरंगी शोभा, शक्ति और स्वर को निरखने लगी। आकाश में ताकनेवाले लोगों से कवि कहता है :

ताक रहे हो गगन ? मृत्यु नीलिमा गगन।
निस्पंद शून्य, निर्जन, नि स्वन
देखो भू को, स्वर्गिक भू को।
मानव-पुण्य-प्रसू को।

पंतजी ने 'ग्राम्या' में गाँव की गरीबी, रीतिरिवाज, नृत्यगान, सुषमा और दुर्भाग्य

सभी का चित्र खींचा है। 'युगांत', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' पंतजी की तीन काव्य-पुस्तकें हैं जिनमें कवि का प्रगतिवादी स्वर ध्वनित हुआ है। किंतु कवि की प्रगतिशील कविताओं की सीमाएँ भी बहुत स्पष्ट है। पंतजी ने प्रगतिवाद को समझा और उसे भरसक रूप देने का प्रयत्न किया किंतु वे उच्चकोटि के प्रगतिवादी कवि न बन सके। उनकी प्रगतिवादी कविताओं की दो कोटियाँ हैं। एक में उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धांतों को पद्यबद्ध सा किया है, दूसरे में जनजीवन के चित्र दिए हैं। यह स्पष्ट है कि किसी सिद्धांत को पद्यबद्ध कर देने से कविता नही बनती। दूसरी कोटि की कविताओं में जीवन और जगत् का चित्र देने का प्रयत्न है। प्रयत्न इसलिये कह रहा हूँ कि जनजीवन के साथ तादात्म्य न होने से कवि ने जीवन के सत्यों को दूर से या सिद्धांत की दृष्टि से अनासक्त भाव से देखा है। इसलिये कवि के चित्रों में गहरी संवेदना और मार्मिक छवियों का अभाव है, उनमे बौद्धिक संवेदना अवश्य है, अनुभूतिजन्य दर्द नहीं है। भाषा अपेक्षाकृत सरल अवश्य हुई है किंतु शैली और छंद पुराने ही रहे।

छायावादी कवियो मे पंत के अतिरिक्त निरालाजी ने इस दिशा में स्तुत्य प्रयास किये। निरालाजी ने पंतजी की तरह न तो मार्क्सवादी दृष्टि का व्याख्यान किया और न बहुत विस्तार से सामान्य जनता का चित्र ही खीचा। उन्होंने व्यंग्यात्मक स्वर मे कुकुरमुत्ता, खजोहरा, गर्म पकौड़ी, मँहगू महँगा ही रहा, डिप्टी साहब आए, आदि कविताएँ लिखी। इन कविताओं में कही कही छोटे व्यक्ति का दंभ लक्षित होता है, कहीं कहीं सामान्य जनों के प्रति हलकी हलकी करुणा दिखाई पड़ती है। इन व्यंग्यात्मक कविताओं के अतिरिक्त अणिमा, नए पत्ते मे कुछ ऐसे चित्र दिखाई पड़ते हैं जिनमें साधारण जनता का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ अंकित हैं। ये चित्र पंतजी के चित्रों की अपेक्षा अधिक यथार्थ और मर्मस्पर्शी है। निरालाजी की संवेदना शुरू ही से कुछ ऐसी व्यापक और दृष्टि प्रसारगामो रही है कि वैयक्तिक अनुभूतियो से भरी मर्मस्पर्शी छायावादी कविताएं लिखने के अतिरिक्त उन्होंने सहज ही समाज के कुछ दीनहीन पीड़ित प्राणियो को काव्य का विषय बना लिया। वह आता, वह तोड़ती पत्थर, विधवा आदि कविताएँ इस बात के प्रमाण है। निरालाजी की प्रगतिशील कही जानेवाली कविताओं की भाषाशैली और छंदविधान अधिक सहज और व्यावहारिक हैं।

यह प्रगतिशील आंदोलन की शुरुआत थी। धीरे धीरे प्रगतिशील साहित्य का स्वरूप निखरता गया और उसका क्षेत्र विस्तृत होता गया। प्रचारवादी साहित्य (जिसमें मार्क्सवादी सिद्धांतो, रूस, लाल सेना और जनजीवन के प्रति अनुभवहीन झुकाव, विद्रोह आदि का नारा बुलंद किया जा रहा था और जिनके कारण प्रगतिवाद पर विदेशीपन का प्रभाव भी देखा जाता है) के बावजूद प्रगतिवादी साहित्य ने अपने समाज और देश की जनता की चतुर्दिक् परिस्थितियों और मानसिक स्तरों को ग्रहण किया है। मूलत. उसका वर्ण्यविषय अपना समाज ही है। प्रगतिवादी काव्य पंत,

निराला की कविताओं से फूटकर धीरे धीरे समाज के विविध पक्षों को अपनी धारा में समेटता गया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारतीय समाज में अनेक प्रश्न और समस्याएँ उठीं। महायुद्ध के पश्चात् समाज में अनेक प्रकार की विशृंखलताएँ और विघटन उत्पन्न हुए। अकाल का दौर शुरू हुआ। चोरबाजारी, घूसखोरी का बोलबाला हुआ। विवशता और भुखमरी के कारण त्राहि त्राहि मच गई। राजनैतिक क्षेत्र में स्वदेशी आंदोलन चल रहा था। साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रजातांत्रिक स्वर उठ रहे थे। एशिया के सभी छोटे बड़े देश पश्चिमी उपनिवेशवाद का जुआ कंधे से उतार फेंकने के लिये आदोलन कर रहे थे। रूसी साम्यवादी राज्यव्यवस्था पीड़ित और शोषित देशों की आँखों में भविष्य का सपना बन रही थी। विदेश में मुसोलिनी और हिटलर जैसे खूंखार लुटेरे पराजित होकर नई मानवता के मार्ग से उठ चुके थे। अपने देश में स्वदेशी आंदोलन के रूप में एक नई समस्या जोर पकड़ रही थी—वह भी हिंदू मुसलिम समस्या। अंग्रेजी सरकार धर्म के नाम पर इन दोनों संप्रदायों को लड़ा रही थी और देश के बँटवारे का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। प्रगतिवाद क्रमश. विकसित होकर इन अनेक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रभावित होकर उन्हें स्वर दे रहा था। वह पूर्णरूप से जनता का पक्ष लेकर मानवता के गीत गा रहा था, इन वास्तविकताओं को स्वर देने के लिये कवि आगे आए।

प्रगतिशील कवियों ने यह महसूस किया कि मानवता का संपूर्ण क्षेत्र प्रगतिशील कविता का विषय हो सकता है। प्रेम की उपेक्षा जीवन की उपेक्षा है। प्रेम के विना जीवन कहाँ? मनुष्य अपनी मजबूरियों में भो प्रेम करता है। प्रगतिवादियों ने प्रेम की संवेदना को परिवार और समाज की अनेक बेबसियों के बीच उभारा, अर्थात् प्रेम अपने परिवेश और संदर्भ से जुड़कर उभरा इसलिये अधिक जीवंत मालूम पड़ा। नागार्जुन की प्रेमसंबंधी कविताएँ इस संदर्भ में देखी जा सकती है। आगे चलकर प्रगतिवादी कवि तीखी व्यक्तिगत संवेदनाओं (आवेश मे जिनकी उसने पहले उपेक्षा की थी) को भी स्वर देने लगा किंतु व्यक्तिगत संवेदनाओं के क्षेत्र में उसमे और प्रयोगवादी में एक मुख्य अंतर लक्षित होता है। प्रगतिवाद की व्यक्तिवादी पीड़ा सामाजिक पीड़ा की प्रतीक होती है, उसका व्यक्तिगत उल्लास सामाजिक उल्लास का अंग होता है। वह तीव्र से तीव्र पीड़ा में भी जीवन के प्रति आस्था बनाए रखता है। प्रयोगवाद की व्यक्तिगत पीड़ा समाजविच्छिन्न होती है, उसके मूल में व्यक्ति की कुंठा है, समाज की कुंठा नहीं।

प्रगतिवाद ने प्रकृति के क्षेत्र मे बिखरे असीम जीवनउत्साह को देखा। उसे प्रकृति का एकांत रूप नहीं जनसंकुल रूप पसंद आया। गाँव, खेत, खलिहान, विविध मौसम, नदीनाले, आसपास के परिचित पेड़पौधे प्रगतिवादी काव्य के उपकरण हुए। प्रगतिवादी कवि दूर किसी काल्पनिक वन्य छवि में नही भटकता, वह अपने गाँव या

नगर के बीच और आसपास फैले हुए, जाने पहचाने प्राकृतिक सौंदर्य और उसके माध्यम से सामाजिक जीवन के हर्ष विषाद को चित्रित करता है।

केदारनाथ अग्रवाल : ये प्रगतिवादी कवियों में प्रमुख हैं। इन्होंने उद्‌बोधनात्मक कविताएँ भी काफी लिखी हैं किंतु उच्चकोटि की कविताओं की भी कमी इनके यहाँ नहीं है। इनकी आरंभिक कविताओं ('नीद के बादल' की कविताओं) पर छायावाद की रूमानियत का काफी प्रभाव है किंतु 'युग की गंगा' की कविताएँ मूलतः प्रगतिवादी हैं जिनमे मुख्यतः ऐसी कविताएँ है जो बिंबों के माध्यम से जीवन की विषमता को, आभिजात्य की विसंगति और जनसामान्य की गरीबी, संघर्ष और वेदना को उभारती हैं। जनजीवन से जुडकर कवि आस्थावान् हो उठता है। केदार की कविताओं मे मानव और प्रकृति के सौंदर्य का बड़ा सहज, वेगवान् और उन्मुक्त रूप मिलता है। केदार की कविताओ में क्रमशः प्रगतिवाद की आंतरिक शक्तियाँ उभरती गई और दलीय आग्रह, स्थूलता तथा आक्रोश कम होता गया। उनकी इधर की कविताओं को नई कविता में आसानी से संमिलित किया जा सकता है। 'माझी न बजाओ वंशी', 'वसंती हवा' आदि कविताएँ केदार की प्रगतिकालीन सहज सौंदर्यवादी कविताओं के रूप में देखी जा सकती हैं।

रामविलास शर्मा : इनकी कविताओ का सौदर्य है सादगी, वेग और सहजता। शर्मा जी में प्रचार और नारा की कमी नही, स्थूल व्यंग्यों की भी अधिकता है। किंतु जहाँ वे प्रतिबादिताओं से मुक्त होकर कवि के रूप मे शेष रह जाते है वहाँ बहुत प्रभावित करते है। ये सामाजिक संवेदना को आत्मसात् करके बहुत सरल वेगवान् भाषा मे उसे अभिव्यक्त करते हैं। इनकी भाषा जनभाषा की सारी भंगिमा, शक्ति और प्रवाह से संवलित होती है।

नागार्जुन : इनकी कविताएँ मुख्यतः तीन तरह की हैं। कुछ कविताएँ गंभीर संवेदनात्मक और कलात्मक है जिनमे कवि ने मानवमन की रागात्मक और सौंदर्यमयी छवियों को अंकित किया है और साथ ही साथ मनुष्य की मानवीय संभावनाओं के प्रति आस्था व्यक्त की है। दूसरी कोटि की कविताएँ वे हैं जो सामाजिक कुरूपता, राजनैतिक अव्यवस्था और धार्मिक अंधविश्वास पर बढ़िया चुभता हुआ व्यंग्य करती है। तीसरी कोटि की रचनाएँ उद्‌बोधनात्मक है, जो हलकी हैं। 'बादल को घिरते देखा है', 'पाषाणी', 'चंदना', 'रवींद्र के प्रति', 'सिंदूर तिलकित भाल', 'तुम्हारी दंतुरित मुसकान' आदि कविताएँ इनकी उत्तम प्रगतिवादी कविताएँ हैं।

शिवमंगल सिंह सुमन : इनकी भी दो तरह की कविताएँ दिखाई पड़ती है। एक तो वे, जो गीत हैं या छोटी छोटी सुगठित कविताएँ हैं। दूसरी वे, जो अधिक लंबी लंबी और उपदेशात्मक हैं। उनके गीतो में प्रेम और प्रकृति की सफल व्यंजना है। उनकी लंबी कविताओं मे जनजागरण का कोई न कोई ज्वलंत पक्ष वर्णित होता

है या उनमें सामाजिक अभाव के चित्रण के साथ क्रांति की गर्जना होती है। उनकी छोटी छोटी कविताएँ और गीत जहाँ कला और प्रभाव की दृष्टि से उत्तम दीखते हैं वहाँ बड़ी बड़ी कविताएँ अधिक स्थान घेरती हैं और उनका प्रभाव बिखर जाता है क्योंकि वे ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक न होकर इतिवृत्तात्मक होती है। 'एशिया जाग उठा है', 'जल रहे हैं दीप जलती है जवानी' जैसी लंबी कविताएँ उदाहरणार्थ देखी जा सकती हैं। सुमन की जनवादी आवाज उनके जनजीवन के अनुभव के अभाव में आवाज बनकर ही रह जाती है और सौंदर्यमूलक गीत और लघुचित्र उनके अनुभव से जुड़े होने के नाते प्रभावशाली हो जाते हैं।

त्रिलोचन : ये सशक्त कवि है। इनकी कविताओं मे बड़ी सादगी है और हर कविता में धरती की सोंधी गंध मिलती है। कविताएँ आकार में छोटी और प्रभाव में तीव्र होती हैं। त्रिलोचन ने संघर्ष किया है इसलिये इनकी कविताओं मे दैन्य, अभाव और संघर्षों का सही चित्र प्राप्त होता है तथा संघर्षजन्य अटूट विजयभाव तथा शक्ति से इनकी कविताएँ ओतप्रोत होती है। इन्होंने सदैव मनुष्य के रागात्मक पक्ष पर ध्यान रखा है। इनकी कविताओं में न व्यर्थ की भरती है और न सस्ता उद्बोधन। कहीं कही ये बौद्धिकता के आधिक्य या संवेदना की क्षीणता के कारण रूखी और वेगहीन अवश्य हो गई है।

मुक्तिबोध : ये अपने विश्वासों और संवेदनाओं से जनवादी है। प्रगतिशील कविता के अंतर्गत इनकी कविताएँ आसानी से रखी जा सकती है किंतु कुल मिलाकर इन्हें नई कविता के अंतर्गत रखना और विवेचना करना समीचीन होगा।

अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती में भी प्रगतिवाद किसी न किसी रूप में हैं किंतु मूलतः इन्हें प्रगतिवाद के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता।

प्रयोगवाद और नई कविता

प्रयोगवाद : प्रयोग तो प्रत्येक युग में होते आए है किंतु प्रयोगवाद नाम उन कविताओं के लिये रूढ़ हो गया जो कुछ नए बोधों, संवेदनाओं तथा उन्हें प्रेषित करनेवाले शिल्पगत चमत्कारों को लेकर शुरू शुरू में तारसप्तक के माध्यम से सन् ४३ में प्रकाशजगत् में आई और जो प्रगतिशील कविताओं के साथ विकसित होती गई तथा जिनका पर्यवसान नई कविता में हो गया।

प्रयोगवाद इन कविताओं के लिये परिहास में दिया गया नाम है। प्रथम सप्तक में संकलित कविताओं के माध्यम से होनेवाले प्रयोगों की ओर संकेत किया गया था। इसी प्रयोग शब्द को पकड़कर आलोचकों ने व्यंग्यात्मक लहजे में प्रयोगवाद नाम दे डाला। 'प्रयोगवाद' नाम भ्रामक है क्योंकि इस नाम से यह भाव टपकता है

कि इन कवियों ने प्रयोग को साध्य मानकर एक नया वाद चला दिया। अज्ञेयजी ने दूसरे सप्तक की भूमिका में कविकर्म की व्याख्या करते हुए प्रयोग शब्द को स्पष्ट किया था। उनकी दृष्टि में 'प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है, दोहरा साधन है। एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण क्रिया को और उसके साधनों को जानने का साधन है।' फिर भी नाम चल पड़ा तो चल पड़ा।

अब प्रश्न यह उठता है कि वह इष्ट सत्य क्या है जिसके साधन के रूप में नए प्रयोग स्वीकारे गए है। 'तारसप्तक' और 'प्रतीक' पत्रिका को देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनमें संगृहीत या प्रकाशित कवियों के अनुभव के क्षेत्र, दृष्टिकोण और कथ्य एक ही प्रकार के नहीं है : कुछ ऐसे है जो विचारों से समाजवादी हैं और संस्कारों से व्यक्तिवादी : जैसे शमशेरबहादुर सिंह, नरेश मेहता और नेमिचंद्र जैन। कुछ ऐसे हैं जो विचारों और क्रियाओं दोनों से समाजवादी हैं : जैसे रामविलास शर्मा, गजानन माधव 'मुक्तिबोध'; और कुछ ऐसे है जो प्रगतिशील कविता के द्वारा व्यक्त होते हुए जीवनमूल्यों और सामाजिक प्रश्नों को असत्य या सत्याभास मानकर अपने व्यक्तिगत जीवन में तड़पनेवाली गहरी संवेदनाओं को ही रूपायित करना चाहते हैं। प्रायः ये सभी कवि मध्यवर्ग के हैं। जिन कवियों ने समाजवादी विश्वासों को अपने संस्कारों में ढालकर कविताएँ लिखी हैं वे वास्तव में जनवादी कवि हैं किंतु जो ऐसा नही कर सके है या करना चाहते हैं वे अपने व्यक्तिगत सुखों, दुःखों की संवेदनाओ को ही अपने काव्य का सत्य मानकर उन्हें नए नए माध्यमो द्वारा व्यक्त कर रहे है। आलोचकों ने प्रयोगवाद की चर्चा करते समय मूलतः इन्ही कवियों को ध्यान में रखा है। यह ठीक भी है क्योंकि समाजवादी विश्वासोंवाले कवि प्रगतिशील कविता के क्षेत्र में आ ही जाते है।

अतः प्रयोगवादी कविता ह्रासोन्मुख मध्यमवर्गीय समाज के जीवन का चित्र है। प्रयोगवादी कवि ने जिस नए सत्य का शोध और प्रेषण करने के लिये माध्यम की नई नई खोज की घोषणा की थी, वह सत्य इसी मध्यवर्गीय समाज के व्यक्ति का सत्य था। प्रगतिशील कविता ने शोषित किसानों और मजदूरों के जीवनसत्यों को उद्‌घाटित किया; इनके जीवनव्यापारों के केंद्र में आर्थिक संकट को देखा। अर्थात् किसानों और मजदूरों के मूल में आर्थिक लाचारी है। यह सत्य है किंतु आर्थिक लाचारी को देखने का आग्रह अपनी अतिवादिता में कहीं कहीं यांत्रिक हो गया और समूह का स्वर इस तरह ऊँचा किया गया कि किसान या मजदूर व्यक्ति न रहकर समूह की यांत्रिक इकाई बनकर रह गया। प्रगतिवाद की अभिव्यक्ति प्रणाली भी अत्यधिक व्यावहारिक और सीधी थी—कहीं कहीं बिलकुल सपाट भी। इस आंदोलन में मध्यमवर्गीय समाज के जीवनप्रश्नों और व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक सत्यों का अभिव्यंजन छूट गया या बड़े सपाट और गलत रूप से प्रस्तुत किया गया। इन मध्य-

वर्गीय व्यक्तिवादी कवियों ने यह भी अनुभव किया कि अनेक प्रगतिशील कवि संस्कारों से व्यक्तिवादी और मध्यवर्गीय होने के नाते जनवादी कविताएँ लिख नहीं पाते। जब लिखते हैं तो कविताएँ कविताएँ न रहकर समाजवादी सिद्धांतों का शुष्क रूपांतर या जनजीवन के प्रति कोरी सहानुभूति बनकर रह जाती है। शमशेर आदि कवि जहाँ भी जनवादी कविताएँ लिखते हैं वहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे फर्ज अदा करने के लिये लिख रहे है। नरेश मेहता की 'समय देवता' कविता अपनी सारी नवीन प्रतीक और उपमान रचना के बावजूद ऊपर ऊपर से गुजर जाती है। अतः प्रश्न यह उठाया गया कि क्यों न हम उसी यथार्थ को अभिव्यक्ति दे जिसे हम भोगते हैं, अनुभव करते हैं, अर्थात् जिसे हम आत्मसात् कर लेते है। व्यापक जीवन की बड़ी बड़ी सैद्धांतिक बातें, नैतिकता के बड़े बड़े फलसफे ज्ञानविज्ञान के क्षेत्र में भले ही उपादेय हों, कला के क्षेत्र में कलाकार के 'स्व' की आँच मे तपे बिना न तो खप सकते है और न उपादेय ही है। प्रश्न यह नही कि हमने कला में जीवन के कितने व्यापक अंश को समेटा है, प्रश्न यह है कि हमने लिए हुए अंश को कितना जिया है, कितना भोगा है, और कितनी ईमानदारी और सच्चाई के साथ व्यक्त किया है। प्रयोगवादी कवि इसी लिये व्यापक जनजीवन के अंकन के फेर मे न पड़कर अपने जिए हुए जीवन के ही विभिन्न दर्दों को अंकित करना पसंद करते है। प्रगतिवादियों ने यह अवश्य कहा कि जनजीवन के संघर्षों को अभिव्यक्त करने के लिये कवियों को वह जीवन भोगना चाहिए अर्थात् खुलकर संघर्ष में भाग लेना चाहिए। तभी वे जनजीवन के संघर्षों को ईमानदारी से प्रस्तुत कर सकते है। मध्यवर्गीय कवियों को चाहिए कि वे अपने व्यक्तिवादी संस्कार क्रमशः सामाजिक संस्कारों की सीमा तक खीच ले जायँ। यह बात सिद्धांत रूप से सही है किंतु इसे व्यावहारिक रूप दे पाना इतना आसान नहीं है। इसी लिये अनेक प्रगतिशील कवियों की जनवादी कविताओं मे अनावश्यक स्फीति अधिक है अपेक्षित गहराई कम। इसके विपरीत प्रयोगवादी कविताओं मे विस्तार कम है, गहराई अधिक। प्रयोगशील कविताओं की सीमित व्यक्तिगत अनुभूतियाँ अपने समस्त वेग और ईमानदारी से व्यक्त होने के नाते अधिक तीव्र और कलात्मक हैं। यह कह देना आवश्यक है कि प्रयोगवादी कविताओं में भी नकली और घटिया कोटि की कविताओं का अभाव नही है। फिर भी सामान्यतः उनमें कवि का आत्मभुक्त दर्द ईमानदारी से ध्वनित हुआ है। यह बात दूसरी है कि उनके व्यक्तिगत दुःखदर्द अपने ही मे घुट घुटकर विकृत हो जाने के कारण बहुत दूर तक ताजगी का निर्वाह कर सकने में समर्थ नही हुए हैं।

मध्यवर्गीय कवियों ने व्यक्तिमन के सत्यों को ही उद्घाटित करने में नए सत्यों की प्रतीति और उनका संप्रेषण समझा। मध्यवर्ग आज ह्रासोन्मुख है। वह अपने चारों ओर के कठोर परिवेश के दबाव से टूट रहा है। उसकी आकांक्षाएँ विराट् हैं, सपने रंगीन हैं, संवेदनाएँ कोमल है। वह उच्चवर्गीय समाज की समकक्षता में अपने

को पाने का आकांक्षी है, परंतु उसकी कमजोर आर्थिक भूमि और रूढ़ मिथ्या आदर्शवादिता उसकी राह रोककर खड़ी है। वह समाज में उच्च स्थान पाने के लिये अनेक ढोंग रचता है फिर भी उसे सम्मान नहीं मिलता। वह अपने चारों ओर खड़ी कठोर सामाजिक बंधनों और आर्थिक वैषम्य की अभेद्य दीवारों से टकराकर अपने में लौट आता है और अपने को समाज से कटा हुआ, हारा हुआ, खंडित और कुंठित समझने लगता है। पीड़ा के अनेक स्तरों से उलझी हुई संवेदनाओं को मन का गहरा यथार्थ मान बैठता है। यह मध्यवर्गीय व्यक्ति या कवि जनजीवन के सामूहिक जागरण से असंपृक्त रहने के कारण अपनी सीमाओं को तोड़ने का कोई सक्रिय प्रयास न करके स्व की गुफा में पीड़ा के मणि खोजता रहता है। इस प्रकार वह जनजीवन के प्रवाह से कटकर उसी के बीच 'नदी के द्वीप' की तरह अपनी इकाई में अवस्थित रहता है। प्रायः सभी प्रयोगवादी कवियों में यह स्थिति देखी जा सकती है। यह पीड़ाबोध इन कवियों में इतना गहरा और सजग है कि वे उसे दार्शनिक स्तर पर एक चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं :

> दुःख सबको माँजता है
> और
> चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किंतु
> जिनको माँजता है
> उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।
> —'अज्ञेय'

ये कवि प्रगतिवादियों की तरह अपने व्यक्तित्व को सामूहिकता में विसर्जित नहीं करते, बल्कि उस धारा से स्पृष्ट होकर भी अपनी इयत्ता बनाए हुए हैं। इनका कहना है कि अपनी इयत्ता खोकर सामूहिकता की धारा में विलीन हो जानेवाला व्यक्ति स्वयं तो कुछ नहीं ही प्राप्त करेगा सामूहिकता की धारा को भी गंदा बनाएगा।

स्वप्नकल्पी प्रयोगवादी कवियों ने अपने परिवेश को अनुकूल बनाना चाहा है किंतु चाहने मात्र से क्या होता है? उसके लिये तो सामाजिक प्रयास अपेक्षित है। अत. ये कवि अपने परिवेश से आहत होकर बार बार अनुभव करते हैं :

> मेरी भुजाएँ टूट गई हैं
> क्योंकि मैंने उनकी परिधि में
> मेघों को बाँध लेना चाहा था
> —'अज्ञेय'

धीरे धीरे वे अपने को अत्यंत हीन समझने लगते हैं। उनका आरंभिक दंभ पदाक्रांत कुत्ते की तरह रिरियाने लगता है। उनकी हर आस्था तिनके की तरह टूटने लगती है, उनके अंतर के सारे विश्वास झूठे साबित होने लगते हैं।

प्रयोगवादी कवि यथार्थवादी हैं। वे भावुकता के स्थान पर ठोस बौद्धिकता को स्वीकार करते हैं। ये कवि मध्यवर्गीय व्यक्तिजीवन की समस्त जड़ता, कुंठा, अनास्था, पराजय, मानसिक संघर्ष के सत्य को बड़ी बौद्धिकता के साथ उद्घाटित करते हैं। छायावादी कवि भी व्यक्तिवादी थे किंतु उनका व्यक्तिवाद सुंदर आदर्शों, रंगीन कल्पनाओं और मनोहर भावुकता से रंजित था किंतु प्रयोगवादी अपने सत्य को उसकी नंगी शक्ल में ही पेश करना चाहते है, यथार्थवाद का आग्रह उन्हें इस दिशा में प्रेरित करता है।

यों तो मध्यवर्गीय व्यक्तिजीवन की पीड़ा के अनेक स्वर इन कविताओं में उभरे हैं किंतु विशेषतया दमित कामवासना का ही प्राधान्य लक्षित होता है। इनकी काम-संवेदना जितनी ही तीव्र है उतनी ही सामाजिक बंधनों की सीमाएँ कठोर। छाया-वादी कवियों या व्यक्तिवादी विचारकों द्वारा कल्पित स्वाधीनता के बावजूद नारी सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन नहीं हो सकी और पुरुषों के बीच मुक्त भाव से नही आ सकी। अतएव तीव्र संवेदनाओं वाले मध्यवर्गीय कवि की यौन वासना उभर उभरकर कुंठित होती गई और कुंठित होकर दर्द बनती गई। छायावादी कवियों ने कल्पनालोक मे नारी के साथ साहचर्य स्थापितकर अपनी प्यास मिटा ली किंतु यथार्थग्राही कवियों के लिये यह संभव नही था। उन्होंने कल्पना का रंगीन आवरण हटाकर दमित यौन वासनाओं के नग्न रूप को स्पष्ट कर दिया। फ्रायड का कामसिद्धांत इनके लिये प्रधान जीवनदर्शन बन गया। इन कवियों ने कही स्पष्ट रूप से, कही बारीक प्रतीकों और बिंबों के माध्यम से दमित कामवासनाओं और उलझी हुई संवेदनाओं को रूपायित किया। अज्ञेय, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर और भारती के नाम इस संदर्भ में लिये जा सकते हैं :

आह मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार
प्यार है अभिशप्त
तुम कहाँ हो नारि ?

—'अज्ञेय'

इन फीरोजी होठों पर बरबाद
मेरी जिंदगी।
तुम्हारे स्पर्श की बादलघुली कचनार नरमाई।
तुम्हारे वक्ष की जादू भरी मदहोश गरमाई।
तुम्हारी चितवनों में नरगिसों की पात शरमाई।
किसी भी मोल पर मैं आज अपने को लुटा सकता।

सिखाने को कहा मुझसे प्रणय के देवताओं ने।
तुम्हें, आदिम गुनाहों का अजब सा इंद्रधनुषी स्वाद :
मेरी जिंदगी बरबाद।
—भारती

मकई से लाल गेहुँए तलुए
मालिश से चिकने हैं
सूखी भूरी झाड़ियों में व्यस्त
चलती फिरती पिंडलियाँ
(मोटी डालें, जाँघों से न अड़ें।)
सूरज को आईना जैसे नदियाँ हैं—
इन मर्दाना रानों की चमक
'उन' को खूब पसंद ··
···
या
—सुंदर
उठाओ
निज वक्ष
और····कस····उभर।
क्यारी
भरी गेंदा की
स्वर्णारक्त
क्यारी भरी गेंदा की।
तन पर
खिली सारी
अति सुंदर उठाओ।
—'शमशेर'

प्रयोगवाद ने कविता के क्षेत्र मे एक सीमित जीवन को व्यक्त करते हुए भी काव्य के मूल्यांकन को एक नई दिशा दी। उसने वृहत् या सामूहिक मानव के स्थान पर व्यक्ति मानव (जिसे कुछ लोगो ने लघु मानव भी कहा है) की महत्ता स्थापित की। कविता व्यक्ति के माध्यम से फूटती है। कवि यंत्र न होकर अपने राग विराग से युक्त एक मानव होता है। उसके चित्त से फूटनेवाली कविता उसके निजी संस्कारों, बोधों और दृष्टि का स्पर्श करती हुई निकलती है अत. वह मशीन से पैदा होनेवाली कोई नपी तुली, एक टाइप में ढली हुई वस्तु नही होती बल्कि कवि के मानस की अनेकानेक जटिलताओं से स्वरूप ग्रहण करती हुई निःसृत होती है। वह एक जीवित

कला है। इसलिये कवि के निजीपन का तिरस्कार कर कविता का मूल्यांकन करना समीचीन नहीं। प्रयोगवादी कवियों ने अपने भोगे हुए दुःखों, दर्दों को व्यक्तकर अपने ही समान मध्यवर्ग के अन्य व्यक्तियों की संवेदनाओं को स्वर दिया।

प्रयोगवाद ने बड़ी बड़ी घटनाओं, बड़े बड़े संघर्षों, बड़े बड़े व्यक्तियों या समुदायों, बड़े बड़े जीवनप्रसंगों के विशाल फलक पर इतिवृत्तात्मक काव्य का निर्माण नहीं किया, उसने व्यक्ति के अंतःसंघर्षों, क्षणों की अनुभूतियों और सूक्ष्म से सूक्ष्म छोटी से छोटी संवेदनाओं और मन की विभिन्न स्थितियों को लेकर छोटी छोटी तीव्र कविताएँ लिखीं, 'फ्लैशेज' दिए। कला में मूल प्रश्न विषय की महत्ता या लघुता का नहीं है, उसे ईमानदारी के साथ जीकर व्यक्त करने का है। सुखदुःख की संवेदनाओं को उभारकर चुपके से सरक जानेवाले छोटे छोटे क्षण, छोटी छोटी अनदेखी अनचाही घटनाएँ, छोटे छोटे प्रसंग बड़ी सच्चाई के साथ प्रयोगवादी कविता में अंकित होने शुरू हुए। लघु मानव को उसकी समस्त हीनता और महत्ता के संदर्भ में प्रस्तुत करके प्रयोगवादी कविता ने उसके प्रति सहानुभूतिमय दृष्टि से सोचने का एक नया रास्ता खोला। आदमी अपनी सारी कमजोरियों, हीनताओं, लघुताओं और महत्ताओं के बीच यथार्थ है। अतः यथार्थ मानव को सृष्टि के लिये उसके जटिल परिवेश को अंकित करना कलाकार का धर्म है।

नई कविता : 'नई कविता' भी हिंदी की पूर्ववर्ती कविताओं की भाँति अपने परिवेश की उपज है। इस परिवेश में पृष्ठभूमि के तौर पर काम करनेवाली पिछली कविताएँ और समसामयिक विश्वास, दृष्टियाँ और परिस्थितियाँ सभी संमिलित हैं। अक्सर यह कहा जाता है कि नई कविता प्रयोगवाद का ही नया नाम है। कुछ उत्साही लोग यह भी कह जाते हैं कि नई कविता पाश्चात्य नई कविता की बौद्धिक नकल है। नकल की बात बहुत थोथी है। आज विश्व की बहुत सी समस्याएँ समान हो चली हैं। हम केवल भाव के स्तर पर ही नहीं चिंतन के स्तर पर भी उन समस्याओं को देखते भालते हैं। इस प्रकार हर देश और हर भाषा के नए साहित्य में चिंतन और अनुभूति के कुछ ऐसे तत्व उभर आते हैं जो समान या सामान्य होते हैं। परंतु इन समान और सामान्य तत्वों के अतिरिक्त इन साहित्यों में अपने परिवेश की जिंदगी अपने स्पंदनों के साथ मुखर हो उठती है। हिंदी की नई कविता भी इन दोनों सत्यों को समेटे गतिशील है।

नई कविता केवल प्रयोगवाद की उत्पत्ति या उसका नया नाम नहीं है। नई कविता के पूर्व प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों वादों की धाराएँ समानांतर बह रही थीं। दोनों की अपनी अपनी शक्तियाँ, संभावनाएँ और अपनी अपनी कमजोरियाँ और सीमाएँ थीं। प्रगतिवाद छायावाद की सापेक्षता में बहुत व्यापक दृष्टिकोण से युक्त, सामाजिक अनुभूतिशील और वास्तविक जीवन का गायक काव्य सिद्ध हुआ किंतु वह भावबोध तथा वस्तुबोध के नए स्तरों को उभारने के बावजूद अनेक बार कलात्मक

ऊँचाई प्राप्त करनेमें असमर्थ रहा। उसने साहित्य को छायावाद के मोहक कुहरे से निकालकर जनजीवन के ठोस धरातल पर स्थापित करना चाहा किंतु उसने स्वयं जीवन की अनंत व्यापकता को छोड़कर कुछ सीमित जीवनक्षेत्रों को ही देखा। अनेक बार लोकजीवन की बाहरी वास्तविकताओं, संदेशों, उपदेशों की अभिव्यक्ति के मोह में तथा अपने शिल्प को सामान्य जनसुलभ बनाने के चक्कर में मध्यवर्गीय जीवन की आंतरिक वास्तविकताओं और शिल्प की कलात्मक छवियों को छोड़ बैठा।

प्रयोगवाद प्रगतिवाद से छूटे हुए सत्यों को लक्ष्य बनाकर चला। प्रयोगवाद का दार्शनिक विश्वास फ्रायड के अंतश्चेतनावाद और सार्त्र के अस्तित्ववाद पर आधारित है। अतः इस क्षेत्र के कवियों ने दमित वासना, असफल प्रेम और अकेलेपन की छटपटाहट को वाणी दी। इन कवियों ने अपने को पूरे समाज से काटकर अपनी अंतर्गुहा में घुटती कुंठा, निराशा, अनास्था और अहम् को कविता का रूप दिया। प्रयोगवाद की सीमाएँ शुरू से ही स्पष्ट थीं। उसका शिल्प नया था, बहुत अर्थों में कलात्मक किंतु जनभाषा और लोकशब्दो से दूर हट जाने के कारण उसमें जल्दी ही निर्जीवता और बनावट आने लगी। वह केवल व्यक्ति के कुछ अतःसत्यों से संबंध जोड़कर समाज के व्यापक प्रश्नों, संवेगों और विश्वासों से विच्छिन्न हो गया था। यह सहज था कि वह जनजीवन से अपनी जड़ें काट लेने के कारण सूख जाता।

नई कविता प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों की उपलब्धियो को अपने मे समेटे हुए है। इसका प्रमाण यह है कि दोनों धाराओं के कवि आज अपनी सीमाएँ तोड़ कर कला और जीवन के क्षेत्र में जो कुछ ग्राह्य है, उसे स्वीकार करने के लिये उत्सुक और सचेष्ट हैं। साथ ही आज ऐतिहासिक विकास के क्रम में मनुष्य के बाहर भीतर जो कुछ नए सत्य उभरे है या जो इतिहास के संघर्ष मे जिंदा बच गए है उन्हे वाणी देने के लिये आतुर हैं। इस प्रकार नई कविता की सबसे बड़ी विशेषता है कथ्य की व्यापकता। वह कोई वाद नही है, वह व्यापक जीवनदृष्टि है। कथ्य कहाँ नहीं है? प्रयोगवाद और प्रगतिवाद ने कथ्यों को बाँट लिया था, किंतु नई कविता ने मानव को उसके समग्र परिवेश में सही रूप में अंकित करना चाहा है। नई कविता की दृष्टि मानवतावादी है किंतु यह मानवतावाद मिथ्या आदर्शों की परिकल्पनाओं पर आधारित नहीं है, बल्कि यथार्थ की तीखी चेतना, अपने परिवेश से जुड़े मनुष्य के बौद्धिक प्रयासों और उसकी संवेदना के उलझे हुए नाना स्तरों तक अनुभूति और चिंतन दानों दिशाओं से पहुँचने की चेष्टाओं पर अवलंबित है। इसने छोटे बड़े का भेद नही रखा, छोटी बड़ी अनुभूतियों, व्यक्तित्वों, सत्यों, क्षणों, स्थितियों, घटनाओं और दृश्यों का बनावटी अंतर नही स्थापित किया। सबके भीतर से वास्तविक मानवीय स्तरों को उभारने की चेतना नई कविता में है। बड़े बड़े लौहपुरुष भी भीतर से कहीं न कहीं कमजोर है, कही न कही उनमें दर्द है, वह दर्द जो उन्हें अन्य मानवों से जोड़ता है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद अपनी अपनी सीमाओं और पारस्परिक वाग्युद्धों के साथ आगे बढ़ रहे थे। आजादी मिली। आजादी प्राप्त होने पर सबके मन में जमा हुआ घना कुहरा एकाएक फट गया। लोगों ने अनेक स्वप्न कल्पित किए—यह होगा, वह होगा। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद अनेक आशावादी कविताएँ लिखी गईं, जिनमें भारतीय स्वाधीनता और भारत की महानता की स्तुति थी, अनेक प्रकार के सपनों की पूर्ति की भविष्यवाणी थी। कहना न होगा कि ये कविताएँ भावावेगशील और सामयिक महत्व की अधिक थी। किंतु यह आशा तो की ही जा रही थी कि स्वाधीनताप्राप्ति की इस नवीन पृष्ठभूमि पर स्वस्थ आशावादी साहित्य के निर्माण का वातावरण तैयार होगा। स्वाधीनता के पहले हम अपने हृदयों में जो बड़े बड़े सपने सँजोए हुए थे वे अब पंख फैलाकर उन्मुक्त पक्षी की तरह पवन में लहराएँगे। हम सुखी होंगे, हमारे अभावों, हमारी हीनताओं की ग्रंथियाँ टूटेंगी। किंतु आजादी मिलने के साथ ही साथ जो सांप्रदायिक उपद्रव खड़े हो गए वे शुभ लक्षण नहीं प्रतीत हुए। चारों ओर हिंदू मुसलमानों के बीच भयंकर मारपीट; विकट ईर्ष्याद्वेष का ऊहापोह छा गया। चारों ओर खिन्नता का वातावरण तैयार हो गया। इस घटना से उत्तेजित होकर भारत के हिंदू संप्रदायवादियों का दल और भी सक्रिय हो उठा जो मुसलमान संप्रदायवादियों का जवाब देने में कांग्रेस सरकार को निकम्मी करार देकर जनता को उभारने लगा। इस संप्रदायवाद की आग में महात्मा गांधी की आहुति होकर रही। महात्मा गांधी के इस बलिदान से पूरे भारत में अंधकार की एक पर्त और छा गई। महात्मा गांधी के निधन पर एक बार फिर सामयिक कविताओं की धूम मच गई।

इन घटनाओं के बावजूद भारत का जनमानस स्वाधीनताप्राप्ति से अनेक सुख सुविधाओं की आशा लगाए बैठा था। समय बीतता गया, प्रशासन की अनुभवहीनता, क्रांतिकारी दृष्टि के अभाव और स्वार्थन्यस्त प्रशासकों और नेताओं के बाहुल्य के कारण सरकार जनजीवन में व्याप्त निराशा, अभाव और तनाव को दूर नहीं कर सकी। कुछ दिनों तक इसने अपनी अल्पावस्था को कारण बतलाकर जनता को बहकाया और कभी अपने किए कराए पिछले और तथाकथित नए चमत्कारों को डंके की चोट घोषितकर बकवासी जनता का मुँह बद करना चाहा। किंतु सचाई छिप नहीं सकी। जनता के सपने टूटने लगे। उसने अनुभव किया कि सरकार बदल गई है राज्यव्यवस्था और समाजव्यवस्था ज्यों की त्यों है। आदमी पराये के जुल्म को सह लेता है किंतु जब अपने लोग भी परायों की तरह व्यवहार करने लगते हैं तो नहीं सहा जाता। इसी लिये कांग्रेस सरकार के शासन के प्रति लोगों के मन में एक अमर्ष-मिश्रित असंतोष पैदा होने लगा। स्वार्थन्यस्त अधिकारियों और सत्ताधारियों की वजह से पक्षपात का बोलबाला हो गया। घूसखोरी को पंख लग गए। यहाँतक कि न्याय-विभाग भी दूषित हो चला। बेकारी बढ़ गई, खेतहीन खेतहीन ही रहे। अराजकता इतनी बढ़ी कि लोगों की सुरक्षा खतरे में पड़ गई। गरीबी जहाँ थी वहाँ जड़ जमाए

बैठी रही। शिक्षा का अधिकार अब भी धनवानों को रहा। पिछड़े इलाकों में शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात की कोई व्यवस्था नहीं हुई। सामाजिक क्षेत्र में भी कोई सुधार नहीं हुआ। प्राचीन सामंती और पूँजीवादी रूढ़ियाँ अपने अपने अनुकूल स्थानों पर डैने फैलाए अंडे सेती रही। व्यक्ति को व्यक्तित्व के विकास के लिये मुक्त तो किया गया किंतु यह असहाय निघरा व्यक्ति केवल मुक्त आकाश के नीचे भटकने के लिये ही मुक्त किया गया या कि भटक भटककर अपने को दो कौडी के मूल्य पर बेचने के लिये। नए संवेदनशील हृदय को पग पग पर आज की रूढियों और दकियानूसी विचारों से टकराना पड़ता है।

इन सारी अनास्थाप्रसू भूमिकाओं के साथ साथ आज का संवेदनशील हृदय मानवता को कुहरे से निकालकर उसे नए आलोक मे स्नात देखना चाहता है। वह किसी अनागत के पदों की अस्पष्ट ध्वनि सुन रहा है, वह अपनी विवशताओं के बीच छटपटाता हुआ भी पराजय स्वीकार नही करता। भावी पीढ़ियों के लिये नया संसार निर्मित करता हुआ उसका श्रम, उसका संघर्ष उसे घोर निराशा और अटूट अनास्था के गहन गर्त में गिरने नही देता। स्वाधीनता के बाद उभरनेवाली कविता (नई कविता) में न तो केवल व्यक्ति की अंतर्गुहा में सड़नेवाली ऐकांतिक कुंठा थी और न भावुकता पर आधारित बड़ी बड़ी विजयों को हस्तगत कर लेने की घोषणाएँ।

स्वाधीनताप्राप्ति के बाद प्रगतिवाद की समाप्ति की घोषणाएँ होने लगी थीं, दूसरी ओर प्रयोगवाद की निरी तांत्रिकता से लोग ऊबने लगे थे। अतः 'अब क्या लिखा जाय ?' एक प्रश्न सामने था। 'यह क्या लिखा जाय ?' का प्रश्न मानो उस काल के स्वाधीनता संग्राम के सेनानियो के 'अब क्या किया जाय ?' का प्रतिबिंब था। स्वाधीनताप्राप्ति के बाद मानो सेनानी लोग अपनी अपनी मंजिल पर पड़ाव डाल कर बैठ गए और सत्ता की एक एक जागीर लेकर निश्चित मस्ती काटने के सिवा उनके पास कोई योजना ही नही थी। चौराहे पर भटके हुए मुसाफिर की भाँति सभी लोग दिशाभ्रांत मालूम पड़ते थे। कांग्रेस सरकार की क्रमिक असफलता से जनता भी एक अजीब जलचक्र मे चक्कर काट रही थी। निराशा और किंकर्तव्यविमूढ़ता के कारण सर्वत्र एक गत्यवरोध लक्षित हो रहा था। हिंदी कविता मे भी इसी समय गतिरोध की पुकार सुनाई पड़ने लगी। 'क्या लिखा जाय ?' स्वराज्य तो मिल गया। अब हमीं देश के मालिक हैं, अतः ऐसी स्थिति में क्या कहा जाय ? क्या न कहा जाय ? प्रगतिवाद ने स्वाधीनताप्राप्ति के पश्चात् घटित होनेवाली सांप्रदायिक घटनाओं, शरणार्थियों की दयनीय स्थितियो पर साहित्य लिखा किंतु इन विषयों पर कोई कब तक और कितना लिखता ? प्रयोगवाद की व्यक्तिगत कुंठाओ में कबतक रिरियाता ? अतः गतिरोध उत्पन्न हो गया। वास्तव में यह गतिरोध थकान और हार का नहीं था। यह एक क्षणिक भटकाव था। कुहरे मे क्षणभर रुककर यात्री पथ की खोज करने लगे। यह कुहरा रात के प्रथम प्रहर का नहीं था, सुबह का था जो

सूर्य की किरणों के फूटते ही फट गया और दिशा दिशा को दौड़ते रास्ते साफ हो गए।

कवियों ने अपना कथ्य पा लिया। कथ्य कहाँ नहीं है? वह तो समस्त मानव जीवन के सर्वांग में दीप्त हुआ। प्रगतिवाद ने लक्षित किया कि कांग्रेस की असफलता से धीरे धीरे जनता में असंतोष फैल रहा है। विपन्नता आज भी लोगों को दबोचे हुए है, सत्ता में भ्रष्टाचार फैला हुआ है अतः प्रगतिवाद को जनता की ओर से फिर बोलने का मौका मिल गया। किंतु अब उसके दो दल हो गए। एक वे लोग थे जो पुराने जोश-खरोश के साथ उसी तड़कती भड़कती शैली में चिल्लाते जा रहे थे। दूसरे वे थे जिनके दिलों में सामाजिक दुर्दशा, अंधरूढ़ियों, शोषक परंपराओं के विरुद्ध भयंकर आग थी किंतु साहित्य मर्म के पारखी होने के कारण किसी भी कथ्य को साहित्य के रस में ढालकर कहने के पक्षपाती थे। इन प्रगतिशीलों ने जीवन को उसके समग्र रूप में देखने का प्रयास किया। मानवता के प्रति जहाँ भी अत्याचार है, चाहे देश में, चाहे विदेश में सबके विरुद्ध उनकी आवाज उठी और इन्होने जीवनछवियों को चारों ओर से समेटा।

प्रयोगवाद बदनाम हो चुका था। इनकी परंपरा में आनेवाले कवियों ने महसूस किया कि इस सामाजिक उथल पुथल के युग में जनजीवन और जनभाषा से कटकर अपने अहम् की खोल में कबतक जिया जा सकता है, शिल्पगत मार्मिकता कितनी भी उच्चस्तरीय क्यों न हो? अतः ये कवि धीरे धीरे जीवन की सहजता की ओर बढ़े। निराशा इनकी भी थी किंतु मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन की असफलताओं से प्रसूत थी। अब इन्होंने धीरे धीरे अपनी निराशा को सामाजिक परिधि तक फैलाया। अतएव एक ऐसा धरातल आ गया जहाँ प्रयोगवादी शिल्प की ओर झुकनेवाले प्रगतिवादियों और सामाजिक संवेग की ओर झुकनेवाले प्रयोगवादियों में दूरी कम हो गई। उस सामान्य धरातल पर लिखी जानेवाली कविता नई कविता कहलाई।

यहाँ नई कविता को प्रयोगवाद के साथ रखने का कारण यह है कि वह अपनी रचनाप्रक्रिया, शिल्प और यथार्थवादी दृष्टि से प्रयोगवाद का ही विकास है अर्थात् वह जितनी समीप प्रयोगवाद के है, उतनी समीप प्रगतिवाद के नहीं। किन्ही अर्थों में वह प्रयोगवाद का नूतन विकास मानी जा सकती है जिसे अन्य तत्वों के मिल जाने से एक नया स्वरूप प्राप्त हुआ। प्रयोगवाद नई कविता का प्रधान उत्स होते हुए भी उसका पर्याय नहीं है। यहाँ पहले हम नई कविता की उन विशेषताओं की ओर संकेत करेंगे जो प्रयोगवाद से विकसित हैं।

प्रयोगवाद ने प्रगतिवादी कविता के विरुद्ध यह स्थापना की कि भोगी हुई अनुभूतियों को ही कविता में अभिव्यक्त किया जाए। प्रयोगवाद ने भुक्त अनुभव को

काफी थी। प्रयोगवादी कवि मध्यवर्ग के वे व्यक्ति थे जो कुंठित थे, निराश थे और अत्यधिक संवेदनशील होने के कारण कुंठा और निराशा को और भी गहनता से अनुभव करते थे। इसी लिये प्रयोगवाद में कवि की जो संवेदना उभरी है वह बहुत निजी, प्रामाणिक और प्रभावशाली है। ये कवि चूँकि व्यक्ति की संवेदना को स्वर देने के पक्षपाती थे, इसलिये इनकी कविताएँ आकार में स्वभावत: छोटी होती थीं, कहीं कहीं छोटे छोटे फ्लैशेज के रूप में थीं। इन्हें बड़े बड़े सिद्धांत या उपदेश नहीं झाड़ने होते थे, क्रांति बगावत के लंबे चौड़े व्याख्यान नहीं देने होते थे, जनजीवन का विस्तृत चित्र नहीं अंकित करना होता था; इन्हें तो बस एक मन:स्थिति की संवेदना को ध्वनित करना होता था इसलिये कविता का आकार लघु होना स्वाभाविक था। ये कवि जिस मध्यवर्गीय व्यक्ति को (अर्थात् अपने को) अपनी कविता में उभार रहे थे उसकी संवेदना खंडित थी। इसलिये इनकी कविताओं में खंडित या उलझी संवेदना को व्यक्त करने के लिये खंडित और संश्लिष्ट बिंबों की योजना की गई। क्रमागत छंद के माध्यम से इस प्रकार की खंडित और उलझी संवेदना को ध्वनित करने में कवि को कठिनाई प्रतीत हुई इसलिये उसने ऐसे छंदों का विधान किया जो खंडित लय के आधार पर चले या प्रचलित लय को भी छोड़कर बिंबों के संयोजन से निर्मित होनेवाली गति को आधार बनाकर चले—जिनकी पंक्तियाँ छोटी बड़ी हुई और कविता का छंद ऊपर ऊपर से गद्य की तरह ही दीखने लगा। प्रयोगवाद में बौद्धिकता और मनोविज्ञान का अत्यधिक दबाव लक्षित हुआ। यह बौद्धिकता संवेदना के साथ दर्शन या सूक्ति की तरह चिपकाई गई बौद्धिकता नहीं थी वरन् वह संवेदना के साथ लिपटी हुई बौद्धिकता थी। आज के प्रबुद्ध व्यक्ति का व्यक्तित्व केवल सवेदना से निर्मित नहीं है उसकी बौद्धिकता उसकी संवेदना के साथ लिपटी हुई है। मनोविज्ञान आज भाव और विचार की पृथक् पृथक् सत्ता स्वीकार ही नहीं करता। इस प्रकार प्रयोगवाद में उभरनेवाली जो संवेदना है वह अपने साथ लिपटी हुई प्रश्नाकुलता, जीवनबोध और आत्मपरीक्षण करनेवाली बुद्धिवादी दृष्टि लिए हुए चलती है। प्रयोगवादी कविता में जो संशय, अस्वीकार और अनास्था का स्वर दीखता है—वह कवि के बुद्धिवादी व्यक्तित्व का ही परिणाम है। प्रयोगवाद ने अलंकार, प्रतीक और बिंब के क्षेत्र में भी नए प्रयोग किए।

नई कविता ने प्रयोगवाद की उपर्युक्त उपलब्धियों को स्वीकारा था तथा उपर्युक्त विशेषताएँ नई कविता की आधारशिलाएँ हैं। यह सच है कि नई कविता उपर्युक्त आधारभूत विशेषताओं पर अवलंबित होने के कारण प्रयोगवाद के अधिक समीप है इसलिये कुछ लोगों की यह धारणा कि प्रयोगवाद और नई कविता दोनों एक ही हैं कुछ हद तक सही है किंतु दोनों के अंतरों को देखते हुए इन्हें एक नहीं कहा जा सकता। प्रयोगवाद और नई कविता के इस साम्य के कारण ही बहुत से कवि प्रयोगवाद और नई कविता दोनों क्षेत्रों में परिगणित होते हैं। इन कवियों के बारे में स्पष्ट रूप से यह निर्णय करना कठिन है कि ये कितनी दूर तक

शुद्ध प्रयोगवादी हैं और कितनी दूर तक नई कविता के कवि हैं। दोनों धाराओं की सामान्य विशेषताएँ इनमें हैं और साथ ही साथ युगीन परिस्थितियों के साथ विकसित होनेवाली कविता के नए स्वर (नई कविता) की चेतना भी इनमें आती गई है इसलिये इन्हें प्रयोगवाद और नई कविता दोनों के साथ संबद्ध करके एक साथ देखना चाहिए। स्वाधीनता के पश्चात् जो कवि उभरे हैं वे नई कविता के कवि हैं किंतु जैसा ऊपर कहा गया है कि नई कविता अपनी रचनाप्रक्रिया, शिल्प और यथार्थवादी दृष्टि में प्रयोगवाद से संपृक्त है इसलिये उसे सर्वथा प्रयोगवाद से काट पाना संभव नहीं है। अतः प्रयोगवाद और नई कविता के कवियों को एक साथ रखकर देखना अधिक सुविधाजनक होगा।

नई कविता के संबंध में चर्चा करते समय उसकी जिन विशेषताओं की विवेचना की गई वे ये हैं :

क्षणवाद और लघुमानवता : नई कविता की जीवन के प्रति गहरी आस्था है। जीवन के प्रति गहरी आस्था का अर्थ क्या है ? क्या सामान्य जीवन की भूखप्यास, दुखदर्द, आशाकांक्षा को उपेक्षित कर एक काल्पनिक जीवन का प्रक्षेपण ? सृष्टि के अनंत जीवित प्राणों के ऊपर कल्पनापुरुष की महत्ता की प्रतिष्ठा ? जीवन के अनगिनत संवेदनशील क्षणों की लहरों से आ लगनेवाले किसी महत् और विशिष्ट घड़ी के मोती की प्रतीक्षा ? हृदय के भीतर अपनी वास्तविक आँच में तपते मनुष्य के ऊपर एक देवता की निस्पंद और अविचल मुसकान की धवलता का आरोपण ? नहीं, जीवन के प्रति आस्था के ये चमकीले किंतु असत्य रूप हैं। जीवन के प्रति आस्था का अर्थ है जीवन के संपूर्ण उपभोग में अगाध विश्वास। जीवन के संपूर्ण उपभोग की सार्थकता वही समझ सकता है जो जीवन को इसके समस्त पापपुण्य, गुणदोष के सहित सत्य माने। आज की क्षणवादी और लघुमानववादी दृष्टि जीवन के मूल्यो के प्रति नकारात्मक नहीं, स्वीकारात्मक दृष्टि है। जीवन पूरा पूरा क्या है ? क्या वह सचमुच एक संघटित इकाई है जिसमें यहाँ से वहाँ तक एक सशक्त या अशक्त प्रकार की चेतना शृंखलित रूप से व्याप्त रहती है ? मनोविज्ञान द्वारा उद्घाटित सत्यों ने यह प्रमाणित किया है कि हम क्षणों मे जीते है। जो व्यक्ति इन क्षणों को जितनी ही सच्चाई से अनुभूत बनाकर जिएगा वह उतना ही संपूर्ण जीवन जिएगा। क्षणो को सत्य मान लेने का अर्थ है जीवन की एक एक अनुभूति को, एक एक व्यथा को, एक एक सुख को सत्य मानकर जीवन को सघन रूप से स्वीकारना।

लघुमानवत्व की जो बात नई कविता में उठाई गई उसे भी जीवन की पूर्णता के ही संदर्भ में देखना होगा। लघुमानव का अर्थ मेरी समझ में क्षुद्र मानव नहीं है जो पाप या घृणा या असुंदरता की मूर्ति हो। लघुमानव का अर्थ है वह सामान्य मनुष्य जो अपनी सारी संवेदना, भूखप्यास और मानसिक आँच को लिए दिए उपेक्षित था। जब 'नई कविता' लघु या सामान्य की बात करती है तब वह किसी विशेष सिद्धांत

या वाद से प्रभावित होकर बात नहीं करती। यानी उसका लघुमानव किसी दर्शन, संप्रदाय या राजनीतिक दल की दृष्टि से दिखाई पड़नेवाला मानव नहीं है बल्कि सहज मानवीय संवेदना और आधुनिक यथार्थवादी दृष्टि से अपने सामान्य और विशिष्ट सभी रूपों में दिखाई पड़नेवाला जीवित मनुष्य है जो किसी भी वर्ग का नहीं है और उन सभी वर्गों का है जो जीवन के दर्दों के प्रति ईमानदार हैं, जो उधार नहीं, अपना जीवन जीते हैं।

अनुभव की प्रामाणिकता : प्रयोगवाद ने भुक्त अनुभव को ही कविता में अभिव्यक्त करने का स्वर मुखर किया था किंतु उसका अनुभव एक खास दायरे में सीमित रह गया था। वास्तव में अनुभव की प्रामाणिकता का संबंध भी ऊपर के ही तत्वों से है। क्षणवाद और लघुमानवता के सत्य को स्वीकारनेवाला कवि अनिवार्य रूप से उसी अनुभव को देना चाहेगा जिसे उसने बिना किसी फलसफे के, सिद्धांत के, जीकर प्राप्त किया है, क्षणभोग से उभरनेवाला उसका निजी सुखदुख प्रचलित महत्‌-वादी दृष्टि से उपेक्षणीय हो सकता है, लघु हो सकता है, किंतु प्रामाणिक तो है ही। और उसका अपना यह प्रामाणिक अनुभव अन्य लोगों के अनुभवों से अंतरंग रूप से जुड़ा हुआ है, इसलिये उसका यह निहायत अपना सा दीखनेवाला अनुभव अपनी सच्चाई के कारण बड़े बडे अननुभूत सत्यों से बड़ा होता है, प्रभावकारी होता है और सबको एक मे जोड़नेवाला होता है। कवि का सर्जक व्यक्तित्व कोई यंत्र नही है। वह हर कच्चे माल को पहले अपने में आत्मसात् करता है फिर व्यक्त करता है। जितना वह ले पाता है उतना ही उसके काव्य के लिये सत्य है। इसलिये उसके व्यक्तित्व का संस्कार करनेवाली युगसत्यग्राही चेतना की आवश्यकता होती है। युगबोध से संस्कृत व्यक्तित्व अपने माध्यम से सबको देख लेता है क्योंकि मनुष्य अपने मूल दर्द मे एक है और कवि का व्यक्ति दर्द की संवेदना का एक जागरूक भोक्ता। नई कविता के उपर्युक्त सत्यों को अधिक स्पष्ट करने के लिये अज्ञेय की कुछ पंक्तियाँ यहाँ देना चाहूँगा :

अच्छा
खंडित सत्य
सुघर नीरंध्र मृषा से
अच्छा
पीड़ित प्यार
अकंपित निर्ममता स
अच्छी कुंठा रहित इकाई
साँचे ढले समाज से
अच्छा

अपना ठाट फकीरी
मँगनी के सुख साज से
अच्छा सार्थक मौन
व्यर्थ के श्रवण मधुर छंद से
अच्छा
निर्धन वानी का उधड़ा उर्वर दुख
धनी सूम के बंजर धुर्रा घुटे आनंद से
अच्छे
अनुभव की भट्ठी में तपे हुए कण, दो कण
अंतर्दृष्टि के
झूठे नुस्खे, वाद, रूढ़ि, उपलब्धि परायी के प्रकाश से
रूप शिव रूप सत्य की सृष्टि के

—अरी ओ करुणा प्रभामय

क्षणों की अनुभूति के परे इतिहास क्या है ? यह प्रश्न कनुप्रिया की राधा के समान नई कविता की समस्त मनीषा के भीतर उग रहा है :

मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रंगे हुए अर्थहीन आकर्षक शब्द थे
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?

अनुभूतिशून्य, व्यथारिक्त इतिहास असत्य है, निरर्थक है। इसलिये नई कविता अनुभूतिपूर्ण गहरे क्षण, प्रसंग, व्यापार या किसी भी सत्य को उसकी आंतरिक मार्मिकता के साथ पकड़ लेना चाहती है। इस प्रकार जीवन के सामान्य से सामान्य दीखनेवाले प्रसंग और व्यापार नई कविता में अर्थ पा जाते हैं :

आओ इस झील को अमर कर दें
छूकर नहीं
किनारे बैठ कर भी नहीं
एक संग झाँक इस दर्पण में
अपने को दे दें हम
इस जल को
जो समय है

—नरेश मेहता (वनपाखी सुनो)

नई कविता में क्षणों की अनुभूतियों को लेकर बहुत सी मर्मस्पर्शी कविताएँ लिखी गई हैं। ये कविताएँ कुछ क्षणों, लघु प्रसंगों, लघु दृश्यों का चित्रण नहीं

करतीं; बल्कि कुछ संगत और असंगत बिंबों के माध्यम से क्षणों की परिधि में उफनते जीवन की संश्लिष्टता को मूर्तिमान कर देती हैं। ये कविताएँ आकार में छोटी होती हैं किंतु अनुभव की प्रामाणिकता के कारण प्रभाव में बहुत ही तीव्र होती हैं।

अपना ही परिवेश : जीवन को जीवन की दृष्टि से देखनेवाली कविता के सामने अनेक प्रश्न आते हैं। मुख्य प्रश्न है—जीवन किसका? कुछ आलोचकों ने यह आरोप लगाया है कि नई कविता में चित्रित जीवनबोध या सत्य विदेशी दर्शन और कविता से उधार लिया गया है यानी टी० एस० इलियट, डी० एच० लारेंस, एजरा पाउंड, बादलेयर, अरागों आदि पश्चिमी कवियों की कविताओं में प्रतिबिंबित होनेवाली पश्चिमी जीवन में व्याप्त युद्धों की पीड़ा, अनास्था, बिखराव, अराजकता और मूल्यहीनता की छाया नई कविता में है। अपवादरूप में यह आक्षेप सत्य है किंतु नई कविता की मूलधारा इस आक्षेप की सीमाओं में नहीं आती। कहा जा चुका है कि नई कविता जीवन को अनुभूति के क्षणों में पकड़ने की पक्षपाती है। अनुभूति प्राप्त करनेवाला स्रष्टा अपने परिवेश की उपज होता है। अतः नई कविता अपने परिवेश के जीवनसत्यों को छोड़कर खड़ी कहाँ रह सकती है। परिवेश से संबद्ध होने के नाते ही नई कविता में जीवनानुभूति के विविध स्वर दीखते हैं; किसी का परिवेश शहर है किसी का गाँव। अतः भिन्न भिन्न कवियों के परिवेशगत बोध में भिन्नता लक्षित होती है।

'नई कविता में निराशा, व्यक्तिकुंठा, मरणधर्मिता अधिक है और वह पश्चिम की नकल है।' इस प्रकार के आक्षेपों पर विचार करने के लिये अपने आधुनिक जीवन-परिवेश को देखना जरूरी है। पहली बात तो यह है कि नई कविता में निराशा और मरणधर्मिता के साथ साथ जिजीविषा और आस्था भी है, दूसरे यह कि निराशा और मरणधर्मिता की उत्पत्ति अपने ही समाज के विषम परिवेश से हुई है। आस्था और जिजीविषा को हम झंडे की तरह उठाकर नहीं चल सकते यदि वह हमारे भीतर अनुभूत नहीं हो रही है। आज के समाज की स्थिति ऐसी ही है कि हर संवेदनशील, ईमानदार व्यक्ति आहत होता होता आस्था के प्रति अपने समस्त आग्रह को छोड़ बैठता है। झूठी, अनुभवहीन आस्था, विश्वास और मूल्य रचना और जीवन दोनों स्तरों पर निकम्मे होते हैं और ईमानदारी तथा अनुभव से प्राप्त व्यथा, निराशा, और प्रचलित थोथे मूल्यों तथा आदर्शों की अस्वीकृति भी रचनात्मक होती है। किंतु जैसे आस्था को ओढ़ने का फैशन होता है उसी प्रकार अनास्था और अस्वीकृति को भी ओढ़ने का फैशन होता है। नई कविता में इस फैशन का अभाव नहीं है। नई कविता में अनावश्यक रूप से जुगुप्सा, नंगापन, मृत्युबोध, अकेलापन, दर्द और यातना को ओढ़कर चलनेवाले कवियों या कविताओं की एक अच्छी खासी संख्या है।

मूल्यों की परीक्षा : मूल्यों के प्रश्न बहुत उलझे होते हैं। नई कविता ने किसी मूल्य को फारमूले के रूप में स्वीकार नहीं किया। मूल्य मनुष्य के अंतर्द्वंद्व,

संकल्प विकल्प, लघुता महत्ता के मिले जुले संबन्धों में ही खिल सकते हैं। एक सत्य होता है व्यक्ति का, एक होता है समाज का। कभी कभी दोनों समान और कभी कभी विषम होते हैं। मानवमूल्यों के प्रति आस्थावान् व्यक्ति अपने व्यक्तिगत विकल्प को सामाजिक संकल्प के सामने विसर्जित कर देता है। लंका युद्ध करने के पहले युद्ध के विषय में राम के मन में संशय की रात्रि उमड़ घुमड़ रही है। वे व्यक्तिगत रूप से युद्ध के विरुद्ध हैं किंतु युद्ध सामाजिक हित में एक अनिवार्यता है। समाज का निर्णय युद्ध के पक्ष में होता है। उसे राम स्वीकार करते हैं :

मैंने अपने को सौंप दिया
ज्वारों को
विवश धरती सा सौंप दिया
अपने को सौंप दिया
अब मैं निर्णय हूं सब का
अपना नहीं

—नरेश मेहता (संशय की एक रात)

नई कविता ने धर्म, दर्शन, नीति, आचार सभी प्रकार के मूल्यों को चुनौती दी है यदि वे जीवन की नवीन अनुभूति, चिंतन और गति के रास्ते में आते हैं और ऊपर से ओढ़े गए हैं। इन मान्य मूल्यों की विघातक असंगतियों को अनावृत करना, उन्हें अस्वीकार करना सर्जनात्मकता से असंबद्ध नहीं है, वरन् सर्जन की आकुलता ही है। कुंवर नारायण के 'आत्मजयी' का नचिकेता शाप द्वारा सौंपे हुए मूल्यों को अस्वीकारता हुआ यातनाएँ सहता है और उन यातनाओं में से ही उसे सही जीवनदृष्टि और शक्ति प्राप्त होती है। नई कविता ने पीड़ा, यातना या शून्य को एक वस्तुस्थिति न मानकर उसे जीवन की रचनात्मकता से जोड़ा है। आस्था अनास्था, पीड़ा और उल्लास ये सभी तत्व हमारे सामाजिक राष्ट्रीय जीवन में व्याप्त हैं किंतु मानवतावादी कवियों के लिये पीड़ा एक सर्जनात्मक शक्ति है। इन कविताओं की पीड़ा हमारे आज के जीवन के सूनेपन का अहसास कराती है, साथ ही दर्द से फूटी हुई ज्योति को भी देखती है :

एक शून्य है
मेरे हृदय के बीच
जो मुझे मुझ तक पहुँचाता है

—कुँवरनारायण

दुःख सबको माँजता है
और
चाहे स्वयं सबको

मुक्ति देना वह न जाने
किंतु जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि
सबको मुक्त रखें।

—अज्ञेय

लोकसंपृक्ति : लोकसंपृक्ति नई कविता की एक खास विशेषता है। लोकजीवन के प्रति उसकी उन्मुखता को प्रगतिवाद का प्रभाव कहा जा सकता है। किंतु प्रगतिवाद में एक आंदोलन का स्वर था, सहजता नहीं थी और उसने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण लोकजीवन का एक विशेष अर्थ लगा लिया था फिर भी उसने साहित्य को लोकजीवन की ओर मोड़ा। नई कविता ने लोकजीवन की अनुभूति, सौंदर्यबोध, प्रकृति और उसके प्रश्नों को एक सहज और उदार मानवीय भूमि पर ग्रहण किया। साथ ही साथ लोकजीवन के बिंबों, प्रतीकों, शब्दों, उपमानों आदि को लोकजीवन के बीच से चुनकर अपने को अत्यधिक संवेदनपूर्ण और सजीव बनाया। नई कविता के वे कवि जो प्रगतिवाद से संबद्ध रह चुके थे या जिनकी संवेदनाएँ गाँव या सामान्य जनजीवन के बीच विकसित हुई या जिनकी संवेदनाएँ अधिक विविध एवं समृद्ध हैं, इस क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल, भारतभूषण अग्रवाल, मुक्तिबोध, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, विजयदेव नारायण साही आदि की अनेक कविताएँ देखी जा सकती हैं।

बिंब : नई कविता जीवन का इतिवृत्त नहीं पेश करती, वह जीवन की जटिल अनुभूतियों, प्रतीतियों और प्रश्नों को ध्वनित करती है। नई कविता कविता के बाहरी आयोजनों को वहन नहीं करती, वह अपनी बिंबात्मकता, अंतर्लय, नव प्रतीक-योजना, नए विशेषणों और उपमानों के प्रयोग के कारण कविता के शिल्प की मान्य धारणाओं से काफी अलग दीखती है। यानी वह बाह्य चमत्कारों से मुक्त होकर कविता के लिये जो मूलभूत छवि होती है उसी को संयोजित करना चाहती है, बिंब कविता की मूल छवि है, इसलिये आज की कविता बिंबबहुला हो गई है। कच्ची अनुकृतियाँ करनेवाले, पुस्तकों तथा सिद्धांतों से प्रेरणा लेनेवाले कवियों के अपवादों को छोड़कर शेष कवि इन बिंबों को जीवन के बीच से चुनते हैं। भाषा भी मुक्त भाव से ऐसे शब्दों को लेती है जो अभिजात नहीं है किंतु सशक्त हैं, अपने बीच मिट्टी की गंध संजोए हुए है। कहने का अभिप्राय यह है कि नई कविता जीवन के नए संदर्भों में उभरनेवाली अनुभूतियों, सौंदर्यप्रतीतियों और चिंतनआयामों से संपृक्त बिंब ग्रहण करती है। शहरी कवि के बिंब विशेषतया नागरिक जीवन के और ग्रामीण जीवनसंस्कारों से युक्त कवि के बिंब विशेषतया गाँव के होते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के बिंब नई कविता में हैं।

अज्ञेय : भग्नदूत और चिंता की छायावादी कविताओं से अपनी काव्ययात्रा आरंभ करनेवाले अज्ञेय प्रयोगवाद और नई कविता के विशिष्ट कवि हैं। इस धारा के कवियों में अज्ञेय का स्वर सबसे अधिक वैविध्यपूर्ण है—उनका स्वर अहं से लेकर समाज तक, प्रेम से लेकर दर्शन तक आदिम गंध से लेकर विज्ञान की चेतना तक, यंत्रसभ्यता से लेकर लोकपरिवेश तक, यातनाबोध से लेकर विद्रोह की ललकार तक, प्रकृतिसौंदर्य से लेकर मानवसौंदर्य तक फैला हुआ है। यह बात और है कि इस व्याप्ति में सर्वत्र संवेदनशीलता या अनुभूति साथ नहीं देती, कहीं कहीं कोरी बौद्धिकता या शुष्क बोध उभर आता है।

'तार सप्तक' की कविताओं के साथ अज्ञेय की नई काव्ययात्रा प्रारंभ होती है जो बाद में इत्यलम् में संगृहीत हुई है। अज्ञेय में संवेदना के साथ एक सजग बौद्धिकता है। यह बौद्धिकता उनकी संवेदना को नियंत्रित तो करती ही है साथ ही साथ कभी नवीन सूक्तियों के रूप में ('जैसे दुःख सबको माँजता है' या 'अच्छा खंडित सत्य सुघर नीरंध्र मृषा से' आदि कविताओं में), कभी व्यंग्य के रूप में (जैसे साँप), कभी युगचिंतन और बोध के बिबविधान के रूप में भी व्यक्त होती है जो संवेदना या अनुभूति से अंतरंग भाव से जुड़ी न होने के कारण विबरवत्ता के बावजूद बहुत दूर तक प्रभावहीन हो जाती है। अज्ञेय की कविताओं में जो स्वरवैविध्य दिखाई पड़ता है उसका कारण बहुत कुछ उनकी बौद्धिकता है। यही बौद्धिकता अज्ञेय में लक्षित होनेवाली कामभावना को रूमानी होने से बचा लेती है, उसे बहुत संयत और सांकेतिक ढंग से व्यक्त होने देती है जब कि माथुर, भारती आदि में वह कामभावना स्पंदित होकर फूटती है। अज्ञेय की कामभावना कुंठा और ग्रंथि बनकर अवचेतन के स्तर पर स्थित रहती है इसलिये उसमें बहुत जटिलता तथा सूक्ष्मता लक्षित होती है। कवि इसे सीधे सीधे न व्यक्त कर प्रकृतिपरिवेश में प्रस्तुत करता है, प्रकृति के समानांतर बिंबों से इसे सांकेतिक अभिव्यक्ति देता है। 'सावन मेघ', 'जैसे मुझे स्वीकार हो', 'चेहरा उदास', 'चरण पर धर चरण' आदि कविताएँ इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं।

संवेदना और बौद्धिकता की यह सहयात्रा जहाँ रूमानी परंपरा को तोड़कर नए सौंदर्यबोध से संपन्न स्वस्थ काव्य की सृष्टि करती है, वहीं बौद्धिकता का अतिरेक शुष्क, दुरूह और नव रहस्यवादी कविता को जन्म देता है। लगता है कि कवि व्यर्थ में ही छोटी सी संवेदना को व्यूह में घेर रहा है या कोई बात कहने के लिये बौद्धिक प्रतीकों और बिंबों का अंबार खड़ा कर रहा है। इस प्रकार का कविताओं का नंगापन शुरू में तो उतना नहीं खुलता क्योंकि यौवन में कुछ न कुछ संवेग और ताजगी होती है किंतु बाद में 'मैं वहाँ हूँ' और 'असाध्य वीणा' जैसी कविताओं में उभरकर सामने आ जाता है और कविता अपनी सारी दार्शनिक गरिष्ठता के बावजूद प्रभावहीन कृति बनकर रह जाती है तथा एक बौद्धिक रहस्यवाद की सृष्टि कर देती है।

कवि बहुत कुछ कहना चाहता है, वह अपने को समाज के अनेक सत्यों से जोड़ना चाहता है, किंतु उसका अहम् बहुत बलवान है और वह अपनी सत्ता का लोप कहीं नहीं करना चाहता। कवि के अहम् का भोग बहुत सीमित है इसलिये वह जितना कुछ अपने अहम् के भोग को केंद्र में रख कर कहता है उतना प्रामाणिक होता है और प्रभाव पैदा करता है। किंतु उस केंद्र से हट जाने पर वह जो कुछ देता है वह विराट् भले हो, वैविध्यपूर्ण भले हो, विश्वसनीय नहीं लगता। किंतु कवि है जो अपने अहम् की उत्कट अद्वितीयता और परिवेशजीवन के साथ तादात्म्य, दोनों बनाए रखना चाहता है। इसी लिये वह अविश्वसनीय ढंग से संसार में सर्वत्र काम करनेवालों की व्यथा का समभागी बनने की घोषणा करता है (देखिये 'मैं वहाँ हूँ')।

अज्ञेय की छोटी छोटी कविताएँ सौंदर्य और प्रभाव की दृष्टि से बहुत ही विशिष्ट और सक्षम हैं, वे चाहे व्यंग्य करती हों, चाहे कोई सौंदर्य या अनुभव जगाती हों, चाहे रूप की अभिव्यक्ति करती हों। अज्ञेय ने (बौद्धिक स्तर पर ही सही) आधुनिक बोध के अनेक आयामों को उद्घाटित किया है। सौंदर्य, नैतिकता, मृत्यु, अनुभव के संक्रांत रूप को पहचाना है तथा स्वर दिया है। आधुनिक नागरिक जीवन की नियति को भोगा और उभारा है। अज्ञेय की छंदरचना और बिंबरचना में बड़ा वैविध्य, ताजगी और सूक्ष्मता है। कवि ने परंपरित उपमानों और प्रतीकों को न केवल तोड़ा है बल्कि उन्हें बौद्धिक आसंग दिया है। किंतु कवि के अभिव्यक्ति पक्ष का जो सबसे बड़ा दोष है वह है बड़ी बड़ी विशेषणमालाओं का प्रयोग। 'यह दीप अकेला' इसका सबसे भद्दा उदाहरण है। बिंबरचना के साथ विशेषणबाहुल्य मेल नहीं खाता। अतिशय विशेषण अभिव्यक्ति शक्ति की असमर्थता के द्योतक हैं।

गिरिजाकुमार माथुर : माथुर साहब में प्रयोग और संवेदना का बहुत सुंदर सामंजस्य है अर्थात् प्रयोग कहीं भी बौद्धिक भंगिमा या फैशन के वशीभूत होकर नहीं आया है, वह इनकी अनुभूतियों और संवेदनाओं के सूक्ष्म कोणों, रंगों और प्रभावों को व्यक्त करने की आकुलता से जुड़ा हुआ है। कवि ने छंद, भाषा और बिंबविधान सभी में प्रयोग किए हैं। छंद तो प्रायः सर्वत्र लययुक्त हैं, नवीनता इसमें है कि कवि ने कहीं कहीं सवैया को तोड़कर नया छंदरूप दिया है। इस प्रयोग के साथ एकरसता भी दर्शनीय है अर्थात् तारसप्तक में संगृहीत अधिकांश कविताओं का छंद एक ही है। भाषा में अभिव्यक्ति के नए नए कोण उभरे है और बिंबविधान में कवि ने नए नए सूक्ष्म बोधों और प्रभावों को बहुत प्रभावशाली ढंग से रूपायित किया है।

प्रस्तुत अवधि में माथुर के काव्य के दो स्वरूप हैं—मंजीर और तारसप्तक में उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ हैं किंतु नाश और निर्माण में (बाद में पृथ्वीकल्प में) सामाजिक जीवन की अनुभूतियाँ और यथार्थ उभरते गए हैं। तारसप्तक में जीवन-यथार्थ के नये आयाम उद्घाटित नहीं किए गए हैं वे अपने परिवेश के जीवनसत्यों से

भी जुड़े नहीं प्रतीत होते, उनकी संवेदना अत्यंत रूमानी प्रतीत होती है। प्रकृति की रंगमयता, उसकी उदासी, सौंदर्यप्यास, प्रेमप्रसङ्गों की स्मृतियों का देश, सुंदर वातावरण में साथीविहीन अकेलेपन का बोध आदि इनके अनुभव और संवेदना के अंग हैं। इनके रचनालोक में विभिन्न रूप रंगों में, ध्वनियों, गंधों और स्पर्शों में, इन्हीं के दर्शन होते हैं। वह चाहे 'आज हैं केसर रंग रंगे वन' हो चाहे 'रेडियम की छाया' हो, चाहे 'क्वार की दोपहरी' हो, चाहे 'भीगा दिन' हो, सर्वत्र इस स्वर की प्रधानता है। इन सीमित जीवनअनुभवों को लेकर भी श्रीमाथुर एक विशिष्ट कवि हैं क्योंकि वे सीमित जीवनअनुभवों की बहुत गहरी सूक्ष्म छायाओं को पहचानते हैं। इसी लिये रूमानी कविता की परिपाटी के शिकार न होकर या सतही कैशोर भावुकता से आक्रांत न होकर एक विशिष्ट रचनालोक निर्मित कर लेते हैं। दूसरी बात यह है कि माथुर कुशल शिल्पी भी हैं। अपने अनुभव जगत को रूप देने के लिये वे कुशल सूक्ष्मबिंबों की रचना कर लेते हैं—जिनमें ध्वनि, गंध, स्पर्श, रूप आदि के सूक्ष्म संश्लिष्ट बोध मूर्त हो उठते हैं। इस क्षेत्र में पंत के पश्चात् माथुर का योगदान विशिष्ट है। माथुर की बिंबसंरचना में सूक्ष्म रूप से मुक्त साहचर्य अवश्य रहता है किंतु पूरी कविता एक प्रभाव में पगी होती है।

'नाश और निर्माण' मे तारसप्तक वाली कविताएँ तो संगृहीत हैं ही, साथ ही साथ ऐसी कविताएँ भी हैं जो सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं। इन कविताओं में शक्ति, उल्लास और सामाजिक जीवन का स्पंदन है, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के रूप और विषम परिणामों का तीव्र अहसास तथा उनके विरुद्ध समाजवादी चेतना प्रसार है। कवि क्रमशः लोकपरिवेश, वर्तमान वैज्ञानिक उपलब्धियों और अपनी सांस्कृतिक परंपरा से जुड़कर अपनी अनुभूति, सौंदर्यदृष्टि और चिंतना में समृद्ध होता गया है—'दियाधरी' तथा 'पृथ्वीकल्प' जैसी परवर्ती कृतियाँ कवि की इसी यात्राक्रम की कविताएँ हैं। कहा जा सकता है कि माथुर का अपना विशिष्ट काव्यव्यक्तित्व है, कवि चाहे निजी रागबोध को व्यक्त कर रहा हो चाहे सामाजिक जीवनचेतना को, चाहे नागरिक जीवन की यांत्रिक यातना और अकेलेपन को स्वर दे रहा हो, चाहे लोकजीवन की सामूहिक गति को, सर्वत्र संवेदना की प्रधानता रहती है। अनुभवों की सूक्ष्म छायाओं और विराट्, गतियों दोनों की सही अभिव्यक्ति की आकुलता से जुड़े रहने के कारण इनके प्रयोग सर्वत्र अपनी रचनात्मक सार्थकता बनाए रखते हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जीवन की विराटता की रचना कवि के सजग समय बोध से जितना संबंध रखती है उतना उसके अनुभवव्यक्तित्व से नहीं।

गजानन माधव मुक्तिबोध : अपनी पूरी पीढ़ी में मुक्तिबोध का व्यक्तित्व विशिष्ट है। इस पीढ़ी और इसी से लगी हुई परवर्ती पीढ़ी के लगभग सारे महत्वपूर्ण कवि (अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर, भारती आदि) रूमानी कविता से अलग हटकर नया प्रयोग करने का प्रयत्न करते हुए भी रूमानी संवेदना और भाषा से मुक्त

नहीं हो सके। परंपरागत रूमानी धारा से इन कविताओं को अलग करनेवाली है अनुभव की अतिशय प्रामाणिकता, निजता, आदर्शमुक्त यथार्थता और अभिव्यक्ति में नए नए प्रयोगो की आकुलता। किंतु मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जिनका अनुभवजगत् बहुत व्यापक है जो अपने परिवेश के जीवन से बहुत गहन भाव से जुड़े हुए हैं। अनुभव की व्यापकता और परिवेश जीवन से गहन संबद्धता कवि को रूमानी भूखप्यास के सीमित दायरे से बाहर निकालकर विविध छवियों, प्रश्नों और संवेदनाओं से भरे जीवन के बोध ला खड़ा करती है। कवि की प्रगतिवादी दृष्टि उसके परिवेशबोध, सामाजिक चिंतन और अनुभव वैविध्य को और बल देती है। अतः कहा जा सकता है कि बाद में जीवन की बहुविध छवि को लेकर विकसित होनेवाली नई कविता के अग्रज कवि सच्चे अर्थों में मुक्तिबोध ही है। किंतु इसका यह अर्थ नही कि इस अवधि की इनकी कविताएँ काव्योपलब्धि की भी दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। वास्तव में ये 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की कविताओं या अन्य परवर्ती कविताओं की भूमिका मात्र हैं। मुक्तिबोध की सबसे बड़ी शक्ति है उनका व्यापक जीवनअनुभव तथा लोकपरिवेश से गहरी संपृक्ति और कमजोरी है शिल्प के प्रति असावधानता। शिल्प के प्रति असावधानता उनके अनुभवखंडों को एक में बाँध नही पाती और बिंबों की रचना में संश्लिष्टता तथा सघनता नहीं भर पाती। बिंब टूट बिखर जाते हैं, कही कही उनमे सपाट अभिधात्मक कथन उभर आता है तथा कही कही प्रगतिवादी चिंतन और धारणा का बद्ध स्वर उतरा जाता है। मुक्तिबोध की भाषा नई कविता की भाषा की अपेक्षा परंपरित ही अधिक लगती है। किंतु यह सारी स्थिति तारसप्तक के समय की है, परवर्ती कविताओ मे ये दोष कम होते गए है, भाषा भी अपेक्षाकृत नई होती गई है और विराट् तथा सघन जीवनअनुभव उनके शिल्प के शैथिल्य को अपने मे आत्मसात् करता गया है। फिर भी लंबी लंबी कविताओं मे प्रभाव की गठन की जगह पर प्रभाव का बिखराव ही अधिक लक्षित होता है—जैसे अनुभवों के बड़े बड़े शिलाखंड एक दूसरे से असंबद्ध यहाँ से वहाँ तक पड़े हुए है। यह दूसरी बात है कि इस असंबद्ध संबद्धता का भी एक सौंदर्य है।

भवानीप्रसाद मिश्र : ये सहज संवेदना के कवि हैं। कवि की संवेदना कहीं बहुत सूक्ष्म और आत्मगत है, जैसे कमल के फूल, वाणी की दीनता, टूटने का सुख आदि में, कही बहुत प्रत्यक्ष और परिवेशसंपृक्त जैसे सतपुड़ा के जंगल, सन्नाटा, गीत-फरोश आदि कविताओं में। कवि की अभिव्यक्ति भी बहुत सहज है। यद्यपि वह नई कविता की प्रतीकात्मकता और बिंबधर्मिता से संयुक्त है। कवि की सहजता सघन अनुभूति तथा संयत अभिव्यक्ति के क्षणों में जहाँ अत्यंत सुंदर काव्य की सृष्टि करती है वहीं फारमूलाबद्ध आदर्शवादिता, अनुभूति के सतहीपन तथा अभिव्यक्ति के तुकांतवादी विस्तार की अवस्था में सामान्य काव्य की। असाधारण और स्नेहशपथ जैसी उनकी काफी कविताएँ हैं जो सामान्य हैं। मिश्रजी में लोकजीवन की अनुभूति

है अतः उनकी सहजता में लोकजीवन का वेग और सघनता लक्षित होती है। उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में भी लोकजीवन का प्रसाद है। 'गीतफ़रोश', 'सतपुड़ा के घने जंगल', 'मंगलवर्षा' आदि कविताएँ लोकजीवन की सघन वेगवान् सहजता के उदाहरण हैं।

शमशेर बहादुर सिंह : विचारों से मार्क्सवादी शमशेरबहादुर सिंह संस्कारों से व्यक्तिवादी और अनुभवों से रूमानी हैं। उनका व्यक्तिवादी संस्कार उन्हें मध्यवर्गीय व्यक्ति की अनुभूति को अभिव्यक्त करने को प्रेरित करता है। उनकी अधिकांश कविताओं का स्वर कुंठित प्रेम का है। इस कुंठित प्रेम तथा शरीरसौंदर्य को कवि छायावादियों से भी अधिक छल के साथ व्यक्त करता है। यह छल है उसका अत्यन्त सूक्ष्म प्रतीकविधान और खंडित बिंबयोजना। कवि का यह नवीन अभिव्यक्ति-छल ही उसे छायावादी परंपरा से अलग करता है। संवेदना और अभिव्यक्ति दोनों में ये प्रयोगवाद की अतिशय व्यक्तिवादिता के प्रतीक हैं। इनकी अतिशय व्यक्तिवादिता केवल अपने प्रति प्रतिबद्ध होने के कारण पाठकों की समझ की उपेक्षा कर जाती है और ऐसे ऐसे महीन जाल बुनती है तथा खंडित बिंबों की योजना करती है कि पूरी कविता अपने अभिप्रेत प्रभाव के साथ उभर ही नही पाती। शमशेर बहुत सूक्ष्म सौंदर्य-बोध के कवि माने जाते हैं किंतु कठिनाई यह है कि सौंदर्य यहाँ वहाँ की कुछ पंक्तियों में अलग अलग ढंग से उभरकर रह जाता है, पूरी कविता तो सिवा मानसिक व्यायाम के कुछ बन नहीं पाती। यहाँतक कि 'वसंत पंचमी को शाम', 'भाई' जैसी विषयावलंबित कविताएँ भी आत्मप्रवंचना की उलझन में खो जाती है। शमशेर की कथनसंक्षिप्ति (ब्रेभिटी) उपलब्धि तब मानी जा सकती है जब वह अपनी व्यंजना-शक्ति को कही भी आहत किए बिना औरों के भीतर और तीव्र वेग से उतर सके। स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो पाता।

नरेश मेहता : नरेश मेहता गीतात्मक संवेदना के कवि हैं। प्रकृतिसौदर्य और प्रेम कवि के प्रिय विषय हैं। इन दोनों के बहुत ताजे चित्र कवि ने दिए हैं। इन चित्रों में कवि की संवेदना और लोकपरिवेश दोनों का बहुत सुंदर सामंजस्य है। प्रतीक और बिंब बहुत नए, खुले हुए तथा परिवेश से लिए गए हैं। गीत में गीतेतर कविताओं का सा लोकपरिवेश और गीतेतर कविताओं में गीत की सी आत्मीयता नरेश मेहता की कविताओं में दिखाई पड़ती है। 'किरनधेनुएँ', 'उषा' संबंधी चार कविताओं, 'जन गरबा', 'अश्व की वलगा' आदि गीतों में सांस्कृतिक, लौकिक और प्राकृतिक परिवेश तथा बिंबों की ताजगी और जीवंतता दर्शनीय है। तथा 'चाहता मन', 'अहं' जैसी कविताएँ गीतात्मक अंतरंगता से अनुप्राणित हैं। नरेश की भाषा अपने आप में नई कविता की भाषा नहीं कही जा सकती, उसमें बहुत दूर तक छाया-वादी प्रभाव है। किंतु परिवेश, प्रतीक, बिंब आदि से जुड़कर समग्र रूप से नए रूप में दीखती है। नरेश विचारों से मार्क्सवादी हैं इसलिये उन्होंने 'समय देवता' जैसी

एक बहुत लंबी कविता भी लिखी है जिसमें पूरे विश्व के परिवेश में आज के समय का चित्रण किया गया है। पूरी कविता अछूते बिंबों की एक लंबी श्रृंखला है किंतु पूरी बिंबश्रृंखला जितना ऐतिहासिक और भौगोलिक चित्र उभारती है उतना मानवीय संवेदना का लोक नहीं।

धर्मवीर भारती : वास्तव में भारती की काव्योपलब्धियाँ उनकी परवर्ती कृतियों 'अंधा युग', 'कनुप्रिया' और 'सात गीत वर्ष' में दिखाई पड़ती हैं। प्रस्तुत अवधि की कविताएँ बहुत कुछ कैशोर भावुकता से आक्रांत हैं। भारती की इन कविताओं की मूलवृत्ति रूमानी ही है। प्रेम और सौंदर्य की भावुक प्रतिक्रिया को कवि ने अधिक मांसल ढंग से, नए उपमानों, लक्षणाओं और प्रतीकों द्वारा चित्रित किया है। इन प्रेमगीतों में प्रेम और सौंदर्य के गहन संश्लिष्ट रूप को पहचानने के स्थान पर उनके उच्छल प्रवाह में बहने की ही प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। 'गुनाह का गीत', 'गुनाह का दूसरा गीत', 'तुम्हारे पाँव मेरी गोद में', 'उदास तुम' आदि कविताएँ किसी भी तरह प्रेम के नए आयाम को नहीं छूतीं। भारती में आदिमगंध की तड़प और लोकजीवन की रूमानी छवि की पकड़ है। इसलिये इनकी कविताएँ मूलतः गीतात्मक हैं। इन कविताओं में लोकपरिवेश की मस्ती और उल्लास के स्थान पर उदासी तथा सूनापन ही अधिक उभरता है, शायद इसलिये कि भारती में उदासी का बहुत आत्मीय राग व्याप्त है। इन तत्वों का जहाँ बहुत सुंदर रूप में उपयोग हुआ है वहाँ 'फागुन की शाम' जैसा सुंदर गीत निर्मित हो सका है। उदासी और टूटन इनके परवर्ती काव्यों में भी प्रधान रही है। किंतु वह टूटन और उदासी गहन मानसिक स्थितियों, व्यापक परिवेश और एक चिंतनपूर्ण दृष्टि से संपन्न होने के कारण स्वस्थ काव्य का निर्माण करती है। इस अवधि में भी 'जाड़े की शाम' जैसी कविता देखने को मिलती है जिसमें कैशोर भावुकता के स्थान पर सुंदर बिंबों के माध्यम से एक गहरी मनःस्थिति अंकित की गई है। इन कविताओं के अतिरिक्त जो कविताएँ हैं उनका स्वर प्रेम का नहीं है, उनमें कला और निर्माण संबंधी कुछ बातें उठाई गई हैं—जैसे 'थके हुए कलाकार से', 'कवि और कल्पना', 'कविता की मौत'। किंतु इनमें भी चिंतन संश्लिष्ट अनुभव और समस्या की मौलिक पकड़ के स्थान पर कुछ प्रगतिवादी उपदेशवादिता और बद्ध अवधारणात्मकता ही दृष्टिगत होती है। प्रकारांतर से इनमें भी कैशोर भावुकता ही अधिक है। भारती के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है उसकी मूर्तता और पारदर्शिता जो उनके परवर्ती गंभीर और चिंतनसंवलित काव्यों में भी लक्षित होती है। जिन रूमानी संवेदनों को लेकर शमशेर दुरूहतम हो जाते हैं उन्हीं को भारती अधिक संश्लिष्ट और प्रत्यक्षता के साथ प्रभावशाली ढंग से उभारने में सफल हो जाते हैं।

नई कविता के उपरांत हिंदी कविता

नई कविता का हिंदी काव्य में ऐतिहासिक महत्व है एवं किसी न किसी रूप में यह धारा अब भी प्रवहमान है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि

नई कविता के उपरांत हिंदी काव्य के क्षेत्र में थोड़ी-सी ही अवधि में इतने अधिक नारे सुनाई दिए, इतने अधिक आंदोलन आए कि विश्व के किसी भी अन्य साहित्य में, इतनी कम अवधि में, इतने अधिक नारे और आंदोलन कभी नहीं जनमे। नारों तथा आंदोलनों की इस बाढ़ से हमें घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि ये नारे और आंदोलन राष्ट्रभाषा हिंदी के नवीन एवं व्यापक विकास के पूर्वाभास के सूचक हैं। इनके विषय में एक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि बेचारे कवियों को ही आचार्यों का बाना धारण करना पड़ा है और कभी कभी एक ही कवि ने कई कई आंदोलनों में भाग लिया है। इनमें से कुछ आंदोलन और नारे तो समय की गर्द में ही दब गए, किंतु कुछ अभी विकास के पथ पर ही हैं। वस्तुतः इन आंदोलनों की पोषक रचनाएँ एक दूसरे से मिलती जुलती ही हैं तथा कभी कभी तो एक ही कवि कई आंदोलनों का अनुगामी रहा है। समग्रतः कहा जा सकता है कि हिंदी कविता विकास के नए पथ पर है। अब हम लगभग इन सभी आंदोलनों एवं नारों का नामोल्लेख करेंगे तथा उल्लेखनीय आंदोलनों का संक्षिप्त परिचय भी देंगे। ये नाम हैं सनातन सूर्योदयी कविता, अपरंपरावादी कविता, अन्यथावादी कविता, सीमांतक कविता, युयुत्सावादी कविता, अस्वीकृत कविता, अकविता, सकविता, अभिनव कविता, अधुनातन कविता, नूतन कविता, नाटकीय कविता, एंटी कविता, निर्दिशायामी कविता, लिग्वादलमोलवादी कविता, एब्सर्ड कविता, गीत कविता, नव प्रगतिवादी कविता, सांप्रतिक कविता, बीट कविता, ठोस कविता, विद्रोही कविता, चुत्कातर कविता, समाहारात्मक कविता, कबीरपंथी कविता, उत्कविता, विकविता, बोध कविता, द्वीपांतर कविता, अति कविता, टटकी कविता, ताजी कविता, प्रतिबद्ध कविता, अगली कविता, शुद्ध कविता, नंगी कविता, स्वस्थ कविता, गलत कविता, सही कविता, प्राप्त कविता, सहज कविता, नवगीत, अगीत और एंटी गीत आदि।

सनातन सूर्योदयी कविता : मार्च १९६२ के 'भारती' के अंक में श्रीवीरेंद्रकुमार जैन ने 'सनातन सूर्योदयी' नई कविता की घोषणा की। उन्होंने बताया—'(कविता) पतन-पराजय, कुंठा, आत्मपीड़ना, और जीवित आत्मघात के अमूझ अंधकार में आत्महारा दिशाहारा होकर भटक रही आज की अनाथ काव्यचेतना के संमुख हम—अल्प से महत् में ले जानेवाली, अंधकार से प्रकाश में ले जानेवाली, मृत्यु से अमृत में ले जानेवाली और सीमा में असीम की लीला को उतार लानेवाली—आगामी कल की अनिवार्य सनातन सूर्योदयी नूतन कविताधारा का द्वार मुक्त करते हैं।' किंतु 'भारती' के फरवरी १९६५ ई० के अंक में 'सनातन सूर्योदयी कविता' के स्थान पर—'नूतन कविता' का स्वर सुनाई देने लगा।

युयुत्सावादी कविता : युयुत्सावादी कविता का संबंध 'युयुत्सा' नामक पत्रिका से रहा है। युयुत्सावादी कविता के प्रवर्तक श्रीशलभ श्रीराम सिंह हैं। वे 'आदिम युयुत्सा' को साहित्यसर्जन की मूल प्रेरणा मानते हैं। उनके ये शब्द द्रष्टव्य हैं :

'मैं साहित्यसर्जन की मूल प्रेरणा के रूप में उसी आदिम युयुत्सा को स्वीकारता हूँ जो कहीं न कहीं प्रत्येक क्रांति, परिवर्तन अथवा विघटन के मूल में प्रमुख रही है। वह युयुत्सा जिजीविषावादी, मुमूर्षावादी, विद्रोहात्मक अथवा प्लैटोनिक कुछ भी हो सकती है।' 'रूपांबरा' में 'प्रारंभ' के अंतर्गत ये शब्द सुनाई पड़े। 'रूपांबरा' के ही अगस्त १९६६ के 'अद्यनातन कविता अंक' में 'युयुत्सावादी नवलेखन प्रधान सहकारी प्रयास के रूप में सामने आया, तीन कवियों के वक्तव्यसहित। संपादक ने नई संवेदनशीलता की बात भी उठाई। विमल पांडेय, रामेश्वरदत्त मानव, ओंप्रभाकर, बजरंग बिश्नोई आदि ने भी अपने आपको इस आंदोलन से संबंधित किया। विमल पांडेय ने 'युयुत्सावाद' को 'एंग्री यंग मैन' से संबद्ध करने का प्रयत्न किया। श्री ओंप्रभाकर ने 'युद्धेच्छा' को सनातन वृत्ति मानते हुए युयुत्सा को जिजीविषा का पर्याय माना है। बजरंग बिश्नोई ने प्रतिबद्धता के प्रश्न को युयुत्सा से जोड़ दिया है।

अस्वीकृत कविता : जुलाई ६६ के 'उत्कर्ष' में श्रीराम शुक्ल ने 'अस्वीकृत कविता' का नारा बुलंद किया और 'एक लंबी अस्वीकृत कविता' 'मरी हुई औरत के साथ संभोग' शीर्षक से प्रस्तुत की। शुक्लजी के लिये 'संभोग का अनुभव ही पर्याप्त है—सात महाकाव्य लिख ले जाने के लिये।' अस्वीकृत कविता के प्रवक्ता कवि की मान्यता है—'सत्य को सत्य न कह पाने की विषमता कभी न कभी अवरोध तोड़कर वह निकलती है और तभी जन्म होता है अस्वीकृत कविता का।' तथा 'प्रस्तुत युग मे व्याप्त, यथार्थ होते हुए भी अस्वीकृत विशिष्ट प्रवृत्तियों, संबंधों, स्थितियो, मूल्यों, असंगतियों और मूड की सम्प्रेषक कविता है।' अस्वीकृत कविता यौन विकृतियो की कविता है।

अकविता : 'अकविता' के सूत्रधार हैं, डा० श्याम परमार। वे अकविता को एंटी कविता या कविताविरोधी नहीं मानते। 'अकविता' का नाम पहले भी सुनाई दिया था, किंतु परमारजी ने इसका प्रयोग एक नए अर्थ में ही किया। वे अकविता को 'अंतर्विरोधों की अन्वेषक कविता' मानते हैं। उन्होंने 'अकविता' के समर्थन मे 'अकविता और कला संदर्भ' शीर्षक से पुस्तक भी लिखी है, जिसमें बहुविध 'अकविता' को परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। इस काव्यांदोलन की विशेषता इस तथ्य में है कि 'उसके कवियो की प्रवृत्तियाँ अलग अलग मन:स्थितियों से जुड़ी हैं।' (अकविता और कला संदर्भ-पृ० ४१), 'अकविता कालधर्मी कविता है। वह सीमित समय की कविता होगी, क्योंकि उसे भविष्य मे झंडे नहीं गाड़ना होगा।' (वही—पृ० ४६) तथा 'भाषा और कथ्य में वह प्रतिबद्ध नहीं है, इसलिये 'फ्लेक्जीबल' है। उसमें जटिल और 'टिप्सी' प्रक्रियाएँ हैं—सीधी और टूटी बातें है।' (वही—पृ० ४६) अकविता के प्रवक्ता कवि ने यह भी उल्लेख किया है कि अकविता के लिये नई कविता या नवगीत विरोध योग्य नहीं है। (वही—पृ० ३०)।

सन् ६५ मे 'अकविता' नामक छोटी पत्रिका में 'अकविता' के प्रस्तावकों में

गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, विमल और अतुल आदि के नाम सामने आए। इस संदर्भ में सौमित्रमोहन तथा मुद्राराक्षस की रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं।

बीट कविता : अमरीकी बीटनिक प्रभाव के कारण डा० प्रभाकर माचवे, बंगला प्रभाव के कारण राजकमल चौधरी (भूखी पीढ़ी का प्रभाव) तथा गिन्सबर्ग के प्रभाव के कारण त्रिलोचन और शमशेरबहादुर सिंह ने बीट कविता से अपने आपको संबद्ध कर लिया। 'कृति' और 'अभिव्यक्ति' नामक पत्रिकाओं में माचवेजी ने अपनी धारणा को घोषित भी किया। इलाहाबाद से प्रकाशित 'विद्रोही पीढ़ी' के कवियों पर भी अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रभाव कहा जा सकता है।

ताजी कविता : ताजी कविता के प्रवर्तक श्रीलक्ष्मीकांत वर्मा हैं। वर्माजी अबतक नई कविता के एक बड़े समर्थक थे। उन्होंने 'ताजी कविता' का आंदोलन इसलिये चलाया कि नई कविता में अब कुछ 'नयापन' भी शेष न रह गया था और वह प्रतिष्ठित भी हो चुकी थी। वर्माजी ने यह भी बताया कि 'नई कविता का अधिकांश परोक्ष रूप से नाभिनाल द्वारा छायावाद से जीवनशक्ति लेता रहा था।' यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि निराला से नई कविता को बहुत अधिक प्रेरणा मिली। जहाँतक वर्माजी की ताजी कविता का प्रश्न है, यह आंदोलन आगे चल नहीं सका।

प्रतिबद्ध कविता : प्रतिबद्ध कविता के साथ डा० परमानंद श्रीवास्तव का नाम जुड़ा हुआ है। डा० श्रीवास्तव की धारणा है : 'मैं मानता हूँ कि कविता के सामने इसके सिवाय दूसरा विकल्प नहीं है कि वह आज की संपूर्ण मानवनियति का साक्षात्कार करे और पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा प्रेरित अमानवीकरण के विरुद्ध संघर्ष करे।' तथा 'प्रतिबद्ध कविता के दायरे में 'भाषा' एक महत्वपूर्ण अस्त्र है—उपर्युक्त संघर्ष का।' डा० श्रीवास्तव ने 'संघर्ष' के इस स्वरूप को भी आगे परिभाषित किया है—'प्रतिबद्ध कविता में संघर्ष सीधा और सार्थक शब्द है—उसका कोई छद्म वेश नहीं है—जो लोग किसी किस्म की प्रतिबद्धता को स्वीकार नहीं करते वे झूठा संघर्ष रचते हैं और उसमें मजा लेते हैं।'

सहज कविता : सहज कविता के सूत्रधार, हैं डा० रवींद्र भ्रमर। इसके समर्थकों में हैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, श्रीअज्ञेय, श्रीदिनकर, डा० नगेंद्र, डा० देवराज, डा० इंद्रनाथ मदान, डा० प्रभाकर माचवे, डा० रामदरश मिश्र, डा० श्याम परमार, श्रीराजकमल चौधरी आदि। मार्च १९६७ ई० में सहज कविता की विज्ञप्ति प्रकाशित हुई। विज्ञप्ति के कुछ अंश द्रष्टव्य हैं—'सन् १९६० के बाद एक वर्ग ने मैनरिज्म और क्राफ्ट्समैनशिप को ही मूल लक्ष्य माना और हिंदी कविता कुल मिलाकर टेढ़ी रेखाओं के व्यापार के रूप में सामने

भाई। इसलिये वह एक फैशन रही और इसी लिये बहुत अर्थपूर्ण भी नहीं.....।' अतः सहज कविता का लक्ष्य 'नए सिरे से कविता की खोज करना' है। डा० परमानंद श्रीवास्तव, श्रीराजेंद्र प्रसाद सिंह, डा० कुमार विमल, श्रीकांत जोशी, डा० श्याम-सुंदर घोष, डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय, डा० गणपतिचंद्र गुप्त तथा शिवप्रताप सिंह ने १९६८ ई० में प्रकाशित 'सहज कविता' नामक संग्रह के अपने लेखों में सहज कविता का समर्थन किया है। डा० रवींद्र भ्रमर ने अपने लेख में सहज कविता को इस प्रकार परिभाषित किया—'प्रस्तुत संदर्भ में 'सहज' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ लेना होगा 'सह जायते इति सहजः।' अर्थात् जो रचना यथार्थ अनुभूति संवेग के साथ वाणी के मूर्त माध्यम में जन्म लेती है, वह सहज है। इस दृष्टि से अनुभूति की प्रामाणिकता प्राथमिक वस्तु है। अनुभूति प्रत्यक्ष तथा प्रामाणिक हुई तो अभिव्यक्ति अकृत्रिम और अजटिल होगी।' तथा 'सहज की माँग व्यष्टिमूलक होते हुए भी समाजसापेक्ष है।' डाक्टर भ्रमर ने प्रतिबद्धता के प्रश्न को भी सहज कविता के साथ संबद्ध करके देखा है: 'अपने युग के जीवन और सर्जनात्मक दायित्व से सहज कविता पूरी तरह प्रतिबद्ध है। उसके मूल में सहज संपूर्ण जीवन की प्रतीति और सहज सुगठित शिल्प के माध्यम की खोज का एक ईमानदार प्रयत्न निहित है।' (सहज कविता—पृ० ८)। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा—'हमारे कवि इधर उन्मुख हों तो अच्छा होगा। काव्य-रचना कठिन कर्म है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की सहजता के बिना सिद्धि नहीं प्राप्त होती।'

नवगीत : नवगीत का नाम फरवरी, १९५८ में मुजफ्फरपुर से प्रकाशित 'गीतांगिनी' नामक पत्रिका में दिखाई दिया। इस पत्रिका में कुछ नवगीत भी संकलित थे। कुछ लेखक नवगीत का विकास नई कविता के ही समानांतर मानते हैं और उसे नई कविता की एक विशेष शैली मानते हैं। अब नवगीत की विधा अपने आप को स्थापित कर चुकी है।

वस्तुतः गीत काव्य की एक महत्वपूर्ण धारा है और उसका सहज संबंध साहित्य और लोक दोनों से ही सुदीर्घ काल से रहा है। संभवतः गीत का जन्म भी मनुष्य के साथ ही हुआ होगा। हिंदी में भक्त कवियों ने गीत को अपने आत्मनिवेदन का सहज और सशक्त माध्यम बनाया; हिंदी के छायावादी युग में तो गीत (लिरिक) सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यम एवं शैली के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। छायावादोत्तरकाल में भी गीत की यह धारा प्रवाहित होती रही, किंतु उसका प्रवाह अब क्षीण पड़ता जा रहा था। गीत के सामने वास्तविक संकट आया सन् १९५० के बाद और वह था कि गीत की रागात्मक संवेदना को आधुनिकता से कैसे संपृक्त किया जाय। यही नवगीत, उसके प्रवक्ताओं और नवगीतकारों की वास्तविक समस्या है, यही नवगीत की संकट-ग्रस्त स्थिति है। वस्तुतः नवगीत आज इसी असमंजस में फँस गया है। किंतु नवगीत आज रागात्मक संवेदना, आधुनिकता और लोकतत्व के त्रिकोण का अपने आप में

समाहार कर रहा है और कुछ महत्वपूर्ण गीतकार अपने आप को स्थापित भी कर चुके हैं। नवगीत के कुछ प्रवक्ता स्वीकारते हैं कि नवगीत का नई कविता से कोई विरोध नहीं है। नई कविता जो प्राप्त कर चुकी है, नवगीत उसे प्राप्त करने की मंजिल पर है।

'नवगीत' का प्रथम समवेत संकलन 'कविता' १९६४ में ओमप्रभाकर के संपादन में निकला। साथ ही डा० रवींद्र भ्रमर, डा० रामदरश मिश्र, डा० रमेश कुंतल मेघ 'नवगीत' के प्रवक्ताओं के रूप में हमारे सामने आते हैं। इस संकलन में निराला, अज्ञेय, जानकीवल्लभ शास्त्री, त्रिलोचन, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, ठाकुर प्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह, उमाकांत मालवीय, ओमप्रभाकर, जगदीश गुप्त, जुगमंदिर तायल, देवेंद्रकुमार, नईम, नरेश सक्सेना, नीलम सिंह, रमेश कुंतल मेघ, रवींद्र भ्रमर, राजीव सक्सेना, रामदरश मिश्र, रामविलास शर्मा, वीरेंद्र मिश्र, शंभूनाथ सिंह, श्यामसुंदर घोष, श्रीकांत जोशी और सोमठाकुर आदि के गीत संकलित हैं। इस संकलन को पढ़कर एक प्रतिक्रिया यह उभरती है कि नवगीत के साथ निराला का नाम क्यों जोड़ा गया? इसका उत्तर होगा कि निराला के नाम के बिना आधुनिक काव्य की किसी भी विधा—चाहे वह नई कविता हो या नवगीत—का इतिहास अपूर्ण रहेगा। आज के महत्त्वपूर्ण गीतकारों जैसे जानकीवल्लभ शास्त्री, रवींद्र भ्रमर आदि के गीतों पर निराला का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। 'अर्चना', 'आराधना', 'गीतगुंज' और 'सांध्यकाकली' आदि के गीतों से आज के और भविष्य के नवगीतकारों को नवगीत के कथ्य एवं शिल्प—दोनों ही क्षेत्रों में अजस्र प्रेरणा मिलेगी।

कहना न होगा कि आज के नवगीतकार बड़े सशक्त और सुंदर गीतों का सर्जन कर रहे हैं। उपरि उल्लिखित नवगीतकारों के अतिरिक्त हिंदी में कुछ अन्य नवगीतकार भी सर्जनरत हैं। कुछ नवगीतकारों के स्वतंत्र संकलन पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हो चुके हैं।

कुछ अन्य कवि : कुछ अन्य प्रतिष्ठित और उदीयमान कवियों के नाम इस प्रकार हैं। द्वारिकाप्रसाद मिश्र (कृष्णायन—अवधी में लिखा कृष्ण का संपूर्ण जीवन), रघुवीरशरण मित्र (जननायक, मानवेंद्र, भूमिजा, ज्योतिपुरुष), डा० जगदीश गुप्त (हिमविद्ध, शब्ददंश, नाव के पाँव के कृती तथा नई कविता के संपादक), प्रभाकर माचवे (अनुक्षण, मेपल) कुँवरनारायण सिंह (परिवेश, हम तुम), दिनकर सोनवलकर (अंकुर की कृतज्ञता), हरीश भादानी (उजली नजर की सुई), राजकमल चौधरी (मुक्तिप्रसंग), देवेंद्रकुमार, डा० महेंद्र भटनागर, बालकृष्ण राव (आयास, कवि और छवि, रात बीती, हमारी राह, अर्द्धशती, आधुनिक कवि), कैलाश वाजपेयी (संक्रांत, देहांत से हटकर) श्रीकांत वर्मा (मायादर्पण), लक्ष्मीकांत वर्मा (खाली कुरसी की आत्मा, सीमांत के बादल), शेरजंग (जन्म १९१०—एक और अनेक क्षण),

वीरेंद्र मिश्र, देवराज दिनेश, नंदन (भ्रांत संध्या), शकुंत माथुर (चाँदनी चूनर, अभी और कुछ), वीरेंद्रकुमार जैन, कीर्ति चौधरी (खुले हुए आसमान के नीचे), मनोरमा मधु (चाँदनी की धूप), इंदु जैन (६४ कविताएँ), विद्यावती कोकिल (भारती तथा सावित्री महाकाव्य का अनुवाद), किरण जैन (स्वर परिवेश के, यात्रा और यात्रा), चंद्रमुखी ओझा सुधा (वंदना), बुद्धसेन नीहार, त्रिवेणीप्रकाश त्रिपाठी, बलदेव वंशी, अचल राजपूत, गोपालदास नीरज, डा० रामविलास शर्मा, नईम, राजीव सक्सेना आदि ।

●

द्वितीय अध्याय

गद्यकाव्य

गद्यकाव्यात्मक कृतियों का प्रवृत्तिगत विभाजन

यदि हम हिंदी गद्यकाव्य की उपलब्ध सामग्री का भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों के अनुसार विभाजन करें तो निम्नलिखित रूपरेखा बनेगी :
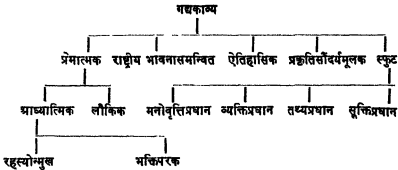
सबसे अधिक गद्यकाव्य प्रेम की प्रवृत्ति को लेकर लिखे गए हैं। यह नितांत स्वाभाविक भी है, क्योंकि रसराज शृंगार का आधार है और शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में सृष्टि का जीवन समाविष्ट हो जाता है। यह प्रेम जब ईश्वर की ओर उन्मुख होता है तो उसके दो रूप होते हैं—एक सगुण को लेकर चलनेवाला, जिसे भक्ति कहते हैं और दूसरा निर्गुण को लेकर चलनेवाला, जिसे रहस्योन्मुख प्रेम कहते हैं। जब यह प्रेम किसी हाड़ माँस के प्राणी की ओर उन्मुख होता है तो भी उसके दो रूप हो जाते हैं—एक मानसिक तृप्ति को ही लक्ष्य बनाकर चलनेवाला, जो प्रिय की गुणगरिमा और सौंदर्यसुषमा में तल्लीन रहने में ही अपनी पूर्णता मानता है और उसी से मिलन जैसा आनंद प्राप्त करता है। दूसरे में रहस्यात्मक तथा मानवीय मिलन की उत्कट लालसा होती है। प्रेम के आध्यात्मिक और लौकिक भेद ऐसे नहीं कि जिनके बीच में कोई सीमारेखा खींची जा सके क्योंकि प्रेम एक तरल भावना है, जो लौकिकता से आरंभ होकर ही भक्ति या रहस्योन्मुखता की ओर बढ़ती है। कोई रचना कब लौकिकता में विचरण करे, कब भक्ति की सीमा को छू ले, कब रहस्योन्मुख हो, यह निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि किसी गद्यकाव्य लेखक को हम

सोलह आने ऊपर की प्रवृत्तियों में से किसी एक के भीतर नहीं रख सकते। हाँ, उसे किसी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि के रूप में रखेंगे तो केवल इसी लिये कि उसमें उस प्रवृत्ति की प्रधानता है।

रहस्योन्मुख प्रेम की रचनाएँ

रहस्योन्मुख प्रेम की व्यंजना का सूत्रपात श्री राय कृष्णदास की 'साधना' से होता है। 'साधना' का प्रेरणास्रोत 'गीतांजलि' है। इसलिये रविबाबू द्वारा प्रवाहित आध्यात्मिक प्रेम की रहस्यमयी धारा को जिसमें उपनिषदों के चिंतनमाधुर्य का आवरण कबीर की रहस्यभावना और मानवता का सुगंधित आलेपन लिए हुए प्रकट हुआ, हिंदी में लाने का श्रेय 'साधना' को है। लंबे लंबे गद्यकाव्यों के स्थान पर छोटे-छोटे गद्यगीतों का प्रचलन भी 'साधना' के द्वारा ही हुआ। इस शैली में ही हिंदी गद्यकाव्य साहित्य का अधिकांश लिखा गया है। स्वयं राय जी की 'छायापथ' और 'प्रवाल' ऐसी ही रचनाएँ हैं। सर्वश्री केदार लिखित 'अधखिले फूल', नारायणदत्त बहुगुणा लिखित 'विभावरी', द्वारिकाधीश मिहिर लिखित 'चरणामृत', रामप्रसाद विद्यार्थी लिखित 'पूजा', शांतिप्रसाद वर्मा लिखित 'चित्रपट', भँवरमल सिंघी लिखित 'वेदना', नोखेलाल शर्मा लिखित 'मणिमाला', श्रीमती दिनेशनंदिनी लिखित 'उन्मन', ब्रह्मदेव शर्मा लिखित 'निशीथ', रामेश्वरी गोयल लिखित 'जीवन का सपना', तेजनारायण काक 'क्रांति' लिखित 'मदिरा' तथा 'मशाल', देवदूत विद्यार्थी लिखित 'कुमार हृदय का उच्छ्वास' और 'तूणीर', केशवलाल झा 'अमल' लिखित 'प्रलाप', जगदीश झा 'विमल' लिखित 'तरंगिणी', रघुवरनारायण सिंह लिखित 'हृदय-तरंग', विद्या भार्गव लिखित 'श्रद्धांजलि', स्नेहलता शर्मा लिखित 'विषाद', और महावीरशरण अग्रवाल लिखित 'गुरुदेव' ऐसी ही कृतियाँ है, जो 'साधना' की शैली में लिखी गई है।

भक्तिपरक रचनाएँ

हिंदी गद्यकाव्य में भक्तिभावना का प्रतिनिधित्व करनेवाले गद्यकाव्यकार श्रीवियोगी हरि हैं। वे स्वयं परम वैष्णव और संतमतानुयायी साहित्यस्रष्टा हैं, इसलिये उनकी गद्यकाव्य की कृतियों में अपने आराध्य कृष्ण के प्रति आत्मनिवेदन की प्रमुखता है। उनकी 'तरंगिणी', 'अंतर्नाद', 'प्रार्थना', 'भावना', 'ठंडे छींटे' आदि रचनाओं में भक्ति के उद्‌गार प्रकट हुए हैं। लेकिन वियोगी हरि जी गांधीवादी राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी हैं इसलिये उनमें राष्ट्रप्रेम और बलिदान की भावना, सर्वधर्म समन्वय और मानवता की पूजा की भावना, हरिजनोद्धार की लगन और दीनों के प्रति प्रेम की भावना, समाजसुधार और रूढ़िविरोधी भावना आदि से युक्त गद्यकाव्य भी मिलते हैं। 'श्रद्धाकण' नामक पुस्तक तो गांधीजी के स्वर्गवास होने पर उनके प्रति श्रद्धांजलि के रूप में ही लिखी गई है।

लौकिक प्रेम की रचनाएँ

लौकिक प्रेम की रचनाओं में श्रीराजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश' की 'आराधना', श्रीविश्वंभर 'मानव' की 'अभाव', श्रीरावी की 'शुभ्रा', श्रीबालकृष्ण बलदुवा की 'अपने गीत', श्रीमहावीरप्रसाद दधीचि की 'यौवन तरंग', श्रीशिवचंद्र नागर की 'प्रणय गीत', सुश्री शकुंतला कुमारी 'रेणु' की 'उन्मुक्ति, स्नेहलता शर्मा की 'विषाद', श्रीमती दिनेशनंदिनी की 'शबनम', 'मौक्तिक माल', 'वंशी रव', 'दुपहरिया के फूल' और 'स्पंदन' आदि रचनाएँ आती है। इनमें प्रिय को उतना ही महत्त्व दिया जाता है, जितना आध्यात्मिक प्रेम की रचनाओं मे भगवान् को। यह प्रेम गंगाजल की भाँति पवित्र होता है और इसमें आत्मसमर्पण और अनन्यता की महत्ता पर बल दिया जाता है। प्रेम की इन रचनाओं में यत्रतत्र स्थूल शारीरिकता के भी दर्शन हो जाते है। दिनेशनंदिनी जी की कृतियों में ऐसी अनेक रचनाएँ हैं, जिनमें ऐंद्रिकता स्पष्ट है। श्रीरजनीश की 'आराधना', श्रीमहावीरप्रसाद दाधीचि की 'यौवन तरंग' और शिवचंद्र नागर की 'प्रणय गीत' मे भी कहीं कहीं ऐंद्रिकता का समावेश हुआ है।

लौकिक प्रेम के वर्ग में ही इस प्रकार की और रचनाएँ है, जिनमे 'उद्‌भ्रांत-प्रेम' से मिलती जुलती शैली को अपनाया गया है। इन रचनाओं में रीतिकालीन परिपाटी पर वियोग के उद्‌गार है। श्रीव्रजनंदन सहाय की 'सौंदर्योपासक', राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की 'नवजीवन' या 'प्रेम लहरी', श्रीमोहनलाल महतो वियोगी की 'धुँधले चित्र', श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु की 'वियोग', हृदयनारायण पांडेय हृदयेश की 'मनोव्यथा' आदि पुस्तकें इसी कोटि की हैं।

राष्ट्रीय भावना समन्वित रचनाएँ

राष्ट्रीयता दूसरी उल्लेखनीय प्रवृत्ति हैं जिसने हिंदी गद्यकाव्य को प्राणवत्ता प्रदान की है। इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण स्थान 'साहित्य देवता' के रचयिता श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी का है। उन्होंने राष्ट्र को ही अपने आराध्य के रूप में जीवनादर्श स्वीकार किया और उसके चरणों में श्रद्धापुष्प चढ़ाए। दूसरे राष्ट्रीय गद्यकाव्य लेखक श्रीचतुरसेन शास्त्री हैं। उनकी 'मरी खाल की हाय' और 'जवाहर' रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'तरलाग्नि' नामक एक अन्य पुस्तक में शास्त्रीजी द्वारा भारतीय राजनीतिक विकास का एक रेखाचित्र देने की चेष्टा की गई है। श्रीवियोगी हरि ने भी अपनी कृतियों में राष्ट्रीय चेतना को पर्याप्त मात्रा में स्वर दिया है। श्री ब्रह्मदेव शर्मा की 'आँसू भरी धरती' और हरिमोहनलाल श्रीवास्तव की 'भारतभक्ति' राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति के गद्यकाव्यों की अच्छी कृतियाँ हैं। इनमें देशप्रेम, बलिदान, क्रांति और विद्रोह, महापुरुषवंदना और अतीत गौरव से संबंधित भावनाओं का समावेश है।

ऐतिहासिक रचनाएँ

तीसरी प्रवृत्ति ऐतिहासिकता की है। ऐतिहासिकता की प्रवृत्ति से संबंधित

गद्यकाव्य लिखनेवाले एकमात्र लेखक महाराजकुमार श्री डाक्टर रघुवीर सिंह जी हैं। उनकी 'शेष स्मृतियाँ' इस दृष्टि से एक अमर कृति है। इस क्षेत्र में आपकी रचनाएँ इतनी प्रौढ़ हुई कि किसी दूसरे को लेखनी उठाने का साहस ही न हुआ। मुगलकालीन इमारतों का आधार लेकर लेखक ने अपनी भावुकता का स्रोत बहाया है और पत्थरों के भीतर हृदय की धड़कन का संचार कर दिया है।

प्रकृतिसौन्दर्यमूलक रचनाएँ

चौथी प्रवृत्ति प्रकृतिसौंदर्यमूलक रचनाएँ लिखने की है। यों तो सभी ने प्रकृतिसौंदर्यमूलक रचनाएँ लिखी हैं, पर डाक्टर रामकुमार वर्मा का 'हिमहास' इस दिशा में एक उल्लेखनीय प्रयत्न है। काश्मीर की प्राकृतिक सुषमा से प्रभावित होकर कवि ने महत्वपूर्ण उद्गारों को वाणी का रूप प्रदान किया है। प्रो० रामनारायण सिंह की 'मिलनपथ पर' रचना भी इसी कोटि में आती है, जिसमें कोकिला, चकोरी, मयूरी, तितली, मीन, मृगी, दामिनी, सरिता, ऊषा, रजनी आदि पर कवि ने बड़े मार्मिक गद्यगीत लिखे हैं।

स्फुट रचनाएँ

गद्यकाव्य में केवल उपर्युक्त चार प्रकार की रचनाएँ ही नहीं हैं। उसमें अन्य कई प्रकार की रचनाएँ भी मिलती हैं जिन्हें हम 'स्फुट' कह सकते हैं। यदि इन स्फुट रचनाओं का भी हम विभाजन करें तो इनके चार मुख्य भाग हो सकते हैं : १. मनोवृत्तिप्रधान, २. व्यक्तिप्रधान, ३. तथ्यप्रधान, और ४. सूक्तिप्रधान रचनाएँ।

मनोवृत्तिप्रधान रचनाओं में सुख दुःख, आशा निराशा, प्रेम घृणा आदि वृत्तियों का स्वरूप प्रस्तुत करना अभिप्रेत होता है। इस दृष्टि से श्रीचतुरसेन शास्त्री का 'अंतस्तल' हिंदी गद्यकाव्य की कृतियों मे सर्वश्रेष्ठ रचना है। आरा से प्रकाशित 'मोन्मत्त' लिखित 'प्रेम लहरी' और शिवपूजन बाबू लिखित 'प्रेम कली' में प्रेम का विवेचन है। वैसे लगभग सभी लेखकों ने जीवन की इन प्रमुख वृत्तियों पर अपने अपने दृष्टिकोण से विचार किया है।

व्यक्तिप्रधान रचनाओं में देवता, राक्षस, मानव, ईसा, गांधी, कवि, गायक, कलाकार, पथिक, पागल, युवक, मित्र, माँ, बालक आदि को आलंबन बनाया जाता है। इनमें आलंबन के महत्व उसकी विशेषता तथा उसकी मानवकल्याण भावना का स्पष्टीकरण किया जाता है। ऐसी रचनाएँ सभी ने लिखी हैं।

तथ्यप्रधान रचनाएँ हिंदी में खलील जिब्रान के प्रभाव से आई हैं। इनमें पशुपक्षी, पेड़पौधे, नदीनिर्झर, पृथ्वीआकाश आदि के वार्तालाप द्वारा तथ्यों का उद्घाटन होता है। श्रीतेजनारायण काक की 'निर्झर और पाषाण', ब्योहार राजेंद्र सिंह की 'मौन के स्वर', बैकुंठनाथ मेहरोत्रा की 'ऊँचे नीचे' आदि कृतियाँ इसी कोटि में आती हैं। श्रीसद्गुरुशरण अवस्थी की 'भ्रमित पथिक' नामक अन्योक्ति भी इसी कोटि की

रचना है। उसमें एक पथिक है, जो संसारभ्रमण करता है और काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह के चक्र में पड़ता हुआ अंत में मुक्ति के पथ पर बढ़ता है। पथिक साधक का प्रतीक बनकर आया है। यह पुस्तक पूरी ढाई सौ पृष्ठ की है। अन्य रचनाएँ आठ दस पंक्तियों या २०-२५ पंक्तियों तक ही सीमित हैं।

सूक्तिप्रधान रचनाएँ

श्रीरवींद्रनाथ के 'स्ट्रेवड्‌स' से सूक्तिप्रधान रचनाओं का प्रारंभ हुआ है। इसका अनुवाद श्रीरामचंद्र टंडन ने सन् १९३१ में 'कलरव' नाम से किया था। श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी, श्रीहरिभाऊ उपाध्याय, वियोगी हरि आदि इस धारा के प्रमुख लेखक हैं। संस्कृत के सुभाषितों जैसी जीवनसत्यव्यंजक छोटी छोटी रचनाओं की परंपरा भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है जिसमें लेखक एक विचार देकर हृदय में झंकार पैदा करता है। माखनलाल चतुर्वेदी ने कला और साहित्य पर, हरिभाऊ उपाध्याय ने 'मनन' और 'बुद्‌बुद्' मे आत्मोन्नति को भावना पर और वियोगी हरि ने 'ठंडे छीटें' में गांधीवादी विचारधारा पर ऐसे ही गद्यगीत दिए हैं। इनमें चिंतन के साथ भावुकता भी मिली रहती है।

इस प्रकार हिंदी गद्यकाव्य की अपनी अलग मौलिक परंपरा और प्रयोग हैं। वह केवल बँगला का अनुकरण नहीं है, जैसा कि समझा जाता रहा है। हाँ, रवि बाबू की रचनाओं ने उसको एक निश्चत रूपरेखा देने का महत्त्वपूर्ण कार्य अवश्य किया है और राय कृष्णदास ने उनके आधार पर छोटे छोटे गद्यगीतों का आरंभ किया है। वैसे भारतेंदु के युग से ही ऐसे भावुकतापूर्ण उद्‌गारों की परंपरा मिलती है जिसे हम सहज ही गद्यकाव्य की कोटि में रख सकते हैं। आकार की दृष्टि से भी भारतेंदु युग में ही छोटे छोटे गद्यखंडों का प्रचलन मिलता है। इसका प्रमाण तत्कालीन पुस्तकों और पत्रपत्रिकाओं के पृष्ठ उलटने से मिल सकता है। सबको मिलाकर देखने से हिंदी गद्यकाव्य की विधा एक सहसा उत्पन्न हुई वस्तु जैसी न लगकर अपने साथ एक क्रमबद्ध इतिहास रखनेवाली पुष्ट धारा प्रतीत होती है। उसमें अनेक रचनाएँ हैं, जो समय समय पर विविध प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रकाश में आती रही है। हिंदीतर साहित्य से प्रेरणा लेकर भी हिंदी के कृती लेखकों ने अपनी भाषा को एक पुष्ट साहित्यिक धारा की अमूल्य देन दी है। हिंदी गद्यकाव्य ने एक लंबा पथ पार किया है और नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध की सीमारेखाओं को पार करते हुए अपना पथ बनाया है। उसकी ओर लोगों का उपेक्षा भाव रहा है, परंतु यह सुकोमल सुकुमार विधा आज भी अपना अस्तित्व सार्थक कर रही है। उपेक्षित होने पर भी उसने साहित्य में जो स्थान बनाया है, वह उसकी शक्ति और सामर्थ्य का सूचक है।

गद्यकाव्य के प्रमुख लेखक

राय कृष्णदास (सन् १८९२)

रहस्योन्मुख आध्यात्मिक गद्यकाव्यों का प्रचलन रवींद्र की 'गीतांजलि' के अनुकरण पर हिंदी में सर्वप्रथम राय कृष्णदासजी ने किया। उनके गीतों का स्वर आध्यात्मिक ही है। अपने प्रेरणा स्रोत के संबंध में उन्होने लिखा है : 'सो उसका ('गीतांजलि' का) यह अनुवाद (हिंदी अनुवाद) पाकर उस पुरानी प्रवृत्ति ('गीतांजलि' पढ़ने की) की तृप्ति का द्वार खुल गया। इतना ही नहीं उसके एकाध पृष्ठ में ही इतनी कोमलता, भावुकता और सरसता मिली कि मैं उसमें तन्मय हो गया। साथ ही उसी तरह के कितने ही घने भाव मेघपटल की तरह अंतस्तल में उमड़ पड़े। उसकी प्रत्येक पंक्ति से एक नया भाव सूझने लगा और आगे की पढ़ने की कौन कहे, वहीं रुककर मैं हठात् उन्हें उस पोथी की पोस्तीनों पर लिखने लगा। शायद 'साधना' की ये पंक्तियाँ उसी अवस्था की द्योतक हैं—'पुलकित होकर मैंने गान आरंभ किया। प्रेम के मारे मेरा कंठ भर रहा था इससे मैं प्रति शब्द पर रुकता था' .... 'गीतांजलि' के पहले पृष्ठ का दूसरा वाक्य है—'तू इस क्षण-भंगुर पात्र (शरीर) को बार बार खाली करता है और नवजीवन से उसे सदा भरता रहता है।' इसे पढ़कर मैंने लिखा था—'तुम अमृत को बार बार कच्चे घटों में भरते हो और मैं उन्हें गलते देखता हूँ।' (साधना पृष्ठ ३३)। नगराज हिमालय उनका दूसरा प्रेरणा स्रोत है। उसके विषय में वे कहते हैं : 'हिमालय के प्राकृतिक सौंदर्य ने भी लिखने में बड़ी सहायता दी। लिखना दिन में तो होता ही, रात में भी घंटों बीतते। लिखता, बार बार पढ़ता और झूमता। इन्ही भावों से मिलते जुलते वर्षों के भाव भी लिख डाले। मित्रों से बातचीत में कोई भाव उखड़ जाता [illegible] साधारण घटना भावोद्बोधन करा जाती। उसी रंग में सराबो[illegible]।.... यहाँ भ[illegible] इतना स्पष्ट कर दूँ कि ऐसे जो भाव ऐहिक या भौतिक कारणों से उ[illegible]ते थे उन्हे भी आध्यात्मिक रूप में ही अंकित करता था[1]।'

अपने कृतित्व की मौलिकता के बारे में एक दूसरे स्थान पर वे कहते हैं : 'साधना की धारा तो गीतांजलि के प्रभाव की है और उसकी अभिव्यक्ति में कोई नयापन नहीं। वह रविबाबू की ही है। हाँ, 'छायापथ' में कुछ अपना मार्ग मैंने खोजा है[2]।'

१. 'हंस', जुलाई-अगस्त १९३१ में स्वयं राय कृष्णदास लिखित 'अतीत' शीर्षक लेख।

२. 'मैं इनसे मिला', दूसरी किस्त, पृष्ठ २९।

रायजी के उक्त कथनों से तीन तथ्यों का पता चलता है—(१) रवींद्र का पूरा प्रभाव, (२) हिमालय के प्राकृतिक वातावरण का योग और (३) प्रत्येक घटना को आध्यात्मिक रूप देना। लेकिन यह साधना के लिये ही ठीक है। 'छायापथ' और 'प्रवाल' में उनका पथ भिन्न हो गया है। 'छायापथ' में निवेदन का ढंग बदल गया है और लेखक ने कभी अपने आराध्य को स्त्रीरूप में संबोधित किया है, स्वयं पुरुष बन गया है और कभी उसे पुरुषरूप में संबोधित किया है तथा स्वयं स्त्री बन गया है। 'छायापथ' में प्रकृति तथा अन्य वस्तुओं के निरपेक्ष वर्णन भी हैं, जब कि 'साधना' में उनका स्वसापेक्ष वर्णन है। 'छायापथ' में अन्योक्ति पद्धति का अधिक आश्रय लिया गया है, जब कि 'साधना' की अभिव्यक्ति में सीधापन है। 'छायापथ' में वार्तालाप शैली और कथात्मक शैली का योग है, जब कि 'साधना' में प्रार्थना शैली का ही प्राधान्य है। 'छायापथ' में परकीया प्रेम की ओर अधिक झुकाव है जब कि 'साधना' मे रहस्यवादी प्रवृत्ति की ओर। इस प्रकार 'छायापथ' और 'साधना' दोनों की भावभूमि में पर्याप्त अंतर है। उनकी अन्य कृति 'प्रवाल' में न 'साधना' का रहस्योन्मुख प्रेम है और न 'छायापथ' का परकीया प्रेम, उसमें तो शुद्ध वात्सल्य रस की सरिता प्रवाहित है। मातापिता और पुत्रपुत्री के पारस्परिक वार्तालाप से ही यह कृति पूर्ण है। आधुनिक हिंदी पद्यसाहित्य और गद्यसाहित्य में इतना सजीव वात्सल्यवर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। पिता और माता के हृदय की कोमलता और बालक के हृदय की अबोधता दोनों का समान सफलता के साथ चित्रण करने में रायजी को अपूर्व सफलता मिली है।

आध्यात्मिक दृष्टि से रायजी अपने आराध्य से सतत आलिंगित रहते हैं। उनका प्रियतम उनके साथ प्रतिक्षण रहता है[१]। प्रकृति इस मिलन के लिये पृष्ठभूमि का काम देती है।[२] उनका यह प्रियतम अज्ञात है—गोपियों का सगुण कृष्ण नहीं, अतः उसमें स्थूल शृंगार का आभास तक नहीं है। उसमें केवल आलिंगन और चुंबन का ही सांकेतिक उल्लेख मिलता है।[३]

मधुरा भक्ति की कोटि का वह प्रेम उनकी साधना में सर्वत्र व्याप्त है। इसके अतिरिक्त वे अपने प्रभु को सर्वत्र प्रकृति में व्याप्त देखते हैं तो उसे सगुण, सवाक् और शक्तिशाली कह उठते हैं।[४] उन्हें पुष्प की सुंदरता से प्रभु की महत्ता का ज्ञान होता है, संध्या, वर्षा, शरद् और प्रभात के सौंदर्य से प्रभु की दयालुता का अनुभव

१. 'साधना', पृ० ४७,६६,७०,७७,८४; 'छायापथ', ३२,४६,४६,५१।
२. 'साधना', पृ० ४६; 'छायापथ', पृष्ठ ४२।
३. वही, पृष्ठ ५०।
४. 'साधना', पृष्ठ १०१।

होता है। प्रकृति के सौंदर्य में उनकी तल्लीनता यहाँतक बढ़ जाती है कि उन्हें समस्त सृष्टि प्रभु के गान से स्तब्ध दिखाई देती है।[१] प्रकृति को इस दृष्टि से देखकर वे प्राकृतिक रहस्यवादी की कोटि में भी पहुँच जाते हैं।

तीसरा रूप उनकी साधना का वह है जो दास्यभक्ति का है। वे भगवान् की सेवा में ही आनंद का अनुभव करते हैं और स्वतंत्रता या मुक्ति नहीं चाहते।[२] उन्हें अपने प्रभु की शक्ति पर अटूट श्रद्धा और दृढ़ विश्वास है और वे अपने प्रभु की इच्छा से जो कुछ वह करावे उसे करने में ही सुख अनुभव करते हैं, क्योंकि जिसने मृगमरीचिका दिखाई है वही पार लगाकर प्यास बुझावेगा।[३]

दार्शनिक दृष्टि से रायजी ने जीव, ब्रह्म, संसार, जन्ममरण, अमरत्व आदि पर विचार किया है। वे आत्मा और परमात्मा को एक ही मानते हैं और उनका विश्वास है कि जीव की यात्रा परमात्मा तक पहुँचाने पर ही समाप्त होती है।[४] कमल जैसे नाल पर टिका रहता है और नाल दिखाई नहीं देता वैसे ही जीव ब्रह्म पर आधारित है पर ब्रह्म दिखाई नहीं देता।[५] जीव के संबंध में रायजी का कहना है कि यद्यपि जीव ब्रह्म का अंश है पर यह रहस्य समझ में नहीं आता कि ब्रह्म उसे क्षणभंगुर, नश्वर और मृत समझकर क्यों उससे दूर रहता है।[६]

संसार के संबंध में उनका दृढ़ मत है कि वह माया नहीं है, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म ही उसमें व्याप्त है। भला यह कैसे हो सकता है कि भगवान् जिस वाटिका का माली हो वह माया हो।[७]

वात्सल्यवर्णन की दृष्टि से उनके गद्यगीतों में लगभग सभी श्रेष्ठ हैं। उनमें शिशुहृदय की विचित्र आकांक्षाएँ मुखरित हैं।[८] इन स्थलों पर उनका पशुपक्षियों की प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण भी द्रष्टव्य है।

१. वही, पृ० २१,२३।
२. वही, पृष्ठ ११।
३. वही, पृष्ठ ५५,१००।
४. 'साधना', पृष्ठ ५४,१०६; 'छायापथ', पृष्ठ २८।
५. 'साधना', पृष्ठ २०।
६. वही, पृष्ठ १२।
७. वही, पृष्ठ २१।
८. 'प्रवाल', पृ० ७।

न केवल बालक वरन् मातापिता के हृदय की झाँकी भी बड़ी सजीव है। कभी माँ बेटी के विवाहित होकर जाने पर दुखित होती है,[1] कभी बेटे को 'हीरामन सुग्गा' बनाती है।[2]

कुछ जड़ चेतन पदार्थों को लेकर रायसाहब ने शाश्वत जीवनसत्य की व्यंजना का भी प्रयत्न किया है। झरना उनको बताता है कि पृथ्वी के हृदय में जहाँ ज्वाला है वहीं करुणा कल्लोलिनी है।[3] नदी की पंकिल धारा कैसी ही क्षीण हो, हमें अपने उद्देश्य की ओर बढ़ने का संदेश देती है।[4]

प्रकृति के प्रति उनका सहज अनुराग है। सूर्य, चंद्र, नदी, निर्झर, संध्या, प्रभात, बादल, बिजली आदि पर उन्होंने एक भोले और जिज्ञासु हृदय के साथ विचार किया है। उनका वर्णन करके उनकी परोपकारवृत्ति से अभिभूत होना और वही बन जाने की कामना करना उन्हें विशेष प्रिय है।[5] पर्वत प्रदेश के सौंदर्य का उनपर विशेष प्रभाव है।

रायजी की भाषाशैली अत्यंत परिमार्जित और संयत है। उसमें न तो वियोगी हरि की आलंकारिकता है और न चतुरसेन शास्त्री की व्यावहारिकता। रवींद्र की सहज भावाभिव्यक्ति के अनुकरण पर जिस नए ढंग को रचना उन्होंने की उसके लिये एक सहज स्वाभाविक भाषा की ही आवश्यकता थी। स्वभावतः वह भाषा संस्कृत की ओर झुकी हुई है, परंतु उसमें देशज और फारसी अरबी के प्रचलित शब्दों का पर्याप्त समावेश है। यदि यह कहा जाय कि उनकी भाषा का आकर्षण ही ये देशज और अरबी फारसी के शब्द है, तो अत्युक्ति न होगी।

इनकी शैली मे चित्रोपमता का विशेष गुण है। जिस किसी दृश्य का वर्णन करते हैं उसका चित्र सा खड़ा कर देते है। रूपक और अन्योक्तिप्रधान शैली से भिन्न जो प्रतीकात्मक शैली इन्होंने अपनाई है उसमें ये मानसिक दशाओं के चित्र अंकित करने मे पूर्णतया सफल हुए हैं। 'साधना' में इस शैली का बहुत अच्छा प्रयोग हुआ है। वैसे इनकी शैली विषयानकूल बदल जाती है। पर उसकी सादगी और अकृत्रिमता सदा विद्यमान रहती है। धीर गंभीर गति से ही इनकी भाषा चलती है, आवेश का उसमें नाम नहीं है। वातावरण तथा मानसिक दशा का अत्यंत सहज चित्र अंकित करनेवाली कुछ पंक्तियाँ देखिए—

१. 'प्रवाल', पृ० २७।
२. वही, पृ० २६।
३. 'छायापथ', पृ० ४।
४. वही, पृ० ५।
५. वही, पृ० १६।

'मैं भी दीपक बढ़ाकर अंधकार में विश्राम कर रहा हूँ। यदि कहीं जुगनू भी चमक जाता है तो आँखों में आग सी लग जाती है। अचानक मेरा मन उस धुँधली लौ की ओर जाने को क्यों मचल उठता है, जो इस विशाल नदी के उस सुदूर किनारे पर टिमटिमा रही है और जिसकी छाया सुवर्ण मानदंड का रूप धारण करके उसकी थाह ले रही है।'

सामूहिक रूप से उनकी कृतियों की शैली पर विचार करें तो हम पाएँगे कि 'साधना' की शैली संस्कृत की ओर झुकी हुई है और 'छायापथ' अथवा 'प्रवाल' की व्यावहारिकता की ओर। लेकिन दोनों प्रकार की शैलियों में स्वाभाविकता है। 'साधना' में प्रार्थना शैली में आत्मनिवेदन की प्रधानता है तो 'छायापथ' में कथा शैली और वार्तालाप शैली में जीवन के सत्यों का साक्षात्कार किया गया है। 'प्रवाल' में उद्गार शैली है, जो उनकी अपनी वस्तु है। रायजी से पहले गद्यकाव्य की शैली उपन्यासपरक थी, गद्यगीत की शैली नहीं। गद्यगीत की शैली का आविष्कार उन्हें स्वयं करना पड़ा। रवींद्र के ऋणी होते हुए भी उसकी प्रतिष्ठा का श्रेय उन्हें मिलना उचित ही है। श्रीआत्मानंद मिश्र ने उनके विषय में ठीक ही लिखा है : 'राय साहब ने एक ऐसी शैली का शिलान्यास किया, जिसमें यथेष्ट प्रवाह के साथ परिमार्जित भाषा की कोमलकांत पदमाधुरी का समुचित योग था। आपकी भाषा में न अव्यावहारिकता थी और न संस्कृत पदावली की जटिलता। कवींद्र रवींद्र के प्रभाव से आपने सर्वप्रथम आध्यात्मिक गद्यकाव्य लिखना आरंभ किया था अतएव आपको रहस्योन्मुख भावात्मक गद्यकाव्य का प्रवर्तक कहना अत्युक्ति न होगी[1]।'

वियोगी हरि (सन् १८९६)

हिंदी में भारतेंदु शैली के गद्यकाव्यों के प्रतिनिधि श्रीवियोगी हरि मूलतः कवि हैं। ब्रजभाषा में उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण काव्यकृतियाँ दी हैं और भक्ति तथा संतसाहित्य का संपादन किया है। साथ ही गांधीजी के जीवनदर्शन को उन्होंने आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है। इन सबके परिणामस्वरूप उनके गद्यकाव्यों में भक्ति, राष्ट्रीयता, विश्वबंधुत्व आदि की भावनाएँ स्वभावतः आ गई हैं।

उनकी गद्यकाव्य कृतियाँ हैं—'तरंगिणी', 'अंतर्नाद', 'भावना', 'प्रार्थना', 'ठंडे छींटे' और 'श्रद्धाकण'। 'तरंगिणी' उनके गद्यकाव्यों का सर्वप्रथम संकलन है। इसमें उनका विरहविदग्ध हृदय अपने प्रभु के चरणारविंद में रहने को विकल हो उठा है— 'इस महा पतित, प्रेमोन्मत्त, प्रपन्न एवं विरही हरि की प्रणय उत्कंठा आपके सरस सस्नेह राजीव नेत्रों में स्थान पा सके? बस, इसी आशा से आपके वांछनीय विरह से आर्द्र इस कठोर और नीरस हृदय से सरल स्रोत निकलने लगे, जो आज 'तरंगिणी' के रूप

१. 'सुधा', वर्ष १२, खंड १, संख्या १।

में दिखाई दे रहे हैं[1]।' इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य क्या है, इस विषय में प्रस्तावना-लेखक श्रीशिवाधार पांडेय का कथन है—'पुस्तक का मुख्य उद्देश्य भावों की ऊँचाई, गहराई, मिठास और नएपन की ओर है। परमात्मा और प्रकृति, स्वदेश और समाज, सुहृदयों और बालकों का हृदय, मानवकर्त्तव्य और मानसमिलन यह इसके गूढ़ विषय हैं। ढंग 'गीतांजलि' का है, परंतु रंग रवींद्र बाबू ही का नहीं है[2]।' 'तरंगिणी' से यह पता चलता है कि लेखक की रुचि और दिशा क्या है? 'अंतर्नाद' में 'तरंगिणी' की 'भावना' का ही विकास हुआ है।' प्रभुप्रेम के उद्गार इसमें 'तरंगिणी' की अपेक्षा कम हैं। लेखक को राष्ट्रीय भावना और गांधीसंपर्क ने प्रभावित कर दिया है। सुधारकों और आलोचकों पर व्यंग्य और दलित के प्रति सहानुभूति के स्वर साथ साथ चलते है। यह भारतेंदु बाबू हरिश्चंद का प्रभाव है।

'भावना' में शुद्ध आत्मनिवेदन है। यह उनके भक्त हृदय की झाँकी करानेवाली कृति है। अपनी दार्शनिक मान्यताएँ और विश्वास इसमें उन्होंने दिए हैं। इसमें वे सच्चे वैष्णव भक्त कवि के रूप में सामने आए हैं और इसमें दैन्य के साथ सख्यभाव का अक्खड़पन और आत्मसमर्पण की भावनाएँ प्रमुख हैं। उन्होंने 'भावना' को वैष्णव-भावना के खंडकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसके आरंभ में मंगलाचरण के स्थान पर भगवान् की प्रतीक्षा में रत उनके हृदय की मंगलमयी 'स्वागत प्रस्तावना' है और अंत में 'भरतवाक्य' की भाँति 'तथास्तु' में भक्ति की महत्ता प्रतिष्ठित करने के लिये प्रभु से यह प्रार्थना की गई है कि 'तुम्हारी प्रेमलता प्रेमियों के तरुण भावतमालों को नित्य आलिंगन किया करे और भावुकों के स्नेहनीरद तुम्हारी स्नेहदायिनी सतत हृदय से लगाए रहें[3]।' 'तरंगिणी' की अपेक्षा 'भावना' की शैली सरल है। यहाँ उनकी दास्यवृत्ति का निखार है, जबकि 'तरंगिणी' में सख्यवृत्ति अपने पूरे जोर पर थी। पांडित्यप्रदर्शन भी 'तरंगिणी' में जितना है उतना 'भावना' में नहीं। 'भावना' एक पूर्ण रचना है, जिसमें हरिजी ने अपनी भक्तिभावना के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है।

'प्रार्थना' भावना के विचारों का विस्तार करनेवाली कृति है। उसमें सर्व-धर्मसमन्वय, विश्वबंधुत्व और दीनों के व्रत, प्रेम, भावना के अतिरिक्त अपने आत्म-परिष्कार की भावना और मिल गई है। 'भावना' की शुद्ध भक्ति में 'प्रार्थना' की इन भावनाओं ने मिलकर उनकी वैष्णव भावना को और भी व्यापकता दे दी है।

'श्रद्धाकण' अपने ढंग की अकेली रचना है। विश्ववंद्य महात्मा गांधी के जीवन और उनके कार्यों तथा सिद्धांतों का दिग्दर्शन इसमें कराया गया है। किस

१. 'तरंगिणी' के 'उत्सर्ग' में स्वयं लेखक।
२. 'तरंगिणी', प्रस्तावना, पृ० ४।
३. 'भावना', पृ० ९३।

प्रकार उस महात्मा ने स्वतंत्रता का प्रकाश फैलाया, किस प्रकार सत्य और अहिंसा के प्रयोग किए, किस प्रकार दलित मानवता को आशा की किरण दिखाई, किस प्रकार वह सांप्रदायिकता के विरुद्ध लड़ा, आदि विषयों के साथ इस कृति में प्रार्थनाभूमि पर उसके प्रवचनों के प्रभाव का भी वर्णन है। अंत में गांधीजी की शिक्षाओं को जीवन में उतारने की शुभ संमति दी गई है।

स्वयं गांधीजी की दृष्टि में परपीड़ा को जाननेवाला ही परम वैष्णव हो गया है[1]। श्रीवियोगी हरि ने उसी को अपने गद्यकाव्यों में व्यक्त किया है। तुलसी या सूर अथवा कोई भी गांधीवादी दृष्टिकोण को अपनाकर जो कुछ कहेगा सुनेगा वह वियोगी हरि के काव्यों से मिलती जुलती ही बात कहेगा।

श्रीवियोगी हरि के गद्यकाव्य का मूल स्वर भक्ति का है। राय कृष्णदास की भाँति रहस्योन्मुख प्रेम को उन्होंने अपनी रचनाओं में आग्रह के साथ स्थान नहीं दिया। उनका आराध्य वही है, जो तुलसी और सूर तथा अन्य कृष्णभक्तों का है। वादों के चक्कर में न पड़कर उनसे परे तुलसी की भाँति वे अपने चित्त चंचरीक को प्रभु के पादपद्मों में लगा देना चाहते हैं[2]। उपनिषदों के मांथन, साधना की कठिनाइयों, उपासना के परिश्रम में भी प्रभु को न पाकर रसखान की भाँति उनकी कृपायाचना करते हुए प्रेम द्वारा उसे प्राप्त करना चाहते हैं[3]। वे सब धर्मों को रंग बिरंगी प्यालियाँ और उनमें प्रभु के गुणगान को अमीरस मानते हैं तथा धर्म के नाम पर लड़नेवाले मजहबियों को मतवाला कहते है।[4]

भक्ति के अतिरिक्त दूसरी भावना वियोगी हरि के गद्यकाव्यों में राष्ट्रप्रेम की है। वे अतीत गौरव के वैतालिक हैं, इसलिये प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु, यदि तुमको मुझे भवसागर में ही भेजना है तो उस परम पवित्र देश में जन्म देना, जहाँ की माटी भी खाकर आपने त्रिलोक दिखा दिया था।[5] उन्हें स्वर्ग को भी तृणवत् समझनेवाले पर्णकुटीरवासी मंत्रद्रष्टा ऋषि की संतान और ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव करनेवाले गुरु का शिष्य होने का अभिमान है, इसी लिये वे भारतवासियों को कार्यभूमि में स्वकर्तव्य कर दिखाने के लिये आह्वान करते हैं।[6]

१. 'वैष्णव जन तो तैने कहिए जे पीड पराई जाणे रे।' वाला नरसी मेहता का भजन उनको विशेष रूप से प्रिय था।
२. 'भावना', पृ० ३८।
३. वही, पृ० ३२।
४. वही, पृ० १६।
५. 'तरंगिणी', पृ० १०२।
६. वही, पृ० ११२।

वे देश की दुर्दशा से इतने प्रभावित होते हैं कि उनका भक्त हृदय राग-रागिनियों के मादक आलापों में स्वर्गीय संगीत की झलक न पाकर दलितदुखियों के विलापों और पीड़ितों के करुण क्रंदन की ओर ही मुड़ता है और अपने प्रभु को वीणा तथा वंशी से न रिझाकर मजदूर का प्रतिनिधि बनकर टाँकी और हथौड़े के स्वर से रिझाना चाहता है। 'श्रद्धाकण' में तो गांधीजी के सिद्धांतों की व्याख्या ही दी गई है। खादी और चर्खा, हरिजनोद्धार और दरिद्रसेवा, श्रम और स्वावलंबन, राष्ट्रभाषा और वैष्णवता, धर्म और राजनीति, गोपूजा और सर्वधर्म समन्वय, सर्वोदय और स्वराज्य, हिंसा और अहिंसा पर गांधीजी के मतों का संक्षिप्त भाष्य 'श्रद्धाकण' की पूँजी है। उनका बलिदान, उससे उनकी लोकप्रियता, गांधीवादियों की आडंबर-प्रियता आदि पर भी उन्होंने लिखा है।

भाषा और शैली की दृष्टि से वियोगी हरि के गद्यकाव्य अलग दिखाई देते हैं। एक ओर वे गोविंदनारायण मिश्र की शैली का अनुकरण करते हुए अनुप्रासयुक्त सामासिकपदावली वाली पांडित्यपूर्ण भाषा लिखते हैं, तो दूसरी ओर वे सहज बोधगम्य, सरल और चलती हुई हिंदुस्तानी लिखते हैं। पहले प्रकार की भाषा गांधीजी के प्रभाव के कारण बाद की रचनाओं में मिलती है। एक तीसरे प्रकार की भाषा वह है जिसमें न पांडित्य प्रदर्शन है, न चलतापन। इसमें सभी भाषाओं के सब प्रचलित शब्द स्वतः आ गए हैं।

हिंदी गद्यकाव्य के लेखकों में वियोगी हरि अनुप्रास और रूपक के सम्राट् हैं। उन्होंने स्थान स्थान पर सांगरूपक भी दिए हैं[1]। लेकिन रूपकों में जटिलता नहीं है। वैसे अनुप्रास सरल और स्वाभाविक होते हैं। जैसे 'कितने कर्मठ कामनाकामिनी को कंठ से लगाए जलकेलि' में या 'काव्य में कलित कलाओं का केलिकल्लोल देखकर ही विज्ञान सत्य में तन्मय हुआ है'[2]।

अनुप्रास, रूपक और उपमा के अतिरिक्त मानवीकरण[3] और अन्योक्ति[4] का प्रयोग अधिक किया गया है। एक और वस्तु उनकी शैली में यह है कि संस्कृत फारसी के कवियों की उक्तियों को बीच बीच में सजाकर वे अपनी भावुकता को चरम सीमा पर पहुँचा देते हैं। श्रीसद्गुरुशरण अवस्थी ने ठीक ही लिखा है—'वियोगी हरि जी की मेधाशक्ति बड़ी तीव्र है। इन्हें अपनी शैली के विन्यास में संस्कृत, फारसी आदि के विद्वानों की मार्मिक उक्तियों का एक सुंदर सोपान मिलता है, जिसके

१. 'भावना', पृ० ३३।
२. वही, पृ० ३८।
३. 'तरंगिणी', पृ० ३७; 'भावना' पृ० २४।
४. वही, पृ० ६७,६८,१०४,१०७; 'अंतर्नाद', पृ० ५२,५३,८०,८४, 'भावना' पृ० १८-१९।

सहारे आप अपनी भावुकता के चरम उत्कर्ष तक पहुँच जाते हैं। वास्तव में प्राचीन रसपूर्ण मार्मिक उक्ति के विषयों को सहेतुक सजाने में ही आपकी भावात्मक शैली की विशेषता है।'[1] इसके साथ ही व्यंग्य और तीखापन भी उनकी शैली की अनुपम विशेषता है। यह बात वहाँ मिलती है, जहाँ वे युवकों के फैशन और विलासप्रियता पर चोट करते है तथा अमीरों और धर्म के ठेकेदारों को डाँटते है। 'अंतर्नाद' और 'ठंडे छींटे' में पृष्ठ के पृष्ठ ऐसे अंशों से भरे हैं, जिनमें उनके अंतर का विद्रोह व्यंग्य और तीखापन लिये हुए प्रकट हुआ है।[2]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री (सन् १८९१–१९६०)

आचार्य चतुरसेन शास्त्री गद्यकाव्य के लेखक के नाते अपनी भिन्न शैली के द्वारा एक नई दिशा की ओर इंगित करनेवाले साहित्यकार हैं। राय कृष्णदास की रहस्यवादिता, वियोगी हरि की भक्तिभावना और दिनेशनंदिनी की प्रेम की पीड़ा से भिन्न इनमें सामाजिक अधोगति के लिये तीव्र असंतोष और कुछ कर गुजरने की उत्कट लालसा है। इनके गद्यकाव्य संग्रहों के नाम हैं—'अंतस्तल', 'मरी खाल की हाय', 'जवाहर' और 'तरलाग्नि'। इनमें से 'जवाहर' में 'मरी खाल की हाय' की चौदह राष्ट्रीय रचनाओं का संग्रह होने से केवल तीन ही गद्यकाव्य संग्रह रह जाते हैं। स्थूल रूप से इन तीनों संग्रहों के गद्यकाव्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—भावों संबंधी गद्यकाव्य जिसका संग्रह 'अंतस्तल' में है और राष्ट्रीय गद्यकाव्य जिसका संग्रह 'मरी खाल की हाय' और 'तरलाग्नि' में है।

'अंतस्तल' में दो प्रकार के गद्यकाव्य हैं—१. भावों से संबंध रखनेवाले वे गद्यकाव्य, जिनमें भावों का बिंब ग्रहण कराया गया है और २. अपनी मृत पत्नी की स्मृति में लिखे गए वैयक्तिक गद्यकाव्य जिनमें उसके सौंदर्य, विवाह के समय के उसके आत्मसमर्पण आदि की झलक है। पहले प्रकार के गद्यकाव्य २४ हैं और दूसरे प्रकार के ७४। श्रीपद्मसिंह शर्मा ने 'अंतस्तल' के संबंध में लिखा है—'अंतस्तल' के चतुर चितेरे ने बड़े कौशल से, बड़ी सफाई से, मानसिक भावों के विविध रूपरंग के विचित्र चित्र खींचकर कमाल का काम किया है। मैं उन्हें इस सफलता पर बधाई देता हूँ। 'अंतस्तल' हिंदी में निस्संदेह अपने ढंग की एक नई रचना है। यह पाठक और लेखक दोनों के काम की चीज है। समझदार पाठकों के लिये शिक्षाप्रद मनोविनोद की सामग्री है और लेखकों के लिये भावचित्रण का बढ़िया साधन।'

'मरी खाल की हाय' में पच्चीस रचनाएँ हैं जो विषय की एकता की दृष्टि से संगृहीत कर दी गई हैं। इनमें आठ कहानियाँ है, २ कविताएँ और १५ गद्यकाव्य।

१. 'सुधा', वर्ष ८, खंड २, संख्या १, अप्रैल १९३५, पृ० १९८।
२. 'अंतर्नाद', पृ० ७१,८२,७८,९९,१०३,१०५; 'ठंडे छींटे', पृ० ३८,४३, ५१,६२,६४,६९।

राष्ट्रीय स्वतंत्रतासंग्राम और उसमें जूझनेवाले वीरों की प्रशंसा से ये गद्यकाव्य भरे हैं। इनमें स्वदेश का गौरवगान है, अभाव और दीनता का चित्रण है, अंग्रेजी पर व्यंग्य है, जवाहरलाल और कमला नेहरू की प्रशस्ति है और सुभाष का यशोगान है। ये गद्यकाव्य बड़े ओजस्वी हैं। इसी शृंखला की कड़ी 'तरलाग्नि' है। इसमें मुगलों के आक्रमण के समय की भारत की अवस्था से लेकर आजतक के भारत के उत्थान-पतन की झाँकी है। यह निराली शैली में लिखी हुई एक खंडकाव्य के ढंग की कृति है जो गद्य में आचार्यजी की लेखनी का स्पर्श पाकर और भी सौंदर्यमयी हो गई है। इसमें स्वतंत्रतासंग्राम के तिलक, गांधी, पटेल, जवाहर आदि योद्धाओं, रविबाबू जैसे श्रेष्ठ संस्कृतिप्रवतार, भगत सिंह जैसे क्रांतिकारी देशभक्तों की सेवाओं का मूल्यांकन किया गया है। एक प्रकार से यह राजनीतिक संग्राम का दासता के युग से स्वतंत्रता के स्वर्णविहान तक का सिंहावलोकन है। इस प्रकार 'मरी खाल की हाय' और 'तरलाग्नि' दोनों का संबंध हमारे देश के राष्ट्रीय आंदोलन और उसके इतिहास से है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के भाव संबंधी गद्यकाव्यों का ऐतिहासिक महत्त्व है। हिंदीसाहित्य में 'अंतस्तल' से पहले 'उद्भ्रांत प्रेम' की विक्षेपशैली में प्रेम का ही विवेचन हो रहा था। यह बात हम गद्यकाव्य के विषयविवेचन में देख चुके हैं। वहाँ हमने राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के 'नवजीवन या प्रेमलहरी', लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' के 'वियोग' और मोहनलाल महतो 'वियोगी' के 'धुँधले चित्र' का उल्लेख इस संबंध में किया है। प्रेम की एकांगिता से अन्य भावों के विशद क्षेत्र में गद्यकाव्य के विकसित होने की संभावनाओं को मूर्त रूप देना 'अंतस्तल' का काम है। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है'—पहले तो बंग भाषा के 'उद्भ्रांत प्रेम' (चंद्रशेखर मुखोपाध्याय कृत) को देख कुछ लोग उसी प्रकार की रचना की ओर झुके, पीछे भावनात्मक गद्य की कई शैलियों की ओर। 'उद्भ्रांत प्रेम' उस विक्षेप शैली पर लिखा गया था जिसमें भावावेश द्योतित करने के लिये भाषा बीच बीच में असंबद्ध अर्थात् उखड़ी हुई होती थी। कुछ दिनों तक तो उसी शैली पर प्रेमोद्गार के रूप में पत्रिकाओं में कुछ प्रबंध—यदि उन्हें प्रबंध कह सकें—निकले, जिनमें भावुकता की झलक यहाँ से वहाँ तक रहती थी। पीछे श्रीचतुरसेन शास्त्री के 'अंतस्तल' में प्रेम के अतिरिक्त दूसरे भावों की प्रबल व्यंजना अलग अलग प्रबंधों में की गई, जिनमें कुछ दूर तक एक ढंग पर चलती धारा के बीच बीच में भाव का प्रबल उत्थान दिखाई पड़ता था। इस प्रकार इन प्रबंधों की भाषा तरंगवती धारा के रूप में चली थी, अर्थात् उसमें 'धारा' और 'तरंग' दोनों का योग था।'[1]

भावों के विश्लेषण में आचार्य जी ने या तो भावविशेष की परिस्थिति का चित्र खींचा है या उस भाव की प्रतिक्रिया का वर्णन किया है जिससे उस भाव का

१. रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५५९।

स्वरूप हृदयंगम हो सके। पहले प्रकार के वर्णन के लिये लज्जा का यह वर्णन देखिए। इसमें नायिका को प्रियतम के पास भेजने के आग्रह पर नायिका की स्थिति का चित्रण किया गया है और बताया गया है कि लज्जा में क्या दशा होती है। नायिका कहती है—'मेरी अच्छी बीबी ! बड़ी लाडो बीबी ! देखो, भला कहीं ऐसा भी होता है। राम राम ! मैं तो लाज से गड़ी जाती हूँ। तुम्हें तो हया न लिहाज ! देखो, हाथ जोड़ूँ धीरे धीरे तो बोलो ! हाय ! धीरे धीरे ! अरे नहीं, गुदगुदी क्यों करतो हो ? नोचो मत जी ! तुम्हें हो क्या गया है ? कोई सुन लेगा ! धकेलो मत, देखो मेरे लग गयी, पैर का अँगूठा कुचल गया। हाय मैया ! बड़ी निर्दयी हो, मैं तुम्हें ऐसा न जानती थी।'[1]

ऐसी ही सजीव भाषा में उन्होंने रूप, प्यार, वियोग, अतृप्ति, दुःख, अनुताप, शोक, चिंता, लोभ, क्रोध, निराशा, घृणा, भय, अशांति, कर्मयोग, दया, वैराग्य, मृत्यु, रुदन, लालसा आदि का वर्णन किया है। प्रत्येक भाव के लिये उसके अनुरूप घटनाओं की सृष्टि और उपयुक्त वर्णन उनकी विशेषता है। अतृप्ति, दुःख, अनुताप, शोक, चिंता आदि में जो अंतर है, उसे साधारणतः बताना कठिन है, पर उन्होंने अपनी सूक्ष्मदर्शिनी प्रतिभा से उनके सजीव चित्र दिए हैं। इन मनोवेगों का बहुत ही वैज्ञानिक और यथातथ्य वर्णन हुआ है। हिंदी में ऐसा भावचित्रण दूसरा कोई गद्यकाव्य लेखक नहीं कर सका, यह निर्विवाद सत्य है।

पत्नी की स्मृति में लिखे गए गद्यकाव्यों में लेखक ने उसके रूप, सौंदर्य और गुणगौरव का वर्णन किया है। ये गद्यगीत भावों पर लिखे गए लंबे गद्यकाव्यों से छोटे हैं। इनमें एक ही भावना व्याप्त है और उसी की सांकेतिक अभिव्यंजना है।

राष्ट्रीय गद्यकाव्यों में उन्होंने स्वदेश के अतीत गौरव का चित्र खींचने की ओर विशेष रुचि दिखाई है। इसके लिये वे कभी स्वदेश को एक वृद्ध तपस्वी का रूप देकर उसकी क्षमाशीलता और आक्रमणकारियों के प्रति उसकी उदार दृष्टि का चित्रण करते हैं[2]। कभी उसपर पड़ी दैवी आपत्तियों और वर्तमान दुर्दशा की याद करते हैं[3]। कभी उसे लूटनेवालों की निर्दयता की भर्त्सना करते हैं और स्वयं अशक्त होते हुए भी उसके लिये मरमिटने को प्रस्तुत होते हैं[4]। कभी उसकी सुहावनी प्राकृतिक सुंदरता पर मुग्ध हो उठते हैं[5]। 'माँ गंगी' नामक गद्यकाव्य में वाल्मीकि और व्यास के जमाने की गंगा की महिमा की तुलना मे आज की गंगा की दरिद्रता का चित्र

१. 'अंतस्तल', पृष्ठ ११।
२. 'मरी खाल की हाय', पृ० २।
३. वही, पृ० ५।
४. वही, पृ० ७।
५. वही, पृ० ६।

अंकित करके लेखक ने हमारे पतन की ओर संकेत किया है। 'तरलाग्नि' में राष्ट्रीय विकास दिखाते हुए आंदोलन के प्रमुख कर्णधारों का सांकेतिक शैली में यह वर्णन हुआ है। भारत कैसे विलास की नींद सोकर अपनी जातीयता को भूल गया, कैसे उसका नैतिक पतन हुआ, कैसे उसकी फूट से लाभ उठाकर उसे गुलाम बनाया और उसपर अनेक जातियों का राज्य हुआ। हमारे राष्ट्रीय और जननेताओं द्वारा प्रेरणा पाकर देश फिर कैसे संघठित हुआ और स्वाधीनता प्राप्त की, इसका बड़ा प्रभावोत्पादक वर्णन है। यह क्रमबद्ध इतिहास है जो काव्यात्मक शैली में लिखा गया है। वीरपूजा की भावना इसमें प्रधान है। 'तरलाग्नि' देशभक्ति को व्यक्त करनेवाला शब्द है। इसकी शैली खंडचित्रों की सी है, जैसे किसी सूचनाविभाग की फिल्म की कवित्वपूर्ण व्याख्या हो।

भाषाशैली की दृष्टि से आचार्यजी का अपना अलग स्थान है। वे तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव शब्दों को विशेष महत्व देते हैं जिसके कारण उनकी भाषा चिर-परिचित सी लगती है। उनकी भाषा बोलचाल के निकट और व्यावहारिक है जिसमें अरबी फारसी के भी शब्द अपने उपयुक्त स्थान पर आते चले जाते हैं। वे आशीर्वाद के स्थान पर 'असीस', उत्साह के स्थान पर 'उछाह', 'लक्षण' के स्थान पर 'लच्छन', उल्लास के स्थान पर 'हुलास' लिखना अधिक पसंद करते हैं। मयस्सर, सुर्खाब, तौफीक, रिजू जैसे फारसी अरबी के शब्द बोलचाल की भाषा के बीच खूब फबते हैं।

स्थानीय शब्दों और मुहावरों का प्रयोग करने में आचार्यजी को कमाल हासिल है। इस कारण उसकी भाषा में शक्ति और प्रवाह अनायास आ गया है। 'यौवन अलग सोया पड़ा था', 'मैं क्या भिखारी या नदीदा हूँ,' 'कितनी साँस भुगतनी हैं', 'पोटली रांगवाकर बाँध रही थी', आदि प्रयोगों में दिल्ली और मेरठ के बीच के गाँवों में बोली जानेवाली भाषा का स्थानीय रूप है। खड़ी बोली में स्वीकृत मुहावरों और कहावतों के बीच जब ये ग्रामीण प्रयोग आते हैं तब भाषा की शक्ति द्विगुणित हो जाती है।

आचार्यजी रूपक, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण, प्रतीप और उपमा अलंकार का विशेष प्रयोग करते हैं। अलंकार स्वाभाविक रूप से आते हैं और उनकी चलती हुई व्यावहारिक भाषा में अपूर्व शक्ति उत्पन्न कर देते है। अलंकारों से उन्हें मूर्त अमूर्त भावों के चित्रांकन में सहायता मिलती है।

इनकी शैलियाँ तो विषय के अनुरूप बदलती रहती है, पर फिर भी इन्हें वार्तालाप शैली और स्वगतकथन की शैली विशेष प्रिय है। वार्तालाप शैली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'प्यार में मिलता है। स्वगतकथन की शैली का रूप 'आशा' नामक गद्यकाव्य में मिलता है—'आशा ! आशा !! अरी भलीमानस ! जरा ठहर तो सही, सुन तो सही, कितनी दूर है ? मंजिल कहाँ है ? और छोर किधर है ? कहीं कुछ भी

तो नहीं दीखता। क्या अंधेर है? छोड़! मुझे छोड़! इस उच्चाकांक्षा से मैं बाज आया। पड़ा रहने दे, मरने दे, अब और दौड़ा नहीं जाता। ना ना, अब दम नहीं रहा, यह देखो, यह हड्डी टूट गई, पैर चूर चूर हो गए, साँसा रुक गया, दम फूल गया। क्या मार ही डालेगी सत्यानाशिनी! किस सब्जबाग का झाँसा दिया था! किस मृगतृष्णा में ला डाला मायाविनी! छोड़ छोड़! मेरी जान छोड़! मैं यहीं पड़ा रहूँगा[1]।'

वर्णनात्मक शैली 'तरलाग्नि' में और सूक्त्यात्मक शैली 'अंतस्तल' के 'पत्नी के प्रति' लिखित गद्यकाव्यों में मिलती है। कहीं कहीं वर्णनात्मक तथा स्वगतकथन शैली का मिश्रण भी हो जाता है। जैसे क्रोध, भय, कर्मयोग आदि में कोई भी शैली हो, वे सजीवता लाने का पूर्ण प्रयास करते हैं और उसमें सफल भी होते हैं। डाक्टर श्रीकृष्णलाल के शब्दों में 'चतुरसेन शास्त्री ने अपनी गद्यरचना में बातचीत का लय और संगीत स्पष्ट रूप से उतार दिया है। वही बातचीत की बेतकल्लुफी, वही रुकना, वही तोड़, वही उतारचढ़ाव और वही मनमोहकता, सभी कुछ पूर्ण रूप से मिलती है'।[2]

दिनेशनंदिनी (सन् १९१५)

हिंदी गद्यकाव्य के लेखकों में यदि किसी ने सबसे अधिक कृतियाँ दी हैं तो श्रीमती दिनेशनंदिनी डालमिया ने। आरंभ से उन्होंने गद्यकाव्य ही लिखे। पद्यकाव्य पीछे चलकर उन्होंने दिए हैं जो सफल नहीं हैं। वे हिंदी में गद्यकाव्य की लेखिका के नाते ही सदैव स्मरण की जायँगी। उनके गद्यकाव्यों में व्यक्तिगत सुखदुःख की व्यंजना प्रधान है। जनजीवन को उन्होंने नहीं छुआ। इस संबंध में उनका कथन है—'सामाजिक जीवन का मेरा अनुभव नहीं है तो मैं कैसे लिखती! बिना अनुभव के कुछ लिखना बेईमानी है। इसलिये सामाजिक जीवन पर लिखने को मुझे इच्छा ही नहीं हुई। मैं तो व्यक्तिगत ही लिखती हूँ और उसी को जग की अभिव्यक्ति समझती हूँ।' व्यक्तिगत से उनका अभिप्राय प्रेम संबंधी भावनाओं से है।

श्रीमती दिनेशनंदिनी के गद्यकाव्यों का आरंभ 'शबनम' के गद्यगीतों से हुआ है। 'शबनम' के गद्यगीतों के संबंध में श्रीरामकुमार वर्मा ने लिखा है—'दिनेशनंदिनीजी का संसार भरम और अंधकार से बना हुआ है, पर प्रकाश पाने के लिये उसके कण अनंत गति से भ्रमण कर रहे हैं। उसमें शीत का आतंक होते हुए भी वसंत की आकांक्षा है।' उसके बाद 'मौक्तिक माल', 'शारदीया', 'दुपहरिया के फूल', 'वंशीरव', 'उन्मन' और 'स्पंदन' नामक उनकी रचनाओं में सर्वत्र वही भ्रम और अंधकार का संसार है। 'उन्मन' में गहन दार्शनिकता और गंभीरता का समावेश हुआ है और

१. वही, पृ० ५२।
२. 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास', पृ० १९०-१९१।

यह आशा बँधती है कि भविष्य में लेखिका की बेचैन अनुभूति को स्थिरता प्राप्त होगी, परंतु 'स्पंदन' में वह आशा सदा के लिये नष्ट हो जाती है। 'स्पंदन' लेखिका के जीवनसाथी चुनने के बाद की रचनाओं का संग्रह है, परंतु उसमें निराशा और विषाद का जो घना वातावरण है उसे बेधकर उल्लास की कोई किरण बाहर आती नहीं दीखती। इस प्रकार लेखिका की आत्मा ने काव्य के जगत् में अपनी यात्रा जहाँसे आरंभ की थी वहीं की धूपछाँही जाली में उसकी उमंगें वैसी रह गई हैं। बीच की रचनाओं में 'दुपहरिया के फूल' में उसकी तड़प और तृष्णा अपनी चरम सीमा पर पहुँची दिखाई देती है और लगता है जैसे कि वह प्रिय के अभाव में जीवन के सुख से ही विरत है; परंतु 'वंशीरव' में प्राणों की पीड़ा ही उपचार बनने से वह फिर सयत हो गई है। यदि उनकी रचनाओं के उत्कर्ष की दृष्टि से विचार करें तो हमें तीन मोड़ मिलते है। एक तो 'शबनम' की किशोरकाल की रचनाएँ हैं, जिनमें प्राणों की पीड़ा का झुलसानेवाला रूप और आत्मसमर्पण की उत्कट लालसा का प्रदर्शन है। 'शबनम' अपने पीछे 'मौक्तिक माल' और 'शारदीया' की रचनाएँ लिए है, जो क्रमशः आशा और हर्ष के आधार पर प्रियतमप्राप्ति जनित संतोष को व्यक्त करती हैं। दूसरा मोड़ 'दुपहरिया के फूल' मे है, जहाँ एक बार कवयित्री फिर निराश और दुखी दिखाई देती हैं, परंतु यह निराशा और अज्ञान भावुकता न होकर एक यौवनसुलभ तीखापन और आत्मपीड़न है। वह 'वंशीरव' और 'उन्मन' मे क्रमशः शांत और स्थिर होता जाता है और पार्थिवता से प्रताड़ित होकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होने का उपक्रम करता है। लेकिन प्राणों की जो प्रतिदान भावना असंतुष्ट रह गई है वह नारीत्व को सार्थक किए बिना रह जाती, यह संभव नहीं था, इसलिये उसने किसी को समर्पण किया। जबतक समर्पण नहीं किया था तबतक तो वह अपने मन की पूर्णता के प्रति ललक को लेकर ही रोती हँसती थी और सोचती थी कि कभी तो पूर्णता मिलेगी और जीवन भर की खीज और असंतोष 'स्पंदन' के गीतों में समा गया। जैसे किसी उमंग और उल्लासभरे हृदय पर कोई शिला रख दे, ऐसा अनुभव होता है 'स्पदन' पढ़कर। वही पुरानी टीस है। लेखिका के शब्दों में—'स्पंदन का आश्रय सत्य वही है, जो 'शबनम' अथवा 'उन्मन' का है; पर अभिव्यक्तियाँ (माडल्स) बिल्कुल भिन्न हैं, जो पाठक की पैनी दृष्टि से सुरक्षित न रहेंगी। जीवन का पार्थिव परिवर्तन अंतर के शाश्वत क्रम को नहीं उलट सकता'।[1] तीसरा मोड़ उसके बाद के गद्यगीतों से आता है। उनमें कोई एक स्वर स्पष्ट नही। परंतु इधर उनकी जो कविता पुस्तकें निकली हैं उनमें गार्हस्थ्य जीवन की समस्याओं और मातृत्व की स्थितियों के प्रति ही झुकाव अधिक है जो संभवतः परिस्थितियों और समझौते की ओर पदसंचरण है। दूसरा उपाय भी क्या हो सकता था ?

१. 'स्पंदन' की भूमिका, पृ० ३।

अब तनिक यह देखें कि दिनेशनंदिनी के गद्यगीतों का प्रतिपाद्य क्या है? जैसा कि हम कह आए हैं, उनके गद्यगीतों में पार्थिव प्रेम की व्यंजना है। उनमें मांसलता अधिक है। उसका रूप क्या है, यह देखने से पहले उनकी इस विषय की मान्यता को जान लेना उचित होगा। वे कहती हैं—'मैं मनुष्य में मानवता देखना चाहती हूँ, देवता नहीं। इसलिये अपनी रचनाओं में मानव के शरीर के माध्यम से ही उसकी आत्मा तक पहुँचने का मेरा प्रयत्न रहा है।' इससे भी आगे बढ़कर वे प्रेम, भक्ति और आध्यात्मिकता तीनों को एक ही वस्तु मानती हैं और पार्थिव अपार्थिव में कोई भेद नहीं करना चाहतीं[१]। अभिप्राय यह है कि उनमें लौकिक प्रेम की व्यंजना का प्राधान्य है और वे उसको स्वाभाविक मानती है।

लौकिक प्रेम के प्रति इस तीव्र आकर्षण का कारण उनकी नारीभावना का ऐश्वर्य के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और भौतिकता के प्रति सहज झुकाव है। अपने को संबोधित करके एक स्थान पर वे कहती हैं कि 'हे पगली, तेरी बाली उम्र जप तप, पूजा पाठ, ध्यान धारणा का अभ्यास कर स्वर्ग की सड़क पर चलने की नहीं है[२]।' वे फलक के पैमाने में भरी हुई गुलरंग वारुणी की तलछट तक पी जाना चाहती हैं, जिससे वे दर्देजिस्म को दूना कर सकें और उसकी सुखद पीडा में अपने को भूल सकें।[३]

इस लौकिक प्रेम की व्यंजना के मूल में उपेक्षित, वंचित और निराश नारीत्व का हाहाकार है।

लौकिक प्रेम की व्यंजना के लिये कृष्णभक्तों की पद्धति को भी दिनेशनंदिनीजी ने अपनाया है। राधाकृष्ण की प्रेमलीला के माध्यम से उन्होंने अपनी भावनाओं का ही व्यक्तीकरण किया है। ऐसे गद्यगीतों में कृष्णभक्ति के कवियों की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। इनमें कभी संध्या को गाय दुहते समय राधाकृष्ण के मिलन का चित्रण हुआ है,[४] गोपीभाव से उन्होंने कृष्ण से छिपकर मिलने का वर्णन बहुधा किया है।[५]

आध्यात्मिक कोटि में ही उनके वे गद्यगीत आते हैं, जिनमें सूफीमत का प्रभाव है। 'शारदीया' और 'दुपहरिया के फूल' में ऐसे गद्यगीतों की भरमार है। इनमे प्रेम की शराब को लेकर भिन्न प्रकार से हृदय की बात कही गई है। प्रतीक भी सब फारसी शायरी के ही आए हैं।[६]

१. 'मैं इनसे मिला', पृ० १३४।
२. 'स्पंदन', पृ० ६३।
३. 'शबनम', पृ० ३३।
४. वही, पृ० ४८।
५. वही, पृ० ८७ : 'शारदीया', पृ० ३६।
६. 'शारदीया' पृ० ४६, ७८ : 'दुपहरिया के फूल', पृ० १५।

प्रकृति से दिनेशनंदिनीजी को कम अनुराग है, अतः उसका उपयोग उद्दीपन रूप में ही अधिक किया गया है।[1] चित्रों की दृष्टि से देखें तो संध्या तथा रात्रि के चित्र ही अधिक हैं, जो उनके निराश और दुखी जीवन के प्रतीक हैं। इनमें वे कभी अपनी दशा का प्रकृति से सामंजस्य करती हैं और कभी उसके द्वारा संकेत से अपनी व्यथा व्यक्त करती हैं।[2]

वृत्तियों के चित्रण और जीवन के तथ्यों की व्यंजना भी दिनेशनंदिनीजी की कृतियों में हुई है। वृत्तियों में प्रेम का ही विवेचन विशेष रूप से हुआ है। प्रेम की परिभाषा, उसका स्वरूप, उसकी रीतिनीति, उसकी जीवन के लिये अनिवार्यता आदि पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा है।[3] यह उनके जीवन का दर्शन है। वे प्रेम को महान् सत्य, सौंदर्य और चिरंतन प्रकाशपूर्ण मानती और जीवन की सरलता के लिये उसके अस्तित्व को स्वीकार करती है। प्रेम का प्रतिकार प्रेम ही हो सकता है और गुप्त प्रेम ही प्रेम की सबसे ऊँची कोटि है।

जीवन के तथ्यों की व्यंजना उन्होंने दो प्रकार से की है—१. सामान्य तथ्य-कथन के रूप में और २. समस्या के रूप में। पहले प्रकार में उन्होने अपनी सूक्तियाँ दी हैं। जैसे—'जहाँ में मृत्यु का चक्र निरंतर चल रहा है और हम जीवनतरु की शाखाओं से टूट टूटकर गिर रहे हैं',[4] 'रूह आइना है और यह तन उस पर आई हुई रज,'[5] 'दिलबर का हुस्न काजी की आँख',[6] 'प्यासे के लिये निर्मल नद हो तो भी, मृगमरीचिका की ओर ही लंबी लंबी डग भरने में विचित्र आह्लाद है।'[7]

अन्य अलंकारों में विरोधाभास, दृष्टांत, उदाहरण, प्रतीप, विशेष प्रयुक्त हुए हैं। मानवीकरण अमूर्त भावनाओं का अधिक किया गया है। कुछ मौलिक उद्भावनाएँ भी हैं, जो वैसे ही चमत्कृत करती हैं जैसा अलंकार। 'मेरा तन एक गोलाकार है और दिल उसका नुक्ता है। तुम इस आहों सनी भरम कोठरी में कैद हो गए, चाँद चमक में भरी हुई वारुणी किसी असंतुष्ट ग्रह ने चलते चलते बादलों की सतरंगी पहाड़ियों पर पलट दी है', ऐसी उद्भावनाओं का अपना अलग आकर्षण है।

१. 'शबनम', पृ० ४२; 'मौक्तिक माल', पृ० २१,३७,६५; 'शारदीया', पृ० ६२-६६।
२. 'शबनम', पृ० १३,५५; 'वंशीरव', पृ० ४२।
३. 'शबनम', पृ० ४७; 'मौक्तिक माल', पृ० १,७०,१०८; 'शारदीया', पृ० १८,२८,८१,६४; 'दुपहरिया के फूल', पृ० ३२,४५।
४. 'शबनम', पृ० ३२।
५. 'दुपहरिया के फूल', पृ० १५।
६. वही, पृ० २९।
७. 'मौक्तिक माल', पृ० ४६।

शैली की दृष्टि से संभावनाशैली, दृष्टांतशैली, पद्यतुकांतशैली, विरोधाभासशैली और सूक्तिशैली का आश्रय विशेष रूप से लिया गया है। वैसे जिस विपुल संख्या में उन्होंने गद्यगीत लिखे हैं उसमें कौन ऐसी शैली है, जिसका उदाहरण उनमें ढूंढे न मिल जाय। यों वे उर्दू, फारसी की शब्दावली के लिये ममता रखती है, परंतु संस्कृत की सामासिक पदावली वाली अलंकृत भाषा देखनी हो तो वह भी उनकी कृतियों में पर्याप्त है।[1] अरबी फारसी मिश्रित शैली का चमत्कार 'गुल दुपहरिया के फूल' में चरम सीमा पर पहुँच गया है और कुछ कुछ अस्वाभाविक सा भी लगता है। पीछे चलकर 'उन्मन' और 'स्पंदन' में शैली में गांभीर्य आने से भाषा संयत हो गई है। श्रीशिवाधार पांडेय ने 'मौक्तिक माल' की भूमिका में जो लिखा है वह उनकी गद्यशैली के लिये समग्र रूप से लागू है। वे लिखते हैं—' 'यह गद्य सजीव है, सबल-सुंदर है। उसपर आत्मा की छाप है। दिव्य की छाप है। वह भावों में गोते लगा रहा है, तारों से भाँति भाँति के स्वर निकाल रहा है, कहीं हिंदीउर्दू गले मिलती है, कहीं मुल्ला और पंडित प्रेम से पढ़ते हैं। उसमें विधना रूप बदलता है, मोहन मोहन ही ठहरते हैं। शैली में आँसू है, मुसकान है, आँच है: 'संध्या होते ही मैं सरोवर पर जा बैठी। बिना सावन के ही बदरिया झुक आई' यह गद्य की सुरीली बाँसुरी है। 'मनमृग काहे डोलत फिरे' यह पद्य की सरहद पर छाया है। 'चाँद के प्याले में अँगूर का आसव', 'एक ओर पृथ्वी की अनंत सुषमा और आह्लाद ही मदिरा होगी' दूसरी ओर 'तरल तारिककांत किरीटेंदु और तेजोमय तमाल' इधर, 'और फिर, मैं ढूंढे भी न मिलूँगी', उधर 'यह मौला ही की करतूत है'। शब्दों के लाड़ले कही कमरो में सँवार जाते है, कही आप ही आँगन में छगन मगन है। छोटे छोटे गीत बड़े बड़ों से बाजी मार ले गए है। राजहंस कहीं उड़ान ले रहे है, कहीं छीर ही छान रहे हैं। यहाँ ईरानी वारुणी है तो वहाँ भारतीय पंचामृत या गोलोक का गंगाजल[2]।'

श्री माखनलाल चतुर्वेदी (१८८८)

श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' की गद्यकाव्य की एक ही कृति 'साहित्य देवता' प्रकाशित है। यों उनके अनेक संपादकीय लेख, कहानियाँ और भाषण यदि छापे जायँ तो गद्यकाव्य के कितने ही उत्कृष्ट ग्रंथ बन सकते है। 'रंगों की बोली' नामक उनकी रचना 'हिमालय' मे प्रकाशित हुई थी, वह भी उनकी प्रौढ़ गद्यकाव्यात्मक कृति होगी। यहाँ हम 'साहित्य देवता' का ही विश्लेषण करेंगे।

१. 'शारदीया', पृ० २४,४८; 'उन्मन', पृ० १४,२१; 'वशीरव', पृ० ६।
२. 'मौक्तिक माल', पृ० २।

श्रीविनयमोहन शर्मा ने 'साहित्य देवता' की रचनाओं के तीन भाग किए हैं—(१) गद्यकाव्य, (२) गद्यगीत और (३) काव्यमय गद्य। प्रथम भाग की रचनाओं में 'मुक्ति भरत जहँ पानी', 'साहित्य की वेदी', 'असहाय नाश', 'अमर निर्माण', 'गिरधर गीत है,' 'मीरा मुरली हैं', 'लहर वीर विजया मना' आदि उद्गार आते हैं। द्वितीय भाग की रचनाओं में 'आशिक', 'असहाय श्याम घन', 'तुम आनेवाले हो', 'मुरलीधर', 'गृहकलह', 'इसी पार', 'मोहन', 'दूर की निकटता के साथी से,' आदि की गणना होगी। तृतीय भाग में 'जोगी', 'जब रसवंती बोल उठे, 'महत्वाकांक्षा की राख', 'जनता', 'अंगुलियों की गिनती की पीढ़ी,' 'शस्त्रक्रिया', 'नीलाम', 'बैठे बैठे का पागलपन', 'जीवन का प्रश्नचिह्न स्त्री' आदि रचनाएँ ली जाएँगी।

इन तीनों प्रकार की रचनाओं में सबसे प्रमुख विचारधारा राष्ट्रीयता की है। उनकी राष्ट्रीयता की कल्पना बड़ी महान् है। 'साहित्य देवता' में उन्होंने राष्ट्र का जो स्वरूप खड़ा किया है, उसमे नगाधिराज का उसका मुकुट है, गंगा यमुना का उसका हार है, नर्मदा ताप्ती की उसकी करधनी है, कृष्णा और कावेरी की कोरवाला उसका पीतांबर है, सह्याद्रि और अरावली उसके सेनानी हैं। पेशावर और भूटान को चीरकर उसकी चिरकल्याणमयी वाणी विश्व मे व्याप्त होती है, हिंद महासागर उसके चरण धोता है।[१] ऐसे देश की प्रकृति कलाकार की आत्मा को गुदगुदाकर उससे अद्भुत कृतियाँ लिखवाती है।[२] प्राचीन भारतीय गौरव और समृद्धि को स्मरण करके वे भावावेश में आ जाते हैं और कहते हैं कि यह वही भूमि है, जहाँ व्यास, वाल्मीकि, कपिल, कणाद, राम, परशुराम, बुद्ध, महावीर, रघु, दिलीप, कृष्ण, विदुर, नारद, सरस्वती, सीता, द्रौपदी, प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल, अकबर, कबीर, मीरा, सूर, चैतन्य, रामतीर्थ, तुकाराम, रामदास आदि ने जन्म लिया था।[३] देशप्रेम की बात करते समय प्रांत और जाति की सीमाओं की संकीर्णता उन्हें छू भी नहीं पाती। वे सदैव अपने देश की विराटता को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। एक स्थान पर साहित्य को दुर्गा के रूप में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने राष्ट्र की विराट्ता का ही परिचय दिया है।[४] नदीसरोवर, टीलेटेकड़ी और खेतखलिहान वाला समस्त राष्ट्र उसका सिंहासन है, संस्कृति गहना है, उथलपुथल राजदंड, किसी जाति के संकल्प और गरीबी फूलों के हार, उसके जूड़े की शोभा, और समस्त राष्ट्र के निवासियों की आत्मा ही उसका वस्त्र है। जब कभी वे राष्ट्र का उल्लेख करने का अवसर पाते हैं तब उनकी दृष्टि विशाल भारतभूमि पर ही रहती है।

१. 'साहित्य देवता', पृ० १०-११।
२. वही, पृ० ३१।
३. वही, पृ० ३५।
४. वही, पृ० ६७।

राष्ट्रीयता की इस विशाल दृष्टि के साथ दूसरी बात है वर्तमान अधोगति की ओर संकेत करते हुए उससे ऊपर उठने और उसके लिये बलिदान करने की प्रेरणा देना। इस नंदन को, जिसे वे नंदन वन से भी अधिक प्यार करते हैं, पतन के गर्त में पड़े देखकर खीझ उठते है। देश के तरुणों से अपने अस्तित्व की रक्षा का अनुरोध करते हैं। यूरोप की जातियों द्वारा प्राप्त प्रकृति पर विजय और वैज्ञानिक उन्नति का महत्व अपने देशवासियों को समझाते है। रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठाते हुए वे अन्य देशों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाना चाहते है और भारत तथा उसके निवासियों को गौरव के उच्च शिखर पर आसीन देखना चाहते हैं।[1]

दूसरी विचारधारा उनके गद्यकाव्यों में भक्तिप्रेम की है, लेकिन भक्तिप्रेम की विचारधारा भी बलिदान की भावना से युक्त है। भक्ति का आदर्श उनका क्या है यह देखिए—'मिलनसुख की माँग वह करे, जो वियोग के मूलधन को स्वीकृत करे। मुक्ति माँगना भक्तों का बाना नहीं, वे तो बाहर के वियोग को हठकर न्योतने आते हैं, उसके बिना अंतर की एकरसता का उनमें ज्वर ही नहीं चढ़ता, ज्वार ही नहीं बढ़ता। अंतर मे 'राणाजी' से 'एक हो जाना', मीरा के गिरधर का प्यार है, तुलसी के रघुनाथ की घुँघराली लटों की लटकन हैं, तुकोबाराय (तुकाराम) के विठोबा के पदों की आहट है, सूर की अपने गोपाल को बेबसी के वैभव से भरी फटकार है।'[2] उनके आराध्य राधाकृष्ण है—'वृंदावन के राजा हैं दोउ श्याम राधिका रानी। वारि पदारथ करत मजूरी मुक्ति भरत जहँ पानी।'[3]

चतुर्वेदीजी साहित्य और कला के यथार्थ रूप के उपासक हैं, इसलिये उनके गद्यकाव्यों में स्थान स्थान पर साहित्य और साहित्यकार, कला और कलाकार के कर्तव्य, उनके महत्व, उनके वास्तविक स्वरूप पर विचार व्यक्त किए गए है। राजनीति में क्रियात्मक योग देकर भी ये उसके दास नहीं बने। 'आशिक' शीर्षक गद्यकाव्य में 'साहित्य और राजनीति' के स्वरूप की सांकेतिक व्यंजना करके उन्होंने राजनीति को साहित्य के चरणों में नत करा दिया है। वे साहित्यकार को अपने जमाने की उथल-पुथल का संदेशवाहक बना हुआ देखना चाहते है। कविता और तरुणाई उनके लिये एक ही वस्तु के दो नाम है[4]।

गांधी और विनोबा के आदर्शों को आत्मसात् करने के कारण पतनोन्मुख शृंगारी कविता और बुद्धिवादी कुतूहलपरक रचनाओं को वे पसंद नहीं करते।

१. 'साहित्य देवता', पृ० ६३।
२. वही, पृ० १८।
३. वही, पृ० १३।
४. वही, पृ० ७१।

श्रृंगारी कविता पर उन्होंने करारा व्यंग्य किया है[1]। सच्चे कवियों का अभाव भी उन्हें अखरा है—'तुकी बेतुकी तितलियाँ बहुत हैं, प्रभुबोभीले, नभविच्छेदी गरुड़ का पता नहीं।' उन्हें अपने साहित्य के खोखलेपन पर बराबर खीझ और आत्मग्लानि का अनुभव होता है। वे कहते हैं—'हमने जो कुछ अपनी कृति से निर्माण किया वह देश की पराधीनता और साहित्य के दिवालिएपन के रूप में हमारे सामने है। यदि हम पतन के खिलाफ विद्रोह न कर सकें तो हमें आज अपने खिलाफ विद्रोह स्वीकृत करना चाहिए। फ्रेंच और जर्मन, रूसी और इंगलिश—इनके साहित्यों का आदान प्रदान है। भाईचारे की भेंट की तरह एक भाषा दूसरी भाषा से यदि कुछ लेती है तो कुछ देती भी है किंतु हमारे साहित्य में तो हम भिखमंगों की तरह लेते हैं। देने को हमारे पास क्या है? जब हम अपने देश की भाषाओं से ही आदानप्रदान या संबंध स्थापित नहीं करते तब पश्चिम की उन्नत भाषाओं से तो भाईचारा क्या स्थापित करेंगे[2]? परंतु वैज्ञानिक विकास को हृदयवान मानव का नाश कहते हैं। और मशीनों का विरोध करते है।

भाषाशैली की दृष्टि से चतुर्वेदीजी हिंदी गद्यकाव्य के लेखकों में सबसे भिन्न पथ के अनुयायी हैं। न वे केवल अलंकारों से अपनी भाषा को सजाते हैं, न क्लिष्ट शब्दों और समस्त पदावली से उसे प्रभावोत्पादक बनाते हैं। वे अपने भावों और विचारों की प्रकृति के अनुकूल भाषा का निर्माण करते हैं और अपनी मनोगत भावनाओं को व्यक्त करने के लिये शब्दनिर्माण और वाक्यगठनमें जितनी स्वतंत्रता वे बरतते हैं उतना हिंदी का दूसरा गद्यकाव्य लेखक नहीं। वे एक तो नए ढंग से विशेषण बनाते हैं और दूसरे विशिष्ट प्रकार की भाववाचक संज्ञा का प्रयोग करते हैं। विशेषणों मे 'दूबीले, सरखीले, बोझीले, दरदीले' जैसे रूप मिलते है और भाववाचक संज्ञाओं में 'तरलाई, तरुणाई, सरलाई और पुन्याई'—जैसे रूप। 'उज्जवल उदासीनता' और 'उदार कंजूसी'—जैसे शब्दों में भाववाचक संज्ञा के लिये विरोधी विशेषण लगाकर चमत्कार पैदा करते है। विरोधाभास से युक्त व्यंग्य लिखने में तो उनकी जोड़ का कोई व्यक्ति है ही नहीं। एक दो उदाहरण देखिए:

१—मेरा तो विचार है कि जो लोग बोलने का काम किया करते हैं वे काम का बोलना बहुत कम बोल पाते हैं[3]।

२—फुरसत की घड़ियाँ कुछ लोगों की सनक की घड़ियाँ हैं, कुछ लोगों की लाचारी की घड़ियाँ, कुछ लोगों की काहिली की घड़ियाँ हैं। और कुल लोगों के नाश की घड़ियाँ है। फुरसत की घड़ियाँ और वैसी ही फुरसत की घड़ियाँ कला के

१. वही, पृ० ३७-६२।
२. वही, पृ० ५६।
३. वही, पृ० ११७।

अस्तित्व की घड़ियाँ हैं। यहाँ कला पुरुषार्थवती होती है और पुरुषार्थ कला के चित्रों का रंग बन जाता है[1]।

नई नई सूझें और उपमा तथा रूपक अलंकार उनकी शैली की दूसरी विशेषता हैं :

जीवन को 'साँसो का हाजिरी का रजिस्टर', साहित्य को 'स्याही का शृंगार', मनुष्य को 'साँस लेता मिट्टी का घड़ा', युवकों को 'नई रेखों और बेमूँछों की दुनिया' आदि कहने में उनकी मौलिक सूझ और अद्भुत चिंतनशक्ति का परिचय मिलता है[2]।

महाराजकुमार डा० रघुबीरसिंह (सन् १९०८)

महाराजकुमार डाक्टर रघुबीरसिंह इतिहास के विद्वान् और अनुसंधानकर्त्ता के रूप में सुविख्यात हैं। उनकी गद्यकाव्यात्मक कृतियों में भी इतिहास को ही आधार बनाया गया है। उनकी 'शेष स्मृतियाँ' ऐतिहासिक गद्यकाव्यों की पुस्तक है। ऐतिहासिक गद्यकाव्य लिखनेवाले ये हिंदी के एकमात्र लेखक हैं। 'शेप स्मृतियाँ' में पाँच भावात्मक निबंध हैं, जिनका आधार ताजमहल, फतहपुर सीकरी, आगरा का किला' लाहौर की तीन (जहाँगीर, नूरजहाँ और अनारकली की) कब्रें और दिल्ली का लालकिला है। अपने इन निबंधों में महाराजकुमार ने अकबर के समय से लेकर बहादुर शाह 'जफर' के समय तक के मुगलकालीन इतिहास पर भावुकता से विचार किया है।

मुगल साम्राज्य के वैभव को उन्होने एक स्वप्न कहा है। वह स्वप्न टूट गया तो उसकी स्मृति ने हृदय को दबा लिया। स्मृति के कारण एक बार उस स्वप्न का फिर साक्षात्कार करना पड़ा। महाराजकुमार लिखते हैं—'उन भग्न खंडहरों में घूमते घूमते दिल में तूफान उठता है, दो आहें निकल पड़ती है, उसासें भर जाती है, आँसू ढुलक पड़ते हैं, और उफ ! इन खंडहरों में भी जादू भरा है। समय को भुलावा देकर अब वे मनुष्य को भुलावा देने का प्रयत्न करते हैं। भग्न स्वप्नलोक के, टूटे हृदय के, उजडे स्वर्ग के उन खंडहरों ने भी एक कल्पनालोक की सृष्टि की। हृदय तड़पता है, मस्तिष्क पर बेहोशी छा जाती है। स्मृतियों का बवंडर उठता है, भावों का प्रवाह उमड़ पड़ता है, आँखें डबडबाकर अंधी हो जाती हैं और अब विस्मृति की वह मादक मदिरा पीकर—नही समझ पड़ रहा है, किधर बहा जा रहा हूँ'।[3] इन करुण स्मृतियों के मस्ताने दिनों, उनके उत्थान और पतन के चित्रों को लेकर महाराजकुमार ने भूतकाल की एक सरस झाँकी प्रस्तुत की है। क्यों की है ? यह उनकी विवशता है। जो एक बार उस स्वप्नलोक में विचरण कर लेगा वह बिना उसकी उजड़ी शोभा पर अश्रु

१. वही, पृ० २४।
२. वही, पृ० ५३, ५, ६६, ६४।
३. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ५१।

बहाए और उसके भूल को याद किए, रह नहीं सकता—'आह, स्वप्न में भी स्वर्ग चिरस्थायी नहीं होता'।

महाराजकुमार ने खंडहरों को और उनके पत्थरों को सजीवता प्रदान की है। जहाँ कहीं उनका हृदय भावावेग से पूर्ण हुआ है, पत्थरों को उन्होंने रुलाया है या प्राचीन वैभव को याद में बावला बनाया है—'आज भी उन सफेद पत्थरों से आवाज आती है—'मैं भूला नहीं हूँ।' आज भी उन पत्थरों में न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रतिवर्ष उस सुंदर साम्राज्ञी की मृत्यु को यादकर मनुष्य की करुणाकथा के इस दुःखांत को देखकर पिघल जाती है और उन पत्थरों में से अनजाने एक आँसू ढलक पड़ता है।[1]

मुगल वैभव के इन खंडहरों में घूमते हुए महाराजकुमार ने जीवन के उतार चढ़ाव की आलोचना करते हुए इतने तथ्यों का समावेश कर दिया है कि वे मिलकर मनुष्य के लिये जीवनपथ का संबल बन जाते हैं। वे कभी किसी सम्राट् की कब्र पर खड़े होकर जीवन की नश्वरता की ओर संकेत करते हैं, कभी विलासवर्णन करते हुए मानवी इच्छाओं की निरंतर बढ़ती हुई परिधि का, कभी संघर्ष में पड़े मनुष्य की स्थिति का चित्र देते हैं, कभी संसार से उपेक्षित व्यक्ति की करुणा का। इस प्रकार अनेक सूक्तियाँ और दार्शनिक विचार बीच बीच में अँगूठी में नगीने की तरह जड़े हुए हैं, जो एक ओर निबंधों में गंभीरता लाते हैं तो दूसरी ओर उनकी चिंतनशक्ति को प्रकट करते हैं।

संभावना और अनुमान के आधार पर जब वे भावुकतापूर्ण वर्णन करते हैं तो एक विचित्र करुणा और विषाद की सृष्टि हो जाती है। ऐसा करते समय वे अतीतकालीन रागरंग और विलासक्रीड़ा को मूर्तिमान कर देते हैं।

महाराजकुमार को रूपक, मानवीकरण और उत्प्रेक्षा, तीन अलंकार विशेष प्रिय हैं। सीकरी को वृक्ष का रूपक देते हैं। 'तीन कब्रों' में साम्राज्य का और 'उजड़े स्वर्ग' में दिल्ली नगरी का, मानवीकरण तो अत्यंत ही सुंदर है। उत्प्रेक्षाओं की तो भरमार ही है, क्योंकि उनके वर्णन का आधार ही संभावना है। अतिशयोक्ति, अर्थांतर-न्यास, उपमा आदि अलंकार भी कहीं कहीं आए हैं।

लेकिन अलंकारों से भी अधिक महाराजकुमार की भाषाशैली का आकर्षण उनकी वर्णनशैली है, जिसमें एक दर्द और कराह का स्वर झंकृत है। विलासपूर्ण भवनों का तथा उनके शासकों की मानसिक स्थिति का सजीव चित्र अंकित करने में उनकी वर्णनशैली का चमत्कार स्थान स्थान पर देखा जा सकता है। यद्यपि उनकी शैली विक्षेपशैली है तथापि लययुक्त प्रवाही भाषा की उनमें कमी नहीं है—'अगर कुछ बाकी बचा है तो वह केवल सुनसान भवन रंगमंच, जहाँ दिव्य स्वप्न आया था,

१. वही, पृ० ७०।

जहाँ जीवन का अद्भुत रूपक खेला गया था, जहाँ कुछ काल के लिये समस्त संसार को भूलकर अकबर ऐश्वर्यसागर में गोते लगाने के लिये कूद पड़ा था।'[1]

विक्षेपशैली के लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—'पत्थर, पत्थर—अरे! उस भौतिक स्वर्ग के पत्थरों तक में यौवन छलक रहा था, उनतक में इतनी मस्ती थी, तब वह स्वर्ग....और उसके वे निवासी....उनको भी मस्त कर देनेवाली, उन्मत्त बना देनेवाली मदिरा....आठो पहर मस्ती में झूमनेवाले स्वर्गनिवासियों के उन स्वर्गीय शासकों को भी मदोन्मत्त कर सकनेवाली मदिरा....उसका खयाल मात्र ही मस्त कर देनेवाला है, तब उसकी एक घूँट, एकदम भरा प्याला....।'[2]

उनकी भाषा में अरबी, फारसी, संस्कृत आदि के शब्दों का ऐसा मेल है कि कहीं से उनकी भाषा शिथिल और गतिहीन नहीं जान पड़ती। एक सा प्रवाह चला जाता है। पौराणिक संकेतों द्वारा भाषा में वे और भी चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं— 'समुद्रमंथन के समय कालकूट विष के बाद श्वेत वस्त्र पहने, हाथ में अमृत का कमंडल लिए ज्यों ही धन्वंतरि निकले त्यों ही साम्राज्यस्थापना में मोह तथा उद्दाम वासनाओं के भीषण अंधड़ के बाद निकला वह प्रेमामृत, वह धवल प्रेम स्मारक और उसे संसार को प्रदान किया उस श्वेत वसनवाले वृद्ध शाहजहाँ ने।'[3]

'जीवनधूलि' नामक उनका एक और गद्यकाव्य का संग्रह है, जिसमें १८ गद्य-गीत हैं। इन गद्यगीतों में 'यौवन की देहली पर', 'जीवन के द्वार पर' और 'यौवन की खुमारी' में जीवन की तीनों अवस्थाओं—बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था के चित्र है। 'कब का खड़ा पंथ निहारूँ' में प्रकृति में प्रभु की रहस्यात्मक अनुभूति है, 'आदेश' और 'क्या पुनः गीता का संदेश न सुनाओगे' महाभारत और गीता के कृष्ण के कर्मयोगी स्वरूप से संबंध रखते है। 'वह सौंदर्य', 'उसका कारण', बिखरे फूल', 'अतीत स्मृति', 'दो बातें', 'दुराशा' क्रमशः माली, पुष्प, दीपक और समुद्र पर अन्योक्ति हैं। 'वह प्रवाह' में गंगा को संबोधितकर उसकी महत्ता को उद्घाटित किया गया है और अंतिम तीन गीत पथिक से संबंध रखते हैं। ये गद्यगीत आकार में छोटे हैं, अन्यथा भावना और अभिव्यक्ति का ढंग वही है। एक ओर आरंभ के गद्यगीतों में जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के चित्र हैं तो दूसरी ओर पीछे की अन्योक्तियों में जीवन के सत्य का उद्घाटन है। भाषाशैली वही है जो 'शेष स्मृतियाँ' की है। हाँ यहाँ उनका विचारक का रूप अधिक निखरा है, जो स्वाभाविक ही है; क्योंकि उत्तरोत्तर भावुकता की परिणति चिंतनशीलता में ही होती है?

१. वही, पृ० ९३,१२३,१२४।
२. वही, पृ० १३०।
३. वही, पृ० १२०।

अन्य लेखक

श्रीभँवरमल सिंघी

सिंघीजी की 'वेदना' हिंदी गद्यकाव्य की अद्वितीय कृति है। यह बड़ी प्रौढ़ रचना है। इसमें परमप्रिय के प्रति लेखक के हृदय के विरहोद्गारों का वर्णन है। स्वयं लेखक ने 'वेदना' के निवेदन में लिखा है: 'यह कविता नहीं वेदना की वह डलिया है, जिसमें मैंने उसी का दान सिमटा कर रखा है, उसी की दी हुई मधुकरियाँ भरी हैं।' 'बिना वेदना के न तो कविता की साधना हो सकती है और न परम प्रभु का साक्षात्कार,' इस सिद्धांत को आधार बनाकर लेखक चला है। इसलिये उसकी अभिव्यक्ति रहस्यवादी हो गई है। उसकी दृष्टि में समस्त सृष्टि रहस्यमयी है और किसी अज्ञात की कहानी कहती है। वह अज्ञात रूपरंगहीन है। उसी ने प्रेम करना सिखाया है। उसके प्रेम के कारण यह चेतना उत्पन्न हुई है कि यह जीवन जड़ताग्रस्त रहने के लिये नहीं है। इस चेतना के उत्पन्न होने से वह अनंत सागर में अपनी जीवन-सरिता को पहुँचाने के लिये लालायित है। इस अनुभव के साथ उन्हें दूसरा अनुभव यह होता है कि जीव और ब्रह्म कभी एक थे, पर जब बिछुड़ गए तो ऐसे बिछुड़े कि युग युग से मिलने का प्रयत्न कर रहे हैं, पर मिल नहीं पाते। इस अनुभव के द्वारा वह इस आशा में है कि उसका प्रिय उसे अपने रंग में रँग ले और वह सदा उससे अभिन्न रहे। प्रेम को उन्होंने ज्ञान और उपासना से श्रेष्ठ माना है इसलिये वियोग उसके जीवन का आधार है। संभवतः यही कारण है कि पपीहे से वे वियोग की साधना सीखना चाहते हैं। इस प्रकार प्रियतम के साथ एकाकार होने की तीव्र अभिलाषा तथा उसके विरह में प्रतिक्षण व्याकुल रहने की स्थिति का चित्रण 'वेदना' का प्रतिपाद्य है।

भाषाशैली की दृष्टि से 'वेदना' का विशेष महत्व है। राय कृष्णदास की रहस्यानुभूति, वियोगी हरि की भक्तिभावना और दिनेशनंदिनी की लौकिक प्रेमव्यंजना को मिलाकर जो रूप होगा, वही 'वेदना' के गद्यगीतों का रूप है। राय कृष्णदास की भाँति कुछ स्थानीय अथवा निजी प्रयोग उसकी भाषा को मार्मिक बनाते हैं। जैसे 'मातल थपेड़े', 'झुझुमता', 'आग जहूर उठी' आदि। दिनेशनंदिनी की भाँति 'तिलमिलाता समर्पण', 'जीवन की ढकती उघड़ती तह', 'मदकची कलियाँ' 'बहुविसर्जित सपने' आदि वेदना की तीव्रता को व्यक्त करनेवाले शब्द भी बनाए हैं और वियोगी-हरि की दार्शनिक शब्दावली की भाँति 'मसृण', 'प्रोल्वण कामना' जैसे क्लिष्ट शब्दों का भी प्रयोग किया है। पुनरुक्ति के प्रति उसका आग्रह कहीं कहीं सीमोल्लंघन अवश्य कर गया है।

श्रीब्रह्मदेव

श्रीब्रह्मदेव जी के गद्यगीतों के दो संग्रह हैं—एक है 'निशीथ' और दूसरा है 'आँसू भरी धरती।' 'निशीथ' के गीतों के संबंध में श्रीविश्वंभर 'मानव' ने लिखा है:

'ये गीत अर्चना के गीत हैं—उस परम पुरुष को समर्पित हैं। लेखक उसे कभी प्रभु, कभी स्वामी, कभी पिता, कभी बंधु, कभी प्रिय और कभी अंतर्यामी कहकर संबोधित करता है।'[1] इन गीतों में लेखक अपने को इस संसार का निवासी नहीं मानता, वरन् उस दूर के नीहार प्रदेश का अधिवासी मानता है, और उस पार पहुँचने के लिये व्यग्र है। वहाँ पहुँचकर उसकी आत्मा जड़ता के बंधन से छूट जायगी और वह अनंत में मिल जायगा।

'आँसू भरी धरती' पूज्य बापू तथा गुरुदेव की स्मृति में समर्पित है। इसके दो भाग हैं—'आँसू भरी धरती' और 'नृत्य भैरव'। 'आँसू भरी धरती' वाले भाग की रचनाओं में भारतभूमि की प्रशंसा, गांधी और रविबाबू के महाप्रयाण, पंजाब का हत्याकांड, शरणार्थी आदि विषयों पर लेखक ने मार्मिक रचनाएँ दी हैं। भारतवर्ष को 'देव' और 'भारतभूमि' को 'माँ' कहकर संबोधित किया गया है। भगवान् बुद्ध का देश 'भारत ही विश्वव्यापी नरसंहार और अनाचार के अंधकार को दूर करके शांति का प्रकाश फैला सकता है', यह लेखक का दृढ़ विश्वास है। गांधी के मानस में बैठकर विश्व की हिंसा पर उनकी विषादपूर्ण मुद्रा का, नोआखली की महत्वपूर्ण यात्रा का और बध वाली अभागिनी संध्या का करुणाजनक वर्णन है। 'नृत्य भैरव' में चीन, जापान और हिरोशिमा की युद्धजनित स्थिति का उल्लेख है। युद्ध रोकने और शांति अपनाने का अनुरोध इन कविताओं का प्राण है। 'फुटपाथ' और 'कलाअर्चा' में कलकत्ता नगरी में भिखमंगों और निम्न वर्ग की यथार्थ स्थिति का दिग्दर्शन है। करुणा इसका केंद्रीय भाव है। एक वाक्य में सहृदय पाठक के हृदय को भारी और आँखों को सजल बनानेवाली करुणा के साथ विश्वकल्याण की कामना लिये यह कृति युग की सजीव प्रतिकृति है।

इन गीतों में संगीत और नाद के समावेश और टेक के साथ आरंभ और अंत होने से अद्भुत सौंदर्य आ गया है। भाषा में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्राचुर्य है। उनकी कल्पना बड़ी प्रखर है। शैली की दृष्टि से 'निशीथ' में आत्मनिवेदन शैली है तो 'आँसू भरी धरती' में संबोधनशैली और वर्णनशैली। पहली में यदि आध्यात्मिक गद्यकाव्यों के सूक्ष्म संकेतों का आकर्षण है तो दूसरी में यथार्थ जीवन का पूर्ण चित्र। गंभीर व्यथा का प्रकाशन समान रूप से हुआ है।

श्रीरामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी'

रावीजी के गद्यगीतों के दो संग्रह हमें उपलब्ध हैं। पहला 'पूजा' और दूसरा 'शुभ्रा'। पहले संग्रह के गद्यगीतों का संबंध आध्यात्मिक अनुभूति से है और दूसरे का नारी के पवित्र प्रेम से। रावीजी राधास्वामी संप्रदाय में दीक्षित हैं और थियोसाफिकल सोसायटी से संबद्ध। इसलिये एक ओर उनके आध्यात्मिक गीतों में कबीर आदि संत

१. 'संमेलन पत्रिका', भाग १६, संख्या १-३, कार्तिक-पौष, २००५।

कवियों की भाँति उस निर्गुण निराकार के प्रति अपना प्रेमनिवेदन है तो दूसरी ओर विश्वकल्याण की कामना का व्यक्तीकरण। राधास्वामी संप्रदाय में भी संतों की ही बानियों का विशेष महत्व है। उन्होंने उस प्रभु को प्रियतम, प्यारे, जीवन नौका के कर्णधार, जीवन के समुद्र, जीवनधन, मोहन, सखे, सर्वस्व, साधनाओं के सर्वस्व आदि कहकर आत्मनिवेदन किया है। जब कभी उपालंभ देने की सोची है तो बधिक, वंचक और निर्मम कहकर संबोधित किया है। संबोधनों में प्रियतम ही सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है। कवि सदैव उस असीम के साथ आलिंगित रहने की कामना करता है। कबीर और मीरा की भाँति प्रियतम का पथ उसे भी दूर और कठिन जान पड़ता है। वियोग की पीड़ा और प्रतीक्षा का वर्णन बार बार किया गया है। लेकिन केवल रहस्यात्मक अनुभूति का ही चित्रण नहीं है, भक्त की भाँति प्रभु के समीप रहने की और सर्वस्व समर्पण करने की स्थिति का भी चित्रण है। साथ ही प्रभु के दयादाक्षिण्य, उसकी भक्तवत्सलता तथा उसकी महत्ता और दीनता, विकलता तथा असमर्थता का भी वर्णन है।

'शुभ्रा' लेखक ने मानवसहचरी मानवी को लक्ष्य करके लिखी है। 'शुभ्रा की बात' में लेखक ने यह बताया है कि शुभ्रा उसकी कल्पना भी है और संसार में अपना अस्तित्व रखनेवाली भी है। अभिप्राय यह है कि 'शुभ्रा' द्वारा नारी के संबंध में अपनी मान्यताओं का उल्लेख करना ही उसका उद्देश्य रहा है। इन गीतों की नारी सर्वथा मानसिक प्रेयसी है, जिससे स्वप्न और कल्पना के सहारे लेखक बराबर मिलता रहता है। लेखक की मान्यता है कि प्यार यदि शारीरिकता तक सीमित नहीं है तो एक स्त्री कई पुरुषों से और कई पुरुष एक स्त्री से प्यार कर सकते हैं।

भाषाशैली की दृष्टि से इन गीतों की विशेषता उनकी सादगी है। कहीं भी कोई क्लिष्ट शब्द नहीं है। सर्वत्र सरल और बोधगम्य भाषा है। हाँ, लेखक की नवीन दार्शनिक अभिव्यक्ति को समझने में अवश्य कठिनाई होती है। गीतों में कहीं भी विह्वलता या अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नहीं है। ये गीत पवित्र और सात्त्विक प्रेम की व्यंजना का उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करते हैं और इनमें व्यक्त भावनाएँ लेखक के चिंतक और दार्शनिक रूप को व्यक्त करती हैं।

श्री अज्ञेय

अज्ञेयजी के गद्यगीत पहले 'भग्नदूत' कवितासंग्रह में प्रकाशित हुए थे। ये संख्या में २१ हैं, जिनकी प्रेरणा का स्रोत प्रेमभावना है। इसमें पहला गीत 'इंदु के प्रति' है। नारी के प्रति लेखक की सम्मानभावना का पता इस गीत से चलता है, क्योंकि इसमें लेखक ने अपने इस निश्चय की सूचना दी है कि वह उसके कलंक से लाभ उठाकर उसे प्राप्त नहीं करना चाहता। प्रेमिका के प्रति पूजाभाव से ये गीत सुवासित हैं। 'प्रेम के लिये प्रेम' के सिद्धांत में विश्वास होने के कारण कहीं भी वासना उभरकर

नहीं आई। भाव की अपेक्षा इन गीतों में विचार की प्रधानता है। प्रेम, नियति, संसारसुख आदि पर लेखक ने अपने विचार दिए हैं। अन्योक्तिपद्धति द्वारा जीवन के सत्य की व्यंजना भी हुई है, जैसे—'फूल' और 'सलिल' गद्यगीतों में। अंग्रेजों के प्रति घृणा और बंदीजीवन के चित्र भी हैं, जो अज्ञेयजी के क्रांतिकारी जीवन के ऊपर प्रकाश डालते हैं।

'चिंता' में भी गद्यगीत हैं और वे भी कविताओं के साथ। लेकिन यहाँ दोनों चीजें एक ही विचारधारा के आश्रित हैं और वे भी पुस्तक के दो भागों में हैं—'एक विश्वप्रिया' और 'दूसरा एकायन'। लेखक के ही शब्दों में 'पुस्तक के दो खंडों में क्रमशः पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण से मानवीय प्रेम के उद्भव, उत्थान, विकास, अंतर्द्वंद्व, ह्रास, अंतर्मंथन, पुनरुत्थान और चरम संतुलन की कहानी कहने का यत्न किया गया है। कहानी वर्ण्यविषय की भाँति ही अनगढ़ है और जैसे प्रेमजीवन के प्रसंग गद्यपद्यमय होते हैं, वैसे ही यह कहानी भी गद्यपद्यमय है। दोनों खंडों के नामों में संकेत रूप से पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण का निर्देश है।'[1] पुरुष और स्त्री के पारस्परिक संबंध के विषय में उसका कहना है: 'पुरुष और स्त्री का संबंध पति और पत्नी का नहीं, चिरंतन पुरुष और चिरंतन स्त्री का संबंध अनिवार्यतः एक गतिशील (डाइनैमिक) संबंध है।'[1]

नारी को अपनी इसी मान्यता के अनुसार उन्होंने सभमुखद् खिनी, संगिनी और प्राणभार्या माना है।

इस मान्यता के कारण उनके जीवन में मिलन से एक तीव्र वेदनाभरी अनुभूति होती है, आनंद की प्राप्ति नहीं। उनके लिये मिलन नीरस और आकर्षणहीन वस्तु है। इसलिये वे तृष्णा को ही जीवन मानते हैं और अप्राप्ति की पीड़ा को उसका ध्येय। बात यह है कि प्रणय की चरम सीमा में दो व्यक्तित्व लय होकर एक हो जाते हैं और अज्ञेयजी अस्तित्व की रक्षा के साथ प्रेम करने के पक्ष में हैं।

जहाँतक भाषाशैली का संबंध है, संस्कृत की ओर झुकी हुई होने पर भी मनोवैज्ञानिक शब्दावली के कारण उनकी भाषा की नवीनता पाठक को अपनी ओर खींचती है। 'रहशील', 'उत्सर्ग चेष्टा', 'मंगल वस्त्र', 'अटल मनोनियोग', 'इच्छाकाल', 'निरर्थक तुमुल', 'निरपेक्ष दानशीलता' जैसे शब्द उन्होंने संयोजित किए हैं, जिनसे विचारोंके यथातथ्य रूप में प्रकट होने में सहायता मिलती है। चमत्कारप्रदर्शन की अपेक्षा सीधी सादी बात कहना लेखक को प्रिय है। हाँ, 'क्षेत्रविशेष में मानव के अंतर्भावों का यथासंभव स्वाभाविक और निराडंबर प्रतिचित्रण' करने की चेष्टा उसने अवश्य की है, इसलिये उसके गद्यगीतों से सहज ही रस ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसके लिये बौद्धिकता की कुछ ऊँची भूमि अपेक्षित है।

१ 'चिंता' की भूमिका, पृ० ५-६।

श्रीशांतिप्रसाद वर्मा

आपके गद्यकाव्यों का संग्रह 'चित्रपट' नाम से प्रकाशित हुआ है। श्रीरामनाथ 'सुमन' ने 'दो बातें' में इसको हिंदी के उत्कृष्ट गद्यकाव्यों का तीसरा या चौथा संग्रह माना है। ये गद्यकाव्य उस असीम चिर सुंदर को संबोधित करके लिखे गए हैं। उससे मिलन का साधन हमारे पास इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि हम उसके यदाकदा अनुभव होनेवाले स्पर्श के आनंद को शब्दों में बाँध दें : 'जीवन में अनेक बार तू हृदय को स्पर्श करता है। तेरे प्रेमकोमल स्पर्श में न जाने कितने भाव और कितने तूफान उठते हैं। कुछ चले जाते हैं, कुछ रह जाते हैं। जो रह जाते हैं उनमें तेरे हल्के स्पर्श को कलाविद् बाँधना चाहता है। उसके पास तेरे मिलन का यही साधन है।' वर्माजी ने इन हल्के स्पर्शों को शब्दों द्वारा बाँधा है और अपने आराध्य के समक्ष आत्मा की निधियाँ खोल दी हैं। वे उस महा संगीत की स्वरलहरी सुनने को व्याकुल हैं। आध्यात्मिकता का गहरा पुट उनके गद्यगीतों में होने के साथ ही प्रकृति में प्रभु का दर्शन भी उन्होंने किया है।

भाषाशैली सर्वत्र एक सी है। आत्मनिवेदन के ढंग पर ही विचार और भाव व्यक्त हुए हैं। 'प्रियतम' तथा 'सुंदर' का संबोधन कहीं कहीं मिलता है। अरबी, फारसी के शब्दों की ओर उनका झुकाव नहीं है और भाषा परिष्कृत तथा प्रांजल हिंदी है। उनकी भाषाशैली का संयत रूप यह है : 'वसंत अधखिली कलियों की माला लेकर मेरे द्वार पर आया है, परंतु अभी पतझड़ समाप्त नहीं हुआ। नव जीवन-युक्त वृक्षों पर पीले पत्ते लदे हैं। मानो प्रभात ने रजनी का अंचल पकड़ रखा है, मानो हमारे होनहार प्राचीनता के सड़ेगले विचारों को छोड़ने में संकोच कर रहे हैं।' प्रतीकात्मकता और चित्रोपमता में 'साधना' की शैली अपनाई गई है।

श्रीरामकुमार वर्मा

वर्माजी के 'हिमहास' नामक गद्यकाव्यसंग्रह में उनकी काश्मीरयात्रा के प्रभाव से लिखे गद्यगीत हैं। काश्मीर के सौंदर्य को देखकर उनके हृदय में जो भावनाएँ और कल्पनाएँ उठी हैं उन्हीं को उन्होंने इन गद्यखंडों में बाँध दिया है। आरंभ के १६ गद्यगीत बड़े हैं और शेष ७ गद्यगीतों में 'निर्झर', 'बादल, 'पुष्पराजि,' 'शैलशृंग', 'हिमहास' आदि शीर्षकों के अंतर्गत प्रकृति की इन वस्तुओं को अनेक प्रकार से देखा गया है। बड़े गद्यगीतों में वे प्रकृतिसौंदर्य पर मुग्ध होकर उसका वर्णन करते हैं और अंत में आध्यात्मिक या नैतिक पुट देकर नाटकीय प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं, जो बड़ी देर तक हृदय में गूँजता रहता है। छोटी कल्पनाओं और भावनाओं में आलंकारिक उक्तियों की अद्भुत छटा है। अधिकांश भावखंड प्रेयसी को संबोधित करके लिखे गए हैं। प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना इनकी विशेषता है। वस्तुतः 'हिमहास' अपने ढंग की अकेली रचना है जो प्रकृति के आधार पर रहस्यात्मक अनुभूति या जीवनव्यापी सत्यों की व्यंजना करती है।

श्रीतेजनारायण काक 'क्रांति'

श्रीतेजनारायण काक 'क्रांति' ने हिंदी गद्यकाव्य को दो कृतियाँ दी हैं—एक 'मदिरा' तथा दूसरी 'निर्झर और पाषाण'। मदिरा में 'गीतांजलि' का प्रभाव स्पष्ट है, परंतु उनकी अभिव्यक्तिप्रणाली अनूठी है। राय कृष्णदासजी की 'साधना' के बाद इतनी सुंदरता से 'गीतांजलि' के भावों के आधार पर किसी दूसरे लेखक ने कोई रचना नहीं दी। 'मदिरा' के गद्यगीतों की विशेषता यह है कि वे कहीं कहीं दो दो, तीन तीन पंक्तियों में ही समाप्त हो जाते है। लेकिन ऐसे गद्यगीतों में प्रधानता भाव की ही रहती है, उक्तिचमत्कार की नहीं। जैसे: 'श्यामघन ! मेरे इस छोटे से मृत्तिका पात्र में अपने प्रेम का स्वच्छ जल भर दो ताकि स्वयं तुम्हारा सुंदर स्वरूप ही इसमें प्रतिबिंबित हो उठे।' अनुभूति की प्रखरता और गहराई के भी अनेक गीतों में दर्शन होते हैं। भाषा परिष्कृत, प्रांजल और संस्कृतगर्भित हिंदी है। सूफी प्रभाव से ये गद्यगीत कुछ अधिक मस्ती से भर गए है।

'निर्झर और पाषाण' भिन्न शैली की रचना है। इसमें लेखक विचारक के रूप में संमुख आया है। खलील जिब्रान की दृष्टांतशैली का सफल प्रयोग पहली बार यहाँ हुआ है। लेखक का संवेदनशील हृदय पशुपक्षियों से विशेष रूप से प्रेरणा प्राप्त करता है। चाबुक, चींटे, नमदा, मिट्टी का ढेला जैसी वस्तुएँ भी लेखक की दृष्टि से नहीं बच पाई। अभिव्यक्ति बड़ी ही सूक्ष्म और सांकेतिक है। छोटे छोटे गद्यगीत हृदय में विचार की झंकार उत्पन्न कर देते हैं। शैली वार्तालाप की ही अधिक अपनाई गई है।

श्रीराजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश'

रजनीशजी की 'आराधना' का महत्व इसलिये है कि उसके द्वारा प्रेयसी को प्रभु का पद दिया गया है। श्रीअज्ञेय की 'चिंता' की नारी जहाँ पुरुष के समक्ष दीन और नत है, वहाँ रजनीशजी का पुरुष नारी के समक्ष दीन और नत है। उन्होंने अपनी प्रेयसी की रूपगुणसंपन्नता और प्रेरणा-प्रोत्साहन-प्रदायिनी शक्तिमत्ता का यशोगान किया है। यौवन के आरंभ में उसका संपर्क जीवन में नया ही स्वर फूँक गया है और उसकी समस्त वासनाएँ और इच्छाएँ उसके चरणों में निछावर हैं। उसके सौंदर्य को छोड़कर लेखक को कुछ अच्छा नहीं लगता। वह उसकी प्रेमाग्नि से दग्ध होने के कारण अपने अस्तित्व को भूल गया है और उसे पृथ्वी, आकाश, वृक्ष और पुष्पों में उसी की झलक दिखाई देती है। उसकी समस्त इंद्रियाँ उसी की आराधना में लीन हैं। उसकी पूजा में वह भगवान् की पूजा का आनंद पा लेता है। एक स्थान पर वह कहता है: 'जिस प्रकार तुम्हारे और प्रभु के बीच मेरे लिये कोई विशेष अंतर नहीं है उसी प्रकार तुम्हारे और उनके कामों में भी अधिक अंतर नहीं है। रवि और चंद्र अपनी किरणों द्वारा तुम्हारे नाम की रेखाएँ सदैव खींचते रहेंगे।

उन दो अक्षरों से झरती ज्योति मेरी हृदयभूमि का अंधकार सदा नष्ट करती रहेगी'।[1]

इन गीतों की भाषाशैली और भावों के संबंध में लेखक के अपनी प्रेयसी से कहे ये शब्द पर्याप्त हैं : 'प्रिये ! ये गीत उस गंगाजल के समान हैं जो मिट्टी के स्वच्छ पात्र में संचित हैं। मुझसे भाषारूपी सुंदर पात्र की रचना नहीं हो पाई और उसपर उपमा का रंग न चढ़ा सका। भावों से ही उसकी गहराई का अनुमान लगा लेना। जीवन के विषाद ने उसमें कुछ खारापन उत्पन्न कर दिया है। तुम्हारे प्रेम ने उसमें पवित्रता भर दी है और तुम्हारे गुणों ने उसे सुवासित कर दिया है।'[2]

श्रीबालकृष्ण बलदुवा

बलदुवाजी के गद्यगीतों के 'मन के गीत' और 'अपने गीत' ये दो संग्रह हैं। ये गीत निराश और व्यथित हृदय के उद्गारों से पूर्ण हैं। लेखक के हृदय में भावनाएँ उठती हैं और वे गद्यगीत के रूप मे चित्रित हो जाती हैं। ये भावनाएँ जीवन की सामान्य घटनाओं से जन्म लेती हैं। बलदुवाजी ने जीवन के पर्याप्त उतारचढ़ाव देखे है, अच्छे बुरे व्यक्तियों के संपर्क में वे आए है, अपने और परायों की उपेक्षा और अवहेलना पाई है, जीवनजगत् के विषय में चिंतन और मनन किया है, अतः उनके गीतों में विभिन्न स्वर मिलते है। उन्होंने स्वयं अपने गीत की भूमिका में लिखा है : 'मेरे गीतों में कभी भावी की अनिश्चित चिंतना रहती है तो कभी तिरस्कृत होकर उबल पड़नेवाली भावना का आवेशमय चित्रण। कभी वे निराशा की चपेटों से क्षतविक्षत होते हैं तो कभी आशा के मंद मलयानिलस्पर्श से नवविकसित पुष्प से प्रफुल्लित। कभी कभी वे ऐसे हो जाते हैं कि उनमें सुखदुःख, आशानिराशा, प्रकाश-अंधकार आदि विरोधी तत्वों का मिश्रण हो जाता है।'

बलदुवाजी के गद्यगीतों में लंबे गीत कम है। आवेश मे लिखे गए गीत जितनी दूर तक भाव को व्यक्त कर पाते हैं उतनी ही दूर तक चलते हैं। कभी कभी तो वे एक ही पंक्ति के रह जाते है। ऐसे गीतों में वे जीवन के अनुभवों के आधार पर सिद्धांतवाक्य बनाते हैं। जैसे : 'मैं जितना ही अधिक प्यार करता हूँ, उसके संबंध में उतनी ही कम बातें करता हूँ'।[3] 'यह इतना नाटक ? यह सब किस-लिये, मेरे मालिक ! किसलिये' ?[4] जीवन की विषम परिस्थिति के लिये विधाता और भाग्य को कोसनेवाले गीत उन्होंने बहुत लिखे हैं। दूसरे प्रकार के गीतों में उन

१. 'आराधना', पृ० ६
२. वही, पृ० ६६।
३. 'मन के गीत', पृ० ५७।
४. वही, पृ० ६१।

गीतों की संख्या अधिक है जिनमें उनको गलत समझनेवाले मित्रों और संबंधियों को उन्होंने अपनी स्थिति बताई है। तीसरे प्रकार के गीतों में प्रेमी के प्रति आत्मनिवेदन है। इन गीतों में विवशता का चित्रण विशेष रूप से हुआ है।

ऊपर से देखने में सीमित लगनेवाली गद्यकाव्य की यह धारा गहराई में जाने पर पर बड़ी विस्तृत लगती है। गद्यकाव्य लिखनेवालों की संख्या कम नहीं है। जिनका उल्लेख इस विधा के प्रमुख लेखकों अथवा उसकी श्रीवृद्धि करनेवाले अन्य लेखकों में हुआ है उनके अतिरिक्त भी इस धारा के अनेक लेखक हैं। इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ पुस्तकाकार आ गई है, और कुछ ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ या तो अप्रकाशित हैं या पत्र पत्रिकाओं की फाइलों में बिखरी पड़ी हैं। जिनकी रचनाएँ प्रकाश में आई हैं उनमे सर्वश्री विश्वंभर 'मानव', शिवचंद्र नागर, केदार, चंद्रशेखर संतोषी, द्वारिकाधीश मिहिर, नारायणदत्त बहुगुणा, रामेश्वरी गोयल, वृंदावन लाल वर्मा, नोखेलाल शर्मा, जगदीश झा 'विमल', विद्या भार्गव, शकुंतला कुमारी 'रेणु', स्नेहलता शर्मा, देवदूत विद्यार्थी, कनकमल अग्रवाल 'मधुकर', देवीदयाल दुबे, हरिभाऊ उपाध्याय, देव शर्मा अभय आनंद भिक्षु सरस्वती, रामनारायण सिंह, रघुवर नारायण सिंह, महावीर प्रसाद दाधीचि, महावीरशरण अग्रवाल, मोहनलाल महतो 'वियोगी', ब्योहार राजेंद्र सिंह तथा हरिमोहनलाल वर्मा आदि का नाम लिया जा सकता है। श्रीविश्वंभर 'मानव' की रचनाएँ पहले 'पतझर' नाम से छपी थीं, अब 'अभाव' के नाम से द्वितीय संस्करण में आई है। नारी के प्रति इनकी भावना वही है, जो रजनीश-जी की है। बड़ी श्रद्धा और भक्तिभावना से ये नारी के प्रति आत्मनिवेदन करते है। कला की दृष्टि से इनके गद्यगीत बडे सुंदर है। अंतिम पंक्ति में जब रहस्य खुलता है तब पूरा गीत चमक उठता है। प्रकृति का भी पूरा योग है। कही कहीं शैली मुक्त-छंद के निकट पहुँच गई है। श्रीशिवचंद्र नागर का 'प्रणय गीत' लघु आकारवाले गद्यगीतो का संग्रह है। प्रेयसी को प्राप्त करने में असमर्थ यह लेखक उसके विरह मे अश्रुपात करता है। इन गीतों में आवेश बहुत है। लेखक ने अपनी प्रेयसी के नग्न सौंदर्य को देखने तथा यौवन शतदल को छूने की अभिलाषा प्रकट की है। दूसरी ओर का प्रेम भी व्यक्त हुआ है। केदार के 'अधखिले फूल' में भक्तिभावना के उद्‌गार हैं। कहीं कही मानवी के प्रति प्रेम की व्यंजना भी हुई है। चंद्रशेखर 'संतोषी' की 'विप्लव इच्छा' भी इसी कोटि की रचना है। इसमें विरहव्यथा और प्रतीक्षा के चित्र अधिक हैं। एकाध गीत में निर्धनों के प्रति सहानुभूति भी है। द्वारिकाधीश मिहिर के 'चरणामृत' का स्वर भक्तिभावना का है। सभी गीत प्रार्थना शैली में लिखे गए है। नारायणदत्त बहुगुणा की 'विभावरी' में प्रकृति के माध्यम से परमात्मा तक पहुँचने का प्रयत्न है। कुछ स्वतंत्र प्रकृतिचित्रण के गीत भी हैं। शैली राय कृष्णदास की है। रामेश्वरी गोयल ने अपने संग्रह 'जीवन का सपना' में कविताओं के साथ गद्य-गीत दिए हैं। विषाद इन गीतो का प्राण है। ये एक ऐसी प्रतीक्षारत नारी के

उद्गार हैं जिसका मन एक ही क्षण में किसी का हो गया और जिसको फिर वह न पा सकी। विवशतावश जिसने सुदूर लोक की यात्रा का संकल्प कर लिया। ये गीत व्यंजनाप्रधान हैं। नोखेलाल शर्मा की 'मणिमाला' में कहीं भक्ति है, कहीं वैराग्य, कहीं उन्माद, कहीं पुलक, कहीं केवल अपनी अनुभूतियों का चित्रण। भावों का वैविध्य आह्लादक है। अभिव्यक्ति बड़ी स्पष्ट और हृदयग्राही है। जगदीश झा 'विमल' की तरंगिणी में भी ये ही भाव और विचार हैं। विद्या भार्गव की 'श्रद्धांजलि' में गद्यगीत की टैकनिक का चरम विकास है। छोटे छोटे गीतों में गंभीर भाव भरे पड़े हैं। दिनेशनंदिनी ने जो चमत्कार अरबी फारसी के शब्दों द्वारा उत्पन्न किया है वह इन्होंने संस्कृत शब्दावली से उत्पन्न किया है। इसका कारण है उनके गीतों में पवित्र आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना। सूक्त्यात्मक शैली में ऐसे गद्यगीत कम ही लिखे गए हैं। शकुंतला कुमारी 'रेणु' की 'उन्मुक्ति' में आध्यात्मिक प्रेम के उद्गार व्यक्त हुए हैं। बड़ी पवित्र और उच्च अनुभूति से गीत रंजित हैं। इनकी शैली पर दिनेशनंदिनी की पूरी पूरी छाया है। स्नेहलता शर्मा का 'विषाद' किशोर प्रेम की भावनाओं से पूर्ण है। सहसा मिलकर बिछुड़ जानेवाले और समाज की मर्यादा के कारण न मिल सकनेवाले प्रेमी के प्रति व्यक्त किए गए ये उद्गार करुण तो हैं ही, बड़े स्वाभाविक और कसकभरे भी हैं। देवदूत 'विद्यार्थी' के 'तूणीर' और कुमारहृदय के 'उच्छ्वास' में प्रेम, सेवा और त्याग की भावनाएँ हैं। वियोगी हरि की विचारधारा और शैली को आत्मसात् करके चलनेवाले ये एकमात्र लेखक हैं। राष्ट्रप्रेम और विश्वबंधुत्व इनके गीतों का लक्ष्य है। कनक मल अग्रवाल के 'उद्गार' समाज और राष्ट्र की अधोगति का चित्रण करते हैं और उनमें विद्रोह की आग है। देवीदयालु दुबे के 'जागृत स्वप्न' में युग की राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण है। बलिदान और उत्साह इन गीतों का प्राण है। हरिभाऊ उपाध्याय के 'बुदबुद' और 'सबल' में गांधीजी की विचारधारा का अनुकरण है और आध्यात्मिक चिंतन की प्रधानता है। नैतिक जीवन के लिये उनके विचार निस्संदेह उपयोगी हैं। देवशर्मा 'अभय' का 'तरंगित हृदय' भी इसी कोटि का है। गांधीजी की राष्ट्रीयता के साथ उनमें गंभीर दार्शनिकता और आध्यात्मिकता का पुट है। विचारों में मौलिकता है। भावगांभीर्य की दृष्टि से इनकी रचना बहुत ऊँची है। समाज और राष्ट्र की अधोगति पर तथा मनुष्य की क्षुद्रता पर करारे व्यंग्य भी हैं। आनन्द भिक्षु सरस्वती का 'सपना' अपनी सती साध्वी पत्नी के स्वर्गवास पर लिखा गया है, जिसमें आर्य महिला के सभी गुण हैं। २५, २६ वर्ष तक साथ रहनेवाली पत्नी के वियोग में लेखक का हृदय टूक टूक हो गया है। दांपत्य प्रेम का महत्व प्रतिपादन करने के साथ ही देश और धर्म की चिंता तथा समाज की बुराई के उन्मूलन की ओर भी लेखक का ध्यान है। यद्यपि विषय उद्भ्रांत प्रेम है, पर लेखक की जागरूकता ने उसे प्रलाप होने से बचा लिया है। वृंदावनलाल वर्मा की 'हृदय की हिलोर' आचार्य चतुरसेन शास्त्री जैसी

वार्तालाप और स्वगतकथन की शैली में लिखी प्रेमभावनापूर्ण पुस्तक है जिसमें मिलन बिछोह की अनेक दशाओं के चित्र है। रामनारायण सिंह ने 'मिलनपथपर' में कोकिला, चकोरी, मयूरी, सरिता, ऊषा, चिता, ज्वाला, छाया, माया आदि को संबोधित करके उसकी गतिविधि का चित्रांकन किया है और अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ की हैं। सभी स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुएँ ली गई हैं और इसी लिये पुस्तक का नाम 'मिलनपथ' रखा गया। रघुवरनारायण सिंह की 'हृदयतरंग' में ब्रह्म जीव, प्रेम विरह, आशा निराशा, जीवन मृत्यु आदि पर विचारपरक रचनाएँ हैं, जिनमें मुक्त छंद की शैली अपनाई गई है। महावीरप्रसाद दाधीचि की 'यौवनतरंग' में नारी के सौंदर्य और आकर्षण के प्रति कवि के उद्गार है। सौंदर्य और यौवन की वृत्ति का विश्लेषण भी अच्छा हुआ है। कहीं कहीं शृंगार का आभास हो गया है और कहीं कहीं जीवन जगत् की समस्या पर विचार किया गया है। महावीरशरण अग्रवाल के 'गुरुदेव' में रवींद्र की शैली पर अरविंद की विचारधारा से प्रभावित रचनाएँ हैं। मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने 'बंदनवार' में विभिन्न विषयों पर विचार-प्रधान गद्यकाव्य लिखे हैं, जिनमें मानवीय संवेदनाओं पर विशेष दृष्टि रखी गई है। ब्योहार राजेंद्र सिंह के 'मौन के स्वर' में जड़ चेतन के भेद को मिटाकर लेखक ने वार्तालाप शैली के छोटे छोटे गीतों में गंभोर सत्यों की व्यंजना की है। यह हिंदी में एक नया प्रयोग है। इसकी प्रेरणा खलील जिब्रान से मिली है। जैसे शीर्षक है 'लक्ष्य की सिद्धि' और गद्यगीत है बाण ने धनुष से कहा—'तुम इतनी निर्दयता से हमें दूर क्यों फेंक देते हो ?' धनुष ने कहा—'जिससे तुम अपने लक्ष्य तक पहुँच जाओ।' श्रीहरिमोहनलाल वर्मा की 'भारतभक्ति' में स्वतंत्र भारत की स्थिति, राष्ट्रीय पर्व और राष्ट्रनिर्माता गांधी, सुभाष, पटेल आदि पर राष्ट्रप्रेममय उद्‌गार हैं।

जिन लेखकों की रचनाएँ अप्रकाशित हैं उनमें श्रीवैकुंठनाथ मेहरोत्रा की 'ऊँचे नीचे' पुस्तक, तेजनारायण काक के 'निर्झर और पाषाण' तथा ब्योहार राजेंद्र सिंह के 'मौन के स्वर' की कोटि की रचनाएँ हैं। इनमे अन्योक्ति के माध्यम से वार्तालाप शैली में जीवनोपयोगी बातें कही गई हैं। श्रीमती कांति त्रिपाठी की 'जीवनदीप' रचना में पुरुष के प्रति वैसे ही उद्‌गार व्यक्त हुए हैं जैसे श्रीविश्वंभर 'मानव', रजनीश और शिवचंद नागर की रचनाओं में। 'वीणा', 'सुधा' तथा 'कर्मवीर' की सन् १९३० से सन् १९३५-३६ तक की फाइलें देखने पर कितने ही ऐसे लेखकों के गद्यगीत भी मिलते हैं, जिन्होंने बाद में इस धारा को बिलकुल छोड़ दिया। उदाहरण के लिये सर्वश्री विनोदशंकर व्यास, प्रभाकर माचवे, कालीप्रसाद 'विरही', निर्मला मित्रा, जनार्दन राय नागर, सत्यवती मल्लिक, सूर्यनाथ तकरू, विष्णु प्रभाकर, जैनेंद्र कुमार, विश्वेश्वरप्रसाद कोइराला, सुंदरलाल शर्मा, रामसिंह, सिद्धराज ढड्ढा, शीला भल्ला, देवीलाल त्रिपाठी, गिरधारीलाल डागर, मुंशीराम शर्मा 'सोम', कुँवर जितेंद्र सिंह, मुरलीधर दीक्षित, गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचंद्र जैन आदि के गद्यकाव्य इन पत्रों में मिलेंगे। वह युग ही जैसे गद्यकाव्य का था।

●

तृतीय खंड

कथा साहित्य

लेखक

डा० सावित्री सिनहा

डा० इंद्रनाथ मदान

प्रथम अध्याय

उपन्यास

प्रेमचंद को मील का पत्थर मानकर जब हम हिंदी उपन्यास के विविध आयामों को नापने की तैयारी करने लगते हैं तो सहसा उसके औचित्य अनौचित्य का प्रश्न हमारे मन में उठता है, खासकर उन दूरियों के संबंध में जो उसके इर्दगिर्द अथवा पीछे नहीं छट गई हैं बल्कि आगे बहुत दूर तक चलकर कई रास्तों और पगडंडियों में बँट गई हैं। सन् १९३६ का वर्ष इसलिये महत्वपूर्ण नहीं है कि उस वर्ष प्रेमचंद की मृत्यु हुई। यह घटना तो केवल संयोग से धुरी बन गई है। सच्चाई यह है कि इसी वर्ष के आसपास हिंदी उपन्यासों में गहराइयों और बारीकियों की खोज आरंभ हो जाती है और व्यापक आयाम के उपन्यास आदर्शों की काल्पनिक ऊँचाइयों से उतर कर यथार्थ के ठोस धरातल की ओर अग्रसर होने लगते हैं। कहा जाता है कि बहिरंग संसार की चप्पा चप्पा भूमि प्रेमचंद ने छान ली थी इसलिये उनके बाद उपन्यासकारों के लिये कुछ कहने को शेष नहीं रह गया। परंतु प्रेमचंद के परवर्ती उपन्यासकारों की भूमि का पार्थक्य और अलगाव प्रेमचंद की सिद्धि की चरमता का द्योतक उतना नहीं है जितना उस परिवर्तित युगीन पृष्ठभूमि का, जिसपर नए लेखक खड़े हुए। ये युवक क्रांतियों, फाँसियों, गोलियों और कारावास दंडों के बीच पले और बढ़े। रूसी क्रांति उनके लिये आदर्श बन गई, भगतसिंह के मार्ग ने उनकी विचारदृष्टि को प्रशस्त किया, और सच्चाई का आग्रह उन्हें आदर्शों से नीचे यथार्थ की भूमि पर उतार लाया। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क सभी ने अपनी अपनी निगाहों और अपने अपने ढंग से उस युग की शक्तियों और सीमाओं को झेला और लिखा। इन तथ्यों को ध्यान में न रखकर प्रायः यह कह दिया जाता है कि प्रेमचंद के बाद सच्ची समाजोन्मुखता समाप्त हो गई और युग की निराशा के कारण लेखक अंतर्मुखी हो गए।

प्रेमचंद के समय में ही मानवचरित्र के विश्लेषण एवं व्याख्यान के लिये मनोवैज्ञानिक स्पर्श दिए जाने लगे थे। पर उसका रूप प्रायः सतही था और कभी कभी ही उसकी झलक मिल पाती थी। जैनेंद्र और अज्ञेय ने उपन्यास को अंतर्मुखी मोड़ दिया और वे मन की गहराइयों में उतरे। परंतु वहाँ भी जैसे युगीन चेतना क्रांतिकारी पात्रों की छाया में विद्यमान है। यह बात दूसरी है कि एक ने अभुक्त स्थितियों और पात्रों की औरतों के आँचल में छिपाकर उनपर दर्शन का झिलमिला आच्छादन डाल

दिया और दूसरे ने भुक्तभोगी की संवेदनाओं और व्यथाओं को सँवारा सँजोया। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि प्रेमचंद का उपन्यास विस्तार और व्यापकता को तिलांजलि देकर गहराइयों में नहीं उतरा बल्कि बदलते हुए जीवन और परिवेश की नई भूमि तोड़ने के प्रयास में उस युग के लेखक उभरे। अनेक आयामी उपन्यासों की यह परंपरा युग के विभिन्न उतार चढ़ावों, रुग्णताओं और परिष्कारों के बीच से गुजरती हुई आज भी महत्वपूर्ण रूप में प्रतिष्ठित है।

राजनीतिक सामाजिक उपन्यास : विभिन्न उतारचढ़ाव (१६३६-६६)

(क) **प्रेमचंद परंपरा का अवशेष**—गांधी युग की व्यापक और अनुशासित राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति प्रेमचंद और उनके समसामयिक लेखकों के साहित्य में हुई। उस युग के साहित्य की मूल प्रेरणा जागृतिमूलक, राजनीतिक और सांस्कृतिक है, उसके भीतर विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ उतरी है, इसलिये इन उपन्यासों की आत्मा महाकाव्यात्मक है, उनके पात्रों में राष्ट्रीयता के उदात्त तत्वों को वहन करने की सामर्थ्य है, राष्ट्रीय महत्व के उदात्त कार्यव्यापारों को यहाँ जीवन की सहज स्थितियों में से ही बारीकी के साथ उभारा गया है। आवश्यकतानुसार उनमें जातीय आचार व्यवहार और परंपराओं का चित्रण समग्र दृष्टि से हुआ है। जिस प्रकार सन् १६३६ के बाद हिंदी कविता में वैयक्तिक तथा समाजवादी दृष्टि ने राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और छायावादी कविता को स्थानापन्न किया, उसी प्रकार प्रेमचंदयुगीन व्यापक दृष्टि का स्थान भी वैयक्तिक गहराइयों में उतरनेवाले मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों तथा मार्क्सप्रेरित समाजवादी उपन्यासों ने ले लिया। प्रेमचंदयुगीन आदर्शोन्मुखी चेतना का अवशेष भी कुछ लेखकों में दिखाई पड़ता है, लेकिन ये वे लेखक है जो बदलती हुई जिंदगी के नए यथार्थों के साथ आधारभूत समन्वय नहीं कर सके है; और प्रेमचंदयुगीन मिट्टी में उगे हुए बिरवों से मोहवश लिपटे हुए हैं, इस बात से बेखबर कि मिट्टी में नए रासायनिक तत्वों के मिश्रण के कारण या तो पुराने बिरवे मुरझा जाएँगे अथवा उन्हें अनुपयोगी और पिछड़ा हुआ समझकर काट दिया जायगा। आदर्श, आस्था और चिंतन की पुरानी बागडोर सँभाले वे अपने कृतित्व के रथ को समय की तेज रफ्तार के प्रति निरपेक्ष धीरे धीरे चलाते रहे। इस परंपरा के अवशेष को जीवित रखनेवाले मुख्य उपन्यासकार है भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव और सियारामशरण गुप्त। प्रथम दो लेखकों की अधिकांश कृतियाँ व्यापक परिवेश पर आद्धृत है, प्रेमचंद की तरह ही उनका ध्यान मुख्य घटनाओं पर केंद्रित है और उनके संयोजन में आकस्मिकता का मोह भी वे नहीं छोड़ सके हैं। प्रेमचंदयुगीन पात्रों का संबंध प्रायः आदर्शों से जुड़ा रहा, उनके अनुकूल या प्रतिकूल अंतर्द्वंद्व उनमें नहीं है और न पात्रों की परिस्थितियों और उनके व्यक्तित्व में द्वंद्व अथवा द्विविधा है। गोदान में प्रेमचंद इन सीमाओं से बाहर आए थे और परिस्थितियों के बीच

अंतर्मन को उभारा था। उनके उत्तराधिकारियों ने यह सूत्र यहीं से ग्रहण किया और इस बात के लिये जागरूक हो गए कि उनके पात्र मात्र आदर्शों में ही नहीं यथार्थ में भी ढलें और बनें। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने भी अपने पात्रों को 'टाइप' के घेरे से निकाला परंतु आदर्शोन्मुखता के प्रति अपनी जिद के कारण उनके पात्र खुले मन के विद्रोही नहीं बन सके। उपन्यास में पात्रों की संख्या कम हुई और आत्महत्या और मृत्यु के द्वारा उन्हें हटाने की प्रवृत्ति भी घटी। फिर भी ये पात्र अधिकतर ध्येयोन्मुखी आदर्शों की डोरी से बँधे हुए हैं। सफर के साथी की तरह वे अनुभूतियों के अस्थायी क्षण दे जाते हैं, जीवनसंगी की तरह रम नहीं पाते। पात्रों के चरित्र के सूत्र उपन्यासकार कठपुतलियों के नट की तरह अपनी उँगलियों में अटकाए रहता है, इसलिये इनके पात्रों में गहराई और जीवनानुभूतियों का अभाव है। आत्मपरीक्षण और विश्लेषण के क्षण वहाँ प्रायः नहीं हैं। उनके पात्र कर्ता अधिक हैं द्रष्टा कम। जहाँ इनके पात्रों में अंतर्द्वंद्व और चिंतन है वहाँ उनकी विवशता, घृणा, अवसाद और पीड़ा आदि का प्रत्यक्षीकरण है। परंतु उद्देश्य की प्रधानता के कारण लेखक पुण्य आदर्शों और नैतिकता की सराहना करता चलता है। समाज और व्यक्ति की टक्कर भी इन उपन्यासों में प्रायः नहीं है। प्रेमचंद के उत्तराधिकारी होने के नाते कर्त्तव्य-शीलता और मानवतावादी दृष्टि उन्हें विरासत में मिली है, जिसका हनन नहीं हो सकता चाहे व्यक्तित्व टूटकर बिखर जाए। इन तीनों ही उपन्यासकारों ने मानव की अनेकरूपताओं में से कुछ विशिष्टताओं को चुनकर पात्रों के व्यक्तित्व में उनका समावेश किया है परंतु वे विशिष्टताएँ व्यक्ति की आत्मिक शक्ति का परिचय देने के लिये मन की तहों से संबद्ध न होकर केवल बाह्यात्मक हैं।

गांधीवाद के प्रभाव के कारण इन उपन्यासों में भी शिव और मंगल तत्त्व की प्रधानता है और विद्रोह के तत्वों का स्पर्शमात्र है। प्राचीनता और नवीनता के प्रश्न को लेकर उनकी दृष्टि सामंजस्यवादी है। परंतु उस समय ही नैतिकता संबंधी अनेक प्रश्न वैयक्तिक स्तर पर नए रूप ग्रहण करने लगे थे। द्वितीय विश्वयुद्ध ने अनेक सामाजिक आर्थिक विषमताओं को जन्म दिया, बेकारी, भुखमरी और अनैतिक व्यापारों की असंख्य निर्मम परिस्थितियाँ जनता को झेलनी पड़ीं जिनके कारण यथार्थ की नग्न विभीषिका का उस युग की आदर्शपरक भावना के ऊपर हावी हो जाना स्वाभाविक था, पर गांधी के अदम्य प्रभाव ने अपनी सीमा को आक्रांत नहीं होने दिया। फिर भी वैयक्तिक स्तर पर ये लेखक प्रेमचंद के मार्ग से अलग चले। प्रेमचंद के पात्र प्रेम की असार्थकता और असफलता में से उन्नयन का मार्ग निकाल लेते थे, आगे आई हुई स्थितियों में ऐसा संभव नहीं था इसलिये वैयक्तिक नैतिकता के सामने एक साथ कई प्रश्नचिह्न लग गए। ये सभी लेखक इस ओर से अपनी आँखें नहीं मूँदे रहे, उन्होंने इस अलग स्वर को सुना और समझा, पर समाज से विद्रोह का मार्ग उन्होंने नहीं ग्रहण किया—वे प्रवृत्ति से लड़ते हुए उसका

समाधान खोजने में ही व्यस्त रहे, उनकी दृष्टि ध्वंसोन्मुखी न होकर आस्थावादी ही रही। इस परंपरा के प्रथम लेखक हैं प्रतापनारायण श्रीवास्तव। वे अपने युग की नई प्रवृत्तियों और परंपराओं के प्रति जागरूक हैं। गांधीवाद उनकी दृष्टि में प्रजातंत्रवाद और साम्यवाद के बीच का सेतु है, जिसमें दोनों मतवादों के शोषक तत्वों का निराकरण और सात्विक तत्वों की प्रतिष्ठा की गई है। परहित और अद्वैत के मार्ग पर चलते हुए मानव को समर्पित आयु उनकी दृष्टि में सार्थक है। उनका ध्येय समाजोन्मुखी है। इसलिये उनके पात्रों में हिंसा और प्रतिरोध का भाव नहीं है। प्रेमचंद की आदर्शोन्मुखता उन्हें विरासत में मिली है इसलिये उनके पात्र या तो रातोंरात सुधर जाते हैं या रंगमंच से हटा दिए जाते हैं। गांधीवादी अंतश्चेतनामूलक क्रांति उनका जीवनादर्श है। उनके कथानकों का आधारफलक बृहद् है और उसपर बहुत रंगों से अनेक प्रकार के चित्र खींचे गए हैं। उनको अधिकांश कथाओं का केंद्र बुर्जुआ, संभ्रांत शिक्षित वर्ग है। उस वर्ग की खोखली दृष्टि, विलासमयता, देशद्रोह और मर्यादाहीनता की झाँकी उपन्यासकार ने दिखाई है। उनके कथानक में अनेक कथासूत्र हैं जिनके एक एक सूत्र का माइक्रोस्कोपिक अध्ययन किया गया है जिसके द्वारा हर सूत्र की भीतरी गलन और सड़न के ऊपर का आच्छादन उतारा गया है। कथा आरंभ और विकास की स्थितियों में से गुजरती हुई कौतूहल की सृष्टि करती है, उसकी प्रक्रिया में उलझाव और वक्रता रहती है, उनके पात्र लक्ष्मणरेखाओं में बँधे हुए हैं। देश की उग्र हलचलों, राजनीतिक घटनाओं और सामाजिक विकृतियों की पृष्ठभूमि में उनको घटनाएँ और चरित्र उभारे गए हैं। उनका प्रथम उपन्यास 'विदा' १९२७ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद के सभी उपन्यास इस लेख की कालसीमा में आते हैं। पता नहीं संयोगवश हुआ है अथवा सायास कि उनके सभी उपन्यासों के नाम 'व' अक्षर से आरंभ होते हैं—उनका उल्लेख इस प्रकार है : विजय, विकास, विसर्जन, बयालीस, बेकसी का मजार, विषमुखी, वेदना, विश्वास की वेदी पर, वन्दना, वञ्चना, विनाश के बादल इत्यादि।

इस परंपरा के दूसरे लेखक हैं सियारामशरण गुप्त। 'गोद', 'अंतिम आकांक्षा' और 'नारी' उनके छोटे छोटे तीन उपन्यास हैं। इन तीनों पर ही युग की बदलती हुई प्रवृत्तियों और मनोविज्ञान का प्रभाव मिलता है। उनकी दृष्टि में विरोध, असंगति और निषेध का अभाव है। उन्होंने जीवन को झकझोर देनेवाली स्थितियों का सहज और मार्मिक चित्रण किया है, जिनमें नैतिक और मंगल तत्व प्रधान हैं। वे चिंतन और व्यवहार दोनों में गांधीवादी थे इसलिये व्यक्तिवादिता के लिये उनके उपन्यासों में भी स्थान नहीं था। उनकी रचनाओं का फोकस चाहे व्यक्ति पर हो पर उनका ध्येय समाजोन्मुखी है। उसमें घृणा, प्रतिहिंसा का स्थान कहीं नहीं है। प्रेमचंद ने अपने अधिकांश असत् पात्रों को विकृतियों से मुक्ति देकर उन्हें सत् बनाया है जब कि सियारामशरण गुप्त ने परिस्थितिजन्य विकृतियों के घने काले बादलों के बीच सत् के

आलोक को सजाया है। इस ध्येयोन्मुखता के साथ कि मनुष्य मूलतः अच्छा है परिस्थितियाँ उसे बुरा बना देती हैं। उनके उपन्यासों का कनवास बहुत छोटा है। उनके कथानकों और पात्रों के विषय में कहा गया है कि वे छोटी सी कुटिया में पतली सी दीपशिखा के प्रकाश की तरह आलोकित हैं। उनमें एक पात्र प्रधान है और कथानक के कई सूत्रों से अन्विति के उद्देश्य से ही अन्य पात्रों का अवतरण हुआ है। उपन्यासों की गति धीमी है जिसके कारण कथा में ठहराव आता है पर यही ठहराव कथानक के विभिन्न सूत्रों को जोड़ता है। इसी अन्विति पर आधृत कलात्मक परिणति ही उनके उपन्यासों की प्राण है। उनके पात्र आधुनिकता की दृष्टि से काफी पीछे हैं उनमें उलझाव, कृत्रिमता और ऊहापोह नहीं है पर वे टाइप और प्रतिनिधि नहीं हैं, उनका व्यक्तित्व खुला हुआ पारदर्शी है; जो उपन्यासकार की इस मान्यता को दृढ़ करते दिखाई देते हैं कि दैविक, यांत्रिक शक्तियों की झंझाओं और उत्पातों को झेलना और उनसे टक्कर लेता मनुष्य की नियति है।

प्रेमचंद की औपन्यासिक परंपरा को आगे बढ़ानेवाले तीसरे लेखक हैं भगवतीप्रसाद बाजपेयी। उन्होंने प्रेमचंद के बाद के युग की आदर्शहीनता और असामाजिकता को अपने उपन्यासों में स्थान दिया है परंतु वैयक्तिकता को अपनाते हुए भी सामाजिकता का ह्रास नहीं होने दिया है। उनकी जीवनदृष्टि में मानवतावाद की प्रधानता है। व्यक्ति का महत्व उनके लिये केवल समाज की इकाई के रूप में है। व्यक्तिवादी समस्याओं का केंद्र अधिकतर प्रेम और सेक्स है। परंतु व्यक्तिउन्मुखी होते हुए भी वे बौद्धिक नहीं हैं और न वे आदर्शों की स्थापना के लिये उत्सुक रहे हैं। अपनी औपन्यासिक दृष्टि का स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार किया है : 'मैं सत्य के सौंदर्य का पुजारी हूँ, मधुर का नहीं। कटु सत्य में भी सत्य का दर्शन, चिंतन और मंथन मैं करता और देखना चाहता हूँ। मैं आस्तिक तो हूँ पर ईश्वर में मेरी आस्था नहीं है। मेरा लक्ष्य उन मनोवैज्ञानिक क्षणों में उन असाधारण मनोवेगों को पकड़ना होता है जो हित या अहित की दिशा में बड़े वेग से प्रभावित करते हैं।' उन्होंने यौन भावना का उदात्तीकरण भारतीय परंपरा की रक्षा करते हुए किया है। वे आदर्शवादिता का पल्ला पकड़े हुए नैतिकता के प्रति अनुदार दृष्टि को बदलने की कोशिश करते रहे हैं। उनके प्रारंभिक उपन्यासों में नैतिक मानों के निर्वाह का आग्रह प्रायः सर्वत्र है जिनमें मध्यवर्ग की समस्याओं की पृष्ठभूमि में सद् असद् का विवेचन हुआ है। उनका कथाविधान प्रेमचंदयुगीन है। कथानक प्रायः द्विसूत्री है। बाद के उपन्यासों में मनोविश्लेषण तत्व का आधिक्य हो गया है। कहीं कहीं वही साध्य हो गया है। कामना और कामायनी की तरह कुछ उपन्यासों में व्यक्तियों के नाम भी वृत्तियों के प्रतीक रूप में रखे गए हैं। इन सभी उपन्यासों में नैतिक समस्याओं और सामाजिक सीमाओं और शक्तियों तथा अन्य ज्वलंत मान्यताओं और आदर्शों का समावेश हुआ है। बँधी बँधाई रूपरेखाओं में उनके पात्र चलते फिरते हैं, उनके दर्जनों उपन्यासों में से मुख्य

हैं : पतिता की साधना, पिपासा, चलते चलते, पतवार, यथार्थ से आगे, हिल्लोर, उतार चढ़ाव, निमंत्रण, गुप्त धन, सूनी राह, विश्वास का बल, रात और प्रभात, उनसे न कहना, मनुष्य और देवता, भूदान, एक प्रश्न, पाषाण की लोच, दरार और धुँआ, सपना बिक गया, टूटा टी सेट, चंदन और पानी, टूटते बंधन ।

आधारफलक की व्यापकता और शैली की दृष्टि से गुरुदत्त के उपन्यासों को भी इस परंपरा में रखा जा सकता है। गुरुदत्त के उपन्यासों में गांधीवादी राजनीति के स्थान पर जनसंघी महासभाई दृष्टिकोण को स्वर मिला है—जैसे उनके विचार प्रगति से विमुख हैं वैसे ही वे रूढ़िवादी कथाकार भी हैं। उनके विचार से आज की परिस्थितियों में हिंदू धर्मभीरु हो गया है और हिंदू संस्कृति के उन्मूलन के अनेक उपकरण एकत्र हो गए है, हिंदू शास्त्रों और पुराणों में ही वे प्रगति के अनेक तत्व निहित मानते हैं। उनके अनुसार कम्युनिस्ट दर्शन की प्रगतिवादिता हिंदू दृष्टि से अधिक प्रगतिवादी नहीं है। वे परलोकवाद, कर्ममीमांसा, पुरोहितवाद द्वारा अनेक समस्याओं का समाधान दे सकते है। उन्होंने नैतिक प्रश्नों को वैयक्तिक स्तर पर भी लिया है। सेक्स और प्रेम की समस्याओं से उत्पन्न कुंठाओं, वर्जनाओं और भुक्तियों का चित्रण भी उन्होंने खुले रूप में किया है। उनका कथाविधान प्रेमचंद के अनुकरण पर चलता है पर उसमें संघटन का अभाव है। अनेक प्रासंगिक कथाएँ कुतूहल और भराव के लिये है, व्यक्तित्व एक साँचे में ढले हुए वैविध्य और संघर्षहीन हैं। भाषा में पंजाबीपन तथा तोड़मरोड़ है। उनकी दृष्टि पूर्वाग्रही और अनुदार है। उनके उपन्यासों में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—भावुकता का मूल्य, प्रवंचना, धरती और धन, विडंबना, गुंठन, विलोम गति, वाम मार्ग, जीवनज्वार, न्यायाधिकरण ।

गोविंदवल्लभ पंत के प्रमुख उपन्यास हैं—जूनिया, अमिताभ, एकसूत्र, मुक्ति के बंधन, तारों के सपने, फारगेट मी नाट ।

राधिकारमण प्रसाद सिंह भी प्रेमचंदयुगीन संवेदना और शैली को प्रचार प्रसार देने में समर्थ उपन्यासकार हैं। उनके मुख्य उपन्यास हैं—राम रहीम, सावनी सभा, टूटा तारा, गांधी टोपी, सूरदास, चुंबन और काँटा, पुरुष और नारी, पूरब और पश्चिम ।

एक परंपरागत दृष्टि के बावजूद इन सभी उपन्यासकारों ने अपने युग की बदलती हुई सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक परिस्थियों का आकलन किया है और उसी आधारभूमि पर उस युग के व्यक्ति के उठते गिरते मूल्यों, बदलते परिवेशों को, अपने पूर्वनिर्धारित दृष्टिकोणों को, यथावश्यकता परिवर्तित करते हुए चित्रित किया है; परंतु इस परंपरा के लेखकों में अब उतनी ऊर्जा और शक्ति नहीं रह गई थी कि वे बदलती हुई परिस्थितियों के उतारों और चढ़ावों के झोकों को सँभाल सकें इसी लिये ये लेखक युग के प्रभावों को समग्रतः पकड़ने में असमर्थ रहे।

(ख) सामाजिक बोध का कड़ा धरातल और गहरी खोदाई—साहित्य में पूर्वनिर्धारित दृष्टियों की युगानुकूल काटछाँट एक अनिवार्यता है जो परंपराओं के प्रति विद्रोही युवक अपने साथ लाते हैं। प्रेमचंद के तत्काल बाद यह विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क और अमृतलाल नागर जैसे लेखकों के उपन्यासों में हुई। इन उपन्यासकारों के लिये युगीन चेतना का अर्थ आयेदिन की घटनाओं और स्थितियों का वर्णन मात्र नहीं रह गया, बल्कि युग की परिस्थितियों के प्रति उनकी गहरी और तीव्र प्रतिक्रियाएँ उनके उपन्यासों के कथ्य और पात्रों के चरित्र में अनिवार्यतः निहित रहने लगीं। उनकी सामयिकता जीवन के सतही विस्तार से संबद्ध न रहकर जीवन के बहिर्मुखी तत्वों के प्रति गहन सूक्ष्म और सच्ची प्रतिक्रियाओं में से उभरी। इन लेखकों ने यथार्थ की बृहत् भूमियों का उद्घाटन किया और विभिन्न सामाजिक भूमियों पर यथार्थ से सीधा और अनिवार्य संबंध जोड़ा। प्रेमचंद और उनकी परंपरा के लेखकों ने सामाजिक यथार्थ के परिवेश में आदर्शपरक दृष्टि का विकास किया था। उपयोगितावादी और सुधारावद की प्रधानता के कारण उनमें सूक्ष्म आदर्शों का पुट है और उनकी दृष्टि लक्ष्यवादी और आदर्शवादी है। उनके पात्रों और कथावस्तु की योजना भी आदर्शों, सिद्धांतों की पृष्ठभूमि में हुई है, परंतु इस युग के लेखकों की रचनाओं में यथार्थ आदर्श पर हावी हो गया और उन्होंने निम्नवर्ग और मध्यवर्ग के दलित वंचित व्यक्तियों, वर्गों और समूहों को अपना विषय बनाया और समाज की अदालत के सामने उनकी हिमायत और वकालत की। इन उपन्यासकारों ने सामाजिक विधिनिषेधों, कुरीतियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाई। आश्रम और सदन खुलवाकर समस्याओं का समाधान उन्होंने नहीं किया, उनका काम केवल प्रश्न उठाना और उसको खोल कर स्पष्ट करना था—काल्पनिक निराकरण खोजने अथवा हल देने के स्थान पर प्रश्न को जोर से उठाकर उसके समाधान अथवा उलझाव की संभावनाओं की ओर इंगित कर देना ही इनका कर्त्तव्य कर्म रहा। इस प्रकार युग की राजनीतिक चेतना सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख हुई। इन सभी लेखकों ने यथार्थोन्मुखी सामाजिक दृष्टि को बदलते हुए संदर्भों में अपने अपने ढंग से आगे बढ़ाया और आदर्श की कलई धोकर कड़ुवी, बदसूरत सच्चाइयों को उघारा। उनकी सामाजिक दृष्टि प्रेमचंद से भिन्न है। उसका यह एक नया बौद्धिक आधार है जो व्यापकता मे प्रेमचंद से कम है, गहराई और प्रभावात्मकता में अधिक। वह वर्णनात्मक सर्वेक्षण न होकर तर्क और समस्याओं पर आधृत है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों का कथ्य मध्यवर्गीय समाज की द्वंद्वात्मक स्थितियों से उभरा है। उन्होंने अनेक विद्रोहात्मक स्थितियों और पात्रों का चित्रण प्रखरता और गहराई से किया है। मताग्रहों और बँधे हुए फारमूलों का आग्रह वहाँ नहीं है। उन्होंने अपने युग की विभिन्न सामाजिक विचारधाराओं का परीक्षण करके

उन्हें तर्क की कसौटी पर कसकर तथा व्यक्तिगत अनुभवों से पुष्ट करके तटस्थभाव से उनके संबंध में निष्कर्ष दिए हैं। अपने औपन्यासिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण लेखक इस प्रकार करता है—'जो कुछ मैं लिखता हूँ तर्क करने को नहीं लिखता। मैं तो अपने उन निर्णयों को पेश करता हूँ जिनपर अपने उन तर्कों द्वारा पहुँचा हूँ जो अनुभवों और अनुभूतियों पर आश्रित हैं।' उनका दायरा प्रेमचंद की अपेक्षा सीमित है। सामाजिक वैषम्यों और रूढ़ियों के कारण उत्पन्न समस्याएँ और कुंठाएँ उनके उपन्यासों का मूल कथ्य है। रूढ़ सामाजिक परंपराओं के प्रति उनमें विद्रोह का भाव है तथा उन्होंने जीवन की विभिन्न विरोधी स्थितियों के बीच मनुष्य को जाना परखा है।

सन् १९३४ ई० में उनका प्रसिद्ध उपन्यास चित्रलेखा प्रकाशित हुआ था जिसमें नैतिक मूल्यों की पुनःस्थापना की समस्या को मनोवैज्ञानिक धरातल और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उठाया गया था। इसके बाद से अबतक उनके कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें तीन वर्ष, टेढ़े मेढ़े रास्ते, आखिरी दाँव, भूले बिसरे चित्र, वह फिर नहीं आई, अपने अपने खिलौने, सामर्थ्य और सीमा तथा रेखा मुख्य है। इन उपन्यासों में उनकी औपन्यासिक यात्रा की गतिविधि देखी जा सकती है। तीन वर्ष में प्रेम के आत्मिक और व्यावसायिक रूपों को कई पात्रों और विरोधी किंतु स्वाभाविक परिस्थितियों के बीच से उभारा गया है। टेढ़े मेढ़े रास्ते में, अपने युग की भारतीय राजनीति के टेढ़े मेढ़े रास्तों (गांधीवाद, साम्यवाद और हिंसक क्रांति) का अध्ययन किया गया है। लेखक की दृष्टि सामान्यतः तो तटस्थ रही है पर थोड़ा सा झुकाव गांधीवाद की ओर अवश्य हो गया है। आखिरी दाँव की कोई अपनी विशिष्टता नहीं है। उसकी विचारभूमि अर्थसत्ता और मानवता के संघर्ष पर टिकी है। यथास्थान अंतर्द्वंद्वों का चित्रण भी हुआ है पर उसमे गहराई और प्रौढ़ता नही आ पाई है। भूले बिसरे चित्र मे सन् १८८५ से १९३० का युग पृष्ठभूमि में है। गाल्सवर्दी के मैन आफ प्रापर्टी की तरह इसमें भी परिवार की चार पीढ़ियो के माध्यम से बदलते हुए मूल्यों और संदर्भों का चित्रण किया गया है। निश्चय ही इसमें सामाजिक विकास की विविध अवस्थाओं और पक्षो का चित्रण है। सामाजिक चेतना, ऐतिहासिक बोध इतनी विशदता और यथार्थता के साथ पहली बार चित्रित किया गया है। इसमें असाधारण तत्वों के नियोजन द्वारा वैचित्र्य के समावेश की चेष्टा नही की गई है। इसका आधार-फलक व्यापक है और सारे सामाजिक इतिहास को समेटे हुए है।

इसे 'प्रेमचंद के उपन्यासों का संशोधित और परिमार्जित' संस्करण कहा जा सकता है जिसमें विभिन्न कथाप्रवाहों की अन्विति है और इसके वैविध्य मे एकत्व है। इसके पात्र समस्या निरूपण के माध्यम हैं और उनका व्यक्तित्व सामाजिक परिवेश में उभरा है। वर्माजी व्यक्तिवादी कलाकार नही है इसलिये उनके पात्र और समस्याएँ समाज से उभरती हैं। वे परिस्थितियों से हारकर भी अपने से नही हारते। इस उपन्यास की रचना बौद्धिकता और चिंतन के ठोस आधार पर हुई है। इसके

बाद के उपन्यासों से वर्माजी 'लोकप्रिय' लेखक चाहे बन गए हों परंतु उपलब्धियों की दृष्टि से वे बहुत ही साधारण हैं। रेखा की सेक्स संबंधी स्थितियों को देखकर तो यही धारणा बनती है कि वयस्क लेखक यदि युवकों की समस्याओं पर न लिखें तो अच्छा है क्योंकि उनसे संबद्ध मानसिक बारीकियों की पकड़ उनकी क्षमता के बाहर हो जाती है।

बृहद् आयामी उपन्यासों के क्षेत्र में नई भूमि खोजनेवाले दूसरे उपन्यासकार हैं उपेंद्रनाथ अश्क। प्रेमचंद के बाद व्यक्ति की समस्याएँ व्यक्तिवाद की पोशाक पहन कर आईं। आत्यंतिक वैयक्तिकता की स्वीकृति के कारण अबतक मानी जानेवाली मर्यादाओं और नैतिकता के प्रति विद्रोह हुआ। उपेंद्रनाथ अश्क ने मध्यवर्गीय जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्‌घाटन किया। उन्होंने विभिन्न आर्थिक, मानसिक, सामाजिक तथा संस्कारजन्य समस्याओं को व्यापक सामाजिक परिवेश में देखा और व्यक्ति की नैतिक वर्जनाओं, मानसिक कुंठाओं और विकृतियों का चित्रण किया। उनका आदर्श जिंदगी का यथार्थ है। जीवन कूडे करकट, धुएँ, धुंध, गर्द, गुबार, कीचड़, दलदल से अटा पड़ा है। उसके बाहर की उलझनों का विस्तार अपरिमित है। उसके अंतर में बेगिनती स्तर हैं, अँधेरी कंदराएँ हैं जिनकी झाँकी मात्र कँपा देने को काफी हैं। इन्ही स्तरों के यथार्थ का चित्रण उनका ध्येय है और अपने इस यथार्थवाद को वे आलोचनात्मक यथार्थवाद का नाम देते है। अश्क समाज के यथार्थ को उसके उभरनेपन के साथ व्यक्त करते हुए व्यंग्य और हास्य के माध्यम से उसकी आलोचना करते हैं। प्रेमचंद आदर्श आरोपित करते थे, अश्क तटस्थ हैं। अर्थ और काम इनके उपन्यासों की मूल प्रेरणा हैं। सच्चे प्रेम का प्रमाण आदर्श परिस्थितियों में नहीं यथार्थ की विषम स्थितियो मे मिलता है। अश्कजी के लिये सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है जिंदगी—शेष वस्तुएँ तो उसके उन्नयन को साधन मात्र हैं। उनके मुख्य उपन्यास हैं—सितारों के खेल, गिरती दीवारें, गर्म राख, बड़ी बड़ी आँखें, पत्थर अल पत्थर, और शहर में घूमता आईना। अश्क के साहित्य पर देश विदेश के अनेक साहित्यकारों का प्रभाव है जिनमें मुख्य है—तुर्गनेव, गाल्सवर्दी, रोमारोलाँ, वर्जीनिया वुल्फ, शालोखोव और प्रेमचंद। उन्होंने लिखा है: 'मुझे तुर्गनेव का परिष्कृत चुलबुलापन और हास्य मिला व्यंग्य, गाल्सवर्दी का छोटी छोटी तफसीलों को उजागर करनेवाले चरित्र चित्रण, रोमारोलाँ के ज्याक्रिस्ताफ का फैशन पैटर्न, प्रेमचंद की जागरूकता और शालोखोव के कथानक का ढीलापन अच्छा लगता है।' प्रेमचंद की व्यापकता और समग्रता के स्थान पर अश्क समग्रता में से चुनाव करते हैं। प्रेमचंद व्यापकता को गहनता देते थे अश्क गहनता को व्यापकता देते हैं।

इन तीनों उपन्यासकारों में प्रेमचंद के सबसे निकट हैं श्रीअमृतलाल नागर। उनकी संवेदना निश्चय हो प्रेमचंद से भिन्न है पर यह भिन्नता युगजन्य अधिक है प्रवृत्तिजन्य कम। नागरजी ने व्यक्ति और समाज में समन्वय की दृष्टि अपनाई है।

व्यक्ति और समाज की सापेक्षता में उन्हें अनेक समस्याओं के निराकरण का सूत्र दिखाई देता है। उनके कथ्य में मूल्यों का परंपरागत पिष्टपेषण नहीं है। वे सापेक्ष वस्तुस्थिति द्वारा मूल्यों के प्रति आस्था और विश्वास का बीजारोपण करते हैं। ऊपर से आदर्शों सिद्धांतों और मूल्यों को लादने के बजाय मानवीय संवेदनाओं की खोज उनका उद्देश्य है। उनकी दृष्टि अति वैयक्तिकता और अति सामूहिकता के बीच कहीं है। उनके मुख्य उपन्यास हैं—कामरेड देवदास, अप्रकाशित (१९३८), सेठ बाँकेमल १९४१ में लिखित ५६ में प्रकाशित। डा० नामवर सिंह के शब्दों में 'पढ़िए तो सरशार का फिसानए आजाद याद आए। वही जिंदादिली, वही ताजगी। नागरजी व्यंग्य और विनोद के उस्ताद हैं।' उनका तीसरा उपन्यास है '**महाकाल**' जिसकी रचना सन् ४४ में हुई और प्रकाशित हुआ सन् ४६ में। इसमें बंगाल के काल की प्रामाणिक कहानी कही गई है। दुर्भिक्ष के दौरान घटी हुई घटनाओं के आधार पर इसे लिखा गया है, जो अमानुषिक होते हुए भी यथार्थ है। 'पाँचवा दस्ता' एक लघु उपन्यास है जो सांप्रदायिक और सामाजिक प्रश्नों को लेकर लिखा गया है। 'बूंद और समुद्र' में व्यक्ति और समाज के समन्वय के प्रश्न को मध्यवर्गीय चेतना के विविध स्तरों के प्रतीक पात्रों के माध्यम से सुलझाया गया है। उसका फलक विस्तृत है और इसमें शैली के उपकरणों का सायास समन्वय हुआ है। 'शतरंज के मोहरे' तथा 'सुहाग के नूपुर' नागरजी के ऐतिहासिक उपन्यास है जिनमें मानव की शाश्वत समस्याओं का निरूपण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुआ है। उनका विवेचन ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रसंग में किया जाएगा। 'बूंद और समुद्र' के बाद अपने नए उपन्यास मे उन्होंने सन् १९६२ के निर्वाचन और उसके निकट के देशकाल को देखा परखा है। इस उपन्यास के माध्यम से ऐसा थर्मामीटर बनाने को कोशिश की गई है जिससे वह प्रथम राष्ट्रीय चुनाव से लेकर स्वतंत्र भारत के तीसरे निर्वाचन तक की प्रगति-प्रगति को भली भाँति जान सकें।

(ग) **परंपरा की लीकें**—राजनीतिक सामाजिक फलक के उपन्यासों की परंपरा धीरे धीरे रेंगती रही। राजनीतिक भूमि पर यशपाल ने मार्क्सवाद से अर्जित नई दृष्टि दी। उनके उपन्यासों का विवेचन समाजवादी उपन्यासों के अंतर्गत किया जायगा। प्रेमचंद की परंपरा में जो अन्य उपन्यास लिखे गए वे अधिकतर इतिवृत्तात्मक हैं। न उनमें पात्रो के व्यक्तित्व की बारीकियाँ है और न समग्रता का उभार। विवरणों और तथ्यों के इतिवृत्तात्मक वर्णन से ही लेखकों ने संतोष कर लिया है। एक आकर्षक परिवर्तन चतुरसेन शास्त्री के 'गोली' उपन्यास मे मिलता है जिसमें रियासतों के विलय की घटना से उत्पन्न परिस्थितियो का मार्मिक और यथार्थ चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में सामयिक घटनाओं की पृष्ठभूमि के बावजूद ऐतिहासिकता की ध्वनि सर्वत्र विद्यमान है।

समसामयिक घटना पर आधृत दूसरा उपन्यास वृंदावनलाल वर्मा द्वारा लिखित

'अमरबेल' है, जिसमें जमींदारी उन्मूलन के बाद बुंदेलखंडी ग्रामों में लागू सहकारी कृषि और योजनाओं द्वारा समाज में फैली हुई अमरबेलों का नाश करना है जो कुप्रथाओं, दुराग्रहों और रूढ़ परंपराओं के रूप में समाज और व्यक्ति को चूस रही हैं। बाह्य कार्यकलापों से भरे इस उपन्यास में अन्वेषण विश्लेषण का अभाव है।

मन्मथनाथगुप्त यों तो प्रगतिवादी लेखक हैं पर उनके उपन्यासों में मार्क्सवाद की सैद्धांतिक भूमि का आग्रह नहीं है। उन्होंने समसामयिक परिस्थितियों को समस्याओं के आवरण में प्रस्तुत करके प्रगतिवादी ढंग से उनका मूल्यांकन किया है। सामूहिक प्रभाव उनमें प्रधान है। वैयक्तिकता की गौणता के कारण वह अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक हो गया है। उनके उपन्यासों में कथासंयोजन का आधार बाह्य घटनाएँ हैं जिनका नियोजन एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हुआ है। गुप्तजी मनोविज्ञान की टेढ़ीमेढ़ी सँकरी गलियों में नहीं भटकते, राजमार्ग पर चलते हैं। उनकी चारित्रिक रेखाएँ स्थूल हैं। अपने युग की विभिन्न समस्याओं की प्रेरणा से लिखे गए उनके मुख्य उपन्यास हैं : चक्की, गृहयुद्ध, दो दुनिया, बलि का बकरा, दुश्चरित्र, अँधेर नगरी, जिच, रैन अँधेरी, अपराजिता, रंगमंच, होटल दि ताज।

विष्णु प्रभाकर का उपन्यास 'निशिकांत' सन् १९२० से १९३९ तक की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। कथानक सामाजिकता और सामूहिकता के बिंदु पर आरंभ होकर वैयक्तिक धरातल पर समाप्त हुआ है। उसके संघटन में बिखराव है। उनके दूसरे उपन्यास 'तट के बंधन' में भी सामाजिक समस्याओं का वैयक्तिक पर्यवसान हुआ है। दहेज, जातिवाद, परंपरागत विवाहप्रथा इत्यादि जर्जर रूढ़ियों से उत्पन्न समस्याओं को उनमें ग्रहण किया गया है। इसमें मुख्य समस्या प्रेम और विवाह की है। उपन्यास में वृत्तों के कई सूत्र हैं, सुधारवादी दृष्टि की प्रधानता के कारण कहीं कहीं कला तत्व की उपेक्षा हो गई है। उदयशंकर भट्ट के उपन्यासों को भी इसी परंपरा में रखा जा सकता है। वह जो मैंने देखा, डा० शेफाली, लोक परलोक, शेष अशेष, दो अध्याय, इस परंपरा के मुख्य उपन्यास हैं। भट्टजी के उपन्यासों का स्तर मानवतावादी है। व्यक्तिगत स्तर की अंतर्मुखता की अभिव्यक्ति के लिये उन्होंने मनोविज्ञान का सहारा लिया है। बहिर्मुखी और अंतर्मुखी तत्वों के संघटन में अन्विति नहीं है एक बिखराव है, इस विन्यास में पेबंदों की सिलाई सफाई से नहीं हुई है।

(घ) **समाजवादी उपन्यास**—प्रेमचंद के बाद गांधीवादी राजनीतिक चेतना के स्थान पर हिंदी साहित्य में मार्क्सवादी चेतना की एकदम से बाढ़ आ गई। उपन्यास के क्षेत्र में यशपाल ने इसी चेतना से प्रेरित होकर सामाजिक यथार्थवाद की पृष्ठभूमि में व्यक्ति और समाज को नए युगीन परिप्रेक्ष्य में देखा और परखा। उनके उपन्यासों की घटनाएँ तथा पात्र मध्यवर्ग, निम्न मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। यशपाल ने वर्गसंघर्ष, रूढ़िगत समाज व्यवस्था, सामाजिक विसंगतियों और रूढ़ परंपराओं पर आक्रमण किया है। वर्गगत और जीवनगत

समस्याओं का मूल कारण आर्थिक अव्यवस्थाओं और वैषम्यों में निहित माना है। वे स्वयं एक क्रांतिकारी थे इस नाते उस युग के उनके अनुभव व्यापक भी थे और गहरे भी। उनके पास एक निभ्रांत परंतु मताग्रही दृष्टि थी जिसके अनुसार जीवन से ली गई कला ही कला थी। 'साहित्य और कला की गति पृथ्वी और सर्वसाधारण के समतल और समानांतर दिशाओं में चलने और बढ़ने में है।' हमारे यथार्थ का नग्नरूप क्षुधा और कामजन्य चीत्कार है। वह श्रेणीसंघर्ष और राष्ट्रों के संघर्ष के बीच प्रकट होता है। वह जघन्य चाहे हो पर हमारे समाज की वास्तविकता है। यशपाल ने अपने उपन्यासों में वर्गसंघर्ष की उभरती हुई चेतना को प्रस्तुत किया। उन्होंने समाज के खोखलेपन को उघाड़ा और द्वैत तथा वैषम्य के विरुद्ध आवाज उठाई, जो वर्गवैषम्य को बढ़ावा देता है और मानव संबंधों को जटिल, कटु और तीखा बनाता है। उनके प्रमुख उपन्यास हैं—दादा कामरेड, देशद्रोही, पार्टी कामरेड, मनुष्य के रूप और झूठा सच। दिव्या ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया साम्यवादी चेतना का उपन्यास है। देशद्रोही में वर्तमान समाजव्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त हुआ है। उसका आधारफलक विस्तृत और कथानक जटिल है। इन उपन्यासों में गांधीनीति और कांग्रेस की खुली आलोचना करके साम्यवाद का प्रतिपादन किया गया है और द्वितीय विश्वयुद्ध में भारतीय साम्यवादी दल की युद्ध समर्थक नीति का स्पष्टीकरण करते हुए उसका औचित्य सिद्ध किया गया है। 'मनुष्य के रूप' की सामाजिक भूमि अपेक्षाकृत विस्तृत है। उसमें मनुष्य के बदलते हुए रूपों के साथ आधुनिक जीवन से उत्पन्न समस्याओं की चीरफाड़ की गई है। उसकी जर्जर रूढ़िग्रस्तता और पतनोन्मुखी जीवन के चित्र खींचे गए हैं। 'झूठा सच' मार्क्सवादी आग्रहों से आक्रांत नहीं है इसलिये उसकी विवेचना यथास्थान की जायगी।

मार्क्सवाद के व्यावहारिक और सैद्धांतिक पक्षों को उपन्यासों में अभिव्यक्ति देनेवाले दूसरे उपन्यासकार हैं रांगेय राघव। उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन के स्तर पर समाजवादी चित्रण किया। कुछ उपन्यासों में भारतीय संस्कृति और इतिहास के विभिन्न युगों के आधारफलक पर तथा इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तित्वों के माध्यम से युग की गति और संघर्षों का चित्रण किया गया है। अंतिम दो वर्गों के उपन्यासों का परिचय ऐतिहासिक उपन्यासों के अंतर्गत किया गया है। मध्यवर्गीय जनजीवन पर आधृत उनके मुख्य उपन्यास हैं : विषाद मठ, उबाल, पराया, और हुजूर। विषाद मठ में बंगाल के काल से कथानक ग्रहण किया गया है। राजनीतिक आक्रोश और पूँजीवादी व्यवस्था की दारुण नग्नता का चित्रण उसमें हुआ है और करुणा की एक आर्द्र छाया आरंभ से अंततक विद्यमान है। उबाल में आर्थिक वैषम्यों से उत्पन्न नारी की घुटन का वर्णन है। उसके जीवन की तपिश के विभिन्न स्रोतों और कारणों की खोज की गई है। पराया में वर्गवैषम्य, वर्गसंघर्ष के साथ व्यक्तिवादी यौन समस्याओं से भी वस्तु ग्रहण की गई है। 'हुजूर' में वर्तमान जीवन के बीस वर्षों का

चित्र है जिसकी कहानी कुत्ते के माध्यम से कही गई है। इसमें वर्तमान की कुत्सित स्थितियों के व्यंग्यपूर्ण सशक्त चित्र खींचे गए हैं।

अमृतराय के उपन्यासों में साम्यवादी सिद्धांतों का खुला व्याख्यान हुआ है। सामाजिक यथार्थवाद से पोषित उनकी दृष्टि आर्थिक आधार के महत्व की स्थापना करती है। सिद्धांतों की प्रधानता के कारण उनकी रचनाएँ संवेदनशील नहीं बन पाई हैं। उनके उपन्यासों में गांधीनीति की खुली निंदा और साम्यवादी सिद्धांतों का खुला प्रतिपादन हुआ है। उनके पात्र भी सिद्धांतों पर जीनेवाली कठपुतलियाँ हैं, न उनका अपना व्यक्तित्व है न संवेदनशीलता। उनके प्रमुख उपन्यास हैं : बीज, हाथी के दाँत और नागफनी का देश। ये सभी उपन्यास सैद्धांतिक मतवाद से बोझिल हैं। भैरवप्रसाद गुप्त भी मार्क्सवादी सिद्धांतों की स्थापना के मोह में फँसकर उसी में भटक गए हैं। परंतु औपन्यासिक कलाचेतना की ओर वे यथाशक्ति जागरूक रहे हैं। सामाजिक चेतना के साथ ही व्यक्तिगत चेतना के अनेक पक्षों का विश्लेषण भी वे सामर्थ्य के साथ कर सके हैं। उनके प्रमुख उपन्यास हैं : मशाल, गंगा मैया, जंजीरें, नया आदमी और सत्तीमैया का चौरा।

इस परंपरा के उपन्यासों को सैद्धांतिक और बौद्धिक मीनार से उतारकर जनता के बीच लाने का श्रेय नागार्जुन की प्रखर लेखनी और प्रामाणिक अनुभूति को है। नागार्जुन के उपन्यास अंचलविशेष की पृष्ठभूमि में लिखे गए हैं इसलिये उनके उपन्यासों को आंचलिक प्रवृत्ति के अंतर्गत रखा जाता है। परंतु मेरा निभ्रांत मत है कि अबतक जो साम्यवादी चेतना साहित्य की बौद्धिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि ही बनाती रही है, मिथिला की समस्याओं और संघर्षों के चित्रण में नागार्जुन ने उन्हें जीवन का अंग बना दिया हैं। उनके पात्रों को अत्याचार सहने की आदत नहीं है। वे खुलकर सामाजिक विकृतियों और अत्याचारों के विरुद्ध झंडा खड़ा करते हैं। उनके उपन्यास यद्यपि समाजवादी सिद्धांतों से आच्छादित हैं पर उनमें कोरी सैद्धांतिकता ही नहीं व्यावहारिकता भी है। उसमें वर्गसंघर्ष और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह है जो लोकभूमि पर खड़ी है। रतिनाथ की चाची में मैथिल गाँवों का यथार्थ चित्रण है। कथावस्तु में पर्याप्त विस्तार, मोड़ और उलझाव है। कुछ अप्रासंगिक कथ्यों में नग्नता और असंयम को उपन्यास में बचाया जा सकता था, परंतु उनकी सार्थकता यह है कि प्रसंग हमें सोचने को मजबूर करते हैं। नई पौध की मुख्य वस्तु सामाजिक है जिसमें लोकजीवन के तथ्य निहित हैं। कथा मैथिलजीवन की है। सैद्धांतिक आग्रह यहाँ भी प्रमुख है। बाबा बटेसरनाथ उनका सर्वप्रमुख उपन्यास है जिसमें कथा बरगद के वृक्ष के द्वारा कही गई है। घटनास्थल है रूपउली ग्राम जहाँकी चार पीढ़ियों का वर्णन उपन्यास में हुआ है। अंग्रेजी राज्य के आरंभ से स्वतंत्रताप्राप्ति तक की स्थितियाँ उसमें हैं परंतु अंत यहाँ भी सिद्धांतवादिता से ही होता है। अपनी प्रतीकात्मक सार्थकता के कारण उपन्यास सोद्देश्य हो उठा है। 'बलचनमा' आत्म-

कथात्मक उपन्यास है जिसमें मिथिला के जागरण और विद्रोह की कहानी कही गई है। कथानक सुनियोजित और कौतूहलपूर्ण है। रचना में घनत्व और सुगुंफन है। सामाजिकता का स्वर यहाँ भी प्रधान है। राजनीतिक चर्चा अधिक है। आंचलिक अंश बहुत कम हैं। राजनीतिक विचार समाजवादी आंदोलन का समर्थन करते हुए आरोपित किए गए हैं। उन्होंने संघर्षशील व्यक्तित्व के द्वारा आई समाजवादी चेतना की ओर इंगित किया है जो उत्पीड़ित, साधनहीन तथा अधिकारों से वंचित किसानों और मजदूरों में अन्याय के प्रति विद्रोह की ज्वाला सुलगाती है। जमींदारों और राजनीतिक नेताओं के स्वार्थसंघर्षों तथा दूषित कार्यों को भी लक्ष्य बनाया गया है। उनका किसान सर्वहारा वर्ग का विद्रोही और दमदार किसान है। होरी की तरह घुल घुलकर मरनेवाला नहीं। दुखमोचन में टमका कोहली गाँव के नवनिर्माण की कथा है। विधा और वस्तु दोनों ही दृष्टि से उपन्यास यांत्रिक है, उसमें प्रखर नागार्जुनीय स्पर्श नहीं है।

(ङ) प्रकृत यथार्थवादी उपन्यास—प्रेमचंद युगीन प्रकृत यथार्थवादी उपन्यासों की परंपरा भी प्रेमचंद के बाद चलती रही। यह प्रवृत्ति प्रेमचंद युगीन आदर्शवादी और रूमानी प्रवृत्तियों के समानांतर और विरोध में विकृतियों और नकारात्मकता की भूमि पर खड़ी हुई थी जिसमें समाज की गलन और सड़ांध तथा मरणोन्मुख तत्वों के प्रति प्रतिक्रिया थी। इन उपन्यासकारों ने मनुष्य के मनोरोगों और विकृतियों को बिना सँवारे पोंछे जैसे का तैसा चित्रित किया। सामाजिक और नैतिक बंधनों की कृत्रिमता का आरोपण उन्होंने नहीं किया। आदिम वासनाओं को सभ्य बाना पहिनाये बिना और समाज की अंधकारपूर्ण कंदराओं में आदर्श की टार्च-लाइट फेंके बिना ही जीवन के स्वस्थ उपकरणों और निर्धारित परंपराओं से अलग यह परंपरा चली। प्रेमचंद युग में इस परंपरा के मुख्य लेखक थे चतुरसेन शास्त्री और बेचन शर्मा 'उग्र' लेकिन प्रेमचंद के बाद उस परंपरा को चलाने वाले एक मात्र 'उग्र' रह गए। युवक लेखक शैलेश मटियानी के उपन्यासों में उग्र जी की नग्न प्रखरता, खुलापन और बेढबी मिलती है लेकिन उनके प्रमुख उपन्यास अधिकतर आंचलिक आयामों को लेकर ही चले हैं इसलिये उनका विवेचन आंचलिक उपन्यासों के अंतर्गत करना ही अधिक समीचीन होगा।

इन उपन्यासों में सामाजिकता का अभाव नहीं है लेकिन उनकी सामाजिक दृष्टि अपनी है। इन लेखकों ने समाज के नरक वेश्यालय, गुंडालय, मदिरालय की सड़ांधों को व्यक्त किया है और उनकी विद्रोहात्मक अनुभूति अंधकार में गुम रह कर उसके अलग अलग शेडों को पहिचानती है। उनका कहना यह है कि जब जीवन के ये क्रूर सत्य समाज को सह्य हैं तो साहित्य को भी उन्हें सहना पड़ेगा। साहित्य उनसे कैसे भाग सकता है। इन उपन्यासों के कथानक समाज के कुरुचिपूर्ण आख्यानों और कार्यों से ग्रहण किए गए हैं। उनमें अंतर्द्वंद्व, ऊहापोह और विचारों

का संघर्ष नहीं है। जिन विकृतियों को उन्होंने उतारना चाहा है वे व्यक्तिमूलक नहीं, वर्गमूलक हैं। व्यक्ति की विकृतियाँ नहीं, मानव समाज की सड़न, गंदगी और कुरूपता को इन उपन्यासों में वाणी दी गई है। उग्रजी के इस काल में लिखे गए मुख्य उपन्यास हैं 'जीजी जी', 'सरकार तुम्हारी आँखों में' और 'मनुष्यानंद।' तीनों ही उपन्यासों में समाज के गलित दलदल में उतर कर उसके यथार्थ की थाह लेने की कोशिश की गई है, जिनमें परख और अनुभूति तो है ही, वक्र अभिव्यंजना भी है। स्थायित्व के मापदंड पर ये उपन्यास पूरे उतरते हैं, यद्यपि उनकी दृष्टि जीवन के बाह्यव्यापारों पर ही रही है। मानसिक द्वंद्वों और उथल पुथल पर नहीं। उनके चरित्र स्थिर हैं और लेखक के इशारे पर कठपुतलियों की तरह नाचते हैं।

(च) **आयामहीन विराट् उपन्यास**—जैसा कि पिछले विवेचन स्पष्ट है प्रेमचंद के तत्काल बाद समष्टि चेतना के उपन्यास प्रायः दो भागों में बँट गए। उनकी व्यापक सामाजिक चेतना का स्थान 'अश्क' और भगवती बाबू के उपन्यासों की मध्यवर्गीय चेतना ने ले लिया तथा देशव्यापी गांधीवादी राजनीतिक दृष्टि को मुट्ठी भर साम्यवादियों की प्रगतिवादी दृष्टि ने कुछ समय के लिये स्थानापन्न कर दिया। फलस्वरूप विराट जीवन की व्यंजना करने वाले आयामों के पार जाने वाली औपन्यासिक दृष्टि प्रायः लुप्त हो गई। भारत विभाजन और स्वतंत्रता के बाद की घटनाओं की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रेरणा से यह दृष्टि कुछ लेखकों में फिर से उभरी और यशपाल के 'झूठा सच' तथा नरेश मेहता के 'यह पथ बंधु था' और धूमकेतु : एक श्रुति जैसे उपन्यासों में व्यक्त हुई।

'झूठा सच' में यशपाल अपने मार्क्सवादी पूर्वाग्रहों से बिल्कुल बाहर आ गये हैं। राजनीतिक दाँवपेचों, घटनाओं और संघर्षों की स्थूलताओं के बीच में परिस्थितियों से अदम्य संघर्ष करने वाले जीवंत चरित्रों की सृष्टि जिस प्रकार की गयी है वह पहले के उपन्यासों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रौढ़ दृष्टि की द्योतक है। परंतु उनकी यथार्थवाद संबंधी धारणाएँ पहले ही जैसी है। उनमें कोई मौलिक अंतर नही आया है। पहले की ही तरह वे जीवन को आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा ही निर्देशित मानते हैं, उन आंतरिक कारणों से नहीं जिन्हें वस्तुवादी दृष्टि से समझना संभव नहीं होता। 'झूठा सच' के पात्र यद्यपि वैशिष्ट्ययुक्त हैं, परंतु सूक्ष्म आत्मनिरीक्षण के क्षण प्रायः उनमें से किसी के पास नही है, उनकी समस्याएँ सामाजिक पारिवारिक और आर्थिक क्षेत्रों से ही उत्पन्न होती हैं, जिनसे साहसपूर्ण संघर्ष की प्रेरणा मिलती है, परंतु उनके जीवन का कोई बड़ा हेतु उभर कर नहीं आता। झूठा सच वास्तव में एक कल्पनामिश्रित यथार्थ है जिनमें स्थितियों और पात्रों दोनों की बहुलता है। इसको कथायोजना परंपरागत है, अनेक सामाजिक सूत्रों को समेटने के लिये अनेक घटना-प्रसंग आये है परंतु उनका संगठन चुस्त और कसा हुआ है। घटनाओं और परिस्थितियों के घात प्रतिघात में ये पात्र उभरे हैं। यशपाल की दृष्टि प्रेमचंद से

अधिक प्रखर और तीखी है। जर्जर मान्यताओं और खोखले आदर्शों की चीरफाड़ वे बड़ी निर्ममता से करते हैं। अपने प्रति मताग्रहों के आक्षेप का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया है—'मैं किसी यांत्रिक चिंतन का दास नहीं हूँ'''यौनवादी तृष्णा, व्यक्तिवाद, प्रगतिवाद किसी के चोले में मैं अपने को यांत्रिक नहीं बना सकता। मेरे सामने इतिहास है, जीवन और मनुष्य की पीड़ा है, मनुष्य की चेतना है जो निरंतर अंधकार से लड़ रही है।' इस परंपरा का दूसरा उपन्यास है नरेश मेहता का 'यह पथ बंधु था।' यह एक विराट उपन्यास है, मालवा प्रदेश के एक निपट साधारणजन की दुखगाथा है। इस उपन्यास में सन् १९२० से १९४५ तक की पृष्ठभूमि में 'एक निपट साधारणजन की दुखगाथा कही गयी है। 'यह पथ बंधु था' हिंदी उपन्यास की यात्रा में एक 'उल्लेखनीय पदचिह्न' है। एक युगविशेष की विशद और अंतर्दृष्टि पूर्ण कथा पहले कभी नहीं कही गई। यह कथा न तो समाज विज्ञान के स्तर पर कही गई है, न मनोविश्लेषण के। वह तो सहज मानवीय स्तर पर गतिमान हुई है। इस उपन्यास में व्यक्ति और परिवेश अलग अलग नहो है। उनका पारस्परिक संघात एक दूसरे को उभारता चलता है। बाह्य परिस्थितियों के बीच पात्रों के जीवन की व्यर्थताएँ और सार्थकताएँ उभरती है तो दूसरी ओर व्यक्तियों के माध्यम से बदलते हुए मानवीय संबंधों, राजनीतिक सामाजिक संस्थाओं, आर्थिक व्यवस्थाओं का खोखलापन तीव्रता से उभर कर आता है। व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन बराबर बना रहा है। इसलिये इस उपन्यास में गहराई और विस्तार दोनों है। बाह्य यथार्थ भी है और प्रामाणिक अनुभूति भी।

'नरेश मेहता' का दूसरा उपन्यास धूमकेतु : एक श्रुति भी इन्हीं विशेषताओं से युक्त है। इस उपन्यास में उन सभी संभावनाओं के बीज मिलते हैं जो 'यह पथ बंधु था' में पल्लवित हुई थी। उपन्यास का मुख्य पात्र है एक अत्यंत कल्पनाशील बालक उदयन। इस उपन्यास में भी जीवनानुभूतियों और भावनात्मक तीव्रताओं को व्यापकता और गरिमा दी गई है। बालक के व्यक्तित्वनिर्माण में महत्व रखने वाले तत्वों और सूत्रों का सहज विश्लेषण किया गया है जिसके अंतर्गत अनेक मर्यादाएँ, वर्जनाएँ, भावनात्मक तृप्ति, अतृप्ति, परिस्थितियों का घात प्रतिघात, परिवेश और व्यक्तिजन्य क्रूरताएँ और आर्द्रताएँ सब सिमट आई हैं। इस कृति की नियोजना एक संपूर्ण बृहत् उपन्यास की है, प्रस्तुत कृति उस योजना का समारंभ मात्र है। नरेश जी के इन दोनों ही उपन्यासों में प्रेमचंद की समग्रता, जैनेंद्र और अज्ञेय जैसी गहराई और शरत्चंद्र जैसी कच्ची नरम आर्द्रता नये मूल्यों और नये संदर्भों के साथ मिलती है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि इन उपन्यासों के साथ हिंदी उपन्यास अवरोध की जड़ता को फाड़कर नई संभावनाओं की ओर उन्मुख हुआ है।

(६) मिट्टी की घुटन और विस्फोट—धर्मवीर भारती के उपन्यास 'गुनाहों का देवता' और सूरज का सातवाँ घोड़ा से मध्यवर्गीय समाज की आधारभूमि पर लिखे

उपन्यासों की नई परंपरा आरंभ होती है। इस परंपरा के युवकों की दृष्टि हर प्रकार के काल्पनिक आग्रह में मुक्त ठोस यथार्थ के धरातल पर आरंभ से ही सिर उठा कर खड़ी हुई और उन्होंने जीवन की विभिन्न उलझनों और समस्याओं का संप्रेषण यथार्थ संवेदनाओं और स्थितियों की पहिचान रखने वाले पात्रों के द्वारा की। भावुकता और कल्पनाशीलता के झीने आवरण में से उन्होंने जीवन और उसकी समस्याओं को नहीं देखा है। इन नये युवकों का आक्रोश एक ओर नैतिक प्रश्नों से संबद्ध परंपरागत मानवों को लेकर है और दूसरी ओर उन सांस्कृतिक सामाजिक मूल्यों को लेकर, जो पुराने और असामयिक होते हुए भी चलते जा रहे हैं। आक्रोश और घुटनभरे विद्रोह की यह पुनः स्थिति स्वतंत्रता के बाद आई हुई अभावमयी शून्यात्मक स्थितियों से उत्पन्न हुई है। इन युवकों ने आज के मनुष्य का उसके वैयक्तिक और सामाजिक संदर्भों में समग्र और गतिशील चित्रण किया है। गुनाहों के देवता में एक ओर मध्यवर्गीय समाज की रूढ़िग्रस्तता और विषमताओं का निरूपण हुआ है दूसरी ओर व्यक्तिगत स्तर पर भावना और वासना का द्वंद्व चित्रित है। जिंदगी के दो स्तरों के द्वंद्व में कथावस्तु आगे बढ़ती है। दोनों ही सूत्र दो अतिवादों पर आश्रित हैं। मन के भयंकर तूफान और बुद्धि की इस्पाती तटस्थता, इन दो छोरों के द्वंद्वों के समन्वय की संभावना में उपन्यास समाप्त होता है।

सूरज का सातवाँ घोड़ा की परंपरा अगर आगे बढ़ती तो कथ्य और शैली दोनों ही दृष्टियों से इसे इस वर्ग के उपन्यासों का मील का पत्थर माना जा सकता था। परंतु लेखक के रचनात्मक क्षेत्र से संन्यास लेने के कारण उसके ऊपर भी धूल की परतें जम गई हैं और सूरज का सातवाँ घोड़ा अंधेरे बंद कमरों और अंधी गलियों में भटकता फिर रहा है। माणिक कथाचक्र के अंतर्गत निष्कर्षवादी कथाओं के रूप में कहा गया लघु उपन्यास है सूरज का सातवाँ घोड़ा। झूठे जीवन मूल्यों को यथार्थ के कई स्तरों और संदर्भों को विभिन्न कोणों से उभारा गया है। लेखक ने प्रेम की समस्या को केवल वैयक्तिक और समाजनिरपेक्ष न मानकर उसे आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में देखा है जिसमे देश काल का प्रसार बिंबित हो सका है, जो निम्न मध्यवर्गीय जीवन की संघर्षमयी आर्थिक विषमता और टूटते हुए नैतिक मूल्यों और सामाजिक विकृतियों को केंद्र में रख कर चलता है। सारा उपन्यास यथार्थ परिवेश में लिखा गया है पर उसके अंधेरे में लेखक खो नहीं गया है। मनुष्य की आदिम आस्था ही वह आलोक है जिसकी संभावना पर यथार्थ के अंधेरे को चीर कर आगे बढ़ने, समाज व्यवस्था को बदलने और मानवीय मूल्यों को पुनः स्थापित किया गया है। आदिम आस्था और सत्य के प्रति निष्ठा मनुष्य की प्रकाशपूर्ण आत्मा को उसी तरह आगे ले जा रहे है जिस तरह सात घोड़े सूर्य को ले जाते है। सूर्य के रथ को आगे बढ़ाना ही है। वस्तुशिल्प की दृष्टि से भी यह एक नया मोड़ था। उसमें केवल प्रयोग कौतुक

नहीं है। संकीर्ण आयाम में लंबे कथाक्रम को अपनाने के कारण यह रूपविधान स्वाभाविक बन पड़ा है। तटस्थ यथार्थवादी निरूपण इसकी विशेषता है।

नई परंपरा के दूसरे प्रमुख लेखक हैं डा० लक्ष्मीनारायण लाल, जिन्होंने ग्राम और नगर के मध्यवर्गीय जीवन से अपना कथ्य ग्रहण किया है। इनके प्रमुख उपन्यास हैं 'बया का घोंसला और साँप', काले फूल का पौधा, रूपाजीवा, छोटी चंपा बड़ी चंपा, मन वृंदावन। इन सभी उपन्यासों में जीवन की यथार्थ और मार्मिक झाँकियाँ हैं, कहीं मध्यवर्ग के द्वंद्व रूप में संस्कृतिसंघर्ष की कहानी कही गई है तो कहीं नई परिस्थितियों और रूढ़ आदर्शों की टक्कर है। बदलते हुए संदर्भों में अनेक नई और पुरानी समस्याओं का निरूपण बहिर्मुखी ही नहीं है—मन का स्तर भीनी आर्द्रता के साथ चित्रित है। शैली में लोक जीवन और लोक तत्वों के समावेश के साथ प्रतीकात्मकता का समावेश भी हुआ है।

राजेंद्र यादव के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थवाद, मनोविश्लेषक दृष्टि और प्रामाणिक अनुभूति तीनों का संकलन है। एक ओर उनके उपन्यासों में यथार्थ का तीखापन है तो दूसरी ओर मानवीय संवेदनाओं की तरलता भी है। उनके सभी उपन्यासों में यद्यपि यथार्थ का गहरा घना घटाटोप है पर उसमें निहित सूरज की हल्की पतली किरण भी संवेदनशील पाठक की आँखों से छिपी नहीं रहती। विकृतियों की भयावहता में आस्था की रेखा भी कभी कभी झलक जाती है। उनके प्रमुख उपन्यास हैं—प्रेत बोलते हैं, (इसका संशोधित संस्करण 'सारा आकाश' के नाम से प्रकाशित हुआ है) उखड़े हुए लोग, कुलटा, अनदेखे अनजाने पुल, एक इंच, मुस्कान (संयुक्त लेखिका मन्नू भंडारी)—यथार्थवादी है। इन सभी उपन्यासों का प्रतिपाद्य समस्यामूलक विचारप्रधान है। उखड़े हुए लोग में वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था और रूढ़ियों में पिसते हुए लोगों का चित्रण है। युद्धोत्तर और स्वातंत्र्योत्तर कालीन स्त्री पुरुष के बिगड़ते बनते संबंधों का चित्रण और बौद्धिक विचारणा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। राजेंद्र यादव ने परंपरागत रूपविधानों के स्थान पर नये प्रयोग किये हैं। उनका शिल्प पक्ष बहुत प्रौढ़ है। बहुत बार आत्मविश्लेषण, रेडियो कमेंटरी और ग्राफिक चित्रों द्वारा दृश्यों को उभारा गया है।

गिरधर गोपाल का चाँदनी के खंडहर मध्यवर्गीय जीवन पर आवृत शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपन्यास है। उसमें मध्यवर्ग की विशृंखलित आस्था का चित्रण है। उसकी अवधि २४ घंटों की है। इसमें भी युद्धोत्तर कालीन आर्थिक संकट से आक्रांत भरे पूरे घरों के खंडहरों की कहानी है। जीवन की घुटन, आदर्शों का खंडन और खोखली परंपरा के साथ तर्कशील बौद्धिक आयामों का संघर्ष इसमें चित्रित है। इस उपन्यास की शैली का सबसे बड़ा गुण है उसका कसाव और सूत्रबद्धता। सर्वेश्वर दयाल के सोया हुआ जल में भी मध्यवर्गीय जीवन की अतृप्ति तृष्णा और कुंठाओं को उठाया गया है। रोमांस और सेक्स की भूख, आर्थिक अभाव, प्रेम की विफलता,

वैवाहिक जीवन की विडंबनाएँ, दैहिक भूख का दमन, वर्जनाएँ और कुंठाएँ प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। यात्रीशाला दुनिया की प्रतीक है। जहाँ सब यात्रियों की आत्माएँ प्यासी हैं। जीवन की विशृंखलताओं का कारण यही प्यास और अतृप्त आकांक्षाएँ हैं। सारा उपन्यास छोटे छोटे चित्रों द्वारा निर्मित है जिसका सूत्रधार पहरेदार है। १२ घंटे में समाप्त यह उपन्यास सिनेरियो टेकनीक में लिखा गया है जिसमें अनेक व्यक्तियों के भावों, विचारों, कार्यों तथा एक ही व्यक्ति के विभिन्न भावों और मन.स्थितियों का समकालवर्तित्व दिखाया जा सकता है। इसके प्रतीक विधान के अंतर्गत स्वप्नचित्रों का माध्यम भी ग्रहण किया गया है।

कमलेश्वर का उपन्यास एक सड़क सत्तावन गलियाँ लघु आकार का मार्मिक उपन्यास है। इसमें एक कस्बे के छोटे और ओछे स्तरों के जीवन की अनेक संवेदनशील झाँकियाँ हैं। इसमें घटनाओं और पात्रों की विविधता है पर बहुलता नहीं। कलात्मक चयन सूक्ष्म और उपन्यासकार की सौंदर्यचेता दृष्टि के प्रमाण हैं। पात्रों, परिवेश और घटनाओं के साथ लेखक की पहचान यथार्थ है। गहरी संवेदनशीलता, प्रामाणिकता और स्वस्थ दृष्टिकोण उनमें निहित हैं।

नरेश मेहता के दो उपन्यास डूबते मस्तूल और दो एकांत इसी वर्ग के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। कमल जोशी का बहता तिनका, कृष्ण बलदेव वैद का मेरा बचपन इसी परंपरा में उल्लेखनीय हैं। मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे' बहुचर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास में दिल्ली के उच्च और निम्नमध्यवर्गीय जीवन को पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया गया है। उसमें विघटनग्रस्त जीवन के चित्र हैं। सारा वातावरण सिगरेट के धुएँ, उदासी और थकान से भरा हुआ बेबसी और अकेलापन, नींद की गोलियाँ, शराब, ट्रैंकुलाइजर, क्षण की अनुभूति और अनुभूति के क्षण पर लंबी बहसों के बीच उपन्यास आगे बढ़ता है। शैली, सहज सुबोध और स्वाभाविक है। आकार की बृहद्‌ता के बावजूद आधारफलक विस्तृत नहीं है। दो चार व्यक्ति घने कुहासे घिरे हुए हैं, सामाजिक पार्श्व में मानसिक ऊहापोहों की समर्थ सृष्टि हुई है। वैज्ञानिक की तटस्थता और कलाकार की प्रामाणिकता, दोनों का समन्वय इसमें हुआ है। उपन्यास में छाये हुए खोखलेपन और घुटन के बावजूद उसके पात्र सामाजिक रूप से सचेत हैं। जीवन के विविध स्तरों को उसकी समग्रता में देख सकना काफी कठिन काम है। राकेश जी की अंतर्दृष्टि इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में खो नहीं गई है।

आज के जीवन की मूल्यहीनता, विघटन और अगति को चित्रित करने वाले कुछ नए उपन्यासों में मुख्य हैं—नागार्जुन का हीरक जयंती, केशवचंद वर्मा का आँसू की मशीन और डा० रघुवंश का अर्थहीन। अर्थहीन में संवेदनशील युवक की प्रतिक्रियाओं के माध्यम से युग चेतना के कई स्तरों का उद्‌घाटन किया गया है और अतीत के मूल्यों को निरर्थक माना गया है। उपन्यास में वैचारिकता सचेष्ट है। आज के जीवन में सोद्देश्यता खोजने का सचेत प्रयत्न और मन के द्वंद्वों की तीखी

अभिव्यक्ति इस उपन्यास में हुई है जो अनिश्चित मूल्यों के कारण उत्पन्न होती है। प्रभाकर माचवे के उपन्यास परंतु, द्वाभा और जो में आधुनिक जीवन की जटिलताओं विवशताओं और घुटन की सांकेतिक अभिव्यक्ति हुई है। मनुष्य का चिंतनशील मस्तिष्क अपनी आदिम प्रवृत्तियों से जूझता रहता है। समाज के सामने वह एक मुखौटा पहन कर आता है जिसके नीचे वे आदिम प्रवृत्तियाँ छिपी रहती हैं जिनको वह आदर्शों की प्रेरणा से नकारता रहता है। आर्थिक अस्तव्यस्तता और आदर्शों के स्खलन के कारण मध्यवर्ग में लगे हुए घुन की ओर लेखक ने इंगित किया है। उनकी पकड़ बौद्धिक है जो पाठक को सोचने पर मजबूर करती है, परंतु उनके उपन्यासों का चतुर्थांश उद्धरणों अथवा उनके सारांशों से भरे रहते हैं।

इतना सब होते हुए भी लेखक कुंठित उत्तेजनात्मक भावुकताओं और बनावटी नाटकीयताओं से बचे हुए हैं, मानव स्वभाव के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ न तो भ्रमात्मक मोह से आच्छादित हैं और न आकांक्षापूर्ण चिंतन से। इन सभी उपन्यासों में आज के संदर्भ में संस्कृति के झूठे पड़ गये उपादानों के प्रति मोहभंग तो है ही। बुद्धिजीवियों का गिरता हुआ स्तर, झूठे समाजवाद की नारेबाजी, औद्योगिक क्रांतियों के नाम पर आंशिक और अधकचरी योजना, उनसे उत्पन्न स्थितियाँ और प्रतिक्रियाएँ, इन उपन्यासों में चित्रित हैं। परंतु पहले के उपन्यासकारों और इन युवक लेखकों में आधारभूत अंतर यह है कि वे अपने उपन्यासों में कथावाचक का काम नहीं करते, उनके निष्कर्ष अनिवार्यत: कथ्य में से ही उभर कर आते हैं। वे अपनी रचनाओं में ईश्वर की तरह अदृश्य रहते हैं। परंतु यह भी सत्य ही है कि ये लेखक जैसे जीवन के निषेधात्मक मूल्यों के प्रति असाधारण और असंतुलित रूप में प्रतिबद्ध है। उनकी प्रखर दृष्टि में आधुनिक संवेदना और उसकी ऐतिहासिक प्रक्रिया को, सामाजिक भित्तियों और आधार में स्थिर और धीमें परिवर्तन की भावनाओं को, वैयक्तिक तथा सार्वजनिक स्तर पर बदलती हुई नैतिकता तथा उससे बँधे व्यक्ति और वर्ग के सूक्ष्म सूत्रों और परिवर्तनों को राजनीतिक संदर्भ में पकड़ने की क्षमता है। परंतु यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि ये लेखक जैनेंद्र, अज्ञेय अथवा इलाचंद्र के दायवाहक नहीं हैं। आत्मविश्लेषण, आत्मचिंतन और कलात्मक बारीकियों की उलझन में पड़ कर वे व्यक्तिमुखी नहीं हुए। उनके व्यक्ति का अस्तित्व न समाज से अलग निरर्थक है और न उसके बीच। चाहे वे निरर्थकता की अनुभूति जितनी करते हों।

(ञ) आंचलिक उपन्यास—आंचलिक उपन्यास स्वतंत्रता के बाद तत्काल उत्पन्न स्थितियों की देन हैं। इसलिये उनका उत्स बदलते हुए सामाजिक और राष्ट्रीय संदर्भों में ही है। इन उपन्यासों की रचना पूर्ववर्ती उपन्यासों की प्रतिक्रिया में नहीं हुई बल्कि इन्हें विशिष्ट युग और परिस्थितियों की देन माना जाना चाहिए जिनमें एक भूमिअंचल की संपूर्णता को ग्रहण करके वहाँ के जन जीवन का समग्र चित्रण किया गया है। इन उपन्यासों का अस्तित्व पहले के राजनीतिक और

सामाजिक उपन्यासों से बिलकुल अलग है क्योंकि उनकी रचना गांधीयुगीन राष्ट्रीयता के व्यापक परिवेश में नहीं हुई है। उपन्यासों में ग्रहण किए गए अंचल कहीं देहात हैं, कहीं नगर और कहीं आदिम जीवन अथवा वन। इन उपन्यासों में स्थानीय परिवेश और लोकतत्वों की सजीवता का आग्रह है। इसीलिये उनपर हार्डी और मार्कट्वेन जैसे उपन्यासकारों की संवेदना और शैली के अनुकरण का आक्षेप लगाया जाता है, परंतु इनका प्रादुर्भाव यदि अनुकरण से ही होता था तो पहले क्यों नहीं हुआ? ये उपन्यास देश की मिट्टी फोड़कर उपजे हैं। अगर उनपर कोई विदेशी प्रभाव है भी तो वह प्रभाव रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, अनुकरण के रूप में नहीं। इन उपन्यासों में अंचलविशेष की भौगोलिक स्थिति, वहाँ के जीवन के चित्रण और भाषा के प्रयोग पर बल दिया जाता है। स्वतंत्रता के बाद समाजवादी समाज से संबद्ध रचनात्मक कार्यों का आरंभ गाँवों और अंचलों में ही हुआ, जिसके फलस्वरूप नई सांस्कृतिक सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना सीमित घेरों में अलग अलग जागी। ग्राम जीवन का चित्रण करते समय प्रेमचंद युग के व्यापक परिवेश में आंचलिकता का स्पर्श मात्र दिया गया था, परंतु फणीश्वर और नागार्जुन जैसे लेखकों के लिये वह स्वयं साध्य बन गई, घटना, चरित्रवर्णन, और परिवेश इसी आंचलिक तत्व की प्रतिष्ठा के साधन बन गए। इसके साथ ही लेखकों के व्यक्तित्व और परिवेश के अनुसार उनमें ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और स्थानीय रंगों का पुट दिया गया। अंचलविशेष की धरती, वहाँ की लोक संस्कृति, परंपराओं, धार्मिक विश्वासों, बोली, वाणी, वेश-भूषा, सबके जीवंत और सजीव चित्र खींचे गए। जनपद विशेष में प्रचलित कथाओं, गीतों, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी हुआ। इन उपन्यासकारों ने सीमित विशिष्टताओं में ही समग्रता को समेटना चाहा जिसके कारण कथासूत्र क्षीण है और उनमें जीवन वैविध्य अधिक है। उनमें पात्रों की बहुलता है और कथा का परंपरागत रूपविधान भी उनमें नहीं मिलता। नागार्जुन के उपन्यासों की चर्चा समाजवादी उपन्यासों के प्रसंग में की जा चुकी है। उनके उपन्यासों में मिथिला का देहाती जीवन चित्रित हुआ है। वस्तु और रूप की दृष्टि से 'बलचनमा' और 'बाबा बटेसरनाथ' विशेष महत्व रखते हैं। भाषाशैली की दृष्टि से नागार्जुन के उपन्यास नए प्रयोग हैं।

इस परंपरा में मूर्धन्य स्थान है फणीश्वरनाथ रेणु का, जिनका मैला आंचल सन् १९५४ मे तथा परती परिकथा १९५७ में प्रकाशित हुआ। किसी भी लेखक की पहली रचना का इतना स्वागत नहीं हुआ जितना रेणु के 'मैला आँचल' का हुआ। 'पूर्णिया गाँव के' शूल और फूल, कीचड़ और चंदन, धूल और गुलाल, सभी के रंग इसके आँचल में हैं। उसकी सांस्कृतिक भौगोलिक विशेषताओं की पृष्ठभूमि में जनवादी दृष्टि से अंचल के अनेकमुखी चित्र खींचे गए हैं जो एक ओर सूक्ष्म, संश्लिष्ट और क्षिप्र हैं दूसरी ओर विविध और बहुमुखी। उपन्यास का विन्यास बिल्कुल अपना और नया है। परंपरागत दृष्टि से कहा जायगा कि इन उपन्यासों में सुनियोजित, सुघटित कथा

नहीं है और न अन्विति है, पर यह कसौटी आंचलिक उपन्यासों के लिये ठीक नहीं है। उसमें तो लघु कथाप्रसंगों और छोटी छोटी स्थितियों के आभास द्वारा जिंदगी का अलबम तैयार किया गया है। इसी कारण उसमें चरित्रचित्रण का परंपरागत रूप भी नहीं मिलता। यहाँ तो व्यक्ति के स्थान पर समूह की प्रतिष्ठा हुई है। एक खंड की विविध गतिविधियों को समेटने के लिये रिपोर्ताज, फ्लैश बैक, डाकुमेंटरी शैलियों का प्रयोग किया गया है जिसके द्वारा विविध घटनाओं और प्रसंगों को लिपिबद्ध किया जाता है। अतीत की घटनाओं, स्मृतियों और अनुभूतियों को फ्लैश बैक द्वारा उतारा जाता है। चित्रमय बिंब देने के लिये लोकभाषा, लोकगीत और नृत्यों की ध्वनियों को भाषा की ध्वनियों में बाँधने का प्रयत्न किया जाता है। व्यक्तिगत रूप से मेरी धारणा है कि 'परती परिकथा', मैला आँचल से अधिक प्रौढ़ और परिपक्व रचना है। इसमें परानपुर की बंध्या धरती की कहानी कही गई है—लघुकथा प्रसंगों और जीवन स्थितियों से कथानक का ताना बाना बुना गया है। कथा की समग्रता खंडचित्रों को जोड़कर बैठानी पड़ती है। मैला आँचल की कला का परती परिकथा में निखार हुआ है। नागार्जुन की तरह रेणु के उपन्यासों में समकालीन राजनीति की पृष्ठभूमि भी है पर पहले की तरह यह उनका साध्य नहीं है। उन्होंने जनजीवन के यथार्थ में से प्रगति की भविष्योन्मुखता का चित्रण किया। इन उपन्यासों में लोकभाषा की स्थानीयता पर आक्षेप किया जाता है। हिंदी के रूपनिर्माण और व्यापकता की उपयोगितावादी दृष्टि से इसके विरुद्ध चाहे जो तर्क दिया जाय पर कलावैशिष्टय की दृष्टि से इस प्रकार की भाषा की सार्थकता असंदिग्ध है। एक अंचल विशेष के विभिन्न फैलावों को रेणु ने जिस कुशलता से समेटा है उसको देखते हुए यह कहना गलत है कि इन उपन्यासों के पीछे 'कोई व्यापक दर्शन एक नहीं है उसमें कोई केंद्रीय मेधा नहीं है जो उसके सारे अंतरंग को सुव्यवस्थित और सुनिश्चित रूप प्रदान करे।' निश्चय ही ऐसा आक्षेप प्रेमचंदयुगीन कथाविधान के पूर्वाग्रह के कारण ही लगाया गया है। कथापक्ष की क्षीणता जैसे लेखक स्वीकार करके चलता है वैसे ही पाठक और आलोचक को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। घटनाओं और विचारों की मासलता का अभाव भी परंपरागत विधान के दिमागी चौखटे के कारण ही अधिक दिखाई देता है।

इस परंपरा का एक विशिष्ट उपन्यास है उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' जिसमें बंबई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बारसोवा के मछेरों का जीवन प्रस्तुत किया गया है। उसमें 'मैला आँचल' का सा विधान नहीं है। कथा आत्मकथात्मक ढंग से कही गई है और कथावस्तु में टिकाव नहीं आ पाया है। आदर्शवादी स्पर्शों के कारण उसमें यथार्थ से पलायन की वृत्ति मिलती है, यह प्रकृति आंचलिकता की प्रवृत्ति की विरोधी भी पड़ती है। इसमें मानवीयता और मंगलभावना का तत्व प्रधान हो उठता है। इसका दायित्व भट्टजी के संस्कारों पर है जिससे मुक्त होना लेखक के अपने वश की बात नहीं होती।

देवेंद्र सत्यार्थी के 'रथ के पहिये' करंजिया गाँव में आदिवासियों के जागरण से संबद्ध है। उसमें राष्ट्रीयता के प्रादेशिक रूप की झलक मिलती है। डायरी के उद्धरणों और लोकगीतों से उपन्यास भरा हुआ है। इसका टोन भी आदर्शवादी हो गया है।

शिवप्रसाद रुद्र के उपन्यास 'बहती गंगा' में बनारस के मस्तीभरे जीवन के चित्र ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे खींचे गए हैं। उसमें अनेक तरंगें हैं। प्रत्येक तरंग का आधार कोई न कोई ऐतिहासिक घटना है। बनारस की मस्ती, निर्द्वंद्वता, स्वतंत्रता, प्रेम परंपरावादिता, फक्कड़पन, सभी की झलक उसमें मिलती है। उसकी भाषा विशिष्ट झूमती इठलाती हुई है। तरंगें एक दूसरे से अलग भी है और 'धारा तरंग न्याय' से आपस मे बँधी हुई भी है। रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' में गोरा और राप्ती नदियों से घिरे अभावग्रस्त प्रदेश की कहानी कही गई है। अनुभूति की प्रामाणिकता के साथ ही उसमे कला परिष्कार की सजग साधना भी है। शैलेश मटियानी के उपन्यासों मे नग्न यथार्थ कही कही बड़े कुरूप और बीभत्स रूप में चित्रित है, और उन्हे पढकर पहली प्रतिक्रिया होती है कि वे उग्र के उत्तराधिकारी है क्या? उनके उपन्यासों के दो मुख्य क्षेत्र है—बंबई की गंदी बस्तियाँ और कुमायूँ अंचल। प्रथम वर्ग के मुख्य उपन्यास है बोरीवली से बोरीबंदर तक, कबूतरखाना, किस्सा नर्मदा बेन गंगूबाई। दूसरे वर्ग के उपन्यास हैं, चिट्ठीरसैन, हौलदार, मुख सरोवर के हंस। शैलेश के उपन्यासों की सबसे बड़ी खासियत है उनकी प्रामाणिकता और यथार्थवादिता। यथार्थ को झुठलाकर सुंदरता और आदर्श की उपासना वे नही करते। संबंधित क्षेत्र को उभारने के लिये उनकी लेखनी छुरी का काम करती है। पर उनकी अश्लीलता भूखी पीढ़ी की विकृति और अस्वस्थ मनःस्थितियों में नही घुमड़ती। बीभत्स और कुरूप को चीर फाड़कर समाज से विकृतियों को सदा के लिये मिटाना चाहती है। यथार्थ का चढ़ बाहर उनके लिये रोग नहीं कुनैन है। मुख्यत समाजोन्मुखी साहित्यकार होने के कारण ही वे कुमायूं प्रदेश की लहराती प्रकृति और नैसर्गिक सौंदर्य के घेरे में भी दबे हुए दर्दो को उभार लेते है।

आंचलिक परंपरा के उपन्यास अभी भी लिखे जा रहे हैं पर रेणु की समग्र कला और नागार्जुन की शक्ति का जैसे अब अवशेष हो गए गया है, शायद इसका कारण यह हो कि जिन उत्साहभरी परिस्थितियों में उसका आरंभ हुआ था, हमारे देखते देखते ही वे दिन पर दिन विघटन की ओर बढ़ रही हैं। कटु कर्कश सामाजिक-आर्थिक यथार्थ और स्वप्नरंजक सांस्कृतिक ऐतिहासिक तथा लोक धर्मी परंपराओं का जो गंगाजमुनी मेल रेणु और नागार्जुन ने किया उनमें से कटुता कर्कशता तो शेष रह गई है परंतु आशामूलक संभावनाएँ ढह गई है, जबकि स्वतंत्रता के तत्काल बाद सोचा यह जाता था कि विभिन्न अंचलों का पिछड़ापन योजनाओं की सफलता के बाद आर्थिक प्रगति के द्वारा समाप्त हो जायगा। अनिश्चित और विघटित मूल्यों तथा

आक्रोश की स्थितियों के राजनीतिक सामाजिक उपन्यासों की परंपरा वास्तव में उस उच्च भूमि का अगला गिराव था जिसपर आंचलिक उपन्यासों की रचना हुई थी।

(२) ऐतिहासिक उपन्यास (सन् १९३६-६५)

जिस प्रकार हिंदी के राजनीतिक सामाजिक उपन्यासों की परंपरा प्रेमचंद के हाथों में जाकर जीवंत हो उठी उसी प्रकार भारतेंदुकालीन अर्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा वृंदावनलाल वर्मा के हाथों जीवन के निकट आई। ऐतिहासिक उपन्यासों का वास्तविक प्रादुर्भाव राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता आंदोलन के बीच हुआ। विदेशी इतिहासकारों ने अपनी मताग्रहपूर्ण दृष्टि के कारण भारतीय इतिहास के गौरवपूर्ण पृष्ठों पर भी काली स्याही पोत दी थी, इसलिये इन उपन्यासकारों ने जहाँ अतीत के गौरवगान और विगत सांस्कृतिक वैभव और समृद्धि का अंकन किया वहीं प्रामाणिक तथ्यों द्वारा इतिहास का नए रूप में पुनर्मूल्यांकन भी किया। अतीत और इतिहास में पलायन की प्रवृत्ति से नहीं बल्कि तटस्थ भाव से उसके अनावरण की चेष्टा की गई। इस तटस्थता में आदर्शो और ऐतिहासिक रूमानियत का झीना सा आवरण उसमें अवश्य मिलता है। यह उपन्यास परंपरा वैयक्तिक और समाजगत जीवन की गहन समस्याओं को लेकर चली जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष कर्म में जूझने की प्रेरणा विद्यमान थी। प्रेमचंद के बाद भी यह परंपरा प्रारंभ में अपने रूढ़ रूप मे चलती रही। आगे चलकर उसके अंतर्गत भी नई वैचारिक भूमियों और स्थितियों के फलस्वरूप कुछ नई प्रवृत्तियों का उदय हुआ। इस परंपरा के मुख्य उपन्यासकार हैं—वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, अमृतलाल नागर और रांगेयराघव। वर्माजी के उपन्यासों का रचनाकाल बहुत लंबा है परंतु उनके परवर्ती उपन्यासों की मूल चेतना भी प्रारंभिक उपन्यासों जैसी ही है। स्वतंत्रता की लड़ाई की प्रेरणा से लिखे गये प्रारंभिक ऐतिहासिक रोमांसों और स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद लिखे गए उपन्यासों में कोई खास अंतर नहीं है। वर्माजी से अलग ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में जिस नई दृष्टि का आविर्भाव हुआ उसमें कई नई संस्थितियाँ संमिलित थी। राहुल, यशपाल और रांगेयराघव ने इतिहास पर मार्क्सवादी दृष्टि का आरोपण किया और उसी के प्रकाश में उसका व्याख्यान किया। दूसरे लेखकों ने इतिहास में निहित क्षीण आलोक रेखाओं को उभारा और आज के जीवन की समस्याओं, विकृतियों, स्थितियों, पात्रों और मनोभूमियों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर उन्हे नई गरिमा दी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है चेतना की दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में वृंदावनलाल वर्मा प्रेमचंद के समकक्ष हैं। अपने युग के घोषित आदर्शों और संस्कारों को अपनी चेतना पर ओढ़कर उसी की प्रेरणा से उन्होंने बुंदेलखंडी मिट्टी

की अनेक मूर्तियाँ गढ़ी हैं। जो सद् और असद् के बीच नियमित और बँधेबँधाए प्रतिमानों पर सफल या असफल होती हैं। वर्माजी के पात्रों को प्रेमचंद के पात्रों का ऐतिहासिक प्रतिरूप माना जा सकता है। उनके अधिकतर उपन्यासों की मुख्य घटनाएँ ख्यातिप्राप्त हैं और किंवदंतियों, जनश्रुतियों और परंपराओं के सूत्रों से जुड़ी हुई है। इतिहास के साथ उनमें रोमांस का समावेश भी है जिसके कारण उनमें साहस भावना, वीरता, प्रेम और प्रकृति का चित्रण बहुलता से हुआ है। वर्माजी के उपन्यासों में स्वस्थ ग्राम्य छवियों की अभिव्यक्ति हुई है। उनमें घटनाओं और पात्रों की सापेक्षता है। अधिकांश उपन्यास नायिकाप्रधान हैं, जिनमें कोमलता, भावुकता, शक्ति, साहस, आत्मबल और त्याग का सामंजस्य है। उनकी दृष्टि आदर्शवादी है जिसके कारण अतीतकालीन समाज की भीतरी चेतना और बाह्य रूपरेखाएँ उभरी हैं। जनजीवनयुगीन समस्याओं, पतनोन्मुख वैचारिक और मानसिक धरातलों के विस्तारों के बीच रोमांस की क्षीण रेखाएँ उनके उपन्यासों के प्रभाव को क्षिप्र और तीव्र कर देती हैं। इतिहास के प्रति अत्यधिक झुकाव के कारण कभी कभी वे उपन्यासकार के दायित्वों की ओर से आँखें बंद कर लेते हैं। सन् १९३६ और ६६ को दीर्घ अवधि में छपे उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं—झाँसी की रानी, मुसाहिबजू, कचनार, टूटे काँटे, अहल्याबाई, माधवजी सिंधिया, भुवन विक्रम, उदय किरण, आहत रामगढ़ की रानी इत्यादि।

इसी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के दूसरे उपन्यासकार हैं अमृतलाल नागर। जिस प्रकार उनके बूँद और समुद्र में प्रेमचंदयुगीन प्रवृत्तियों का युगानुकूल संशोधित रूप मिलता है, उसी प्रकार उनके ऐतिहासिक उपन्यास 'सुहाग के नूपुर' और शतरंज के मोहरे' में वृंदावनलाल वर्मा द्वारा स्थापित परंपराओं का संशोधन हुआ है। 'शतरंज के मोहरे लखनऊ के इतिहास की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। उसमें अवध की नवाबी के इतिहास के एक पृष्ठ की कहानी है। सन् १८५७ की पृष्ठभूमि में लिखे गए इस उपन्यास में गाजिउद्दीन हैदर और नासिरुद्दीन हैदर के राज्यकाल की घटनाओं का चित्रण है। इस काल पर लिखे गए अबतक के उपन्यास ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं थे। चंडीचरण सेन कृत 'एइ कि रामेर अयोध्या' अवश्य प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर लिखा गया था। नागरजी का यह उपन्यास ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित और गवेषणापूर्ण सामग्री के आधार पर लिखा गया है। यह सामग्री संबद्ध युग में और उसके बाद लिखी गई विभिन्न कृतियों के अध्ययन के बाद लिखी गई है और उसमें काल्पनिक तत्वों का समावेश इतिहास की रक्षा करते हुए किया गया है। ऐतिहासिक प्रामाणिकता और साहित्यिक रोचकता का यह सामंजस्य नागर जैसे लेखक ही कर सकते थे। उनका दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है सुहाग के नूपुर जो तमिल कवि इलगोवन के महाकाव्य शिलप्पदिकारम पर आधारित है। इसमें एक सामाजिक समस्या को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर वैयक्तिक अंतर्द्वंद्वों की गहराइयों

में पैठकर उभारा गया है। सुहाग के नूपुरों और घुँघरुओं का संघर्ष कुलवधू और नगरवधू का संघर्ष है एक ओर पत्नी कन्नगी का मूक समर्पण नायक कोवलन को पराभूत करता है दूसरी ओर नगरवधू माधवी का प्रखर व्यक्तित्व समाज की परंपराओं से टक्कर लेने की कोशिश में छटपटा रहा है। वह सती होकर भी सती होने का गौरव नहीं प्राप्त करती, इस बात के प्रति उसके मन में विद्रोह और आक्रोश है। परंतु उससे और किसी का कुछ नहीं बिगड़ता स्वयं अपने आप वह भस्म होती है। नारी के मायावी और मायारहित रूपों के संघर्ष के कारण कोवलन का तेज तिरोहित होता जाता है—अंतर्द्वंद्वों की इस छटपटाहट में सामाजिक वैषम्य का एक टोन सारे उपन्यास में विद्यमान है, 'जबतक महाजनी सभ्यता शेष है तबतक वेश्यावृत्ति भी किसी न किसी रूप में चलती रहेगी और संवेदनशील कलाकार इस दुरंगी नैतिकता का पर्दाफाश करते रहेंगे।' इस उपन्यास में जैनेंद्र का मनोविश्लेषण, प्रेमचंद की सामाजिक चेतना के साथ, एक दूसरे को अपने में समाहित करती जान पड़ती है। बहिर्मुखता और मनस्तत्वों का यह समानुपातिक संयोजन एक कुशल शिल्पी और द्रष्टा ही कर सकता था।

चतुरसेन शास्त्री के ऐतिहासिक उपन्यासों को इसी परंपरा के अंतर्गत रखा जा सकता है। उनके मुख्य ऐतिहासिक उपन्यास हैं वैशाली की नगरवधू, वयं रक्षामः, सोना और खून तथा सोमनाथ। वैशाली की नगरवधू में ई० पू० पाँचवीं शती की धर्मनीति, राजनीति और समाजनीति के रेखाचित्र मिलते हैं। परंतु ऐतिहासिक तथ्य उनमें बहुत विरल है। वर्माजी के उपन्यासों की तरह इसमें इतिहास या सत्य का अन्वेषण नहीं किया जा सकता। उनकी मान्यता है कि ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के तथ्यों की उपेक्षा की जा सकती है। तात्कालिक समाज के प्रवाह का वेग दिखाना उसका लक्ष्य होता है। उनके उपन्यास के परिवेश में ऐतिहासिक सीमाओं और काल का व्यतिक्रम मिलता है। उपन्यासों में घटनाओं की प्रधानता है और तथाकथित इतिहास रस के आस्वादन की जगह हमें अविश्वसनीय ऐंद्रजालिक चमत्कारों की आश्चर्यजनक अनुभूति होती है। इन स्थलों की वैज्ञानिक व्याख्या कठिन है। भोगविलास और नारी संबंधी प्रसंगों की अनुपातहीनता के कारण कथाशृंखला-विच्छिन्न हो गई है। पात्रों की कालपरिधि की अवहेलना करके उनकी वैयक्तिकता की रक्षा की गई है। वयं रक्षामः का आधारफलक बहुत विस्तृत है। पात्रों का वैविध्य प्रागैतिहासिक काल के देवों, दैत्यों, दानवों और असुरों, किन्नर, गंधर्व, आर्य और अनार्यों तक फैला हुआ है और स्थानविस्तार भारत, मध्य एशिया, अफ्रीका, पूर्वी द्वीपसमूह तक है। इसे उन्होंने अतीत रस का मौलिक उपन्यास माना है और उसी के नाम पर अनेक अतर्कित और अनुमान पर आधृत स्थितियों की संभावना देखी है जो निवर्सन, मुक्त सहवास, नरमांस भक्षण और शिश्न देव की उपासना जैसी जुगुप्सा भरे वातावरण में विकसित होती है, लिंगोपासना में धर्मतत्व का आरोपण करके उसे

उपासना का प्राचीनतम रूप सिद्ध किया गया है। उपन्यास की पटभूमि इतनी बड़ी है कि कथानक पात्रों और घटनाओं से भरा भानुमती का पिटारा बन गया है।

'सोना और खून' का कथानक उस समय के भारत से लिया गया है जब मुगल साम्राज्य का सूर्य धीरे धीरे अस्त हो रहा था। अंग्रेजों ने किस प्रकार देश की सब बड़ी शक्तियों को एक के बाद एक करके ध्वस्त कर दिया, उसी से संबद्ध उनके धोखों और फरेबों का भंडाफोड़ इस उपन्यास में किया गया है। वेलेजली और मैकाले की दुष्टनीतियाँ, मराठों और पिंडारियों का आतंक और हिंदुस्तान की अनेक अंदरूनी कमजोरियाँ इस उपन्यास के विषयवस्तु के अंतर्गत आती हैं। ऐतिहासिक तथ्यों की बहुलता के कारण उपन्यास कहीं कहीं शिथिल हो गया है परंतु उस युग के राजनीतिक षड्यंत्रों और भोगविलास के सरस चित्रों के कारण हमारी रुचि उपन्यास में बनी रहती है। हिंदुस्तान के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पक्षों के चित्रण भी किए गए हैं।

राहुल सांकृत्यायन ने ऐतिहासिक यथार्थवाद की व्याख्या मार्क्सवादी सिद्धांतों द्वारा करने की परंपरा का प्रारंभ किया। उनके विभिन्न उपन्यासों में प्राचीन इतिहास की सामंतीय व्यवस्था और आर्थिक वैषम्यों के बनते बिगड़ते रूपों का चित्रण हुआ है। उनका पहला उपन्यास है 'राजस्थानी रनिवास' जिसमें सात परदे में रहनेवाली ठकुरानियों की बेवसी और दु:ख तथा पुरुषों की स्वेच्छाचारिता की कहानी कही गई है। उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है, शैली की दृष्टि से यह उपन्यास से अधिक निबंध के निकट है। सिंह सेनापति उनका प्रसिद्ध उपन्यास है जिसमें वैशाली और लिच्छवियों के युद्धों का वर्णन तथा उस युग के जीवनादर्शों का विवेचन है। उस समय प्रचलित दास प्रथा के माध्यम से अर्थमूलक और यौन स्वच्छंदताओं के चित्रण में काममूलक समस्याओं को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में विवेचित किया गया है। शृंगार के नग्न और खुले चित्र कहीं कहीं अश्लीलता की सीमा पर पहुँच गये हैं। 'जय यौधेय' में गुप्तकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक स्थितियों का चित्रण किया गया है। ऐतिहासिक प्रमाण के लिये चीनी यात्री फाहियान के वक्तव्यों, शिलालेखों और सिक्कों का आधार ग्रहण किया गया है। सामाजिक स्तर पर काम और अर्थमूलक समस्याओं का चित्रण इस उपन्यास में भी है। स्वच्छंद शृंगारिक स्थितियों की सामाजिक स्वीकृति की स्थापना मुक्त निर्बंध चुंबनों, खानपान, नृत्यगान गोष्ठियों आदि की उपस्थिति द्वारा की गई है। उपन्यास में आए हुए प्रसंगों के अनुसार विवाह के पहले प्रेम एक अनिवार्य स्थिति थी। पुरुष अनेक विवाह भी कर सकते थे और अनेक रखैलें भी रख सकते थे। इन सभी समस्याओं के समाधान में राहुलजी की दृष्टि उपयोगितावादी है और पश्चिम से उधार ली हुई है। ऐतिहासिक सामग्री पर उन सिद्धांतों का आरोपण दो प्रतिरूप रंगों का पेबंद सा जान पड़ता है। संमिलित

संपत्ति, संमिलित पत्नी लेखक की अपनी धारणाएँ हैं जिन्हें मार्क्सवाद पर लादकर उपन्यास में थोप दिया गया है।

यशपाल का उपन्यास 'दिव्या' इस परंपरा की सशक्त कृति है जिसमें नारी की आर्थिक परतंत्रता का प्रश्न प्रधान है। इसका कथानक उस युग के इतिहास से लिया गया है जब बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद देश छोटे छोटे प्रांतों में विभाजित हो गया था और वहाँके शासन पर पूँजीपति व्यापारियों का प्रभुत्व हो गया था। युग की परिस्थितियों और वातावरण का चित्रण बहुत प्रभावशाली है। चार्वाकपंथी पात्र मारिश के द्वारा मार्क्सवाद की व्याख्या कराई गई है। इस आरोपित आग्रह को स्वीकार करके ही उपन्यास की श्रेष्ठता को स्वीकृति दी जा सकती है। यशपाल ने इतिहास को स्वप्निम कल्पना की वस्तु ही मानकर स्वीकार नहीं किया बल्कि इतिहास के भीतर से वर्गमूलक समाज व्यवस्था के वैषम्यों को उभारना उनका उद्देश्य रहा है। दिव्या शुद्ध ऐतिहासिक नही इतिहासाश्रित उपन्यास है। वह इतिहास नही ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। परंतु यशपाल के पास इतिहास का विवेक है, इसलिये उसके माध्यम से आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ यथार्थ रूप से उभरी है।

'अमिता' यशपाल का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें कलिंगविजय की कथा को नए रूप में प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्रीय संघर्ष के क्षेत्र में तो यशपाल क्रांतिकारी ही रहे पर जब विश्वस्तर पर शांति और युद्ध की वरेण्यता का प्रश्न आया तो उन्हें कुछ समय के लिये गांधी की बात मानने को ही विवश होना पड़ा है। कई बार उनका क्रांतिकारी हठ करता है। आततायी के संमुख सिर झुकाकर अपना स्वत्व छोड़ देना मनुष्य का धर्म नही है, पर अंतिम तर्क उनका यही होता है कि हिंसा की प्रतिद्वंद्विता में हिंसा करना धर्म नहीं अधर्म है। कलिंगविजय के ऐतिहासिक ध्वंस की कल्पना की करुणा ने उन्हें कुछ समय के लिये दूसरे मार्ग पर मोड़ दिया। पर जल्दी ही भारतविभाजन की यथार्थ नग्न विभीषिकाओं में फिर उनका यथार्थ रूप पहले की अपेक्षा बहुत विराट् और उदार होकर सामने आया।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अपने ढंग का एक ही उपन्यास है। जैसा कि नाम से भ्रम होता है यह बाणभट्ट की आत्मकथा नही लेखक की शैली मात्र है। भगवतशरण उपाध्याय जैसे छिद्रान्वेषी आलोचक भी उसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता को स्वीकार करने के लिये बाध्य हो गए हैं। वे कहते हैं 'अनवरत रंध्रान्वेषण के बाद भी उसकी ऐतिहासिकता में दोष नहीं निकाला जा सकता। यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें इतिहास की परिधि लक्ष्मणरेखा की भाँति है। उसमें छोटी छोटी असंगतियाँ चाहे हों फिर भी ऐतिहासिक विरोध प्रायः नहीं है। व्यर्थ की घटनाओं से उपन्यास को बचाया गया है। उसमें हर्षकालीन समाज-व्यवस्था का साकार निरूपण हुआ है। लेखक ने बाण की आत्मा में पैठकर कलाकार बाण और आचार्य बाण के अंतर्द्वंद्व का चित्र खींचा है और उनकी मूल प्रेरणा के

स्रोत का चित्रण किया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये संस्कृत को तथा स्वयं बाणभट्ट की कृतियों में उपलब्ध सामग्री को सार रूप मे ग्रहण किया गया है। उपन्यास में संपूर्ण युगजीवन को समेट लिया गया है और एक सांस्कृतिक वातावरण की पीठिका पर गत्यात्मक चरित्रो की सृष्टि हुई है। विषयवस्तु की दृष्टि से उपन्यास नया प्रयोग है जिसमें आत्मकथात्मक शैली को ऐतिहासिक पात्रों से संबद्ध किया गया है। इसे हर्षचरित और कादंबरी की शैली को ध्यान में रखकर लिखा गया है जिसमें भामह द्वारा निर्देशित आख्यायिका के लक्षणों का निर्वाह हुआ है। आत्मकथात्मक कलेवर में रस की घनता, आलंकारिकता और ऐतिहासिकता तथा सामाजिक आयामों के फैलावों का समन्वय कुशलता के साथ हुआ है।

द्विवेदीजी का दूसरा चर्चित ऐतिहासिक उपन्यास है चारु चंद्रलेख। आत्मकथा की भ्रमोत्पादक शैली का प्रयोग यहाँ भी हुआ है। उपन्यास के कथामुख के अनुसार अघोरनाथ ने चंद्रद्वीप की उपत्यका में चंद्रगुहा के पिछले हिस्से में 'उट्टंकित' वृत्त की जो प्रतिलिपि प्राप्त की, उसका काल है ईसा की बारहवीं तेरहवीं शताब्दी और घटनास्थल है आर्यावर्त। तत्कालीन समाज की विशृंखलता, अंधविश्वास, मुसलमानों के आक्रमणों से उत्पन्न अस्वस्थ कुंठाओं और हीन भावना आदि के क्षेत्रों में व्यापक प्रसार के कारण उपन्यास प्रायः आयामहीन हो गया है। और इसी कारण कथानक कहीं कहीं शिथिल हो गया है। इस उपन्यास की कथासामग्री जिस काल से ली गई है वह साहित्य और संस्कृति का संकटकाल था, इसलिये ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्वो को अलग अलग कर देने की स्थिति वहाँ नहीं है। इस दृष्टि से कथा में एक जीवंत ऐक्य है। उपन्यासकार ने विभिन्न स्रोतो में बिखरी हुई सामग्री को समेटा है। ये स्रोत हैं कुछ प्राचीन ग्रंथो मे मिलनेवाली कथाएँ, कुछ साधना-ग्रंथों मे कर्मकांड संबंधी श्लोक, और दर्शन की चर्चा करनेवाले ग्रंथों में निहित विचार। कथा के तंतु अत्यंत विरल है, परंतु इस क्षीणता की क्षतिपूर्ति आयामों की विविधता और समृद्धि द्वारा की गई है। उपन्यास का दुखद अंत उस पूरे युग की व्यर्थता संकेतित कर जाता है। जहाँ क्रियाशक्ति (मैना) मृतप्राय है, इच्छाशक्ति (रानी) चलने मे पंगु है तथा बोधशक्ति (बोधा) भयभीत और पलायनशील है।

रांगेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यास दो प्रकार के हैं। एक वे जिनमें ऐतिहासिक पात्र और ऐतिहासिक युग का चित्रण है लेकिन कथानक की दृष्टि से लेखक ने स्वतंत्रता ली है; जैसे *मुर्दों का टीला, चीवर, प्रतिदान, पक्षी और आकाश, राह से रुकी* इत्यादि। और दूसरे वे उपन्यास जिन्हें स्वयं लेखक ने औपन्यासिक जीवनी कहा है; जैसे *देवकी का बेटा, रत्ना की बात, लोई का ताना, यशोधरा जीत गई, लखिमा की आँखें*, इत्यादि। इन सभी उपन्यासों में लेखक की कल्पना ने पूरी छूट ली है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तटस्थता और वैज्ञानिकता तो है पर उपयोगितावाद के खुले और प्रचार

तत्व के लुकेछिपे प्रयोगों का मताग्रह कहीं कहीं उभर ही आता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के निषेध के बावजूद बहुत बार लेखक उसी स्वर में बोलता हुआ प्रधान हो उठा है। अर्थ और काम संबंधी तत्वों और मूल्यों की स्थापना मार्क्सवादी दृष्टिकोण से ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुई है। कला की दृष्टि से ये उपन्यास राहुलजी के ऐतिहासिक उपन्यासों से आगे हैं और ऐतिहासिकता की दृष्टि से यशपाल के उपन्यासों से अधिक वास्तविक हैं।

(३) अंतर्मुखी मोड़ : मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास—प्रेमचंदयुगीन उपन्यासकार वस्तुपरक और बहिरंग यथार्थ से जुड़े हुए थे। यद्यपि उनकी रचनाओं में आत्मपरकता का अभाव नहीं था, अंतर्द्वंद्व और स्मृतियों के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति भी होती थी, परंतु, पहले इन तत्वों को व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार ढाल लिया जाता था। उस युग के लेखक औपचारिक कथा और चरित्रनिरूपण के द्वारा जीवन पर सामंजस्यपूर्ण और सतर्क ढाँचा आरोपित करते थे। परंतु नया उपन्यास वस्तुतत्व और रूपविधान दोनों ही क्षेत्रों में अत्यधिक नवीनता का आग्रह लेकर आया, उसके लिये वस्तुपरकता का अस्तित्व बिलकुल गौण हो गया और कथासर्जना भी इनके लिये केवल आत्मपरकता को सघनता देने के माध्यम रूप में ही शेष रह गई। बहिरंग यथार्थ उन्हें उतनी ही सीमा तक ग्राह्य हुआ जहाँतक वह मन की गहराई में उतरने के लिये सहारा बन सके।

जिस प्रकार मार्क्स की क्रांतिवादी चेतना से प्रभावित होकर हिंदी के लेखकों ने सामाजिक यथार्थ के विभिन्न स्तरों को अपना लक्ष्य बनाया उसी प्रकार यूरोप के मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धांतों ने भी हिंदी उपन्यास की गतिविधि को प्रभावित किया। सबसे अधिक प्रभाव पड़ा फ्रायड का जिसके मनोविश्लेषण ने हमें संपूर्ण चरित्र-अध्ययन और यथार्थवादी व्यक्तित्व प्रतिष्ठा के लिये नई नई पद्धतियाँ दीं। जिनके द्वारा मनुष्य के बाह्य कार्यव्यापारों, संभाषणों, भंगिमाओं और कर्मप्रेरणाओं द्वारा उसके अंतर्जगत् के संश्लिष्ट विन्यास का विश्लेषण किया जा सका और उसके असंख्य उलझे हुए सूत्रों को सुलझाने के मार्ग खुले। इन पद्धतियों का आधार लेकर उपन्यासकार समाज सापेक्षता से व्यक्ति सापेक्षता की ओर मुड़ा। वह मनुष्य के अंतर्मन की गहराइयों में उतरा और अपनी तटस्थ तथा वैज्ञानिक दृष्टि के द्वारा अंतर तथा बाह्य जगत् के छोटे बड़े संघर्षों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर देख सका। इस प्रकार ये नए उपन्यासकार नए मूल्य और नैतिकता के नए प्रतिमानों को लेकर हिंदी जगत् में प्रविष्ट हुए।

जिस प्रकार के मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की परंपरा फ्रांस, रूस और अमरीका में उन्नीसवीं शती के अंत और बीसवीं सदी के

आरंभ में शुरू हुई, उसी प्रकार हिंदी में उनकी परंपरा बीसवीं सदी के चौथे दशक में आरंभ हुई। लेकिन यह समझना भूल होगी कि इसके मूल में कोरा विदेशी प्रभाव था। यह प्रवृत्ति बाहर से आकर भी देश की मिट्टी में ही फूटकर उभरी। बीसवीं सदी के आरंभ में एक ओर फ्रांसीसी और रूसी उपन्यास ने प्रकृतवाद की भूमि पर नई उपलब्धियाँ प्राप्त कीं दूसरी ओर रूस के उपन्यासकार टालस्टाय, दोस्तोवस्क, तुर्गनेव, चेखव आदि की कृतियों को सार्वभौम स्वीकृति मिली। इसी बीच अचेतन अवचेतन संबंधी नई खोजों की धूम मच गई और साहित्यकारों के बीच भी मन के विभिन्न स्तरों की व्याख्या के लिये मनोविश्लेषणात्मक पद्धति मान्य हो गई। नए उपन्यासकारों का ध्यान समष्टि से हटकर व्यक्ति पर केंद्रित हो गया और मन की अंतरंग परतों को उघारने के लिये मनोवैज्ञानिक स्थितियों का अध्ययन किया गया। असंबद्ध दृश्यों, विशृंखलित और असंबद्ध घटनाओं और कार्यों का सहारा लेकर यौन भावना, प्रेम, घृणा, कुंठा, तृष्णा वितृष्णा, असामाजिकता आदि का मनोवैज्ञानिक धरातल पर सविस्तर चित्रण हुआ। जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वुल्फ, हक्सले, डी० एच० लारेंस आदि का साहित्य इसी मनोविश्लेषणात्मक भूमि पर लिखा गया। इन सभी लेखकों के उपन्यासों में अंतश्चेतना को प्रवाहों अथवा उसके ज्वार भाटे के प्रतीक में बाधा गया है। ये उपन्यास पहले के उपन्यासों से सर्वथा भिन्न थे, उनका संबंध शरीर से कम आत्मा से अधिक हो गया। फलस्वरूप उनकी जीवनदृष्टि भी समग्र और व्यापक न रहकर खंडित परंतु गहरी हो उठी।

हिंदी में इस धरातल को स्वीकार करनेवाले पहले उपन्यासकार थे जैनेंद्रकुमार परंतु उनकी एकाग्रता में अचेतन अवचेतन के साथ दर्शनचिंतन भी जुड़ा हुआ था। उनके उपन्यासों के केंद्र में एक विचारबिंदु और चिंतनपरक दृष्टि थी और पात्र तथा कथानक उसी विचारदर्शन की प्रतिष्ठा के माध्यम थे। जैनेंद्र की दृष्टि में उपन्यासकार निर्वैयक्तिक जीवन आदर्शों में तिल तिल अपने को तपानेवाला ऋषि है। तटस्थता ही ऋषिदृष्टि है। जैनेंद्र अपने को आदर्शवादी कलाकार मानते हैं जो स्वप्न संभावना कल्पना और सूक्ष्म यथार्थ के गठबंधन में विश्वास करता है। यथार्थ उनके लिये सत्य नहीं है क्योंकि आदर्श यथार्थ में नहीं उसके बाहर होकर ही है। अहं का विगलन उनके पात्रों की साधना है जिसकी प्राप्ति आत्मकथा द्वारा होती है। यह साधना मूलतः अंतर्मुखी है जो मन की व्यथा की खराद पर चढ़कर सत्य की ओर उन्मुख होती है। उन्होंने बहिर्जगत् के सत्य की अवहेलना करके भावजगत् के सत्य को पकड़ना चाहा है इसलिये उनके उपन्यासों में बाह्य जगत् की उथलपुथल का स्थान अंतर्द्वंद्वों और अंतस्संघर्षों ने और घटनाओं का स्थान वेदना और व्यथा ने ले लिया है। मन की गहराइयों और उलझनों की थाह लेने के लिये मनोविज्ञान का सहारा लिया गया है तथा मनस्तत्व और अंतर्द्वंद्वों के विश्लेषण के लिये स्वप्नों, निराधार प्रत्यक्षीकरणों और प्रतीकों आदि का सहारा लिया गया है। मनस्तत्व पर ही ध्यान केंद्रित होने के

कारण बहुत बार उनकी दृष्टि एकांतिक, काल्पनिक होकर जिंदगी से कट गई है। जैनेंद्र ने परंपरागत मूल्यों का निषेध तो किया है पर नए मूल्य उनके बड़े अस्पष्ट और उलझे हुए हैं। समाजविरोधी तत्वों का दार्शनिकता द्वारा समर्थन बुद्धिग्राह्य नहीं होता। दर्शन और मनोविश्लेषण का समंजन जैनेंद्र के उपन्यासों में नहीं हो पाया है—'मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और दार्शनिक चिंतन उनमें अलग अलग चलते हैं, अगर कहीं साथ हुए भी तो वह किसी हृदयगम्य प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर पाते। जैनेंद्र के पात्र क्रियाशील और कर्मठ भी नहीं हैं। उनकी आत्मव्यथा और करुणा का प्रयोजन और कारण क्या है? अनेक सामाजिक प्रश्न उनके माध्यम से उभरते हैं पर अंत तक पहुँचते पहुँचते हमें वैयक्तिकता और आध्यात्मिकता में उलझा देते है। सामाजिक प्रश्न जैनेंद्र की दार्शनिकता से टकराकर शक्तिहीन हो जाते है और सारे उपन्यास पर ऐसे दर्शन का आच्छादन आ जाता है जो न सुनिश्चित है और न स्पष्ट। जो चित्त पर निर्मलता नहीं बल्कि उद्वेलन के बाद की निस्पंद जड़ता का प्रभाव छोड़ जाता है। उनके उपन्यास हैं—परख, कल्याणी, सुनीता, त्यागपत्र, सुखदा, व्यतीत, विवर्त, जयवर्धन और मुक्तिबोध।

इस परंपरा के दूसरे उपन्यासकार है इलाचंद्र जोशी। उनके प्रारंभिक उपन्यासों में शतप्रतिशत विदेशी प्रेरणाओं का प्रभाव है। उनमें अंतर्चेतन और अज्ञात चेतना के सिद्धांतों को आधाररूप में ग्रहण किया गया है। मानव मन की गहराई में एक गहन, रहस्यमय और अपरिमित जगत् विद्यमान है जिसकी अपनी पृथक् सत्ता है। जोशीजी ने इसी अज्ञात चेतनालोक के भीतर दबी छिपी कामनाओं, वासनाओं, कुंठित प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति दी है। इन आधारों के लिये उनपर फ्रायड और युग का ऋण है। मनुष्य के अचेतन की दो तहें हैं व्यक्तिगत अचेतन, जिसमें बाल्यकाल की दमित मनोवृत्तियाँ छिपी रहती है। और सामूहिक अचेतन, जिसमें आदिम दमित वृत्तियाँ अंतर्निहित रहती है। कामभावना मन की गति को नए नए रूपों में उलटा पलटा करती है। सामाजिक नियमों और प्रतिबंधों के कारण कामभावना को सहज गति और अभिव्यक्ति नहीं मिलती। इसी दमन से उत्पन्न अतृप्ति के कारण अनेक विरोधी प्रवृत्तियों, अस्वाभाविकताओं और असंगतियों का जन्म होता है। स्वप्न दमित इच्छाओं के प्रतीक हैं, इन्हीं स्थितियों से उत्पन्न मनोग्रंथियाँ ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, निराशा, संशय आदि का कारण बनती हैं जिससे मानसिक स्वास्थ्य और संतुलन नष्ट हो जाता है और व्यक्ति अस्वस्थ, अहम्मन्यता, आत्मरति, परपीड़न, बौद्धिक यंत्रणा, मानसिक विकृति, संदेह, बेतुकी दौड़धूप आदि से ग्रस्त हो जाता है। अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए जोशीजी ने कहा है कि अपने उपन्यासों में उनका ध्येय अहंभाव की एकांतिकता पर निर्मम प्रहार करना रहा है। आज को परिस्थिति में अहं तत्व असंतुलित रूप में प्रखर हो गया है। अहंवादी आत्मघाती भी होता है और समाजघाती भी। वह अपना नाश भी करता है और परिवेश को भी दूषित करता है। इसके

कारण सबसे अधिक शोषण हुआ है नारी का, जिसमें पुरुष के अहं के प्रति एकांत समर्पण नही विद्रोह का स्वर है ।

इस प्रकार की अवस्था में स्थितियों और पात्रों से संबद्ध होने के कारण जोशीजी के कथानक क्लिनिकल कथानक बन गए हैं और उनके पात्र न्यूराटिक बन गए हैं। प्रेत और छाया, पर्दे की रानी, लज्जा, जिप्सी, घृणामयी सबमें अचेतन की गाँठों को खोलने का प्रयास किया गया है। प्रायः इन सभी उपन्यासों के पात्रों के अवचेतन की गाठें उनसे घृणित और असामाजिक कार्य करवाती है। उनकी अंतर्विरोधी प्रवृत्तियाँ उनसे वही सब करवाती है जिन्हे वे करना नही चाहते। जबतक यह ग्रंथि अचेतन से चेतन मे नहीं आती तबतक यह मानसिक असंतुलन नहीं मिटता। कही वह ग्रंथि हीन-भावजन्य है कहीं यौन वर्जनाओं से उत्पन्न है। इन उपन्यासों के कथाविकास का आधार है चरित्रगत विकृतियाँ जो अधिकतर कुंठाग्रस्त, आत्मरत, पाशव बुद्धि, अहं-वादिता और पलायनवादिता को अपने मे समेटे है। उनके पात्र भी मन के रोगी होने के कारण मनोवैज्ञानिक केस हैं। उनका एक बाहरी मुखौटा है परंतु उस मुखौटे के नीचे एक विषैला व्यक्तित्व है जो साँप की तरह कुंडली मारे बैठा है। बहुत बार इन मानसिक स्थितियों की अभिव्यक्ति स्वप्ननियोजन के द्वारा की गई है। जटिल मनोवृत्तियों और अनुभूतियों के व्यक्तिकरण के लिये दिवास्वप्नों और हैल्यूसिनेशंस का प्रयोग भी किया गया है। पात्रो की अचेतन प्रवृत्तियो के खोलने के लिये स्वप्नयोजना की गई है और अचेतन मन की गाँठो को खोलने के लिये हैल्यूसिनेशस का प्रयोग किया गया है। संमोहन प्रक्रिया का प्रयोग भी कई बार किया गया है। चरित्रविश्लेषण की उनकी पद्धति जैनेंद्र से अलग है। कथासंघटन की दृष्टि से उसकी वस्तुमुखी प्रकृति के कारण वे प्रेमचंद के निकट पड़ते है। उनके पात्रो में जैनेंद्र की भी अंतर्दृष्टि और गहराई नहीं है। केवल मनोविश्लेषण की तार्किक बौद्धिकता का आग्रह है। यह बात ध्यान में रखने की है कि इलाचंद्र के परवर्ती उपन्यासों में अस्वस्थता और मानसिक रुग्णता का इतना आग्रह नही है। सुबह के भूले, मुक्तिपथ और जहाज का पंछी इन तीनों उपन्यासों मे ही वे स्वस्थ स्थितियों की ओर झुके हैं। कुंठा, वासना की अतृप्ति और उससे उत्पन्न विकृतियाँ ही उनका साध्य विषय नही है। मनोविश्लेषण इन उपन्यासों मे साध्य नहीं, केवल साधन है। सुबह के भूले उस स्वस्थ परंपरा की पहली कड़ी है, बाद के उपन्यासों में जिसका विकास हुआ है। मुक्तिपथ का स्वर तो कही कही आदर्शवादी हो उठा है। जहाज का पंछी मे अहं और परिस्थितियों से पीड़ित छटपटाती मानवचेतना का विश्लेषण व्यक्ति और समाज दोनों के स्तर पर हुआ है। उनकी दृष्टि निमर्म और तटस्थ करीब करीब वैसी है जिसे जैनेंद्र ने ऋषिदृष्टि कहा है।

अज्ञेय हिंदी उपन्यास में नए धरातल और नए क्षितिज लेकर आए। जैनेंद्र में दार्शनिकता का आग्रह था और जोशी में मनोविश्लेषण शास्त्र का, पर अज्ञेय जीवन

के आग्रह के साथ इस क्षेत्र में शेखर को लेकर उतरे जिसमें घटनाएँ बाहर की कम अंतर्जगत् की अधिक थीं। 'शेखर' की चेतना के सूक्ष्मतम स्पंदनों और बाह्य जगत् के प्रति उसकी रागात्मक प्रतिक्रियाओं को अज्ञेय ने बड़ी खूबसूरती, सादगी लेकिन गहराई से व्यंजित किया। घटनाओं की असंगति, असंबद्धता और क्रमहीनता के द्वारा कालप्रवाह का आभास देते हुए उन्होंने हिंदी जगत् को शेखर को अद्वितीयता से स्तंभित कर दिया। 'शेखर' में नायक के भोगे हुए जीवन को अस्तव्यस्त, विशृंखल, मानवीय संवेदनाओं के माध्यम से देखा गया है। अंतश्चेतना की गहराइयों और यथार्थ को जीवन के स्तर पर बिना किसी सैद्धांतिक आग्रह के उभारनेवाले वे ही एकमात्र उपन्यासकार हैं। बौद्धिक स्तर की प्रधानता के कारण उनमें पात्रों और घटनाओं का घात प्रतिघात परंपरागत रूप में नहीं मिलता। इस प्रकार अज्ञेय ने शेखर में जीवन संबंधी नई संवेदना दी। हिंदी के प्रबुद्ध पाठकों की प्रतिक्रिया इस संबंध में दो प्रकार की हुई। एक वर्ग के आलोचकों ने उसे प्रतिक्रियावादी, आत्मकेंद्रित व्यक्तिवादी, असामाजिक कृति करार दिया और दूसरे वर्ग ने उसे आनेवाले उपन्यास के लिये प्रकाशस्तंभ माना।

शेखर में अज्ञेय के दृष्टिकोण का मूल धरातल व्यक्ति है पर उनका व्यक्ति समाज का उलटा नहीं है, उसी में आविर्भूत एक इकाई है। आज को सामाजिक अव्यवस्था अनिश्चय और जटिलता के इस युग मे एक व्यक्ति के भीतर अनेक बहुमुखी व्यक्तित्व उभर आए है। उसके कारण उसके अंतर मे जो सतत द्वंद्व और संघर्ष चलता रहता है, मानवता के सच्चे अनुभव के प्रकाश में उसे पहिचानने की कोशिश करना ही उनके उपन्यासां का ध्येय है। उनके शब्द हैं—'मेरी रुचि व्यक्ति में ही रही है और है। उनके पात्र समाज से विच्छिन्न न होकर समाज के ही अंग है। उपन्यास पूरे समाज का चित्र हो यह माँग बिलकुल गलत है। सुनिर्मित विश्वास्य व्यक्तिचरित्र हो, जीवंत हो, यही मेरा विश्वास है। व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज है। प्रतिबिंब भी है और पुतला भी। इसी तरह वह जैविक परंपराओ का भी पुतला है। जैविक सामाजिक का विरोधी नही है। वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं है। वह व्यक्ति है; बुद्धिविवेक संपन्न व्यक्ति। व्यक्ति को दबाकर मामले का जो निर्णय होगा वह गलत होगा।

'शेखर' मे घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे गए विजन को शब्दबद्ध किया गया है। यातना की शक्ति दृष्टि देती है। अपनी पीड़ा के कारण ही वह द्रष्टा बन जाता है। शेखर मे अहं है जिससे उत्पन्न विद्रोह या तो प्रबल होकर सबपर हावी रहना चाहता है या सिमटकर आत्मकेंद्रित हो जाता है। उसके सारे असाधारण कार्य अहं के आहत होने पर हो होते है। उसकी मूलभूत प्रेरणा अहं के विद्रोह मे निहित रहती है। वह प्रत्येक वस्तुस्थिति, व्यवस्था और संस्था के प्रति विद्रोह करता हैं। उसका विद्रोह किसी एक और विशेष के प्रति नही, सब के प्रति, सारी स्थितियों

के प्रति होता है। शेखर एक प्रखर व्यक्तित्व के विद्रोह की कहानी है। रूपविन्यास की दृष्टि से भी शेखर का विशेष महत्व है। उसमें आत्मकथा और कथासमूहों के संकलन की मिश्रित शैली का प्रयोग किया गया है। उपन्यास की रचना मृत्यु की अनिवार्यता के बोध की पृष्ठभूमि में हुई है, जहाँ स्मृतियों के खंडचित्रों के रूप में तटस्थ निर्भयता के साथ स्थितियों का विश्लेषण हुआ है। स्मृत्यालोक और आत्मविश्लेषण के सहारे चेतनाप्रवाह के विभिन्न स्तरों को उभारा गया है। जिस स्तर पर शेखर अपना अतीत फिर से जी लेता है अनेक छोटी बड़ी घटनाएँ उस समग्र प्रवाह की अंग हैं, यद्यपि उसमें कार्यकारण या पूर्वापर शृंखलाएँ नहीं हैं, लेकिन स्मृतियों की असंबद्धता और विशृंखलता ही अधिक स्वाभाविक होती है। संबद्धता और सुगुंफन तो आमसाध्य होती है। उपन्यास में भावों, विचारों और मनःस्थितियों की अन्विति है।

नदी के द्वीप अज्ञेय का दूसरा बहुचर्चित उपन्यास है जिसमें व्यक्तिमन की भावनाओं और संवेदनाओं के साथ उसकी बौद्धिक प्रतिक्रियाओं की बारीकियों का विश्लेषण किया गया है। कथा चार पात्रों के चेतनास्तर पर विकसित होती है, जिनकी संवेदनाएँ एक दूसरे से भिन्न और परस्पर विरोधी हैं। इसकी कथा खंडपात्रों के आधार पर निर्मित है। अंतराल अध्याय में कथाखंडों को शृंखलित किया गया है। रचनाशिल्प की दृष्टि से यह भी नवीन प्रयोग है। मानसिक स्थितियों के निरूपण में पूर्वदीप्ति और विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग भी किया गया है। नदी के द्वीप प्रतीकात्मक है। 'प्रत्येक क्षण द्वीप है, खासकर व्यक्ति और व्यक्ति के संपर्क का। कांटैक्ट का प्रत्येक क्षण परिचय के महासागर में एक छोटा परंतु मूल्यवान द्वीप। क्षण सनातन है, छोटे छोटे ओएसिस सम्यक् क्षण''''नदी के द्वीप'' जो कालपरंपरा नहीं मानता। मानसिक प्रक्रिया के विश्लेषण में टी० एस० इलियट, डी० एच० लारेंस आदि के उद्धरणों का प्रयोग किया गया है। परंतु इसके कारण पाठक स्थितियों को भोग नहीं पाता। वह श्रोता और दर्शक ही रह जाता है। 'अज्ञेय' की ये दोनों ही रचनाएँ वस्तु और शिल्प की दृष्टि से अद्वितीय हैं। उनके कविव्यक्तित्व के सान्निध्य में चाहे किन्हीं दूसरे व्यक्तियों को खड़ा भी किया जा सके परंतु हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में उनका स्थान अपना और अलग है। (ज्यां क्रिस्ताफ की प्रतिरूपता के आक्षेपों के बावजूद)।

अपने अपने अजनबी की रचना अज्ञेय के अस्तित्ववादी दृष्टि के आग्रह से हुई है। अज्ञेय जैसे कुशल शिल्पी और सारग्राहक साहित्यकार के हाथों अस्तित्ववाद का विश्वसनीय न हो सकना इस बात का प्रमाण है कि वह विचारदृष्टि यहाँ की मिट्टी के लिये विदेशी है। जिस अजनबीपन को अज्ञेय उभारना चाहते थे वह उभरा ही नहीं है। मानवीय प्रेम और घृणा का निर्धारण करनेवाली स्थितियों और वस्तुतत्वों को जैसे लेखक ने ऊपर ही ऊपर छू लिया है; कोई गहरी और नई दृष्टि अथवा किसी

नए महत्वपूर्ण सत्य की स्थापना अज्ञेय नहीं कर पाए हैं। उसका चिंतन भुक्त और प्रामाणिक नहीं, अर्जित और आरोपित है। अभिप्राय और प्रभाव की अन्विति भी उसमें नही है। पहले दो उपन्यासों की तुलना में यह कृति पासंग भर भी नहीं बैठती।

अज्ञेय के बाद इस परंपरा के प्रमुख उपन्यासकार हैं डा० देवराज। उनके चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—पथ की खोज (दो भाग), बाहर भीतर, रोड़े और पत्थर तथा अजय की डायरी। पथ की खोज में उन्होंने पात्रों और उनसे संबद्ध परिवेश के माध्यम से कई सार्थक प्रश्न उठाए है जो बौद्धिक और व्यक्तिवादी चिंतन के परिणाम होते हुए भी सामाजिक संदर्भों और मूल्यों के भीतर से सामने आते हैं, आदर्श और यथार्थ, परंपरा और नई चेतना के संघर्ष के एक साथ कई दृष्टिकोण उभर कर आते हैं, जिनके उलझावों में फँसा हुआ व्यक्ति अपना निर्भ्रांत पथ नही खोज पाता।

उनका दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है अजय की डायरी। उपन्यास का कद्र है व्यक्ति का अंतर्मन। इसमें स्त्री और पुरुष के सहज आकर्षण और प्रेम के घात-प्रतिघातो की बारीकियों को लेखक ने बाँधना चाहा है। बाह्य घटनाओं और सामाजिक पक्षों का उपयोग केवल व्यक्तियों के परिवेश का निर्माण करने के उद्देश्य से हुआ है। उपन्यास का सबसे बड़ा आकर्षण है मन को गहरी छू लेनेवाली घनीभूत संवेदना जो बुद्धिसंस्पर्शित होकर बहुत तीव्र हो गई है। संस्कृति, दर्शन और साहित्य के विवाहित विद्वान् और एक अविवाहित छात्रा के प्रेम के ऊहापोहो का इसमें चित्रण है। भावनाओं का ज्वार भाटा, उसकी ऊष्मा और उत्ताप, उससे संबद्ध क्रियाओ और प्रतिक्रियाओं का चित्रण बड़े संयम और सूक्ष्मता के साथ किया गया है।

इन लेखकों की दृष्टि मे जिंदगी कोई ऐसी वस्तु नही है जिसपर हम अपनी कल्पना की व्यवस्थाओं और संभावनाओं को आरोपित कर दें, वह तो अपने अर्ध-पारदर्शी वृत्त मे हमारी चेतना को घेरे रहती है और उसपर अपने असंख्य प्रभाव अंकित कर जाती है, जिनके कारण मानसिक उलझावों और जटिलताओं का जन्म होता है। इनकी क्षण क्षण उठती गिरती और बदलती प्रतिक्रियाओं की असंबद्ध शृंखलाओं को इन लेखकों ने पकड़ने की कोशिश की है। इन शृंखलाओं पर व्यक्ति अपनी इच्छाशक्ति के अनुशासन से हावी रहता है,' परंतु उस अनुशासन के जरा भी ढीले होने पर, हम मानसिक उलझावों के घेरे में अपने को बँधा हुआ पाते हैं। इन मनोविश्लेषक उपन्यासकारों ने इन्हीं अहंकेंद्रित वैयक्तिक चेतनाओं को स्मृतियों, ऐंद्रिय बोधों और कल्पना के आधार पर ढालने की कोशिश की है। इन अमूर्त सूक्ष्म मनःस्थितियों को बोधगम्य बनाने के लिये बहुत बार उन्हें व्याख्यात्मक संकेत भी देने पड़े हैं। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उन्हें लाक्षणिक भाषा और व्यंजनापुष्ट तथा वैयक्तिक प्रतीकों और बिंबों का प्रयोग भी करना पड़ा है।

ये उपन्यास देशकाल के बंधनों की कठोरता से मुक्त हैं। पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का विवेक द्वारा नियंत्रित होना यहाँ अनिवार्य नहीं है। इसलिये कालक्रम का अनुसरण उनके लिये आवश्यक नहीं है। उनकी वैयक्तिक चेतना देशकाल में उन्मुक्त आंदोलित होती है पर काल के आयाम में बँधना उनके लिये संभव नहीं है। इन उपन्यासों को पढ़ते हुए, कहीं इस काल के प्रसार में खड़े रहते हैं और विविध बहिर्मुखी घटनाओं और तत्वों पर विचार करने के लिये बाध्य होते है, कहीं एक या अनेक व्यक्तियों के चेतनास्तरों पर घूमते हुए उनका लेखाजोखा ले सकते हैं। इन उपन्यासों में वर्णन, आत्मकथा, आत्मविश्लेषण, दिवास्वप्न, प्रत्यक्ष और परोक्ष अंतरंग आलापों की शैली प्रयुक्त होती है जिसका उद्देश्य चरित्र के मानसिक अस्तित्वों और प्रक्रियाओं को निरूपित करना होता है।

मानसिक स्तर की घटनाओं और स्थितियों की प्रधानता के कारण इस परंपरा के उपन्यासकारों को शिल्प के प्रति बहुत जागरूक रहना पड़ता है और काल तथा स्थान की अन्विति के प्रति उसे समाजोन्मुखी उपन्यासकारों की अपेक्षा बहुत अधिक सतर्क रहना पड़ता है। इसी लिये जहाँ कहीं भी उनकी दृष्टि में ढीलापन आ गया है, उनमें एक बिखराव आ गया है और संवेदनाओं और संसर्गों के व्यवस्थाहीन घात-प्रतिघातों में खोई हुई चेतना अपनी वास्तविकताओं के साथ रूपायित नहीं हो पाई है।

उपन्यास लेखिकाएँ

इस काल के उपन्यास के क्षेत्र में नारी लेखिकाओं का कृतित्व गुण और महत्त्व दोनों ही दृष्टि से अत्यंत साधारण है। ऐतिहासिक क्रम में पहला नाम आता है श्रीमती उषा मित्रा का। पिया, वचन का मोल, आवाज तथा जीवन की मुस्कान उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। रजनी पनिकर के उपन्यास मोम के मोती, पानी की दीवार और काली लड़की में नारीजीवन की समस्याओं को पहले की अपेक्षा खुली और यथार्थवादी दृष्टि से देखा गया है। चंद्रकिरण सौनरिक्सा की कृति 'चंदन चाँदनी' में भी सार्थक और यथार्थ प्रश्न उठाए गए हैं। नवीनतम लेखिकाओं में प्रमुख नाम हैं शिवानी, उषा प्रियंवदा और मन्नू भंडारी। शिवानी के चौदह फेरे शायद इन सबमें अधिक चर्चित उपन्यास है। मानसिक ऊहापोहों का खरा धरातल, यथार्थ परिवेश, कटुता और माधुर्य की तटस्थ परंतु संतुलित स्वीकृति, गंभीर भावुकता तथा सजीव आंचलिक स्पर्शों ने इस उपन्यास को अपने ढंग का एक बना दिया है। उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'पचपन खंभे, लाल दीवारें' में औपन्यासिक संयोजनाओं की अनेक संभावनाएँ थीं जिन पर लेखिका की दृष्टि नहीं गई है और उपन्यास पात्रों और स्थितियों के प्रति पूर्वाग्रहों और मताग्रहों से भर गया है। उनकी कहानियों की तुलना में यह उपन्यास अत्यंत साधारण ठहरता है। मन्नू भंडारी द्वारा लिखित 'एक इंच मुस्कान' के अंश उनकी प्रखर क्षमता और दृष्टि का परिचय देते हैं। परंतु इन लेखिकाओं का कृतित्व अत्यंत

साधारण है। जैनेंद्र, अज्ञेय अथवा नई पीढ़ी के समर्थ लेखकों के समकक्ष खड़े होने की तो बात ही क्या उनके कमर तक पहुँचनेवाला व्यक्तित्व भी कोई नहीं है। हिंदी में जेन आस्टिन, ब्राँटे बहनें, जार्ज इलियट, वर्जिनिया वुल्फ और पर्लबक जैसे व्यक्तित्वों की अभी कहीं संभावना नहीं दिखाई देती।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के बाद हिंदी उपन्यास ने महाकाव्य की स्थानापन्न विधा के रूप में अपना दायित्व पूर्ण रूप से निभाया है। जिंदगी की आयामहीन दिशाओं, अनेक आयामी राहों और विविध अनेकरूपताओं को तो उसने समेटा ही है, मन की परतों और बौद्धिक गहराइयों में भी वह सूक्ष्म-चेता की तरह उतरा है, और आदमी की एक एक रग को पहिचानने तथा उसकी नब्ज की आवाज समझने की कोशिश की है। आज जिस स्थिति पर वह टिका है वहाँ से संभावनाओं की नई ऊँचाइयाँ साफ दिखाई दे रही हैं।

●

द्वितीय अध्याय

कहानी

१. यह कथा की कथा न होकर कहानी की कहानी इसलिये है कि कथा ने कहानी का रूप धारण कर लिया है और इसके परखने की कसौटी बदल रही है। कथा सामान्य से विशिष्ट बन रही है और एक स्वतंत्र साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित हो चुकी है। हिंदी कहानी की उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन इसलिये आवश्यक हो गया है कि यह साहित्यिक विधा भारतीय जीवन के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम बनी हुई है। पहले इसकी उपेक्षा इसलिये होती रही है कि उपन्यास की तुलना मे इसे छोटा माना जाता था। यह 'छोटा' न होकर 'छोटी' होने के कारण अधिक उपेक्षित रही है। आज का युगबोध छोटी को उठाने के पक्ष में है; कहानी की कहानी कहना युगबोध के अनुकूल बैठता है। हिंदी कहानी की विकासयात्रा को जानने से पहले शायद यह जान लेना आवश्यक हो कि इसने अपनी यात्रा कहाँसे आरंभ की है। हिंदी की पहली कहानी का नाम क्या है? इसकी जन्मतिथि क्या है? इस संबंध में भारी मतभेद पाया जाता है। इसकी जन्मतिथि के बारे में एक ज्योतिषी का मत है कि बंगमहिला की कहानी 'दुलाई वाली' (१६०७) हिंदी की पहली मौलिक कहानी है; एक और मत है कि किशोरीलाल की 'इंदुमती' (१६००) को हिंदी की पहली कहानी की फूलमाला पहनाना उचित है; तीसरे ज्योतिषी की धारणा कि माधवप्रसाद मिश्र की 'मन की चंचलता' को इसका श्रेय मिलना चाहिए। इसका जन्म 'इंदुमती' से छह महीने पहले हुआ था। अन्य आलोचकों के भी अपने अपने मत है। इनके अनुसार हिंदी कहानी का जन्म बहुत पहले 'रानी केतकी की कहानी' (१८००-१८१०) के रूप में हो चुका था। इन परस्परविरोधी मतों का महत्व ऐतिहासिक ही हो सकता है और यह विद्वानों को ही शोभा दे सकता है। हिंदी कहानी के जन्म के बारे में जहाँ इतना मतभेद पाया जाता है वहाँ इसके नाम के बारे में भी उतना ही मतभेद रहा है। कभी इसे आख्यायिका नाम से पुकारा जाता था तो कभी गल्प कहकर, कभी इसे छोटी कहानी कहकर आवाज दी जाती थी तो कभी लघुकथा कहकर। अब इसका केवल एक ही नाम है—कहानी। बचपन के सब नाम छूट गए है। अब यह बड़ी हो गई है और बचपन के नामों से इसका चिढ़ना स्वाभाविक है। एक युवती के रूप में इसका स्वतंत्र अस्तित्व तथा व्यक्तित्व उभरा है। इसका नाम तो रूढ़ हो चुका है परंतु

इसके रूप अनेक हैं। कहानी की यह कहानी इसके रूपों की कहानी है, इसकी उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन है।

२. हिंदी कहानी के विविध रूपों को आज विद्वान् भी निहारने लगे हैं। अगर इसके रूपों का बखान पत्र पत्रिकाओं, सभा गोष्ठियों, लेख निबंधों तथा पुस्तकों तक में होने लगा है तो यह अकारण नहीं हो सकता। यदि इसके नखशिख का विवेचन होने लगा है तो यह असंगत नहीं हो सकता। अगर इसके मूल्यांकन का छात्रोपयोगी आधार टूट रहा है, इसकी परिभाषा को बाँधना कठिन हो रहा है तो यह सब कुछ निराधार नहीं हो सकता। आज से लगभग पचास वर्ष पहले हिंदी कहानी रेंगने की अवस्था में थी, घुटनों के बल चलती थी। चंद्रधर शर्मा गुलेरी और अन्य कहानीकारों ने दूध पिलाकर इसे पुष्ट अवश्य किया; परंतु प्रसाद तथा प्रेमचंद ने इसे अपने पाँव पर खड़ा किया। इसलिये हिंदी कहानी की विकासयात्रा का पहला पड़ाव प्रसाद प्रेमचंद के कहानी साहित्य में आँका जा सकता है। यह विकासयात्रा 'उसने कहा था'—१९१५ (गुलेरी), 'आकाशदीप' (प्रसाद) और 'बड़े घर की बेटी' (प्रेमचंद) से प्रारंभ होती है। इनकी कहानीकला से स्वरूप तथा उद्देश्य में भारी अंतर ही नहीं, पारस्परिक विरोध भी पाया जाता है। यह अंतर इनकी परस्पर-विरोधी जीवनदृष्टियों का परिणाम है, विभिन्न रचनाप्रक्रियाओं की देन है, विपरीत संवेदनाओं की परिणति है। प्रसाद की कहानी एक धारा एवं दिशा की सूचक है और प्रेमचंद की कहानी दूसरी की। प्रेमचंद की कहानीकला के मूल में समाजमंगल की भावना है, समष्टिसत्य की धारणा है, सामाजिक उद्देश्य की प्रेरणा है और प्रसाद का कहानी साहित्य व्यक्तिहित, व्यष्टिसत्य तथा वैयक्तिक विकास के उद्देश्य से प्रेरित है। इस तरह जब व्यष्टि तथा समष्टि को शब्दावली का प्रयोग इनकी कहानीकला के अंतर को स्पष्ट करने के लिये किया गया है तो इसका आशय यह नहीं है कि एक का दूसरे में नितांत अभाव है। प्रश्न बल देने का है, जीवन तथा जगत् को आँकने की कसौटी का है। प्रेमचंद की कहानी को जब सामाजिक या समष्टिमूलक कहा गया है तब केवल इतना ही कहना है कि वह कहानी की रचना इस उद्देश्य से करते हैं कि समाज के सुधार तथा विकास में व्यक्ति या मानव का हित छिपा हुआ है। प्रसाद की कहानी को व्यष्टिमूलक की संज्ञा जब दी गई है तब इसका अभिप्राय मात्र इतना है कि कहानी में जो बोध झलकता है वह व्यक्तिसत्य या व्यक्तिहित से अनुप्राणित है। वह व्यक्तिविकास के आधार पर सामाजिक मान्यताओं को आँकते तथा परखते हैं। इनकी कहानियों से यह ध्वनित होता है कि वह समाज किस काम का है जिसमें व्यक्ति का विकास नहीं हो पाता। इस तरह प्रसाद तथा प्रेमचंद ने कहानी की रचना दो विभिन्न उद्देश्यों से की है। इस अंतर को यदि आज की शब्दावली में व्यक्त किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि इनकी रचनाप्रक्रिया दो विभिन्न दिशाओं में विकासमान है और आज भी कहानी इन दो दिशाओं में विकासमती है।

३. प्रसाद और प्रेमचंद की कहानीकला में उद्देश्य की इस विभिन्नता के अतिरिक्त आदर्शभावना की समानता भी है, जीवन को बदलने की कामना भी है। प्रेमचंद अधिक आसपास के जीवन को अपनी कहानियों का आधार बनाते हैं और प्रसाद अतीत या इतिहास को। गद्यकार होने के कारण प्रेमचंद की कहानी में विचार का पुट अधिक गहरा है और कवि होने के नाते प्रसाद की कहानी में भाव का रंग। इस अधिकता के कारण प्रेमचंद की कहानी को यथार्थमूलक और प्रसाद की कहानी को भावमूलक की संज्ञा दी जाती है। यह धारणा इसलिये भ्रामक है कि दोनों के वास्तव या यथार्थ में आदर्श का पुट है, भावना का निरूपण है। प्रेमचंद यथार्थ को समष्टि-सत्य की कसौटी पर परखते हैं और प्रसाद वास्तव को व्यष्टिसत्य के धरातल पर आँकते हैं। यदि इनकी कहानी को क्रमशः समष्टिमूलक तथा व्यष्टिमूलक की संज्ञा दी गई है तो यह अधिक संगत मूल्यांकन जान पड़ता है। कहानी की विकासयात्रा भी इस आधार पर अधिक स्पष्ट हो सकती है। प्रसाद के बाद भी प्रसादपरंपरा का विकास तथा परिष्कार होता रहा है और हो रहा है। इन दो परंपराओं में अंतर कभी बढ़ता तो कभी घटता रहा है; परंतु इनमें अभिव्यक्ति की विविधता का समावेश अवश्य हुआ है। प्रसादपरंपरा के पुराने तथा नए कहानीकारों की सूची इतनी लंबी नहीं है जितनी प्रेमचंदपरंपरा के कहानीकारों की। चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्ण दास, विनोदशंकर व्यास आदि की कहानी में प्रसादपरंपरा की रचनात्मक चेतना का आभास है, व्यक्ति-मूलक बोध की प्रेरणा है। प्रसाद की रचनाप्रक्रिया में प्रेम तथा सौंदर्य की व्यक्तिमूलक चेतना है, रोमांटिक बोध है। इनकी कहानीकला में उदात्त मानवमूल्यों का निरूपण है, छायावादी अलंकृत भाषाशैली है, नाट्यात्मक पद्धति का उपयोग है। प्रसाद की कहानी का रचनात्मक उद्देश्य आंतरिक जगत् के द्वंद्वों का चित्रण है। प्रसाद की कहानी का संकेत देना इसलिये आवश्यक है कि यह आज की कहानी की एक दिशा की सूचक है। इनकी कहानी का महत्व उतना साहित्यिक नहीं जितना ऐतिहासिक है। प्रसाद-परंपरा के कहानीकारों की कृतियों के मूल में व्यक्तिमूलक चेतना है जो कहानी की वस्तु तथा शिल्प को रूपायित करती है। इस परंपरा के कहानीकारों में भगवतीचरण वर्मा से लेकर आजतक अनेक नाम हैं। इनमें जैनेंद्र, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उपेंद्रनाथ अश्क, ऊषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, रामकुमार, फणीश्वरनाथ रेणु, रमेश बक्षी, कृष्ण बलदेव वैद, श्रीकांत वर्मा आदि कहानी की इस दिशा के कहानीकार हैं। इन कहानीकारों की रचना में व्यक्तिचिंतन तथा व्यक्तिसत्य का अपना अपना स्तर है, रचनाप्रक्रिया का अपना अपना रूप है, व्यक्तिसत्य को आत्मसात् करने का अपना अपना धरातल है, वस्तुचयन का अपना अपना परिवेश है, शिल्प का अपना अपना साँचा है या इसका अभाव है; परंतु इन सबकी कहानीकला में व्यक्तिमूलक जीवनबोध है जिसके आधार पर वे जीवन तथा जगत् का चित्रण एवं मूल्यांकन कहानी के माध्यम से करते हैं। यह ठीक है कि प्रसाद

पहले कवि हैं, बाद में नाटककार और अंत में कहानीकार। इनकी कहानी में जब काव्य तथा नाटक की पद्धतियों का संमिश्रण हुआ है तब इनकी रचनाप्रक्रिया में बाधा पड़ी है, कहानी की संश्लिष्टता भंग हुई है। प्रसाद प्रायः कहानी पर काव्य की लय तथा नाटक की संरचना को आरोपित करते हैं। इनकी कहानी में चरित्रचित्रण का स्वरूप प्रायः वायवी, परिवेश का चित्रण अलंकृत तथा कथानक की रचना प्रायः नाट्यात्मक है। इनकी कहानी में तनाव तथा संघर्ष का सूक्ष्म विश्लेषण भी कभी कभी हुआ है। इसके बाद प्रसादपरंपरा की कहानी का विस्तार तथा परिष्कार उसी तरह हुआ है जिस तरह प्रेमचंदपरंपरा की कहानी का।

४. प्रेमचंदपरंपरा को पुष्ट करनेवाले कहानीकारों की कतार इतनी लंबी है कि सबकी गिनती करना असंभव नहो तो कठिन अवश्य है। समकालीन कहानीकारों में चंद्रधर शर्मा गुलेरी, कौशिक, सुदर्शन आदि, बाद के कहानीकारो मे यशपाल और आज के कहानीकारों मे भीष्म साहनी, अमरकान्त, रागेय राघव, अमृत राय, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, शिवप्रसाद सिंह, मार्कंडेय, शेखर जोशी आदि अनेक नाम हैं। इनकी रचनाओं में अधिकांशतः सामाजिक चेतना का स्वर ध्वनित हुआ है, परंतु कभी कभी इनकी कृतियों में व्यक्तिमूलक संवेदना भी उभरी है। निर्मल वर्मा की कहानीकला मे प्रायः व्यक्तिचिंतन का स्वर गुंजित हुआ है; परंतु इनकी कहानीकला को सामाजिक चेतना से अनुप्राणित माना गया है। इनकी पहली कहानियों में नव-स्वच्छंदतावादी जीवनदृष्टि का परिचय मिलता है, परंतु हाल की कहानियो मे (लंदन की एक रात, डेढ़ इंच ऊपर) इनका मूल स्वर बदला हुआ है; परंतु इसका आभास 'परिंदे' मे ही मिल जाता है। इस तरह इस परंपरा के कहानीकारो की रचनाओं में भी समष्टिचिंतन का अपना अपना स्तर है, सामाजिक बोध को आत्मसात् करने का अपना अपना धरातल है, समष्टित्रय का अनुभूति का अपनी अपनी भूमि है और रचनाप्रक्रिया की निजता है। इन सबके दृष्टिबोध मे प्रेमचंदपरंपरा का विकास, विस्तार तथा परिष्कार हुआ है। व्यष्टियथार्थ तथा समष्टियथार्थ की अभिव्यक्ति में अंतर पहले जितना स्थूल तथा स्पष्ट था उतना ही वह अब सूक्ष्म तथा तरल होता गया है और कभी कभी इसके लोप होने का आभास भी आज उपलब्ध है।

५. प्रेमचंद की कहानीकला का अधिकांश सुधारवादी उद्देश्य से रूपायित है और इस उद्देश्य से इनकी रचनाप्रक्रिया प्रेरित है। इस रचनाप्रक्रिया मे अंतर भी आया है। 'पंच परमेश्वर') १९१६)[१] जो प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी है और 'कफन' (१९३६) जो इनकी अंतिम रचना है, दोनों की तुलना इस अंतर को सूचित करती है। पहली कहानियों पर उद्देश्य आरोपित है और 'पूस की रात' तथा 'कफन' में यह

१. सौत को (१९१५) पहली कहानी की मान्यता देना अधिक संगत है। यह सरस्वती में छपी थी।

समाया हुआ है। और जहाँ यह निहित अथवा सांकेतिक है वहाँ कहानी में संश्लिष्टता आ जाती है, कहानी की लय में बाधा नहीं पड़ती, इसके अवयवों में दरारें नहीं पड़ती, इसमें कलात्मक रचाव आ जाता है। कहानी में जिस लय, कलात्मक रचाव, संश्लिष्टता पर आज इतना बल दिया जा रहा है, इनके आधार पर कहानी के मूल्यांकन के लिये जो नए शास्त्र की रचना हो रही है, इसकी निष्पत्ति 'पूस की रात' और 'कफन' में उपलब्ध है। आधुनिकता की जिस समस्या को आज उठाया जा रहा है, जिसकी चुनौती का आज सामना किया जा रहा है, इसकी कलात्मक अभिव्यक्ति इन कहानियों में मिल जाती है। इनमे तथाकथित नई कहानी के लक्षण भी लक्षित हैं। प्रेमचंद की कहानीकला का सूत्रपात 'उत्तर' में और इसका अंत 'प्रश्न' में हुआ है। इन दो कहानियों में प्रश्न की निरंतरता बनी हुई है, प्रक्रिया जारी है, जो आधुनिकता को सूचित करती है। इस तरह प्रेमचंद ने आधुनिकता की प्रक्रिया को, प्रश्न की निरंतरता को समष्टिचिंतन तथा समष्टिसत्य के धरातल पर उठाया है। प्रेमचंद ने लगभग २२४ कहानियों की रचना की है।[1] इनमें विकास के सूत्रों को विभिन्न दृष्टियों से खोजा गया है। डा० परमानंद श्रीवास्तव के अनुसार इसमें जातीय एकता से राष्ट्रीय एकता तक का विकास है, सामाजिक सुधार से राजनीतिक स्वतंत्रता तक का इतिहास है। इसका अंत मानवीय संवेदना में हुआ है। इस अंत या अवसान में आधुनिकता का उन्मेष हुआ है। और आधुनिकता का निवास किसी निष्पत्ति में न होकर खोज में होता है (पूस की रात)। प्रेमचंद तथा प्रेमचंदपरंपरा की कहानी में पुरानी विधियों का संमिश्रण भी लक्षित होता है और इनके टूटने के स्वर भी ध्वनित होते हैं। इस परंपरा की रचनागत सीमाओं में संयोगात्मक कथानक, अविश्वसनीय चरित्रचित्रण, सपाट शैली, अतिनाटकीय अंत, भावुकता का अतिरेक और नैतिकता आदि की गणना की जा सकती है। प्रेमचंद ने इन सबका उपयोग भी किया है और परिहार भी। इन रचनागत सीमाओं का बोध भी इस परंपरा के कहानीकारों को हो चुका था। इन सीमाओं का कारण यह है कि प्रेमचंद को कहानी-कला की जो परंपरा विरासत में मिली थी उसमें अलौकिक घटनाओं तथा अतिरंजित चित्रण का समावेश था। उदाहरण के लिये 'रानी केतकी की कहानी' में केतकी का नख से शिख तक चित्रण रूढ़िगत शैली का परिणाम है। यह कभी नहीं पूछा गया कि शिख से नख तक का चित्रण क्यों नहीं हो सकता। दृष्टि पहले नख पर पड़ती है या शिख पर या मुख पर—यह विचारणीय है। इस रूढ़िगत चित्रण में स्वाभाविकता का अभाव है। यह विरासत प्रेमचंद को मिली थी। इन्होंने जासूसी ऐयारी आदि कथासाहित्य को परंपरा में पाकर भी कहानीकला को कितना विकसित तथा परिष्कृत किया है, इसका अनुमान 'पूस की रात' तथा 'कफन' से लगाया जा सकता है। वह

१. अमृतराय के अनुसार : कलम का सिपाही, परिशिष्ट २।

कहाँ से चल कर कहाँ तक आ गए हैं। वह कथाकार से कहानीकार बन गए हैं। इस यात्रा में प्रेमचंद की उपलब्धि को आँका जा सकता है। अंतिम कहानियों में कहानी की राह ही कहानी की मंजिल बन जाती है। इस रचनाप्रक्रिया में न राह से मोह है और न ही मंजिल से भय। यह केवल वस्तुस्थिति से साक्षात्कार है। उपलब्धि तथा उपलब्ध करने की प्रक्रिया में अंतर का लोप हो गया है। इन कहानियों में प्रक्रिया ही परिणति है। इसलिये इनका हर पाठ नया संकेत देने की क्षमता रखता है। प्रश्न का उत्तर प्रश्न में ही समाया हुआ है। मुन्नी की यह चिंता कि पूस की रात कंबल के बिना कैसे कटेगी और हल्कू का खेत के चर जाने के बाद यह कथन की रात की ठंढ में यहाँ सोना नही पड़ेगा; रचनाप्रक्रिया की उस आंतरिक संगति को सूचित करता है जो आधुनिकता की उपलब्धि है। इस प्रकार मुन्नी का प्रश्न निरंतर हो जाता है (शाश्वत नहीं) और निरंतरता मे आधुनिकता ध्वनित होती है। प्रेमचंद ने आधुनिकता की चुनौती को समष्टिसत्य, समष्टियथार्थ के धरातल पर स्वीकार किया है। इसलिये इनकी कहानीकला उस दिशा की सूचक है जो प्रसादपरंपरा से भिन्न है, जिसके मूल में व्यष्टिचिंतन अथवा व्यष्टिसत्य से प्रेरित जीवनदृष्टि है। जीवन-दृष्टि ही मूलतः तथा अंततः रचनाप्रक्रिया को अनुप्राणित करती है। प्रेमचंदपरंपरा की कहानी प्रसादपरंपरा से भिन्न आधुनिकता केपहले चरण की कहानी है, आधुनिकता में आने की कहानी है। आज की कहानी की भी एक दिशा या परंपरा की भूमिका को उसी तरह बाँधती है जिस तरह प्रसादपरंपरा दूसरी दिशा के मूल में है। इन दो परस्परविरोधी दिशाओं तथा जीवनदृष्टियों में सह अस्तित्व की स्थिति पहले भी थी और आज भी है। इन परंपराओं को नकारना वस्तुस्थिति से पलायन करना है। इन परंपराओं का विस्तार तथा परिष्कार अवश्य हुआ है, इनकी नई व्याख्या भी हुई है, इनकी अभिव्यक्ति में निखार भी आया है, इनके बोध में अंतर भी आया है; परंतु इनका उन्मूलन नहीं हुआ है।

६. प्रेमचंदपरंपरा के कहानीकारों में यशपाल की कहानीकला का विशेष महत्व है। इनकी कहानीकला को इस परंपरा का इसलिये माना जाता था कि इसकी रचनाप्रक्रिया के मूल में जो जीवनबोध है वह समष्टिचिंतन से प्रभावित है। यशपाल ने आधुनिकता की चुनौती को भौतिकवाद के वैचारिक धरातल पर स्वीकार किया है। इनका भौतिकवाद उपनिषदों के अध्यात्मवाद के विपरीत है। इसके मूल में वैज्ञानिक दृष्टि तथा मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव है। यशपाल मार्क्सवाद को चरम सत्य के रूप में भी स्वीकार नहीं करते, इसकी भौतिकवादी विचारधारा से प्रभावित अवश्य हुए हैं। जब वह आधुनिकता की चुनौती को वैचारिक धरातल पर स्वीकारते हैं तब कहानियों में इनका मुनि ही अधिक सजग एवं सचेत रूप में उभर कर इनके ऋषि पर हावी हो जाता है और रचनाप्रक्रिया में विकार ला देता है। इनकी कुछ कहानियों में मुनि ही विराजमान है और वह दृष्टांतों, प्रसंगों तथा परि-

स्थितियों के द्वारा अपनी बात संवाद शैली में कहते हैं। इन कहानियों में इनका मुनि आसन लगाकर जीवन का नया संदेश देते हैं जिससे लेखक का भौतिकवादी दृष्टिकोण निखरकर आता है, जैसे, ज्ञानदान, धर्मरक्षा, आत्मज्ञान, नारद परशुराम संवाद आदि। इसके विपरीत कुछ कहानियों में जब इनके मुनि सो जाते है तब इनके ऋषि अपनी सृष्टि कर डालते हैं, यथा चित्र का शीर्षक, होली नही खेलता, वॉन हिडनवर्ग, अमर, पराया सुख, जिम्मेवारी, दो मुँह की बात, उत्तमी की माँ आदि।) इनमें भी इनके ऋषि इनके मुनि के भय से मुक्ति नहीं पा सके हैं। भय यह है कि मुनि कहीं अचानक जाग न पड़ें और सृष्टि में विकार न ला दें। वह कुछ कहानियों में सहसा जाग भी पड़ते हैं और कहानी के अंत में अपना उपदेश देकर इसकी रचनाप्रक्रिया को भंग कर देते हैं, जैसे, गंडेरो, अस्सी बटा सौ, तर्क का तूफान, मनु की लगाम, पाँव तले की डाल, एक राज, धर्मयुद्ध आदि। इस आधार पर यशपाल के समस्त कहानी साहित्य का मूल्यांकन अनु बिग ने 'यशपाल की कहानीकला' नामक अपने अणुबंध में किया है। यह मूल्यांकन इनकी कहानीकला की रचनाप्रक्रिया को स्पष्ट करने में उपयोगी सिद्ध हुआ हैं।

७. यशपाल की कहानीकला के संबंध में किसी अंतिम शब्द को देना इसलिये अनुचित होगा कि इनका कहानीलेखन अभी जारी है। इनकी कहानियों की संख्या दो सौ तक पहुँच चुकी है और इनका न केवल संख्यात्मक महत्व है, गुणात्मक भी है। इनकी कला में मँजाव तथा संयम भी आ रहा है। उपन्यासकला की तरह इनकी कहानीकला का रंग लाल से गुलाबी हो रहा है। यह उस वस्तुस्थिति से जूझने का परिणाम है जिसे वह पहले व्यक्तिगत जीवन मे झेलते रहे हैं। इनकी हाल की कहानियों मे विचार तथा अनुभूति का संगम उपलब्ध होता है। इनके कहानी साहित्य के संबंध में कुछ धारणाएँ रूढ़ हो चुकी हैं, कुछेक भ्रांतियाँ फैल चुको हैं, जिनका परिहार आवश्यक जान पड़ता है। यशपाल वास्तव में प्रेमचंदपरंपरा के कहानीकार आंशिक रूप में कहे जा सकते हैं। इसी तरह आंशिक रूप में ही इनकी कहानीकला मार्क्सवादी चिंतन से प्रभावित है। यशपाल तथा प्रेमचंद की जीवनदृष्टि सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित होकर भी समान नहीं है, न ही इन कहानीकारों में युगबोध की समानता है। इनके विभिन्न व्यक्तिगत संस्कारों के फलस्वरूप भी इनकी कहानी के स्वरूप का भिन्न होना स्वाभाविक है। जहाँतक मार्क्सवाद का संबंध है इनकी सब कहानियों में इनके चिंतन का पुट नहीं है। इनमें कभी प्रेमचंदीय सुधारवाद है (सबकी इज्जत), तो कभी रोमांस का गहरा रंग है (मक्रील), कभी भावुकता की गहरी छाप है (मन की पुकार), तो कभी व्यक्तिवाद का स्वर है (होली नहीं खेलता), यशपाल पहले विचारक हैं और बाद में कहानीकार, पहले मुनि है और बाद में ऋषि। यह कहानी के लिये कहानी नहीं लिखते और इस लक्ष्य को उन्होंने स्वयं घोषित किया है। एक चिंतक के नाते समस्याओं को उठाकर उनका समाधान भी देते हैं। इनके

चित्रण तथा निरूपण में शैली की सपाटता है जिसकी एकरसता को व्यंग्य से तोड़ा गया है। इनका तरकश व्यंग्यबाणों से भरा रहता है और सामाजिक विषमताओं तथा कुरूपताओं का शिकार पाते ही वह इनपर बरस पड़ते हैं। यशपाल के ऋषि का एक स्वप्न भी है जो जीवन को बेहतर बनाने की कामना लिए हुए है। इस स्वप्न को साकार बनाने के लिये कहानी को माध्यम बनाया गया है।

८. इस कहानीधारा के साथ साथ कहानी की एक और समानांतर धारा भी बहती रही है जिसके मूल में व्यष्टिसत्य, व्यष्टिहित, व्यष्टियथार्थ आदि से प्रेरित जीवनदृष्टि है। जैनेंद्रकुमार इस धारा के कहानीकार हैं या इस दिशा के कथाकार हैं जिन्होंने जीवन तथा जगत् का चित्रण एवं मूल्यांकन व्यक्तिनिष्ठ धरातल पर अपनी कहानियों मे किया है। इन कहानियों की संख्या लगभग १५० तक पहुँच चुकी है और इनके आठ संग्रह छप भी चुके हैं। इनके आधार पर इनकी कहानीकला का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये लेखक की मूल समस्या से अवगत होना आवश्यक है। इस समस्या का निरूपण इनके उपन्यास साहित्य में उपलब्ध है। जैनेंद्र की मूल समस्या मुक्ति की समस्या है और मुक्ति एकाकीपन से मुक्ति या गहरी बोरियत से निजात है। इनके लिये सामूहिक मुक्ति या सामाजिक मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये इनकी कहानीधारा प्रसादपरंपरा में आती है। इनकी लगभग सब कहानियों के मूल में व्यक्तिनिष्ठ जीवनदृष्टि है जो इनकी रचनाओं को विशिष्ट दिशा तथा रूप देती है। इनकी रचनाप्रक्रिया भी व्यक्तिचिंतन से प्रेरित होने के कारण बौद्धिक तथा कभी क्लिष्ट होने का आभास देती है। इनकी कहानीकला का उद्देश्य भी व्यक्तिसत्य का उद्‌घाटन है। इसलिये यह अपनी कहानियों में उन मान्यताओं का निरूपण करते है जो व्यक्ति के सहज जीवन के लिये साधक एवं सहायक हो सकती हैं। इस मूल समस्या को, एकाकीपन से मुक्ति पाने की समस्या को प्रायः प्रेम तथा विवाह के माध्यम से उठाया गया है। जैनेंद्रकुमार की दृष्टि में प्रेम एक वैयक्तिक मूल्य है और विवाह एक सामाजिक धारणा। इसलिये वह पुरुष तथा नारी के पारस्परिक संबंध का निरूपण इस वैयक्तिक मूल्य के धरातल पर ही करते हैं। इसी समस्या को इन्होंने अपने उपन्यासों में भी उठाया है। रचनाविधान की दृष्टि से इनके लगभग सभी उपन्यासों तथा काफी कहानियों में त्रिकोण की स्थिति उपलब्ध है—पति, पत्नी और उसका प्रेमी। यह स्थिति योजनाबद्ध होने का आभास ही देती है, [यथा पत्नी; एक रात, निस्तार, घुँघरू, मास्टर जी, बीइट्रस आदि]। इस आधार पर जगदीश पांडेय ने जैनेंद्र की कहानी की तुलना उस गृहिणी से की है जिसके पास पकवान तो थोड़े हैं लेकिन वह परसने में कुशलता का परिचय अवश्य देती है।[1] वह इनको चीरहरण का कहानीकार भी इसलिये कहते हैं कि इस *योजनाबद्ध त्रिकोण की स्थापना में नारी ही*

१. जगदीश पांडेय : कहानीकार जैनेंद्र, पृ० ५८।

अपना चीर हटा देती है और बाद में वियोग का उपदेश देने लगती है। इनकी कहानियों में कभी कभी चिरवियोग का निरूपण हुआ है (जाह्नवी)। इन कहानियों की एकांगिता पर रहस्य तथा दर्शन का आवरण डाला जाता है। इस संबंध में यह कहा जाता है कि जैनेंद्र की कहानी की समस्या अहिंसा का निरूपण है और इस साध्य के लिये शारीरिक तथा मानसिक नग्नता एक साधन है। इस धारणा के मूल में तांत्रिक दृष्टि का प्रभाव भी हो सकता है। इनकी वासना संबंधी कहानियों में अहिंसा का निरूपण हुआ है। सेक्स के बारे में चोरी की गाँठ रखने से आत्मा का हनन होता है और आत्मा का हनन हिंसा है। इसलिये कहानीकार ने पत्नी को छूट देने के लिये पति को प्राय: उदारता के साँचे में ढाला है। वह प्रेमी के निकट आकर फिर उससे दूर हो जाती है; घर से बाहर निकलकर फिर घर को लौट आती है। इस अभियान में न उसका घर रहता है और न ही बाहर। घर और बाहर की समस्या जैनेंद्र की कहानी-कला की ही नहीं, उपन्यासकला की भी मूल समस्या है। कुछेक कहानियों में पति को पत्नी का अभिनय करना पड़ता है (एक रात, पत्नी, मास्टर जी, घुँघरू)। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवाहित जीवन में एकरसता का आ जाना तो स्वाभाविक है परंतु पत्नी को इतनी छूट देना स्वाभाविक है या नहीं इसपर प्रश्नचिह्न लग सकता है। एक आलोचक ने इसे जैनेंद्र के मानवीय मनोविज्ञान की संज्ञा से विभूषित किया है।[1] इनकी कहानीकला में अहिंसा का निरूपण करने के लिये नारी का भोग तथा योग-संबंधी स्वरूप एक पहेली बनकर रह जाता है।

६. जैनेंद्रकुमार की कहानीकला में न केवल नारी एक पहेली है, इसकी रचना-प्रक्रिया में भी अस्पष्टता तथा उलझाव की स्थिति है। इनकी मीमांसाशैली में बौद्धिकता का पुट गहरा है। इसलिये पदरचना में प्राय: क्लिष्टता का अनुभव होने लगता है। कहीं कहीं सरलता का भी भान होता है। इनकी दुरूह सरलता में पेंतरेबाजी को भी खोजा गया है। इनके बौद्धिक चमत्कारों में झटका देने का गुण भी पाया जाता है। अस्पष्टता कहीं अस्पष्टता के लिये है, कहीं पाठक को उलझाने के लिये, कहीं यह अपने उलझे हुए अहं का परिणाम है तो कहीं चमत्कार पैदा करने लिये। इनकी शैली गिलहरी की तरह घूमते पिंजरे में चक्कर काटने का आभास देती है।[2] कहीं कहीं शैली इतनी विशद तथा प्रसन्न है कि यह एक ही कहानीकार होने का आभास नहीं देती। बहसों के दौर में, विचारों के वेग तथा विराम में, व्यंग्यों के दर्शन में यह गहरा असर छोड़ जाती है। इनकी कहानी में प्रतीकविधान का उपयोग भी इनकी बौद्धिकता का परिणाम है (दृष्टिदोष, साँप)। 'दृष्टिदोष' में पति और पत्नी को सुखी कहना समाज का एक दृष्टिदोष ही है। कहानीकार व्यक्ति की विवशता तथा उसकी नियति को तटस्थ दृष्टि से आँकते

१. जगदीश पांडेय : कहानीकार जैनेंद्र, पृ० ४८।
२. वही, पृ० ८२।

हैं। उसकी वस्तुस्थिति को व्यक्तिमूलक चेतना की कसौटी पर परखते हैं। इनकी कहानीकला में अनेक विधियों को अपनाया गया है जिसमें फेंटेसी है (नीलम देश की राजकन्या), दृष्टांत एवं संवादशैली है (तत्सत्), प्रश्नोत्तरी है (बीइट्स, परदेशी, वे तीन), प्रतीकात्मक एवं रूपकात्मक पद्धति है (दो चिड़िया, लाल सरोवर, वह साँप, एक गौ)। जैनेंद्रकुमार की कहानी, जो प्रसादपरंपरा को ही पुष्ट करती है, मूलतः एवं अंततः व्यक्तिमूलक जीवनदृष्टि से रूपायित है; परंतु इसमें बौद्धिकता का पुट गहरा हो गया है और भावात्मकता का रंग क्षीण पड़ गया है। इसकी शिल्पविधि में जिस क्षणविशेष को पकड़ने की बात कही जाती है, वह क्षण विशिष्ट न होकर शाश्वत है, मात्र शिल्पगत क्षण है (एक रात)। इनकी रचनाप्रक्रिया को यदि एक सूत्र में बाँधा जाय तो यह कहा जा सकता है कि जैनेंद्र की कहानी प्रायः कथात्मक निबंध है या निबंधात्मक कहानी। यही इसकी उपलब्धि तथा सीमा भी है। इस रचनाप्रक्रिया को अपनाने से कहानी में जीवन की जटिलता पकड़ में आने लगती है, इसकी परतें खुलने लगती हैं। प्रसाद की कहानी में जिस आंतरिक द्वंद्व को अभिव्यक्ति देने का प्रयास है और जिस व्यक्तिसत्य की खोज है, वही प्रयास तथा खोज जैनेंद्र की कहानी में जारी है। यशपाल ने जहाँ जीवन की जटिलता को वैचारिक धरातल पर पकड़ने का प्रयास किया है, जैनेंद्र ने वहाँ इसे संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्ति दी है; परंतु इनकी दृष्टियों में पारस्परिक विरोध भी पाया जाता है। इन दोनों कहानीकारों में निबंधात्मकता की समानता होते हुए भी जीवनदृष्टियों की विभिन्नता है। यशपाल समष्टिसत्य के धरातल पर और जैनेंद्र व्यष्टिसत्य के स्तर पर जीवन की जटिलता को आँकते हैं। इसलिये जैनेंद्र आंतरिक जीवन की उलझनों पर ही अधिक बल देते हैं, मानसिक गाँठों को खोलने मे अधिक व्यस्त हैं। इनकी कहानीकला की मूल समस्या चूँकि व्यक्ति की अकेलेपन से मुक्ति की है, इसलिये यह जीवन की सहजता का निरूपण करते हैं। इस सहजता में मूल बाधा नारी तथा पुरुष के कृत्रिम संबंधों की है। इसलिये वह बौद्धिक होते हुए भी बौद्धिकता का विरोध करते हैं। इस विरोधाभास का स्वर इनके कहानी साहित्य का मूल स्वर तथा इनकी रचनाप्रक्रिया का मूल स्वरूप है। इनकी उपलब्धि तथा सीमा का मूल कारण भी यही है।

१०. अज्ञेय की कहानी में आधुनिकता की चुनौती को वैयक्तिक धरातल पर ही स्वीकारने का प्रयास है, व्यक्तिसत्य के स्तर पर ही जीवन की जटिलता तथा उसके मूल्यों को व्यक्त करने का प्रयत्न है। यह कहना असंगत तथा अनुचित होगा कि इनकी कहानी में सामाजिक चेतना का नितांत अभाव है। इसकी बजाय यह कहना अधिक संगत होगा कि इनका कहानीकार जीवन तथा जगत् का चित्रण एवं मूल्यांकन वैयक्तिक संवेदना के धरातल पर करता है और सामाजिक मान्यताओं को भी इसी कसौटी पर परखता है। इसलिये इनकी कहानीकला प्रसादपरंपरा से भिन्न होते हुए भी इसी कोटि में रखी जा सकती है। इसमें न तो प्रसाद की भावमूलक

तथा आदर्शमूलक दृष्टि है और न ही नाट्यात्मक पद्धति। इसमें न तो घटनाओं का आकस्मिक संयोजन है और न ही परिवेश का अलंकरण। अज्ञेय की कहानीकला में बौद्धिकता तथा मनोवैज्ञानिकता का गहरा पुट है। मनोवैज्ञानिकता का यह स्वरूप सुगम संगीत का न होकर शास्त्रीय संगीत का है, मनोविश्लेषण के सिद्धांतों पर आश्रित है। बौद्धिकता के विकास में भी पाश्चात्य विज्ञान तथा मनोविज्ञान का स्पष्ट प्रभाव है। इनकी जीवनदृष्टि अंततः कहानी की वस्तु का चयन तथा शिल्प के रचाव में सहायक होती है। यह जीवनदृष्टि इनके काव्य में अधिक उभरी तथा निखरी है जहाँ रोमांटिक बोध से इसका अर्थ होता है और इसके मोहभंग तथा आधुनिक बोध को आत्मसात् कर नवरहस्यवाद में इसकी इति हुई है। 'बंदी स्वप्न' की रचनाओं में जिस प्रकार क्रांति तथा राष्ट्रीयता के भावों की अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार 'कोठरी की बात' की कहानियों में विद्रोह एवं क्रांतिसंबंधी रोमांटिक बोध की झलक है। 'कोठरी की बात' नामक कहानी में अज्ञेय की काव्यात्मक तथा दार्शनिक दृष्टि का परिचय मिल जाता है। कोठरी का, जिसका कहानी मे मानवीकरण किया गया है, कथन है 'अपने प्रगाढ़ अकेलेपन में मैंने एक और शक्ति पाई है—मैं आत्माएँ पढ़ती हूँ।[1]' इस कहानी में कवि का वेदनावाद ही व्यक्त हुआ है, शेखर का ही सुशील के रूप में विद्रोही व्यक्तित्व है, सुशील का बहिन से वही मधुर संबंध है जो शेखर का सरस्वती से है। इस कहानी में उबानेवाले विश्लेषण का अतिरेक है। इसकी रचनाप्रक्रिया मे इसलिये दरारें पड़ी हुई हैं। 'दुःख और तितलियाँ' कहानी में माँ की मृत्यु की गहरी तथा तीखी अनुभूति से उत्पन्न शेखर की प्रतिक्रियाओं का चित्रण उपलब्ध है। 'कोठरी की बात' की प्रायः सब कहानियों की रचना वैयक्तिक धरातल पर हुई है; परंतु कलात्मक रचाव की दृष्टि से इनकी तुलना 'बंदी स्वप्न' की कविताओं से की जा सकती है। 'विपथगा' अथवा 'अमरवल्लरी और अन्य कहानियाँ' नामक संग्रह में जो 'विपथगा' का संशोधित संस्करण है, की कहानियाँ भी संश्लिष्टता से वंचित हैं। 'विपथगा' विद्रोह की प्रतीक है। इसमें हिंसा अहिंसा के प्रश्न को उठाकर विद्रोह के महान् उद्देश्य का निरूपण हुआ है। अज्ञेय का 'विद्रोहदर्शन', जिससे शेखर आजीवन जूझता रहा है, इस कहानी की रीढ़ है। 'शत्रु' में संवादशैली के माध्यम से भगवान्, धर्म, समाज, भूख, पराधीनता के विरुद्ध युद्ध की घोषणा है। 'अमरवल्लरी' में युवा युवती की प्रेमसमस्या है जिसे प्रतीकपद्धति के द्वारा व्यक्त किया गया है। कहानीकार की प्रेमसंबंधी जीवनदृष्टि का परिचय इन शब्दों में मिल जाता है—'मैं प्रेम पा सकता हूँ, दे नहीं सकता; प्रेमपाश में बँध सकता हूँ, बाँध नहीं सकता; प्रेम की प्रस्फुटनचेष्टा समझ सकता हूँ, व्यक्त नहीं कर सकता'।[2] 'गृहत्याग' की रचनाप्रक्रिया में भी दरारें देखने को मिलती

१. कड़ियाँ तथा अन्य कहानियाँ, पृ० ११५।
२. अमरवल्लरी, पृ० १३।

है। इसमें कहानीकार प्रबोध पाठक पर अपने चिंतन का बोझ उसी तरह लादना चाहता है जिस तरह कहानी में गंगाधर प्रबोध लड़की पर समाजवादी विचारधारा का भार लादता है। इस तरह अज्ञेय की आरंभिक कहानियों में शैली की अपरिपक्वता तथा प्रयोगशीलता का ही परिचय मिलता है।

११. अज्ञेय की कहानीकला का विकास इनके काव्यविकास के अनुरूप होता रहा है। इनकी कहानीकला का विकसित रूप 'जयदोल' (१९५०) में उसी तरह मिलता है जिस तरह इनके काव्य का 'हरी घास पर क्षण भर' (१९४९), 'बावरा अहेरी' (१९५४) तथा 'इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये' (१९५७) में उपलब्ध है। यह अकारण न होकर सकारण है। इस काल में अज्ञेय की सर्जनात्मक प्रतिभा अपने चरम विकास का स्पर्श करती है। इसके पहले इनकी रचनाप्रक्रिया का सर्जनात्मक रूप 'शेखर : एक जीवनी' (१९४१–१९४४) तथा 'नदी के द्वीप' (१९५२) में उपलब्ध है। इसलिये इनकी कहानीकला को यदि इनके काव्य तथा उपन्यास के विकास के संदर्भ में आँका जाए तो इसका स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। इनकी कहानियों की कुल संख्या ५० के लगभग है, परंतु इनकी सफल रचनाएँ 'जयदोल' में संकलित हैं जिनमें 'पठार का धीरज', 'गैंग्रीन' (रोज), 'मेजर चौधरी की वापसी', 'नीली हँसी', 'वे दूसरे', 'हीली बोनू की बत्तखें', 'साँप', 'जयदोल' आदि हैं। अगले कहानीसंग्रह 'ये तेरे प्रतिरूप' में इनकी रचनाप्रक्रिया में उसी तरह उतार आया है जिस तरह 'आँगन के पार द्वार' (काव्य) या 'अपने अपने अजनबी' (उपन्यास) में आया है। इनकी कहानी 'गैंग्रीन' या 'रोज' एक संश्लिष्ट रचना है जिसमें आंतरिक संघटन अपने चरम विकास को छूता है। इसमें विषाद की गहरी छाया है और बोरियत का दमघोट वातावरण है। इस कहानी का अंत अपने अनंत संकेत इन शब्दों में देता है—'पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे धीरे बैठने लगी, और घंटाध्वनि के कंपन के साथ ही मूक हो जानेवाली आवाज में उसने कहा 'ग्यारह बज गए'''' ।' इस तरह बाह्य तथा आंतरिक परिवेश में सामंजस्य की स्थिति है। इसी आंतरिक समवाय अथवा कलात्मक रचाव की जटिलता को डा० नामवर सिंह 'पठार के धीरज' में भी पाते हैं। इन कहानियों का अनुभवसत्य अनेक स्तरों पर व्यक्त हुआ है और ये स्तर एक दूसरे को काटते या स्पर्श करते हैं। इनके काटने तथा छूने में कहानीकार की रचनाप्रक्रिया अपने सर्जनात्मक रूप में उभरती है। इस कोटि की रचनाप्रक्रिया का परिचय प्रेमचंद की 'पूस की रात' तथा 'कफन' में मिल चुका है। इसके आधार पर ही कहानीकार की देन का सही अनुमान लगाना उचित जान पड़ता है। अज्ञेय की कहानीकला की देन के संबंध में यह कहना अनुचित है कि शिकारी के पाँव के नीचे अगर दो चार बटेर दब गए हैं तो उसे शिकारी किस तरह कहा जा सकता है। इस तरह तो अनेक हिंदी के कहानीकारों को चेखव की तरह

शिकारी कहना कठिन होगा जिसके प्रायः हर कदम के नीचे बटेर आकर दब जाता है। अज्ञेय की इन कहानियों में आंतरिक जटिलता को जिस धरातल पर संघटित रूप दिया गया है उसके मूल में व्यक्तिचेतना है या व्यष्टिसंवेदना है। यह अनुभवसत्य को उसी तरह इस स्तर पर ही संश्लिष्ट अभिव्यक्ति देते हैं जिस तरह प्रेमचंद अपने अनुभव-सत्य को समष्टियथार्थ के स्तर पर देते हैं।

१२. उपेंद्रनाथ अश्क कहानी के सिद्ध शिकारी कहे जाते हैं जो शिकार न मिलने पर निराश न होकर बार बार इसके लिये निकल पड़ते हैं। इनकी कहानीकला का स्वरूप न केवल सजग है, सायास भी है। इनकी कहानीकला को मूल से प्रेमचंद-परंपरा का समझा गया है। इसका कारण यह है कि अश्क ने अपनी कहानियों में सामाजिक विधान की कड़ी आलोचना की है; परंतु किस दृष्टि से इसे जानना आवश्यक नहीं समझा गया है। वह शिकारी होते हुए भी स्वयं इस भ्रम के शिकार रहे हैं। इनका कथन है—'व्यक्ति के दर्द का स्रोत खोजते खोजते समाज के दर्द का आभास मिला और मानवमन की अनजानी अनभाषी गहराइयाँ ही सामने नहीं पड़ीं, सामाजिक व्यवस्था के उस चक्रव्यूह का भी पता चला, जिसके अंदर फँसा इंसान मरकर ही निकल पाता है।'[1] अश्क ने वास्तव में प्रेमचंद्र के मोहभंग को विरासत में पाया था जब वह आश्रमों, सदनों तथा निकेतनों आदि की स्थापना करते करते निराश हो गए और 'गोदान' में आकर होरी को धराशायी ही पाया। इसलिये उन्होंने इस उपन्यास में या 'पूस की रात' में किसी सामाजिक संस्था को स्थापित करना उचित नहीं समझा। अश्क ने इस मोहभंग की अनुभूति को दाय में पाया और अपनी कहानी को भावना के कुहासे से निकालकर विचार की धुंध में डाल दिया; परंतु धीरे धीरे अपने वास्तविक व्यक्तिचिंतन तथा व्यक्तिसत्य के आधार पर सामाजिक मान्यताओं को परखने के लिये कहानीरचना करने लगे। इनके कहानीसाहित्य का अधिकांश इसी जीवनदृष्टि से प्रभावित है और अधिकांश इसलिये कि इनकी कुछ कहानियों की रचना समष्टिसत्य से भी प्रेरित है (कांकड़ा का तेली, चारा काटने की मशीन)। अश्क की कहानियों में प्रायः यथार्थ का चित्रण है, जीवन वास्तव की अभिव्यक्ति है, सामाजिक मान्यताओं का विवेचन है; परंतु यथार्थ आदि को रूपायित करनेवाली जीवनदृष्टि व्यक्तिमूलक है और समाजिक मान्यताओं को परखने की कसौटी व्यक्ति-सत्य की है। उदाहरण के लिये इनकी कहानियों में प्रणय का निरूपण वैयक्तिक संबंध के रूप में हुआ है, न कि समाजमंगल की दृष्टि से, जो समष्टिसत्य से प्रभावित होती है। इस प्रेम के विविध रूप हैं जिनमें सेक्स की भूख एक रूप है। अश्क के 'पलंग' नामक संकलन की कुछ कहानियों में सेक्स का स्वर अपने तीखे रूप में ध्वनित हुआ है। इसके पहले भी वह प्रेम की अनुभूति को वैयक्तिक धरातल पर अभिव्यक्ति दे चुके

१. सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० ३१।

हैं (अंकुर, उबाल, चट्टान), परंतु 'पलंग' संग्रह में आकर वह सेक्स की भूख का चित्रण नग्न रूपमें करते हैं (ठहराव, बेबसी, पलंग, भाग और मुस्कान)। इस संबंध में अश्क स्वयं यह स्वीकारते हैं कि 'बेबसी' कहानी का यथार्थ सामाजिक यथार्थ नहीं है। इसलिये बारह बरस तक वह इसे लिखने से कतराते रहे हैं। अश्क का यह संकोच अकारण इसलिये है कि इनकी अधिकांश कहानियों में व्यक्तिसत्य की अभिव्यक्ति है, इनके 'सामाजिक यथार्थ' के मूल में 'वैयक्तिक यथार्थ' से प्रेरित जीवनदृष्टि है। इस कहानी में व्यक्तिसत्य की अभिव्यक्ति नग्न रूप में उपलब्ध है, जब कि अन्य कहानियों पर सामाजिकता का झीना परदा पड़ा हुआ है। अश्क के युग में सामाजिकता तथा वैयक्तिकता में जो परस्पर विरोध की स्थिति उपलब्ध है उसका स्वरूप स्थूल एवं स्पष्ट रहा है। सामाजिकता की धारा में वह ठेले जाने का आभास अवश्य देते हैं, परंतु इनके चिंतन के मूल में व्यक्तिसत्य अथवा व्यक्तिविकास की गहरी छाप तथा सशक्त प्रेरणा है। इसका कारण इनका निजी परिवेश भी हो सकता है जो इनके कथनानुसार सीमित तथा कुंठित रहा है।[1]

१३. अश्क ने लगभग १५० कहानियों की रचना की है और इनकी रचना-प्रक्रिया ने मोड़ भी लिए हैं। इनकी यथार्थ की अनुभूति जिस तरह पकती गई है, कल्पना तथा भाव से विचार में और विचार से संवेदना में परिणत हो गई है, उसी तरह इनके कहानीशिल्प में निखार तथा मँजाव आता गया है। 'नौ रत्न' कहानी से चलते चलते 'पलंग' में आकर इनकी रचनाप्रक्रिया संकेतात्मक तथा प्रतीकात्मक बन गई है। इसके लिये अश्क ने पाश्चात्य कहानीकारों से प्रेरणा भी ली है। इनमें मोपासां, मॉम, ओ हेनरी, चेखव आदि नामों को गिनवाना इन्होने आवश्यक समझा है। मंटो, कृष्णचंदर, राजेंद्र सिंह बेदी की कहानीकला की भी गहरी छाप इनकी रचनाप्रक्रिया पर अंकित है। अपनी रचनाप्रक्रिया के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इनका कथन है—'मेरी कहानियाँ सदैव समाजगत रही, समाज की कुरीतियाँ, कुंठाएँ, आंदोलन मेरी कहानियों में प्रतिबिंबित होते रहे, व्यक्ति के मन में भी यदि मैंने झाँका तो उसे समाज के परिपार्श्व में रखकर ही, और यह सब मैंने कला का पूरा ध्यान रखकर करने का प्रयास किया'[2]। कुछेक कहानियों के संबंध में तो यह कथन सही है (कांगड़ा का तेली, डाची आदि), परंतु इनकी अधिकांश कहानियों में यदि रचनाप्रक्रिया संबंधी इनके इस वक्तव्य को उलटा दिया जाय तो अधिक संगत जान पड़ता है। इसके उलटाने के उदाहरण अनेक कहानियो में उपलब्ध होते हैं (नासूर, चट्टान, उबाल, बच्चे, खिलौने आदि)। इस वक्तव्य का उलट इस प्रकार होगा—'मेरी कहानियाँ सदैव समाजगत नही हैं, समाज की कुरीतियाँ, कुंठाएँ, आंदोलन मेरी कहानियों में प्रति-

१. सत्तर कहानियाँ, पृ० ११।
२. वही, पृ० ४४।

बिंबित होते रहे हैं, परंतु समाज को व्यक्ति के परिपार्श्व में रखकर ही परखा है, और यह सब मैंने कला का पूरा ध्यान रखकर करने का प्रयास किया है।' इसलिये इनकी कला सजग एवं सायास है। इनकी कहानीकला के संबंध में इनके अपने भ्रम तथा अन्य आलोचकों की भ्रांति का परिहार आवश्यक हो गया है। इनकी कहानीकला को प्रेमचंदपरंपरा में रखने की भूल इसलिये की गई है कि इनकी कहानियों में सामाजिक रूढ़ियों एवं विकृतियों की कड़ी आलोचना उपलब्ध है। परंतु इस आलोचना में उस जीवनदृष्टि की उपेक्षा की गई है जिसका स्वरूप अंततः व्यक्तिमूलक है। इनके व्यंग्य का उद्देश्य भी इसी दृष्टि से प्रेरित है। सामाजिक विषमताओं पर इनको आँखों में आक्रोश की लाली जब साफ हो जाती है तब यह 'पलंग' जैसी कहानियों की रचना करने मे पुनः व्यस्त हो जाते हैं। इलाचंद्र जोशी की तरह अश्क मनोविश्लेषण की पद्धतियों का कहानी में उपयोग तो नहीं करते, परंतु 'पलंग' आदि कहानियों में इसकी झलक अवश्य मिल जाती है। जोशी की कहानियों मे प्रायः या तो रूढ़ियों तथा कुंठाओं का विश्लेषण है (रोगी, परित्यक्ता) या व्यक्ति के अहं की चीड़फाड़ है (डायरी के नीरस पृष्ठ)। इनकी कहानी का स्वर भले ही अश्क की कहानी से भिन्न है, परंतु इसके मूल में चेतना का स्वरूप व्यक्तिमूलक है, इसमें प्रायः कुंठित व्यक्ति के मन का ही आत्मविश्लेषण है। वह नैतिक आत्मपीड़ा और अपराधभावना को ही कहानी में अभिव्यक्ति दे सके हैं। इनकी कहानीकला का रूप विश्लेषणात्मक है। इसपर बौद्धिकता की गहरी छाप अंकित है। इसमें एक स्वतंत्र छंद को भी खोजा गया है जो अपनी लय में बार बार भंग होता है, गति तथा धारा को पाया गया है जो अवरुद्ध होने का आभास देती है।[1] इसमें बाह्य तथा आंतरिक जगत् के सामंजस्य को आँका गया है जो मूलतः तथा अंततः व्यक्तिपरक होने की साक्षी देता है।[2] जैनेंद्र, अज्ञेय, जोशी तथा अश्क की कहानीकला में व्यक्तिमूलक जीवनदृष्टि की प्रेरणा है, परंतु इनकी रचनाप्रक्रिया में मौलिक अंतर पाया जाता है। अज्ञेय की कहानी को जटिलता अश्क में लगभग नहीं है और जैनेंद्र तथा अश्क को मानवीय संवेदना का जोशी की कहानी में अभाव है। अश्क का रचनाकौशल भी जैनेंद्र की कहानी में उपलब्ध नहीं होता, जो कौशलहीन है। अज्ञेय की प्रतीकपद्धति की सूक्ष्मता अन्य कहानीकारों की कला में प्रायः नहीं मिलती। इन कहानीकारों में तथा इनके पहले भी व्यष्टिसत्य तथा समष्टिसत्य की अभिव्यक्ति में जो स्पष्ट अंतर पाया जाता है वह आगे चलकर मिट तो नहीं जाता परंतु कम अवश्य हो जाता है या सूक्ष्म रूप में व्यक्त होने लगता है। इसका आभास अश्क की कहानी में मिलने लगता है। इसलिये डा० लाल ने इनकी कहानी की शिल्पविधि को

१. डा० लक्ष्मीनारायण लाल : आधुनिक हिंदी कहानी, पृ० ४८।
२. वही, पृ० ४४।

प्रेमचंदपरंपरा के शिल्पविधान के विकास का आधुनिक रूप माना है।[1] यह शायद इसलिये कि अश्क की कहानीकला पुरानी तथा आज की कहानी के शिल्प में, जिसे नई भी कहा गया है, बीच की कड़ी है।

१४. **नई कहानी**—आज की हिंदी कहानी भारतीय जीवन तथा परिवेश को व्यक्त करने का जितना सशक्त माध्यम बन रही है उतना ही यह विवाद का विषय भी बन रही है। इसे पहले नई कहानी का नाम दिया गया था। यह शायद इसलिये कि आज की कविता को भी नई की संज्ञा दी गई थी। आज की हिंदी कहानी में वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से इतनी भिन्नता तथा विशिष्टता का समावेश हो रहा है कि इसके स्वरूप के संबंध में गहरे मतभेद की स्थिति उत्पन्न हो गई है। इसके फलस्वरूप इसका नामकरण अनेक दृष्टियों से किया गया है। इस संबंध में स्वयं कहानीकारों ने अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने और आलोचकों ने कहानी के स्वरूप को सुलझाने एवं उलझाने का काम किया है। इस प्रयास में अनेक प्रश्न उठाए गए हैं जिनका उत्तर अराजकता की स्थिति में उपलब्ध होता है। इस स्थिति का मूल कारण कहानीकारों तथा आलोचकों की निजी दृष्टियाँ हैं और इन दृष्टियों की अपनी उपलब्धियाँ तथा सीमाएँ हैं। इनसे प्रेरित होकर आज की कहानी का सर्जन एवं मूल्यांकन हो रहा है। इतना स्वीकृत एवं मान्य हो चुका है। आज की कहानी की रचना तथा आलोचना शास्त्रीय अथवा परंपरागत आधार पर करना अब वांछनीय नहीं है—घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान आदि की दृष्टि से इसका मूल्यांकन अब अनुचित है। इसलिये कहानी के परखने की कसौटी बदल रही है। इसके लिये नई शब्दावली की रचना हो रही है—रचनाप्रक्रिया, कलात्मक रचाव, संश्लिष्टता, लयात्मकता, आधुनिकता, सचेतनता, आंतरिक समवाय, आंतरिक संघटन, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की अभिन्नता आदि ने कथानक तथा चरित्रचित्रण के बाह्य एवं कृत्रिम चौखटों को तोड़ दिया है। कहानी की आंतरिक संगति पर अधिक बल दिया जाने लगा है। इसमें रेखाचित्र, लघुकथा, डायरी, रिपोर्ताज, व्यंग्यचित्र आदि को समेटने का भी प्रयास हो रहा है, इसमें कविता, संगीत तथा चित्रकला की विशेषताओं को भी आत्मसात् करने की आकुलता है। इसके रूप को इतना माँजा जा रहा है कि इसके रूपहीन होने की भी संभावना है। इसलिये आज की कहानी को किसी निश्चित परिभाषा में बाँधना कठिन हो रहा है। आज इसके पुराने बंधन टूट चुके हैं, जीवन के पुराने सत्य गिर चुके हैं। इसलिये आज जीवन मे नए संदर्भों की खोज है, अभिव्यक्ति के नए माध्यमों की आवश्यकता है। अज्ञेय, जैनेंद्र, अश्क, यशपाल की कहानी के बाद इसमें गतिरोध की स्थिति को अनुभव किया जाने लगा था, व्यष्टिसत्य तथा समष्टिसत्य की दृष्टियों में अलगाव की स्थिति उभरने लगी थी, आधुनिकता की

१. वही, पृ० ४७।

चुनौती अधिक व्यापक रूप में ललकारने लगी थी। इन सबका एक परिणाम यह निकला है कि कहानीसाहित्य के क्षेत्र में बाढ़ की स्थिति उत्पन्न हो गई है और इस बाढ़ में हर छोटी बड़ी लहर को नदी होने का भ्रम हो गया है—नई कहानी, सचेतन कहानी, अ-कहानी, ग्रामकथा, नगरकथा, आंचलिक कहानी, कस्बे की कहानी, संकेतात्मक या प्रतीकात्मक कहानी फेंटेसी, रूपक आदि इसकी शिल्पगत तथा वस्तुगत विविधता का परिचय देते हैं। यदि इसे वस्तुशिल्पगत विविधता कहा जाय तो वस्तु एवं शिल्प की संश्लिष्टता की दृष्टि से यह अधिक संगत होगा। यह स्थिति हिंदी कहानी की न होकर भारतीय भाषाओं की कहानी की है। यह प्रक्रिया अभी जारी है। इसकी उपलब्धि का अंतिम मूल्यांकन काल की अपेक्षा रखता है। इसके भावी विकास की दिशा का संकेत देना भी कठिन है।

१५. आज की कहानी की राह से गुजरना अधिक संगत जान पड़ता है। प्रसाद तथा प्रेमचंद ने क्रमशः जिन परंपराओं का सूत्रपात किया था, जैनेंद्र, अज्ञेय, जोशी तथा यशपाल ने जिन्हें विकसित किया है, इनका ही परिष्कार तथा संशोधन आज के कहानीकारों ने किया है। इन दो परंपराओं में जो स्पष्ट तथा स्थूल अंतर पाया जाता था वह अब अस्पष्ट तथा सूक्ष्म होने का आभास अवश्य देता है। इन दो दिशाओं को नकारना भी वस्तुस्थिति से पलायन करना होगा। आज की कहानी को जीवन की जटिलता एवं संकुलता का सामना करना पड़ा है जिसे अभिव्यक्ति देने के लिये भावबोध के नए स्तरों, सौंदर्यबोध के नए तत्वों, यथार्थ के नए धरातलों की उद्भावना करनी पड़ी है। यह वास्तव में आधुनिकता की चुनौती का परिणाम है जिसका सामना हर साहित्यकार को अपने संस्कारों तथा परिवेश के संदर्भ में करना पड़ रहा है। इसलिये हर साहित्यिक वाद अपने को नया घोषित करने के लिये बाधित हो रहा है—जैसे नवयथार्थवाद, नवस्वच्छंदतावाद, नवभौतिकवाद आदि। आधुनिकता एक प्रक्रिया है जिसके मूल में वैज्ञानिक दृष्टि की तटस्थता है, प्रश्नचिह्न की निरंतरता तथा प्रयोगशीलता है। यदि इसे किसी परिभाषा में बाँधा जाता है, जैसा कुछ आलोचकों तथा कहानीकारों ने किया है, तो प्रक्रिया में गतिरोध आ जाने की संभावना है और आधुनिकता के आधुनिकवाद में परिणत होने का भय है। आधुनिकता में प्रक्रिया प्रश्नचिह्न की है न कि विरामचिह्न की। और जब कभी विरामचिह्न लगाया गया है, समस्या का स्थायी या शाश्वत समाधान दिया गया है, तब आधुनिकता को आधुनिकवाद में परिणत किया गया है, एक स्थायी मूल के रूप में स्वीकारा गया है। आज की कहानी में आधुनिकता को जब किसी लेखकविशेष या कहानीविशेष की कसौटी पर परखा गया है तो आधुनिकवादी होने का ही परिचय दिया गया है। उदाहरण के लिये जब डाक्टर नामवर सिंह निर्मल वर्मा की कहानी 'लंदन की एक रात' के आधार पर आधुनिकता का हिंदी कहानी में अभाव पाते हैं तो वह आधुनिकवादी होने का ही परिचय देते हैं। यदि कहानी को नित नए नाम दिए जा रहे हैं तो यह भी शायद आधुनिकता की चुनौती का परिणाम है। इसकी

रचनाप्रक्रिया के स्वरूप को जब किसी निश्चित परिभाषा में बाँधने का प्रयास किया गया है तो इसमें यांत्रिकता का ही समावेश हुआ है। इस यांत्रिकता अथवा जड़ता को उसी तरह तोड़ा गया है जिस तरह पहले कथानक के चुस्त दुरुस्त ढाँचे को तोड़ा गया है या योजनाबद्ध चरित्रचित्रण का परित्याग किया गया है। आज की योजना योजनाहीन है, अन्विति का सर्जन समूची थीम को घेरकर इसमें व्याप्त है। आज की कहानी यदि बाहर से बिखरी हुई है तो भीतर से बँधी हुई है, यदि बाह्य संबंधों में टूटी हुई है तो आंतरिक संबंधों में जुड़ी हुई है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास अनेक आलोचकों ने किया है। इसे आँकने के लिये अनेक संगोष्ठियों के आयोजन भी किए गए तथा किए जा रहे हैं। इससे यह आशय अवश्य ध्वनित होता है कि आज की कहानी जीवंत है। इस कहानी के स्वरूप को डा० नामवर ने सबसे अधिक सुलझाया एवं उलझाया है। इसे नई कहानी की संज्ञा नई कविता के वजन पर देकर इसे केवल उन कहानियों में पाया है जिनमें राग की रचना तथा संगीत की लय हो।[१] इसलिये 'परिंदे' इनके अनुसार नई कहानी की पहली कृति है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वह इसमें नए भावबोध, कलात्मक रचाव, कलागत संयम, व्यर्थता में अर्थ खोजने के प्रयास को पाते हैं। एक और सुधी आलोचक के अनुसार 'नई कहानी' में जीवन की छोटी छोटी अनुभूतियों में विराट् संवेदनाओं का संकेत रहता है, इन अनुभूतियों और संवेदनाओं का क्षेत्र गहन तथा व्यापक है, जीवन तथा समाज के अपरिचित स्तरों को उभारा गया है, नई वास्तविकता का ईमानदारी से चित्रांकन है, सांकेतिक प्रतिक्रिया है जो रचनाप्रक्रिया के भीतर से उसका अभिन्न अंग बनकर उभरती है, परम विविधता है, ऋजु कौशल एवं सहजता की शक्ति है और बदलते हुए जीवन से जूझने तथा इसकी चुनौती को स्वीकारने का उद्देश्य है।[२] इस तरह नई कहानी के लक्षणों को स्पष्टकर कहानीकार की जीवनदृष्टि के स्वरूप को स्पष्ट करने से इसलिये परहेज करते हैं कि इसका विकास अभी जारी है और दृष्टि का मूल्यांकन ऐतिहासिक प्रक्रिया के भीतर से तब हो सकता है जब एक काल का प्रवाह थम जाता है और दूसरे का शुरू होता है। इस कहानी में परिवेश के प्रति न केवल सजगता है, आत्मसजगता भी है; न केवल सक्रियता है, आत्मसक्रियता भी है। आज की कहानी में केवल एक जिया हुआ क्षण या भोगा हुआ क्षण मुखरित होता है। डा० लाल को प्रेमचंदपरंपरा की कहानी में घटना मिलती है, जैनेंद्र, अज्ञेय की कहानी में मुख्यतः चरित्र पर आग्रह दिखाई देता है और नई कहानी में परिवेशबोध की विकसित चेतना।[३] क्या अज्ञेय की कहानी 'ग्रैंग्रीन' (रोज) में परिवेशबोध या

१. डा० नामवर सिंह : हिंदी कहानी, पृ० ६५।

२. डा० लक्ष्मीनारायणलाल : आधुनिक हिंदी कहानी, पृ० १०४, १०५।

३. वही पृ० १०६।

स्थितिविशेष की चेतना नहीं है ? क्या प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' या 'कफन' में इस परिवेशबोध की विकसित चेतना नहीं है ? इसलिये आज की कहानी को इस आधार पर नई की संज्ञा देना संगत नहीं जान पड़ता। वास्तव में प्रेमचंद तथा अज्ञेय ने आधुनिकता की चुनौती को क्रमशः समष्टिसत्य तथा व्यष्टिसत्य के धरातल पर स्वीकारा है और रचनाप्रक्रिया की दृष्टि से इसे संश्लिष्ट अभिव्यक्ति भी दी है। इसलिये समष्टिचिंतन से प्रेरित होकर आलोचक 'पूस की रात' को गतिशील और व्यष्टिचिंतन से अनुप्राणित 'ग्रैंग्रीन' को स्थितिशील कहानी के रूप में आँकते हैं। और इन दोनों को कहानी अथवा एक संश्लिष्ट रचना के रूप में स्वीकारने के लिये बाधित हैं। डा० परमानंद श्रीवास्तव ने आज की कहानी के स्वरूप को रचनाप्रक्रिया के आधार पर पारिभाषित करने का प्रयास किया है। इसके कथानक में रूढ़ि का परित्याग है, इसके कथासंदर्भ असंबद्ध तथा अनिश्चित से हैं।[1] इसके चरित्रचित्रण में जटिलता का साक्षात्कार है, चरित्र कहानीकार के भावबोध का वाहक यंत्र नहीं है।[2] इसमें संवेदना का आधुनिक धरातल है जहाँ रचनाकार दिखने के बजाय अनुभव किया जाता है।[3] इसमें वास्तविकता का चित्रण या यथार्थबोध की अभिव्यक्ति उसके ऐतिहासिक संदर्भ में होती है।[4] इसलिये व्यक्ति को एक सामाजिक संदर्भ में चित्रित करने का प्रयास आज की कहानी में उपलब्ध है। यही कारण है कि रचनाप्रक्रिया के प्रति इतनी सचेतनता विकसित हुई है। आज की कहानी में आधुनिक मनुष्य के अन्वेषण की समस्या है।[5] यशपाल के लिये आधुनिकता की आधारशिला समाज के आंतरिक संबंधों की पहचान में है और अज्ञेय मे यह व्यक्ति के आंतरिक संबंधों की चेतना में।[6] आलोचक के अनुसार आधुनिकता एक दृष्टि है, एक बोध है, ऐतिहासिक चेतना के विकास को एक परिणति है।[7] आज की कहानी की शिल्पगत विशेषता इसकी प्रयोगशीलता में लक्षित होती है।[8] इस विस्तृत विवेचन के बाद सुधी आलोचक अपनी तान इस परिणाम पर तोड़ते है कि आधुनिक कहानीकारो ने पहली बार रचनाप्रक्रिया के प्रति अपनी गहन तथा गंभीर सजगता का परिचय दिया है। इस संबंध में इनका कथन है—'आधुनिक कहानी ने कथानक, चरित्र, कौतूहल आदि के रूढ़ नियमों को

१. हिंदी कहानी की रचनाप्रक्रिया, पृ० १८०।
२. वही, पृ० १८१।
३. वही, पृ० १८७।
४. वही, पृ० १८८।
५. वही, पृ० १९६।
६. वही, पृ० १९७।
७. वही, पृ० १९८।
८. वही, पृ० १९८।

तोड़कर जिस अधिक ऋजु एवं सूक्ष्म शिल्प का आविष्कार किया है उसके द्वारा आधुनिक कहानीकार युग की संश्लिष्ट जटिलता और उसके प्रति अपनी अनुभूति-प्रक्रिया को अपेक्षित तीव्रता के साथ व्यक्त कर सका है।'[1] इस कथन में एक स्पष्ट विसंगति झलकती है और वह यह कि युग की जटिलता संश्लिष्ट नहीं होती उसकी अभिव्यक्ति संश्लिष्ट हो सकती है। इस विसंगति का कारण शायद यह है कि आलोचक आधुनिकता को एक प्रक्रिया के रूप मे आँकने की बजाय एक मूल्यबोध के रूप में निरूपित करते हैं। इसीलिये वह कहानी की वस्तु तथा शिल्प को एक दूसरे से अलगाने के लिये कभी कभी बाधित हो जाते हैं और रचनाप्रक्रिया को ही मूल्यांकन का एकमात्र आधार मानते हैं। वह इस धारणा को संशोधित भी कर लेते हैं, जब वह तथ्यों की मूल्य में और मूल्य की आंतरिक संघर्ष में परिणति की बातकर पुनः प्रक्रिया की ओर मुड़ने का आभास देते हैं।[2] यह शायद आज की कहानी पर पृथक् रूप से इनके विचार करने का परिणाम है। आज की कहानी के स्वरूप को स्पष्ट करने मे इनके प्रयास का निजी महत्व है।

१६. आज की कहानी के स्वरूप को सुलझाने उलझाने का काम केवल आलोचकों ने ही नही किया है जिनका यह अधिकार समझा जाता है; परंतु कहानीकारों ने भी इसमें सहयोग दिया है। इसके पहले भी प्रेमचंद, जैनेंद्र, अज्ञेय, यशपाल, अश्क अपने अपने वक्तव्य देते आए है। आज मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, मार्कंडेय, अमृत राय, शिवप्रसाद सिंह आदि अधिक और निर्मल वर्मा, राजकमल चौधरी आदि कम, इसमें निजी सहयोग दे रहे हैं। उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती आदि ने शायद नारी होने के नाते संकोच से काम लिया है या शायद इनका संतोष सर्जन से हो जाता है। मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर ने नई कहानी को एक साहित्यिक आंदोलन के रूप मे उठाया है और एक आलोचक के नाते नामवर सिंह ने इस आंदोलन को नई कविता के वजन पर उठाकर एक निश्चित रूप दिया। लेकिन नामवर अब आधुनिकता को हिंदी की इनी गिनी कहानियो में ही पाते है जिनमें 'लंदन की एक रात' शामिल है। वह आधुनिकता को अन्य कहानीकारों की रचनाओं में स्वीकारने से शायद इसलिये संकोच करते है कि वह इसे एक मूल्य के रूप मे आँकते हैं और शायद इसलिये कि इसके अन्य कारण भी हो सकते है। इनके इस आधार पर अज्ञेय की कहानी 'गैंग्रीन' इस कोटि मे इसलिये नहीं आ सकती कि इसमे स्थितिविशेष का चित्रण हुआ है और यह स्थिति के घेरे में बंद होकर रह जाती है और भावी का संकेत नहीं देती। क्या यह एक कहानी नहीं है जिस तरह प्रेमचंद की 'कफन' एक कहानी है या क्या जैनेंद्र की 'पत्नी', यशपाल

१. हिंदी कहानी की रचनाप्रक्रिया, पृ० २०२।
२. वही, पृ० २५१।

की 'होली नहीं खेलता', अश्क की 'पलंग', भीष्म साहनी की 'यादें', रेणु की 'तीसरी कसम', मोहन राकेश की 'अपरिचित', कमलेश्वर की 'जो लिखा नहीं जाता', भारती की 'गुल की बन्नो', निर्मल वर्मा की 'परिंदे', रामकुमार की 'सेलर', राजेंद्र यादव की 'खेल', शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हों', मन्नू भंडारी की 'यही सच है', कृष्ण बलदेव वेद की 'मेरा दुश्मन', रमेश बक्शी की 'ये बच्चे, ये माँएँ', ज्ञानरंजन की 'फेंस के इधर और उधर', उषा प्रियंवदा की 'मछलियाँ', अमरकांत की 'दोपहर का भोजन', श्रीकांत वर्मा की 'परिणय', शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' या हरिप्रकाश की 'वापसी' आदि कहानियाँ नहीं हैं, संश्लिष्ट रचनाएँ नहीं है ? इनके अतिरिक्त और भी कहानियाँ हैं जिनकी गिनती करना कठिन है। इसलिये किसी बोधविशेष के आधार पर या 'आधुनिकवाद' के धरातल पर किसी कहानी को परखना मुझे असंगत जान पड़ता है। आज का कहानीकार आधुनिकता की चुनौती को अपने परिवेश में स्वीकार रहा है और निजी रचनाप्रक्रिया के धरातल पर कहानी को रचना कर रहा है। इसकी दो मुख्य परस्परविरोधी दिशाओं का संकेत पहले दिया जा चुका है और इन दिशाओं में कभीकभार अंतर के लोप होने की बात भी की जा चुकी है। आज की कहानी की उपलब्धि तथा सीमा का विस्तृत मूल्यांकन जितना अपेक्षित है उतना ही उपेक्षित है। इस निबंध में भी इसकी उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन कुछेक कहानीकारों की रचनाओं के आधार पर ही संभव हो सका है। इसका आशय यह कभी नहीं है कि अन्य कहानीकारों या इनकी रचनाओं का साहित्यिक महत्व कम है। इस तरह के मूल्यांकन में मेरा उद्देश्य केवल कहानी की राह से गुजरने का रहा है, किसी मंजिल पर पहुँचने या किसी अंतिम सत्य को निरूपित करने का नहीं है। आधुनिकता एक स्थिति न होकर एक गति है। इस मूल्यांकन में भूल मानवीय सीमा का परिणाम तो हो सकती है, कहानियों के चयन में व्यक्तिनिष्ठ होने का परिचय भी दे सकती है, परंतु किसी मतवाद के अधीन होकर नहीं की गई हैं। इसलिये इस भूल को कभी भी सुधारा जा सकता है।

१७. आज की कहानी की मूल्यांकन की समस्या साहित्य की अन्य विधाओं से संबद्ध है जिसके लिये एक विशिष्ट आधार तथा मानदंड की खोज जारी है। क्या साहित्य का मूल्यांकन उसकी वस्तु के आधार पर किया जाए या उसके शिल्प के धरातल पर या वस्तुशिल्प की संश्लिष्टता के आधार पर ? यदि आज तीसरा आधार अधिक संगत जान पड़ता है तो रचनाविशेष के मूल में जो रचनाप्रक्रिया है उसका विश्लेषण अपेक्षित है। क्या उस संचेतना अथवा संवेदना को पकड़ना आवश्यक नहीं है जो रचनाप्रक्रिया में व्याप्त है ? हिंदी कहानी की विकासयात्रा से अवगत होने से यह जान पड़ता है कि इसकी रचना के मूल में जो दो परस्परविरोधी जीवनदृष्टियाँ रही हैं इनके अस्तित्व का नितांत लोप नहीं हुआ है और इनके सहअस्तित्व की स्थिति आज भी उपलब्ध है। इस अंतर को कभी सामाजिकता तथा वैयक्तिकता की

शब्दावली में, कभी समष्टिसत्य तथा व्यष्टिसत्य के माध्यम से, कभी समष्टिमूलक संचेतना तथा व्यष्टिमूलक संवेदना के द्वारा तो कभी रचनाप्रक्रिया के सामाजिक तथा वैयक्तिक स्तर के रूप में व्यक्त किया गया है। इसके अंतर का विश्लेषण भी किया गया है और इन दो दिशाओं के कहानीकारों की सूची देने का भी प्रयास किया गया है।[1] इस संबंध में कहा गया है—'आज की हिंदी कहानी में समष्टिचिंतन एवं व्यष्टिचिंतन का रूप इतना स्पष्ट एवं स्थूल नही जितना इसके पहले की कहानी में उपलब्ध होता है। इन दो बड़े पेड़ों की चार शाखाएँ इतनी उपशाखाओं अथवा टहनियों में विकास पाकर एक दूसरे में इतनी उलझ चुकी है कि कभी कभी किसी उपशाखा या टहनी को उसकी शाखा से संबद्ध करना कठिन हो जाता है'।[2] आज की कहानी की अनेकस्वरता, अनेकरूपता, अनेकरंगता अथवा विविधता के बावजूद उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा, रमेश बक्शी, कृष्ण बलदेव वेद, रामकुमार, श्रीकांत वर्मा आदि की कहानी मे व्यष्टिचिंतन का स्वर ही अधिक उभरा है जो प्रसाद, जैनेंद्र, अज्ञेय की दिशा का सूचक है। इसी तरह अमरकांत, भीष्म साहनी, अमृत राय, मोहन राकेश, कमलेश्वर, भारती, राजेंद्र यादव, शिवप्रसाद सिंह को अधिकांश कहानियों में समष्टिचिंतन का स्वर ध्वनित हुआ है जो प्रेमचंद, यशपाल की दिशा को सूचित करता है। और अधिकांश इसलिये कि इनकी कुछ कहानियों में पहले स्वर को भी सुना जा सकता है—जैसे राकेश की 'मिस पाल', कमलेश्वर की 'जो लिखा नही जाता', यादव की 'खेल' आदि। अपवाद रूप मे यशपाल की कहानी 'होली नही खेलता' मे व्यष्टिचिंतन का स्वर है और निर्मल वर्मा ने 'लंदन की एक रात' तथा 'डेढ़ इंच ऊपर' में अपनी दिशा को बदल भी लिया है जिसका आभास 'परिंदे' मे ही मिल जाता है। आज की कहानी में संकेतशैली के उपयोग से भी दिशाविशेष का संकेत मिल जाता है। अमरकांत जोंक से (जिंदगी और जोंक), मोहन राकेश जलते कोयलों की अँगीठी से (बस स्टैंड की एक रात), कमलेश्वर बंद घड़ी से (एक रुकी हुई जिंदगी), श्रीकांत वर्मा झाड़ी से (झाड़ी), राजेंद्र यादव ताजमहल से (छोटे छोटे ताजमहल), ज्ञानरंजन फेंस से (फेंस के इधर और उधर), रमेश बक्शी बिल्ली के बच्चे से (कुछ बच्चे : कुछ माँएँ) व्यष्टिचिंतन या समष्टिचिंतन से प्रेरित रचनाप्रक्रिया का संकेत दे डालते है। इस तरह के संकेत जब पूरी कहानी में व्याप्त होते हैं, इसकी रचनाप्रक्रिया के अभिन्न अंग होते हैं तो ये प्रभाव की अन्विति को सांकेतिक बनाने के काम आते हैं। कफन भी इसी तरह का एक संकेत है, जो आदि से अंत तक कहानी मे समाया हुआ है। आज की कहानी में इस शैली का अधिक उपयोग होने लगा है; परंतु कभी कभी

१. इंद्रनाथ मदान : आलोचना और साहित्य, पृ० १४३-१४६, १६७-१७१।
२. वही, पृ० १४५।

संकेत आरोपित होने का भी आभास देते हैं। इनका आंशिक उपयोग राजेंद्र यादव तथा अन्य कहानीकारों की कुछ रचनाओं में अखरता है—जहाँ लक्ष्मी कैद है (यादव), सेफ्टी पिन (राकेश), एक कुतुब मीनार छोटा सा (बेद), एक अश्लील कहानी (कमलेश्वर), जलती झाड़ी (निर्मल वर्मा), ठंड (श्रीकांत वर्मा)। इन कहानियों को इनकी कहानीकला के अपवाद रूप में लेना इसलिये उचित है कि प्रायः इनकी कहानीकला में संकेतात्मक शैली सजीव एवं सशक्त होने का परिचय देती है। इस शैली का प्रयोग इसलिये अधिक होने लगा है कि जीवन को जटिल अनुभूति को उतारने में संकेत अधिक सहायक होते हैं और रचना की संश्लिष्टता को सुरक्षित रखने के लिये या कलात्मक रचाव के लिये संकेतों का प्रयोग अनावश्यक विस्तार से बचा देता है। इस तरह कम कहने से अधिक कहने की संभावना होती है, जबकि प्रेमचंदपरंपरा तथा प्रसादपरंपरा की कहानी में अधिक कहने से अधिक कहने की कोशिश होती रही है। इंगित से काम लेना सजगता के विकास का ही परिणाम है। यह चेखव आदि की कहानीकला का प्रभाव भी हो सकता है, इसमें युगबोध की अपेक्षा भी लक्षित होती है। इस संबंध में कोई अंतिम मत देना कठिन होगा। संकेत-शैली आज की कहानी के स्वरूप को स्पष्ट अवश्य करती है।

१८. इंगित या संकेत आंतरिक संबंधों को उभारने तथा रचना के रचाव में कलात्मक संयम लाने के लिये आज की कहानी का अभिन्न अंग बन गया है। कहानी में बिंब तथा प्रतीक रम जाते हैं, रचना की संश्लिष्टता का अवयव बन जाते हैं। कहानी की इस संपूर्णता तथा समग्रता के संदर्भ में मूल्यों के बारे में अनावश्यक विवाद भी मिट जाते हैं। रचनाप्रक्रिया में अनुभव, अनुभूति तथा मूल्य, तीनों स्थितियाँ आपस में घुलमिल जाती हैं और संश्लिष्ट रूप में संप्रेषण की आकुलता तीव्र होने लगती है। इस प्रक्रिया को संगीत की भाषा में व्यक्त करने के भी प्रयास होने लगे हैं। रेणु ने अपनी कहानी को ठुमरी या संगीतधर्मा कहा है (ठुमरी), निर्मल वर्मा ने अपनी रचनाप्रक्रिया के बारे में पियानो संगीत की बात की है[1]। डा० नामवर ने इस पियानो संगीत में निर्मल की कहानी की उपलब्धि को आँका है।[2] इस संबंध में यह कहना शायद असंगत न होगा कि पियानो या हारमोनियम में सप्तक के स्वरों का विभाजन समान होता है। इसमें गठन तो होता है, लेकिन लोच नहीं होती जो सितार, सरोद, वायलन, गिटार या विचित्रवीणा आदि तार के वाद्ययंत्रों में होती है। केवल बीथोवन ने ही पियानों के सप्तक में लोच की भी सृष्टि कर ली थी; लेकिन बीथोवन या चेखव की प्रतिभा का साक्षात्कार विरल ही होता है। निर्मल की कहानी में पियानो नहीं वायलन के स्वरों को सुना जा सकता है। यह उसी तरह जिस तरह उषा प्रियंवदा

१. कृति : फरवरी-मार्च १९५९
२. हिंदी कहानी : पृ० ७१

की कहानी में सितार की झंकार को या अज्ञेय की कहानी में गिटार की ध्वनि को। यदि कहानी को रचना के लिये संगीत को आधार बनाया जा रहा है तो इसकी आलोचना को इस आधार से किस तरह वंचित किया जा सकता है। आज की कहानी को संगीत के रूपक में बाँधने का प्रयास भी हो चुका है जिसमें अब संशोधन की आवश्यकता अनुभव होने लगी है[1]। इसका संशोधित संस्करण इस रूप में हो सकता है—'आज की कहानी का स्वरूप उस वाद्यवृंद या आरकेस्ट्रा के समान है जिसमें सम तथा विषम सब तरह के स्वर समाहित हैं; परंतु इसमें दो परस्पर विरोधी मुख्य स्वर हैं, एक तार के वाद्ययंत्रों का जो सूक्ष्म है तथा व्यक्तिसत्य का प्रतीक है और दूसरा चमड़े के वाद्ययंत्रों का जो सशक्त है तथा समष्टिचिंतन का प्रतीक है। इस वाद्यवृंद में सारंगी, सितार, विचित्रवीणा, गिटार, वायलिन, एकतारा आदि तार के वाद्ययंत्र हैं और मृदंग, ढोल, तबला, डफली आदि चमड़े के वाद्ययंत्र है। मोहन राकेश जैसे कहानीकार सारंगी तथा मृदंग दोनों बजा लेते हैं, रमेश बक्षी की कोटि के कहानीकार केवल सारंगी बजाना जानते है और भूल से कभी कभी मृदंग पर भी हाथ मार देते हैं; राजेंद्र यादव प्रायः बजाते सारंगी हैं और बात मृदंग पीटने की अधिक करते है; निर्मल प्रायः वायलिन बजाते रहे; लेकिन अब डफली पर भी हाथ मारने लगे हैं; अमरकांत की श्रेणी के कहानीकार केवल मृदंग को ध्वनित करते हैं; उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती आदि सितार बजाने में ही सिद्धहस्त हैं; यशपाल प्रायः तबला पर संगत देते है, पर कभी कभी सितार भी हाथ में ले लेते है; जैनेंद्र तानपुरा पर ही आलाप करते हैं; शिवप्रसाद जैसे ग्रामकथाकार बात मृदंग बजाने की करते हैं परंतु बजाते जातीय एकतारा है। इन्हे गिटार, वायलिन आदि विदेशी वाद्ययंत्रों से चिढ़ है। शैलेश मटियानी जैसे कहानीकार केवल ढोल पीटते हैं; श्रीकांत वर्मा विचित्र-वीणा बजाना सीख रहे है। अपनी अपनी डफली बजाने में प्रायः सभी कहानीकार कुशल हैं। इन वाद्ययंत्रों की निजता तथा विशिष्टता भी है। इस वाद्यवृंद के निदेशक एक नहीं दो हैं—प्रसाद तथा प्रेमचंद। इसलिये इन वाद्ययंत्रों के स्वरों में सहअस्तित्व की स्थिति है जो भारतीय परिवेश तथा विश्वबोध के अनुरूप है। इस वाद्यवृंद में हिंदी कहानी के संपूर्ण संगीत को आंका जा सकता है। अंतिम ध्वनि किस श्रेणी के वाद्ययंत्रों से निकलेगी या इसके भावी विकास की दिशा क्या होगी—यह कहना कठिन है।'

●

१. इंद्रनाथ मदान : आलोचना और साहित्य—पृ० १७५, १७६।

चतुर्थ खंड

नाटक

लेखक

कुँवरजी अग्रवाल

डा० गोपीनाथ तिवारी

डा० रामचरण महेंद्र

डा० सिद्धनाथ कुमार

●

प्रथम अध्याय

पारसीयुगोत्तर हिंदी रंगमंच

हिंदी रंगमंच के विकासक्रम में यों तो सन् १९३८ ई० कोई विभाजक रेखा नहीं खींचती किंतु इसी के आसपास रंगजगत में कुछ ऐसी विशिष्ट घटनाएँ हुई जिनका संबंध हिंदी के भावी रंगमंच और नाट्यसाहित्य के साथ घनिष्ठता से जुड़ा हुआ था अतः इनपर एक दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा।

पहली घटना पारसी हिंदी रंगमंच के संदर्भ में है। लगभग आधी शती से अधिक के ऐश्वर्यशाली जीवन के बाद इस व्यावसायिक रंगमंच के विघटन की जिस प्रक्रिया का आरंभ सन् १९३० ई० के लगभग हुआ था वह अब पूरी होने को आ रही थी।[1] कलकत्ता से बंबई तक के विशाल भूमिखंड में फैली हुई एक ऐसी रंग-परंपरा का जिसपर दर्शकों की भीड़ टूटी पड़ती थी, पूर्णरूप से तिरोहित हो जाना तो आश्चर्यजनक है ही, इससे कहीं अधिक आश्चर्य की बात यह है कि इस जीवित रंगमंच के लिये निर्मित विपुल नाट्यरचनाओं की कोई अस्मिता हिंदी साहित्य की सीमा में स्वीकार नहीं की गई। इस नाट्यसाहित्य की तथाकथित स्तरहीनता और हलकेपन से हिंदी साहित्य के आलोचक और इतिहासकार इतने आतंकित से रहे कि वे इससे अंतरंग परिचय प्राप्तकर इसमें निहित दर्शकों को आकर्षित करने-वाले आधारभूत तत्वों और नाट्यरचना में प्रयुक्त रंगमंचीय अनुभवों का भी विश्लेषण करने का साहस न कर सके जिससे स्तरीय नाट्यरचना स्वाभाविक पोषण प्राप्त करती और रंगमंच से बिल्कुल कटने से बच जाती। इस नाट्यपरंपरा की दुर्बलताओं का भी ठोस विश्लेषण भावी नाटककारों का कुछ दूर तक दिशादर्शक हो सकता था। पारसी रंगमंच की इस दुर्भाग्यपूर्ण नियति का कारण कुछ दूर तक बाहरी परिस्थितियों में तो निहित है किंतु सबसे बड़ा कारण उसका अपना ही अंतर्विरोध है।

इस अंतर्विरोध का आरंभ भाषा के प्रश्न को लेकर हुआ। इस व्यावसायिक रंगपरंपरा का आरंभ उन्नीसवीं शती के सातवें दशक में बहुभाषी नगर बंबई में पारसी व्यवसायियों द्वारा संपूर्ण उत्तर भारतीय बाजार पाने की दृष्टि से किया गया था।

१. १९३१ ई० से माडन थियेटर्स ने बोलती फिल्में बनानी आरंभ की, १९३२ में न्यू अल्फ्रेड और १९३५ में कोरंथियन बंद हो गई।

कुछ तो हिंदी न जानने की अपनी असमर्थता के कारण और कुछ इस भ्रामक धारणा के कारण भी कि वास्तविक जनभाषा उर्दू ही है, इन रंगव्यवसायियों ने उर्दू में नाटक खेलना आरंभ किया। किंतु कुछ ही दिनों के अनुभव ने उन्हें बता दिया कि उर्दू न केवल भारत की बहुसंख्यक सामान्य जनता की समझसीमा के बाहर पड़ती है बल्कि इससे उन पौराणिक कथाओं का सांस्कृतिक परिवेश भी नष्ट हो जाता है जो उनके नाटकों की प्रमुख आधारभूमि थीं। फलस्वरूप वे कुछ कुछ हिंदी की ओर झुके और नारायणप्रसाद बेताब तथा राधेश्याम कथावाचक ने मालिकों के इस रुख के कारण अपने नाटकों में हिंदी का कुछ समावेश किया तथा जौहर आदि ने इसे आगे बढ़ाया। तब भी वे उर्दू के मोहपाश से बिल्कुल मुक्त न हो सके। इधर हिंदी जगत् में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में मर्यादावादी और शुद्धतावादी जो अभियान चल रहा था वह इस भाषा और नैतिक शैथिल्य से युक्त इन नाटकों की विषयवस्तु को किसी प्रकार स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। अतः हिंदी के साहित्यकारों ने या तो पारसी नाटकों की उपेक्षा की या उसकी कटु आलोचना। उसे हिंदी का रंगमंच कभी माना ही नहीं गया। अब आज उदार हिंदी के वातावरण में रंगमंचीय अनुभव की अपनी इस विरासत पर दृष्टि डालकर हम उसमें से कुछ उपयोगी संदर्भसूत्र खोजने का प्रयत्न कर रहे हैं।

भाषा के प्रश्न को अलगरख कर सोचें तब भी पारसी रंगमंच बड़ा अनुर्वर प्रमाणित होता है। क्योंकि बोलती फिल्मों का साक्षात्कार विश्व के सभी रंगमंचों को करना पड़ा किंतु उन्होंने पारसी रंगमंच के समान उनके सामने बिल्कुल घुटने नहीं टेक दिए। दूसरे रंगमंच अपनी सामुदायिक संस्कृतियों से अनिवार्यतः जुड़े हुए थे। वे जनजीवन की गहराइयों से अपना पोषण पाते थे इसलिये फिल्मी आँधी को झेल गए। इसके विपरीत पारसी रंगमंच का आकर्षण सतही था। उसकी रंगशालाओं में उमड़नेवाली भीड़ किसी आंतरिक सांस्कृतिक आवश्यकता से प्रेरित नहीं थी बल्कि नए तमाशे के फैशन और किन्हीं मूलप्रवृत्तियों की प्रच्छन्न संतुष्टि की कामना से चालित थी। इसी लिये जब ये चीजें उन्हें बोलती फिल्मों से और अधिक मात्रा में मिलने लगीं तब पारसी रंगमंच का आकर्षण उनके लिये फीका पड़ गया और उसके पतन पर उन्हें कोई दुःख न हुआ। वैभव से परिपूरित प्रायः साठ वर्षों के लंबे जीवन में भी पारसी रंगमंच क्यों छिछला ही बना रहा, क्यों सर्जनशील प्रतिभाएँ इससे दूर दूर रहीं? इन प्रश्नों ने हिंदी के अनेक रंगआलोचकों और इतिहासकारों को भटकाया है। किंतु आज जब हिंदी फिल्मों में यह इतिहास प्रायः चालीस वर्ष दुहराया जा चुका है, हमारी अन्वेषक बुद्धि को कला और व्यवसाय के अंतर्विरोध को पहचानने में भूल नहीं करना चाहिए। हिंदी के व्यावसायिक रंगमंच का आंदोलन चलानेवालों को अपने इस निकट इतिहास पर गंभीर विचार करने के बाद ही अपने उत्साह को कोई परिणति देना चाहिए।

पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया में एक अधिक सार्थक हिंदी रंगमंच के विकास की संभावना थी। भारतेंदु ने ऐसे रंगमंच का बीजारोपण भी कर दिया था और उन्नीसवीं शती के आठवें नवें दशक में यह अंकुरित भी हुआ। स्वाभाविक था कि यह अव्यावसायी रंगांदोलन का रूप ग्रहण करता। किंतु पारसी रंगमंच की तड़क भड़क और सस्ते मनोरंजन की लोकप्रियता ने धीरे धीरे इस प्रतिक्रियाशील रंगमंच को ग्रस लिया और स्वयं भारतेंदु की नगरी की भारतेंदु नाटक मंडली तथा नागरी नाटक मंडली जैसी महत्त्वपूर्ण अव्यवसायी रंगसंस्थाएँ पारसी रंगमंच की ही क्षीण प्रतिच्छवि बनकर रह गईं। नाट्यलेखन और प्रस्तुतिशैली दोनों के ही स्वरूप पारसी प्रदर्शनों से नियंत्रित थे क्योंकि उन्हीं के अनुकरण में सर्जित होते थे। उस समय का अव्यवसायी रंगमंच अपने लिये किसी मौलिक रंगविधान की तलाश नहीं कर सका। यहाँ तक कि सन् १९३३ ई० में काशी की सभी अव्यवसायी रंगसंस्थाओं के सहयोग से तथाकथित साहित्यिक रंगमंच के निर्माण के प्रयास स्वरूप 'रत्नाकर रसिक मंडल' द्वारा प्रसादजी का चंद्रगुप्त उन्हीं की देखरेख में अभिनीत किया गया तब भी प्रस्तुतिशैली पूर्णरूप से पारसी रंगमंच की ही थी। अपने मौलिक रंगशिल्प के अन्वेषण की असफलता ने इस प्रकार हिंदी के अव्यवसायी रंगमंच की संभावनापूर्ण धारा को अत्यंत दुर्बल बना दिया और वह भी किन्हीं सार्थक परिणति तक न पहुँच सकी। यही कारण था कि बीसवीं शती के चौथे दशक में इस व्यवसायी रंगमंच के धराशायी होने के साथ ही उसकी नकल अव्यवसायी रंगमंच की भी कमर टूट गई।

इस प्रकार हमारे ऐतिह्यकाल के आरंभ में हिंदी रंगमंच की स्थिति शून्यवत् हो गई थी और यह शून्यता सन् १९४३ ई० के पहले नहीं टूट सकी, यद्यपि इसे तोड़ने के प्रयत्न हिंदी क्षेत्र में इतस्ततः हो रहे थे। सन् १९३९ ई० के आरंभ में सर्वश्री अमृतलाल नागर, निराला और सर्वदानंद वर्मा आदि लखनऊ में हिंदी के रंगमंच के निर्माण का स्वप्न देख रहे थे। इस संदर्भ में निराला ने अपने एक पत्र में लिखा है :

'अगर आप लोग मेरी तरह पर सहयोग देंगे तो और तभी मैं काम कर सकूँगा अन्यथा नहीं। क्योंकि ड्रामा लिखने से खेलने तक का भार मेरा ही कुछ अधिभारी होगा।'[1]

निराला जैसा महान् प्रतिभा का धनी रंगमंच और नाटक के क्षेत्र में अवतरित हुआ होता तो हिंदी रंगमंच का विकास किन दिशाओं में होता, आज इसकी कल्पना भी कठिन है।

इस कालावधि के हिंदी रंगक्षेत्र में ताजा हवा का एक हलका झोंका भारतीय जननाट्य संघ के रूप में प्रगतिवादी आंदोलन के साथ आया। सन् १९३६ ई० में प्रेमचंद की अध्यक्षता में हुए अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन के

१. नागरी पत्रिका, वर्ष १, अंक ६-७ मार्च-अप्रैल १९६८, पृ० २।

साथ ही संगीत, नृत्य, नाट्य जैसी कलाओं के जनवादी आधारों की तलाश और प्रयोग की छिटपुट कोशिशें आरंभ हो गई और १९४३ में इसने विधिवत् एक अखिल भारतीय संस्था का रूप धारण कर लिया। '१९४२ की पहली मई की रात के साढ़े नौ बजे बंबई की मजदूर बस्ती के अंतस्तल, परेल के दामोदर हाल में अखिल भारतीय जननाट्य संघ का पहला प्रदर्शन हुआ। इस प्रदर्शन ने नगर में तूफान मचा दिया। सरवालकर का 'दादा' और सरदार जाफरी का 'यह किसका खून है' जन साधारण की जिंदगी के दो नाटक उस दौर के प्रकाशस्तंभ थे।'[1]

सन् १९३८ ई० से १९४३ ई० तक का काल हिंदी रंगजगत् में परिवर्तन की हलकी बेचैनी का काल था। यह बेचैनी एक ओर जहाँ पारसी रंगविधान के विरुद्ध अधिक सुरुचिपूर्ण और आधुनिक रंगशैली की तलाश व्यक्त करती थी वहीं दूसरी ओर प्रगतिवादी विचारधारा के साथ सामाजिक सोद्देश्यता से परिपूर्ण विषय-वस्तु भी खोज रही थी। आधुनिक भारतीय रंगांदोलन की ही भाँति कलात्मक सौंदर्य और अभिव्यंजना से परिपूर्ण रंगविधान के अन्वेषण का कार्य भी भारत में सर्वप्रथम बंगाल से ही आरंभ हुआ। बीसवीं शती के प्रथम दशक में शांतिनिकेतन में जिन रंगमंचीय गतिविधियों का समारंभ हुआ उनमें एक साथ साहित्य, चित्र, संगीत और शिल्प की कई महान प्रतिमाएँ समान्वित रूप से रंगसर्जन में संलग्न हो सकीं। अकेले ठाकुर परिवार के ही रवींद्र, अवनींद्र, गगनेंद्र और ज्योतिरींद्र जैसी प्रतिभाएँ रंगसौंदर्य की सृष्टि में जो योग दे रही थीं उससे सर्जनात्मक अन्वेषण की आधारशिला का निर्माण हो रहा था। आचार्य क्षितिमोहन सेन और नंदलाल बोस जैसे लोग भी शांतिनिकेतन के रंगकार्य से संबद्ध थे। शांतिनिकेतन की रंगकला के विकास के संदर्भ में प्रमथनाथ विशी ने 'रवींद्रनाथ ओ शांति निकेतन' नामक पुस्तक में लिखा है :

'यदि शांतिनिकेतन के रंगमंच का इतिहास लिखा जाय तो ज्ञात होगा कि इसका विकास बड़ा चमत्कारी रहा है। उसके प्रारंभिक दिनों में व्यवसायी पोशाक निर्माताओं द्वारा बनाए गए पोशाकों को खरीदकर काम में लाया जाता था। धीरे धीरे इसके स्थान पर स्थानीय कलाकारों द्वारा बनाए गए पोशाकों का उपयोग होने लगा। कलाकारों ने पिछवई और पर्दों का भी अभिकल्पन आरंभ किया। भड़कीले आभूषणों और पोशाकों के बदले उपयुक्त प्रकाशव्यवस्था पर बल दिया जाने लगा। संगीत की संगत के लिये हारमोनियम के स्थान पर वीणा, इसराज और बाँसुरी का प्रयोग किया जाने लगा। संक्षेप में रंगमंच की समग्र विकासयात्रा कलात्मक मार्ग पर हो रही थी।'[2]

१. पृथ्वीराज अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ३४९।

२. त्रैमासिक 'नाट्य', टैगोर अंक, पृ० ९, भारतीय नाट्यसंघ, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

शांतिनिकेतन की इस कलात्मक रंगचेतना का प्रभाव धीरे धीरे भारत के कुछ अन्य सांस्कृतिक शिक्षाकेंद्रों तक प्रसरित होने लगा। काशी में एनीबेसेंट के नेतृत्व में जिन प्रबुद्ध शिक्षासंस्थाओं का उदय हुआ उनमें इस नए रंगविधान के साथ नाट्यप्रयोग यदा कदा होने लगे। इन छिटपुट प्रयोगों की तनिक अधिक स्पष्ट परिणति काशी हिंदू विश्वविद्यालय के अध्यापकप्रशिक्षण विभाग में हुई और इसने सीताराम चतुर्वेदी, करुणापति त्रिपाठी, रुद्र काशिकेय, कमलिनी मेहता आदि कुछ उच्च शिक्षित रंगकर्मियों के विकास का मार्ग दिया। ये बीसवीं शती के चौथे दशक के अंत से पाँचवें दशक तक कभी कभी स्तरीय हिंदी नाट्यप्रयोग का प्रयत्न करते रहे।

किंतु नए रंगविधान के साथ सोद्देश्य नाट्यचेतना की अखिल भारतीय स्तर पर एक लहर फैलाने का वास्तविक कार्य भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) द्वारा ही आरंभ हो सका। इसी समय बंगाल में भीषण अकाल पड़ा जिसकी पीड़ा का अनुभव संपूर्ण भारत ने किया। भारतीय जननाट्य संघ ने इस पीड़ा को और भी सर्जनात्मक संवेदना के साथ जनमन तक पहुँचाकर पीड़ितों के लिये ठोस सहायता और सहानुभूति बटोरने का बीड़ा उठाया जिसमें उसे पर्याप्त सफलता मिली और मिला रंगशक्ति का प्रेरक प्रमाण। निरंजन सेन के शब्दों में 'इस दौर के आंदोलन ने तमाम प्रांत या भाषा संबंधी सीमाएँ तोड़ दी और जनता की कला और संस्कृति के द्वार उन्मुक्त कर दिए गए। लोककला और संस्कृति का आदानप्रदान, रंगमंच के नूतन प्रयोग तथा कथानकों का आदानप्रदान इस युग की महान् सफलताएं थीं।' भारतीय जननाट्य संघ का अकालविरोधी अभियान कितना प्रभावपूर्ण और अभूतपूर्व था इसका एक सुंदर शब्दचित्र बलवंत गार्गी ने अपनी 'रंगमंच' नामक पुस्तक में दिया है :

'थर्डक्लास के ठसे हुए डब्बे में से दस बारह लोग निकले। पुरुष सूखे हुए से थे; स्त्रियाँ काली दुबली पतली, नंगे पाँव। पंजाबी लड़कियों ने नाक चढ़ाई : 'ये कलाकार हैं ?' उनके नेता ने हमें अपनी मंडली से परिचित कराया।'

'उस रात उन्होंने वाई० एम० सी० ए० के भरे हुए हाल में नाटक प्रस्तुत किया। बत्तियाँ बुझीं। दर्शकों में से ही एक व्यक्ति अचानक उठा। उसने ढोल पर तीन बार धीरे धीरे चोट की और मंच की ओर चल दिया। तीन पुरुष और दो स्त्रियाँ किसी और स्थान से उठे और दर्शकों की भीड़ में से ही उसके पीछे चल पड़े। वे कंगाल भिखमंगों की तरह जोर जोर से पुकार रहे थे : 'हम भूखे हैं ? हम भूखे हैं !'

'दर्शकों में खुसरपुसर हुई। यह लोग कौन हैं ? ये क्या कह रहे हैं ? ये खेल में विघ्न क्यों डाल रहे हैं ? ये क्या चाहते हैं ?'

'इन छहों कलाकारों की काँपती आवाजों ने एक गीत का रूप धारण कर लिया। वे गाते हुए मंच पर आकर खड़े हो गए। उनकी आँखों में काली ज्वाला

थी। उनके गीत और सूखे हुए चेहरों से बंगाल के भीषण अकाल की यातना और निर्धनता टपक रही थी। चेहरों के हावभाव, अभिनय और वाणी में कोई कृत्रिम नाटकीयता नहीं थी। ऐसी दृष्टियाँ और चेहरे हमने लाहौर की कंगाल बस्तियों में देखे थे। यह एक प्रकार से सारे भारत का चेहरा था, जिसमें भूख थी और विदेशी राज्य के जुए के नीचे तड़पती हुई देश की आत्मा थी। दर्शकों में से स्त्रियों की सिसकियाँ सुनाई दे रही थीं। कई पुरुषों की आँखें भीग गई। कालेज की लड़कियाँ जिन्होंने स्टेशन पर उन्हें देखकर नाक भौं सिकोड़ी थी, तब अपने आँसू पोंछ रही थीं। दर्शक भावनाओं के प्रवाह में इतना बह गए थे कि दृश्य समाप्त होने पर तालियाँ भी न बजा सके। इन संक्षिप्त नाटकीय दृश्यों में संगीत, नृत्य और शैलीबद्ध अभिनय था। न कोई मंचसज्जा थी, न ही कोई सामग्री। केवल पृष्ठभूमि में एक काला पर्दा टँगा हुआ था। कलाकार दर्शकों में से ही उठकर मंच पर आते और दृश्य समाप्त होने के बाद दर्शकों में ही जा बैठते। ये व्यावसायिक कलाकार नहीं थे। ये कुछ ऐसे नवयुवक थे, जिन्हे देश में होते हुए विदेशी राज्य के अत्याचारों ने उद्विग्न कर दिया था; महा अकाल की भूख ने झिझोड़ दिया था। उनमें उत्साह था और वे कुछ कहना चाहते थे। उन्होने मंच की प्रचलित रीतियों को तोड़कर अपना ही एक स्वाभाविक और सरल नाटयरूप ढूँढ लिया था। यह इंडियन पीपुल्ज थियेटर की लहर का आरंभ था।'

भारतीय जननाटच संघ का कार्य और प्रभावक्षेत्र सन् १९५० तक निरंतर विकसित होता गया किंतु उसके बाद भारत के बदले हुए राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के अनुकूल अपने को ढाल सकने की असमर्थता के कारण यह संघटन शिथिल होने लगा और अब यह कुछेक नगरकेंद्रों मे औसत नाटक मंडलियों की ही भांति क्रियाशील रह गया है।

अपने छोटे से जीवनकाल में इस संघटन ने महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ की। इसने न केवल लोककला के अनेक रूपों को नवजीवन प्रदानकर युगीन अर्थसंदर्भ दिया बल्कि प्रस्तुतिशैलियों और मंचउपकरणों का भी सरलीकरण किया जिससे रंगमंच लोकजीवन के साथ अधिकाधिक जुड़ सका। इसने भारतीय रंगजगत् को कई रंग-प्रतिभाएँ भेंट की जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण नाम ये है : बलराज साहनी, चेतन आनद, ख्वाजा अहमद अब्बास, बलवंत गार्गी, शंभु मित्रा, तृप्ति मित्रा, उत्पलदत्त, हबीब तनवीर तथा नेमिचंद्र जैन आदि।

भारतीय जननाटच संघ के क्रियाकलापों से प्रेरित होकर और भी अनेक नाटच संस्थाएँ देश के विभिन्न भागों में बनने लगीं। इस शती के पाँचवें दशक मे बंबई केंद्र की रंगमंचीय हलचलों का एक सजीव चित्र प्रसिद्ध अभिनेता बलराज साहनी के शब्दों में इस प्रकार उभरता है :

"सन् पैंतालिस, छियालिस और सैंतालिस के वे दिन सचमुच नाटकीय पागलपन के दिन थे। बंबई में बोली जानेवाली हर भाषा के प्रमुख लेखक नाटक पर

कलम आजमाई कर रहे थे। खेलनेवालों का उत्साह भी अपूर्व था। चौपाटी और कामगार मैदान के राजनीतिक जुलूसों में भी ये लोग खुली हवा को पर्दा और सीनरी बनाकर नाटक खेल आते थे। लेखकों और ऐक्टरों के जुलूस भी निकले और उनमें हजारों नहीं लाखों आदमी शरीक हुए। कांग्रेस, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट—हर खयाल के लोग नाटक द्वारा अपनी महत्वाकांक्षाओं को व्यक्त करते थे, बहसें होती थीं, झगड़े भी होते थे और वातावरण और भी स्फूर्तिदायक हो जाता था।'[1]

ऐसे ही वातावरण में पुरानी व्यावसायिक रंगपरंपरा की कड़ी एक बार पुनः जुड़ी; किंतु बिल्कुल नए रंगढंग के साथ। यह पृथ्वी थिएटर्स का समारंभ था। पृथ्वी थिएटर्स पृथ्वीराज कपूर की अदम्य रंगकामना और उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व का ही विस्तार था जो प्रायः सोलह वर्षों तक लगातार देश के विभिन्न भागों में हिंदी के माध्यम से नाटक का प्रदर्शन करता रहा। हिंदी जगत् में पृथ्वीराज के इस रंग साहस की बड़ी चर्चा रही है।

पृथ्वीराज सन् १९२९ ई० में अभिनेता बनने की कामना लेकर पेशावर से बंबई आए थे। जैसा सामान्यतया होता है, उनकी भी इस रुचि का प्रेरणास्रोत बचपन के देखे और खेले गए नाटकों में निहित था। पृथ्वीराज शिक्षा के माध्यम से अपने युग की नवीन चेतना से जुड़े थे इसलिये तत्कालीन रूढ़ियों से भरे रंगमंच का सौंदर्य-बोध उन्हें अपने रंग में बिल्कुल न रंग सका था। नवोदित फिल्मों के साथ उनकी रुचि यथार्थाभासी प्रस्तुतिशैली से अधिक जुड़ी। आरंभ में पृथ्वीराज ने फिल्मों में अभिनय करना शुरू किया और इस माध्यम में उन्हें सफलता भी मिली किंतु कुछ ही समय बाद वे नाटक के साथ घनिष्ठता से जुड़ गए। बंबई में एंडर्सन नामक अंग्रेज अभिनेता ने एक नाटक कंपनी खोली जो अंग्रेजी नाटकों का अभिनय किया करती थी। यहाँ शेक्सपीयर, शेरिडन, टैगोर आदि के नाटक खेले जाते थे। कुछ अन्य अभिनेताओं के साथ ही पृथ्वीराज भी एंडर्सन के व्यक्तित्व और उच्च रंगसंभावना के आकर्षण से इस नाट्यदल में सम्मिलित हो गए। इस अनुभवी अंग्रेज अभिनेता ने बड़े व्यवस्थित ढंग से अपने नाट्यदल का संचालन किया किंतु सामान्यजन की समझसीमा के बाहर पड़ने के कारण एक ही वर्ष बाद यह दल बंद हो गया। एंडर्सन कंपनी के साथ पृथ्वीराज ने देश भर का दौरा किया और उसके प्रबंध का भी बहुत सा बोझ अपने कंधों पर उठाया था। इस एक वर्ष के गहन रंगप्रशिक्षण और अनुभव ने पृथ्वीराज को उन सभी क्षमताओं से विभूषित कर दिया जो भ्रमणशील नाट्यदल की सफलता के लिये आवश्यक थे। ऐंडर्सन कंपनी टूटने के बाद उन्होंने पुनः फिल्मों में काम करना आरंभ कर दिया।

१. पृथ्वीराज अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ११३।

किंतु फिल्म की तुलना में रंगमंच पर अभिनय करते समय दर्शकों की सतत सजीव और प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया से अभिनेता को सर्जनात्मक सार्थकता का जो गहरा अनुभव संतोष प्राप्त होता है वह पृथ्वीराज को रंगमंच की ओर निरंतर खींचता रहा और वे सन् १९४४ ई० में पृथ्वी थिएटर्स की स्थापना के साथ रंगजगत् में फिर से लौट आए। प्राय: सोलह वर्षों तक इस थियेटर ने भारत भर का भ्रमण किया और हजारों बार रंगसृष्टि से प्रेक्षकों का मनोरंजन किया। पृथ्वीराज के नाम से जनता-रंगशाला में उमड़ती चली आती थी। उनके इस आकर्षण के पीछे फिल्मम.ध्यम द्वारा प्रसारित उनकी लोकप्रियता भी कम नहीं थी। इस अवधि के बीच उन्होंने शकुंतला, दीवार, पठान, गद्दार, आहुति, कलाकार, पैसा, और किसान, ये आठ नाटक प्रस्तुत किए जिनमें पठान सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है। इनके प्रदर्शनों में इतनी भीड़ होती थी कि टिकट भी मुश्किल से मिल पाते थे। फिर भी यह एक मिथक सा बन गया है कि पृथ्वीराज ने निरंतर आर्थिक हानि उठाते हुए भी इतनी लंबी अवधि तक हिंदी रंगमंच को जिलाए रखा किंतु अंत में विवश होकर उसे बंद कर देना पड़ा। पहली मई सन् १९६० ई० को यह थिएटर औपचारिक रूप से समाप्त कर दिया गया। उनके आर्थिक घाटे का यह मिथक कुछ इतने असामान्य जोरशोर से प्रचारित हुआ कि फिर आज तक कोई व्यक्ति बड़े पैमाने पर व्यावसायिक आधार लेकर हिंदी में रंगमंच चलाने को तैयार नहीं हुआ। अच्छा होता इस मिथक के तथ्य ठोस आँकड़ों के आधार पर जनता के सामने रखे जाते।

पृथ्वी थिएटर्स का आर्थिक पहलू चाहे जैसा रहा हो, उसकी आंतरिक विसंगतियाँ भी ऐसी थीं जिनसे वह न तो जनता के सामुदायिक जीवन का अनिवार्य अंग बन सकता था और नहीं उसकी जड़ें भारतीय संस्कृति और जनजीवन में गहरी जा सकती थी। पृथ्वी थिएटर्स का सौंदर्यबोध मूलतः यथार्थाभासी था। उसमें कल्पनाशीलता और काव्यात्मकता की कोई गुंजाइश नहीं थी। फलतः वह एक स्तर पर अपनी समकालीन फिल्मों की नकल जैसा ही लगता था और कोई कारण नहीं था कि जनता फिल्मों की तुलना में उसमें किन्हीं ऊँचे मूल्यों की संभावना देखकर उसे अपना आंतरिक स्नेह देती। प्रस्तुति की दृष्टि से वह एकल प्रदर्शन जैसा था जिसके केंद्र में पृथ्वीराज थे—केवल पृथ्वीराज। उन्हें ही पूरा अवसर देने का लक्ष्य सामने रखकर ये नाटक लिखे गए और प्रदर्शनों में भी केवल वे ही छाए रहते। ऐसा नाटक जीवन की विविधता को समग्रता के साथ कैसे सफल अभिव्यक्ति दे सकता था? जहाँ तक विषयवस्तु की समकालीनता का प्रश्न है, शकुंतला को छोड़ कर अपने शेष नाटकों में उन्होंने उस समय के वायुमंडल में तैरती हुई कुछ उत्तेजक समस्याओं को लिया किंतु उनका निरूपण सतही और भावुकता से भरा हुआ था। उसमें कोई ठोस और बौद्धिक अंतर्दृष्टि न थी, अतः वे केवल सामयिक रुचि के होकर रह गए। पृथ्वी थिएटर्स की वास्तविक असफलता जनजीवन के वास्तविक मुहावरों को न पहचानना ही है और

यही कारण था कि अपने सारे ग्लैमर के बावजूद वह हिंदी रंगजगत् में कोई परंपरा स्थापित न कर सका। इस दृष्टि से इसका पूर्व प्रतिरूप पारसी हिंदी रंगमंच कहीं अधिक सफल था जिसने कम से कम सैकड़ों अव्यवसायी रंगसंस्थाओं के रूप में हिंदी रंगमंच का व्यापक प्रसार तो किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति (१९४७) तक भारतीय जननाट्य संघ तथा पृथ्वी थिएटर्स की रंगमंचीय गतिविधियों के अतिरिक्त कलकत्ता, बंबई, और दिल्ली जैसे महानगरों तथा वाराणसी, इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, पटना जैसे हिंदी केंद्रों और अनेक छोटे मोटे नगरों, कस्बों में हिंदी की अनेक छोटी बड़ी अव्यवसायी रंगमंडलियाँ क्रियाशील थीं। इनमें स्तर और क्रियाशीलता संबंधी विविधता भी थी किंतु अधिकांश की प्रस्तुतिशैलियाँ पारसी रंगमंच का ही अनुकरण करती थीं और नाटक भी हलके स्तर के मौलिक या चालू अनुवाद होते थे। विभिन्न विद्यालयों या किन्हीं साहित्यिक संस्थाओं द्वारा कभी कभी तथाकथित उच्च साहित्यिक नाटक भी खेले जाते रहे। इस प्रकार की रंगगतिविधियों ने और अंग्रेजी नाटकों के अध्ययन अध्यापन ने हिंदी को कुछ ऐसे नाटककार भी दिए जिन्होंने यथार्थाभासी और उपन्यास कहानी के ढंग के ऐसे नाटक लिखे जिन्हें इस प्रकार के अकिंचन रंगमंच पर अपेक्षाकृत सरलता से उतारा जा सकता था।

स्वतंत्रता के बाद हिंदी रंगांदोलन में नवजागरण का एक बड़ा दौर आना स्वाभाविक था, किंतु इसकी गति बड़ी धीमी और प्रभाव बड़ा शिथिल था। पहले तो एक बार पुनः हलके प्रचारवादी और अतिरिक्त आशा से पूर्ण नाटकों और उनके मंचन की बाढ़ आई। केंद्रीय और राज्य स्तरों पर सरकारी आर्थिक सहायता तथा सरकारों के सूचना विभागों के नाट्यदलों द्वारा इस प्रकार के प्रयोगों को बल भी मिला। किंतु छठवें दशक में पहुँचकर हिंदी और संपूर्ण भारतीय रंगजगत् में गंभीरता आने लग गई। इस प्रकार के गंभीर रंगसर्जन का प्रयास अनेक केंद्रों में आरंभ हुआ। स्वाभाविक था कि इस नई रंगचेतना की वाहक उस समय की युवा पीढ़ी बनती।

दो अहिंदीभाषी महानगर हिंदी रंगमंच के इतिहास में बराबर महत्वपूर्ण भूमिका निबाहते रहे हैं। कलकत्ता और बंबई नगर हिंदी ही नहीं संपूर्ण आधुनिक भारतीय रंगमंच की प्रयोगशालाओं का काम करते रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद इनके साथ दिल्ली का भी नाम जुड़ गया। स्वतंत्रता के बाद इन केंद्रों की रंगमंचीय हलचलों में अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता आई और ऐसा लगता है, आधुनिक रंगान्वेषण तथा प्रयोग के नाम पर जो कुछ हो रहा है यहीं हो रहा है। किंतु इसे अंतिम रूप से मान लेना दुर्भाग्यपूर्ण होगा। पटना, वाराणसी, इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, जबलपुर, भोपाल, जयपुर, उदयपुर आदि हिंदी क्षेत्र के प्रमुख केंद्रों तथा अनेक उपनगरों, कस्बों और देहातों में भी जो नई रंगचेतना करवट ले रही है वह उपेक्षणीय

नहीं; यद्यपि रंगमंच के इतिवृत्त संकलन और इतिहासलेखन की अपर्याप्तता के कारण उसका ठीक से लेखा जोखा उपस्थित करना अभी सरल नहीं।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय रंगांदोलन को विशेष गति देने के लिये केंद्र और अनेक राज्यों में संगीत नाटक अकादमियाँ स्थापित की गईं, किंतु वे आशा के अनुरूप लाभकारी न प्रमाणित हो सकीं क्योंकि वे रंगमंच की पुनःस्थापना की समस्या की तह में जाकर कोई प्रभावकारी सूत्र पाने में असफल रहीं। तब भी अखिल भारतीय स्तर के नाट्यसमारोहों, परिचर्चाओं, विदेशी रंगविशेषज्ञों के भारत में आमंत्रणों तथा भारतीय रंगकर्मियों के विदेशभ्रमण की सुविधाओं आदि के द्वारा वे भारत के रंगपरिवेश को अधिक क्रियाशीलकर उसके क्षितिज का विस्तार करने का प्रयास करती रही है। संगीत नाटक अकादमी के माध्यम से डा० सुरेश अवस्थी हिंदी रंगमंच के विकास के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं।

स्वतंत्र भारत में रंगकला को ठोस रूप से उच्च स्तर देने की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय की स्थापना द्वारा उठाया गया। दिल्ली में इसकी स्थापना सन् १९५९ ई० में हुई। इस विद्यालय में त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम द्वारा प्रशिक्षार्थियों को रंगमंच की सभी मुख्य और आनुषंगिक कलाओं का गहरा अभ्यास कराया जाता है जिससे बाहर निकलकर वे उच्चस्तरीय रंगप्रस्तुतियाँ कर सकें। इब्राहिम अल्काजी और नेमिचंद्र जैन जैसे रंगविशेषज्ञों के निर्देशन में शिक्षा पाकर निकले हुए यहाँ के स्नातक धीरे धीरे भारत के विभिन्न भागों मे फैलकर रंगकला को ऊँचे स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इनमे से ओमशिवपुरी, सुधा शिवपुरी, मोहन महर्षि, ब० व कारंत आदि के प्रयोगों की काफी चर्चा रही है। रंगानुसंधान के उद्देश्य से निर्मित और इसी से संलग्न एशियन थिएटर इंस्टीट्यूट अभी निष्क्रिय पड़ा है।

हिंदी रंगमंच की पुनःस्थापना की दिशा में एक और महत्वपूर्ण कदम है नटरंग का प्रकाशन। हिंदी के इस महत्वपूर्ण त्रैमासिक का आरंभ सन् १९६५ ई० मे नेमिचंद्र जैन के संपादन में हुआ। विशाल हिंदी क्षेत्र के विभिन्न रंगकेंद्रों के रंगानुभवों के पारस्परिक विनिमय और अखिल भारतीय रंगपरिवेश से उनकी परिचिति का माध्यम बनकर यह हिंदी रंगमंच को राष्ट्रीय रंगमंच के रूप में विकसित होने का पथ प्रशस्त कर रहा है।

●

द्वितीय अध्याय

रंगनाटक : पूर्णकालिक

शैली शिल्प : प्रसाद और प्रेमचंद अपने स्थायी गौरवचिह्न देकर अस्त हो चुके थे जब हमारे आलोच्यकाल का प्रारंभ होता है। प्रसाद और प्रेमचंद के बाद हिंदी साहित्य, डग बढ़ाता आगे बढ़ा और नाटक उपन्यास की धाराएँ वेग से प्रवाहित हुईं। इनमें गुण एवं परिमाण की दृष्टि से उपन्यास धारा अत्यंत सबल और प्रौढ़ बनी। नाटकीय क्षेत्र में नाटकों का परिमाण पुष्ट हुआ, किंतु गुण की दृष्टि से नाटकीय क्षत्र में सघनता एवं गंभीरता प्राप्त न हुई। नाटकों की संख्या बढ़ती गई किंतु ऐसे नाटक एवं नाटककार कम है जो राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रतियोगिता मे उच्चासन पर बैठकर प्रकाश दे सकें। इसका एक बड़ा कारण हिंदी रंगमंच का अभाव है। नाटक और रंगमंच का घनिष्ठ सौहार्द है जो एक दूसरे के साथ पुष्ट होता है। फलतः अच्छे नाटक उन्हीं के द्वारा प्रणीत हो सकते हैं जिन्हें रंगमंच का विस्तृत अनुभव हो। हिंदी मे नाटक उपजते रहे हैं और आज भी अबोध रूप से उपज रहे हैं किंतु इनमें से अत्यधिक संख्यक नाटक बस लिखे भर जाते हैं। ये लिखे गए हैं क्योंकि इनको लिखा जाना था। एक तो नाटक का प्रणयन वैसे भी दुष्कर कार्य है जिसकी ओर नाट्याचार्य भरत ने यह कहकर संकेत किया है कि कोई शास्त्र, कोई शिल्प, कोई विद्या या कला, कोई आयोजन या कर्म ऐसा नहीं है जिसकी आवश्यकता नाट्य में न पड़ती हो (ना० शा० १-११६)। इनकी आवश्यकता नाट्ययोजना में तो है ही, अल्पाधिक मात्रा में इनके ज्ञान की आवश्यकता, नाटकलेखन में भी पड़ती है। इसी कारण नाटक का निर्माण और उसका प्रदर्शन क्लिष्ट कार्य माना जाता है। जिस नाटककार का रंगमंच से निकटस्थ संबंध स्थापित हो चुका है वह उत्तम नाटक दे पाता है। लिखने पर तो बंधन है नहीं। संवादप्रणाली पर लिखी कथा, नाटक नाम पा जाती है, किंतु मूल्यांकन के समय ऐसे नाटक गणना मात्र में बैठ पाते हैं।

नाटक की दूसरी प्रधान आवश्यकता मार्मिक संवाद देने की है। अपने संवादों को वही नाटककार मार्मिकता की संज्ञा दे पाता है जिनमें ये गुण उपस्थित होते हैं— (१) सरसता और (२) स्वाभाविकता। सरसता का सीधा संबंध साहित्यिकता से है। जो नाटककार अपने संवादों में साहित्यिकता के गुण, भाव, अलंकरण, और व्यंग्य भर देता है उसके संवाद सरसता पा जाते है। संवादों में स्वाभाविकता कम आवश्यक नहीं है। स्वाभाविकता का अर्थ है, जीवन की अनुरूपता। नाटक, अवस्थाओं का अनुकरण है। मानवी अवस्थाओं को स्वाभाविक संवादों के माध्यम से ही तो अंकित

किया जा सकता है। स्वाभाविकता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वास्तविक जीवन की गाली गलौज एवं नीरस शब्दावली को स्थान दिया जाय। स्वाभाविकता से अभिप्राय है कि वे संवाद ऐसे न हों जिनके लिये कहा जाय कि उस परिस्थिति में ऐसे संवाद नहीं कहे जा सकते थे। नाटककार कल्पना के कानों से इन कथोपकथनों को सुनकर नाटक में जड़ता है और वे जीवन की अनुरूपता पा लेते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में जब हिंदी नाटककारों पर दृष्टि पड़ती है तो अंगुलि पर गिने जाने योग्य समर्थ नाटककार सामने आते हैं। यद्यपि नाटककारों द्वारा निर्मित नाटकों की संख्या अल्प नहीं है। आलोच्यकाल में सबसे पुष्ट धाराएँ हैं, सामाजिक और ऐतिहासिक। ऐतिहासिक नाटकों की धारा को तो प्रसाद ने ही बल दिया था। यह धारा आगे बढ़ी और विस्तृत हुई। सामाजिक नाटकों की ओर विशेष ध्यान दिया गया क्योंकि यह युग सामाजिक उत्क्रांति का था। महात्मा गांधी राजनीति के क्षेत्र में भी स्त्रीशिक्षा, हरिजन उत्थान, सादा पवित्र जीवन, नैतिक मान्यता, राम नाम कीर्तन और मद्य निषेध को प्रतिष्ठित कर रहे थे। सामाजिक संस्थाएँ अपने दायित्व की ओर देखकर कार्यरत थी। भारतीय जाग्रत शिक्षित समाज राजनीति के साथ समाजसेवा में रुचि ले रहा था। इसी कारण सामाजिक नाटकों की रचना प्रचुरता और प्रौढता से हुई। राजनीतिक नाटकों की रचना, सामाजिक नाटकों की अपेक्षा कम ही हुई यद्यपि सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटकों में देशप्रेम एवं अर्थसंघर्ष यत्र-तत्र चित्रित है। शुद्ध आर्थिक संघर्ष एवं राजनीतिक आंदोलनों को लेकर लिखे नाटक बहुत अधिक हैं। पौराणिक नाटकों की धारा जो संस्कृतकाल से प्रवाहित होकर भारतेंदु युग से आगे बढ़कर वेग से प्रवाहित हुई वह इस काल में क्षीण पड़ गई और पौराणिक वीरों की अपेक्षा ऐतिहासिक वीरों की ओर ध्यान अधिक दिया गया।

शैली की दृष्टि से नाटकीय क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए गए। काव्य के क्षेत्र में प्रयोगवाद डग बढ़ा रहा था तो उपन्यास एवं नाटकों के प्रांगण में भी विविध प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रतीक शैली : प्रतीक शैली के नाटकों की परंपरा प्राचीन है। 'प्रबोध चंद्रोदय', 'भारतदुर्दशा' और 'कामना' प्रतीक नाटकों की शृंखला जोड़नेवाले पूर्व युगों के नाटक हैं। प्रतीक नाटकों में नाटककार, पात्रों एवं कथा द्वारा किसी का प्रतिनिधित्व कराता है। प्रतीक नाटकों में अन्योक्ति एवं समासोक्ति का सहारा लेकर नाटककार प्रतीक-पात्रों एवं प्रतीककथा द्वारा जिसका बोध कराता है, वही प्रमुख है, पात्र एवं प्रतीक कथा तो साधन मात्र हैं। इस शैली के भी दो भेद दिखाई पड़ते हैं—(१) सर्वांश प्रतीकशैली और (२) अंश प्रतीकशैली। सर्वांश प्रतीकशैली में समस्त पात्र या संपूर्ण कथा प्रतीक रूप में संमुख उपस्थित होती है। सेठ गोविंददास कृत 'नवरस' (१९४१) एवं लक्ष्मीकांत 'मुक' कृत भारत राज (१९४६) में समस्त पात्र प्रतीक

हैं। 'नवरस' में नवों रसों के प्रतीक पात्र हैं—वीर रस (वीर सिंह), रौद्र रस (उग्रसेन), अद्भुत रस (अद्भुत चंद्र), भयानक रस (भीम), बीभत्स रस (ग्लानिदत्त), शांत रस (शांता), शृंगार रस (प्रेमलता), करुण रस (करुणा) और हास्य रस (लीला)। लक्ष्मीकांत 'मुक्त' कृत 'भारत राज' के पात्र 'भारत दुर्दशा' के समान प्रतीक पात्र हैं जो १८५७ की क्रांति की कथा प्रकट करते हैं। ये पात्र हैं—भारत राज, धर्मराज (हिंदू राज्य का प्रतीक), कर्मराज (मुस्लिम राज्य का प्रतीक), मित्र राज (ईस्ट इंडिया कंपनी का संचालक मंडल), श्रद्धा, विज्ञान बाला, पश्चिमी बाला इत्यादि। रमेश सहगल एवं पृथ्वीराज कपूर कृत 'दीवार' (१९४५) में पात्र तो हमारे संसार के हैं, सुरेश, रमेश, अंग्रेज इत्यादि, किंतु घटनाएँ प्रारंभ से अंत तक हिंदू मुस्लिम के प्रति अपनाई अंग्रेजों की विभाजन नीति से संबद्ध हैं, जिसका दुःखद रूप भारत विभाजन सामने आया था। सुरेश एवं रमेश के एक मकान के मध्य उठाई दीवार, इस विभाजन का प्रतीक है।

अंश प्रतीक नाटकों में संपूर्ण पात्र या सारा कथानक प्रतीकत्व प्रकट नहीं करता है वरन् कुछ अंश ही प्रतिनिधित्व करनेवाला होता है। भगवती प्रसाद बाजपेयी कृत 'छलना' के बलराज, विलास एवं कामना नाम तो प्रतीकत्व व्यंजित करते हैं किंतु चंपी नाम में प्रतीकत्व नहीं है। इसी प्रकार सेठ गोविंददास कृत 'सुख किस में' के सारे पात्रों के नाम, प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। अश्क कृत 'पहेली' नाटक (१९३६) में एक दृश्य ही प्रतीक शैली का प्राप्त है।

गीत शैली : पश्चिम और पूर्व—दोनों में कविता को नाटकों में मान्य स्थान मिला किंतु आधुनिक युग में इब्सन एवं शा ने इसका विरोध किया और गद्य नाटक लिखे। किंतु काव्यनाटक समाप्त नहीं हुए। नाटककार माम का कथन है—'मैं अपना यह विश्वास बिना प्रकट किए नहीं रह सकता हूँ कि ये सारे गद्य नाटक जिनके निर्माण में मैंने इतना अधिक जीवन बिताया है, शीघ्र ही मृत दिखाई देंगे'। इधर मिस्टर जांस ने साधिकार घोषित किया कि 'नाटकों के अन्यतम उदाहरण हैं कवितानाटक, जो सदा सर्वोच्च बने रहेंगे'। अतः आधुनिक कवितानाटक गद्यनाटकों के विरोध में लिखे गए और आज भी लिखे जाते हैं, यद्यपि इनकी संख्या अल्प है। ईट्स और ईलियट ने कवितानाटकों के समर्थन में अपना मत दिया और कवितानाटक रचे। चित्रपट ने नाटक को बुरी तरह पछाड़कर मृतप्राय कर दिया है। इसके सामने खड़े हो सकते हैं कवितानाटक ही, विशेषतया गीतिनाट्य जिनमें गीत और नृत्य का सुंदर संयोग किया जाता है।

संस्कृत नाटकों में तो कविता को प्रमुख स्थान प्राप्त था। पूर्वभारतेंदु काल के ब्रजभाषा नाटक कवितानाटक ही हैं। भारतेंदुजी के नाटकों में भी कविता को प्रमुख स्थान प्राप्त है। भारतेंदुजी एवं उनके सहयोगी कविता एवं गीतों को,

नाटक में अवश्य स्थान देते थे। दामोदर शास्त्री ने जब 'रामलीला' नाटक भारतेंदुजी को दिखाया तो भारतेंदुजी ने परामर्श दिया कि इसमे गीतों को भी स्थान दो। प्रसादजी ने कविता को तो क्रमशः बहिष्कृत किया किंतु गीतों को अनिवार्यतः नाटकों में स्थान दिया। आलोच्यकाल मे नाटकों में से कविता को तो भगाया गया किंतु कविता एवं गीत शैली में नाटकों की रचना हुई। आनंदीप्रसाद श्रीवास्तव ने चार कवितानाटक—'पार्वती और सीता', 'शिवाजी और भारतलक्ष्मी', 'नूरजहाँ', 'चाणक्य और चंद्रगुप्त' अतुकांत छंदों में लिखे। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के कविता-नाटक, 'हवाई हैदराबाद' हिंदी साहित्य संमेलन (१९४०) में बनारसीदास चतुर्वेदी, जैनेंद्र कुमार, दुलारे लाल, श्रीराम शर्मा, ठाकुर श्रीनाथ सिंह इत्यादि पर बड़े उग्र छींटे छोड़े गए है।

जब कवितानाटक गीति तत्व से युक्त हो जाता है और अंतर्मन का घनीभूत प्रत्यक्षीकरण करता है तो वह गीतिनाट्य बन जाता है। इन नाटकों में बाह्य संघर्ष भी चित्रित होता है किंतु अंतःसंघर्ष ही गीति शैली के नाटकों का प्रधान तत्व है।

गीतिनाट्यकारों में उदयशंकर भट्ट का नाम मत्स्यगंधा (१९३७), विश्वामित्र (१९३८) एवं राधा (१९४१) के साथ ख्याति पा चुका है। नायिकाएँ मत्स्यगंधा, मेनका और राधा, यौवनरंजित उद्वेलित मन के गहन तलों से प्रवाहित प्रेम में डूबती, उतराती अपनी मानसिक उत्ताल तरंगों को प्रदर्शित करती है। ऐसा प्रतीत होता है, ये सबको बहा लेंगी। मन का वेग, शब्दचित्रों में व्यक्त हो दर्शकों को भी डुबो देता है। अंतःसंघर्ष वहाँ बिखरा पड़ा है। भगवतीचरण वर्मा ने भी तीन गीतिनाट्य दिए। ये हैं तारा, द्रौपदी (१९४५) और महाकाल (१९५३)। तारा के मन का संघर्ष पूरी उत्तेजना के साथ प्रवाहित है। वासना और धर्मभावना में से यह किसका साथ दे, यही तो उसके सामने कठिन समस्या है। प्रेम और भक्ति, आकर्षण और नैतिकता, वासना और कर्तव्य के अंतःसंघर्षों मे उलझा मन गीतिनाट्य की सफलता प्रकट करता है। दस दृश्यों का गीतिनाट्य 'द्रौपदी' के चीत्कार करते मन का वेगमय चित्रण उपस्थित करता है। भयंकर नरसंहार देख द्रौपदी का प्रत्येक रोम कंपित है। युधिष्ठिर उसे समझाते है। वह दुखी है क्योंकि वही तो महाभारत का कारण है। पाँच दृश्यों वाले 'महाकाल' में काल का चित्रण बड़ा मार्मिक है। सेठ गोविंददास के गीतिनाट्य 'स्नेह या स्वर्ग' (१९५६) मे नायिका स्नेहलता के सामने भीषण समस्या उपस्थित है, वह किसे चुने ? पिता द्वारा निर्दिष्ट देवता जयंत को जो देवराज इंद्र का यशस्वी पुत्र है अथवा अपने बालसखा मानव 'अजेय' को ? बड़ा संघर्ष चलता है उसके मन में। कविवर दिनकर रचित 'मगध महिमा' (१९५१) एक विस्तृत कथाधरातल को समेटकर, दिशाओं को संघर्ष की कोमल और कठोर ध्वनियों से गुंजायमान करता है। गौतमबुद्ध, चंद्रगुप्त और अशोक को तीन दृश्यों में सामने

लाकर नाटककार वर्तमान की विभीषिका से मुक्ति पाने का साधन भी इंगित कर देता है। केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', हंसकुमार तिवारी एवं गिरिजाकुमार माथुर ने भी कई गीतिनाट्य लिखे हैं।

हास्यव्यंग्य शैली : हिंदी में हास्य शैली के प्रहसनों एवं व्यंग्य नाटकों की कमी है। गीत शैली एवं हास्य शैली को अपनाकर छोटे छोटे एकांकियों का प्रणयन तो बहुत हुआ है किंतु प्रहसनों एवं व्यंग्य नाटकों की रचना अधिकता से नहीं हुई है। इन क्षेत्रों में दृश्यबद्ध एकांकी या नाटक लिखे गए। किसी किसी ने दृश्य के स्थान पर अंक शब्द का प्रयोग किया है जैसे कि सेठ गोविंददास का 'भविष्यवाणी' नामक प्रहसन तीन अंकों में विभाजित है। ये वास्तव में तीन दृश्य ही हैं। जहाँ वस्तु का कुछ विस्तार एवं जीवनचित्र की कुछ व्यापकता है उसे नाटक माना गया है। अश्कजी ने व्यंग्य शैली का बड़ा सुंदर प्रयोग 'अंजो दीदी' में किया है। प्रहसन में किसी व्यक्ति, समाज या अवगुण का मखौल उड़ाया जाता है तो व्यंग्य नाटक में उसपर छिपी चोट की जाती है। पहला हमें हँसाता है तो दूसरा बौद्धिक आनंद प्रदान करता है। हास्यव्यंग्य के क्षेत्र में एकांकियों की बहुतायत है और जयनाथ नलिन, श्रीमती विमला लूथर, मधुकर खेर, विष्णु प्रभाकर, ज्योतिप्रसाद निर्मल, यादवेंद्रनाथ शर्मा, सुबोध मित्र, राजेंद्रलाल, चंद्रकांत, चिरंजीत, प्रभाकर माचवे ने योगदान किया है। इनमें से कुछ ही नाटक की श्रेणी में आ पाते हैं।

आकाशभाषित शैली : संस्कृत में 'भाण' नामक रूपक, आकाशभाषित शैली में लिखा जाता था जिसमें कोई पात्र, मुख ऊपर करके इस प्रकार कथन करता था मानों वह किसी से बातें कर रहा हो। भारतेंदुजी का नाटक 'विषस्यविषमौषधम्' इसी शैली का भाण है। पश्चिम में इसका प्रयोग 'मोनो ड्रामा' में किया गया। ब्राउनिंग के पद्यात्मक मोनोड्रामा (एकपात्री नाटक), स्ट्रिंडबर्ग एवं ओनील के गद्यात्मक मोनोड्रामा (एकपात्री नाटक) ने अपनी ओर लोगों को आकर्षित किया। हिंदी में भी आकाशभाषित शैली के एकपात्री नाटक लिखे गए। इस क्षेत्र में सेठ गोविंददास ने बड़े सफल प्रयोग किए हैं और कई एकपात्री नाटकों का निर्माण किया है। सेठ गोविंददास के 'षड्दर्शन' नाटक के छह दृश्यों में स्त्री के छह रूप चित्रित हुए हैं। ये छह रूप हैं 'बालिका, अज्ञातयौवना, विवाहिता, गर्भिणी, युवती एवं वृद्धा। प्रत्येक दृश्यांत में वृद्धा आकर कथाशृंखला को जोड़ती है। 'प्रलय और सृष्टि' नाटक में एक पात्र, चश्मा, नोट बुक, कलम, लाइट हाउस टावर, घंटा, चिमनी, बादल और धरती से बातें करता है। 'सच्चा जीवन' नाटक में एक खद्दरधारी युवक अनुसंधान में लगा है कि वास्तविक सच्चा जीवन कौन सा है। उसके सामने सांसारिक गृहस्थ जीवन, धनी जीवन, अधिकारप्राप्त जीवन, स्त्री पुरुष का प्रेमी जीवन है, जिनपर वह विमर्श करता है। अंत में निष्कर्ष निकालता है कि ईमानदारी के साथ अपने

कर्त्तव्य का पालन ही सच्चा जीवन है। इसी शृंखला में विष्णुप्रभाकर का नाटक 'सड़क', राजाराम शास्त्री के 'बड़बेरी' और 'फुल बूट', भृंग तुपकेरी का 'घेरा' और परदेशी का 'भगवान बुद्ध की आत्मकथा' आकाशभाषित शैली के एकपात्री नाटक हैं।

औपन्यासिक शैली : औपन्यासिक शैली पर लिखा 'अश्क' का 'अंधी गली' नाटक है जो १६५३ में बना और १६५६ में प्रकाशित हुआ। इसमें ७ अंक हैं जो अपने में संपूर्ण हैं और एक दूसरे से संबद्ध भी। ये सात अंक या दृश्य उपन्यास की नवीन शैली—उन्मुक्त उपन्यास—के परिच्छेदों जैसे हैं। उन्मुक्त उपन्यास में कभी भिन्न भिन्न लेखक एक कथा को जोड़ते हैं अथवा एक ही लेखक भिन्न भिन्न स्वतंत्र कथाओं को शृंखलित करता है। वृंदावनलाल वर्मा के नाटक इसी शैली के हैं। इन नाटकों के रंगनिर्देशों में लेखक स्वयं कथा कहता चलता है और उसके दृश्य क्रमशः शृंखलित होकर उपन्यास के समान सामने खुलते है। पीले हाथ मे विवाह संबंध के भिन्न भिन्न दृश्य है। बारात का का वर्णन, द्वारपूजा, नाश्ता, नेगचार, विदा इत्यादि के कार्य रंगनिर्देष वर्णनों एवं कुछ संवादों मे कथित है।

स्वप्न शैली को को अपनाकर अश्कजी ने 'छठा बेटा' नाटक लिखा है। सेठ गोविंददास के 'विकास' में भी इस शैली का प्रयोग किया गया हैं।

शिल्प विधि : शिल्प की दृष्टि से नाटकों में अनेक प्रयोगों का अस्तित्व प्राप्त होता है। एक ओर पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक है जो नाट्यशास्त्र का पालन करते दिखाई देते है। इनमें केवल तीन अंक हैं। नाट्यशास्त्र मे वर्णित दृश्यों का प्रयोग नहीं है। युद्ध के दृश्य भी कथोपकथनों द्वारा वर्णित हैं। 'वितस्ता की लहरें' नाटक में ताया का अपहरण सिल्यूकस द्वारा वर्णित है तो 'गरुड़ध्वज' में युद्धों का वर्णन पात्रों द्वारा कथित है। 'रसपरिपाक' नाटककार की दृष्टि मे है और कथानक शृंखलित होकर संधियों के प्रयोग की सूचना देता है। उधर वृंदावनलाल वर्मा एवं सेठ गोविंददास के नाटकों में अंक, दृश्यों मे विभाजित हैं। इन अंकों एवं दृश्यों की सीमा भी निर्धारित नहीं है। सेठ गोविंददास के कुलीनता नाटक में एक दृश्य (४–६) आधे पृष्ठ का है। वृंदावनलाल वर्मा के 'नीलकंठ' नाटक में ३–१ में ११ पृष्ठ का दृश्य है, तो ३–२ मे एक पृष्ठ का दृश्य है। १० से १५ पृष्ठों तक के अनेक दृश्य इन्ही नाटकों मे एवं अन्य नाटकों में प्राप्त है। सेठ गोविंददास ने नाटकों में उपक्रम और उपसंहार का भी प्रयोग किया है। यह प्रस्तावना एवं भरतवाक्य से सर्वथा भिन्न है। उपक्रम और उपसंहार दो दृश्य है जो आरंभ और अंत में जोड़े गए हैं। ये अंग्रेजी के प्रोलाग एवं एपिलोग जैसे भी नहीं है। कही ये कथानक का अंश बने हैं, कहीं नहीं। महाप्रभु वल्लभाचार्य में ये कथा का प्रारंभ और अंत करते हैं तो अशोक में ये कथा से नितांत असंबद्ध हैं जहाँ उपसंहार

में पंडित नेहरू राष्ट्रीय पताका फहराते दिखाई पड़ते हैं। कुछ नाटकों में केवल उपक्रम या उपसंहार है तो कुछ में दोनों का प्रयोग हुआ है। गरीबी या अमीरी में केवल उपक्रम है, अशोक एवं शशिगुप्त में केवल उपसंहार तो महाप्रभु वल्लभाचार्य, भिक्षु से गृहस्थ, गृहस्थ से भिक्षु और षटदर्शन में दोनों जुड़े हैं।

जिन नाटकों में अंक, दृश्यों में विभाजित हैं उनमें अनेक बार दृश्य बदलने पड़ते हैं एवं मंचयोजना करनी पड़ती है। जिन नाटकों में केवल अंक हैं, उन अंकों के अनुसार दृश्य योजना की आवश्यकता पड़ती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में प्रायः तीन दृश्य बँधे हैं क्योंकि उनमें तीन अंक हैं। सेठ गोविंददास का 'सिद्धांत स्वातंत्र्य' पृथ्वीराज कपूर के 'कलाकर और पैसा' दो दृश्यबंधों के नाटक है। अश्क के नाटक 'कैद', 'उड़ान' और 'आदिमार्ग' एक दृश्यबंध के नाटक है यद्यपि इनमें 'कैद' और 'उड़ान' में चार चार दृश्य हैं। जयदेव मिश्र कृत 'रेशमी गाँठें' नाटक में भी एक दृश्यबंध है जिसपर तीन दृश्य अभिनीत होंगे। रंगनिर्देश में भी विभिन्नता प्राप्त होती है। कंचनलता सब्बरवाल कृत 'लक्ष्मीबाई' में दृश्यारंभ में थोड़े से रंग-निर्देश दिए गए हैं। सेठ गोविंदास ने अत्यंत विस्तृत रंगनिर्देश दिए है। ये कई कई पृष्ठ तक चलते हैं और इनमें सुई से लेकर पहाड़ तक की प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म ब्योरा प्राप्त होता है। मंच पर की चादर ही नहीं चादर की लंबाई चौड़ाई, चादर का रंग, चारों किनारों पर चादर कितनी मंच से नीचे लटकी है इत्यादि का विस्तृत एवं संपूर्ण वर्णन इनमें दिया गया है। वृंदावनलाल वर्मा इन रंगनिर्देशों में स्वयं कहानी कहकर कथानक को अग्रसर भी करते हैं। अश्क एवं पृथ्वीराज कपूर ने नाटकों में अभिनय संकेत प्रचुर मात्रा मे दिए हैं जब कि जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद एवं वृंदावनलाल वर्मा ने बहुत कम दिए है। मिलिंदजी के 'गौतमनंद' में बस प्रवेश और निष्क्रमण भर हैं।

संवादों की विभिन्नता भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। छोटे मार्मिक संवाद लिखना ही नाटकीय कला का सौंदर्य है। भाषणों में, आवेश में, प्रबोध करने में, संवाद कुछ बड़े हो ही जाते हैं। भावात्मक शैली में भी संवाद अपेक्षाकृत कुछ विस्तार पा जाते है जैसे कि प्रसाद और प्रेमी में। लक्ष्मीनारायण मिश्र के संवाद विस्तृत नहीं हैं। सेठ गोविंददास ने लंबे कथोपकथन लिखने में रुचि दिखाई है। 'गरीबी या अमीरी' नाटक में अचला के कथन ४ पृष्ठों[1] के और विद्याभूषण के कथन ६ से ८ पृष्ठों तक के हैं।[2] सेठ गोविंददास का नाटक 'विकास' आरंभ से अंत तक दो पात्रों के संवाद स्वरूप लिखा गया है। इसी प्रकार 'विश्वप्रेम' नाटक के प्रायः सभी दृश्यों में दो पात्र संवादरत है। एकपात्री नाटक तो सेठ गोविंददास के

१. गरीबी और अमीरी, १-३ एवं २-१।
२. वही, २-२, ४-२, ५-२।

प्रसिद्ध हैं ही[1]। रामप्रसाद विद्यार्थी कृत नाटक 'सिद्धार्थ' एवं कंचनलता सब्बरवाल कृत 'लक्ष्मीबाई' में स्वगत कथन का प्रयोग भी हुआ है।

छाया चित्र या सिनेमा की सहायता की अपेक्षा रखनेवाले नाटक भी लिखे गए। सेठ गोविंददास के 'अशोक' और 'विकास', वृंदावनलाल वर्मा का नाटक 'नीलकंठ' ऐसे ही नाटक हैं। बहुत से नाटकों में संगीत एवं नृत्य को स्थान मिला है। सेठ गोविंददास, वृंदावनलाल वर्मा एवं पृथ्वीराज कपूर ने अपने सभी नाटकों में गीतों को स्थान दिया है। वृंदावनलाल वर्मा एवं पृथ्वीराज के नाटकों में नृत्य का भी संयोजन है। अश्कजी ने गीतों को स्थान नहीं दिया है, तब भी उनके नाटक अभिनय में बहुत सफल है।

सामाजिक नाटक : संस्कृत मे सामाजिक नाटकों के नाम पर कुल मिला कर एक नाटक है 'मृच्छकटिक'। भारतेंदुजी ने सामाजिक नाटकों की ओर कुछ ध्यान दिया। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' उनका सामाजिक प्रहसन है। 'प्रेम योगिनी' यदि पूरा हो गया होता तो एक अच्छा सामाजिक नाटक बनता। 'भारत दुर्दशा' में अंग्रेजी राज्य एवं यवनों का दुराग्रह भारत की दुर्दशा का कारण माना गया है तो हिंदुओं की सामाजिक कुरूपताओं को भी दुर्दशा का आवश्यक कारण स्वीकृत किया गया है। बालविवाह, गोरक्षा, वर्णव्यवस्था इत्यादि को लेकर भारतेंदुकालीन नाटककारों ने बहुत से नाटक लिखे किंतु यह धारा उतनी पुष्ट न थी जितनी पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की थी। प्रसादजी का ध्यान प्रधानतया ऐतिहासिक नाटकों की ओर गया यद्यपि उस काल में भी अनेक सामाजिक नाटक लिखे गए। आलोच्य-काल मे सामाजिक नाटकों ने गुण एवं परिमाण दोनों में स्थिर डग बढ़ाए। इस युग में समाज की ओर विशेष ध्यान गया और अनेक सामाजिक समस्याओं को नाटकों में स्थान मिला, जिनमें से प्रधानता पाई—स्त्री समस्या ने। स्त्री के अनेक रूपों ने कई समस्याओं को समेटा और नाटककारों ने बडे मनोयोग से उन्हें सँजोया। अन्य सामाजिक समस्याएँ जिन्हें नाटककारों ने अपनाया वे भी विवाह, ऊँचनीच का भाव, परिवार की टूटती मेखला, सामाजिक अंकुश, आर्थिक विषमता इत्यादि।

सामाजिक नाटककारों मे अग्रगण्य हैं उपेंद्रनाथ अश्क जिन्होंने प्रधानतया स्त्री पर बड़े मनोयोग से सुंदर और सूक्ष्म प्रकाश फेंका। अश्कजी के नाटक नाटक-जगत् में अपना स्थान बना चुके हैं क्योंकि वे साहित्यिकता, अभिनय एवं संवाद के सौंदर्य से युक्त है। स्वर्ग की झलक की भूमिका मे वे कहते हैं—'मेरे अपने विचार में आज हमें सामाजिक नाटकों की अधिक आवश्यकता है' और उन्होंने इस आवश्यकता की पूर्ति सामाजिक नाटकों द्वारा की। अश्कजी के संवाद मार्मिक एवं व्यंग्यमय हैं।

१. शाप और वर, प्रलय और सृष्टि, अलबेला सच्चा जीवन, षटदर्शन।

स्थानीय रंगमंचों का अनुभव प्राप्त कर एवं चित्रपट के जगत् को देखकर अश्कजी ने अपने नाटकों को अभिनेयता से संपन्न किया और वे सफलतापूर्वक अभिनीत किए गए। अश्कजी के सामाजिक नाटक हैं—स्वर्ग की झलक (१९३८), छठा बेटा (१९४०), अंजो दीदी (१९४३), आदि मार्ग (१९४३) जो आगे अलग अलग रास्ते का रूप धर कर (१९४४) में आया, भँवर (१९४३), कैद (१९४५), उड़ान (१९४६), पैंतरे (१९५२) एवं अंधी गली (१९५३)।

अश्कजी ने अपने नाटकों में स्त्री को बड़ी विविधता एवं निपुणता से अंकित किया है और स्त्रीजीवन की अनेक समस्याओं को गहराई के साथ प्रतिष्ठित किया है। स्त्री आज पारिवारिक कर्त्तव्यों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगी है, उन्होंने इसका सुंदर चित्रण बड़ी विदग्धता के साथ किया है। स्वर्ग की झलक में दो स्त्रियाँ हैं—श्रीमती अशोक और श्रीमती राजेंद्र। दोनों शिक्षिता हैं। श्रीमती अशोक को रात्रि में उठकर बीमार बच्चे को दूध पिलाना पड़ा था। अतः वे क्यों अगले दिन चूल्हे चौके में जान खपाएँ। पतिदेव सब्जी खरीद लाए। उन्होंने खीर भी तैयार कर रख ली। बड़ी अनुनय के साथ वे श्रीमती अशोक से विनय करते हैं कि वह चार रोटियाँ सेंक दे और सब्जी चूल्हे पर चढ़ा दे। उनका एक मित्र तभी आ पहुँचता है। श्रीमान् अशोक मित्र से कहते हैं—'चीख रहा हूँ! क्या करूँ, बीस बार कहा कि भाई तुम जरा आराम करो। पर यह मानती ही नहीं (थके स्वर में) स्वास्थ्य इनका खराब है। पर मैंने जैसे ही सुबह बताया कि तुम्हारा खाना है, तो झट रसोई में जा बैठी। मैं सब्जी लेने गया था। मेरे आते आते इन्होंने खीर बना ली (हँसते हैं) खीर बनाने में तो सीताजी बस निपुण हैं। मुझे लग गई देर। वापस आया तो बड़ी मुश्किल से रसोईघर से उठाया कि भाई आराम करो। फिर मुझे ही डाक्टरों के पीछे मारा मारा फिरना पड़ेगा।' बड़ा तीखा व्यंग्य है नाटककार का यहाँपर। दूसरी स्त्री श्रीमती राजेंद्र बीमार बच्चे को छोड़कर नृत्य में भाग लेने जा रही हैं। जाते जाते वे पति को ताकीद कर जाती हैं कि बच्चे की तबियत का समाचार वे जरूर उनके पास भेज दें। उसके खाने की भी पतिदेव चिंता न करें। वह खाना अपनी एक सहेली के यहाँ खाएगी।

परिवर्तन जीवन में ताजगी लाता है। यांत्रिक नियमन की एकरसता जीवन को नीरस बना देती है। प्रभुत्व की भूखी स्त्री जब सबला बनकर यांत्रिक नियमन का जुआ परिवार के कंधों पर धर देती है तो वहाँ सप्राणता नहीं दिखाई देती है। वहाँ रहता है अनुशासन का कठोर भार। अंजो दीदी नाटक में यही बात बड़ी सजीवता से चित्रित है। अंजो दीदी का घरेलू प्रशासन अत्यंत कठोर है। उसके राज्य में एक चीज इधर से उधर नहीं रखी जा सकती है, कार्य का समय किसी भी दशा में आगे नहीं सरक सकता है, घड़ी के सूई के साथ सबको घूमना पड़ता है। पुत्र और पति दोनों, अंजो दीदी की अनुशासन—नकेल में बँधे यंत्र खिसकते हैं। अंजो दीदी का

अलमस्त भाई इस यांत्रिकता को जोर से झकझोर डालता है और पति एवं पुत्र दोनों इस परिवर्तन में बह जाने का प्रयास करते हैं। पारिवारिक जीवन में यांत्रिक नीरसता जो प्रभुत्व की भूखी सबला नारी द्वारा पिरोई जाती है, उसी का खोखलापन इसमें अंकित है।

सबला अंजो दीदी का एक और स्त्री रूप है। जो भँवर की नायिका प्रतिमा में अंकित है। अंजो दीदी घर में सबको नचाती हैं तो यह बाहर सबको अंगुलिसंकेत से उठाती बैठाती है। सब उससे प्रभावित होते हैं, उसके चारों ओर मँडराते हैं पर वह किसी को दाना नहीं डालती है। उसका प्रेमप्रदर्शन एक ढोंग है। वह पुरुषों को पूँछ हिलाते देखना पसंद करती है अतः मीठे शब्दों के टुकड़े फेंकती रहती है। जहाँ वह बैठती है वहीं पुरुष भ्रमर की भाई चक्कर काटते हैं किंतु वह स्वयं सुखी नहीं। प्रेम की अतृप्त प्यास उसके हृदय में है। वह जिस प्रेम को आदर्श समझती है, वह उसे पुरुषों में प्राप्त नहीं होता है। उसकी झलक उसे अपने प्रोफेसर के प्रेम में मिली थी किंतु वह उसे पा न सकी।

'आदिमार्ग' जिसने आगे 'अलग अलग रास्ते का' रूप धरा, स्त्री के दो स्वरूप सामने उपस्थित करता है। ताराचंद की छोटी पुत्री उसी आदि मार्ग को ग्रहण करती है जिसे प्रायः अधिकांश हिंदू पत्नियों ने ग्रहण किया है और वह है पतिपरायणता। उसका पति उससे प्रेम नहीं कर पाता है क्योंकि वह अपनी एक शिक्षित छात्रा को हृदय दे चुका है फिर वह उसी शिक्षित युवती से विवाह कर लेता है। भले ही पति न चाहे, भले ही वह उदासीन रहे, पर है तो पति ही। अतः रोज उसकी शरण में जाती है, चाहे उसे वहाँ कितना ही कष्ट और अपमान सहना पड़े। इसके विपरीत ताराचंद की बडी पुत्री रानी अपने उस पति का मुँह भी नहीं देखना चाहती है जो उसे न चाहकर उसके पिता द्वारा प्रदत्त मकान मोटर को चाहता है और मकान मोटर पाकर उसे साथ रखने को प्रस्तुत हो जाता है।

'कैद' और 'उड़ान' में स्त्री के बंधन और मुक्ति के दो पहलू बड़ी सुघड़ता से अंकित किए गए है। कैद में वह माता पिता द्वारा बहनोई के साथ बाँध दी जाती है क्योंकि बड़ी बहन की मृत्यु हो जाती है। वह भी बंधन स्वीकार करती है, इस दृष्टि से कि वह बहन के बच्चों को सँभालकर उजड़ती वाटिका को बसा सकेगी किंतु उसका हृदय चीत्कार करता है, वह दिलीप को नहीं भूल पाती है जिसे उसने पतिरूप में मान लिया था। उसने कर्त्तव्य का तो पालन कर लिया किंतु प्रेम तो इन कर्त्तव्य-बंधनों से ऊपर है। उसका कविहृदय शरीर की सीमाओं से दूर दिलीप के स्वप्न देखता था। वह अस्वस्थ रहने लगी और चिड़चिड़ी हो गई। जब सहसा कुछ दिन के लिये दिलीप अखनूर आ जाता है तो वह फिर हरी भरी हो जाती है। वह दिलीप को वहीं बाँधकर रखना चाहती है किंतु दिलीप मित्रों के द्वारा खिंचा हुआ चला जाता है। बड़ी आयुवाले बहनोई के अनेक उपचार करने पर वह फिर पलँग पकड़ लेती

है और रज्जु बँधी गाय के सदृश सरकती है। उड़ान में दूसरा रूप दिखाई पड़ता है। 'माया' मदन से बिछुड़ कर, उसे अप्राप्य समझकर रमेश की ओर झुकती है। रमेश का आवारा मित्र चिड़िया को हथियाने का सबल प्रयास करता है जिसका विरोध माया करती है। सहसा मदन आ जाता है जिससे मिलने की आशा न रही थी। अब माया मदन की ओर जाती है और मदन को विश्वास दिलाती है कि मैं तुम्हारी हूँ। मदन को संदेह होता है जब वह माया की कोमलता रमेश के लिये देखता है। माया का आत्मसंमान जाग्रत होता है और वह अबला से सबला बन जाती है और तीनों को त्यागकर उड़ जाती है।

छठा बेटा स्वप्नशैली का नाटक है जिसमें संमिलित परिवार प्रथा की टूटती शृंखला दिखाई गई है। पाँच पुत्र जो समर्थ हैं अपने एक रिटायर्ड बूढ़े शराबी पिता का पालन करने से इनकार कर देते हैं। 'छठा बेटा' का विचारकेंद्र है कि परिवार भी धन की भित्ति पर आश्रय देता है। वे ही पाँचो पुत्र जो शराबी पिता को भारस्वरूप समझकर उसके अवगुणों को गिनते थकते नहीं थे, यह जानकर कि पिता को तीन लाख की लाट्री मिल गई है, सेवा प्रदर्शित करने में होड़ लगाते हैं। कोई हुक्का ताजा करता है तो कोई शराब अपने हाथ से पिलाता है, कोई पैर पलोटता है तो कोई पिता की सेवा में खड़ा दिन बिताता है। जैसे ही पिता फिर निर्धन होते है तो पाँचों छोड़ देते है। काम आता है छठा बेटा जो गरीब है और जो बहुत पूर्व घर छोडकर भाग गया था। वह पिता का भार वहन करने को तैयार है क्योंकि वह गरीब है। जो पिता अपना सारा धन खर्चकर गरीब बन जाता है उसे पुत्रों से सत्कार प्राप्त नहीं हो सकता है, यही नाटककार का दृष्टिकोण है और आज समाज में प्रतिफलित है।

'पैंतरे' मे सिनेमा जगत् का भव्य दिखाई पड़नेवाला मोहक रूप क्या है यह सामने रखा गया है। बंबई के फ्लैटों का आंतरिक जीवन कितना ईर्षा द्वेष और छल-छद्म से भरा है, इसका यथार्थ चित्र उपस्थित किया गया है। 'अंधी गली' भी अश्कजी का एक नवीन नाटकीय प्रयोग है। इसके दृश्य एकांकी है जो अपने में पूर्ण हैं किंतु मिलकर एक नाटक की सृष्टि करते है। पाकिस्तान बनने के बाद शरणार्थियों को जो कठिनाई बसने में हुई उसके चित्र के साथ वे जो एक भौतिक दृष्टिकोण सामने लाए उसका सफल चित्रण इसमें है। इस भौतिक दृष्टिकोण का प्रभाव उत्तरप्रदेश के जीवन पर जो पड़ा है उसका भी अंकन इसमे है। भतीजा चाची पर फिदा है तो शरणार्थी अफसर युवतियों पर दृष्टि लगाए है, मकानमालिक गहरी रकम चूसते हैं तो ये मुहल्ले में क्या कोहराम और धौलधप्पा मचाए रहते है, इन सबका यथार्थ चित्रण 'अंधी गली' मे है। चाची भतीजे को दूसरी ओर जाते देखती है तो कैसा आघात सहती है, इसका सरस अंकन व्यंग्यशैली में हुआ है।

दूसरे प्रमुख सामाजिक नाटककार हैं सेठ गोविंददास। इनके सामाजिक नाटक हैं—प्रेम या पाप (१९३८), दु:ख क्यों (१९३८), पतित सुमन (१९३८), संतोष कहाँ (१९४१), सुख किसमें (१९४१), बड़ा पापी कौन (१९४८)। सेठजी आदर्शवादी कलाकार हैं और सामाजिक नैतिकता में आस्था रखते हैं। जैसा कि नाटकों के नामों से स्पष्ट है उनके नाटक इसी उद्देश्य की पूर्ति करनेवाले हैं। सेठजी की मान्यता है कि विशिष्ट गुणों द्वारा सामाजिक उदात्तता प्राप्त होती है और व्यक्ति समाज को इनके द्वारा उन्नत करता है। सत्य, संतोष, समाजसेवा की सच्ची भावना, निस्पृहता, अहिंसा इत्यादि गुणों से व्यक्ति उठते हैं और उनके द्वारा समाज ऊँचा होता है। प्रेम या पाप नाटक में नाटककार बताता है कि प्रायः अनेक व्यक्ति कामवासना को प्रेम की संज्ञा दे देते हैं। वह प्रेम नही है, पाप है। प्रेम में एकनिष्ठता, मानसिक स्थिरता और पवित्रता होती है। रूपलोभवश मन के संकेतों पर नाचकर कभी किसी को चाहा कभी किसी को, यह पाप है, प्रेम नही। नाटक की नायिका पहले संगीतशिक्षक कलानाथ पर आसक्त हो समझती है, यही प्रेम है। फिर वह सिनेमानिर्देशक के आकर्षण में फँसती है। वह इस प्रकार पाप की ओर बढ़ती जाती है और पतित होती है। १९२१ में लिखा ईर्ष्या नाटक १९३८ में परिवर्तित हो 'दु:ख क्यों' नाम से प्रकाशित हुआ। ईर्ष्या मनुष्य को कितना गिरा देती है, यही इसमे चित्रित है। यशपाल को छात्रजीवन में ब्रह्मदत्त ने छात्रवृत्ति देकर शिक्षित किया। जीवन में प्रविष्ट हो यशपाल ब्रह्मदत्त के उपकारों को भूलकर उसकी समृद्धि और उसके सुख को देखकर जलने लगा। वह यह न सह सका कि ब्रह्मदत्त यश पाए। अतः निर्वाचन मे उसने ब्रह्मदत्त के विरुद्ध एक मोची को खड़ा किया। उसकी साध्वी पत्नी सुखदा समझाती है कि अपकार से कभी भी मनुष्य सुख और शांति नही पा सकता है किंतु ईर्ष्या से दग्ध यशपाल क्यों सुनने लगा था ? पतन भी शृंखला बाँधकर आता है। यशपाल इतना गिर जाता है कि वह क्रांतिकारियों के विरुद्ध सरकारी गवाह बन जाता है। तब उसकी पत्नी कचहरी में ही उसका भंडाफोड़ करती है। नाटककार स्पष्ट करता है कि दु:ख की जड़ है ईर्ष्या।

पतित सुमन में प्रेम के दो रूपों का संघर्ष चित्रित है। विश्वनाथ और सुमन प्रणय में आबद्ध हैं। वे साथ साथ कदम बढ़ाकर चलते है और पति पत्नी बनने का स्वप्न देखकर हर्षित है। सहसा सामने की यवनिका उठती है और उन्हें ज्ञात होता है—वे पति पत्नी नहीं बन सकते हैं। सुमन वेश्या की पुत्री है जिसे विश्वनाथ के पिता ने अपनाया था। हृदय से चीत्कार उठती है। पर क्या हो सकता है अब ? सुमन गिरती चली जाती है और आत्मघात करती है। पुण्य और पाप का रूप प्रकट है। 'संतोष कहाँ' नाटक में संतोष की खोज की जाती है। संतोष मोटर बंगलों में नहीं, संतोष नेता की धाक में नही, न है मंत्रीपद के प्रभुत्व में। यदि

कुछ संतोष मिल सकता है तो समाजसेवा में, यद्यपि पूर्ण संतोष वहाँ भी नहीं है। 'सुख किसमें' नाटक में सुख की खोज हुई है। नाटक का नायक सृष्टिनाथ धन वैभव मे दुखी है, गरीबी में सुख नहीं है, न संन्यास सुख दे पाता है। सुख है—समस्त सृष्टि को अपनाने में। पुत्री की मृत्यु का असह्य आघात पाकर सृष्टिनाथ पत्नी के साथ कामायनी के मनु के समान उत्तराखंड चला जाता है। वे दोनों समस्त सृष्टि में अपनत्व–एक तत्व–देख पाते हैं। दलित कुसुम में हिंदू बालविधवाओं की दुर्दशा बड़े करुण दृश्यों मे चित्रित है। बालविधवा कुसुम भगवान् के मंदिर में पूजा करती है तो महंत उसे खा लेना चाहता है। उसका बाल साथी मदन जो आदर्श के नारों से आकाश गुंजाता था, जो प्रेमस्वप्न देखने में दौड़ लगाने को सदा प्रस्तुत था, उसे धोखा देता है। श्वसुर घर में आश्रय नहीं देता है। विधवाश्रम में शरण लेती है तो प्रबंधक रसिकलाल उसे दबोचना चाहता है। वह उसे कहीं भी नहीं रहने देता है। विवश हो वह गंगा मे कूदती है तो पुलिस निकालकर आत्महत्या का अभियोग चलाती है। समाज के सारे ठेकेदार भेड़िया बन जाते हैं। नाटककार ने सारी आपत्तियाँ उसके सिर पर लाकर फोड़ डाली है। 'बड़ा पापी कौन' मे दो प्रकार के संभ्रात व्यक्तियो की तुलना की गई है। एक व्यक्ति छिपकर बहू बेटियों को डिगाता है पर बाहर से भला बना है। समाज उसे आदर देता है। दूसरा समाज की आँखों के सामने एक वेश्या से संबंध जोड़ लेता है। समाज कहता है—यह पापी है। नाटककार कहता है—पापी दोनों हैं पर बड़ा पापी कौन है? वही जो गुप्त रूप से समाज खोखला करता है। इस प्रकार समाज में आस्थाग्रास गुण दोषों को सामने रखना ही सेठजी के सामाजिक नाटकों का लक्ष्य है।

कई नाटक देनेवाले तीसरे प्रमुख सामाजिक नाटककार हैं वृंदावनलाल वर्मा। इनके नाटक हैं—राखी की लाज (१९४३), फूलों की बोली (१९४७), बाँस की फाँस (१९४७), लो भाई पंचों लो (१९४७), पोले हाथ (१९४९), मंगल सूत्र (१९४९), खिलौने की खोज (१९५०) एवं सगुन। वृंदावनलाल वर्मा श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। इतिहास की यथासाध्य रक्षा करते हुए उन्होंने मनोरम ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। कई सामाजिक उपन्यासों की भी रचना की है। वर्माजी ने अनेक ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक भी लिखे हैं। नाटकीय क्षेत्र में वर्माजी उतने ही सफल हैं जितने प्रेमचंद हुए थे। इनके नाटक संवाद शैली के उपन्यास ही हैं। सामाजिक नाटकों में वर्माजी ने समस्याओं को न लेकर, विशिष्ट सामाजिक चित्रों को अपनाया है। 'राखी की लाज' में बहिन भाई की हिंदू भावना की उदात्तता चित्रित हुई है जिसमें एक डाकू कुछ पवित्र धागों के कारण मुँह बोली धर्मबहिन की सहायता करता है। 'बाँस की फाँस' में रेल दुर्घटना में घायल भिखारिन की लड़की को एक युवक रक्तमांस दान करता है और फिर उससे प्रेम करने लगता है। हृदय आर्थिक मर्यादाओं से नहीं बँधा है, यही नाटक का संदेश है।

लो भाई पंचो लो एक साधारण नाटक है जिसमें अपराधी की परीक्षा मजाक की सीमा ग्रहण कर लेती है। छंदी जो स्वयं चोर है, भूखे गरीब की सहायता करता है, उसे नाज काटकर देता है और दंड पाता है। उसे तीन दंड दिए जाते हैं—(१) वह हाथ पर अग्नि रखे, (२) चूल्हे में हाथ दे और तप्त तेल में हाथ भिगाए। छंदी खपरैल पर अग्नि उठाता है, आग के पास हाथ ले जाकर खींच लेता है और गर्म तेल पंचों पर छिड़कता है। पंच इस अपमान को सह लेते हैं। नाटक बालकों के लिये लिखा गया प्रतीत होता है। पर क्या बालकों को छंदी बनाया जाएगा? 'पीले हाथ' में कोई विशिष्ट कथा न होकर सगाई से लेकर बारात की बिदाई तक के वैवाहिक दृश्यों का चित्रण मात्र है जिसमें लड़की के पिता की परेशानियाँ बताई गई हैं। 'मंगल सूत्र' में पुनर्विवाह के पक्ष को ग्रहणकर नाटककार शिक्षित युवती के पुनर्विवाह का आयोजन कराता है। लड़की का पिता चुपके से पुत्री को भगाकर पड़ोस में एक सुधारक के यहाँ रखता है जो उस युवती को अपनाने को सोचता है किंतु विवाह होता है एक अलमस्त आवारा कालिज के छात्र के साथ। नाटककार स्वयं भी कहानी कहते चलता है। 'खिलौने की खोज' में नाटककार यह सिद्ध करता है कि हृदय की दबी कामनाएँ रोग रूप में उभरती हैं। अतः जिससे प्रेम हो उससे विवाह हो जाना चाहिए! सगुन में व्यापारी किस प्रकार आयकर बचाने का षड्यंत्र करते हैं इसका अंकन है।

आलोच्य काल के नाटककारों ने समाज के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टि डाली है और उसकी समस्याओं को नाटकों में स्थान दिया है। १९३८ ई० में प्रकाशित पृथ्वीनाथ शर्मा के नाटक दुविधा में स्त्रीहृदय की चंचलता को स्थान मिला है। नायिका सुधा पहले केशव की ओर झुकती है और फिर विनय की ओर। उससे पहले ही सोच समझकर कदम नहीं बढ़ाया है, यद्यपि वह शिक्षित नारी थी। इसी वर्ष जनार्दन राय कृत 'आधी रात' और सर्वदानंद कृत 'प्रश्न' नाटक प्रकाशित हुए। १९३९ ई० में प्रकाशित नाटक 'अपराधी' में पृथ्वीनाथ शर्मा ने बताया है कि समाज जिसे अपराधी समझता है वही सदा अपराधी नहीं होता है। प्रायः समाज गलती पर होता है। अपराधी, जिसे कचहरी दंड देने जा रही है, वह वास्तविक अपराधी नहीं है। उसने एक गरीब को बचाने के लिये अपराध को अपने ऊपर ओढ़ लिया था। इसी वर्ष प्रकाशित 'कमला' में उदयशंकर भट्ट ने अनमेल विवाह का कुफल चित्रित किया है। वृद्ध पति अपनी युवती पत्नी कमला को संदेह की दृष्टि से देखता। वह संदेह भ्रम में परिणत हो जाता है और अंत आत्महत्या में होता है। १९३९ ई० में प्रकाशित अन्य नाटक है—भगवतीप्रसाद वाजपेयी कृत 'छलना'—जिसमें बताया गया है कि आवरण और सत्य में अंतर है—और कुमार हृदयकृत नाटक 'भग्नावशेष'।

१९४० ई० में प्रकाशित 'आदमी' में द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने मानवमूल्य को आँका है। १९४१ ई० में प्रकाशित छाया नाटक में हरिकृष्ण प्रेमी ने सफेदपोश

समाज का अंधकारपूर्ण चित्र खींचा है जिसमें रूपवती पत्नी और बेटी की प्रतिष्ठा बाजार में रखकर पति और बाप सफेद वस्त्र पहिनते हैं। इस भ्रष्ट भड़कीले समाज में कवि प्रकाश और उसकी साध्वी पत्नी को आदर्श रूप में रखकर तुलना की गई है। ब्रह्मचर्य की महिमा प्रतिपादनार्थ शिवानंद सरस्वती ने ब्रह्मचर्य नाटक (१९४१ ई०) लिखा। जयनाथ नलिन ने 'नवाबी सनक' में बड़ों के विचित्र स्वभावों पर प्रकाश डाला है। शारदा देवी मिश्र ने इसी वर्ष 'विवाह मंडप' नाटक लिखा। १९४२ ई० में उदयशंकर भट्ट के दो नाटक सामने आए—'अंत हीन अंत' और 'स्त्री का हृदय।' भट्टजी ने अपने दोनों नाटकों में स्त्रीहृदय का सबल और निर्बल पक्ष सुंदरता के साथ चित्रित किया है। पांडेय बेचन शर्मा उग्र ने 'आवारा' (१९४२) में प्रेम की गुत्थी सुलझाई हैं। प्रेम, धन और कुल से ऊपर है, इसका पक्ष लिया है। जिस भिखारिन पर जमीदार अत्याचार करता है, उसी से जमीदार का भाई प्रेम करता है। भारतभूषण कृत 'पलायन', भानुप्रताप सिंह कृत 'तरुणी' और चंद्रशेखर पांडेय कृत 'जीत में हार' इसी वर्ष के नाटक हैं।

१९४३ ई० में गोविंदवल्लभ पंत का नाटक 'सुहागबिंदी' प्रकाशित हुआ और १९४४ ई० में पृथ्वीनाथ शर्मा का साध जिसमें उन्मुक्त प्रेम में विश्वास करनेवाली 'आधुनिक नारी विवाह के लिये प्रस्तुत नहीं है किंतु एक बालक का संपर्क उसमें मातृत्व की एक साध जगाता है। फलतः वह विवाह के लिये प्रस्तुत हो जाती है। १९४६ ई० में जगदीशचंद्र माथुर का अत्यंत सफल नाटक 'भोर का तारा' प्रकाशित हुआ। सीताराम चतुर्वेदी कृत 'विश्वास' नाटक १९४८ ई० में प्रकाशित हुआ। प्रेमनारायण टंडन कृत 'संकल्प', रत्न बी० ए० कृत 'अछूत नहीं', कृष्णदेव प्रसाद गौड़ कृत 'अभिनेता' और रामसिंहासन राय कृत 'मांस का विद्रोह' नाटक १९४९ ई० में प्रकाशित हुए। १९५० के नाटक हैं—जगन्नाथप्रसाद मिलिंद कृत 'समर्पण', दयाशंकर पांडेय कृत "एक ही रास्ते" और प्यारेलाल कृत 'मैं कुछ सोचता हूँ।' १९५२ में केशवचंद्र वर्मा कृत 'रस का सिरका', मोहनलाल महतो कृत 'कसाई' विंध्यवासिनी देवी कृत 'मानव', सिद्धनाथ कुमार कृत 'कवि' एवं प्रेमनारायण टंडन कृत 'कर्म पथ' प्रकाशित हुए। १९५२ में मुक्ता बाई दीक्षित ने परंपरागत विषय 'जुआ' लेकर 'जुआ' शीर्षक नाटक लिखा। १९५३ ई० में उदयशंकर भट्ट कृत 'नया समाज', सत्यजीवन वर्मा कृत 'प्रेम की पराकाष्ठा' और जयदेव मिश्र कृत 'रेशमी गाँठ' सामने आए।

पौराणिक नाटक

संस्कृत में पौराणिक नाटकों का प्रणयन भी प्रबलता से होता रहा। हिंदी नाटकों के आदिम युग भारतेंदुकाल में भी पौराणिक नाटकों की धारा विस्तार और वेग के साथ प्रवाहित हुई। प्रसादकाल में इसकी गति धीमी पड़ गई और आलोच्य

काल (१६३८-५३) में तो यह धारा क्षीण हो गई। पौराणिक घटनाओं और पौराणिक व्यक्तियों को अपनाकर जो नाटक लिखे जाते है वे पौराणिक नाटक हैं। वैसे तो हमारे यहाँ पुराणों को इतिहास माना गया है किंतु आज पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के दो विभिन्न क्षेत्र बन गए हैं। साधारणतया पौराणिक पुरुषों के जीवन से लिपटा नाटक पौराणिक कह दिया जाता है किंतु कभी कभी ऐतिहासिक पुरुष में अलौकिकता भरकर उसे भी पौराणिकता प्रदान कर दी जाती है। अलौकिकता और असाधारणता मे अंतर है। असाधारणता का अर्थ है वह विशिष्ट गुण जो साधारण जनों में न पाया जाय। किसी पात्र मे अधिक साहस भरा जा सकता है जिसके बल पर वह सिकंदर के समान रात मे घोड़े पर तूफानी नदी को पार कर सकता है अथवा नेपोलियन के समान आल्प्स पर्वत को लाँघ सकता है। अलौकिकता से अभिप्राय है ऐसा कार्य जो लोक मे संभव न हो जैसे शाप द्वारा मानव को पाषाण या सर्प बना देना, अंगुलिसंकेत से बादल या चंद्रमा को फाड़ देना, करस्पर्श से अग्निसमूह का शीतल पड़ जाना या पृथ्वी का फट जाना इत्यादि। सेठ गोविंददास ने अपने नाटक महाप्रभु वल्लभाचार्य नाटक मे शिशु को अग्नि कुंड मे जीवित दिखाया है और महाप्रभु खड़े होकर समुद्र पार कर जाते हैं। वल्लभाचार्य ऐतिहासिक पुरुष है किंतु उनमें अलौकिकता आरंभ और अंत मे चमत्कार प्रदर्शन के लिये प्रविष्ट की गई है, बुद्ध भगवान् पर ऐतिहासिक नाटक भी लिखा जा सकता है और पौराणिक नाटक भी। इस प्रकार पौराणिक पुरुषो से संबद्ध पौराणिक नाटकों को लिखने में दो शैलियाँ अपनाई जा सकती है—अलौकिकता को अपनाकर या उसे हटाकर। अलौकिकता की बुद्धिपरक व्याख्या करके भी अलौकिकता का निवारण किया जा सकता है जैसे कि रावण को दशमुख न दिखलाकर उसे दश विद्यानिधान चित्रित किया जाए। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'नारद की वीणा' में नर नारायण एवं नारद पौराणिक पुरुष है किंतु यहाँ अलौकिकता को स्थान नहीं मिला है। नाटककार चाहे तो पौराणिक नाटको मे भी वर्तमान की समस्याओं का समावेश कर सकता है। नाटककारो ने इस दृष्टिकोण को अपनाकर ऐसा प्रयास भी किया है। गोविंदवल्लभ पंत के ययाति में आधुनिक व्यापारियों एवं विक्रेताओं की बेईमानी को स्थान मिला है। ग्वाला दूध में पानी का अंश अधिक रखता है, घी विक्रेता घी में चर्बी मिलाता है और खाद्यान्न विक्रेता परिमाण मे कम तौलता है, इनका चित्रण किया है। साथ ही पुरु राज्य छोड़कर कृषक जीवन अपनाता है क्योंकि कृषि को प्रधानता देना नाटककार का अभीष्ट है।

पौराणिक नाटकों में तीन विषयों ने बड़ी लोकप्रियता पाई है। ये है—राम, कृष्ण और महाभारत। राम संबंधी नाटक हैं—चतुरसेन शास्त्री कृत सीताराम, (१६३८), मेघनाद (१६३६) और श्रीराम (१६४०)। मेघनाद के परंपरागत चरित्र के विरुद्ध माइकेल मधुसूदन के अनुकरण पर इस नाटक मे मेघनाद का चरित्र

बहुत ऊँचा उठाया गया है। देवराज दिनेश ने रावण नाटक (१९४८) में रावण को प्रधानता दी। अन्य नाटक हैं उदयशंकर भट्ट कृत 'विश्वामित्र' (१९३८), गौरीशंकर मिश्र कृत 'शबरी', 'अछूत', पृथ्वीनाथ शर्मा कृत 'उर्मिला' (१९५०), सीताराम चतुर्वेदी कृत 'शबरी', सद्गुरुशरण अवस्थी कृत 'मझली रानी।' कृष्ण संबंधी नाटक हैं—किशोरीदास वाजपेयी कृत 'सुदामा' (१९३९), चतुरसेन शास्त्री कृत 'राधा कृष्ण' (१९४०), उदयशंकर भट्ट कृत 'राधा' (१९४१), हरिनारायण मेड़वाल कृत 'कृष्ण वियोगिनी' (१९५३), एवं वीरेंद्रकुमार शुक्ल कृत 'सुभद्रा परिणय'।

महाभारत संबंधी नाटक हैं—पांडेय बेचन शर्मा उग्र कृत 'गंगा का बेटा' (१९४०), सीताराम भट्ट कृत वीर अभिमन्यु (१९४५), सेठ गोविंददास कृत 'कर्ण' (१९४६) एवं प्रेमनिधि शास्त्री कृत 'प्रणमूर्ति' (१९५०)। 'प्रणमूर्ति' संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक वेणीसंहार का रूपांतर मात्र है। पांडवों को लेकर लिखे नाटक हैं, रांगेय राघव कृत 'स्वर्ग भूमि का यात्री' (१९५१) जिसमें पांडवों के स्वर्गारोहण का बौद्धिक रूप उपस्थित है और उमाशंकर बहादुर कृत 'अज्ञातवास' (१९५२) जिसमें पांडवों के तेरह वर्ष तक अज्ञात रूप से जीवनयापन करने की कथा है। चतुरसेन शास्त्री ने 'गांधारी' (१९५२) मे महासती गांधारी के जीवन को सामने रखा। मोहनलाल जिज्ञासु ने 'पर्वदान' (१९५२) में कृष्ण और अर्जुन के युद्ध का चित्रण किया। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'चक्रव्यूह' (१९५३) में सुयोधन का मानवीय रूप सामने रखा यद्यपि वह पांडवों का शत्रु था। अभिमन्यु गर्भ मे चक्रव्यूह-भेदन की कथा सुनकर स्मरण नहीं रखता है वरन् अर्जुन जब एक दिन चित्र बनाकर व्यूहभेदन बता रहे थे तो अत्यंत प्रखर प्रतिभासंपन्न बालक अभिमन्यु उसे मस्तिष्क में जमाता गया। इस प्रकार नाटक को बौद्धिक रूप प्रदान किया गया है।

तत्कालीन भारतीय आंदोलन—सत्याग्रह की छाया देने के लिये व्रजनंदन शर्मा ने 'सत्याग्रही हरिश्चंद्र' (१९३९) लिखा। नल दमयंती की प्रेमकथा और दमयंती के दृढ़ चरित्र को सामने रखने के लिये डा० लक्ष्मणस्वरूप ने 'नल दमयंती' (१९४१) नाटक बनाया। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'नारद की वीणा' (१९४१) में आर्यों और अनार्यों का समन्वय दिखाया है जिसके संस्थापक नारद हैं। डा० कैलाशनाथ भटनागर ने लक्ष्मी और शनि देव के संघर्ष द्वारा राजा श्रीवत्स के चरित्र की उच्चता दिखाने के लिये 'श्रीवत्स' नाटक (१९४१) लिखा जिसमें अनेक कष्ट सहकर भी श्रीवत्स न्यायपथ पर आरूढ़ रहा। हरिकृष्ण प्रेमी कृत 'पाताल विजय' (१९४१) अकेला पौराणिक नाटक है अन्यथा प्रेमीजी के सभी नाटक ऐतिहासिक हैं (छाया को छोड़कर)। देवयानी की कथा से संबद्ध तीन नाटक रचे गए जो हैं—ताराकुमारी कृत 'देवयानी' (१९४४), गोविंदवल्लभ पंत कृत 'ययाति' (१९५१) एवं गुलाब कृत 'कच देवयानी' (१९५२)। इस काल के अन्य पौराणिक नाटक हैं—सीताराम चतुर्वेदी कृत 'अलका' (१९४४), रामनरेश त्रिपाठी

कृत 'श्रवण कुमार' (१९४६), उदयशंकर भट्ट कृत 'विक्रमोर्वशी' (१९५०) एवं हरिशंकर सिनहा श्रीवत्स कृत 'माँ दुर्गे' (१९५३)। 'माँ दुर्गे' में सती का चरित्र है।

राजनीतिक नाटक

श्रलोच्य काल (१९३८-५३) राजनीति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। महात्मा गांधी के नेतृत्व ने भारत को अभूतपूर्व जागति प्रदान की। १९४२ के भारत छोड़ो आंदोलन ने अंग्रेजों को स्पष्टतया जता दिया कि अब भारत पराधीन न रह सकेगा। अंततः १९४७ में भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई। किंतु यह स्वाधीनता अपने साथ भारतविभाजन भी लाई जिसके फलस्वरूप भारत एवं पाकिस्तान में लोमहर्षक सांप्रदायिक उपद्रव हुए। पाकिस्तान में आयोजित ढंग से हिंदुओं को मार-काट के साथ उखाड़ा गया जिसकी प्रतिक्रिया में पूर्वी पंजाब में रक्तसरिता बही और साप्रदायिक हत्याकांड का भयानक स्वरूप सामने आया। १९५० में भारत ने प्रजातंत्रात्मक स्वरूप सविधि स्वीकार किया जो निरंतर अग्रसर है। १९५२ में पंचवर्षीय योजना का शकट गतिमान हुआ और प्रथम निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर संपन्न हुआ।

राजनीति के क्षेत्र में सोत्साह योगदान करनेवाले कर्मठ देशसेवी सेठ गोविंददास ने सबसे अधिक राजनीतिक नाटकों की रचना की। उनके नाटक हैं—सिद्धांत स्वातंत्र्य (१९३८), हिंसा या अहिंसा (१९३८), महत्त्व किसे (१९३८), सेवापथ (१९४०), विकास (१९४०), नवरस (१९४१), संतोष कहाँ (१९४५), पाकिस्तान (१९४६), गरीबी या अमीरी (१९४७), भूदान यज्ञ (१९५३)। सिद्धांतस्वातंत्र्य सेठजी की तीसरी जेलयात्रा की उपयोगी उपज है। बाबू प्रेमचंदजी को यह नाटक बहुत अच्छा लगा था और उन्होंने इसकी प्रशंसा की थी। में दो अंक है। पहले अंक में १९०५ के बंगभंग के विरोध में नाटक उठे स्वदेशी आंदोलन का चित्र अंकित है। नायक त्रिभुवनदास स्वातंत्र्यसिद्धांत का पक्ष लेकर अपने राजभक्त पिता के विरुद्ध सिर ऊँचा कर खड़ा होता है। उसकी दृष्टि में भारत माँ का संमान माता पिता से बढ़कर है। पिता भी हार मानकर पुत्र का साथ देता है। २५ वर्ष पश्चात् दूसरे अंक में नायक त्रिभुवनदास अब गृहमंत्री है और अपने पुत्र मनोहरदास को गांधीमार्ग पर चलने से रोकता है जिसका विरोध पुत्र उत्साहपूर्वक करता है। त्रिभुवनदास पुत्र को घर से निकाल देता है किंतु त्रिभुवनदास का पिता बूढ़ा चतुर्भुजदास पौत्र मनोहरदास के गांधीवादी मार्गगमन का समर्थन करता है। नाटक में क्रांतिकारी आंदोलन के ऊपर गांधीजी के सत्याग्रह मार्ग की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। नाटक 'हिंसा या अहिंसा' में इसी पक्ष का प्रकारांतर से प्रतिपादन है। नाटककार का मत है कि गांधीवादी अहिंसा का मार्ग हिंसा से बहुत अधिक बढ़कर है। मिल के संघर्ष में हिंसा का प्रयोग, कार्य

को चौपट कर देता है। दुर्गादास हिंसात्मक साधन में विश्वास करता है फलतः गोली चलती है और मिल बंद हो जाती है। समस्या का समाधान अहिंसा से ही होता है। 'महत्त्व किसमें' नाटक यह प्रदर्शित करता है कि देशसेवा में भी संपन्नता की आवश्यकता है। दरिद्र के पास प्राण है। वह उन्हें दे भी दे तब भी उसे उतनी मान्यता नही मिलती है जितनी संपन्न व्यक्ति को दान, त्याग और कष्टसहन से प्राप्त हो जाती है। कर्मचंद राष्ट्रहित में अपना धन देता है तो उसकी जय जयकारों से आकाश गुंजरित होता है किंतु वही जब सारा धन त्यागकर दरिद्र हो जाता है तो कोई उसे नही पूछता है। पुनः धन पाकर जब वह देशसेवा में कदम बढ़ाता है तो पुनः उसका गुण गाया जाता है। सेवापथ (१९४०) में निःस्वार्थ राष्ट्रसेवा का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। राष्ट्रसेवक को चाहिए कि वह फल की चाह न करे और न यह देखे कि मेरे संगी साथी मेरे साथ आ रहे हैं या नहीं। 'विकास (१९४०) मे बुद्ध से गांधी तक का युगजीवन स्वप्नशैली पर चित्रित हुआ है। पृथ्वी और आकाश, युवती और युवक रूप में मानव के विकास को देखते है और उसका वर्णन करते हैं। पृथ्वी और आकाश दोनों गांधीजी के अहिंसामार्ग को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित करते है। नवरस (१९४१) में शृंगार, वीर, करुण इत्यादि, पात्र रूप मे उपस्थित होकर सशस्त्र क्रांति पर अहिंसात्मक सत्याग्रह की विजय प्रदर्शित करते हैं। संतोष कहाँ (१९४५) में संतोष की खोज की गई है। भिन्न भिन्न राजनीतिक नेतृत्व में एवं प्रभुत्वपूर्ण पदों में संतोष नही है वरन् वह है समाजसेवा में। अध्यापक मनसाराय जब बच्चों को दूध भी नही दे पाता है तो वह धनी बनने पर उतारू हो जाता है और सट्टाव्यापार से अतुल संपति अर्जित कर लेता है। अब उसके पास धन और विलास वस्तुओं की कमी नहीं है। किंतु इस मोटर बँगलों के जीवन में सुख संतोष नही दिखाई देता है। अतः वह धन को जनसेवा में लगाता है और नेता बन जाता है। बड़ो प्रशंसा प्राप्त होती है। मंत्रीपद में उसे मान मिलता है, संतोष नहीं। वह नेतापद छोड़कर समाजसेवा मे लगता है और अस्पताल, अनाथालय, विद्यालय, बालभवन, गृहउद्योग इत्यादि स्थापित करता है। अब अपेक्षा कृत उसे अधिक सुख-शांति प्राप्त होती है और वह संतोष की साँस लेता है। भारतविभाजन संबंधी नाटक पाकिस्तान भारतविभाजन से पूर्व १९४६ में प्रकाशित हुआ। १९४२ में प्रयाग कांग्रेस संमेलन में जब सांप्रदायिक आधार पर भारतविभाजन का प्रस्ताव कांग्रेस के संमुख उपस्थित हुआ तो चक्रवर्ती राज गोपालाचार्य ने इसका पक्ष लिया। देशरत्न राजेंद्रप्रसाद, लौहपुरुष सरदार पटेल, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन इत्यादि ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। प्रस्ताव पास न हुआ किंतु पाकिस्तान की माँग प्रबल होती गई। इसी माँग को लेकर इस नाटक का प्रणयन हुआ है। नाटक में पाकिस्तान की स्थापना तो होती है किंतु हिंदुस्तान एवं पाकिस्तान दोनों में इसका विरोध होता है। पाकिस्तानी मंत्रियों को त्यागपत्र देने पर विवश किया जाता है और पाकिस्तान,

उठाए गलत क़दम पर पश्चात्ताप करता है। सेठजी की यह आशा मात्र थी जो कल्पना की तूलिका से नाटक में प्रतिबिंबित हुई। गरीबी या अमीरी (१९४७) में महात्मा गांधी की ग्रामवास भावना को प्रत्यक्ष किया गया है। महात्मा गांधी ने गाँवों पर ध्यान देने का स्वर ऊँचा किया था और कहा था—हम ग्रामवास करें, वहाँ का जीवन ऊपर उठावें। इसी भावना का प्रत्यक्षीकरण प्रबला में है जो पिता के वैभव को छोड़ गाँव में बस जाती है। वह बहुत सुखी है वहाँ। अफ्रीका में मजदूरों के साथ जो बर्बरताएँ बरती जा रही थी, वे भी इस नाटक में चित्रित है। भूदान यज्ञ (१९५३) में भूदान आंदोलन की उपयोगिता बताई गई है। भूदान आंदोलन को बल मिले, इसी उद्देश्य से यह नाटक लिखा गया है। रक्तरंजित साम्यवादी क्रांति पर अहिंसक भूदानी आंदोलन विजयी दिखाया गया है जिसमें हृदय परिवर्तित होता है। फलतः साम्यवादी रुद्रदत्त अपनी समस्त संपति भूदान में होम देता है।

राजनीतिक नाटकों में पृथ्वीराज कपूर ने दो अत्यंत सबल नाटक अपने सहयोगी लेखकों के साथ लिखे। दोनों का स्थान राजनीतिक नाटकों में बहुत ऊँचा है। पहिला नाटक है दीवार (१९४५ में लिखित) जिसे पृथ्वीराज कपूर ने रमेश सहगल की सहायता से पूर्णकर, स्थान स्थान पर अभिनीत किया। दीवार में अँग्रेजों की विभाजित नीति बड़े कलापूर्ण ढंग से चित्रित की गई है जिस नीति का अंतिम छोर था भारत का दो भागों में विभाजन। प्रतीकात्मक शैली पर भारत का १९४७ का भावी विभाजन सामने आ जाता है। बड़ा भाई सुरेश (हिंदू प्रतीक) और छोटा भाई रमेश (मुस्लिम प्रतीक) अँग्रेजी औरत (अँग्रेज प्रतीक) की नीति कुशलता से संघर्षरत हुए और मकान का बँटवारा कर डाला किंतु शीघ्र ही समझ आई और मध्यस्थ दीवार गिरा दी गई। सेठ गोविंददास ने 'पाकिस्तान' में और पृथ्वीराज कपूर ने 'दीवार' मे आशा की थी कि यह विभाजन टिकेगा नही किंतु यह आशा अभी तक सफलीभूत नही हो पाई है। रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'दीवार' नाटक को महाकाव्य की संज्ञा दी है। उनका मत है—'दीवार को मैं एक महाकाव्य मानता हूँ ठीक उसी अर्थ में जिस अर्थ मे लेनिन ने 'टेन डेज दैट शूक दि वर्ल्ड' को एक महाकाव्य माना था।' लालचंद्र बिस्मिल के साथ लिखा दूसरा नाटक 'आहुति' (१९४९) भी भारतपाक विभाजन से संबद्ध है जिसमें हिंदुओं पर हुई बर्बरता का हृदयद्रावक चित्रण है। इसमें भी पृथ्वीराज कपूर की आशा कि यह विभाजन गिर पड़ेगा, मुहम्मद सफी के शब्दों में प्रकट हुई है। मुहम्मद सफी मुसलमानों द्वारा बरती जानेवाली बर्बरता का पक्षपाती नही है। वह हिंदुओं से कहता है—'वह दिन बहुत दूर नही भाई साहब, जब वह अपने फसादी लीडरों की खड़ी की हुई दुश्मनी और नफरत की दीवार ढा देगें और अपने हिंदू और सिख भाइयों के गले मिलकर जिस तरह पहले एक थे उसी तरह फिर से एक हो जाएँगे।'

अन्य राजनीतिक नाटकों में उल्लेखनीय हैं—तुलसीदास शर्मा कृत 'बंधु भारत' (१९३८) में भारत की पराधीनता का चित्र अंकित है। सूर्यनारायण शुक्ल ने 'खेतिहर देश' (१९३९) में कृषि की ओर ध्यान केंद्रित किया है। सीताराम वर्मा ने स्वर्ण युग (१९३९) में ऐक्य की महिमा प्रदर्शित की है। रामनरेश त्रिपाठी ने वफाती चाचा (१९३९) में इसी भावना को सींचा है। मोतीलाल बिलाग्यां कृत नाटक हथकड़ियाँ (१९४३) में भारत की पराधीनता प्रतिध्वनित है। दशरथ ओझा कृत 'स्वतंत्र भारत' (१९४७) एवं राधाकृष्ण कृत 'भारत छोड़ो' (१९४७) में भारत की स्वतंत्रता की जाग्रत चेतना को उपस्थित किया गया है। वृंदावनलाल वर्मा ने २४ अक्टूबर १९४७ को काश्मीर पर पाक आक्रमण की एक घटना को अपना कर 'काश्मीर का काँटा' (१९४८) लिखा। कबीलियों से वीरतापूर्ण ढंग से लोहा लेनेवाले बहादुर सेनादल ने प्राणों को होमकर काश्मीर की कैसे रक्षा की, इसी का अंकन इसमें हुआ है। राजेंद्रप्रसाद अग्रवाल ने 'आज का किसान' (१९४९) मे भारतीय कृषक का सम्यक् चित्र उपस्थित किया है। जालियाँवाला बाग के हत्याकांड को विषय रूप में ग्रहणकर रामचंद्र ने 'जलियानवाला बाग' (१९४९) नाटक लिखा। लक्ष्मीकांत मुक्त ने भारत दुर्दशा की प्रतीक शैली पर भारत राज (१९४९) नाटक लिखा जिसमें १९५७ की रक्तरंजित क्रांति का चित्रण है। राष्ट्रपति के अनुरोध पर चतुरसेन शास्त्री ने गांधीदर्शन (१९५२) प्रकाशित कराया जिसमें कहानी असंबद्ध है पर गांधीवाद की स्थापना है। पाँच अंकों में गांधीदर्शन, गांधीभावना, गांधीप्रभाव, गांधीजीवन और गांधीसमन्वय दिया गया है। यह प्रचार नाटक है, जो नाटकीयता की दृष्टि से अत्यंत साधारण है।

ऐतिहासिक नाटक

हमारा आलोच्यकाल (१९३८-५३) हिंदी के मूर्धन्य ऐतिहासिक नाटककार प्रसाद के काल के तुरंत पश्चात् प्रारंभ होता है। प्रसादजी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा हिंदी नाटक भंडार की अभूतपूर्व पूर्ति की जिसपर हिंदी को गर्व है। आलोच्यकाल में भी प्रसाद द्वारा प्रवाहित ऐतिहासिक नाटक परंपरा वेग से अग्रसर रही। ऐतिहासिक नाटकों के प्रणयन में कई दृष्टियाँ काम करती है। वे हैं—(१) समाज में कुछ विशिष्ट महान् व्यक्तियों के प्रति समादर व्याप्त रहता है। नाटककार भी इनमे से किसी किसी व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों के ऊपर अपनी श्रद्धा के पुष्प अपनी शैली से चढ़ाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी रामचरित मानस के प्रारंभ में कहते हैं कि मुझसे पूर्व अनेक व्यक्तियों ने राम का गुणगान किया है। मैं भी करता हूँ कि क्योंकि इससे मेरी वाणी सफल होगी। नाटककार देखता है कि इस महापुरुष के जीवन पर मुझसे पूर्व कुछ कहा गया है। तब भी वह कुछ कहता है। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, प्रताप, शिवाजी, झाँसी की रानी ऐसे ही व्यक्तित्व है जिन्होंने सामाजिक चेतना को सदा आकर्षित किया है। फलतः नाटककार इनपर नाटकों का निर्माण

करते जाते है। (२) नाटककार विशिष्ट महान् व्यक्ति को दूसरे रूप में देखता है अथवा नवीन ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में महान् व्यक्ति का जीवन कुछ दूसरे रूप में पाता है तो वह उसी महापुरुष पर अपने दृष्टिकोण से नवीन प्रकाश की पृष्ठभूमि में नाटक रचता है। सेठ गोविंददास का शशिगुप्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र का वितस्ता की लहरें और वृंदावनलाल वर्मा का झाँसी की रानी ऐसे ही प्रयास हैं। (३) नाटककार कुछ उद्देश्य से ऐतिहासिक नाटक रचता है। वह उसी उद्देश्य की पूर्तिवाले व्यक्तियों एवं कथानकों को खोजकर नाटकों की रचना करता है। हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक इसी श्रेणी के है जिनमें सर्वत्र हिंदू मुस्लिम ऐक्य का चित्रण देखा जा सकता है। (४) इतिहास की किसी विशिष्ट घटना या उसके किसी प्रभावपूर्ण व्यक्ति को सामने पाकर नाटककार प्रभावित होता है और नाटकरचना करता है। बाजीराव पेशवा द्वितीय का प्रणययवन नर्तकी से सहसा हो गया और पेशवा ने उसे अपना लिया। इसी घटना का वर्णन रासविहारीलाल कृत कालकन्या मे वर्णित है। गुप्तवंशीय प्रथम सम्राट् चंद्रगुप्त छल से बंदी बना लिया गया। युवराज समुद्रगुप्त ने साहस और कौशल से पिता का उद्धार किया, इसका चित्रण दशरथ ओझाकृत सम्राट् समुद्रगुप्त मे है। ऐतिहासिक नाटक दो प्रकार के प्राप्त होते हैं—(१) इतिहास प्रधान नाटक—जिनमें इतिहास तत्व की प्रधानता है जैसे वृंदावनलाल वर्मा का झाँसी की रानी, सेठ गोविंददास का शशिगुप्त। (२) कल्पनाप्रधान नाटक—जिनमे कल्पना का प्राधान्य है। जैसे वृंदावनलाल वर्मा का पूर्व की ओर, लक्ष्मीनारायण मिश्र का नारद की वीणा।

ऐतिहासिक नाटककारोमे हरिकृष्ण प्रेमी का नाम अग्रगण्य है जिन्होने प्रसादजी की तरह इतिहास को अपनाकर ऐतिहासिक नाटक प्रधानतया लिखे। छाया को छोड़कर शेप नाटक ऐतिहासिक ही है। प्रेमीजी ने प्रसादजी के समान भावात्मक शैली अपनाई है यद्यपि उतनी सीमा तक नही। अत. प्रेमीजी के नाटक बड़े सरस है। जैसे प्रसादजी ने हिंदू काल को पकड़ा, वैसे ही प्रेमीजी ने मुस्लिम काल को ग्रहण किया और हिंदू मुस्लिम ऐक्य का ध्येय बनाया। राजपूत वीरों एवं वीरांगनाओ का चित्रण प्रेमीजी ने बड़े ओजपूर्ण ढंग पर किया है जिसे पढ़कर और सुनकर पाठक दर्शक उद्वेलित होता है। साथ ही राजपूतों की उन निर्बलताओं को सशक्त शब्दों में व्यक्त किया है जिनके कारण वे पराजित होते रहे। बीच बीच में आधुनिक समस्याओं का भी यत्रतत्र चित्रण कर दिया है। प्रेमीजी के ऐतिहासिक नाटक है—बंधन (१९४०), आहुति (१९४०), स्वप्नभंग (१९४०), विषपान (१९४४), मित्र (१९४५), उद्धार (१९४६), शपथ (१९५१), शतरंज के खिलाड़ी (१९५३)।

प्रेमीजी आदर्शवादी कलाकार है। जब जीवन में सारे कार्य सोद्देश्य किए जाते है, तो साहित्य की सृष्टि क्यों निरुद्देश्य हो। अतः नाटकनिर्माण के मूल में

नाटककार का यह विचार छिपा है कि नाटकों द्वारा समाज को उच्च नैतिक स्तर प्रदान किया जाय। जब समाज विशिष्ट गुणों को अर्जित करता है तो उसका नैतिक धरातल ऊँचा होता है। अपने इस दृष्टिकोण को नाटककार प्रेमी ने नाटकों की भूमिका में प्रकट किया है। विषपान की भूमिका में वे लिखते हैं—यूरोपीय साहित्य और सभ्यता से प्रभावित हिंदी के कुछ नवीन समालोचक मेरे नाटकों में नैतिकता का दोष निकलते है। मैं यह चाहता हूँ कि मेरे देशवासी स्वस्थ विचारवाले, स्वाभिमानी, स्वाधीनचेता और पराक्रमी, संयमी, सहृदय और ईमानदार हों। शतरंज के खिलाड़ी की भूमिका में भी वे अपने इस मत को स्पष्टतया प्रकट करते हुए कहते हैं—आज के अनेक गण्यमान्य विद्वान् आलोचक मुझे अपनी रचनाओं में नैतिकता का प्रचार करते देखकर मुझ पर अश्रद्धा भी प्रकट कर चुके है। किंतु मुझे अपने विचारों की गति मोड़ने के लिये आज भी कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता है।

आरंभ से अबतक प्रेमीजी हिंदू मुस्लिम ऐक्य के पक्षपाती हैं—१९४६ का भारतविभाजन एवं पाकिस्तान का हिंदू हत्याकांड भी उनकी इस आस्था को नहीं डिगा सका है। वे स्वयं भी इस पागलपन के शिकार बने। इतने पर भी उनके नाटक हिंदू मुस्लिम ऐक्य की स्थापना में निरत रहे हैं। १९५३ में प्रकाशित शतरंज के खिलाड़ी नाटक की भूमिका में वे इसपर अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं—मेरा परम प्रिय विषय सांप्रदायिक एकता है, जरा उदार होकर सोचने पर राष्ट्रीय एकता है, जरा गहरा उतरकर देखने पर मानवीय एकता है। इस विषय के पीछे मैं क्यों बुरी तरह पड़ गया हूँ ? यह प्रश्न प्रायः मुझसे पूछा जाता है। प्रश्नकर्ताओं से मैं पूछता हूँ कि कोई साहित्यकार अपने देश के मानवों को प्रीति के बंधन में बाँधकर देश को शक्ति को बढ़ाने की आकांक्षा रखता है तो क्या वह कोई हीन कार्य करता है। उसके जीवन का एक सुनिश्चित लक्ष्य है, क्या यही उसकी लघुता है, निर्बलता है। अपने सभी नाटकों में प्रेमीजी ने इस ऐक्य को ग्रथित किया है। उन्होंने ऐसे ही कथानकों को अपनाया हैं जिनसे सांप्रदायिक ऐक्य को बल मिलता है। लेखक स्वयं इस तथ्य की स्वीकृति देता हुआ कहता है कि 'कथानकों का चुनाव मैंने अपने उद्देश्य के अनुकूल कर लिया है' (शतरंज के खिलाड़ी)।

अपने प्रायः सभी नाटकों में यथा अवसर नाटककार ने हिंदू समाज को छूतछात की भावना पर प्रबल प्रहार किया है। शपथ का मालू कहता है—'अपने आपको क्षत्रिय राम और कृष्ण के वंशज और चंद्र के अंश कहनेवाले, भीमदेव, तुम चांडालों को मनुष्य नहीं समझते तुम आर्य जन चांडाल और अस्पृश्यों की सेवा का पुरस्कार तिरस्कार से देते हो हो' (शपथ १-८)। विषपान में राधा, राजकुमारी कृष्णा को विषपान करा देती है। कृष्णा अपने प्रति दिखाए हिंसाभाव पर प्रश्न करती है तो राधा उत्तर देती है कि बदले की भावना से ही वह यह जघन्य कृत्य कर रही है। कृष्णा पूछती है—'मुझे भी तू बुरा समझती है। मुझसे भी बैर रखती

है।' राधा उत्तर देती है—'नहीं, लेकिन मैं कह चुकी हूँ, आपकी मृत्यु से उन लोगों के हृदय घायल होते हैं जिनके प्रति मेरा मन विद्रोही है, इन उच्च वंशाभिमानियों ने हमें संमानपूर्वक जीने का कोई मार्ग खुला ही नहीं रखा है'। (विषपान)

प्रेमीजी का तीसरा विषय जो नाटकों में अनुस्यूत है, क्षत्रियों का पारस्परिक द्वेष है जिसने उन्हें एक होकर शत्रु से लोहा नहीं लेने दिया। क्षत्रियों में वंशाभिमान इतनी गहराई से जड़ पकड़े हुए था कि वे आपस में ही एक दूसरे को ऊँच नीच समझ कर लड़ पड़ते थे। राष्ट्रीयता के मार्ग में यह संकुचित दृष्टिकोण बड़ा बाधक रहा है। 'उद्धार' की कमला कहती है—महाभारत का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि यहाँ का प्रत्येक राजवंश अपनी पृथक् ध्वजा फहराने के लिये लालायित है (१-२)। इसी नाटक की सुधोरा का कथन है—सच पूछो तो मैं कहूँगी कि वंशाभिमानी राष्ट्रीयता के मार्ग में बड़ी बाधा हैं। उच्च वंश के अभिमान में मदमस्त रहनेवाले दूसरों को अपनी अपेक्षा नीच मानते हैं। प्रकृति के समस्त उपहारों पर केवल अपना ही जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं (उद्धार १-५)।

प्रेमीजी की शैली भावात्मक है। फलतः उनके कथन बड़े सरस हैं। अलंकारों एवं लक्षणाव्यंजना से भी कथनों में भावुकता भरी गई है। मालती कहती है—यह इंद्रच्छप माणवक हार भी धारण कर लो। आकाश के नक्षत्र भी इस हार से ईर्ष्या करते हैं कि इसे तुम्हारे गले का हार बनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया और वे आकाश में तरसते ही रहते हैं। तभी तो वे रात भर आँसू बहाकर तुहिन कणों से पृथ्वी का आँचल भर देते हैं (शपथ १-६)। सारे नाटक राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत हैं। देश की लगन, पात्रों के हृदयों में भरी है एवं मातृभूमि की रक्षा के लिये वे प्राण होमते हैं। प्रेमीजी में वर्गचित्रण की प्रधानता है। उनके नायक, क्षत्रिय वीर, साहसी, मातृभूमि उद्धारक और अभिमानी हैं। नायिकाएँ त्याग और प्रेम की मूर्तियाँ हैं। इनमें शपथ की कंचन वेश्या अलग है जिसको नाटककार ने बड़ी उदात्तता प्रदान की है। स्कंदगुप्त की देवसेना के समान वह भी देशभक्त, स्नेहशीला और त्यागमयी है। त्याग के द्वारा वह सबसे ऊपर उठ जाती है। विष्णुवर्द्धन कहता है—'तुम सुहानी, मंदाकिनी और उमा से कम वीरांगना नहीं हो। वह सामने जो कीर्तिस्तंभ खड़ा है उसके मूल में आधारशिला के रूप में तुम भी हो, इसे मत भूलो—देशकार्य की स्वयंसेविकाओं में तुम सबसे आगे रही।'

आलोच्य काल के दूसरे प्रमुख ऐतिहासिक नाटककार हैं लक्ष्मीनारायण मिश्र। इनके नाटक हैं—अशोक (१९३९), गरुडध्वज (१९४५), वत्सराज (१९५०), एवं वितस्ता की लहरें (१९५३)।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक भारतीयता एवं भारतीय संस्कृति के वाहक हैं। मिश्रजी ने नाटकों की भूमिकाओं में अपना यह मत स्पष्ट किया है। भारतेंदु एवं प्रसाद की यह विचारधारा कि भारत सर्वश्रेष्ठ देश है, मिश्रजी के नाटकों में

व्याप्त है। इसके लिये विदेशियों एवं भारतीयों के आचरण की तुलना करके भारतीयता को श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। उदयन कांचनमाला से कहता है—'सुनते है; यवन देश बड़ा सुंदर है कांचन।' उत्तर में कांचनमाला कहती है—'ऊपर से, भीतर उसके न यह दया है, न यह धर्म, न विश्वास' (वत्सराज)। वितस्ता की लहरें नाटक की यवनबाला बसंतसेना कहती है—यवन वीर, प्रेमिका के चरण आँखों में लेकर चलता है। पत्नी के राज्य में माता का प्रवेश वर्जित है। तीस के ऊपर वहाँ कोई नारी जीना नहीं चाहती। तुम लोग तो यहाँ धरती को माता कहते हो। गुरु और ब्राह्मण की पत्नी को माता मानते हो। राजा की रानी और नहीं तो अब युवराज की रानी भी तुम्हारी माता हो गई। पुरू अलिकसुंदर से कहता है—यवन जाति को छोड़कर भूमंडल में अन्य निवासी तुम्हारे लिये केवल शत्रु रहे हैं। मित्रभाव तुम्हारा केवल अपने लिये है, केवल अपनी जाति के लिये रहा है, औरों के लिये नही। हम युद्ध करते हैं कर्मभाव से, शत्रुभाव वहाँ भी नही होता (वितस्ता की लहरें अंक ३)। भारतीयता का यह गौरव उनके नाटकों में सर्वत्र प्रतिबिंबित है।

भारतीय संस्कृति को नाटकों में प्रमुख स्थान मिला है। नाटककार का कथन है कि मैं भारतीय संस्कृति का व्याख्याता हूँ, भारतीय संस्कृति का उदात्त रूप नाटकों में प्राप्त है। पात्र वेद, गीता और उपनिषदों का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं और व्यास, वाल्मीकि एवं शास्त्रीय विधान का निर्देश करते है। धर्म, भाग्य और पुनर्जन्म में विश्वास व्यक्त किया गया है। पति और पत्नी का अनुराग एक जन्म का नहीं है, वत्सराज का उदयन और गरुड़ध्वज का विक्रममित्र इसकी घोषणा करते हैं। भागवत धर्म के प्रति आस्था व्यक्त की गई है। भागवत धर्म के तीन स्तंभ—शक्ति, शिव एवं विष्णु के प्रति भक्ति का प्रदर्शन नाटकों में उपस्थित है। भारतीय संस्कृति में नारी भोग की वस्तु नही है, इस मत की स्थापना प्रबलता से हुई है। भारतीय विदेशी स्त्रियों के प्रति भी अनुदार नही रहे हैं, जबकि विदेशियों ने भारतीय स्त्रियों पर बर्बरताएँ ढाई हैं। वितस्ता की लहरें नाटक में अलिकसुंदर की प्रेयसी सुंदरी ताया का अपहरण तक्षशिला के स्नातक करते हैं। स्नातक ताया से कहते हैं—हमारे साथ तुम्हारा स्थान वहीं रहेगा जो हमारी माता का है। ताया जब वापिस अलिकसुंदर के पास लौटी तो वह बताती है—'इस देश के निवासी पराई स्त्री को माता मानते हैं। मेरी आँखों में सीधे किसी ने देखा तक नहीं' (वितस्ता की लहरें, अंक ३)। भारतीय चरित्र की उदात्तता सिद्ध करने के लिये अपने नाटकों में नाटककार ने विदेशी युवतियों का समावेश कराया है जो भारतीयता का गुणगान करती हैं। इनमें से अनेक भारतीयों को पतिरूप में अपनाती है। गरुड़ध्वज की कौमुदी कुमार देवभूति के साथ छिप जाती है और अंत में न्यायसभा में घोषणा करती है कि डाकुओं की दया पर छोड़ कर यवन युवक भाग गया था, मेरी रक्षा की कुमार देवभूति ने। अब आप ही

निर्णय दें कि मैं किसकी हूँ। पारसीक राजकुमारी तारा और रजनी युवराज भद्रबाहु और रुद्रदत्त से प्रेम करती है और उनके सामने आत्मसमर्पण करती है। दशाश्वमेध की कौमुदी यवनछत्रप अंगारक की उपेक्षा करके वीरसेन का वरण करती है। भारतीय नारियों का अत्यंत उज्ज्वल रूप इन नाटकों में प्राप्त होता है। वे पतिपरायणा हैं और पति एवं राष्ट्रकल्याण की कामना से सपत्नी को भी सहती हैं। वितस्ता की लहरें नाटक की रोहिणी एवं वत्सराज की वासवदत्ता इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। नाटकों के नायक भी बहुत ऊँचे हैं। इनकी उदात्तता सबको प्रभावित करती है। वीरसेन, विक्रममित्र, पुरू और उदयन उदात्त नायक हैं। इनके साथ ही विष्णुगुप्त, कालिदास, यौगंधरायण जो प्रमुख पात्र हैं, भारतीयता के उन्नायक हैं।

मिश्रजी के ऐतिहासिक नाटकों में बौद्धधर्म की हीनता प्रतिपादित है। इसके तीन कारण नाटकों में उल्लिखित हैं—(१) भारतीय सनातन धर्म में आश्रमों की व्यवस्था है, जिसके प्रति नाटककार का पूज्य भाव है। इनमें क्रमशः गमन होता है। बौद्धों ने बालक बालिकाओं को लाखों की संख्या में संन्यासी बनाकर उनके हाथ में भिक्षापात्र दे दिया। इस पद्धति का विरोध करते हुए गरुड़ध्वज के आदर्श नायक विक्रममित्र कहते हैं—'पता नही ऐसे लाखों करोड़ों बालक बहकाकर इन विहारों में बंद कर दिए गए और जो राष्ट्र के रक्षक कहाते, युवा होने पर जो शस्त्र से देश और जगत् की रक्षा करते, उनके हाथ में धनुष और भल्ल के स्थान पर भिक्षापात्र दे दिया गया (गरुड़ध्वज अंक २)। इस विधान से बौद्ध विहार भ्रष्ट आचरण के कुत्सित अड्डे बन गए। (२) दूसरा कारण था कि इन बालक, युवकों के हाथ से शस्त्र छुडा दिया गया। अहिंसा के भाव ने भारतीयों को कायर बना दिया और वे शस्त्र छोड़कर चैत्य विहारों में बैठ मुफ्त के भोजन से देह फुला कर शास्त्रचिंतन में रत दिखाई देने लगे। नाटककार का मत है कि शस्त्र शास्त्र से अधिक उपयोगी है। विक्रममित्र कहते हैं—शास्त्र से किसी भी अंश में शस्त्र हीन नहीं है। राष्ट्र की रक्षा कोरे शास्त्र से ही नही हो सकती। शस्त्ररक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र का जन्म होता है। शास्त्र का जन्म शस्त्र के बहुत पीछे हुआ है (गरुड़ध्वज अंक ३)। इसी कारण नाटककार ने कवि कालिदास को युद्धरत दिखाया है और तक्षशिला के स्नातकों द्वारा विदेशी यवन आक्रमण का सक्रिय विरोध कराया है। (३) तीसरा कारण है कि बौद्धों ने विदेशियों को भारत पर आक्रमण के लिये आमंत्रित किया और उनका साथ दिया। विक्रममित्र कहते हैं—उनके अनुयायियों का काम हो गया विदेशियों को निमंत्रणकर इस पवित्र भूमि को पददलित करना (गरुड़ध्वज अंक २)।

आलोच्य काल के तीसरे प्रमुख ऐतिहासिक नाटककार हैं सेठ गोविंद दास जिनके ऐतिहासिक नाटक हैं—(१) कुलीनता १९४१, (२) शशिगुप्त १९४२, (३) शेर-

शाह १९४५, (४) महात्मा गांधी १९४६, (५) महाप्रभु वल्लभाचार्य। सेठजी गांधीजी के नेतृत्व में चले अंग्रेजी विरोधी आंदोलन के कर्मठ सेनानी हैं और कई बार जेलयात्रा कर चुके हैं। अतः उनके नाटकों में देशप्रेम एवं गांधीवादी मान्यताएँ प्रतिबिंबित हैं। शशिगुप्त का शकटार कहता है—'देशभक्ति के संमुख व्यक्तिभक्ति का कोई महत्व नहीं। चाहे वह व्यक्ति कोई भी क्यों न हो' (शशिगुप्त ४-३)। सेठजी का शेर खाँ मुसलमान है तो क्या, वह देशप्रेमी है। वह कहता है—'मैं हूँ हिंदी, इसी मुल्क में पैदा हुआ, यहीं की आबोहवा में पला, यहीं की मिट्टी से बना और इसी मिट्टी में मिलूँगा। यहाँसे बाहर देखने के लिये मेरे पास कुछ नहीं। हिंदुस्तान ही मेरे लिये सब कुछ है। यहाँ के रहनेवाले चाहे वह किसी भी मजहब मिल्लत के हों, मेरे भाई बिरादर हैं।""जो हिंदुस्तान और यहाँ के रहनेवालों से नफरत करता है, वह चाहे मेरा मजहब ही क्यों न हो मैं उससे नफरत करता हूँ' (शेरशाह)। अशोक नाटक के अंत में पं० नेहरू अशोक चक्रसमन्वित तिरंगा झंडा फहराते दिखाए गए हैं। यह भी राष्ट्रीय भावना का प्रतिबिंब है।

सेठजी का गांधीवादी दृष्टिकोण महात्मा गांधी नाटक के अतिरिक्त यत्रतत्र अन्यत्र भी उपस्थित है। अशोक में वर्णित अहिंसा और प्रेम की विजय एवं अहिंसा का प्रचार इसी गांधीवादी दृष्टिकोण की शृंखला है। कुलीनता में नीच ऊँच की भावना का विरोध मिलता है। सेठ गोविंददासजी अपने नाटकों में इतिहाससम्मत कथानक को देने का प्रयास करते हैं जैसा कि नाटकों की भूमिकाओं से स्पष्ट है। शशिगुप्त की भूमिका में वे कहते है—'डाक्टर हरिश्चंद्र सेठ की इस काल की नई खोजों ने मुझे कुछ ऐसा आकर्षित किया है कि मैं इस रचना के लोभ का संवरण न कर सका'। अशोक नाटक की भूमिका में वे इतिहास सामग्री का स्पष्टीकरण करते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य में अलौकिकता का समावेश कर नाटककार ने उसे पौराणिकता दे दी है यद्यपि यह ऐतिहासिक नाटक है। बड़ी सरलता से आरंभ और अंत को संशोधित कर उसे बौद्धिक रूप प्रदानकर ऐतिहासिकता की सीमा में लाया जा सकता था।

वृंदावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में अत्यंत प्रसिद्ध हैं। वर्माजी ने कई ऐतिहासिक नाटकों की भी रचना की है, वे हैं—(१) झाँसी की रानी (१९४८), (२) हंस मयूर (१९४९), (३) पूर्व की ओर (१९५०), (४) बीरबल १९५०, (५) जहाँदार शाह (१९५०) एवं (६) ललित विक्रम (१९५३)। वर्माजी ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में गौरवपूर्ण श्रेष्ठ आसन के अधिकारी बन चुके हैं। जहाँतक नाटकों का प्रश्न है, इस क्षेत्र में प्रेमचंद की भाँति उत्तम नाटकों का निर्माण नहीं कर पाए। इसका कारण है नाट्यकला का तात्त्विक रूप आपके सामने नहीं था। वे संवादों के माध्यम से कथा को आगे बढ़ाते हैं। यदि दृश्यों, अंकों के स्थान पर परिच्छेद लिख दिया जाय और रंगनिर्देशों के दोनों ओर के

कोष्ठकों को हटा दिया जाय तो ये नाटक संवादप्रधान उपन्यास बन जायँगे। इन नाटकों की यही विशेषता है कि हम पढ़ने में रस लेते हैं और नाटकों के माध्यम से ऐतिहासिक सामग्री को हृदयंगम करते हैं। वर्माजी ऐतिहासिक उपन्यासों के समान नाटकों में भी इतिहासतत्व की प्रधानता रखते हैं जिसका स्पष्टीकरण उन्होंने भूमिकाओं में किया है। ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्माजी ने मध्यकाल को अपनाया है तो नाटकों में *मध्यकाल और प्राचीन हिंदूकाल को। बीरबल, जहाँदार शाह एवं झाँसी* की रानी नाटकों का संबंध मध्यकाल से है। झाँसी की रानी नाटक में ऐतिहासिक उपन्यास झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की इतिहाससामग्री संक्षिप्त होकर आ गई है। ऐसा प्रतीत होता है, वर्माजी ने सोचा उपन्यास पढ़नेवाले झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई उपन्यास पढ़ लेंगे और नाटक प्रेमियों के लिये झाँसी की रानी नाटक लिखा, ताकि दोनों झाँसी की रानी का देशप्रेम प्राप्त कर सकें। हंसमयूर का संबंध विक्रम शताब्दी से है, ललित विक्रम उत्तर वैदिक काल से जुड़ा है तो पूर्व की ओर उस अतीत गौरव-शाली भारत से शृंखलित है जब भारतीय जलयानों पर चढ़कर भारतीय संस्कृति का डंका विदेशों में बजा रहे थे और *आर्य साम्राज्य की स्थापना कर रहे थे।* ललित विक्रम में कहानी कम है, वर्णन अधिक। वैसे तो सभी नाटक वर्णनों से भरे पड़े हैं किंतु ललित विक्रम में संवादों एवं रंगनिर्देशों के माध्यम से कथा और वर्णनों को सामने रखा गया है। नाटककार का उद्देश्य है यह प्रचार करना कि निर्वाचन प्रणाली एवं मतदान प्रणाली आज प्रजातंत्रात्मक प्रणाली के मूल में निहित है। हमारे यहाँ गणराज्यों में भी यह प्रचलित थी। इस प्रणाली की झलक देना ही मुख्य उद्देश्य है।

पूर्व की ओर क्यों लिखा, भूमिका में इसका संकेत करते हुए नाटककार लिखता है—प्राचीन भारतीयों की समुद्रयात्राओं के प्रसंग पर हिंदी में नाटक और उपन्यास का अभाव है। उद्दंड, उत्पाती और छली, अश्वतुंग निर्वासित होकर नाग-द्वीप पर जाता है, जहाँ धारा को प्रेम में फाँसकर वह छूटता है और पुनः जाकर वारुण द्वीप में आर्य साम्राज्य स्थापित करता है। नाटक में कीर्तन, मल्लाहों के गीत और धारा का नृत्य इस दृष्टि से समाविष्ट किए गए हैं कि नाटक अभिनय में मनो-रंजक बन जाय किंतु नाटक का अभिनय नहीं हो सकता है क्योंकि दृश्ययोजना अत्यंत दुष्कर है, वह सिनेमा में भले संभव हो। समुद्र में जलयान डूबता है और समुद्री तरंगों से अश्वतुंग टीले पर गिरता है। समुद्र के किनारे पर ऊँची पहाड़ियाँ हैं। (२-२)। समुद्र मे यान चल रहा है और किनारे पर पहाड़ी के ऊपर युद्ध हो रहा है (२-४)। समुद्र में दो यान आते हैं (३-१)। अभिनय की कठिनाई की ओर नाटककार का ध्यान है तभी तो वह भूमिका में लिखता है—'खेलनेवाले को रंगमंच-सर्जन में कुछ कठिनाई अनुभव हो सकती है। परंतु हर एक युग में रंगमंच के सुधारने सँभारने की साध तो अभिनयकर्ताओं में रही है। मुझे उसी साध का सहारा है।'

हंसमयूर की शैली भी वही औपन्यासिक है। नाटक का नायक कौन है? इंद्रसेन अंत में सामने आता है। इंद्रसेन का नाम 'कृत' है। इसी नाम पर कृत संवत् प्रस्तुत हुआ। वह वीर है और तन्वी उसकी पत्नी बनती है। गर्दभिल्ल नाटक में अत्यधिक व्याप्त है जिसके आधार पर कथा अग्रसर होती है। इस दृष्टि से गर्दभिल्ल ही नायक है किंतु उसका चरित्र उदात्त नहीं है और न चित्रण सजीव है। सिंह द्वारा उसकी मृत्यु भी उसके चरित्रचित्रण की निर्बलता है। नाटक की स्त्रियाँ विचलित होकर नीचे गिरती हैं और अपना नाम 'चंचला' सिद्ध करती हैं, सुनंदा श्राविका बनकर गृहस्थी में फँसी, तन्वी ने इंद्रसेन को मारने का प्रण किया था वह इंद्रसेन के प्रेमपाश में फँसी। नाटक में राजा भी गाता है यद्यपि गाने की आवश्यकता न थी। कालकाचार्य एवं सुनंदा धर्मप्रचार के लिये गीत गाते विदा होते हैं। छायाचित्रों का प्रयोग भी नाटक में हुआ है (१-३)। एक दृश्य में तो एक भी कथोपकथन नहीं केवल रंगनिर्देश लिखे गए हैं (४-३)। लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गरुडध्वज' भी इसी विषय का नाटक है किंतु उसमें प्रेरणा, बल, प्रांजलता एवं नाट्यकौशल है जो यहाँ प्राप्त नहीं है।

अन्य ऐतिहासिक नाटकों में भी हिंदूकाल के वीरों को प्रधानता प्राप्त हुई है। इनमें से कुछ विशिष्ट व्यक्ति हैं जिनपर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है। ये व्यक्ति हैं—बुद्ध, चंद्रगुप्त मौर्य, चाणक्य, सिकंदर, अशोक, विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त। महात्मा बुद्ध का जीवन प्रभावपूर्ण है जिसने इतिहासज्ञों एवं साहित्यकारों को आकर्षित किया है। बुद्ध के जीवन पर लिखे गए नाटक हैं—रामवृक्ष बेनीपुरी कृत 'तथागत', विश्वंभर सहाय कृत बुद्धदेव (१९४०), रामप्रसाद विद्यार्थी रावी कृत प्रबुद्ध सिद्धार्थ (१९५१)। गौतम के छोटे भाई गौतमनंद को लेकर जगन्नाथप्रसाद मिलिंद ने 'गौतमनंद' नाटक (१९५२) लिखा। चंद्रगुप्त और चाणक्य ने भारत में बहुत मान पाया है। इसी के साथ तत्कालीन सिकंदर-पुरु ने भी नाटककारों को आकृष्ट किया है। मुद्राराक्षस में वर्णित चाणक्य चंद्रगुप्त के संघर्ष को लेकर रामकुमार वर्मा ने कौमुदी महोत्सव (१९४३) को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया। चाणक्य के अद्भुत व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जनार्दन राय नागर ने 'आचार्य चाणक्य' नाटक (१९५३) लिखा। शकारि विक्रमादित्य को सामने रखकर कई नाटक प्रणीत हुए। ये हैं—विराज कृत 'विक्रमादित्य' (१९३९), ठाकुरप्रसाद सिंह कृत 'विक्रम' (१९४३), उदयशंकर भट्ट कृत 'शकविजय' (१९४४) एवं कालिदास (१९५०)। समुद्रगुप्त के ऊपर दो नाटक निर्मित हुए जो हैं—वैकुंठनाथ दुग्गल कृत 'समुद्रगुप्त' (१९४९) एवं दशरथ ओझा कृत सम्राट् 'समुद्रगुप्त' (१९५०)।

हिंदूकाल के अन्य वीरों एवं वीरांगनाओं को अपनाकर जो नाटक निर्मित हुए वे हैं—वैकुंठनाथ दुग्गल कृत 'हर्ष' (१९४१), भानुप्रताप सिंह कृत 'राज्य श्री' (१९४३)। प्राचीन हिंदू भारत की झाँकियों को प्रस्तुत करनेवाले नाटक हैं—

गोविंदवल्लभ पंत कृत बौद्धकालीन नाटक 'अंतः पुर का छिद्र' (१९४०), उमेश कृत 'चतुर्युग' रत्नशंकर कृत 'कुणीक' (१९५१) एवं अर्जुन चौबे काश्यप द्वारा प्रणीत 'आदि भारत' (१९५२)

मुस्लिम काल को अपनाकर भक्तशिरोमणि मीरा को छोड़कर उन हिंदू वीरों एवं वीरांगनाओं को नाटकीय गौरव प्रदान किया गया जिन्होंने धर्म और मातृभूमि के रक्षार्थ आततायियों से साहसपूर्वक लोहा लिया। मीरा संबंधी नाटक हैं—मुरारी मांगलिक कृत 'मीरा' (१९४०) एवं ठाकुर प्रसाद सिंह कृत 'मतवाली मीरा'। हिंदू-वीरों में महाराणा प्रताप और शिवाजी ने सबसे अधिक गौरव पाया जिन्होंने यवन आक्रांताओं के दाँत खट्टे किए और जिन्होंने धर्म और मातृभूमि के रक्षार्थ सतत युद्ध किए। प्रतापसंबंधी नाटक हैं—जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (१९३८) एवं देवराज दिनेशकृत 'मानव प्रताप' (१९५३)। शिवाजीसंबंधी नाटक है—मिश्रबंधु कृत 'शिवाजी' (१९३८), अन्य हिंदूवीरों एवं वीरांगनाओं से संबद्ध नाटक हैं—चतुरसेन शास्त्री कृत 'अमरसिंह', 'अजीत सिंह' और 'राजसिंह'; और परिपूर्णानंद-कृत 'रानी भवानी' (१९३८)। सीताराम चतुर्वेदी ने 'अनारकली' (१९४९) में मुस्लिमकाल की प्रसिद्ध प्रेमकथा वर्णित की।

अंग्रेजीकाल से संबद्ध नाटकों में सबसे अधिक मान्यता मिली है झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई को जिसके देशभक्ति से सिंचित जीवन को लेकर लिखे गए नाटक हैं—रमेश कृत 'लक्ष्मीबाई' (१९५०), विमला रैना कृत 'अनंत' (१९५०), कंचनलता सब्बरवाल कृत 'लक्ष्मीबाई' (१९५१) एवं राजेश्वर गुरु कृत 'लक्ष्मीबाई' (१९५१)। रानी के सहायक और प्रसिद्ध देशप्रेमी नानाजी के जीवन से संबद्ध नाटक, नाना फड़नवीस, (१९४९) परिपूर्णानंद ने लिखा। बाजीराव पेशवा द्वितीय की यवन प्रेयसी मस्तानी की प्रेमकथा को लेकर रास बिहारीलाल ने 'कालकन्या' (१९५३) नाटक प्रणीत किया।

तृतीय अध्याय

एकांकी

प्रकृति परिवर्तनों के अवसरों पर हमारे यहाँ नृत्य, संगीत एवं अभिनयों की विशेष परंपरा रही है। हमारे यहाँ नाटक की उत्पत्ति मूलतः धार्मिक है और नाटक के समस्त मूलतत्त्व वेदों में विद्यमान हैं। वेदों में नाटकीय संवादों की परंपरा उपलब्ध है। लघुनाटकों का आदिरूप ये ही संवाद हैं। अकेले ऋग्वेद में ऐसी अनेक ऋचाएँ मिलती हैं जो नाटकीय शैली में विरचित हैं। इन वैदिक अभिनयों को हिंदी एकांकी का पूर्वज मान सकते हैं। अभिनय कला जननाटकों के विविध रूपों में विकसित हुई। उत्तर भारत की रामलीला, बंगाल की यात्रा, ब्रजभूमि की रासलीला, महाराष्ट्र का ललित, गुजरात का भवाई, राजस्थान का कठपुतली और नौटंकी आदि भी लघु-नाटकों के विविध रूप है।

संस्कृत साहित्य में रंगमंच, अभिनय तथा रूपकों के भेदों उपभेदों की प्रशस्त परंपराएँ मिलती हैं। हमारे यहाँ मानवजीवन का व्यापक अध्ययन, कलात्मक अभिव्यंजन और नाट्यविधान के अनेक रूप मिलते हैं। जहाँ एक ओर ग्यारह अंकों मे बृहत्काय नाटक लिखे गए, वहीं विविध रूप और शैली के रूपक और कहीं कहीं तो केवल तीन दृश्यों तक के लघु रूपक लिखने की परंपराएँ मिलती हैं, परंतु ये नाटकीय प्रयोग आधुनिक एकांकी से भिन्न हैं। **'अंक' शब्द का अर्थ और प्रयोग** ***मनमाने ढंग से हुआ है।*** *इसकी कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं मिलती है।* संस्कृत में व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रकाशिका, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, श्रीगदित, विलासिका, प्रकरणिका और हल्लीश इत्यादि सब एकांकी ही हैं। इन सब प्रकारों की शिल्पविधि जटिल थी। आधुनिक हिंदी एकांकी की सभी प्रचलित शैलियाँ थोड़े से परिवर्तन से इन्हीं में समा सकती हैं। संस्कृत नाटकीय परंपरा का हिंदी एकांकी, विशेषतः भारतेंदु और द्विवेदीकालीन एकांकी पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। भारतेंदुजी ने संस्कृत परिपाटी पर रूपक तथा उपरूपकों के उदाहरण प्रस्तुत किए थे। आधुनिक एकांकी का रूप आज कुछ परिवर्तित अवश्य हो गया है, किंतु यह कहना भ्रामक है कि भारतीय साहित्य में एकांकी थे ही नहीं।

भारतेंदु युग में हिंदी एकांकी का विकास कई धाराओं में हुआ था।

१. राष्ट्रीय ऐतिहासिक धारा : इस वर्ग के अंतर्गत हम भारतेंदु हरिश्चंद्र-कृत 'भारतदुर्दशा'; 'भारतजननी'; राधाचरण गोस्वामीकृत 'भारतमाता'; रामकृष्ण

वर्माकृत 'भारतोद्धार', काशीनाथ खत्रीकृत 'तीन परम मनोहर ऐतिहासिक रूपक'; राधाचरण गोस्वामीकृत 'अमरसिंह राठौर'; राधाकृष्णदास का 'महारानी पद्मिनी'; रामकृष्ण वर्मा कृत 'पद्मावती'; 'वीरनारी'; 'कृष्णकुमार' आदि एकांकी रख सकते हैं। इस प्रकार के एकांकियों का उद्देश्य जनता में देश तथा राष्ट्र के प्रति राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करना, आदर्श चरित्रों का गुणगान कर नवप्रेरणा देना तथा मनोरंजन की अपेक्षा शिक्षा देना अधिक रहा है। ये नाटयकार मनोरंजक सामग्री से मिश्रित कर ऐसा उपदेश दे रहे थे, जो लोकजीवन में जागृति उत्पन्न करता था। युगव्यापी राजनैतिक और राष्ट्रीय चेतना इनमें मुखरित हुई थी।

२. सामाजिक यथार्थवादी धारा : राष्ट्रीय जागृति के साथ एकांकीकारों की दृष्टि समाज की पतितावस्था की ओर गई। सामाजिक कुरीतियों पर आक्रमण करते हुए समस्या एकांकी लिखे गए। इनका संबंध यथार्थ जीवन, समाज और युग में नित्यप्रति पाए जाने वाले पात्रों से है। भारतेंदुजी कृत 'भारतदुर्दशा', राधाचरण गोस्वामीकृत 'भारतवर्ष में यवन लोग'; श्रीशरणकृत 'बाल विवाह'; प्रतापनारायण मिश्रकृत 'कलिकौतुक रूपक'; अंबिकादत्त व्यासकृत 'कलियुग और घी'; किशोरीलाल गोस्वामीकृत 'चौपट चपेट' तत्कालीन समाज में व्याप्त नाना कुरीतियों और सामाजिक रूढ़ियों पर व्यंग्य करते हैं। प्रहसन लिखकर भी समाज-सुधार का प्रयत्न किया गया। राधाचरण गोस्वामी कृत 'तन मन धन श्री गुसाँई जी के अर्पण' और 'बूढ़े मुँह मुँहासे', देवकीनंदन त्रिपाठीकृत 'कलियुगी जनेऊ' (संवत् १६४३), निद्धीलाल मिश्र कृत 'विवाहिता विलाप', बालकृष्ण भट्ट कृत 'शिक्षादान', राधाकृष्णदास कृत 'दुखिनी बाला'; काशीनाथ खत्री कृत 'बाल विधवा' आदि प्रहसनों में हिंदुओं की सामाजिक रूढ़ियों पर व्यंग्य किए गए हैं।

३. धार्मिक पौराणिक धारा : धर्म के प्रति जनता में सदा से श्रद्धा और उत्साह रहा है। पौराणिक एकांकी बड़े उत्साह से पढ़े और अभिनय किए जाते थे। भारतेंदुजी कृत 'माधुरी'; और 'धनंजय विजय'; श्रीनिवासदासकृत 'प्रह्लाद चरित्र'; पं० बदरीनारायण प्रेमघनकृत 'प्रयाग रामागमन'; राधाचरण गोस्वामीकृत 'श्रीदामा' और 'सती चंद्रावली', शालिग्राम वैश्यकृत 'मयूरध्वज'; बालकृष्ण भट्टकृत 'दमयंती स्वयंवर'; जैनेंद्र किशोरकृत 'सोमावती अथवा धर्मवती'; कार्त्तिकप्रसाद रचित 'उषा-हरण'; 'गंगोत्तरी'; 'द्रोपदीचीरहरण'; 'निःसहाय हिंदू', मोहनलाल विष्णुलाल पांड्याकृत 'प्रह्लाद', खंगबहादुरमल्ल कृत 'हरतालिका' इत्यादि धार्मिक पौराणिक धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

४. हास्य व्यंग्यप्रधान धारा : हास्यप्रधान प्रहसन विशेष रूप से लिखे गए। ये प्रहसन सामाजिक और धार्मिक दोनों ही विषय पर लिखे गए थे। शैली की दृष्टि से इनपर पारसी रंगमंच का प्रभाव था। शिष्ट हास्य तथा व्यंग्य नहीं है। भाषा चलती हिंदी है। रचनाविधान में स्वतंत्रता और विचारों का आधिक्य है,

आकार संक्षिप्त और हास्य में अतिरेक है। किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'चौपटचपेट'; चौधरी खलसिंह कृत 'वेश्या नाटक', विजयानंद त्रिपाठी कृत 'महा अंधेर नगरी', प्रतापनारायण मिश्र कृत 'भारतदुर्दशा'; कलिकौतुक रूपक, काशीनाथ खत्री कृत 'ग्रामपाठशाला नाटक', 'निकृष्ट नौकरी'; पं० रुद्रदत्त शर्मा कृत 'पाखंडमूर्ति', 'स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी' आदि उल्लेखनीय प्रहसन हैं।

इस युग में हिंदी एकांकी का प्रारंभ था। कोई निश्चित नाट्यप्रणाली हिंदी एकांकीकारों के संमुख नहीं थी। कलात्मक दृष्टि से ये एकांकी ऊँचे नहीं हैं। इनका शिल्प कमजोर है। इनमें परिहास असंगत और स्वाभाविकता का उल्लंघन करता हुआ लगता है। पात्रों का चरित्रचित्रण स्थूल है। 'एकांकी' शब्द का प्रयोग न कर 'रूपक' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'दृश्य' के लिये किस शब्द का प्रयोग किया जाय, यह भी अनिश्चित था। प्रायः 'गर्भांक' का प्रयोग दृश्य के लिये होता था। 'अंक' शब्द 'दृश्य' का ही पर्याय प्रतीत होता है। समय और स्थान के संकलनों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। अतः शैली में कृत्रिमता आ गई है। इनपर पारसी रंगमंच का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। संगीत, शेर, दोहे और उर्दू के शब्दों का खुला प्रयोग है। कृत्रिम नाटकीय साधनों जैसे 'स्वगत, प्रकट, आप ही आप मन में; प्रकाश' आदि शब्दों का स्थान स्थान पर उल्लेख है। श्रीभारतेंदु हरिश्चंद्र, काशीनाथ खत्री, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्णदास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', निद्धीलाल मिश्र आदि भारतेंदुकालीन प्रमुख एकांकीकार है।

द्विवेदी युग में एकांकी

इस युग मे नाट्य साहित्य की धारा कुछ मंद सी रही। अभिनय कला का प्रचार कम था, रंगमंच का अभाव था और शिक्षित समाज की अभिनय के प्रति अरुचि थी। नाटक मे अभिनय करना हीन दृष्टि से देखा जाता था। समाज की यह उपेक्षावृत्ति नाट्यकला के लिये हानिकार हुई। इस युग के नाट्यकारों पर बँगला और अंग्रेजी नाट्यसाहित्य विशेषतः द्विजेंद्रलाल राय और रवींद्र के नाटकों का प्रभाव पड़ा था। योरप में कृत्रिम भावुकता, रोमांटिक अतिरंजना और सौंदर्य साधन के पुराने मापदंडों के विरुद्ध नार्वेजियन नाटककार हेनरिक इब्सन ने यथार्थवादी आंदोलन प्रारंभ किया। उन्होंने सामाजिक यथार्थवादी दिशा में जनरुचि को मोड़ दिया। उनके नाटकों में व्यंग्य, उपहास, कटाक्ष और आलोचना का संमिश्रण था। पाश्चात्य प्रभाव तथा कुछ अंग्रेजो के सीधे अनुकरण से हिंदी एकांकी में नवीनता का समावेश हुआ। भारतेंदु युग में जो एकांकी संस्कृत परिपाटी पर विरचित हुआ था, वह धीरे धीरे पाश्चात्य प्रणाली से प्रभावित होने लगा। संस्कृत परिपाटी छूटने लगी और नए ढंग के एकांकी लिखे जाने लगे। नई समस्याएँ, विचारधारा, गद्य की शिष्ट

भाषा का प्रयोग प्रारंभ हुआ। उत्सवों और स्कूल कालेजों में अभिनय योग्य एकांकियों की माँग बढ़ने लगी। विद्यार्थियों के हित की दृष्टि से नाटक लिखे गए। यद्यपि नाटक साहित्य काफी लिखा गया, किंतु अभिनय योग्य सुरुचिपूर्ण एकांकी कम मिलते थे। द्विवेदीयुगीन एकांकी तीन धाराओं में विकसित हुए :

१. सामाजिक व्यंग्यात्मक धारा : इस वर्ग में कुछ तो वे ही समस्याएँ थीं, जो भारतेंदु युग से चली आ रही थीं, पर कुछ नई समस्याएँ भी एकांकियों का विषय बनीं, जैसे आनरेरी मजिस्ट्रेटो, म्यूनिस्पैलिटो का चुनाव, पाश्चात्य शिष्टाचार का अंधानुकरण, मालिक नौकर समस्या, फैशन परस्ती, नारी स्वातंत्र्य, हिंदी की दुर्दशा, सार्वजनिक जीवन की त्रुटियाँ आदि। जहाँ एक ओर इन त्रुटियों का उन्मूलन करने का प्रयत्न किया गया, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक नवनिर्माण के लिये कुछ एकांकीकारों ने नए रूप प्रस्तुत किए थे। प्रथम वर्ग में सर्वश्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश', प० तुलसीदत्त 'शैदा', जी० पी० श्रीवास्तव, बदरीनाथ भट्ट, हरिशंकर शर्मा, प्रेमचंद, सुदर्शन, रूपनारायण पांडेय, रामनरेश त्रिपाठी, पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र', ब्रजलाल शास्त्री, डा० सत्येंद्र, जयशंकरप्रसाद आते हैं; दूसरे वर्ग में श्रीराम वाजपेयी, मुरारीलाल शर्मा, कुंजबिहारीलाल सनेही, रामसिंह वर्मा, सरयूप्रसाद बिंदु, शिवरामदास गुप्त आदि रखे जा सकते है। जी० पी० श्रीवास्तव का 'साहित्य का सपूत' (१६३२) में उस युग की समस्त साहित्यिक गतिविधि स्पष्ट की गई है। उनका 'मोहिनी' (१६२२) साहित्य के प्रश्नों पर अपूर्व प्रहसन है। इस प्रकार सामाजिक एकांकीकारों ने अनेक साहित्यिक त्रुटियों की ओर भी साहित्य संसार का ध्यान आकृष्ट किया था। यह एक नवीन दिशा थी।

२. राष्ट्रीय ऐतिहासिक धारा : देश में राजनैतिक जागर्ति हो रही थी। अतः हमारे एकांकीकारों का ध्यान भारत के गौरवमय अतीत की ओर गया। फलतः इतिहास की गौरवशालिनी घटनाओं को लेकर राष्ट्रीय नवनिर्माण संबंधी आदर्शवादी नाटक लिखे गए। सियारामशरण गुप्त कृत 'कृष्णा' (१६२१), ब्रिजलालशास्त्री कृत 'वीरांगनाएँ', सुदर्शन कृत 'राजपूत की हार' और 'प्रताप प्रतिज्ञा' (१६२६), सूर्यनारायण दीक्षित कृत 'चंद्रगुप्त' (१६२७) जैसी रचनाओं में स्वतंत्रतासंग्राम द्वारा उत्पन्न राष्ट्रीयता, स्वदेशप्रेम, आजादी की भावनाएँ, ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से प्रकट हुईं।

३. धार्मिक पौराणिक धारा : धार्मिक पौराणिक क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम कार्य हुआ। इसमें सर्वश्री राधेश्याम कथावाचक, रामनरेश त्रिपाठी, श्रीरामशर्मा, जयशंकर प्रसाद आदि ने कुछ धार्मिक एकांकी लिखे। राधेश्याम कथावाचक कृत 'कृष्ण सुदामा'; 'शांति के दूत भगवान', 'सेवक के रूप में भगवान कृष्ण'; श्रीरामवाजपेयी कृत 'ईशदर्शन', 'भक्त परीक्षा'; 'प्रसाद' कृत 'सज्जन' तथा 'करुणालय' इसी क्षेत्र में आते हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने नाटकों के अनुवाद पर जोर दिया। प्रेमचंदजी

ने गाल्सवर्दी के कुछ नाटकों के अनुवाद किए। इब्सन कृत 'चाँदी की डिबिया' का अनुवाद हुआ। जी० पी० श्रीवास्तव ने मौलियर के कई एकांकियों के सफल अनुवाद किए। श्रीक्षेमानंद राहत ने टाल्सटाय के कुछ कुछ छोटे छोटे एकांकियो के अनुवाद किए, जिसमें 'कलवार की करतूत' (१६२६) मुख्य है। श्रीरूपनारायण पांडेय ने रविबाबू के अनुवाद किए।

द्विवेदी युग में नाटकीय धारा मध्यम पड़ी, पर चलती रही। संस्कृत के अनुवाद कुछ कम, बँगला और अंग्रेजी से अधिक हुए। इस युग में एकांकी की तकनीक में अधिक विकास हुआ। संस्कृत की रूढ़ियाँ नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य इत्यादि समाप्त हो गई तथा पाश्चात्य शैली का प्रभाव बढ़ने लगा। ये एकांकी पारसी प्रणाली से सर्वथा मुक्त न हो सके। अनेक में छंदमय वार्त्ता है, कहीं दोनों का संमिश्रण है, स्थल संकलन का पालन नहीं हुआ है। नाटचकारों की दृष्टि समस्या को स्पष्ट करने तथा श्रोताओं पर अंतिम प्रभाव छोड़ने तक ही सीमित रही है। चरित्रचित्रण ऊपरी है; उसमें कोई बारीकी नहीं है। यथार्थवाद की ओर प्रवृत्ति है, शैली अस्वाभाविक एवं अतिरंजित है, नाटकीयता का अभाव है। कथोपकथनों में हिंदी, उर्दू, और अंग्रेजी सभी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग है। पं० राधेश्याम कथावाचक, 'शैदा' इत्यादि कुछ एकांकीकारों ने उर्दू शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया है। 'स्वगत' तथा 'प्रकट' जैसी कृत्रिम पद्धति चलती रही। रंगसंकेत संक्षिप्त और अपूर्ण है। इनमें अभिनय के लिये सहायता की कोई भावना नहीं है।

द्विवेदी युग के प्रमुख एकांकीकारों में जी० पी० श्रीवास्तव, प्रेमचंद, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, सुदर्शन, रामनरेश त्रिपाठी और जयशंकर प्रसाद उल्लेखनीय हैं। जी० पी० श्रीवास्तवकृत मौलिक और अनुवादित एकांकी लोकप्रिय हुए। अनुवादों मे श्रीवास्तवजी ने देशी पुट देकर ऐसा बना दिया है कि वे मौलिक से प्रतीत होते है; पर इनका हास्य साहित्यिक नहीं है। 'साहित्य का सपूत'; 'बौछार' संग्रह उल्लेखनीय कृतियाँ है। प्रेमचंद का एक मौलिक और एक अनुवादित एकांकी मिलता है। 'प्रेम की वेदी' एकांकी में प्रेमचंद ने समाज के ढकोसलों, कृत्रिम बंधनों, धर्म की रूढ़ियों, रंगभेद, नस्लभेद पर व्यंग्य किया है। 'सृष्टि का प्रारंभ' जार्ज बर्नाड शा का अनुवाद है। प्रेमचंद पुरानी परिपाटी के एकांकीकार हैं। 'उग्र' कृत 'अफजलबध'; 'उजबक', 'चार बेचारे'; 'भाई मियाँ' इत्यादि एकांकियों में समाज की पोल खोली गई है। हास्य में एक कठोर व्यंग्य मिश्रित है। सुदर्शन कृत 'राजपूत की हार' और 'प्रताप-प्रतिज्ञा' में नाटकीय कथोपकथन और चरित्रचित्रण की सफलता है। आदर्शवाद हृदय को स्पर्श करता है। रामनरेश त्रिपाठी कृत 'बा और बापू' संग्रह तथा 'पेखन' सुरुचिपूर्ण एकांकियों के संग्रह हैं। इन्होंने सदा नया विषय चुना है तथा वर्तमान सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं को अपने एकांकियों का विषय बनाया है। जयशंकर प्रसाद कृत (१) सज्जन, (२) कल्याणालय, (३) प्रायश्चित्त एवं (४) एक घूँट

प्रयोगात्मक एकांकी हैं। 'एक घूँट' नवीन दिशा का पथ प्रदर्शक है। नई शैली के एकांकियों का सूत्रपात यहीं से होता है। प्रसादजी के एकांकियों की कथावस्तु तीन प्रकार की है—(१) ऐतिहासिक जैसे 'प्रायश्चित्त' में, (२) पौराणिक जैसे 'सज्जन' और 'कल्याणी' में, (३) भावात्मक जैसे 'एक घूँट' में। उन्होंने इनमें प्राचीन संस्कृति और वैभव का स्वप्न देखा है और अपने इस आदर्शवाद की पुष्टि के लिये कथावस्तु की ऐतिहासिकता में कुछ परिवर्तन भी किया है। इनमें राजनीतिक द्वंद्व, प्रणय के घात प्रतिघात, आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के साथ भाषा और भाव का आकर्षण और ओज है। गीतों का समावेश भी है। जिस युग में 'प्रसाद' जी ने अपने प्रयोग किए थे, हिंदी नाटकों पर द्विजेंद्रलाल राय की रचनापद्धति का प्रभाव था। उसकी कुछ झलक 'प्रसाद' में भी पाई जाती है।

पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित द्वितीय उत्थान

धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोणों से सन् १९२५ से १९३८ तक का युग जागृति का युग था। हिंदी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव दो रूपों से पड़ रहा था—१. अंग्रेजी साहित्य के विशेष अध्ययन तथा हिंदी नाटचकारों के अनुकरण द्वारा और २. शिक्षा के माध्यम द्वाराजो अंग्रेजी ही था। अंग्रेजी के अनिवार्य होने के कारण नई पीढ़ी के नाटचकार अंग्रेजी एकांकीकारों का अधिकाधिक अनुकरण कर रहे थे। जनमानस में राष्ट्रीय चेतना तीव्रता से उठ रही थी। अतः इस युग के एकांकी साहित्य में राष्ट्रीयता, स्वदेशप्रेम और पराधीनता के प्रति क्रांति का स्वर है। राष्ट्रीयता का प्रचार तीव्रता से चल रहा था। गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव एकांकियों पर पड़ रहा था। सन् १९३५ के शासनविधान के अनुसार सन् १९३७-३८ में प्रांतीय स्वराज्य की स्थापना हुई, जिससे जनता में नवीन आशाओं का उद्रेक हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन की यह बलवती धारा हमारे ऐतिहासिक तथा राजनीतिक एकांकियों में प्रस्फुटित हुई।

इंगलैंड में एकांकी लोकप्रिय हो रहा था। इब्सन तथा उनकी शैली से प्रभावित अन्य नाटचकारों जैसे बनार्ड शा, मेंटरलिंक, बैरी, गाल्सवर्दी, चेखोव, ओ'नील, माहम, प्रीस्टेल इत्यादि का विश्वास था कि वर्तमान की विभीषिकाओं तथा कटुताओं का सच्चा चित्रण नाटकों में होना चाहिए। झूठी भावुकता के स्थान पर नग्न यथार्थ-वाद इस युग की विशेषता थी। हिंदी एकांकीकारों पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा। पश्चिम के अनुकरण पर हिंदी में नए प्रकार के एकांकी लिखे गए। अबतक हिंदी तथा अंग्रेजी साहित्यों का संपर्क इतना निकट हो गया था कि अंग्रेजी एकांकी ने हिंदी एकांकी को अपने रंग में रंग डाला था। रेडियो में प्रसारण के लिये अंग्रेजी से अनुवादित और मौलिक एकांकियों की माँग बढ़ती गई। सन् १९०० से १९१५ तक यह नाटक की एक शैली के भेद की भाँति ग्रहण किया जाता था। सन् १९२०-२२ के लगभग चतुर-

सेन शास्त्री ने एकांकीनुमा रेखाचित्रों का निर्माण प्रारंभ कर दिया था, जिनमें कथोपकथन मात्र थे और रंगसूचनाओं को विकसितकर किसी उद्दीप्त क्षण को चित्रित किया गया था। प्रभाव की एकता, एकाग्रता और आकस्मिकता के गुण थे। इनमें सबसे सफल रचना 'हलाहल से ब्याह' है। हिंदी एकांकी के विकास में सन् १९३० एक महत्वपूर्ण वर्ष है। अनेक एकांकीकारों ने पाश्चात्य एकांकी के अनुकरण पर हिंदी एकांकी लिखना प्रारंभ कर दिया था। पत्र पत्रिकाओं में एकांकी प्रकाशित होने लगे थे। संधिकाल के एकांकीकारों में श्रीकृष्णलाल वर्मा, स्वामी कृष्णानंद, पं० तारानाथ, कामताप्रसाद गुरु, सुदर्शन, रूपनारायण पांडेय उल्लेखनीय हैं। डा० सत्येंद्र ने 'कुणाल' नामक एकांकी लिखा था।

इस विकास काल को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वेएकांकीकार हैं जिनपर बँगला या अंग्रेजी प्रभाव अबतक नहीं पड़ा था। इनके कथानक ऐतिहासिक हैं और टेकनिक का कोई नया प्रयत्न नहीं है। ये बड़े नाटक लिखते थे; उन्हीं के अंतर्गत छोटे एकांकी भी लिखने लगे थे। इस भारतीय पद्धति पर लिखनेवालों में सर्वश्री सूर्यदेव नारायण, जैनेंद्र कुमार, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, प० गोविंदवल्लभ पंत, चतुरसेन शास्त्री, वृंदावनलाल वर्मा, डा० सत्येंद्र और प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी आते हैं। दूसरे वर्ग में वे एकांकीकार आते हैं जिन्होंने तकनीक, विचार तथा समस्याएँ सब कुछ पाश्चात्य एकांकियों या समाज से ग्रहण की हैं। कुछ अनुवाद भी किए हैं। इनका जीवनदर्शन पाश्चात्य मापदंडों से इतना प्रभावित है कि वे हर प्रकार से पाश्चात्यमय हो उठे हैं। इस वर्ग के प्रतिनिधि एकांकीकार हैं श्रीभुवनेश्वर प्रसाद, प्रो० धर्मप्रकाश आनंद, कृश्नचंदर, बोरगावकर इत्यादि। तृतीय वर्ग में वे एकांकीकार आते हैं जिन्होंने पाश्चात्य तकनीक को भलीभाँति पचाया और भारतीय समस्याओं को नए ढाँचे में उपस्थित किया। इनके एकांकियों की पृष्ठभूमि पाश्चात्य होते हुए भी इसमें विचारदर्शन, तर्क और बुद्धिवाद मौलिक है। इनकी शैली पर पाश्चात्य प्रभाव है, पर उसे अपनी मौलिक कथावस्तु के लिये पोशाक की भाँति काम में लिया। इस वर्ग के नेता डा० रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, गोविंद दास, उपेंद्रनाथ अश्क और उदयशंकर भट्ट इत्यादि हैं।

पाश्चात्य एकांकीकला से प्रभावित प्रथम प्रभाव डा० रामकुमार वर्मा के एकांकियों में 'बादल की मृत्यु' (१९३०) नामक नाटक से हुआ था। भुवनेश्वर प्रसाद का रचनाकाल (१९३३) है। श्रीपृथ्वीनाथ शर्मा का 'दुबिधा' इसी काल की रचना है, पर इन सबमें सर्वाधिक सफल डा० रामकुमार वर्मा के प्रयोग हैं। मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण, एक समस्या या उद्दीप्त क्षण का चित्रण, नाटकीय क्षण को पकड़ और काव्य से भीगी भाषा—ये डा० वर्मा के गुण हैं। उन्होंने तकनीक का सुस्थिर रूप दिया। इब्सन और शा का अनुकरण उन्होंने उसी सीमा तक किया है, जहाँ तक उन्हें स्वाभाविकता, यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिकता को चित्रित करनेवाली

शैली की आवश्यकता थी। उनके एकांकियों में वर्णनात्मकता की अपेक्षा अभिनयात्मकता की प्रधानता रही है। श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र पर विदेशी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रभाव कुछ अधिक पड़ा है। आपके नाटक 'प्रसाद' जी की प्रतिक्रियास्वरूप बुद्धिवाद की प्रेरणा से लिखे गए थे। मिश्रजी ने समस्या-एकांकियों का विकास किया। आपके एकांकियों में न तो अनेक पात्र हैं, न गाने, कविता या अनावश्यक दृश्यपरिवर्तन। पटविस्तार भी इतना नहीं कि उसमें विभिन्न देश, काल, व्यवस्थाओं तथा घटनाओं की भरती हो। स्वाभाविक जीवन के अनुरूप परिस्थितियाँ निर्माण करने तथा पात्रों के कार्यव्यापार को सुसंगत और सुनियंत्रित करने मे आपको सर्वाधिक सफलता मिली है। इनमें रंगमंच पर अभिनय संबंधी सुगमता का भी विशेष ध्यान रखा गया है। नाटकों का समय वही है जो जीवन में होता है। प्रत्येक पात्र का निजी व्यक्तित्व है और बुद्धिवाद की प्रखरता है। उनकी मूल प्रेरणा संस्कृत के प्राचीन नाटक हैं जिनमें मानव के स्वभाव का यथार्थ चित्रण है। उनकी कला तथा प्रतिभा की मौलिकता का प्रभाव है कि उनके नाटक पाश्चात्य यथार्थवाद के इतने निकट आ गए है। श्रीभुवनेश्वर प्रसाद ने पाश्चात्य प्रभाव को स्पष्ट किया। वे एक सफल टेकनीशियन है। जोवन मे आकस्मिकता को महत्त्व देते हैं। इनके 'कारवाँ' संग्रह के एकांकियों में पूर्वपीठिका बिल्कुल ही नहीं हैं। वे काफी सतर्क होकर वातावरण का अंकन करते है। रूढ़िग्रस्त समाज के प्रति इन एकांकियों में गहरा असंतोष है। अवसाद और उद्विग्नता की जो अंतर्ध्वनि यहाँ सुन पड़ती है, वह नष्ट होते हुए समाज में स्वाभाविक है। शा की व्यंग्य वक्रोक्तियों ने आपको विशेष रूप से आकर्षित किया है। भुवनेश्वर ने प्रेम, विवाह, साम्यवाद, प्रति आधुनिक समाज और स्त्री मनोविज्ञान को पाश्चात्य ढंग से प्रस्तुत किया है।

सेठ गोविंददास के प्रयोगात्मक एकांकी 'स्पर्द्धा' (१९३६) तथा 'सिद्धांत-स्वातंत्र्य (१९३६) इसी संधिकाल की रचनाएँ हैं। 'स्पर्द्धा' का प्रथम दृश्य संस्कृत नाट्यशास्त्र के विष्कंभक की भाँति है। इसमें क्लाइमेक्स का अभाव है। समाज और राजनीति के अच्छे अध्ययन प्रस्तुत किए है और उपक्रम तथा उपसंहार के नवीन प्रयोग किए है। उदयशंकर भट्ट का रचनाक्रम (१९३४–३५) से प्रारंभ होता है। आपका प्रथम एकांकी 'दुर्गा' सन् (१९३४) में प्रकाशित हुआ था। 'एक ही कब्र में' (१९३६) में छपा था। सन् १९४० तक भट्टजी के 'नेता'; उन्नीस सौ पैंतीस', वर निर्वाचन, सेठ लाभचंद इत्यादि एकांकी प्रकाशित हो चुके थे। श्रीउपेंद्रनाथ 'अश्क' के कुछ प्रहसन सन् (१९३१) के आसपास लिखे गए थे। सन् (१९३७) तक आपके 'पापी'; वेश्या; 'लक्ष्मी का स्वागत'; 'अधिकार का रक्षक' इत्यादि पाश्चात्य शैली से प्रभावित एकांकी हिंदी में प्रकाशित हुए थे। उर्दू में भी आपकी रचनाएँ छप रही थीं। इसी काल में श्रीगणेशप्रसाद द्विवेदी के कुछ समस्या-एकांकी मनोवैज्ञानिकता के गुण लेकर लिखे गए थे। 'सोहागबिंदी' आपका

प्रतिनिधि एकांकी संग्रह है। भगवतीचरण वर्मा के 'सबसे बड़ा आदमी' (१९३७) मैं और केवल मैं (१९३८), तारा; 'दो कलाकार'; इत्यादि एकांकी संधिकाल की रचनाएँ हैं। जनार्दनराय नागरकृत 'इंद्रधनुष' (१९३६), सज्जाद जहीरकृत 'बीमार' (१९३६), हरदयालसिंह मौजीकृत 'दादा' (१९३७), पृथ्वीनाथ शर्माकृत 'दुविधा' (१९३७) और 'अपराधी' (१९३८) पाश्चात्य टेकनीक और विचारधारा से प्रभावित हैं।

'हंस' मई १९३८ के विशेषांक का हिंदी एकांकी साहित्य के इतिहास में विशेष स्थान है। इस अंक द्वारा साहित्यकारों का ध्यान एकांकियों को प्रगति तथा तत्त्व-विवेचन की ओर आकृष्ट किया गया। एकांकी के शिल्प के विषय मे अनेक आपत्तियाँ उठाई गई और उन भ्रांतियों का निवारण किया गया। सन् १९३८ से गंभीरता से एकांकियों पर विचार होना प्रारंभ हुआ। श्रीचंद्रगुप्त विद्यालंकार ने अपने लेख 'एकांकी नाटक का साहित्य में कोई स्थान भी है ?' (पृष्ठ ८०१ पर) में यह आपत्तियाँ उठाइ कि '१ एकांकी कहानी का एक छोटा संस्करण मात्र है, २. एकांकी की कोई निश्चित और निजी टेकनीक न तो अभी तक बन पाई है और न बन सकती है, ३. पात्रों के व्यक्तित्व का चित्रण अथवा विकास भी वहाँ नहीं किया जा सकता, ४. एकांकी का ध्येय सिर्फ मनोरंजन अथवा अर्थपूर्ण वार्तालाप है, बस इतना ही, इससे अधिक कुछ नही ५. एकांकी लिखना बहुत आसान है क्योंकि जो व्यक्ति मनोरंजक ढंग से थोड़ी सी बातचीत लिख सकता है, वह एकांकी नाटक भी लिख सकता है, ६. भारतवर्ष मे एकांकी नाटको की लोकप्रियता कुछ अंश तक रेडियो के कारण बढ़ रही है, ७. साहित्य में एकांकी का स्थान बहुत नगण्य सा है।' इन आपत्तियों का निराकरण किया गया। ये भ्रांतियाँ एकांकी को उन्नति में बाधक थीं और एकांकी के शुभचिंतक इन व्यवधानो को दूर करने मे तत्पर रहे। उपेंद्रनाथ अश्क इस कार्य को करने मे सफल हुए। डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविंददास और उदयशंकर भट्ट इत्यादि ने एकांकी की उपयोगिता और उपादेयता पर प्रकाश डाला। एकांकी की टेकनीक भी निश्चित की गई और अन्य विधाओं से भिन्नता भी स्पष्ट हो गई। आगे एकांकी का स्वतंत्र स्थान बन गया और उसकी अपनी टेकनीक भी विकसित होने लगी।

प्रयोगवादी एकांकीकार : विषयगत तथा कलाजन्य विशेषताएँ

१. डा० रामकुमार वर्मा : पाश्चात्य शैली पर अभिनयात्मक और एक ही दृश्य के एकांकी के जन्मदाता हैं। वर्माजी के प्रकाशित एकांकीसंग्रह इस प्रकार है— 'पृथ्वीराज की आँखें' (१९३७), रेशमी टाई (१९४१), चारुमित्रा (१९४३), विभूति (१९४३), सप्तकिरण (१९४७), रूपरंग (१९४८), कौमुदी महोत्सव (१९४९), ध्रुवतारिका (१९५०), ऋतुराज (१९५१), रजतरश्मि (१९५२)

दीपदान (१९५४), कामकंदला (१९५५), इंद्रधनुष (१९५७), रिमझिम (१९५७)। वर्माजी का क्षेत्र ऐतिहासिक और सामाजिक है। 'उत्सर्ग' और 'चंद्रलोक में पहला यात्री' नामक दो वैज्ञानिक एकांकी भी लिखे हैं। अपने सामाजिक एकांकियों में वर्माजी ने मध्यवर्ग की नाना समस्याएँ लेकर यथार्थवादी एकांकियों की रचना की है। जीवन की वास्तविकता उनके नाटकों का आधार है, प्राणों के तत्वों का अत्यंत रहस्यमय संकेत है। घटनाओं को सजीव दृष्टि से देखकर गठे हुए कथानकों का निर्माण किया है। वे स्वाभाविकता के पोषक हैं; उनके चित्र यथार्थ जीवन से लिए गए हैं तथा वे जीवन के अभ्युदयशील क्षणों के चित्रण के पक्षपाती हैं। बाह्य तथा सामयिक द्वंद्वों की अपेक्षा मंगलमय भावनाओं और जीवन के भव्य चित्रों की रचना तथा मानव हृदय के शाश्वत प्रश्नों की ओर इंगित करना उन्हें प्रिय है। मनोवेगों की अभिव्यक्ति में वे भारतीय और काव्यमय रहे हैं। वर्माजी को सर्वाधिक सफलता ऐतिहासिक आदर्शवादी एकांकी लिखने में मिली है। इस क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। शिवाजी; ध्रुवतारिका; औरंगजेब की आखिरी रात, स्वर्णश्री; समुद्रगुप्त पराक्रमांक, चारुमित्रा आदि ऐतिहासिक एकांकियों में भारतीय इतिहास, विशेषतः हिंदू युग साकार हो उठा है। तत्कालीन सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि को भी इतिहाससम्मत सत्यता और गहनता से उड़ेल सके हैं। मुख्य पात्रों के व्यक्तित्वों की रक्षा करते हुए आपने कुछ नए गौण पात्रों की रचना भी की है। प्रत्येक पात्र का दृष्टिकोण पूर्ण तर्क के साथ प्रकट हुआ है। भारतीय इतिहास जिन पात्रों के अथवा विभिन्न युगों की सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्थितियों की अभिव्यक्ति में मौन रहा है, या अपनी अभिव्यक्ति में स्पष्ट नहीं है, उन स्थितियों एवं पात्रों के स्पष्टीकरण में डा० वर्मा ने अभूतपूर्व कार्य किया है। उनके ऐतिहासिक एकांकियों के पीछे गहरा अध्ययन एवं अनुसंधान है। वे सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पात्रों के चरित्र को मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित करने में सफल हुए हैं। वर्माजी कवि भी हैं। उनका कविहृदय उनके भावात्मक आदर्शवादी एकांकियों में विशेष रूप से देखा जा सकता है। 'बादल की मृत्यु'; 'चंपक'; 'स्वागत हे ऋतुराज'; 'वर्षानृत्य', 'रम्यरास' आदि भावात्मक आदर्शवादी एकांकी हैं। मधुर काव्यकल्पना का सौंदर्य यहाँ परिलक्षित होता है।

२. उदयशंकर भट्ट : भट्टजी मुख्यतः सामाजिक नाट्यकार हैं। 'विश्वामित्र और दो भाव नाट्य'; 'आदिमयुग'; 'पर्दे के पीछे'; 'कालिदास'; 'जवानी और छह एकांकी'; सात प्रहसन; 'समस्या का अंत'; 'आज का आदमी', 'अभिनव एकांकी' आदि अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। सामाजिक एकांकियों में वर्तमान समाज तथा आधुनिक जीवन में उठनेवाली विविध समस्याओं, तथा उनसे संघर्षों, कुरीतियों, धर्माडंबरों, अनाचार, अंधविश्वास तथा आर्थिक कठिनाइयों का चित्रण है। 'धूमशिखा', 'आज का आदमी'; आदि नए संग्रहों के एकांकियों में अतिआधुनिक समाज का नाना समस्याओं का व्यंग्यात्मक चित्रण है। 'आज का आदमी' हमारे आज के शिष्ट और सफेदपोश

सभ्यता की बोलती तस्वीर है। इस प्रकार भट्टजी ने सामाजिक आचार विचार, पारिवारिक समस्याएँ, सामाजिकता का उथलापन, दुराग्रह और स्वार्थबुद्धि स्पष्ट की है। 'पर्दे के पीछे' संग्रह में आज के नवयुवक-युवतियों के संबंध, आत्मप्रवंचना, अर्थप्रधान संस्कृति के नए आदर्श एवं नए जीवनमूल्यों का उपहास है। भट्टजी के 'क्रांतिकारी' (१९५३) नामक एकांकी में राष्ट्रीय जागरण की झाँकी है। आपके प्रहसन कटु व्यंग्य न होकर निर्मल हास्य के उदाहरण हैं। भट्टजी की सबसे बड़ी देन उनके भावनाट्य हैं। 'विश्वामित्र'; मत्स्यगंधा, 'राधा', 'कालिदास', मेघदूत, विक्रमोर्वशीय आदि भावनाट्यों मे मनुष्य के अंतर्जगत् में उठनेवाले नाना घात प्रतिघातों, वासना, विवेक और नैतिकता का संघर्ष है। आपको अतर्द्वंद्वों को चित्रित करने मे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इनपर छायावाद का प्रभाव स्पष्ट है। कुछ को छोड़कर शेष का अभिनय किया जा सकता है।

३. **लक्ष्मीनारायण मिश्र** : आपके एकांकी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दीख ा है, किंतु आपकी प्रेरणा का मुख्य स्रोत अंग्रेजी साहित्य न होकर प्राचीन संस्कृत साहित्य है। ऊपरी आकार प्रकार, भाषा, संवाद, व्यंग्य इब्सन से प्रभावित हैं, पर भीतरी भावलोक भारतीय है; यह कालिदास और भास की परंपरा में है। जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों की काव्यमयी कृत्रिमता, और संघर्ष या भावुकता के विरुद्ध मिश्रजी के नाटकों में स्वाभाविकता, लोकवृत्ति का सहज अनुभव, बुद्धिवाद और पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकता का प्रयोग किया गया है। अतिरंजित और काल्पनिक साहित्य न लिखकर मिश्रजी ने जीवन के स्वर में यथार्थवादी एकांकी साहित्य का निर्माण किया है। मिश्रजी बुद्धिवादी हैं। अतः उनका नाट्यसाहित्य विवेक, तर्क और मनोविज्ञान का साहित्य है। अंधविश्वासी परंपराओं का साहित्य नहीं। आपके 'अशोक वन', 'प्रलय के पंख पर', संग्रह उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'कावेरी में कमल (संग्रह), बलहीन (१९५२) नारी का रंग; स्वर्ग में विप्लव' आदि सांस्कृतिक दृष्टि से सफल रहे हैं। मिश्रजी ने पौराणिक ऐतिहासिक, राजनैतिक और सामाजिक सभी प्रकार को बुद्धिवादी कसौटी पर परखा है। ये न केवल मनोरंजक और ज्ञानवर्धक हैं, प्रत्युत नई दृष्टि से लिखे गए हैं। यथार्थवाद, बुद्धिवाद, चिरंतन नारीत्व की समस्या, सेक्स, जीवन के मौलिक सत्यों की निर्भ्रांत स्वीकृति आदि संकुल प्रवृत्तियाँ उनके साहित्य में सजग हैं। भारत की आध्यात्मिकता का भी प्रभाव है।

४. **सेठ गोविंददास** : स्वदेश विदेश के नाट्यशास्त्रों का अध्ययन एवं रंगमंच का अनुभव प्राप्तकर शा, गाल्सवर्दी तथा ओ' नील आदि पाश्चात्य नाट्यकारों के अनुकरण पर मौलिकता से पाश्चात्य टेकनीक का प्रयोग किया था। आपने भारतीय परंपराओं को स्पष्ट करते हुए रंगमंचीय समस्या एकांकियों की सृष्टि की है। आधुनिक राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं के विविध सच्चे चित्र खींचे हैं। ऐतिहासिक

और पौराणिक नाटकों मे गोविंददासजी भारतीय संस्कृति के उपासक के रूप में प्रकट हुए हैं, तथा सामाजिक एवं राजनैतिक नाटकों में सन् १९२० से अबतक के वर्षो की बहुमुखी समस्याओं की आदर्शोन्मुखी व्याख्या कर सके हैं। आपका क्षेत्र राजनीति, भारतीय इतिहास एवं समाज है। राजनीति में सक्रिय भाग लेने के कारण उनके नाटक साहित्य में गांधीयुग की राजनीतिक समस्याओं का चित्रण है, ऐतिहासिक कथानकों में राष्ट्रीय नैतिक बल और सामाजिक नाटकों में उच्च तथा निम्न मध्यवर्ग का यथार्थवादी चित्रण है। स्वार्थी मिनिस्टर, रँगे सियार काउंसिल के मेंबर, देशभक्ति तथा जनसेवा का स्वांग भरकर अपना उल्लू सीधा करनेवाले अवसरवादी, स्वार्थी नेताओं पर सफल व्यंग्य किए हैं। सार्वजनिक जीवन मे तथा राजनैतिक आदोलनों में आपको जो जो पात्र मिले, विविध प्रकार के चरित्र, सामाजिक भ्रष्टाचार के दृश्य दीखे, उनका यथार्थवादी अंकन आपने अपने एकांकियों मे किया है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से गोविंददास अतीत से वर्तमान की ओर आते हुए दिखाई देते है। उनका क्षेत्र दूर दूर तक फैलता हुआ भारतीय समाज तथा राजनैतिक जीवन है। गांधीवाद उनका आदर्श है। उनके नाटकों मे गत २५ वर्षों में सामाजिक और राजनैतिक आंदोलनों की आलोचना मिलती है। आपने लगभग १२५ एकांकी लिखे है जिनमें ऐतिहासिक एकांकी, सामाजिक समस्याप्रधान एकांकी, सत्य घटनाओं पर आधारित एकाकी जैसे 'कंगाल नहीं'; सच्चा कांग्रेसी कौन; 'पाप का घड़ा'; मोनो ड्रामा जैसे 'शाप और वर'; 'प्रलय और सृष्टि'; अलबेला; सच्चा जीवन, षट्दर्शन; कुछ वैदेशिक कथाओं पर रचित एकाकी जैसे 'सिंग पाई लां, मुकदेन, स्तारिक और बाबुस्की; गुन बीबी; परोवाले कारखाने, हस्तखतानोफ; दा मूर्तियाँ इत्यादि संमिलित है। ये सभी नए है। अपने सामाजिक एकांकियो मे आपने आधुनिक समाज की नाना समस्याओ के चित्र प्रस्तुत किए हैं। इनमे गांधीवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। समस्यामूलक एकांकियो मे आपके 'धोखेबाज'; 'ईद और होली', 'मानव मन', तथा 'मैत्री' उत्तम हैं। कही कही सेठजी का उपदेशात्मक स्वरूप मुखर हो गया है तथा स्वाभाविकता को ठेस पहुँची है जैसे 'धोखेबाज' मे रूपचंद का कथोपकथन दो तीन पृष्ठों का है। यथार्थ का दिग्दर्शन कराना पर साथ ही आदर्श की ओर संकेत करना आपका उद्देश्य रहा है। कांग्रेस की कमजोरियों को आपने अपने कई नाटकों में उभारा है। ऐतिहासिक एकांकियों में नैतिक विचारधारा के साथ प्राचीन भारतीय गौरव, हिंदू संस्कृति, आचार विचार का प्रतिपादन है। आपके मोनो ड्रामे नूतन प्रयोग हैं जो चरित्र की आंतरिक गुत्थियों का विश्लेषण करते हैं। आपकी रंगसूचनाएँ विस्तृत, व्यापक और चित्रमय होती हैं। इनमें रंगभूमि के संबंध में लंबी योजना ही नहीं; प्रत्युत प्रत्येक एकांकी की घटना के प्रारंभ होने से पूर्व का इतिहास भी निर्देश कर दिया जाता है। उपक्रम और उपसंहार आपकी टेकनीक के नए प्रयोग हैं। स्थल-संकलन को इतना आवश्यक नहीं मानते, जितना कालसंकलन को मानते हैं।

५. उपेंद्रनाथ 'अश्क' : अश्क के एकांकियों पर पाश्चात्य टेकनीक का प्रभाव स्थानीयता के प्रति सजगता, वातावरण सृष्टि की सत्यता, अनुभूति की यथार्थता एवं सांकेतिक प्रतीकोंवाली पद्धति में प्रकट होता है। आपका क्षेत्र सामाजिक एवं पारिवारिक है, शैली यथार्थवादी एवं व्यंग्यात्मक है। इनमें मानवहृदय विशेषतः नारी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। पात्रों के छिपे हुए भावों और गुत्थियों को स्पष्ट करने में आप विशेष सफल रहे हैं। लंबे गंभीर मनोवैज्ञानिक एकांकियों से लेकर हल्के हास्यरस प्रधान सफल प्रहसनों की सृष्टि आप कर सके हैं। इनमें न केवल अपूर्व नाटकीयता होती है वरन् कहानी की सी दिलचस्पी भी है। अभिनय कला की दृष्टि से ये खरे हैं। उनमें यथार्थ सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण; ठोस और कटु अनुभूतियाँ, मानसिक भावों का सूक्ष्म विश्लेषण तथा अंतर्द्वंद्वों का चित्रण है। रूढ़िवादिता तथा प्राचीन जीर्णशीर्ण परंपराओं से हताश मध्यवर्ग के क्रंदन, प्रेम, घृणा, विषाद, संयोग वियोग के अनेक पहलू अंकित किए हैं। आपके एकांकी गिरती हुई सामाजिक सामंतशाही के भग्नावशेष हैं। अनुभूति की सचाई और अभिव्यक्ति में यथार्थता—ये आपकी दो बड़ी विशेषताएँ हैं। सामाजिक यथार्थ के साथ उनके एकांकी रंगमंच के लिये नितांत उपयुक्त है। 'अश्क' ने रंगमंच की आवश्यकता का अनुभव करते हुए रंगमंचीय एकांकियों की सृष्टि की है। स्टेज और रेडियो पर इनका सफल अभिनय भी हुआ है। इनमें शिल्प का परिमार्जित स्वरूप मिलता है। व्यंग्य और हास्य के सफल प्रयोग से यथार्थवाद निखर उठा है। 'देवताओं की छाया में' संग्रह में जीवन के संघर्षों और द्वंद्वों का चित्रण है; शोषित मजदूर वर्ग की विपत्तियों, कलुषित वर्गभेद, निम्नवर्ग की गरीबी, घुटन और वर्गवैषम्य का चित्रण है। आपका 'चरवाहे' (१९४३) संग्रह प्रतीक एकांकियों का नवीन प्रयोग है जिसमें सूक्ष्म को अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयत्न है। शीर्षक भी सांकेतिक हैं। प्रतीकों का प्रयोग भावात्मक ग्रंथियों के उद्घाटन के लिये ही अधिकांशतः हुआ है। संकेत और सांकेतिक वस्तु के आपसी स्थूल सादृश्य को न अपनाकर भावनाओं के आरोपण द्वारा सूक्ष्म मनोभावों को जड़ की सहायता या जंगम के सहयोग से उद्घाटित करके पैनापन लाने और प्रभाव को घनीभूत करने की चेष्टा इन एकांकियों में है। अश्क के एकांकी संपूर्ण परिपक्व और अभिनयकला के गुणों में संपन्न हैं। यथातथ्यवादी और प्रतीक शैली दोनों ही में सफलता मिली है।

६. श्रीभुवनेश्वर प्रसाद : इनके भावों तथा विचारों दोनों पर ही बर्नार्डशा, का स्पष्ट प्रभाव है। इनके एकांकी साहित्य पर सीधा पाश्चात्य प्रभाव अत्यंत उभरे रूप में मुखरित हुआ है। 'शैतान' एकांकी के अंत में जो स्टेज सूचना है, वह प्रभाव को बड़े उग्र रूप में प्रस्तुत करती है। इनपर पाश्चात्य प्रभाव इतना अधिक है कि वे यह भूल जाते हैं कि वे भारतवर्ष के लिये लिख रहे हैं। भुवनेश्वर ने पाश्चात्य प्रभाव को बिना पचाए ही प्रकट किया; फिर भी आपका 'कारवाँ' संग्रह हिंदी एकांकी

में नई शक्ति का चिह्न था। भुवनेश्वर के सामाजिक व्यंग्य, सेक्स संबंधी फ्रायड से प्रभावित विचारधारा, शा और इब्सन की समस्यामूलक प्रवृत्तियाँ और योरपीय वस्तुवाद ने हिंदी एकांकी को परिपक्व बनने में सहायता दी थी। भुवनेश्वर की प्रारंभिक कृतियों जैसे 'श्यामा (१९३३), पतिता (१९३४), एक साम्यहीन साम्यवादी (१९३४), प्रतिभा का विवाह (१९३३), रहस्य रोमांचः लाटरी (१९३५), मृत्यु (१९३६) इत्यादि पर शा का प्रभाव मुखरित है, पर बाद की कृतियों में मौलिकता है। इस वर्ग में आपके 'आदमखोर' (१९३७), इंसपेक्टर जनरल (१९४०), रोशनी और आग (१९४१), कठपुतलियाँ (१९४२), ताँबे के कीड़े (१९४६) इत्यादि रखे जा सकते हैं। आपके एकांकियों की अधिकांश समस्याएँ विदेशी सामाजिक जीवन से प्रभावित हैं।

७. **श्रीजगदीशचंद्र माथुर** : रंगमंचीय एकांकियों के निर्माता हैं। सामाजिक यथार्थ आपका क्षेत्र है। आधुनिक सभ्य जगत् की नाना सामाजिक समस्याओं पर व्यंग्य करते हैं। इनके नाटक केवल समस्या नाटक ही बनकर नहीं रह जाते, पात्रों में कोई उनका माउथ पीस नहीं बनता, उसका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व और चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट की जाती हैं। भोर का तारा (१९३७) और 'ओ मेरे सपने (१९५३) संग्रह प्रकाशित हुए हैं। अंतिम संग्रह में पाँच प्रहसन हैं। 'शारदी' (१९५५) एक नया प्रयोग है। भावों की तीव्रता, सभ्य कहलानेवाले समाज पर व्यंग्य, अभिनयशीलता और यथार्थवाद आपकी कुछ विशेषताएँ हैं।

८. **श्रीगणेशप्रसाद द्विवेदी** : पाश्चात्य शैली के मनोविश्लेषण प्रधान एकांकियों का सूत्रपात करने का श्रेय द्विवेदीजी को है। भारतीय जीवन की निर्बलताएँ चित्रित हैं। हिंदू समाज की जीर्णशीर्ण परंपराओं के प्रति व्यंग्य किए गए हैं। आपका क्षेत्र सामाजिक व्यंग्य है। सेक्स के संबंध में आप पाश्चात्य मनोविज्ञान से प्रभावित हैं। कुछ एकांकियों को छोड़कर आपके अधिकांश एकांकी जैसे 'सोहाग बिंदी'; 'वह फिर आई थी'; परदे का अपर पार्श्व'; 'शर्माजी' सामाजिक होने के साथ निगूढ सेक्स समस्या पर आधारित हैं।

९. **श्रीगिरजाकुमार माथुर** : आपके एकांकियों को पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) वे प्राचीन सांस्कृतिक एकांकी जिनमें कालिदास की रसमयी आत्मा का सही चित्रांकन किया गया है : जैसे, कुमारसंभव, शकुंतला, मेघ की छाया, ऋतुसंहार, इंदुमती, शांति की पुकार, राम की अग्निपरीक्षा इत्यादि। (२) सामाजिक मनोवैज्ञानिक : जैसे, 'जनमकैद', पिकनिक, मशीनोत्सव, व्यक्तिमुक्त धरामुक्त, अमर हे आलोक। (३) ऐतिहासिक : जैसे, 'विक्रमादित्य', विषपान, वासवदत्ता, क्रांतिपथ इत्यादि। इनका मूलस्वर आदर्शवाद है। (४) प्रतीकात्मक एकांकी आपकी निजी विशेषता है। आपने गीतिनाटकों में भी प्रतीकों का विलक्षण प्रयोग किया है। 'रस की जीत' [illegible] के आधार पर रचित फैंटसी में मानवीकरण के

बीच मनोराज का संघर्ष और अंत में इन्सानी प्रेम की विजय दिखाई गई है। (५) रेडियो गीतिनाट्य : जैसे 'मेघ की छाया', 'ऋतु संहार', 'दीपशिखा', 'शांतिविश्वदेवा' मूलतः रोमानी दृष्टिकोण से प्रारंभ करके सामाजिक यथार्थ तक पहुँचे हैं। दो प्रकार के एकांकियों के निर्माण में आप विशेष सिद्धहस्त रहे हैं—जहाँ संघर्ष में भी विश्वास की भावना हो, तथा दुःखांत यदि उनका आधार सामाजिक कर्तव्यों के प्रति आत्म-बलिदान है।

१०. **श्रीशंभूदयाल सकसेना** : आपने पौराणिक राष्ट्रीय और सामाजिक तीनों वर्गों में अनेक एकांकी लिखे हैं। (१) पौराणिक नैतिक : जैसे 'पंचवटी', 'चंद्रग्रहण', 'चीवरधारिणी', 'आर्य मार्ग' इत्यादि। (२) सामाजिक : जैसे 'विजया और वारुणी' संग्रह। (३) राष्ट्रीय : जैसे 'अंगारों की मौत', 'नेहरू के बाद' इत्यादि। सात एकांकी गौतम बुद्ध के जीवन और सिद्धांतों पर लिखे हैं। 'सगाई' नामक सामाजिक एकांकी में वैवाहिक कुरीतियों को उभारा है। सरकार की विकास योजना से भी संबंधित अनेक एकांकी लिखे हैं, जैसे 'नया हल'; 'नया खेत'; 'नया गाँव'; 'नया बैल' इत्यादि। आदर्शवाद की ओर प्रवृत्ति है। कुछ एकांकियों में मार्मिक गीतों का भी प्रयोग हुआ है। विजया और वारुणी संग्रह के सामाजिक एकांकियों में सम्य कहलानेवाले पात्रों का झूठा चेहरा हटाकर अंदर का विकृत स्वरूप प्रकट किया गया है।

११. **श्रीहरिकृष्ण प्रेमी** : नैतिक आदर्शवादी प्रवृत्ति है। समाज के नव-निर्माण में गांधीवाद से प्रभावित नए आदर्श लेकर वे सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नति के इच्छुक हैं। 'बादलों के पार' संग्रह के एकांकियों में राष्ट्रीयता, नैतिकता और आदर्शवादिता मुखरित है।

१२. **श्रीवृंदावनलाल वर्मा** : आपके एकांकी दो श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं। (१) सामाजिक यथार्थवादी, (२) राजनैतिक गुत्थियों पर प्रकाश डालनेवाले। प्रथम वर्ग में आपके 'पीले हाथ', 'लो भाई पंचों लो', 'बाँस की फाँस', 'सगुन' इत्यादि तथा दूसरे वर्ग में 'शासन का डंडा' और 'काश्मीर का काँटा' रखे जा सकते हैं। आपने आर्थर बेला कृत प्रहसन, 'ब्योजन' का अनुवाद' 'नरक में चिड़ीमार' (१९४६) नाम से प्रस्तुत किया है। वर्माजी समाजसुधारप्रिय आदर्शवादी एकांकीकार हैं। उनके साहित्य में नैतिक चेतना की परिपुष्टि है।

१३. **डा० सत्येंद्र** : 'कुणाल' (१९३७), स्वतंत्रता का अर्थ (१९३९), प्रायश्चित्त, बलिदान (१९४०), बसंत (१९४०), मानव उद्धार (१९४३) इत्यादि एकांकी नाटक स्वस्थ समाज की स्थापना करनेवाले भावों से परिपूर्ण हैं। राष्ट्रीय चेतना से संबद्ध एकांकियों में प्राचीन इतिवृत्त लेकर आदर्शोन्मुख संस्कृति की प्रतिष्ठा की है। जैसे 'प्रायश्चित्त' तथा 'स्वतंत्रता का अर्थ' इत्यादि में भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा है। सामाजिक नैतिक एकांकियों में मध्यवर्गीय कुप्रथाओं का चित्रण है। 'मानव-

उद्धार' में विश्व के समस्त मिथ्याचार के विरुद्ध स्वस्थ मानववादी विचारधारा श्रोर संकेत है।

१४. **श्रीगोविंदवल्लभ पंत** के एकांकियों में दो वर्ग हैं। (१) ऐतिहासिक पौराणिक जैसे 'एकाग्रता की परीक्षा', 'भस्मरेखा', 'दो वर एक शाप', 'श्रवंती की कुबड़ो' इत्यादि। (२) सामाजिक व्यंग्यात्मक धारा के श्रंतर्गत 'श्रपराध मेरा है', 'काला जादू', खूनी लोटा, पर्दा तोड़क क्लब, 'विष का दाँत' श्रादि। पंतजी की कला हास्य व्यंग्यमय परिस्थिति सृजन में विशेष प्रकट हुई है। जीवन की वास्तविकता का विवेचन है।

१५. **श्रीभगवतीचरण वर्मा** के एकांकियों की दो धाराएँ हैं। (१) गंभीर सामाजिक एकांकी : जैसे 'मैं श्रौर केवल मैं'; 'बुझता दीपक'; 'चौपाल में' श्रादि, इनमें सामाजिक रूढ़ियों पर व्यंग्य है। (२) हास्य व्यंग्यमय एकाकी : जैसे 'सबसे बड़ा श्रादमी' (१९३६), 'दो कलाकार' (१९४०)। कुछ पद्य एकांकी भी लिखे हैं जैसे 'त्रिपथगा', 'तारा' इत्यादि। *श्राप का क्षेत्र सामाजिक यथार्थ है।*

१६. **श्रीचतुरसेन शास्त्री** के एकांकियों का मूलतत्व रसोदय है। दो प्रकार की रचनाएँ हैं। (१) वीरभाव से स्निग्ध : जैसे 'स्त्रियों का श्रोज' संग्रह में तथा (२) धार्मिक नैतिक : जैसे 'राधाकृष्ण', हरिश्चंद्र शैव्या, श्री भरत, श्रौर 'सीताराम' इत्यादि में। ये सुपाठ्य हैं, श्रभिनय के लिये नहीं। कथानकों के निर्माण में प्राचीन इतिहास या प्राचीन परंपराश्रों से सहायता ली गई है।

१७. **श्रीपृथ्वीनाथ शर्मा** ने शिक्षित मध्यवर्ग की समस्याश्रों को श्रपने सामाजिक एकांकियों का श्राधार बनाया है। सामाजिक श्रौर पारिवारिक समस्याश्रों को मुख्यतः चित्रित किया है। सेक्स के इर्दगिर्द समस्याश्रों के चित्रण में विशेष दिलचस्पी है। विवाह की श्रड़चनें, विचार वैषम्य, स्त्री के अहं का विश्लेषण, स्वतंत्र जीवन की रंगीनी एवं नक्काशी, विदेशी संस्कृति का दुष्प्रभाव इनके साहित्य पर स्पष्ट हुश्रा है। 'दृष्टि का दोष' नाम से श्रापका संग्रह छपा है। इसमें सामाजिक यथार्थ का चित्रण है।

१८. प्रो० **सद्गुरुशरण श्रवस्थी** कृत 'नाटक श्रौर नायक' नाम से एकांकी संग्रहों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनका मूल स्वर श्रादर्शवाद है। दार्शनिक विवेचना से परिपूर्ण हैं। सर्वत्र गंभीरता श्रौर चिंतन की प्रधानता है।

१९. **श्रीचंद्रगुप्त विद्यालंकार** ने सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण करते हुए श्राधुनिक मान्यताश्रों पर प्रहार किए हैं। सामाजिक एकांकियों में व्यंग्य के प्रयोग द्वारा व्यावहारिक श्रादर्शवादिता की श्रोर प्रवृत्ति है।

२०. **श्रीसज्जाद जहीर** कृत 'बीमार' (१९३६) एकांकी में प्रगतिशील विचारधारा का प्रतिपादन है।

निष्कर्ष यह है कि इन एकांकीकारों ने हिंदी के क्षेत्र में नए नए प्रयोग किए थे। उनमें से अनेक ने पाश्चात्य शैलियों पर विशेषतः अंग्रेजी के अनुकरण पर नवीन एकांकी प्रस्तुत किए थे। कुछ एकांकीकार प्राचीन पद्धति पर भी लिखते रहे। साधारणतः ऊपरी आकारप्रकार, संवाद, दृश्यविभाजन, रंगसंकेत और भाषा आदि पर थोड़ा प्रभाव इब्सन तथा उसके बाद के अंग्रेजी नाटयकारों का पड़ा, पर भीतरी भावलोक और विचारधारा भारतीय परंपरा में है। द्विजेंद्र तथा प्रसाद की भावमयी अतिरंजित कृत्रिमता और कल्पनाप्रधान शैली का अंत हो गया। उनके स्थान पर नित्यप्रति की मध्यवर्गीय समस्याएँ, दैनिक जीवन में प्रयुक्त भाषासंवाद, सामाजिक जीवन का कार्यव्यापार और मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाता रहा।

द्वितीय महायुद्ध एवं परवर्ती हिंदी एकांकी का विकास

इस युद्ध की काली छाया (१९३९) में पड़नी प्रारंभ हुई थी। इस युद्ध का कारण फासिस्टवाद तथा स्वार्थी साम्राज्यवादी भावनाएँ थीं। इस युद्ध से कोई देश अछूता न बच सका। इंगलैंड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ने पर भारत की प्रांतीय सरकारों का मत लिए बिना ही भारत को भी लड़नेवाला घोषित किया। कांग्रेस सरकार को यह बहुत अप्रिय लगा। फलतः (१९४२) में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया। सरकार ने जनता पर जुल्म किए। युद्ध की विभीषिका की छाया में जनजीवन आतंकित हो उठा। इन वर्षों के एकांकी साहित्य में हम ये प्रवृत्तियाँ पाते हैं : १. राष्ट्रीय राजनैतिक चेतना, २. गांधीवाद तथा व्यक्तिगत रूप से गांधीजी के जीवन तथा मृत्यु से संबंधित एकांकी, ३. प्रगतिशील दृष्टिकोण से लिखे गए एकांकी, ४. सामाजिक पुनरुत्थान, ५. पार्टी साहित्य : समाजवादी, कम्युनिस्ट, कांग्रेस, हिंदू महासभा आदि का प्रचार साहित्य। गीतिनाट्यों के क्षेत्र में उन्नति हुई। श्रीसुमित्रानंदन पंत के नृत्यनाट्य तथा चिरंजीत, गिरिजाकुमार माथुर, प्रेमनारायण टंडन, सिद्धनाथ कुमार, उदयशंकरभट्ट, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' आदि ने गीतिनाट्य और संगीत रूपकों के क्षेत्र में नए प्रयोग किए।

नवीन एकांकी की धाराएँ : आधुनिक युग में एकांकी अनेक धाराओं में प्रवाहित हो रहा है। प्रथम धारा सामाजिक राजनीतिक है। यह युग राजनीति-प्रधान होने के कारण एकांकियों में राजनीतिक घटनाओं, आंदोलनों, विविध राजनीतिक दलों के प्रतिनिधित्व करनेवाले विचार तथा दृष्टिकोणों का विस्तृत विवेचन हुआ है। जनता के जीवन में सामाजिक संघर्ष, भूख, अकाल तथा पूँजीवाद के विरुद्ध एकांकी लिखे गए। हिंदी एकांकी में प्रगतिवाद का आंदोलन तीव्रता से चला। यशपाल, कृशनचंदर और राजीव सकसेना ने प्रगतिवादी एकांकी लिखे। 'हंस' मासिक में अनेक ऐसे एकांकी प्रकाशित हुए जिनमें शोषक और पूँजीवादी तत्वों के विरुद्ध आवाज उठाई गई। इन एकांकियों में उत्कृष्ट कला का परिमार्जन एवं परिष्कार तो नहीं है, पर विषय की दृष्टि से तत्कालिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हैं। सामाजिक

और राजनैतिक विषयों पर सर्वाधिक एकांकी प्रकाशित हुए हैं। इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले एकांकीकारों में सर्वश्री गोविंदलाल माथुर, अनंतकुमार पाषाण, अर्जुन चौबे काश्यप, गोविंद शर्मा, विनोद रस्तोगी, लक्ष्मीनारायण लाल, गिरिजाकुमार माथुर, कर्तारसिंह दुग्गल, विमला लूथरा, श्रीकृष्ण, भारतभूषण अग्रवाल, विष्णु प्रभाकर, डा० भगवतशरण उपाध्याय, जयनाथ नलिन, सत्येंद्र शरत् उल्लेखनीय हैं। इन नाटककारों ने युग की सामाजिक और राजनैतिक चेतना स्पष्ट की है।

गांधीवाद को लेकर विशेष कार्य हुआ है। इस वर्ग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. महात्मा गांधीजी के जीवन से संबंधित एकांकी : जैसे शिवकुमार ओझा, प्रेमराज शर्मा, देवदत्त अटल, हरिशंकर शर्मा, जानकीशरण वर्मा, गणेशदत्त गौड़ आदि के एकांकी। २. गांधीजी की विचारधारा, नीति, योजनाएँ और गांधीवाद की योजनाओं से संबंधित एकांकी : इस वर्ग में विष्णु प्रभाकर, डा० सुधींद्र, हरिकृष्ण प्रेमी, विराज; रामचंद तिवारी और शंभूदयाल सकसेना के एकांकी मुख्य हैं।

राजनीति की प्रधानता होने के कारण ऐतिहासिक विषयों की ओर से हमारे एकांकीकारों का ध्यान कुछ हटा सा रहा। अत. इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम रचनाएँ हो लिखी गई हैं। ऐतिहासिक क्षेत्र में कुछ पुराने एकांकीकार कार्य कर रहे हैं जैसे डा० रामकुमार वर्मा, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, गणेशदत्त गौड़, रामवृक्ष बेनीपुरी, आदि।

मानवतावाद युग की एक प्रवृत्ति है। यह गांधीवाद का ही एक अंग है। गांधीजी ने राजनीति को मनुष्य की उन्नति से मिलाकर प्रोत्साहित किया था। उनकी राजनीति नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के साथ घुलमिल गई है। श्रीविष्णु-प्रभाकर, रामचंद्र तिवारी, राबी, प्रेमनारायण टंडन, गणेशदत्त इंद्र, हीरादेवी चतुर्वेदी, रामचरण महेंद्र ने इस वर्ग के एकांकी लिखे हैं।

धार्मिक पौराणिक धारा क्षीण हो गई है। भौतिकवादी युग होने से जनता सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं के प्रति अधिक झुकी हुई है। डा० कृष्णदत्त भारद्वाज, शंभूदयाल सकसेना आदि ने कुछ धार्मिक एकांकी लिखे हैं।

आधुनिक हिंदी एकांकी का मूल स्वर यथातथ्यवाद है। एकांकीकार सामाजिक क्रांति, युग संघर्ष, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, श्रमजीवी वर्ग की अंतर बाह्य मनःस्थितियों का यथार्थवादी चित्रण करने में ही कला की सार्थकता समझते हैं। आदर्शवाद और समाजसुधार की भावनाएँ छोड़कर आधुनिक एकांकीकार जीवन की जटिलताओं और अंतर्वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में दिलचस्पी ले रहे हैं। कई एकांकीकारों का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक है। जहाँ एक ओर वे मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित हैं, वहाँ दूसरी ओर वे फ्रायड के मनोविश्लेषण

के सिद्धांतों से परिचालित हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लिखनेवालों में प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, रामकुमार वर्मा इत्यादि ने पात्रों के गहन गह्वरों का विश्लेषण किया है। डा० प्रभाकर माचवे कृत 'गली के मोड़ पर' (संग्रह) तथा प्रो० अर्जुन चौबे काश्यपकृत 'कविप्रिया', 'नया युग', 'परमाणुबम' इत्यादि एकांकी संग्रह विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। विष्णु प्रभाकरकृत 'अवचेतना का छल' मनोवैज्ञानिक एकांकी है। इस वर्ग के एकांकी पात्रों की किसी मानसिक ग्रंथि को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्ति के आंतरिक जगत् के सूक्ष्म विश्लेषण, मानसिक प्रवृत्तियों, मनोवेगों और उत्तेजनाओं की आधारभूत व्याख्या करते हैं।

देश के विभाजन और गत वर्षों की उथल पुथल के कारण आधुनिक एकांकियों के कथानकों में पर्याप्त विविधता और वैचित्र्य आ गया है। कम्यूनिज्म, स्वदेशप्रेम, मानवगौरव, व्यक्तिवाद, युद्धकालीन चतुर्दिक् संघर्ष तथा युद्धोत्तर कठिनाइयाँ, बंगाल का अकाल, जनविद्रोह, आजादहिंद फौज, काश्मीर की समस्या, मँहगाई, अकाल, देश के विभाजन से उत्पन्न शरणार्थी समस्याएँ, अपहृत महिलाएँ आदि अनेकानेक समस्याएँ आधुनिक एकांकियों में अभिव्यंजित हुई हैं।

रेडियो एकांकी इस युग का नया रूप है, जिसका द्रुतगति से विकास हो रहा है। रेडियो एकांकी प्रधानतः तीन धाराओं में प्रवाहित हो रहा है—१. यथार्थोन्मुख आदर्शवादी धारा : जिसके अंतर्गत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर नए सामाजिक आदर्शों, वर्तमान सामाजिक विषमताओं से मुक्ति और टूटते सामंती आदर्शों के विपरीत नई ग्रामीण अर्थव्यवस्था का चित्रण है। राष्ट्रीय नवनिर्माण की अनेक योजनाएँ नए रेडियो एकांकियों में मुखरित हुई हैं। इनका दृष्टिकोण सरकारी विकास योजनाओं का प्रचार भी है। २. सामाजिक यथार्थवादी धारा : इसमें समाज और व्यक्ति की आधुनिक सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। जैसे मंहगाई, मिलावट, कालाबाजार, मकान समस्या, दहेज, उन्मुक्त रोमांटिक प्रेम, आवारागर्दी, कन्याओं की विवाह समस्या, श्रमिकों और किसानों, ग्रामविकास आदि की समस्याओं का चित्रण है। ३. मनोविश्लेषणात्मक नग्नवाद : जो फ्रायड के सिद्धांतों से प्रभावित है। रेडियो एकांकीकारों में रेवतीसरन शर्मा, उदयशंकर भट्ट, प्रभाकर माचवे, अश्क, चिरंजीत, विष्णु प्रभाकर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, गोपाल शर्मा, कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, रामपूजन मलिक, आदि उल्लेखनीय हैं।

टेक्नीक के क्षेत्र में रेडियो और रंगमंचीय दोनों प्रकार के एकांकियों ने उन्नति की है। रेडियो ने हमें रूपक नामक एक नई शैली प्रदान की है। आधुनिक एकांकियों में पूर्वकथा नहीं दी जाती, वरन् ज्यों की त्यों पाठकों एवं दर्शकों के सामने पात्रों के संभाषणों द्वारा सब स्थिति का ज्ञान करा दिया जाता है। कुछ नाटककार जिनमें प्रभाकर माचवे तथा सत्येंद्र शरत् प्रमुख हैं, पात्रों का परिचय भी

नाट्यकार द्वारा नहीं देना चाहते। उनके एकांकियों में पात्र स्वयं अपनी बातचीत द्वारा अपना परिचय पाठकों एवं दर्शकों को देते हैं। इस दृष्टि से एकांकी जीवन का यथार्थवादी अंग बनते जा रहे हैं। पाश्चात्य टेकनीक के प्रभाव में खुले रंगमंच के प्रयोग चल रहे हैं। कुछ एकांकीकारों ने जिनमें श्रीवीरेंद्रनारायण प्रमुख हैं, हिंदी रंगमंच के लिये ऐसे एकांकी लिखे हैं जो बिना किसी झंझट के खुले रंगमंच पर अभिनीत हो सकते हैं। रंगमंचीय सूचनाओं की दृष्टि से पाश्चात्य अनुकरण यहाँ तक हुआ है कि न केवल रंगमंचनिर्देश वातावरण उपस्थित करने के लिये काम में लाया जाता है, प्रत्युत पूर्ण दृश्य में पात्रों की गतिविधि से रंगमंच की वस्तुओं का भी संबंध दिखाता है। कुछ निर्देश प्रभावव्यंजना के लिये भी प्रयुक्त किए जा रहे हैं। अभिनय की ओर प्रवृत्ति कम है। संगीत का प्रयोग नहीं है। भाषा, संवाद और पात्रपरिचय में सर्वत्र स्वाभाविकता, कलात्मक अभिव्यक्ति, नाटकीयता और प्रौढ़ता आ रही है।

●

चतुर्थ अध्याय

ध्वनि नाटक

अत्याधुनिक हिंदी नाटक की शक्तिशाली शाखा के रूप में रेडियो नाटक ने जिसे ध्वनिनाटक भी कहा जाता है, पर्याप्त विकास किया है। प्रत्येक रेडियो स्टेशन से प्रति सप्ताह कम से कम चार [इस प्रकार प्रति मास कम से कम सोलह] नाटक अवश्य ही प्रसारित किए जाते हैं। संख्या की दृष्टि से आज हिंदी में जितने नाटक रेडियो के लिये लिखे जा रहे हैं, उतने किसी अन्य माध्यम के लिये नहीं। हिंदी रेडियो नाट्य साहित्य के विकास की रूपरेखा समझने के लिये रेडियो नाटक का सामान्य सैद्धांतिक परिचय अपेक्षित है।

रंगमंच नाटक : रेडियो नाटक

रेडियो नाटक हमारे साहित्य के नवीनतम स्वरूप विधानों में से एक है। प्राचीन आचार्यों ने जिस स्वरूप विधान को दृश्य कहा था, उसे विज्ञान के एक आविष्कारक ने मात्र श्रव्य भी बना दिया है। जो कलाकृति पहले रंगमंच पर दर्शकों की आँखों के सामने अभिनीत की जाती थी, वह कोसों दूर स्थित स्टूडियो में अभिनीत होकर श्रोताओं के कानों तक पहुँच जाती है। पहले सामाजिक नाटक के पास आते थे, आज नाटक स्वयं उनके पास पहुँच जाता है। आज दर्शक मात्र श्रोता भी हो गया है और रेडियो-संपन्न प्रत्येक घर नाटक का प्रेक्षागृह। साधनों एवं माध्यम के इस परिवर्तन के साथ साथ नाटक का कलाविधान भी पूर्णतः परिवर्तित हो गया है। रेडियो नाटक रंगमंच नाटक से अनेक बातों में भिन्न हो गया है। रंगमंचीय नाटक दृश्य भी है, श्रव्य भी। वह आंगिक अभिनय की भी कला है, वाणी की भी। उसमें वातावरण एवं परिस्थितियों को सूचित करनेवाले दृश्यसाधन उपलब्ध हैं, पात्रों के व्यक्तित्व के सूचक परिधान, अलंकरण, भावभंगिमा आदि उपलब्ध हैं, पर रेडियो नाटक इनसे पूर्णतः वंचित है। रंगमंच पर एक साथ ही अनेक पात्रों की उपस्थिति होने पर पात्रों और क्रियाकलापों आदि का परिचय दर्शकों के लिये कोई समस्या नहीं बनता, पर रेडियो नाटक में क्षण क्षण इन बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता होती है जिससे वह श्रोताओं को सहज बोधगम्य हो सके। लेकिन, जहाँ रेडियो नाटक पर इतने बंधन हैं, वहीं इसमें रंगमंचीय नाटकों की तुलना में कुछ सुविधाएँ भी हैं। इसमें संकलनत्रय का कोई बंधन नहीं है। रेडियो नाटक की घटनाएँ बड़ी सरलता से उत्तरी ध्रुव तथा गौतम बुद्ध के काल से गांधीयुग तक की यात्रा कर सकती हैं— केवल एक बात को ध्यान में रखकर कि प्रभाव की अन्विति बनी रहे जिससे नाटक

अपने समग्र रूप में श्रोताओं को प्रभावित कर सके। साथ ही रेडियो नाटक मनोवैज्ञानिक चित्रण की अनेक सुविधाएँ प्रदानकर नाटककार के लिये पात्रों के मन की गहराई में भी उतर सकना सरल बना देता है। अतः रंगमंच की सीमाओं के कारण जहाँ रंगमंचीय नाटक केंद्रमुखी होकर सघनता की ओर ही जाने का प्रयास करता है, वहाँ रेडियो नाटक विस्तार में भी जा सकता है, गहराई में भी। इसमें एक ही साथ सामाजिक जीवन का विविधरूपी यथार्थ भी अंकित हो सकता है, अंतर को उद्वेलित करनेवाला द्वंद्व भी। गतिशील दृश्यों का भी संयोजन रंगमंच की परिधि के बाहर है, पर रेडियो नाटक के लिये यह बहुत सुकर है। रंगमंच पर सब प्रकार के दृश्य भी नहीं उपस्थित किए जा सकते, पर रेडियो नाटक में समुद्र की उत्ताल तरंगों पर डूबती उतराती नौका भी चित्रित की जा सकती है, कारखानों में काम करते हुए मजदूर भी दिखाये जा सकते हैं। रंगमंच पर अस्वाभाविक लगनेवाले प्रतीकात्मक पात्र भी स्वाभाविक सजीव प्राणी बन जाते हैं। भाव और विचार भी मानव शरीर धारण कर लेते हैं। पंतजी की 'ज्योत्स्ना' के पात्र रेडियो पर जितने स्वाभाविक लगेंगे, उतने रंगमंच पर नहीं। रंगमंच का अस्वाभाविक स्वगतकथन भी माइक्रोफोन के स्पर्श से पूर्णतः स्वाभाविक हो जाता है। तात्पर्य यह कि जहाँ दृश्य साधनों के कारण रेडियो नाटक की अनेक सीमाएँ हैं, वहीं अपनी मात्र श्रव्यता के कारण इसे अनेक प्रकार की सुविधाएँ भी प्राप्त हैं।

रेडियो नाटक के उपकरण

रेडियो नाटक पूर्णतः श्रव्य है। ध्वनि ही इसका आधार है। ध्वनि भावाभिव्यक्ति का बड़ा प्रभावशाली साधन है। एक ही शब्द को भिन्न भिन्न प्रकार से उच्चरित करके प्रेम, घृणा, क्रोध आदि विभिन्न भावनाओं की अभिव्यक्ति की जा सकती है। रेडियो नाटक में ध्वनि का उपयोग जिन तीन रूपों में होता है, वे हैं—भाषा, ध्वनि-प्रभाव और संगीत। भाषा मुख्यतः संलाप के रूप में व्यवहृत होती है, पर कभी कभी इसका व्यवहार 'नैरेशन' के रूप में भी होता है। भाषा का श्रव्य रूप ही रेडियो नाटक का आधार है, और उसी के निकट रहने पर रेडियो नाटक की सफलता निर्भर है। रंगमंचीय नाटकों का आधार भी संवाद ही है, पर उसमें भावभंगिमा आदि से भावाभिव्यक्ति में सहायता मिलती है, जिससे अपेक्षाकृत दुर्बल संवादों से भी काम चल जा सकता है, पर रेडियो नाटक में समूचा जोर संलाप पर ही रहता है। ध्वनि-प्रभाव का तात्पर्य है रेल, तूफान, टेलीफोन, आदि की ध्वनियाँ जिनका व्यवहार नाटक प्रसारित करते समय किया जाता है। संगीत का व्यवहार मुख्यतः वाद्य संगीत के ही रूप में होता है। ध्वनिप्रभाव और वाद्य संगीत की आवश्यकता पात्रों के कार्य-व्यापार के लिये पृष्ठभूमि एवं वातावरणनिर्माण, भावाभिव्यंजन, दृश्यांतर, देशकाल-परिचय आदि के लिये होती है। इनके द्वारा नाटक किस प्रकार सजीव और

प्रभावोत्पादक हो सकता है, यह तो किसी सफल रेडियो नाटक को प्रसारित होते सुन कर ही समझा जा सकता है, पर रेडियो नाटककार के मन में नाट्यरचना के समय नाटक के प्रसारित रूप की कल्पना हमेशा बनी रहती है। रेडियो नाटक में कभी कभी भावाभिव्यंजन, दृश्यांतर आदि के लिये शांति की स्थिति का भी उपयोग किया जाता है।

रेडियो नाटक का स्थापत्य

रेडियो नाटक भी नाटक है—केवल नाट्यप्रदर्शन के माध्यम का अंतर हो गया है। फलतः किसी सफल नाट्यकृति के लिये अपेक्षित विशेषताओं का इसमें भी होना आवश्यक है। जैसा कि मार्जोरी बोल्टन ने कहा है, एकाग्रता, कथानक, चरित्र-चित्रण आदि से संबंधित सभी नाट्यनियम रेडियो नाटक पर भी समान रूप से लागू है। फिर भी रेडियो नाटक के स्थापत्य के संबंध में कुछ बातें विशेष रूप से ध्यातव्य हैं। रेडियो नाटक की अवधि सीमित रहती है, और पात्र अदृश्य रहते हैं। इसे अन्यान्य मनोरंजक कार्यक्रमों की प्रतियोगिता में उतरना पड़ता है। जितनी प्रतियोगिता रेडियो सेट म दिखायी पड़ती है, उतनी अन्यत्र नही। सुई की नोक भर की दूरी पर अन्य मनोरंजक कार्यक्रम होते रहते हैं, और रेडियो नाटक को उनकी प्रतियोगिता में अपनी क्षमता का परिचय देना पड़ता है। फलस्वरूप रेडियो नाटक के स्थापत्य मे यह विशेषता अपेक्षित है कि वह प्रारंभ होते ही श्रोताओं को आकृष्ट कर ले, और उनकी जिज्ञासा को अंत तक जगाए रख सके। नाटक श्रोताओं पर अपेक्षित प्रभाव डाल सके, इसके लिये आवश्यक है कि उसका घटनाक्रम सुसंबद्ध हो, उसमें कही ढीलापन न रहे, घटनाएँ इधर उधर न बिखरें, सीधी गति से चलें। रेडियो नाटक में अप्रासंगिक और अवांतर कथाओं के लिये अवकाश नही होता। रेडियो नाटक की कला गतिशीलता को कला है, गति ही इसका प्राण है। रंगमंच नाटकों में कहीं कही स्थिर और गतिहीन दृश्यों से भी काम चल जा सकता है—पात्र मेज की चारों तरफ बैठ कर किसी विषय पर दस मिनट तक बहस कर सकते हैं, पर रेडियो नाटक मे ऐसे प्रसंगों से शिथिलता ही आएगी। समरसेट माम ने नाट्यलेखन के दो सिद्धांत-सूत्र दिए थे—'अपनी मुख्य वस्तु से लगे रहिए, और जहाँ भी काट सकें, काट दीजिए।' माम की यह उक्ति रेडियो नाटक पर विशेष रूप से लागू है। नाटक में घटनाओं की गति सामान्यतः आगे की ओर होती है, पर रेडियो नाटक में आवश्यकता-नुसार पीछे मुड़कर भी देखा जा सकता है। इसके लिये स्मृतिदृश्यों या विगताख्यानों की योजना की जाती है। मनोवैज्ञानिक चित्रण के प्रसंग में संयुक्त दृश्यक्रम भी निर्मित किए जा सकते हैं। रेडियो नाटक की संक्षिप्त रूपरेखा के कारण कुछ लोग इसे एकांकी समझते है, पर रेडियो नाटक में अंक का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें एक दृश्य भी रह सकता है, अनेक दृश्य भी रह सकते हैं। दृश्य छोटे या बड़े किसी प्रकार के हो सकते हैं।

रेडियो नाटक के प्रकार

रेडियो से प्रसारित होनेवाले नाटक अनेक प्रकार के होते हैं। विषय की दृष्टि से सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेकानेक प्रकार के हो सकते हैं। शिल्प की दृष्टि से सात मुख्य भेद हो सकते हैं—नाटक, रूपांतर, फैंटेसी (प्रतिकल्पना), मोनोलाग (स्वगतनाटच), संगीतरूपक, झलकियाँ और रूपक। रेडियो के लिये मौलिक नाटकों की रचना तो होती ही है, प्रसिद्ध रंगमंचीयनाटकों (एकांकी और अनेकांकी, दोनों), कहानियों और उपन्यासों के रेडियो नाटचरूपांतर भी प्रस्तुत किए जाते हैं। फैंटेसी या प्रतिकल्पना में कल्पना की प्रधानता रहती है—वास्तविक जीवन में असंभाव्य घटनाओं को भी संभव चित्रित किया जाता है। स्वगतनाटच में प्रारंभ से अंत तक एक ही पात्र अभिनय करता है। संगीतरूपक में गीतों की प्रधानता रहती है। पाँच-पाँच, छह छह मिनट की छोटी छोटी मनोरंजनप्रधान रचनाओं को झलकियाँ कहते हैं। तथ्यप्रधान नाटचरचनाओं को रूपक कहते हैं। यह 'रूपक' अंग्रेजी के 'फीचर' के अर्थ में रूढ़ हो गया है—दृश्यकाव्य के पर्याय 'रूपक' से इसका कोई संबंध नहीं है। यह वास्तविकता का नाटकीकृत रूप है। लारेंस गिलियम के अनुसार, नाटक कल्पना पर आधारित रहता है, रूपक तथ्य पर। अंग्रेजी में इसे 'फीचर' कहते हैं। इसमें कथानक और चरित्रचित्रण की अनिवार्यता नहीं रहती।

रेडियो नाटक का प्रारंभ

रेडियो नाटक का जन्म रेडियो के आविष्कार के बाद हुआ है। इस संबंध में मतभेद है कि इंग्लैंड में पहला नाटक २ सितंबर १६२२ को प्रसारित हुआ था या १५ फरवरी १६२३ को, पर इस संबंध में मतभेद नहीं है कि प्रथम प्रसारण का श्रेय प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपीयर के 'जूलियस सीजर' के एक दृश्य को प्राप्त है। उसी के साथ शेक्सपीयर के अन्य दो नाटकों के दृश्य भी प्रसारित हुए थे। अपने संपूर्ण रूप में प्रसारित होनेवाला नाटक या 'ट्वेल्थ नाइट' जो २८ मई १६२३ को प्रसारित हुआ था। उस समय अभी रेडियो के लिये विशेष रूप से नाटक नहीं लिखे जाते थे। प्रसारण के समय रंगमंच संकेतों को पढ़ दिया जाता था, और दृश्यांतर के समय वाद्य संगीत का उपयोग होता था। विशेष रूप से रेडियो के लिये लिखित पहला नाटक था रिचर्ड ह्यूजेज का 'डैंजर' जो १६२४ की जनवरी में प्रसारित हुआ था। रेडियो के लिये रूपांतरित पहला उपन्यास था किंग्सले का 'वेस्टवर्ड हो' जो अप्रैल १६२५ में प्रसारित हुआ था। प्रारंभिक प्रयोगों के बाद ही लोगों को यह अनुभव हो सका कि रेडियो नाटक रंगमंचीय नाटक से बिलकुल भिन्न है, और इसका अपना स्वतंत्र रचनाविधान है। हिंदी में रेडियो नाटक के प्रारंभ का इससे बहुत कुछ साम्य है।

हिंदी में रेडियो नाटक का प्रारंभ

भारत में प्रसारण का प्रारंभ कुछ देर से हुआ। विधिवत् प्रसारण का प्रारंभ २३ जुलाई १९२० से हुआ, जब लार्ड इर्विन ने इंडियन ब्राडकास्टिंग कंपनी के बंबई स्टेशन का उद्‌घाटन किया। अप्रैल १९३० में भारत सरकार ने प्रसारण कार्य अपने हाथ में ले लिया। इस विभाग को इंडियन स्टेट ब्राडकास्टिंग सर्विस कहा गया, जिसे ८ जून १९३६ को आल इंडिया रेडियो नाम दिया गया। यही आजकल आकाशवाणी है।

हिंदी में रेडियो नाटक का प्रारंभ हुए बहुत दिन नहीं हुए। पहला नाटक आल इंडिया रेडियो के दिल्ली केंद्र से १९३६ में प्रसारित हुआ था—वह भी मौलिक नाटक नहीं, रंगमंच के लिये लिखित एक बंगला नाटक का अनुवाद था। बंगाल में चूँकि रंगमंचीय परंपरा पहले से थी, वहाँ नाटकों का प्रसारण १९२८ (उस समय अभी आल इंडिया रेडियो की स्थापना नहीं हुई थी) से ही प्रारंभ हो गया था, पर वे नाटक भी रंगमंच के ही होते थे। वे तीन तीन घंटे के होते थे और उनमें रंगमंच के ही सभी ढंग अपनाए जाते थे। दृश्यसंकेतों को नैरेटर पढ़ दिया करते थे और संवादों का स्वरअभिनय पात्रों द्वारा होता था। मध्यांतर भी उसी प्रकार होता था जिस प्रकार रंगमंचनाटकों और फिल्मों में अभी होता है। हिंदी नाटकों पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

रेडियो नाटक का हिंदी में जो प्रारंभ हुआ, वह रंगमंचीय नाटक से ही प्रभावित था। प्रारंभ में यही संभव था, पर इसके फलस्वरूप रंगमंच की कला रेडियो के स्टूडियो में पहुँच गई, और बहुत बाद तक रेडियो नाटककार एवं अभिनेता उसके प्रभाव से मुक्त न हो सके। लेखक यह न समझ सके कि रेडियो नाटक की कला रंग-नाटक की कला से बिलकुल भिन्न है। यह स्थिति बहुत बाद तक बनी रही। रेडियो से संबद्ध लेखक श्री 'पहाड़ी' ने १९४७ का अपना संस्मरण इन पंक्तियों में रखा है—'मुझे याद है कि एक लेखक से मैंने रेडियो के लिये नाटक लिखने का अनुरोध किया था, तो उनके द्वारा लिखित नाटक में कई बार परदा खुलता है।'

पर यह केवल एक पक्ष है। रेडियो नाटयशिल्प को विकसित करने की दिशा में भी प्रारंभ से ही प्रयत्न होने लगे थे। आल इंडिया रेडियो से प्रसारित होनेवाला हिंदी का पहला नाटक आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'राधाकृष्ण' कहा जाता है। नाटककार और रेडियो से संबद्ध अनेक व्यक्तियों के सहयोग से प्रसारित इस नाटक में श्रव्य माध्यम की सुविधाओं के उपयोग का स्पष्ट प्रयत्न दिखायी पड़ता है। स्थान और समय की इकाइयों का कोई बंधन इसमें नहीं माना गया है। संलाप बहुत छोटे छोटे और गतिशील हैं। अंत में राधा और कृष्ण के स्वर क्रमशः क्षीण होकर शून्य में खो जाते हैं।

इस प्रकार के महत्वपूर्ण प्रयोगों के होते हुए भी स्वाधीनताप्राप्ति के पूर्व हिंदी में रेडियो नाट्यकला का पर्याप्त विकास नहीं हो सका। इसके कई कारण हैं। १९४७ के पहले हिंदी क्षेत्रों में प्रसारण केंद्रों की संख्या ही कम थी, और जो केंद्र थे, उनमें हिंदी की अपेक्षा उर्दू को महत्व दिया जाता था। फलतः हिंदी के लेखकों को रेडियो नाटक की सीमाओं और संभावनाओं से परिचित होने के पर्याप्त अवसर नहीं मिल सके। श्री 'पहाड़ी' का यह कथन सत्य है कि 'हिंदी में रेडियो नाटिकाओं का अभाव है इसका मुख्य कारण रेडियो के अधिकारियों का हिंदीभाषी लेखकों की उपेक्षा थी।' श्रीजगदीशचंद्र माथुर के एक अनुभव से इसका समर्थन होता है। उन्होंने अपना प्रसिद्ध नाटक 'भोर का तारा' लखनऊ रेडियो में प्रसारणार्थ भेजा था। इस संबंध में वे लिखते हैं—'लखनऊ रेडियो स्टेशन पर शायद उन दिनों हिंदी के जानकार कोई थे ही नहीं। एक उर्दूदाँ सज्जन ड्रामे के इंचार्ज थे और जाहिर है कि उन्हें 'भोर का तारा' में कोई दिलचस्पी नहीं होती। चुनाचे मेरी आशंका सही निकली और न तो नाटक प्रसारित हुआ और न उसकी पांडुलिपि ही वापस की गई। जहाँ तक मुझे याद है, सन् १९४७ तक आकाशवाणी से ऐसे हिंदी नाटक बहुत कम प्रसारित होते थे, जिनमें भारत की झलक हो या जिनकी भाषा बोलचाल की भाषा से तनिक भी हटी हुई हो।' इसके विपरीत श्री 'पहाड़ी' के शब्दों में ही 'रेडियो को उर्दू के लेखकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है और वहाँ सर्वश्री कृष्णचंद्र, मंटो, अश्क, अनसार, नासरी आदि लेखकों को इस क्षेत्र में काम करने का अवसर मिला है।'

तात्पर्य यह है कि उस समय रेडियो नाटक के स्वतंत्र शिल्प को ध्यान में रख कर हिंदी में बहुत कम नाटक लिखे गए। हिंदी एकांकी के क्षेत्र में जो नाटककार उस समय प्रसिद्ध थे, उनके ही कुछ एकांकी समय समय पर रेडियो से प्रसारित होते रहे। यहाँ यह स्मरणीय है कि सन् १९३५ के बाद से ही हिंदी एकांकी का वास्तविक उत्कर्ष प्रारंभ होता है। उसके पहले हिंदी में एकांकी के स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा अभी नहीं हुई थी। इस अस्वीकृति की प्रतिध्वनि सन् १९३८ ई० तक सुनायी पड़ती है जब श्रीजैनेंद्रकुमार ने 'हंस' संपादक को लिखा था—'एकांकी नाटक कोई ऐसी चीज नहीं है कि उसपर विशेषांक निकाला जाय।' ऐसे विचारों के बावजूद एकांकी की रचना होने लगी थी, और तत्कालीन प्रसिद्ध पत्रों में उन्हें एकांकी कहकर प्रकाशित किया जाने लगा था। 'कारवाँ', 'पृथ्वीराज की आँखें' आदि एकांकी संग्रह प्रकाशित होने लगे थे। इसको प्रेरक शक्तियाँ अनेक थीं। अंग्रेजी साहित्य से हिंदी साहित्यकारों का परिचय घनिष्ठतर होता जा रहा था। डा० रामकुमार वर्मा और श्रीउपेंद्रनाथ अश्क ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि उन्होंने पाश्चात्य नाटककारों से प्रेरणा ग्रहण की है। भारत की अन्यान्य भाषाओं में भी नई शैली के एकांकी नाटकों का लेखन प्रारंभ हो गया था, और उनका परिचय अनुवादों के माध्यम से हिंदी

लेखकों को मिल रहा था। सन् १९३६ से सर्वश्री मुद्दुकृष्ण, जी० शंकर कुरूप, गोकृष्ण श्रीधराणी, सज्जाद जहीर, सेनापति, धूमकेतु, रवींद्रनाथ ठाकुर आदि की रचनाओं के हिंदी अनुवाद पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे। व्यावसायिक रंगमंच के अभाव ने भी हिंदी एकांकी के विकास में योग दिया। अव्यावसायिक रंगमंच के सीमित साधनों द्वारा एकांकी नाटकों का प्रदर्शन सरल था। देश में सांस्कृतिक जागरण के फलस्वरूप कालेजों और स्कूलों में समय समय पर अभिनीत करने के लिये लघुनाटकों की माँग बढ़ी। इससे हिंदी एकांकी को गति मिली। अनेक एकांकीकार सामने आए। ऐसे लेखकों में विशेष उल्लेखनीय हैं—सर्वश्री रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद, उदयशंकर भट्ट, उपेंद्रनाथ अश्क, सेठ गोविंददास आदि। इनकी कृतियाँ रेडियो से भी प्रसारित होने लगीं। इस प्रकार हिंदी एकांकी के उत्कर्ष ने रेडियो को प्रसारण की नई नाट्यसामग्री दी।

प्रसिद्ध एकांकीकार: रेडियो माध्यम

स्वाधीनताप्राप्ति के पूर्व और उसके कुछ बाद तक भी प्रसिद्ध एकांकीकारों की नाट्यरचनाएँ रेडियो से प्रसारित होती रहीं, पर इन लेखकों ने रेडियो नाटक को गंभीरता के साथ ग्रहण नहीं किया। इन्होंने रेडियो माध्यम की विशिष्टताओं पर भी ध्यान नहीं दिया। इन्होंने रेडियो के लिये नहीं लिखा, पर ऐसे रंगमंचीय नाटकों की रचना अवश्य ही की जो रेडियो से भी प्रसारित हो सकें। सर्वश्री उपेंद्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट और रामकुमार वर्मा, जिनकी रचनाएँ पर्याप्त संख्या में रेडियो से प्रसारित हुई हैं, के अनुभवों से यह बात सिद्ध होती है। श्रीअश्क के एक संस्मरण में लिखा गया है—'अश्कजी रेडियो में भी रहे हैं और फिल्म में भी, लेकिन 'रेडियो नाटक या स्क्रीनप्ले में उनकी आस्था नहीं।' स्वयं अश्कजी ने लिखा है—रेडियो के कारण मैंने कुछ नाटक अवश्यक लिखे हैं और रेडियो का हल्का-सा कुप्रभाव भी मेरे कुछ नाटकों में, बावजूद मेरी कोशिश के, आ गया है। फिर इसका मैंने प्रयास किया है कि यह कुप्रभाव कम हो रहे।' श्रीउदयशंकर भट्ट ने भी अपनी नाट्य-रचना में रेडियो माध्यम पर ध्यान नहीं रखा है। जैसा कि उन्होंने 'समस्या का अंत' की भूमिका में कहा है, उन्होंने अपने नाटकों के साथ संकेत इस प्रकार दिए हैं कि वे रंगमंच और रेडियो, दोनों पर अभिनीत हो सकें। ऐसे नाटकों की संख्या कम है जो रेडियो के लिये ही हैं। डा० रामकुमार वर्मा के साथ भी यही बात है। 'रजत-रश्मि' में संकलित नाटकों के संबंध में उन्होंने लिखा है—'ये नाटक इस ढंग से लिखे गये हैं कि रंगमंच और रेडियो दोनों के द्वारा सफलतापूर्वक अभिनीत किए जा सकें।' यह बात उनके लगभग सभी नाटकों पर लागू है। इस प्रकार प्रसिद्ध एकांकीकारों की रचनाओं ने रेडियो नाटक के स्वतंत्र विकास में विशेष योग नहीं दिया। फिर भी इन लेखकों ने हिंदी रेडियो नाटक के प्रारंभिक काल में महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और उनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

श्रीउपेंद्रनाथ अश्क नाटकलेखक के रूप में आल इंडिया रेडियो से तीन वर्षों तक संबद्ध रहे। रेडियो के लिये उन्होंने 'तुलसीदास', 'कबीर', 'मर्यादा पुरुषोत्तम 'राम', 'उर्मिला', 'भगवान् बुद्ध' आदि अनेक नाटकों की रचना की, पर उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम मुख्यतः रंगनाटक को ही माना है। सामान्य परिवर्तन के बाद उनके जो नाटक रेडियो से सफलतापूर्वक प्रसारित होते रहे हैं, उनमें मुख्य हैं—'लक्ष्मी का स्वागत', 'पापी', 'अधिकार का रक्षक', 'जोंक', 'तौलिये', 'बतसिया' आदि। रेडियो पर भी इनकी सफलता का रहस्य यह है कि किसी भी नाटक के लिये, चाहे वह रंगमंच के लिये हो या रेडियो के लिये, जिस संश्लिष्ट कथानक, एकाग्रता, निश्चित दिशा और सशक्त संलाप की अपेक्षा होती है, वह इन नाटकों में है।

श्रीउदयशंकर भट्ट स्वाधीनताप्राप्ति के बाद आकाशवाणी से संबद्ध हुए। भट्टजी ने रेडियो नाटक के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया है। 'साहित्य के स्वर' पुस्तक में संकलित अपने कुछ निबंधों में उन्होंने रेडियो नाटक का विवेचन भी किया है, पर मात्र रेडियो माध्यम को ध्यान में रखकर उन्होंने कम ही नाटकों की रचना की है। रेडियो के लिये लिखित नाटकों में उल्लेखनीय हैं—'आदिम युग', 'कुमार-संभव', 'आत्मदान', 'गिरती दीवारें', 'जवानी', 'समस्या का अंत' आदि। कुछ नाटक पौराणिक प्रसंगों पर आधारित हैं, कुछ सामाजिक समस्याओं पर। शिल्प की दृष्टि से ये नाटक रेडियो पर सफल रहे हैं। इनके अतिरिक्त भट्टजी के अन्यान्य रंगमंचीय एकांकी भी समय समय पर रेडियो से प्रसारित होते रहे हैं।

प्रसिद्ध एकांकीकार डा० रामकुमार वर्मा का ध्यान मख्यतः रंगमंचीय एकांकी की ओर रहा है, यद्यपि उनके अधिकांश नाटक रेडियो से भी प्रसारित होते रहे हैं। इसका कारण यह है कि वर्माजी का ध्यान अपने नाटकों को दोनों माध्यमों के उपयुक्त बनाने का रहा है। उनके कुछ नाटक रेडियो के लिये विशेष रूप से लिखे गए हैं। इनमें 'कौमुदी महोत्सव', 'औरंगजेब की आखिरी रात', 'प्रतिशोध', 'दुर्गावती' 'कलंक रेखा' आदि के नाम लिए जा सकते हैं, पर इनमे ऐसी कुछ विशिष्टता नहीं है कि ये केवल रेडियो के लिये ही हों। ये रंगमंच पर भी अभिनीत हो सकते है, और हुए है। यह अवश्य है कि इनमें ध्वन्यात्मक मूल्यों पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान रखा गया है, और इनकी शैली सरलतर है। जो रचनाएँ डा० वर्मा ने केवल रेडियो को ध्यान में रखकर लिखी हैं, वे मुख्यतः रूपक हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं—'भरत का भाग्य', 'स्वागत है ऋतुराज' और 'ज्यों की त्यों धर दीनि चदरिया।' ये विशेष अवसरों पर लिखे गए रूपक हैं।

जिन अन्य प्रसिद्ध एकांकीकारों के नाटक रेडियो से प्रसारित होते रहे हैं, उनमे सर्वश्री जगदीशचंद्र माथुर, गोविंददास, देवेंद्रनाथ शर्मा आदि के नाम प्रमुख

हैं। इनके नाटक भी मुख्यतः रंगमंच के लिये है, पर इन्होंने भी रचनाविधान में इस बात का ध्यान रखा है कि ये नाटक रेडियो से भी प्रसारित हो सकें।

नव्य माध्यम : नव्य नाट्यरूप—स्वाधीनताप्राप्ति के पूर्व

आल इंडिया रेडियो के प्रारंभ के साथ ही ऐसे नाटकों की भी रचना होने लगी जो विशेष रूप से रेडियो के लिये थे। इनके लेखक या तो रेडियो से संबद्ध रहे या रेडियो के निकट संपर्क में रहे। इनमें हिंदी के लेखक, जैसा पहले कहा गया, बहुत कम रहे। आल इंडिया रेडियो के प्रारंभिक नाटककारों में उल्लेखनीय नाम हैं—सर्वश्री सम्रादत हसन मंटो, राजेंद्रसिंह बेदी और कृष्णचंद्र। मंटो ने केवल रेडियो के लिये लिखा, और बहुत लिखा। उन्होंने विभिन्न प्रकार के नाटकों की रचना की जिनमें प्रसिद्ध हैं—'इंतजार' और 'इंतजार का दूसरा रुख।' ये दोनों मनोवैज्ञानिक नाटक हैं। 'नेपोलियन की मौत', 'तैमूर की मौत', 'जेबकतरा', 'कबूतरी' आदि भी रेडियो पर बहुत सफल रहे। कथानक की संश्लिष्टता और गति इनकी विशेषता है। राजेंद्रसिंह बेदी के प्रसिद्ध नाटक हैं—'कार की शादी', 'पाँव की मोच', 'कैद' आदि। बेदी ने कार्यव्यापार की एकाग्रता और पात्रों के चरित्रांकन पर विशेष ध्यान दिया है। इन दोनों नाटककारों की रचनाएँ हिंदी की अपेक्षा उर्दू के अधिक निकट हैं। कृष्णचंद्र की भाषा सामान्य बोलचाल की है। इनकी कृतियाँ प्रकाशित रूप में हिंदी में आई हैं।

कृष्णचंद्र के प्रसिद्ध नाटक हैं—'बेकारी', 'हजामत', 'दरवाजा', 'नीलकंठ', 'काहिरा की एक शाम', 'सराय के बाहर', 'बदसूरत राजकुमारी', 'मंगलीक', 'एक रुपया एक फूल' आदि। ये नाटक अनेक बार प्रसारित हुए हैं। 'बेकारी' कृष्णचंद्र का पहला नाटक है जो अक्टूबर १६३७ में लाहौर रेडियो से प्रसारित हुआ था। उसके बाद सितंबर १६३८ में 'हजामत' प्रसारित हुआ। 'दरवाजा' अगस्त १६४० में दिल्ली रेडियो से प्रसारित किया गया। 'एक रुपया एक फूल' दिल्ली रेडियो के नाटकोत्सव का सबसे अच्छा नाटक समझा गया था। विषय की दृष्टि से इन नाटकों में विविधता दिखायी पड़ती है। 'काहिरा की शाम' यदि रोमानी नाटक है, तो 'सराय के बाहर', 'बेकारी', 'कुत्ते की मौत' आदि सामाजिक यथार्थ को अंकित करनेवाले व्यंग्यप्रधान नाटक हैं। 'एक रुपया एक फूल' हास्यप्रधान विचारोत्तेजक नाटक है। कुछ नाटकों में कृष्णचंद्र की व्यंग्यप्रधान दृष्टि का बड़ा स्पष्ट परिचय मिलता है। शिल्प की दृष्टि से भी ये नाटक कई प्रकार के हैं। कृष्णचंद्र कहानी के क्षेत्र से नाटक में आए थे। यह बात प्रारंभिक नाटकों में परिलक्षित होती है। 'बेकारी' में सामाजिक यथार्थ तो चित्रित हुआ है, पर उसमें नाटकीयता नहीं है। 'हजामत' मौलिक कृति नहीं है—वह एक विदेशी रचना पर आधारित है। यह सही है कि कृष्णचंद्र के सभी नाटकों के कथानक में संश्लिष्टता नहीं है, कुछ में दृश्यों का विस्तार किया गया है,

पर सबमें निश्चित प्रभावसृष्टि का प्रयत्न है। लगभग सभी नाटकों के अंत प्रभावशाली रूप में हुए हैं। 'काहिरा की एक शाम' में हसीना उस सूबेदार से मिलने को तड़पती रह जाती है जिसने उसे जीवनदान दिया था, पर सूबेदार का जहाज बंदरगाह छोड़कर चला जाता है। 'सराय के बाहर' में भिखारिन की बेटी मुन्नी सराय में अपना नारीत्व बेंचकर आती है, पर बहुत उल्लसित दीखती है। यह उल्लास कितना दयनीय है! इस प्रकार कृष्णचंद्र ने अपने नाटकों के अंत को मार्मिक बनाने का प्रयत्न किया है। इन नाटकों में श्रव्य माध्यम का ध्यान रखा गया है। स्थान स्थान पर शब्दों और ध्वनियों के द्वारा यथोचित प्रभावशाली वातावरण निर्मित किया गया है। 'नीलकंठ' में शंकर और गंगा का जो चित्र अंकित किया गया है, वह मात्र श्रव्य माध्यम द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है। कृष्णचंद्र के संवादो में भी शक्ति है, और उनमें प्रसंगानुसार विविधता आई है।

स्वाधीनतापूर्व के हिंदी रेडियो नाटककारों में श्रीचंद्रकिशोर जैन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने कम ही नाटक लिखे, पर सभी रेडियो पर काफी सफल रहे। इनका पहला नाटक 'रहनुमा' लखनऊ रेडियो से नवंबर १९४२ में प्रसारित हुआ था। उसके बाद 'नींद' और 'रानी' नामक नाटक दिल्ली और लखनऊ से प्रसारित हुए। 'एकांकिका' नाटकसंग्रह में इनके सात नाटक संकलित हैं--'विषकन्या', 'नेपोलियन के विजयरहस्य', 'हीरे का टुकड़ा', 'इंसाफ', 'अस्पताल का कमरा', 'पहली भेंट' और 'कानून'। 'विषकन्या' अपने समय का बहुत प्रसिद्ध रेडियो नाटक रहा, और विभिन्न रेडियो स्टेशनों से प्रसारित हुआ। इसमें नारी की विवशता और अजेय प्रतिहिंसा का चित्रण कुशलता से किया गया है। 'नेपोलियन के 'विजयरहस्य' औ 'हीरे का टुकड़ा' ऐतिहासिक नाटक हैं। अन्य नाटक सामाजिक पृष्ठभूमि पर लिखे गए हैं। प्रसारण की दृष्टि से सभी सफल रहे हैं, पर प्रसारण के माध्यम का विशेष ध्यान 'विषकन्या' में ही है।

स्वाधीनताप्राप्ति के पूर्व रेडियो से संबद्ध लेखकों में श्रीपहाड़ी का नाम भी आता है। पहाड़ी रेडियो के निकट संपर्क में रहे और इन्होंने रेडियो के लिये अनेक प्रकार की रचनाएँ लिखीं। उनमें से दो, 'रूस जर्मन संधि का अंत' और 'युग युग द्वारा शक्ति की पूजा' उनके कहानीसंग्रह 'बया का घोंसला' में संकलित हैं। ये दोनों ही रेडियो रूपक हैं, यद्यपि लेखक ने इन्हें 'रेडियो नाटिका' नाम दिया है। पहला रूपक सामयिक महत्त्व का है, पर शिल्प की दृष्टि से काफी प्रभावशाली है। लेखक ने एक रूसी परिवार को केंद्र बनाकर सब अपेक्षित सूचनाएँ दी हैं। संगीत और ध्वनिप्रभावों का व्यवहार कुशलता से किया गया है। दूसरे रूपक मे प्राचीन काल से लेकर अबतक के सामाजिक विकास का परिचय कलात्मक ढंग से दिया गया है। उसमें भी ध्वनिप्रभावों और संगीत के व्यवहार से अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि का प्रयत्न किया

गया है। इन रूपकों से स्पष्ट है कि पहाड़ी ने रेडियो माध्यम का उपयोग करने का सफल प्रयास किया था।

उस अवधि के नाट्यसाहित्य को उसकी समग्रता में देखने पर कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। भारत को स्वाधीनताप्राप्ति के पूर्व आल इंडिया रेडियो से जितने हिंदी नाटक प्रसारित हुए, उनमें सबसे अधिक संख्या ऐतिहासिक और रोमैंटिक नाटकों की थी। ऐतिहासिक नाटकों में भी ऐसे नाटक नहीं मिलेंगे, जिनमें भारत की गौरवगरिमा व्यंजित की गई हो अथवा जिनमें किसी प्रकार की राष्ट्रीय चेतना व्यक्त हुई हो। पराधीनता के कारण भारत की दयनीय स्थिति को चित्रित करनेवाले नाटक भी उस समय नही प्रसारित होते थे। तत्कालीन सामाजिक जीवन का चित्र भी उस समय के रेडियो नाट्यसाहित्य मे नहीं मिलता। सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत करनेवाले नाटक कम ही मिलते है। वास्तव में उन प्रारंभिक नाटकों का उद्देश्य घटनावैचित्र्य और अलंकृत भाषाशैली द्वारा श्रोताओं को चमत्कृत करना था। मनोरंजन ही उन नाटकोका मुख्य तत्त्व था। कथानकों में अलौकिकता, आकस्मिकता एवं संयोग के लिये पर्याप्त अवकाश रहता था। रेडियो विदेशी शासन के नियंत्रण में था, और उसकी नीति का प्रभाव तत्कालीन हिंदी रेडियो नाट्यसाहित्य पर दिखायी पड़ता है।

रेडियो नाटक का विकासकाल

हिंदी मे रेडियो नाटक का विकासकाल स्वाधीनताप्राप्ति के बाद प्रारंभ होता है। देश के विभिन्न भागों में नए प्रसारणकेंद्र खुले। हिंदी को पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिलने लगा। अनेक नए लेखक अभिव्यक्ति के इस नए माध्यम की ओर आकृष्ट हुए। प्रसिद्ध उपन्यासकार, कहानीकार और कवि भी रेडियो नाट्यलेखन मे लगे। आज हिंदी नाट्यक्षेत्र मे जितने सुपरिचित हस्ताक्षर है, उनमें से अधिक इसी अवधि की देन है। आकाशवाणी के महानिदेशक के रूप में श्रीजगदीशचंद्र माथुर के आगमन के बाद अनेक ख्यातिलब्ध साहित्यकार आकाशवाणी से संबद्ध हुए और इससे रेडियोनाटक के विकास को विशेष गति मिली।

स्वाधीनताप्राप्ति के बाद जो लेखक रेडियो नाट्यलेखन के क्षेत्र में आए हैं, उनकी सूची बहुत बड़ी है। इनकी प्रसारित रचनाओं की संख्या तो और भी बड़ी है। इनका बहुत छोटा सा अंश ही प्रकाशित रूप में सामने आया है—इनमें साहित्यिक महत्त्व की रचनाएँ कम ही हैं। इस अवधि के नाट्यसाहित्य पर सामान्य रूप से विचार करने के पूर्व कुछ प्रमुख नाटककारों की कृतियों का विवेचन कर लेना उचित होगा।

श्रीविष्णु प्रभाकर उन लेखकों में हैं जिन्होंने रेडियो की प्रेरणा से नाट्यलेखन प्रारंभ किया था। रेडियो नाटक के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए इन्होंने

स्वयं लिखा है—'सच तो यह है कि अभी तक मैंने रेडियो के लिये ही लिखा है। उनमें से कई एकांकी रंगमंच पर आए हैं और उन्होंने मेरे इस विश्वास को दृढ़ किया है कि रंगमंच और रेडियो कला की दृष्टि से बिलकुल दो चीज हैं।' यही कारण है कि इनके नाटकों में रेडियो नाट्यशिल्प बड़े स्पष्ट रूप में दिखायी पड़ता है। विष्णुजी प्रारंभ से ही एक प्रयोगशील रेडियो नाटककार रहे हैं, और इन्होंने रेडियो नाटक के विभिन्न रूपों के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए है। इनके रेडियो नाटकों के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कुछ प्रसिद्ध नाटक इस प्रकार हैं—'मीना कहाँ है ?' 'क्या वह दोषी था ?', 'दो किनारे', 'युगसंधि', 'प्रकाश और परछाइँ', 'समरेखा विषमरेखा', 'सबेरा', 'साँप और सीढ़ी', 'मुरब्बी', 'संस्कार और भावना', 'जहाँ दया पाप है', 'उपचेतना का छल', 'वीरपूजा', 'दरिंदा', 'दस बजे रात', 'अशोक', 'पूर्णाहुति' आदि। श्रीविष्णु प्रभाकर मानवतावादी कलाकार हैं। यथार्थ पर आधारित आदर्श का स्वर इनकी कृतियों में सुनाई पड़ता है। इनके नाटकों के विषय विभिन्न प्रकार के हैं, पर सबके मूल में मनोवैज्ञानिक चित्रण की विशेषता मिलती है। इन्होंने अपने नाटकों में मुख्यतः जटिल पात्रों को ही लिया है—ऐसे पात्रों को जिनके मन में किसी न किसी प्रकार की ग्रंथि है। ऐसे पात्रों के मन की गहराई में लेखक ने उतरने का प्रयत्न किया है। इनके पात्रों के मन मे कोई न कोइ द्वंद्व अवश्य है। इनके नाटकों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि ये नाटक चरित्रप्रधान है, और इनमें चरित्रचित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। इनके कथानकसंघटन में भी पर्याप्त संश्लिष्टता है। नाटक अवधि की दीर्घता पर नहीं, क्षण की तीव्रता पर केंद्रित है। इन नाटकों में भी चरम सीमा के स्थल बड़े चमत्कारपूर्ण हैं। नाटकों के प्रस्तुतीकरण की पद्धति में भी काफी विविधता है। अधिकांश नाटक किसी कार्यव्यापार के बीच में संलाप से प्रारंभ हुए हैं, पर कुछ स्वगतकथन से भी, कुछ गीत से भी। नाटकों में उपयुक्त स्थलों पर स्मृतिदृश्यों का भी व्यवहार किया गया है। भावों को पात्र बनाने की सुविधा का भी उपयोग कई नाटकों मे किया गया है। ध्वनिप्रभावों के प्रभावशाली उपयोग की ओर भी लेखक का ध्यान है। श्रव्यशिल्प की दृष्टि से विष्णुजी के मनोवैज्ञानिक नाटक विशेष रूप से सफल बन पड़े हैं। इनके कुछ नाटक सामान्य श्रेणी के भी हैं। 'गीत के बोल' और 'सरकारी नौकरी' सामान्य व्यंग्यनाटक हैं। 'मर्यादा की रक्षा', 'झाँसी की रानी' आदि ऐतिहासिक नाटक हैं और 'वह जा न सकी' तथा 'अन्न का फैसला' विष्णु प्रभाकर की अपनी कहानियों के रेडियो नाट्यरूपांतर हैं। इनके अतिरिक्त विष्णुजी ने रवींद्रनाथ ठाकुर, प्रेमचंद्र, वृंदावनलाल वर्मा, इलाचंद्र जोशी आदि की कुछ कहानियाँ और उपन्यासों के भी नाट्यरूपांतर प्रस्तुत किए हैं। इनके रेडियो स्वगतनाट्यों का हिंदी के रेडियो नाट्यसाहित्य में विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। 'सड़क', 'धुआँ', 'नयेपुराने' और 'नहीं, नही, नही' विष्णुजी के बड़े सफल और प्रभावशाली स्वगतनाट्य हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'सर्वोदय', 'हमारा स्वाधीनतासंग्राम', 'नया काश्मीर'

आदि रूपक भी लिखे हैं। हिंदी के रेडियो नाट्यसाहित्य को श्रीविष्णु प्रभाकर की देन, परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

केवल रेडियो के लिये लिखनेवाले सशक्त नाटककारों में श्रीरेवतीसरन शर्मा भी हैं। इन्होंने भी काफी बड़ी संख्या में रेडियो नाटक लिखे हैं। कुछ नाटक हैं— 'आँसू', 'नग्मे की मौत', 'क्रिस्मस की एक शाम', 'सो जाने दो', 'एक लमहा पहले', 'अभागिन', 'मुझे जीने दो', 'चढ़ाव उतार', 'रोशनी', 'अंधेरा उजाला', 'पत्थर और आँसू', 'दुश्मन', 'इकतारा', 'डाक्टर बीबी', 'इंसान', 'कल', 'अमावस का अंधकार', 'फूल और चिनगारी' आदि। इनके कथानक आज के मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन से लिए गए हैं। कुछ नाटक भारत और पाकिस्तान के संबंधों पर भी आधारित हैं। कुछ में मनोवैज्ञानिक समस्याएँ ली गई हैं। इन सबसे युगजीवन के प्रति लेखक की जागरूकता का परिचय मिलता है। श्री शर्मा के नाटकों का धरातल मुख्यतः भावात्मक है। कुछ नाटक अन्य प्रकार के भी हैं। 'डाक्टर बीबी' हास्य नाटक है। 'इंसान' एक प्रभावशाली प्रतीक नाटक है। इसमें पात्रों के सूचक सांकेतिक ध्वनिप्रभाव काफी कलात्मक है। 'कल' एक अतिकल्पना है जिसमे परमाणु बमों के दुष्परिणामों का संकेत है। श्रव्य माध्यम पर ध्यान रखने के कारण लगभग सभी नाटक सफल बन पड़े है।

श्रीहरिश्चंद्र खन्ना आकाशवाणी से अनेक वर्षों तक संबद्ध रहे। इन्होंने श्रव्यशिल्प का अध्ययन किया है और 'रेडियो नाटक' नामक पुस्तक भी लिखी है। रेडियो में रहकर इन्होने उसके लिये अनेक प्रकार के नाटकों की रचना की। इनके अधिक नाटक मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर हैं। ऐसे नाटकों मे 'मुर्दे जागते हैं', 'अरमान', 'मुक्ति के पथ पर', 'मांस और मानस', 'खंडहर', 'राख और कलियाँ', और 'कायर' उल्लेखनीय है। इन्होंने 'सोना की बात', 'इरा कतल', 'आदमखोर' आदि कहानियों के नाट्य रूपांतर भी प्रस्तुत किए है। इन्होंने रूपकों की भी रचना की है, जैसे 'नीलोखेड़ी'। श्रीखन्ना ने अपने मनोवैज्ञानिक नाटकों में मनुष्य के उपचेतन के विश्लेषण का प्रयत्न किया है। इसके लिये इन्होंने मुख्यतः जटिल पात्रों को ही अपना विषय बनाया है। नाटकों में ऐसी द्वंद्वपूर्ण स्थितियाँ निर्मित की गई हैं जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में सहायक हो सकें। खन्नाजी संवादलेखन में कुशल हैं। इनके नाटकों में वातावरण और प्रसंग के अनुरूप छोटे बड़े सब प्रकार के संलाप आए हैं। प्रसारण की दृष्टि से इनकी कृतियाँ बहुत सफल रही हैं।

श्रीप्रभाकर माचवे एक लंबी अवधि तक आकाशवाणी से संबद्ध रहे हैं, और परिमाण की दृष्टि से इन्होंने रेडियो के लिये बहुत लिखा है। गद्य और पद्य, दोनों में इन्होंने विभिन्न प्रकार की रचनाएँ की है। इनके नाटकों और रूपकों की संख्या बहुत बड़ी है। कई रूपक धारावाहिक रूप में भी लिखे गए हैं। कुछ रचनाओं

के नाम इस प्रकार हैं—'बधू चाहिए' [तीन भाग], 'अभियोग' [दो भाग], 'अधकचरे', 'पागलखानेमें' [तीन भाग], 'राम आज की दुनियाँ में', 'गली के मोड़ पर' [तीन भाग], 'क्या वह भी नारी है ?' 'रामभरोसे', 'पंचकन्या' [पाँच भाग], 'यदि हम वे होते' [चार भाग], 'नाटक का नाटक' [चार भाग], 'गांधी की राह पर', 'गलत राह', 'संकट पर सकट' [सात भाग], आदि। माचवेजी ने रेडियो के लिये अनेक प्रसिद्ध कृतियों के रूपांतर भी प्रस्तुत किए हैं, जिनमें 'यशोधरा', 'कामायनी', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। श्रीप्रभाकर माचवे की रचनाओं में हमारे जीवन का पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय, कोई न कोई पहलू अवश्य ही चित्रित हुआ है। वास्तव मे ये सभी रूपक लेखक के विचारो की अभिव्यक्ति के माध्यम रहे है। विषय की प्रधानता का प्रभाव रचनाओं के शिल्प पर पड़ा है। इनमे कोई सुसंगठित कथानक नही है, चरित्रचित्रण पर भी ध्यान नही है। इनमे जीवन का चित्रांकन मात्र है। इनमें नाटकीयता के दर्शन नही होते। हाँ, जो चित्र प्रस्तुत किए गए हैं, वे आकर्षक शैली मे हैं। लेखक के पास भाषा है, वाक्पटुता भी, और वह रोचक संलाप लिखता जाता है, रोचक बातें कहता जाता है। यही कारण है कि विभिन्न स्थलो पर ये रूपक आकर्षक लगते है, पर अपनी समग्रता मे मन पर निश्चित प्रभाव डालने की क्षमता नही रखते। संक्षिप्त संलाप कही कही अवश्य आए है, पर अधिक संलाप बड़े बड़े ही है। उनमे बात को विस्तार से कहने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

श्रीकर्त्तारसिंह दुग्गल भी आकाशवाणी से संबद्ध है, और इन्होंने रेडियो के लिये पंजाबी और हिंदी मे अनेक नाटकों की रचना की है। अपने नाटकों मे इन्होने श्रव्य माध्यम की अपेक्षाओं पर ध्यान रखा है। इनके मुख्य नाटको के नाम है— 'कहानी कैसे बनी ?' 'दो मर्द और एक माँ', 'अल्ला मेघ दे', 'अनार के दो पत्ते', 'जूठे टुकड़े', 'दिया बुझ गया' आदि। इन नाटकों में मुख्यतः मनोवैज्ञानिक समस्याएँ ली गई है, और पात्रों के मनोभावों के चित्रण पर विशेष ध्यान है। कर्त्तारसिंह दुग्गल मे ध्वनियों और शब्दों से वातावरण निर्माण की शक्ति है। सभी नाटकों में यथोचित वातावरण निर्मित किया गया है। खटकनेवाली बात यह है कि सभी नाटकों की पृष्ठभूमि एक ही तरह की लगती है, और सबकी शैली काव्यात्मक एवं अलंकृत है। इससे सरसता आई है, लेकिन अनेक स्थलों पर अलंकार नाटक की शक्ति न बन कर शृंगार बनने लगते हैं।

आकाशवाणी से संबद्ध रहकर बहुत अधिक नाटकों की रचना करनेवाले लेखकों में श्रीचिरंजीत भी हैं। इन्होंने विभिन्न प्रकार के नाटक लिखे हैं, और सभी केवल प्रसारण को ध्यान मे रखकर। इनके कुछ प्रमुख नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—'ब्याह की धूम', 'मेहमान', 'होली आई रे लला', 'वह आया', 'पतझड़ की एक रात', 'पतित पावन', 'महाश्वेता', 'दादी माँ जागी', 'खजाने का साँप', 'अल-

बारी विज्ञापन', 'साथवाला मकान', 'सड़क पर' आदि। इनके अतिरिक्त इन्होंने कई धारावाहिक रूपक भी लिखे हैं जिनमें 'नया नगर' विशेष उल्लेखनीय है। 'ढोल की पोल' का तो ऐतिहासिक महत्त्व रहेगा। श्रीचिरंजीत ने अपने नाटकों में विभिन्न विषयों का स्पर्श किया है, और इनके उद्देश्य भी भिन्न भिन्न रहे हैं। कुछ नाटकों का उद्देश्य मात्र मनोरंजन है, कुछ में सामाजिक रूढ़ियों और असंगतियों पर व्यंग्य किया गया है, कुछ में चरित्रांकन पर विशेष ध्यान है। इन नाटकों में शिल्पगत विविधता भी है। कथानक निर्माण में लेखक ने जिज्ञासातत्व पर सदा ध्यान रखा है। कथानक में जो आकस्मिक मोड़ या उद्घाटन आए है, वे सर्वत्र विश्वसनीय नही है, फिर भी नाटकों में चमत्कार आया है। श्रीचिरंजीत के नाटक रेडियो से सफलतापूर्वक प्रसारित होते रहे हैं, यह दूसरी बात है कि इनके प्रकाशित रूप में रंगसंकेत जोड़ दिए गए हैं।

श्रीभारतभूषण अग्रवाल भी आकाशवाणी से संबद्ध रहे हैं, और समय समय पर रेडियो के लिये नाटक लिखते रहे है। इनके कुछ उल्लेखनीय नाटक हैं—'महाभारत की साँझ', 'अजंता की गूँज', 'और खाई बढ़ती गई', 'युग युग या पाँच मिनट', 'परछाईं', 'दृष्टिदोष', 'गीत की खोज', 'इंट्रोडक्शन नाइट', 'हाँ ना और हाँ मगर ना' आदि। कुछ नाटक पौराणिक प्रसंगों पर लिखे गए हैं, कुछ आधुनिक परिवेश को आधार बनाकर। नाटकों में कथासंटटन पर विशेष ध्यान नहीं रखा गया है। उनमें नाटकीयता के दर्शन कम होते हैं, और कहीं कहीं विस्तार सा दीखता है। लेखक ने श्रव्य माध्यम की सुविधाओं के उपयोग का प्रयत्न किया है। नाटक प्रसारण के लिये लिखे गए हैं, और प्रसारित हुए है।

रेडियो से संबद्ध रहकर रेडियो के लिये लिखनेवाले लेखकों में श्रीगिरिजाकुमार माथुर भी हैं। माथुरजी ने श्रव्य शिल्प को सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया है। ये मानते है कि रेडियोनाटक की कला श्रेष्ठ कला है। इनके कुछ प्रमुख नाटक हैं—'जनम कैद', 'मध्यस्थ', 'बारात चढ़े', 'लाउडस्पीकर', 'संवत्सर', 'पिकनिक', 'कमल और रोटी' आदि। ये नाटक विभिन्न भावभूमियों पर स्थापित है। अधिकतर नाटक मध्यवर्गीय जीवन से संबंधित हैं। कुछ नाटक ऐतिहासिक हैं। कुछ नाटक गंभीर हैं, तो कुछ हल्के फुल्के। कलात्मकता की दृष्टि से कुछ रचनाएँ उत्कृष्ट कोटि की हैं, जैसे एतिहासिक नाटक 'कमल और रोटी।' नाटकों की भाषाशैली अपने अपने ढंग की है। हर नाटक की भाषा उसके वातावरण और पात्रों के अनुरूप है। नाटकों के अतिरिक्त माथुरजी ने विभिन्न अवसरों के उपयुक्त रूपकों और आलेखरूपकों की भी रचना की है। 'बहती जा दामोदर' उल्लेखनीय आलेखरूपक है। इन सबमें प्रसारण माध्यम का ध्यान रखा गया है।

कवि, कथाकार और आलोचक श्रीविश्वंभर मानव ने भी रेडियो के लिये नाटकों की रचना की है। इनके नाटकों के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें संकलित नाटक

हैं—'संकीर्ण', 'दो फूल', 'भीगी पलकें', 'चट्टानें', 'प्रेम का बंधन', 'संदेह का अंत', 'जीवन साथी', 'भूल', 'आघात', 'धरती', 'ओस', 'दोपहरी', 'नारी' और 'कलाकार'। ये नाटक मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि पर लिखे गए हैं। अधिकतर नाटकों में प्रेम और विवाह से संबंधित समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही इनमें समाज के जड़ संस्कारों और रूढ़ियों पर आघात किया गया है। श्रीविश्वंभर मानव के नाटक सरल गति की प्रेमकथाएँ हैं। इनमें कहीं कहीं मोड़ आए हैं अवश्य, पर वे भी लेखकीय निर्देश पर। कथानकनिर्माण में नाटकीयता के दर्शन कम ही स्थलों पर होते हैं। इनमें भावुकता की प्रधानता है। नाटकों के अंत मृत्यु या आत्महत्या से सरलतापूर्वक कर दिए गए है। मानवजी के मुख्य पात्र बड़े भावुक, कोमल और निरीह लगते हैं। कुछ नाटकों में तो इनकी अतिशय भावुकता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इन नाटकों में एक बात यह भी दिखाई पड़ती है कि लगभग सबमें एक पात्र कवि, लेखक या कलाकार है। इन्हें देखकर लगता है, जैसे किसी एक ही व्यक्तित्व की, संभवतः लेखक की, प्रलंबित छाया इन सबपर पड़ी हो। संलाप नाटकोचित हैं। भाषा सरल और बोलचाल की है। रेडियो का माध्यम भावनाप्रधान रचनाओं के बहुत उपयुक्त पड़ता है। विश्वंभर मानव के नाटक अपने प्रसारित रूप में श्रोताओं के मर्म का स्पर्श करने की क्षमता रखते हैं।

श्रीकृष्णकिशोर श्रीवास्तव ने नाट्यलेखन रंगएकांकी से प्रारंभ किया, और बाद में रेडियो से संबद्ध होकर रेडियो नाटकों की रचना की। इनके नाटकों की संख्या बड़ी है। कुछ उल्लेखनीय नाटक है—'मछली के आँसू', 'लमसेना', 'तूफान के बाद', 'जीवन का अनुवाद', 'कच्चे धागे', 'आँख', 'आँसू और आग', 'सत्यकिरण', 'बेवकूफ की रानी', 'मरीचिका', 'संध्या की छाया', 'धुँधले चित्र', 'अपूर्णा' आदि। श्रीवास्तवजी सजग कलाकार है, और युग की समस्याओं के प्रति इन्होंने जागरूकता दिखाई है। आज के आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न तीखी स्थितियों, समाज के मध्यवर्गीय लोगों की बेकारी, उनकी दुर्दशा, संघर्ष आदि को, आकाशवाणी की नीतिगत सीमाओं में रहकर भी, चित्रित करने का प्रयत्न किया है। श्रीकृष्णकिशोर श्रीवास्तव ने अपने नाटकों में श्रव्यशिल्प का भी ध्यान रखा है। लेखक ने उनमें उद्देश्य की एकाग्रता पर ध्यान दिया है, और सभी स्थितियों को प्रत्येक नाटक में एक निश्चित दिशा की ओर प्रेरित किया है। उनमें कम से कम पात्रों का व्यवहार किया गया है। संलाप संक्षिप्त और गतिशील है। यथोचित वातावरण के निर्माण के लिये ध्वनिप्रभावों का उपयोग किया गया है।

श्रीभगवतशरण उपाध्याय की प्रतिभा बहुमुखी है। इन्होंने रेडियो के लिये भी कुछ रचनाएँ लिखी है। इनकी कुछ रचनाएँ हैं—'सीकरी की दीवारें', 'रूपमती और बाजबहादुर', 'क्रौंच किसका ?' 'नई दिल्ली में तथागत', 'रानी चिद्दा', 'गोपा', 'गणतंत्र गाथा', 'नारी', 'ताहि बोइ तू फूल', 'शाही मजूर', 'महाभिनिष्क्रमण' और

'जोहान वोल्फगांग गेटे'। इनमें नाटक और रूपक, दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। डा० भगवतशरण उपाध्याय के नाटकों में कथानकनिर्माण पर विशेष ध्यान नहीं है। उनमें लेखक के अध्ययन और जानकारी का परिचय मिलता है। तथ्यों पर विशेष बल दिया गया है। रूपकों में यह बात अधिक दिखाई पड़ती है, और यह स्वाभाविक है। भाषा पर लेखक का अधिकार है, पर अधिकांश स्थलों पर भाषाशैली अलंकृत और बोझिल है। जहाँ संलाप छोटे छोटे हैं, वहाँ उनमें विशेष शक्ति है।

कवि आलोचक और अनुवादक के रूप में प्रसिद्ध श्रीहंसकुमार तिवारी ने समय समय पर रेडियो के लिये कुछ नाटक भी लिखे हैं जिनमें मुख्य हैं—'आधी रात का सवेरा', 'अंधकार', 'ढलती रात', 'अंतिम अध्याय' आदि। तिवारीजी ने मुख्यतः मध्यवित्त परिवार के जीवन पर ही अपने नाटकों को आधारित किया है। यह तिवारीजी की संलाप लेखन संबंधी कुशलता ही है जो ऐसे नाटकों को भी नीरस नहीं होने देती। संलापों में पात्र, प्रसंग एवं भाव के अनुरूप परिवर्तन होते गये हैं।

श्रीब्रजकिशोर नारायण का नाम कविता और उपन्यास के क्षेत्र में सुपरिचित है। ये आकाशवाणी के लिये भी रचनाएँ करते रहे हैं। इन्होंने मुख्यतः हल्के फुल्के छोटे छोटे रेडियो नाटक लिखे हैं। कुछ रचनाएँ इस प्रकार हैं—'सपना टूट गया', 'कला की कीमत', 'अकल्पित', 'चंद्रावली', 'तीसरी दुनिया', 'मृत्युलोक में नारद', '···कि उल्लू न हुए', 'धत्तेरे की', 'कहाँ से कहाँ', आदि। नारायणजी के नाटक मुख्यतः मनोरंजन के उद्देश्य से लिखे गए जान पड़ते हैं। नाटक बहुत छोटे छोटे हैं, पर इनके कथानकों की अवधि दीर्घकाल में फैली हुई है। इनमें दृश्य भी बहुत छोटे छोटे आए हैं। कथानक का विकास सरल गति से हुआ है। नाटकीयता के दर्शन कम स्थलों पर होते हैं। कुछ नाटक तो चित्र मात्र हैं। इनमें चरित्रांकन की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया है। संलाप सजीव और रोचक हैं। भाषा बोलचाल की है, पर अतिशयोक्तिपूर्ण।

कथाकार के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त करने के बाद श्रीप्रफुल्लचंद्र ओझा मुक्त ने रेडियो नाट्यलेखन प्रारंभ किया। पटना आकाशवाणी की स्थापना के वर्ष से ही ये उससे संबद्ध रहे हैं, और इन्होंने अनेक रेडियो नाटकों की रचना की है। सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, रोमांचक आदि सब प्रकार के नाटक इन्होंने लिखे हैं। इनके कुछ प्रसिद्ध नाटक हैं—'दूब और पगडंडी', 'धब्बे', 'घटाएँ,' 'चूड़ियाँ', 'पुकार', 'प्रतिशोध', 'कटी उँगलियाँ', 'सिसकियाँ' आदि। मुक्तजी के कुछ नाटक सामाजिक यथार्थ पर आधारित हैं, कुछ नाटक कल्पनाप्रधान हैं और मात्र मनोरंजन के लिये हैं। सामाजिक नाटकों में लेखक ने वर्तमान आर्थिक वैषम्य और उससे उत्पन्न समस्याओं की ओर संकेत किया है। शिल्प की दृष्टि से मुक्तजी के नाटकों पर इनके कथाकार का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। ये नाटक क्षणविशेष की तीव्रता पर आधारित नहीं हैं, दीर्घ अवधि तक विस्तृत हैं। हाँ, इनमें रोचक कहानियाँ हैं और वे आकर्षक

ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। मुक्तजी के पास सशक्त भाषा और गतिशील प्रसंगानुकूल संलाप लिखने की क्षमता है, जिसका उपयोग नाटकों में कुशलतापूर्वक किया गया है। कहानी को रोचक बनाने के लिये आकस्मिक मोड़ भी आए हैं। स्थान स्थान पर स्मृतिदृश्यों का भी उपयोग किया गया है। मुक्तजी ने अपने नाटक केवल रेडियो को ध्यान में रख कर लिखे हैं, और वे रेडियो पर सफल रहे हैं।

लेखक को स्वयं रेडियो नाटक में विशेष रुचि है। रेडियो नाटक पर इन्होंने 'रेडियो नाट्य शिल्प' पुस्तक भी लिखी है। कुछ वर्षों तक आकाशवाणी से भी संबद्ध रहते हुए विभिन्न प्रकार के अनेक नाटक लिखे हैं। इनमें से कुछ के नाम हैं—'प्रकाश की विजय', 'दुनिया खड़ी है', 'अश्वमेध', 'दोषी कौन ?', 'विषाद की छाया', 'आदमी की कीमत', 'वे अभी भी क्वाँरी हैं', 'चौदह वर्ष', 'रंग और रूप', 'विजेता', 'टूटा हुआ आदमी', 'अभिशाप', 'पाँचवी बेटी', 'टूटा हुआ मन', 'मन, मशीन और आदमी', आदि। इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक रंग नाटकों, कहानियों, उपन्यासों के रेडियो रूपांतर भी प्रस्तुत किए हैं, और विभिन्न विषयों पर रूपक भी लिखे हैं। श्रीसिद्धनाथ कुमार ने मुख्यतः समसामयिक विषयों को ही लिया है, पर कुछ नाटकों के विषय ऐतिहासिक पौराणिक भी हैं, कुछ के मात्र मनोवैज्ञानिक। इनके प्रारंभिक नाटकों में कथानक निर्माण की कोई विशेषता नहीं दीखती और कथानक बहुत संश्लिष्ट भी नहीं हैं। बाद के नाटकों में संश्लिष्टता आई है, और उनमें उद्देश्य की एकाग्रता पर भी ध्यान रखा गया है। सब नाटकों में नाटकीयता के दर्शन नहीं होते। लेखक ने स्मृतिदृश्यों का उपयोग अधिक नाटकों में किया है, फलतः कथानक एक ही स्थान पर स्थिर रहता है, और उसकी गति में बाधा पड़ती है। रेडियो माध्यम को ध्यान में रखकर सिद्धनाथ कुमार ने शिल्पगत प्रयोग विशेष रूप से किए हैं—नाटक के प्रारंभ, दृश्य-परिवर्तन, मानसिक द्वंद्वचित्रण आदि से संबंधित। लेखक ने नाटकों की प्रभावोत्पादकता बढ़ाने के लिये ध्वनिप्रभावों के उपयोग पर भी ध्यान दिया है।

प्रसिद्ध कवि, कहानीकार और उपन्यासकार अज्ञेयजी ने ठान रखा था कि वे नाटक नहीं लिखेंगे, फिर भी उन्होंने रेडियो के लिये कुछ रचनाएँ लिखी हैं—'नान्यः पंथा', 'कविप्रिया', 'बसंत' और 'जयदोल' 'नान्यः पंथा' महात्मा गांधी की नोआखाली यात्रा पर आधारित हैं। सही अर्थों में यह नाटक न होकर रूपक है। लेखक ने अपने कथ्य को कलात्मक रूप दिया है। स्थितियों और पात्रों के चुनाव में कुशलता बरती गई है। कुछ स्थलों पर नाटकीय संवाद बड़े प्रभावशाली रूप में आए हैं। 'कविप्रिया' एक मार्मिक नाटक है। 'बसंत' संलापप्रधान कहानी है। 'जयदोल' लेखक की अपनी ही कहानी का रेडियो नाट्य रूपांतर है। ये सभी सफलतापूर्वक प्रसारित हुए हैं।

श्रीअमृतलाल नागर ने रेडियो के लिये विभिन्न प्रकार की रचनाएँ की हैं। यदि इन्होंने 'उजाले से पहले' और 'भारतेंदु कला'—जैसे रूपक लिखे हैं, तो 'उतार-

पड़ाव', 'चक्करदार सीढ़ियाँ', 'अँधेरा' आदि मनोवैज्ञानिक नाटक भी लिखे हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक प्रहसनों की भी रचना की है। श्रव्य माध्यम की सुविधाओं का ध्यान इन सभी नाटकों में रखा गया है। लेखक ने अपने कुछ नाटकों में प्रयोग भी किए हैं। रेडियो नाटक में ध्वनि और शब्द ही सब कुछ हैं, पर नागरजी ने अपने 'गूँगी' नाटक में गूँगी को मुख्य पात्र बनाया है। गूँगी की ध्वनियों और पार्श्ववर्ती पात्रों की सहायता से लेखक गूँगी की वेदना को व्यक्त करने में सफल रहा है। अपने मनोवैज्ञानिक नाटकों में नागरजी ने नाटकीय स्थितियाँ ली हैं, और पात्रों के अंतर्द्वंद्व को प्रभावशाली रूप में चित्रित किया है। 'चक्करदार सीढ़ियाँ' और 'अँधेरा' में पागलों का मानसिक द्वंद्व विशेष आकर्षक है। जासूसी नाटक 'हीरे की अँगूठी' में कुतूहल के तत्व पर विशेष ध्यान दिया गया है। इनकी हास्य रचनाएँ भी काफी सफल रही हैं।

प्रसिद्ध नाटककार श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र ने कुछ नाटक केवल रेडियो को ध्यान में रख कर लिखे हैं। ऐसे नाटक 'कावेरी में कमल' और 'भगवान् मनु तथा अन्य एकांकी' में संकलित हैं। इनके नाम हैं—'कावेरी में कमल, 'देवगिरि में ग्रहण', 'पत्थर में प्राण', 'भगवान् मनु', 'विधायक पराशर', 'याज्ञवल्क्य', 'कौटिल्य' और 'आचार्य शंकर'। यद्यपि इन संग्रहों में कहीं यह संकेत नहीं है कि ये रेडियोनाटक हैं, पर इनमें श्रव्य माध्यम की विशेषताएँ इतनी स्पष्ट हैं कि इन्हें रेडियोनाटक छोड़कर और कुछ कहा ही नहीं जा सकता। श्रव्य संकेतों और ध्वनिप्रभावों का व्यवहार कुशलता से किया गया है। कुछ नाटकों की पृष्ठभूमि ही ऐसी है कि उसका प्रस्तुतीकरण रेडियो पर ही संभव है। उदाहरण के लिये 'कावेरी में कमल' के दृश्य देखे जा सकते हैं। 'मनु', 'पराशर' आदि से संबंधित रचनाएँ जीवनचरितात्मक रूपक हैं। इनकी विशेषता इस बात में है कि बिना किसी नैरेटर का सहारा लिये प्रसंगों को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है।

श्रीरामचंद्र तिवारी बहुमुखी प्रतिभासंपन्न लेखक हैं। उन्होंने विभिन्न प्रकार के रेडियो नाटक लिखे हैं। इनके कुछ उल्लेखनीय नाटक हैं—'नवभारत', 'बंदनी', 'अन्नदान', 'खून के प्यासे', 'पशुपक्षी संमेलन', 'जागरण', 'लक्ष्मी का प्रवेश' आदि। इनमें कुछ नाटक हैं, कुछ भावकल्पनाएँ। लेखक ने इनमें युगजीवन के प्रति जागरूकता दिखाई है। श्रीरामपूजन मलिक ने भी अनेक रेडियोनाटक लिखे हैं। इनमें कुछ हैं—'तूफान और तिनका', 'अँधेरे उजाले', 'हाथ की लकीरें', 'रेगिस्तान की प्यास' आदि। मलिकजी ने मध्यवर्गीय समाज की विभिन्न समस्याओं को चित्रित किया है। कथानक इन्होंने सामान्य जीवन के परिचित परिवेश से ही अधिकतर लिए हैं। सभी नाटकों में ध्यान रखा रखा गया है कि उनका आकर्षण अंत तक बना रहे। श्रीराजाराम शास्त्री ने भी कई प्रकार के रेडियोनाटक लिखे हैं—'सतलड़ी का हार', 'अदला-बदला', बड़बेरी', 'पत्थर की आँख', 'शिकार', 'अपराधी कौन ?', 'अठन्नी', 'गूँगा'

आदि। कुछ नाटक सामाजिक विषयों पर हैं, कुछ पौराणिक प्रसंगों पर, और कुछ हास्यप्रधान स्थितियों पर। सामाजिक नाटकों में पर्दा, अंधविश्वास, अशिक्षा, आभूषणप्रियता आदि की समस्याओं को उठाया गया है। श्रीगोपाल शर्मा के रेडियो नाटकों में मुख्य हैं—'प्रतिशोध', 'सौंदर्यप्रतियोगिता', 'मुक्ति की पुकार', 'दीवाली के मेहमान', 'दाँत के डाक्टर', 'भूख', 'झगड़े की जड़', 'नारी की व्याख्या' आदि। ये नाटक विभिन्न विषयों पर हैं। 'प्रतिशोध' पौराणिक रचना है तो 'दीवाली के मेहमान' व्यंग्य रचना। श्रीगोपाल शर्मा ने अपने नाटकों में विरोधी तत्वों और नाटकीय स्थितियों का उपयोग कुशलता से किया है। श्रीकृष्णदास ऋषि भटनागर ने रेडियो के लिये 'सफर के साथी', 'बोनस', 'ऊन की लच्छी', 'लाटरी' आदि अनेक नाटक लिखे हैं। इनके नाटक मनोरंजक और आकर्षक हैं। कथानकनिर्माण में जिज्ञासातत्व पर्याप्त मात्रा में है। सभी नाटकों के अंत चमत्कारपूर्ण हैं। नाटकों में पात्र भी बहुत कम रखे गए हैं। श्रीकैलाशचंद्र देव बृहस्पति के रेडियो नाटकों में 'कलंक', 'वर्तमान', 'अतीत', 'सास-बहू', 'स्वर्ग में क्रांति', जम के दूत 'आदि उल्लेखनीय हैं। सभी रचनाओं में लेखक का उद्देश्य विषयवस्तु को रोचक रूप में प्रस्तुत करने का रहा है, और उसे उसमें पर्याप्त सफलता मिली है। श्री 'भृंग तुपकरी' आकाशवाणी से एक लंबी अवधि से संबद्ध रहे हैं। इनकी कुछ नाट्यरचनाएँ हैं—'भिखारी का भेद', 'फूल और पत्ता', 'घुमाँ', 'बदला', 'प्यार का पहलू', 'हर्ष का विषाद', 'काँच का टुकड़ा' आदि। इन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि सब प्रकार के कथानकों पर अपने नाटकों का निर्माण किया है। इन्होंने स्मृतिदृश्यों, ध्वनिप्रभावों आदि का व्यवहार प्रभावोत्पादक रूप में किया है। इन्होंने 'काँच का टुकडा' जैसा सफल स्वगतनाट्य भी लिखा है। श्रीरामसरन शर्मा के नाटकों में 'सफर की साथिन', 'बंद दरवाजा', 'बेचारी चुड़ैल', 'भूतों की दुनिया' आदि का उल्लेख किया जा सकता है। जैसा कि लेखक ने स्वयं कहा है, इनके नाटकों का उद्देश्य मुख्यतः मनोरंजन है, और इसमें लेखक को सफलता मिली है। श्रीस्वदेश कुमार ने छोटे बड़े कई रेडियो नाटक लिखे हैं—'अजनबी', 'पतिपत्नी', 'नारी का मूल्य', 'शादी की बात', 'सौदा' आदि। प्रसारण की दृष्टि से ये नाटक काफी सफल रहे हैं। श्रीहिमांशु श्रीवास्तव ने गंभीर और हल्के फुल्के, दोनों प्रकार के नाटक लिखे हैं—'सभ्यता और संगीन', 'चिराग तले अँधेरा', 'खरीदे हुए सपने', 'एकतीसा महीना', 'जहाज चलता रहा', 'दोस्त का होटल', 'दोस्ती मँहगी पड़ी' आदि। 'सभ्यता और संगीन' में जहाँ युद्ध की समस्या उठाई गई है, वहाँ 'दोस्ती मँहगी पड़ी' मनोरंजनप्रधान नाटक है। सभी नाटक रेडियो से सफलतापूर्वक प्रसारित हुए हैं। श्रीअनिल कुमार ने अनेक नाटक लिखे हैं, कुछ हैं—'प्रजापति को निर्माणशाला', 'निर्देशक', 'समझौता', 'मौत के बाद', 'ग्रहों का निर्णय', 'महामाया', 'पराजय'। आकाशवाणी से संबद्ध श्रीमती लीला अवस्थी ने मुख्यतः रेडियो रूपक लिखे हैं—'नर्मदा', 'चौरागढ़', 'रामगिरी', 'पवनार', 'असीर-

गढ़', 'रतनपुर' और 'त्रिपुरी'। इनमें मध्यप्रदेश के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थानों के बनने और बिगड़ने का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन लेखकों के अतिरिक्त जिन अन्यान्य रचनाकारों की नाट्यकृतियाँ रेडियो से प्रसारित होती रही हैं, उनमें ये नाम भी लिए जा सकते हैं—सर्वश्री राधाकृष्ण प्रसाद, लक्ष्मीनारायण लाल, जगनाथ नलिन, राधाकृष्ण, रामवृक्ष बेनीपुरी, देवराज दिनेश, शिवसागर मिश्र, बालचंद्र ओझा, सत्येंद्र शरत्, धर्मवीर भारती, विनोद रस्तोगी आदि। रेडियोनाट्य के क्षेत्र में नित नए लेखक आते जा रहे हैं, और उन सबका उल्लेख करना संभव नहीं है।

रेडियो का माध्यम और काव्यनाटक

अभी तक हमने गद्य में लिखित रेडियो नाटक का परिचय दिया है, पर रेडियो के लिये हिंदी में पद्यनाटक भी लिखे गए हैं। रेडियो के अविष्कार ने काव्य-नाटक को एक बड़ा स्वाभाविक माध्यम प्रदान किया है। रेडियोमाध्यम, अदृश्य होने के कारण, अपने स्वभाव से ही कल्पना एवं काव्यप्रधान होता है। जैसा कि रेडियो-कला विशेषज्ञ डोनल्ड मेकह्विनी ने कहा है, रेडियो से प्रसारित कृति काव्य की भाँति ही मन पर प्रभाव डालती है। यही कारण है कि रंगमंच पर अभिनीत काव्य-नाटक की तुलना में रेडियो से प्रसारित काव्यनाटक अधिक स्वाभाविक और सफल लगता है। हालैंड में मर्करी थियेटर के साहसपूर्ण प्रयत्नों के बावजूद काव्यनाटक रंगमंच पर लोकप्रिय न हो सके, लेकिन रेडियो काव्यनाटक वहाँ क्रमशः लोकप्रिय होते गए हैं। आकाशवाणी केंद्रों के विस्तार ने हिंदी काव्यनाटकों को भी विकास का अवसर दिया है। यहाँ इस सैद्धांतिक तथ्य का उल्लेख आवश्यक है कि रेडियो काव्यनाटक दो रूपों में मिलता है। पहला तो स्पष्टतः काव्यनाटक है—इसमें एक सुसंबद्ध कथानक होता है, कार्यव्यापार होते हैं, नाटकीयता होती है। दूसरा काव्य-रूपक कहा जाता है—इसका साम्य रेडियोफीचर से होता है, यह नाटकीय की अपेक्षा विवरणात्मक होता है, इसमें पात्रों के चरित्र चित्रण पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, इसमें आवश्यकतानुसार नैरेटर का भी व्यवहार किया जाता है। इसी से मिलती जुलती एक अन्य प्रकार की रचना भी प्रसारित होती है जिसे संगीतरूपक कहा जाता है। भावमयता इसकी विशेषता है। इसमें ऐसे गीतों की प्रधानता होती है जो गद्य या पद्य के नैरेशनों से परस्पर संबद्ध कर दिए जाते हैं।

रेडियो के लिये काव्यनाटक लिखने के पहले जिन्होंने गीतिनाट्य लिखे थे, ऐसे हिंदी कवियों में सर्वश्री उदयशंकर भट्ट और भगवतीचरण वर्मा के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं। रेडियो से संबद्ध होने के बाद भट्टजी ने कई पद्यनाटक रेडियो के लिये लिखे। इनमें से मुख्य रचनाएँ हैं—'एकला चलो रे', 'कालिदास', 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी।' शिल्प की दृष्टि से इसमें से कोई भी रचना काव्यनाटक नहीं है। प्रथम दो रचनाएँ पद्यरूपक हैं, और अंतिम दो रचनाओं को रेडियोरूपांतर कहा जा सकता है। 'एकला चलो रे' महात्मा गांधी की नोआखालीयात्रा पर आधारित है।

इसकी केंद्रीय भावना रवींद्रनाथ ठाकुर की एक कविता से ली गई है। रूपक उसी बँगला गीत से प्रारंभ होता है, और उसके बाद विभिन्न स्वरों में नैरेशन दिया जाता है। रचना में नाटकीयता नहीं है, पर विषयवस्तु को कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'कालिदास' भी रूपक है जिसमें महाकवि कालिदास के जीवन की पृष्ठभूमि पर रचनाओं का परिचय दिया गया है। 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी' कालिदास की रचनाओं के रेडियोरूपांतर हैं। 'गुरु द्रोण का अंतर्निरीक्षण' और 'मदनदहन' भी भट्टजी की सुंदर कृतियाँ हैं जो रेडियो से प्रसारित हुई हैं।

रेडियो के लिये श्रीभगवतीचरण वर्मा ने भी कुछ काव्यरचनाएँ लिखी हैं। 'शक्ति' काव्यरूपक है जिसमें कवि ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि सभ्यता के विकास में शक्ति किन किन रूपों में उदित होती रही है। इसमें कोई कथानक नहीं है, प्रभावसृष्टि की एक निश्चित दिशा भी नहीं है। इसमें नैरेशन का व्यवहार मुख्य रूप से किया गया है। अन्य प्रसिद्ध प्रसारित रचनाओं में 'द्रौपदी' और 'महाकाल' हैं। द्रौपदी दस दृश्यों में है, और इसमें महाभारत की कथा के परिपार्श्व में द्रौपदी के चरित्र को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। 'महाकाल' पाँच दृश्यों में है, और इसमें महाकाल का भव्य चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इन तीनों रचनाओं में विस्तार अधिक है—इनमें संघर्षतत्व और कार्यव्यापार पर कम ध्यान दिया गया है। ये रचनाएँ नाटकीयता की दृष्टि से उनकी अपनी ही कृति 'तारा' (जो मूलत: रेडियो के लिये नहीं लिखी गई थी) के स्तर पर नहीं पहुँच पातीं।

प्रसिद्ध कवि श्रीसुमित्रानंदन पंत कई वर्षों तक रेडियो से संबद्ध रहे। इन्होंने रेडियो के लिये अनेक काव्यरूपक भी लिखे हैं। इनके रूपकों के तीन संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें संकलित रचनाएँ हैं—'रजत शिखर', 'फूलों का देश', 'उत्तर शती', 'शुभ्र पुरुष', 'विद्युत्वसना', 'शरद चेतना', 'शिल्पी', 'ध्वंसशेष', 'अप्सरा', 'सौवर्ण' तथा 'स्वप्न और सत्य।' लगभग सभी रचाएँ आधुनिक युग की सांस्कृतिक समस्याओं पर आधारित हैं। उदाहरण के लिये, 'रजतशिखर' में मानवमन के विकास की वर्तमान स्थिति में ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। 'फूलों का देश' को सांस्कृतिक चेतना का धरातल कहा गया है। इसमें अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के व्यापक समन्वय की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार के दूसरे रूपक भी हैं। ये सभी रचनाएँ विचारप्रधान हैं। इनमें प्रस्तुत समस्याएँ इतने सूक्ष्म, वायवीय एवं प्रतीकात्मक रूप में आई हैं कि वे सहज ग्राह्य नहीं हो पातीं और, इस प्रकार नाटक की प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति इनसे नहीं होती। इनमें कथानक का भी अभाव है। संभवत: लेखक का उद्देश्य काव्यरूपक लिखने का है, लेकिन काव्यरूपक में भी जिस सुसंबद्धता और जिस सुनिश्चित प्रभावसृष्टि की अपेक्षा होती है, उनका इनमें अभाव है। पात्र भी इनमें व्यक्ति नहीं हैं। संलाप भी इनमें काफी बड़े बड़े हैं।

कहीं कहीं विभिन्न स्वरों के माध्यम से एक ही विचारशृंखला को क्रमशः आगे बढ़ाया गया है। कहीं कहीं एक ही पात्र लगातार कई पृष्ठों तक भाषण देता चला जाता है। इस प्रकार ये रचनाएँ कहीं एक स्वर में और कहीं अनेक स्वरों में प्रस्तुत लंबी विचारप्रधान कविताएँ बन जाती हैं, इनमें कहीं नाटकीयता नहीं रह जाती। इन रूपकों में सरल वाक्यों की अपेक्षा संयुक्त और मिश्र वाक्यों का व्यवहार अधिकता से किया गया है। इस प्रकार का वाक्यविन्यास नाटक में प्रयुक्त भाषा की सहजग्राह्यता में बाधक बनता है। इन्हीं कारणों से पंतजी के काव्यरूपकों में नाटकीयता और अभिनेयता के तत्व नहीं आ सके हैं। इनका अध्ययन पाठ्य नाटकों के रूप में किया जा सकता है। इनसे उनकी विचारधारा, समसामयिक समस्याओं के संबंध में उनकी मान्यताओं तथा उनके काव्यविकास का परिचय मिल सकेगा।

छायावादी काव्यधारा के सुपरिचित कवि श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री ने रेडियो काव्यनाटक के क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम किया है। इनकी कुछ रचनाएँ हैं—'गंगावतरण', 'उर्वशी', 'वासंती', 'पाषाणी', 'मंजरी', 'तमसा', 'मदनदहन', 'उर्वशीमानभंग', 'शापमुक्ति' आदि। ये रचनाएँ रेडियो के लिये लिखी गई हैं, और रेडियो से इनका प्रसारण हुआ है। लेखक ने इन रचनाओं को 'संगीतिका' कहा है। शास्त्रीजी की लगभग सभी रचनाओं के विषय प्राचीन एवं मध्ययुगीन वातावरण से लिए गए हैं। 'आदमी' जैसी कृतियाँ अपवाद हैं। शास्त्रीजी के रूपक भावात्मकता के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। इनमें विविध भावों का आरोह अवरोह सूक्ष्मता से चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ रूपकों के प्रस्तुतीकरण में सूत्रधार का सहारा लिया गया है। इन रूपकों में एक विशेष बात यह दीखती है कि इसके संवाद अंत्यानुप्रासयुक्त सममात्रिक छंदों में हैं। इनसे एक ओर तो नाटकीयता में बाधा पड़ती है, पर वहीं दूसरी ओर संगीतात्मकता बनी रहती है। इनमें गेय गीत भी रखे गए हैं। इनकी रचना में रागरागिनियों के सौंदर्य एवं वैविध्य का ध्यान रखा गया है। भाषा के व्यवहार में सर्वत्र सतर्कता बरती गई है। सब रचनाओं में मुख्यतः विशुद्ध एवं परिमार्जित तत्समप्रधान भाषा का ही व्यवहार किया गया है, यद्यपि देश, काल एवं पात्रों की मनःस्थितियों के अनुरूप भाषा में यथोचित परिवर्तन होता रहा है।

काव्य एवं संगीतप्रधान रेडियो रूपकों के क्षेत्र में श्री गिरिजाकुमार माथुर ने भी काम किया है। इनका 'इंदुमती' काव्यरूपक महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' से प्रेरित एवं प्रभावित है। इसमें कवि ने इंदुमती के स्वयंवर और उसके द्वारा सूर्यवंशी महाराज अज के वरण का चित्र प्रस्तुत किया है। इस रूपक के वर्णन वातावरण के अनुरूप हैं। इनमें वैभव एवं ऐश्वर्य के प्रभावशाली और सजीव और चित्र अंकित हुए हैं। संवाद के अंश बहुत कम हैं, अधिकतर नैरेशन का व्यवहार किया गया है। नैरेशन और संवाद के छंद अंत्यानुप्रासयुक्त हैं, पर छंद कई प्रकार के हैं। माथुरजी

ने अपनी रचना 'पृथ्वीकल्प' में एक प्रयोग सा किया है। लेखक ने इसे 'विज्ञान-काव्य' कहा है। इसमें लेखक का कथन है कि हमारे आज तक के मानवमूल्य व्यक्ति-मुखी रहे, हैं, किंतु अब ईश्वर का स्थान विज्ञान ले रहा है, व्यक्ति के स्थान पर समूह आ रहा है, मूल्यों के व्यक्तिगत स्वरूप के बदले सामूहिक मूल्यमान स्थापित हो रहे हैं। इसमें पात्रों के स्थान पर दिक्गीत, गाथाकार, गीतिका, सखियों, इतिहास, कामकन्या आदि का व्यवहार किया गया है। इन्हीं के माध्यम से लेखक ने अपनी स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। माथुरजी ने इस रचना को 'नाट्यकाव्य' कहा है। वास्तव में यह नाट्यकाव्य ही है, काव्यनाटक नहीं। इसके रंगसंकेत, पात्र आदि इस बात के सूचक हैं कि इसमें अभिनेयता का विशेष ध्यान नहीं रखा गया है।

श्रीभारतभूषण अग्रवाल ने कुछ काव्यरूपक भी लिखे हैं—'मिलनतीर्थ, शांतिपथ' और 'सेतुबंधन'। लेखक ने इन्हें सांस्कृतिक पद्यरूपक कहा है। इन तीनों रूपकों में शांतिपथ पर चलनेवाली भारत की समन्वयप्रधान संस्कृति के प्रति आस्था प्रकट की गई है। इन रूपकों की विषयवस्तु एक ही है, प्रसंगनिर्वाचन और वर्णन-शैली भी एक ही है। इनमें जीवन के मार्मिक प्रसंगों के अंकन की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। लेखक ने भारतीय इतिहास के आदिकाल से लेकर कर अबतक की कुछेक यत्र तत्र बिखरी घटनाओं को पद्यबद्ध कर दिया है। इन रूपकों में दो स्वर बारी बारी से वर्णन प्रस्तुत करते हैं और कहीं कहीं कोई गीत गा दिया जाता है। इनमें केवल नैरेशन का ही व्यवहार है, कहीं संवादशैली का सहारा नहीं लिया गया है। फलतः नाटकीयता की कमी दिखलाई पड़ती है। छंद सममात्रिक हैं, पर इनमे अंत्यानुप्रास नहीं हैं। छंदों में गति और प्रवाह है। आकाशवाणी से सामान्यतः जो नैरेशनप्रधान रूपक प्रसारित होते रहते हैं, ये रूपक उन्हीं की श्रेणी में आएँगे।

श्रीसिद्धनाथ कुमार ने भी काव्यनाटक के क्षेत्र में कार्य किया है। काव्य-नाटक 'कवि' और 'सृष्टि की साँझ और अन्य काव्यनाटक' पुस्तकों में संकलित हैं। इनके काव्यनाटक हैं—'जीवन', 'कवि', 'सृष्टि की साँझ', 'लौहदेवता', 'विकलांगों का देश', 'बादलों का शाप', 'संघर्ष' और 'वातायन खोलो'। इनका एक रूपक महात्मा गांधी की नोआखालीयात्रा पर प्रसारित हुआ था। इनके कुछ संगीतरूपक भी प्रसारित हुए हैं—'शरद यामिनी', 'लपटों की राह, और 'यक्षिणी।' कुछ रचनाओं को छोड़ कर इनके सभी काव्यनाटक आधुनिक परिवेश में लिखे गए हैं। 'सृष्टि की साँझ' में बीसवीं सदी में शांति एवं आदर्शों के नाम पर होनेवाले युद्धों का प्रश्न लिया गया है। 'लौहदेवता' में आज के यंत्रयुग की उपलब्धियों और दुर्बलताओं की ओर संकेत किया गया है। 'विकलांगों का देश' में यह चित्रित है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पा रहा है। इसी प्रकार अन्य रचनाओं में भी आधुनिक समस्याएँ उठाई गई हैं। शिल्प की दृष्टि से कुछ रचनाएँ काव्यनाटक हैं—'सृष्टि की साँझ' और 'संघर्ष' में सुसंबद्ध कथानक हैं। 'लौहदेवता', 'विकलांगों

का देश' आदि में कथानक की नहीं, बल्कि विचारों की सुसंबद्धता है। कुछ रचनाओं में नाटकीयता की अपेक्षा वर्णनात्मकता अधिक है। विचारप्रधान नाटकों में मानवीय चरित्रों की अवतारणा नहीं हो सकी है। काव्यनाटकों में नैरेशन का व्यवहार नहीं हुआ है, संवाद का ही सहारा लिया गया है। कुछ नाटकों में कहीं कहीं गद्य का भी व्यवहार किया गया है। ये रचनाएँ रेडियो माध्यम को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं, और इनमें श्रव्यशिल्प संबंधी कई तरह के प्रयोग किए गए हैं।

श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' ने प्रसारण के लिये दो लघु काव्यनाटकों की रचना की है—'मगध महिमा' और 'हिमालय का संदेश।' पहले में कलात्मक ढंग से मगध का इतिहास प्रस्तुत किया गया है, और दूसरे में विश्व को शांति का संदेश दिया गया है। इन रचनाओं में संलाप भी आए हैं, और कहीं कहीं गीतों का भी व्यवहार हुआ है। श्रीआरसीप्रसाद सिंह ने मुख्यतः संगीतरूपकों की रचना की है—'मदनिका', 'धूपछाँह', 'ऋतुराज' आदि। कुछ ऋतुसंबंधी रूपक हैं, कुछ पर्व-संबंधी। सबमें नैरेशन प्रधान है—बीच बीच में गीत आते गए हैं। श्रीहंसकुमार तिवारी ने भी संगीतरूपक ही लिखे हैं—'शकुंतला', 'मेघदूत', 'कच देवयानी' आदि। इन सबमें गीतों की प्रधानता है—कुछ के संवाद भी संगीतमय हैं। श्रीनरेश मेहता ने 'अग्निदेवता' काव्यरूपक की रचना की है जिसमें दिखलाया गया है कि सभ्यता के विकास में अग्नि का कितना योगदान रहा है। श्रीप्रभाकर माचवे के काव्यरूपक हैं—'विन्ध्याचल' और 'रामगिरि'। इन दोनों रूपकों में लेखक का उद्देश्य इन पर्वतों के पौराणिक एवं ऐतिहासिक महत्व का परिचय देना है। रूपकों में छंदोबद्ध नैरेशन हैं, बीच बीच में गीत और विभिन्न स्वरों के संलाप आते गए हैं। श्री धर्मवीर भारती ने एक पद्यनाटक लिखा है 'सृष्टि का आखिरी आदमी' जिसे उन्होंने 'रेडियो छंदनाट्य' कहा है। इसमें युद्ध से संत्रस्त वर्त्तमान सभ्यता एवं संस्कृति का चित्र अंकित किया गया है। इसमें उद्घोषक का स्वर ही मुख्य है जो नाटक के अर्द्धांश से अधिक पर छा गया है। भारतीजी का प्रसिद्ध काव्यनाटक 'अंधा युग' रेडियो से भी प्रसारित हुआ है। श्रीकर्त्तारसिंह दुग्गल के एकांकी संग्रह 'कहानी कैसे बनी' में दो काव्य-नाटक संकलित हैं—'ऊपर की मंजिल' और 'अमानत'। दोनों एकपात्री नाटक हैं। 'ऊपर की मंजिल' नाटकीयता की दृष्टि से विशेष सफल है। श्रीकेदारनाथ मिश्र 'प्रभात' के 'सर्वोदय' आदि रूपक भी रेडियो से प्रसारित हुए हैं। श्रीप्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' का काव्यरूपक 'वृंदावन' रेडियो के लिये ही लिखा गया है। इसमें नैरेशन और गीतों का व्यवहार विशेष रूप से हुआ है। इनके अतिरिक्त रेडियो से संबद्ध अनेक कवि पर्व त्योहारों, ऋतु उत्सवों, जयंतियों आदि के अवसर पर प्रसारण हेतु संगीतरूपकों की रचना करते रहे हैं। इनके शिल्प के संबंध में कोई विशेष बात नहीं है। इनमें नाटकीयता कम रहती है, काव्यत्व अधिक रहता है, और नैरेशनों

के बीच बीच में गीत दे दिए जाते हैं। संगीतात्मकता पर विशेष ध्यान रखा जाता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रेडियो नाटक : सामान्य निष्कर्ष

स्वाधीनताप्राप्ति के बाद हिंदी रेडियो नाटक का पर्याप्त विकास हुआ है। इस छोटी सी अवधि में बहुत बड़ी संख्या में रेडियो नाटक लिखे गए हैं, और लिखे जा रहे हैं। इनमें सबसे अधिक नाटक और रूपक (फीचर) ही लिखे गए हैं, स्वगतनाट्यों और प्रतिकल्पनाओं की रचना बहुत कम हुई है, सफल काव्यनाटकों की रचना तो और भी कम।

इस अवधि के रेडियो नाटकों में सबसे बड़ी बात यह दिखाई पड़ती है कि राष्ट्रीय जीवन से इनका घनिष्ठ संबंध हो गया है। स्वाधीनता के बाद देश में जो नव जागरण हुआ, उससे रेडियो नाटक प्रभावित हुए। लेखकों की अपनी प्रेरणा से तो यथार्थवादी नाटकों की रचना हुई ही, राष्ट्रीय सरकार की दृष्टि भी जब जब जिन समस्याओं की ओर गई, तब तब उन समस्याओं पर भी नाटकरूपक लिखवाए और प्रसारित किए गए। कभी नारीसमस्या पर विशेष ध्यान रहा, कभी अस्पृश्यता पर, कभी भावात्मक एकता पर, कभी विदेशी आक्रमण से उत्पन्न स्थिति पर। यह प्रशंसनीय बात है कि सरकारी नीति द्वारा अनुशासित होने के कारण हिंदी का रेडियो नाटक समसामयिक ज्वलंत समस्याओं के साथ रहा है, पर इसका कुपरिणाम भी रेडियो नाटक पर पड़ा है। आकाशवाणी शासन की वाणी है, और इसके कार्यक्रमों की दृष्टि शासन की ही दृष्टि है। स्वाभाविक है कि सरकार की दृष्टि में जो उचित और न्यायसंगत है, वही आकाशवाणी के कार्यक्रमों में भी व्यक्त हो। इसके फलस्वरूप सामाजिक यथार्थ का एक बहुत बड़ा अंश रेडियो नाटक में आने से रह जाता है। समसामयिक कथासाहित्य में यथार्थचित्रण की जो विविधता मिलती है, वह रेडियो नाटक में नहीं है। यथार्थचित्रण का जो तेज नाटक में रहना चाहिए, उसकी झलक हिंदी के रेडियो नाटक में नहीं है। आकाशवाणी सरकारी नीति और योजनाओं के प्रचार का माध्यम भी है, इसलिये प्रचारात्मक उपयोगितावादी रूपकों को विशेष प्रश्रय दिया जाने लगा है।

विकास काल में हास्य और मनोरंजनप्रधान नाटकों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी है। 'विविध भारती' की स्थापना के बाद तो छोटी छोटी हास्य नाटिकाओं की रचना विशेष रूप से होने लगी है। इससे गंभीर नाटकों के विकास को खतरा हो सकता है। फिर भी रेडियो ने मनोवैज्ञानिक नाटकों के विकास को गति दी है। ये मनोवैज्ञानिक नाटक मुख्यतः प्रेम से संबंधित होते हैं। ऐसे नाटक एक प्रकार से सरकारी नीति द्वारा हो सकनेवाले किसी भी डंक से मुक्त होते हैं। दूसरी बात यह भी है कि माइक्रोफोन का माध्यम स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को, घटनाओं की अपेक्षा

भावों और वातावरण को प्रेषित कर सकने में अपने को अधिक सक्षम पाता है। आँखों को स्थूलता भले ही अधिक प्रभावित करे, कानों से गृहीत प्रभावों द्वारा निर्मित कल्पना का आधार सूक्ष्म ही हो सकता है।

हिंदी रेडियो नाटक के विकास की जो संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत की गई है, उससे स्पष्ट है कि पच्चीस वर्षों की छोटी सी अवधि में साहित्य की इस नवीन विधा ने अपने लिये महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। रेडियो नाटक जन सामान्य का साहित्य है, और इसने जनसामान्य का विभिन्न प्रकार से मनोरंजन किया है। फिर भी इसकी संभावनाओं का अभी पूरा उपयोग नहीं हो सका है। रेडियो माध्यम की अपनी विशेषताओं और सुविधाओं पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। मात्र रेडियो को ध्यान में रखकर लिखी गई नाट्यकृतियों की संख्या बहुत नहीं है। इसके कई कारण कहे जा सकते है। (१) रेडियो नाट्यलेखन के लिये रेडियो माध्यम का घनिष्ठ परिचय अपेक्षित है। माध्यम का सूक्ष्म ज्ञान और प्रतिभा, दोनों ही रेडियो नाट्य-लेखन के लिये अनिवार्य है। जो लेखक रेडियो के बाहर हैं, उन्हें माध्यम की विशेषताओं का परिचय नहीं रहता, और जो रेडियो से संबद्ध है वे संभवतः वहाँकी यांत्रिकता मे बँधकर अपनी प्रतिभा का यथोचित उपयोग नहीं कर पाते। प्रति सप्ताह निश्चित अवधि के नाटकों को निश्चित संख्या मे प्रसारित करना होता है, और जैसा कि रेडियो से संबद्ध एक प्रसिद्ध साहित्यकार ने कहा था—रेडियो की भठ्ठी में झोंकने के लिये सामग्री जुटाने में वहाँके लोगों को जुट जाना पड़ता है। (२) रेडियो नाटक का मूल्य प्रसारण के बाद बहुत कम रह जाता है—एक से अधिक बार प्रसारित होनेवाले नाटक बहुत नहीं होते। बी० बी० सी० के एक नाट्यविशेषज्ञ ने अपने यहाँ के नाटकों के बारे में लिखा है कि रेडियो द्वारा प्रदत्त पुरस्कार प्रसिद्ध लेखकों को इसके लेखन की ओर आकृष्ट नहीं कर पाता—रेडियो नाटक सामान्यतः एक बार प्रसारित होता है, दो बार का प्रसारण भी बहुधा हुआ करता है, पर तीन बार का प्रसारण शायद ही कभी होता है। हिंदी रेडियो नाटकों के संबंध में भी ऐसा ही कुछ कहा जा सकता है। रेडियो नाट्यसंग्रह प्रकाशित करने का साहस भी कम ही प्रकाशक करते हैं। ऐसी स्थिति में नाटककार ऐसे नाटक लिखना चाहता है जो रेडियो से भी प्रसारित हो सकें, रंगमंच पर भी प्रदर्शित हो सकें, और रंगमंचीय नाटक के रूप मे प्रकाशित भी हो सकें। इससे रेडियो नाट्यशिल्प के स्वतंत्र विकास में बाधा पड़ती है। रेडियोनाट्य की स्वतंत्र विधा के प्रति हिंदी में विशेष सजगता नहीं दीखती। सन् १९५५ में इस विधा पर दो पुस्तकें (हरिश्चंद्र खन्ना और सिद्धनाथ कुमार की) निकली थी। उसके बाद अभी तक इसपर अन्य कोई प्रकाशन नहीं हुआ है। हाँ, विभिन्न विश्वविद्यालयों में इस समय हिंदी रेडियो नाटक पर शोधकार्य हो रहे हैं। (३) प्रकाशित साहित्य का लेखक अपनी कृतियों के उपभोक्ताओं और समीक्षकों की प्रतिक्रियाओं से प्रभावित, निर्दिष्ट एवं प्रोत्साहित होता

है, पर प्रसारित साहित्य का लेखक अपने श्रोताओं की प्रतिक्रियाओं से बहुत अंश तक वंचित रह जाता है। यह स्वयं इस माध्यम की सीमा है, पर रेडियो नाटक के विकास पर इसका प्रभाव पड़ता है, और यह प्रभाव बहुत अनुकूल नहीं होता।

हिंदी के रेडियो नाटक का सामान्य स्तर बहुत ऊँचा नहीं है, पर ऐसे अनेकानेक नाटकों की रचना अवश्य ही हुई है जो नाटयशिल्प की दृष्टि से बड़े कलात्मक और प्रभावशाली हैं। इनसे हिंदी रेडियोनाटय के उज्ज्वल भविष्य के संकेत मिलते हैं।

●

पंचम खंड

निबंध और समीक्षा

लेखक

डा० विजयेंद्र स्नातक

डा० भगवत्स्वरूप मिश्र

•

प्रथम अध्याय

निबंध

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की निबंधशैली का उनके समसामयिक तथा परवर्ती निबंधकारों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। आलोचनात्मक तथा विचारात्मक निबंधों की परंपरा में बहुत ही उत्कृष्ट कोटि के निबंध इस युग में लिखे गए। शुक्लजी के विद्यार्थियों में कई प्रतिभाशाली लेखक निबंध के क्षेत्र में आए जिनमें आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के नाम उल्लेखनीय हैं। व्यक्तित्व के मोहक संस्पर्श से सांस्कृतिक, साहित्यिक और समीक्षात्मक निबंध लिखनेवाले कई और लेखक भी इस युग में अवतरित हुए, उनमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेंद्र, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० विनयमोहन शर्मा, प्रभाकर माचवे आदि प्रमुख हैं। निबंध का स्वतंत्र चिंतनपद्धति से भी इस युग में विकास हुआ और सुप्रसिद्ध कहानीकार जैनेंद्र कुमार, सच्चिदानंद वात्स्यायन, दिनकर, डा० देवराज उपाध्याय प्रभृति लेखकों ने मौलिक विचारों से निबंध को पुष्ट किया। प्रगतिवादी दृष्टि से जीवन और साहित्य का अनुशीलन करनेवाले विचारक और लेखक भी इस युग में सक्रिय रूप से निबंधलेखन में प्रवृत्त हुए। उनमें यशपाल, डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त और शिवदानसिंह चौहान प्रमुख हैं। व्यक्तिपरक श्रेष्ठ निबंधकारों में नई पीढ़ी के लेखक विद्यानिवास मिश्र और शिवप्रसाद सिंह ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। आलोचनात्मक निबंधलेखकों की तो इस युग में लंबी शृंखला है। डा० सत्येंद्र, देवराज उपाध्याय, नामवर सिंह, विजयेंद्र स्नातक, इंद्रनाथ मदान, बच्चन सिंह, भगीरथ मिश्र, रघुवंश, कन्हैयालाल सहल आदि के उत्तम कोटि के निबंध प्रकाशित हुए हैं।

संक्षेप में, इस युग में निबंध की विषयसीमा के विस्तार के साथ व्यक्तित्व की छाप उत्तरोत्तर गहरी हुई और साहित्यिक समालोचना को निबंध की आत्मीयता से संयुक्त किया गया। व्यक्तिपरक निबंधों में संस्कृति, साहित्य और दर्शन को बड़ी सुष्ठु शैली से समाविष्ट कर रोचक बनाकर रखा गया। विचारविमर्श को पूरी क्षमता के साथ इसी युग के निबंध में स्थान प्राप्त हुआ। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के धरातल पर निबंध में भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यचिंतन व्यापक परिवेश में ग्रहण किया गया। राजनीति और समाजशास्त्र के विषयों पर भी निबंधसंग्रह प्रकाशित हुए हैं।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (१८९५)

बख्शी यों तो शुक्लयुग के निबंधलेखक हैं किंतु उनके श्रेष्ठ निबंधसंग्रह आलोच्यकाल में ही प्रकाशित हुए हैं। अतः हमने इस काल में इनका समावेश करना उचित समझा। इनके सात निबंधसंग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'पंचपात्र', 'कुछ', 'मकरंद बिंदु', 'प्रबंधपारिजात और त्रिवेणी उल्लेखनीय हैं। बख्शीजी के मत में निबंध में वैयक्तिक विचारधारा की अभिव्यक्ति के लिये अपेक्षाकृत अधिक स्थान होता है अतः निबंध में लेखक अपने को ही प्रकट करता है। उनका मत है कि निष्कपट भावों की निष्कपट अभिव्यक्ति ही निबंध की विशेषता है। बख्शीजी निबंध में आलोचना को प्रायः सदैव स्वीकार करते रहे हैं। वैयक्तिक निबंधों में भी कहीं न कहीं उनका आलोचक रूप बना रहता है। बख्शी जी के निबंधों का विभाजन करते समय यह बात स्पष्ट रूप से गोचर होती है कि उन्होंने विचारात्मक, समीक्षात्मक तथा भावात्मक निबंधों को अपनी रचना में स्थान दिया है। 'कला और काव्य', 'आलोक और तिमिर', 'कल्पना और सत्य', 'सत्य और झूठ', आदि उनके विचारपक्ष को स्पष्ट करनेवाले निबंध हैं। 'विश्वसाहित्य' उनकी समीक्षात्मक दृष्टि की परिचायक पुस्तक है। अतीत स्मृति, श्रद्धांजलि के दो फूल, आदि संस्मरणात्मक लेख उनके भावात्मक निबंध कहे जा सकते हैं। एक पुरानी कथा, बंदर की शिक्षा को विवरणात्मक निबंधकोटि में रखा जा सकता है।

बख्शीजी ने अँगरेजी का अच्छा ज्ञान होने पर भी हिंदी भाषा की प्रकृति की रक्षा का भरसक प्रयास किया है। अँगरेजी के शब्दों को बचाने में भी ये पूरी तरह जागरूक हैं। व्यावहारिक बोधगम्य भाषा में सरल मुहावरे इन्हें प्रिय हैं।

बाबू गुलाब राय (१८८८-१९६३)

बाबू गुलाब राय शुक्लयुग के समर्थक निबंधलेखकों में हैं। बाबूजी की विशेषता यह है कि उन्होंने निबंध के प्रायः सभी प्रकारों को स्वीकार किया और परिमाण तथा गुण दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ निबंधों की सृष्टि की। बाबूजी के आठ दस निबंधसंग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें प्रबंधप्रभाकर, फिर निराशा क्यों, मेरी असफलताएँ, मेरे निबंध, कुछ उथले कुछ गहरे, ठलुआ क्लब, अध्ययन और आस्वाद, सिद्धांत और अध्ययन अधिक प्रसिद्ध हैं। बाबूजी के निबंधों का प्रतिपादन शैली तथा विषयवस्तु की दृष्टि से किया गया है।

गुलाबरायजी मूलतः विचारक और अध्यापक थे। दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने के कारण तर्कवितर्क की विचारसरणि को पकड़कर ही वे विषयप्रतिपादन में संलग्न होते थे। उनके व्यक्तिपरक या 'पर्सनल एसेज' में जो छटा मिलती है वह विचारपरक अथवा समीक्षापरक निबंधों में नहीं है। प्रबंधप्रभाकर जैसी छात्रोपयोगी पुस्तकों में भी उनकी शैली में विचारतत्त्व तथा हास्यविनोद का पुट देखा जा सकता

है। सुबोध और सरल शैली में कथ्य को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने की बाबूजी को अध्यापकीय क्षमता प्राप्त थी। इस अनुभव का उन्होंने प्रायः सभी निबंधों में उपयोग किया है।

शास्त्रीय विषयों पर सैद्धांतिक निबंध भी बाबूजी ने पर्याप्त मात्रा में लिखे हैं। कहना न होगा कि उनका प्रचार विद्यार्थीजगत् में खूब हुआ है और आज भी वे पढ़े पढ़ाए जाते हैं। रस और मनोविज्ञान, साधारणीकरण,. साहित्य की मूल प्रेरणाएं, मनोविश्लेषण और आलोचना आदि निबंध बाबूजी के शास्त्रज्ञान को बताने के साथ उनके कथन की स्पष्टता का भी परिचय देते हैं। व्यावहारिक समीक्षा पर भी उनके लगभग दो दर्जन निबंध उपलब्ध हैं जिनमें समन्वय की अच्छी पद्धति अपनाई गई है। 'फिर निराशा क्यों बाबूजी की एक प्रारंभिक किंतु स्तुत्य रचना है। इस पुस्तक के निबंध व्यक्तिगत जीवन की झांकी प्रस्तुत करने के साथ मनुष्य को जीवनजागृति, बल और कष्टसहिष्णुता की भावना से भर देते हैं।

'मेरे निबंध' तथा 'कुछ उथले कुछ गहरे' शीर्षक संग्रहों में संकलित निबंध राजनीति, समाज, मनोविज्ञान, विज्ञान, भाषा और साहित्य से संबंध रखते हैं। विषयवैविध्य के साथ शैलीवैविध्य भी इनमें पर्याप्त मात्रा में है। कुछ निबंध विवरणात्मक तथा तुलनात्मक शैली में भी लिखे गए हैं। समीक्षात्मक निबंधलेखकों में भी बाबूजी का योगदान उल्लेख्य है।

बाबूजी के सर्वश्रेष्ठ निबंध व्यक्तित्व के संस्पर्श से अनुप्राणित निबंध ही हैं जिनमें व्यंग्यविनोद, सूक्ति, हास,परिहास, जीवनानुभव और प्रासादिकता है।

सियारामशरण गुप्त (१८९५-१९६३)

सियारामशरण गुप्त उन निबंध लेखकों में हैं जिन्होंने बहुत कम संख्या में निबंध लिखकर भी निबंधकारों में अपना श्रेष्ठ स्थान बनाया है। सियारामशरण स्वभाव से कवि और विचारक थे। उनके निबंधों में कवित्व और विचार की समन्वित धारा प्रवाहित होती हुई देखी जा सकती है। 'उनके निबंधों में उनका निष्कपट व्यक्तित्व सरल भाषा में जैसे पाठकों से वार्तालाप करता जाता है। वार्तालाप में ही संस्मृतियाँ गुँथी हुई होती हैं और उन्हीं में से तत्त्वचिंतन का नवनीत सहज ही में तैरता चला आता है।'—(माचवे)। वस्तुतः इनके निबंध गंभीर चिंतन, आत्मगत अनुभूतियों के चित्रण, साहित्यिक शैली, कथात्मक रोचकता से परिपूर्ण होते हैं। 'झूठ सच' इनका निबंध संग्रह है जो हिंदी के श्रेष्ठ निबंधों में गिना जाता है।

विचार के क्षेत्र में सियारामशरण गांधीवादी हैं। नैतिक मूल्यों के प्रति सहज आस्था होने के साथ सत्य, अहिंसा और प्रेम को जीवन का शाश्वत मूल्य स्वीकार करते हैं। फलतः इनके निबंधों में भी गांधी विचारधारा किसी न किसी रूप में अनुस्यूत

रहती है। इनके निबंधों को हम विचारात्मक तथा भावनात्मक कोटि में रख सकते हैं। दो एक वर्णनात्मक निबंध भी इन्होंने लिखे है।

भाषा का आडंबर लेखक ने स्वीकार नहीं किया। सीधी, सरल प्रवाहपूर्ण शैली में विचारों को व्यक्त करना ही इनका उद्देश्य रहा है। इनके निबंधों को आलोचकों ने वैयक्तिकता की दृष्टि से हिंदी के श्रेष्ठ निबंधों में रखा है। ठीक भी है, 'झूठ सच' को पढ़ते समय सियारामशरण के जीवन के कुछ पृष्ठ अपने आप खुलते जाते हैं और पाठक उनमें तन्मय होकर कथा, वर्णन और विचार की अन्विति में यह भूल जाता है कि वह लेखक से बातचीत कर रहा है या कोई निबंध पढ़ रहा है। कुछ निबंधों में तो अद्‌भुत ढंग से व्यंग्य द्वारा आधुनिक यांत्रिक जीवन पर प्रहार भी किये गए हैं। 'घोड़ाशाही' निबंध हिंदी में अपने ढंग का एक मात्र निबंध है। 'एक दिन', 'ऋणी' और 'हाँ, नहीं', निबंध भावात्मक कसौटी पर खरे उतरे हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी (१८८९-१९६८)

माखनलाल चतुर्वेदी कवि के रूप में जितने विख्यात हैं उतने गद्यलेखक या निबंधकार के रूप में नहीं, यद्यपि उन्होंने पत्रकार के रूप में विपुल मात्रा में लेख और निबंध लिखे हैं। उनके संपादकीय लेखों को ही यदि संकलित किया जाय तो सैकड़ों लेखों का अंबार लग जायगा। किंतु किसी का ध्यान इनकी ओर नहीं गया है। निबंध के रूप में उनकी एक ही कृति संकलित होकर **'साहित्य देवता'** नाम से प्रकाश में आई है। 'साहित्य देवता' की भाषाशैली इतनी अधिक कवित्वमय है कि इन निबंधों का गद्यकाव्य के अधिक समीप रखा जा सकता है। भावात्मक निबंधों की छटा ही इनमें व्याप्त है। विचार और विवेचन के तंतुओं को लेखक ने काव्य की धारा में इस प्रकार लीन कर दिया है कि पाठक काव्यानंद ही अधिक प्राप्त करता है।

इन निबंधों में कई त्रुटियाँ हैं जैसे अलंकरण की, आडंबर, दूरान्वय, समस्त पदावली, स्वच्छंद कल्पनाविलास, और उलझी हुई विचारसरणि की। इन दोषों के रहते हुए भी ये निबंध इतने रोचक और रंजक हैं कि पाठक इनमें काव्य, कथा, वर्णन और चित्रण का रस लेता हुआ पढ़ता चला जाता है। गुजराती के सुप्रसिद्ध लेखक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की संमति में 'साहित्य देवता' की गणना संसार की सर्वश्रेष्ठ सात कृतियों में की जा सकती है। साहित्य देवता के निबंध जिस मौज और मस्ती के आलम में लिखे गए हैं उसके अनुरूप उसमें साहित्यिक छटा और सौंदर्य बिखरा हुआ है। आलोचकों का कहना है कि स्वामी रामतीर्थ का मस्तानापन, भावुकता और भावावेश, सरदार पूर्ण सिंह की लाक्षणिकता, दार्शनिकता और लोकमान्य तिलक की निर्भीकता, स्वच्छंदता और तीव्रता इन निबंधों की मूल प्रेरक शक्ति है। समस्त एवं क्लिष्ट पदावली के कारण निबंधों में भावात्मकता तो

नहीं है किंतु उत्तालतरंगों से परिपूर्ण महानद के सदृश प्रवाह सर्वत्र व्याप्त है। प्रतीक-शैली से भी अभिव्यंजना हुई है किंतु उसमें भी प्रवाह टूटा नहीं है। धाराशैली के ये निबंध सुंदर निदर्शन हैं। शब्दविन्यास में उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों को अनायास ग्रहण कर लेना चतुर्वेदीजी की विशेषता है। कविता में भी वे इस प्रकार की शब्द-योजना करते हैं।

'अमीर इरादे : गरीब इरादे' (१९६०) आपका उल्लेखनीय निबंधसंग्रह है।

राहुल सांकृत्यायन (१८९३-१९६३)

राहुलजी अनेक भाषाओं के पंडित और अनेक विषयों के लेखक थे। दर्शन, समाजशास्त्र, इतिहास, साहित्य, पुरातत्व आदि विषयों पर विशाल ग्रंथ लिखकर उन्होंने हिंदी साहित्य के भंडार को समृद्ध बनाया है। निबंध के क्षेत्र में भी उनका योग उल्लेखनीय है। साहित्य और पुरातत्व पर उनके दो निबंधसंग्रह प्रकाशित हुए हैं। यात्रा निबंधावली, यात्रा के पन्ने, बचपन की स्मृतियाँ, मेरी जीवनयात्रा और 'तुम्हारी क्षय' उनके अन्य निबंधसंग्रह हैं। इन निबंधसंग्रहों के नाम से ही उनके विषयविस्तार का परिचय मिल जाता है। इसके अतिरिक्त और भी चार पाँच निबंध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें लंका, रूस आदि का वर्णन है। यदि शुद्ध निबंध की कसौटी पर हम उनके निबंधों का परीक्षण करें तो लगभग साठ सत्तर निबंध ऐसे हैं जो वर्णनात्मक, विचारात्मक तथा विवरणात्मक निबंधप्रकार के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। व्यक्तिगत निबंध के अंतर्गत बचपन की स्मृतियाँ हैं जिनमें अपने शैशव के परिप्रेक्ष्य में लेखक ने तत्कालीन समाज की झाँकी सी प्रस्तुत की है। 'तुम्हारी क्षय' शीर्षक निबंधसंग्रह इनकी प्रखर और विध्वंसक मनोवृत्ति का अच्छा परिचय देता है।

राहुलजी भाषा को सजीव और प्रवाहपूर्ण रखने के पक्षपाती थे अतः संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी उन्होंने उर्दू फारसी के शब्दों का बहिष्कार नहीं किया है। उनकी धारणा थी कि हिंदी की समृद्धि के लिये प्रचलित शब्दों को बनाए रखना उचित ही है। 'तुम्हारी क्षय' तथा 'घुमक्कड़ शास्त्र' में उनकी प्रवाहपूर्ण अभिव्यंजना निबंध के सर्वथा अनुरूप है। अनवरत रूप से लेखनी को चलते रहने की छूट देना ही उनकी सामर्थ्य का द्योतक माना जाएगा। कथात्मक शैली में निबंधों में अन्विति एवं सूत्रमयता बनाए रखना उनकी विशेषता है।

पांडे बेचन शर्मा उग्र (१९०१-१९६६)

उग्रजी हिंदी में कथासाहित्य से संबद्ध प्रख्यात लेखक माने जाते हैं। कहानी और उपन्यास में उनकी ओजस्वी शैली का जो रूप दृष्टिगत होता है वही उनके फुटकर निबंधों में भी है। यों उग्रजी ने परिमाण में अधिक निबंध नहीं लिखे हैं किंतु शैली-निर्माता के रूप में उग्रजी का विशिष्ट स्थान है और उनके दस पंद्रह निबंध भी उल्लेख्य बन गए हैं।

साधारण बोलचाल की भाषा में ओज और प्रखरता का पुट देकर उग्रजी अपनी शैली को व्यक्तित्व की छाप से इतना मढ़ देते हैं कि उनके निबंध अलग ही पहचाने जा सकते हैं। उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषाओं के शब्द उनके लेखों में इस प्रकार चले आते हैं जैसे उनको रखने के लिये लेखक ने कोई प्रयास न किया हो। अटूट धारावाहिकता ही उग्र के निबंधों का प्राणतत्व है। विरामचिह्नों के प्रयोग में भी उग्रजी अँगरेजी के नियमों का पालन करते हैं। मुहावरे और कहावतों से भी उनकी शैली अलंकृत होती है। 'गई होती अदालत में बात तो लद गए होते;' 'मत बनाओ, अभी से इंद्रियों के दास बनकर अपने को देवता से राक्षस।' वाक्य रचना में बलाघात उत्पन्न करने के लिये विपर्यय करना और बोलचाल का अनुकरण करने के लिये क्रियापद को संज्ञा और सर्वनाम से पहले रखना उनकी शैली का अंग बन गया है। उपमानों का प्रयोग वे जमकर करते है और उपमानों द्वारा कथ्य को मूर्तिमंत करने मे सफल होते हैं। हिंदी की पाठ्यपुस्तकों में उनके 'बुढ़ापा' शीर्षक निबंध को शैली का प्रतिरूप मानकर स्वीकार किया जाता है।

उग्रजी के निबंध 'व्यक्तिगत' तथा 'अपनी खबर' मे संकलित है। अपनी खबर यों तो आत्मकथात्मक शैली की पुस्तक है किंतु उसमे भी लेखक ने निबंध के रूप को जीवित रखा है। भाषा को स्वेच्छा से मोड़ने, गति देने और बक्र बनाने मे उग्रजी को जैसा अधिकार प्राप्त है वैसा बहुत कम निबंधलेखकों में है।

डा० रघुवीर सिंह (१६०८)

निबंध की भावात्मक शैली को समृद्ध करनेवाले निबंधकारो में डा० रघुवीर सिंह का नाम अपनी कई विशेषताओं के कारण उल्लेखनीय है। इतिहास के भग्नावशेषों मे कल्पना के पंखो से विचरण करनेवाले लेखक के रूप मे इन्हें पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई है। मुगलकाल के ऐतिहासिक भवनों के वर्णन मे भाव और कल्पना के अनूठे संमिश्रण से लिखे गए निबंध हिंदी मे अप्रतिम है। सप्तद्वीप, जीवनकला और जीवनधूलि शीर्षक इनके निबंध संग्रहों में अन्य विधाओं का भी दर्शन होता है किंतु, 'शेष स्मृतियाँ' इनके भावात्मक निबंधों का श्रेष्ठ संकलन माना जाता है। 'बिखरे चित्र' में भी कल्पना की उड़ान और भावुकता का पुट है। अपने भावात्मक शैली के निबंधों में लेखक ने जिन क्षणों, अनुभूतियों और अवशेषों को चुना है वे इतने मार्मिक हैं कि पाठक भी उन्हें पढ़ते पढ़ते आत्मविभोर हो उठता है। इतिहास का देवता ही उन्हें प्रेरणा देता है और वही सामग्री भी जुटाने में सहायक होता है।

'सप्तद्वीप' इनका पहला निबंधसंग्रह है जिसमें आधुनिक हिंदी काव्य, वह प्रतीक्षा, जब बादशाह खो गया था, शिमला से, भारतीय इतिहास में राजपूतों का इतिहास, इतिहासशास्त्र तथा सेवासदन से गोदान तक, शीर्षक सात लेख हैं। लेखों की सूची से प्रतीत होता है कि समीक्षा, विवरण तथा वर्णन से इनका संबंध है।

डा० रघुवीर सिंह के भावात्मक शैली में लिखे मुगलकालीन भग्नावशेष तथा भवनों संबंधी लेख प्राय: पाठ्यपुस्तकों में अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं। ताजमहल, फतेहपुर सीकरी, एक स्वप्न की शेष स्मृति अत्यंत मनोरंजक एवं भावुकतापूर्ण शैली में लिखे गए हैं।

डा० धीरेंद्र वर्मा (१८९७)

डा० धीरेंद्र वर्मा भाषा और साहित्य की विविध समस्याओं पर गंभीरता-पूर्वक विचार व्यक्त करनेवाले निबंधलेखक हैं। उनकी विशेषता है विचार और भाव को स्पष्ट रीति से सरल भाषा में प्रस्तुत करना। जिस किसी विषय पर उन्होंने कलम चलाई है उसे सामान्य पाठक के लिये भी सुबोध बना दिया है। 'विचारधारा' में संगृहीत उनके निबंध पाँच वर्गों में विभाजित किए गए हैं—खोज, हिंदी प्रचार, हिंदी साहित्य, समाज तथा राजनीति, आलोचना तथा मिश्रित। वर्माजी ने अपने निबंधों की सुसंबद्धता और अन्विति पर बहुत ध्यान रखा है। सुशृंखल विचारधारा के कारण निबंध का प्रवाह बड़े सहज रूप में चलता रहता है।

राय कृष्णदास (१८९२)

राय कृष्णदास की ख्याति विशेषतः उनके गद्यकाव्य के कारण है किंतु ये बहुत ही सुघरी शैली में निबंध लिखते हैं और उच्चकोटि के पत्र, पत्रिकाओं में उनके कई दर्जन श्रेष्ठ निबंध प्रकाशित हुए हैं। उनके निबंधों का क्षेत्र व्यापक है। कला, साहित्यचिंतन, गवेषणा, संस्मरण, आदि से संबद्ध निबंधों में उनकी विविधता के दर्शन होते हैं। 'राम के वनगमन का भूगोल' उनकी शोधवृत्ति का अच्छा परिचय देता है। 'साधना' यद्यपि गद्यकाव्य की कोटि का ग्रंथ है किंतु उसमें गद्य के परिमार्जित एवं प्रांजल रूप का विकास निबंध के समतुल्य ही हुआ है। भाव और विचार से संबद्ध विषयों पर भी इनके निबंध प्रकाशित हुए हैं।

राय कृष्णदास की भाषा तत्समप्रधान, वाक्य सुगठित और शैली प्रवाहमयी है। भावात्मक निबंधों में छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग इनकी विशेषता है। 'धीर' शीर्षक इनके निबंध में जीवनानुभव के आधार पर विचारों की अभिव्यक्ति हुई है।

वियोगी हरि (१८९५)

वियोगी हरिजी हिंदी साहित्य में व्रजभाषा के मर्मज्ञ कवि के रूप में विख्यात हैं, किंतु हिंदी गद्यनिर्माण में भी आपका प्रारंभ से ही योग रहा है। भावात्मक शैली का गद्यकाव्य तो हरिजी ने प्रचुर मात्रा में लिखा है। कई गद्यकाव्यात्मक संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनमें भी निबंध के पर्याप्त तत्व विद्यमान हैं किंतु अंतर्नाद और तरंगिणी के कई लेखों को शुद्ध निबंध कोटि में भी रखा जा सकता है। विचारतरंगों में बह जाना और भावावेश में वर्णन करते जाना हरिजी की विशेषता है। भाषा की दृष्टि से वियोगी हरि तत्सम को स्वीकार करते हुए भी इसे जड़ता के साथ पकड़े रहने के

पक्ष में नहीं हैं। विषयानुरूप भाषा में परिवर्तन उनके निबंधों में देखा जा सकता है। वैष्णव भावना, आस्तिक भाव और मानवप्रेम उनके निबंधों की आधारभित्ति कही जा सकती है। आपके 'बुद्धितरंग', 'विचारतरंग' और 'साहित्य तरंग' उल्लेखनीय संग्रह हैं।

रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख (१६०१-१६५८)

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शिष्यों में 'रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख' का नाम निबंधकार के रूप में उल्लेखनीय है। शिलीमुख जी ने निबंधलेखन का प्रारंभ साहित्यिक समीक्षा से किया। प्रेमचंद और प्रसाद की कृतियों की समीक्षा के लिये लिखे गए शिलीमुखजी के लेख बहुत ही प्रखर और परामर्शपूर्ण थे। इन निबंधों का प्रभाव प्रेमचंद और प्रसाद जैसे कृती साहित्यकारों पर भी पड़ा था और उन्होंने शिलीमुखजी के सुझावों के अनुसार अपनी रचना में परिमार्जन करना भी स्वीकार किया था। समीक्षात्मक लेखों के बाद इनका ध्यान मौलिक विषयों की ओर गया और इन्होंने भारतीय संस्कृति, हिंदू धर्म, भाषा, कला, समाज और साहित्य के विविध पक्षों पर स्वतंत्र रूप से विचारात्मक निबंध लिखे। इनके निबंधसंग्रह 'शिलीमुखी' कला और सौंदर्य, निबंधप्रबंध नाम से प्रकाशित हुए हैं।

समालोचनात्मक निबंधों का यह दायित्व है कि वे कृति के यथार्थ रूप को समझने में पाठक की सहायता करें। शिलीमुखजी का 'समालोचक नामा' शीर्षक निबंध शैली और मौलिकता की दृष्टि से हिंदी का एक श्रेष्ठ निबंध समझा जाता है। शिलीमुखजी भाषा में तत्समप्रधान शब्दों का प्रयोग करते हैं किंतु अंग्रेजी के शब्दों का उन्होंने बहिष्कार नहीं किया है। अनेक शब्दों को ज्यों का त्यों रोमनलिपि में रखकर उन्होंने भाव को स्पष्ट बनाने का प्रयास किया है। शिलीमुखजी ने छोटे छोटे मन-बहलाव के विषयों पर भी निबंध लिखे हैं 'जैसे शतरंज की पश्चिम यात्रा'।

नंददुलारे वाजपेयी (१६०६-६७)

वाजपेयीजी ने समीक्षा द्वारा साहित्यिक जगत् में प्रवेश किया। निबंध को उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताओं के आलोक में कवि और काव्यकृतियों का मूल्यांकन किया। रसवाद को मौलिक सिद्धांत स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उसे संकीर्ण परिधि में रखना उचित नहीं समझा। शास्त्रीय आग्रह का वह रूप उनके निबंधों में नहीं है जिसे जड़ता की संज्ञा दी जा सके। उन्होंने मानवचेतना और संवेदना को आधार बनाकर काव्यकृतियों को परखने की चेष्टा की है। नैतिकता के स्थान पर उनकी दृष्टि सौंदर्यबोध के सूक्ष्मपक्ष पर ही टिकती है, इसी कारण उन्हें सौष्ठववादी आलोचक कहा जाता है। उनके ये निबंधसंग्रह 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य नये प्रश्न' तथा 'जयशंकर प्रसाद' और 'निराला' प्रकाशित हुए हैं। इन निबंधों में उनकी प्रांजल, प्रवाहपूर्ण और सशक्त भाषा की छटा सर्वत्र देखी जा सकती है। उन्होंने

भावाभिव्यक्ति में भावुकता या भाषातिरेक को कहीं स्वीकार नहीं किया वरन् जिन लेखकों ने इस शैली में छायावादयुग की समीक्षा लिखी थी उनपर उन्होंने प्रहार किया है। *स्वतंत्र गद्यकाव्य लिखनेवालों को समालोचक कहना उन्हें कभी अच्छा नहीं लगा।* बाजपेयीजी के निबंधों में प्रायः हिंदी साहित्य के प्रमुख ग्रंथों, प्रमुख लेखकों तथा प्रमुख वादों की ही चर्चा हुई है।

बाजपेयीजी ने सौष्ठववादी दृष्टि से काव्यकृतियों की समीक्षा करते हुए अभिव्यक्ति के अपूर्व सामर्थ्य का परिचय दिया है। उनके भाषणों में कहीं कहीं ओजगुण की गूँज अवश्य देखी जा सकती है किंतु निबंधों में संतुलित भावधारा का ही प्रवाह मिलता है। विचारात्मक एवं समीक्षात्मक कसौटी पर बाजपेयीजी के निबंध खरे उतरते हैं, इनमें केवल आलोचक का धर्म ही नहीं निबंध का वर्चस्व भी है। गूढ़ गंभीर विचारों की अभिव्यक्ति का निबंध सफल माध्यम है इसका प्रमाण बाजपेयीजी के चिंतनपूर्ण साहित्यिक निबंध हैं। आधुनिक साहित्य शीर्षक निबंधसंग्रह में बाजपेयीजी अपनी मान्यताओं की स्थापना का आग्रह बड़ी समर्थ शैली में करते दिखाई पड़ते हैं। इस संग्रह में उनकी पदावली में व्यंग्य और कटाक्ष भी आ गया है। साहित्य के शाश्वत मूल्यों को सौंदर्यबोध के आधार पर परखने का उनका प्रयत्न ही उन्हें सौष्ठववादी समीक्षक बनाता है, यह गुण उनके निबंधों में भी अनुस्यूत है। 'नया साहित्य नये प्रश्न' के निबंध पठनीय हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी (१९०७)

द्विवेदीजी ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में इतिहासकार के रूप में प्रवेश किया। उनकी प्रथम कृति हिंदी साहित्य की भूमिका प्रवृत्तियों और वृत्तों का संग्रह न हो कर इतिहास की परंपरा और चेतना के मूल उत्स का संधान प्रस्तुत करनेवाली रचना है। इसके बाद 'बाणभट्ट की आत्मकथा' द्वारा भी गद्यकार के रूप में उन्हें शैलीनिर्माता का यश मिला। आलोचना भी उनका क्षेत्र है किंतु मौलिक एवं चिंतनपूर्ण ललित निबंध उनकी ख्याति के अन्यतम कारण हैं।

साहित्य, संस्कृति और भाषा की समस्याओं पर उन्होंने दर्जनों श्रेष्ठ निबंध लिखे और उनमें व्यक्तित्व की अमिट छाप लगाकर इतना रोचक और आह्लादक बना दिया कि 'अशोक के फूल' 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता', 'मध्यकालीन धर्मसाधना,' 'कुटज' आदि निबंधसंग्रहों को आज हिंदी निबंध साहित्य की अक्षय निधि समझा जाता है।

निबंधों में विषयानुसार शैली का प्रयोग करने में द्विवेदीजी को अद्भुत क्षमता प्राप्त है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ठेठ ग्रामीण जीवन के शब्दों का प्रयोग इनके शिल्प का गुण बन गया है। भावावेश, भावुकता, भावात्मकता, व्यंग्यात्मकता और वक्तृता आदि विभिन्न शैलियों पर असाधारण अधिकार होने के कारण वे किसी

एक शैली से बँधे रहना पसंद नहीं करते। तत्सम शब्दों के निर्माण की कला बाणभट्ट की आत्मकथा में देखी जा सकती है किंतु उसकी बानगी इनके ललित निबंधों में भी बिखरी हुई है। ओज और वर्चस्व से ओतप्रोत इनके अनेक निबंध मिलते हैं जिनमें चित्रात्मकता के द्वारा भावों को मूर्त किया गया है। गांधीजी के बलिदान पर इनका निबंध पठनीय है।

सांस्कृतिक तथा समीक्षात्मक निबंधों में द्विवेदीजी विषय की पृष्ठभूमि को स्पर्श किए बिना नहीं चलते। पुराण, धर्म, दर्शन, सभी कुछ ऐसी सरलता से उनके निबंधों में समन्वित हो जाते हैं कि पाठक विस्मयविमुग्ध हुए बिना नहीं रहता। चिंतन मनन की प्रचुर सामग्री के साथ पुरातत्व का रिक्थ तथा विविध सूचनाओं का भंडार भी उनके निबंधों में रहता है। व्यक्तित्व की छाप के साथ गूढ़ गंभीर को सुबोध शैली में रखना ही इनकी विशेषता है। अशोक के फूल इनकी निबंधशैली का सुंदर निदर्शन है। अशोक के फूल को मेरुदंड बनाकर लेखक ने भारतीय संस्कृति, साहित्य और जातीय जीवन की मोहक झाँकी प्रस्तुत की है। साहित्यशास्त्र की चर्चा भी इनके कुछ निबंधों में हुई है किंतु पांडित्यप्रदर्शन या पिष्टपेषण कहीं नहीं हुआ। 'आलोचना का स्वतंत्र मान' शीर्षक निबंध शास्त्रीय होने पर भी शास्त्र की जड़ता से किस प्रकार असंपृक्त बना रहा है यह देखते ही बनता है। साहित्यालोचन को सामाजिकता तथा सांस्कृतिकता से संश्लिष्ट करने की द्विवेदीजी की अपनी मनोरम शैली है जिसके द्वारा पाठक शास्त्र और समाज को एक साथ ही सूत्र में पिरोया हुआ देख सकता है। संक्षेप में, द्विवेदीजी इस युग के विशिष्ट निबंधलेखक इसलिये भी हैं कि उन्होंने ललित निबंधों के साथ समीक्षात्मक एवं सांस्कृतिक वर्ग के निबंध भी विपुल मात्रा में लिखे हैं। निबंध में कारयित्री प्रतिभा का प्रभाव देखना हो तो 'अशोक के फूल' और 'कल्पलता' का अनुशीलन पर्याप्त होगा। द्विवेदीजी ने अपने अनेक भाषणों को भी निबंध का रूप दिया है। वक्तृत्वकला का ओज और प्रवाह, भाषा की गतिशीलता इनमें सर्वत्र व्याप्त रहती है। पुराणेतिहास के लुप्त संदर्भों का संकेत द्विवेदीजी के निबंधों में एक नूतन दीप्ति उत्पन्न करनेवाला तत्व है जो निबंधलेखकों में प्रायः विरल ही है।

शांतिप्रिय द्विवेदी (१९०६-६७)

द्विवेदीजी को छायावादी काव्य का एक समर्थ प्रभाववादी समालोचक ठहराया जाता है किंतु निबंधलेखक की दृष्टि से उनकी रचनाओं में काव्यात्मक सौंदर्य का पुट होने के साथ मौलिक प्रतिभा की दीप्ति सर्वत्र व्याप्त रहती है। अतः समालोचक की अपेक्षा हम उन्हें मूलतः निबंधलेखक ही मानते हैं। यदि प्रभाववादी लेखक का सही अर्थ ग्रहण किया जाय तो यही होगा कि शास्त्ररूढ़ि या परंपरा को छोड़कर आलोच्य कृति से प्रभावित होकर अपनी शैली में उसकी विशेषताओं का उद्घाटन

करना ही प्रभाववादी शैली है। द्विवेदीजी के प्रारंभिक निबंधसंग्रह साहित्य की किसी प्रवृत्ति, कृति या कृतिकार से संबद्ध थे। अतः उनकी गणना आलोचकों में हुई। किंतु धीरे धीरे उनके निबंधों की विषय सीमा विस्तृत होती गई। समाज, संस्कृति, राजनीति आदि को भी उनके निबंधों में स्थान प्राप्त होने लगा। आलोच्यकाल की परिधि में उनके आधे दर्जन निबंधसंग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनमें संचारिणी, सामयिकी, साहित्यिकी, कवि और काव्य, युग और साहित्य, पथचिह्न, धरातल (१९४८) प्रतिष्ठान (१९५३), साकल्य (१९५५) उल्लेख्य हैं। इस परिधि के बाद भी उनके तीन चार निबंधसंग्रह प्रकाशित हुए जिनमें प्रौढ़ता के साथ व्यापकता भी आई है : वृंत और विकास (१९५९), आधान, (१९५७) पद्मनाभिका (१९५३) आदि। इनमें उनके निबंधकार का रूप साहित्यिक समालोचक का होते हुए भी पूर्वपेक्षा अधिक सौष्ठवपूर्ण है।

शांतिप्रियजी प्रारंभ में जिस भावोच्छ्वसित शैली को स्वीकार कर लिखने में प्रवृत्त हुए थे उनमें विचारतत्व काव्यात्मकता के आवरण में इतना आवृत हो जाता था कि पाठक ललित पदावली के मोहपाश से अपने को छुड़ाकर किसी गंभीर तत्व को पकड़ने में प्रायः असमर्थ रहता था किंतु इस उच्छ्वासित शैली ने हिंदी गद्य को पुष्ट एवं काव्यमय बनाने में योग दिया, इससे निषेध नहीं किया जा सकता। उनकी गद्यशैली पर बँगला का तथा विशेष रूप से रवींद्रनाथ का प्रभाव लक्षित होता है। उनके निबंधसंग्रह कवि और काव्य में स्थान स्थान पर रवींद्रनाथ के उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। उनकी सरल सुबोध शैली का दूसरा निदर्शन 'युगाभास' शीर्षक लघु निबंध में देखा जा सकता है।

संक्षेप में शांतप्रियजी ने हिंदी निबंधक्षेत्र में समीक्षक के रूप में पदार्पण किया था किंतु धीरे धीरे उनके निबंधों का आयाम व्यापक होता गया। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से उन्होंने अपने निबंधों में वैविध्य की सृष्टि की। ललित शैली के निबंध भी द्विवेदीजी ने लिखे हैं उनके निबंधों में व्यक्तिपरक शैली का गुण उन्हें अन्य निबंधलेखकों से सहज ही पृथक् कर देता है।

जैनेंद्र कुमार (१९०५)

हिंदी निबंधकारो में जैनेंद्रजी का विशिष्ट स्थान है। कहानी और उपन्यास में इनकी जो गद्यशैली विकसित हुई उसे निबंध में पूरा निखार मिला। इसलिये विचार और तर्क के धरातल पर इनके निबंध खरे उतरते हैं। जैनेंद्रजी मूलतः विचारक हैं। चिंतनशैली में बोलना, लिखना, इनका स्वभाव हो गया है। सूक्ष्म दृष्टि संपन्न होने से विषय के अंतर में पैठने की क्षमता इनमें भरपूर है। कभी कभी तो विचार को एक सिरे से पकड़कर उस छोर तक ले जाते हैं जहाँ उसका संधान कर पाना साधारण पाठक के लिये दुष्कर हो जाता है। जैनेंद्रजी के अबतक छोटे बड़े लगभग

एक दर्जन निबंधसंग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें जड़ की बात, साहित्य का श्रेय और प्रेय (१९५३), सोच विचार, मंथन, ये और वे (१९५४) दो चिड़िया, पूर्वोदय, इतस्ततः, प्रस्तुत प्रश्न : परिप्रेक्ष्य, अधिक प्रसिद्ध हैं।

निबंधकार के रूप में जैनेंद्रजी की उपलब्धि केवल विचार और भाव के क्षेत्र में नहीं वरन् नूतन अभिव्यंजनाशैली भी है। दार्शनिक के रूप में जैनेंद्र ने जो निबंध लिखे हैं उनमें कुछ दुरूहता अवश्य है किंतु जब सामान्य बोलचाल की भाषा में ये लिखने लगते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे ड्राइंग रूम मे बैठे हुए किसी विचारक से हम कोई संवाद सुन रहे हों।

नवीन विषयों की खोज करना और निबंध के कलेवर मे उन्हे जड़ देना जैनेंद्र की अपनी कला है। निरा बुद्धिवाद, दूर और पास, विसर्जन की शक्ति, सोमित स्वधर्म और असीम आदर्श, आप क्या करते हैं आदि निबंध उनके विलक्षण विषय-चयन के परिचायक हैं। विषयचयन में ही नहीं, भाषा, भाव और अभिव्यंजना में भी एकदम नए हैं—मौलिकता ही उनकी उल्लेख्य विशेषता है। खड़ीबोली हिंदी को उर्दू के प्रचलित तथा व्यावहारिक रूप के साथ जोड़कर बातचीत के लहजे में प्रस्तुत करना जैनेंद्रजी की अपनी कलात्मक शैली बन गई है। वाक्य छोटे छोटे और अपने विन्यास की विचित्रता के कारण मोहक लगते हैं। कभी कभी तो इनके निबंध पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि एक प्रश्न या समस्या को लेकर जैनेंद्रजी अंतर्मन में उसका मंथन कर रहे हैं और जो शंका संदेह उत्पन्न होते हैं उनका समाधान खोजने में भी तत्पर हैं। इसी लिये कभी कभी प्रश्न और उत्तर का झमेला इनके निबंधों में लक्षित होता है। समस्या के मूल में पैठने को जैनेंद्र में अद्भुत क्षमता है। भाषा में बोलचाल को कायम रखने के कारण वाक्यविन्यास में हेरफेर तो खूब करते हैं; यहाँ तक कि व्याकरण के शासन को जड़ मानकर छोड़ देते हैं। जैनेंद्र हिंदी के चिंतनशील श्रेष्ठ निबंधकार हैं।

संक्षेप में, जैनेंद्र को हम ललित निबंधकार की कोटि में ही स्थान देना अधिक उपयुक्त समझते हैं। अपनी अनौपचारिक शैली और भाषा के साथ उन्होंने विषय-वस्तु के निर्वाह में भी नवीनता रखी है। तार्किकता उनके तात्विक विचारपूर्ण निबंधों का मेरुदंड है तो ललित निबंधों में उनकी विच्छिति और भंगिमा की नूतनता ही उनका प्राण है। प्रश्नोत्तर तथा वार्तालाप शैली को निबंध में स्थान देनेवाले लेखकों में जैनेंद्र का स्थान प्रमुख है।

रामधारी सिंह दिनकर (१९०८)

दिनकर कवि के रूप में विख्यात हैं किंतु उनका एक प्रबल रूप विचारक का भी है। 'संस्कृति के चार अध्याय' पुस्तक में दिनकर की मौलिक चिंतनपद्धति का सुथरा रूप देखा जा सकता है। दिनकर ने कविता के साथ गद्य को भी अपनी

अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और कई दर्जन श्रेष्ठ निबंध लिखे। उनके निबंध संग्रहों में 'अर्धनारीश्वर', 'माटी की ओर', 'रेती के फूल', 'हमारी सांस्कृतिक एकता' 'प्रसाद, पंत और मैथिलीशरण गुप्त', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य' प्रसिद्ध निबंधसंग्रह हैं।

दिनकर को विचारकदृष्टि इन निबंधों में इतनी प्रखर है कि छोटी छोटी समस्याओं को लेखक ने गहराई से पकड़ा है, इनका समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। भाषा में ओज, तेज, रवानगी और जिंदादिली रखना तो उनके स्वभाव का धर्म है। उर्दू, अरबी, फारसी, अंग्रेजी के शब्द बेखटके निबंधों में चले आते हैं। दिनकर उनका स्वागत करते हैं और उनका निर्वाह करना भी जानते हैं। रेती के फूल में उनके निबंधों का व्यक्तिपक्ष भी देखा जा सकता है। दिनकर अपने निबंधों में विवेचक विश्लेषक होते हुए भी भावुकता से दूर नहीं आते। कवि की कल्पना भले ही इन निबंधों में न दीख पड़े किंतु कविहृदय की मार्मिकता और भावुकता इनमें भी ओतप्रोत है।

यद्यपि दिनकर ने शुद्ध ललित निबंध नहीं लिखे किंतु उनके समीक्षात्मक तथा साहित्यिक निबंधों में लालित्य की एक ऐसी अंतर्वर्ती धारा विद्यमान रहती है जो उनके निबंधों को एक ओर शास्त्रीय समालोचना से बचाती है तो दूसरी ओर काव्यात्मकता तथा वक्रता के निकट ले जाती है। अर्धनारीश्वर के निबंध साहित्य के विविध पक्षों को स्पष्ट करने के ध्येय से लिखे गए हैं किंतु उनकी शैली निबंध की उन्मुक्त धाराशैली ही है, विचारक का गांभीर्य प्रवाहपूर्ण भाषा में बोझिल नहीं प्रतीत होता।

रामवृक्ष बेनीपुरी (१९००-६८)

बेनीपुरीजी के निबंध संस्मरणात्मक तथा भावात्मक कोटि के हैं। किंतु शैलीवैशिष्ट्य के कारण हिंदी के निबंधकारों में इनका उल्लेख अनिवार्य है। रेखाचित्रों को यदि निबंधविधा का विकास ही माना जाय तो बेनीपुरी श्रेष्ठ रेखाचित्र प्रस्तुत करनेवाले निबंधकार माने जाएँगे। 'माटी की मूरतें' हिंदी में रेखाचित्र विधा का श्रेष्ठ निदर्शन माना जाता है। 'गेहूँ और गुलाब' (१९५०) भी अपनी सांकेतिकता के कारण अनूठा निबंधसंग्रह बन गया है। जेलजीवन के संस्मरण के रूप में लिखे हुए इनके लेख 'जंजीरें और दीवारें' नाम से छपे हैं।

भाषा और अभिव्यंजना में बेनीपुरीजी ने अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रखा है और इनके निबंधों को पढ़कर जो चित्र पाठक के मन में उभरता है वह विशिष्ट शैली-वाले व्यक्ति बेनीपुरी का ही होता है। उर्दू फारसी के शब्दों के साथ अनगढ़ भोजपुरी भी यदि बीच बीच में आ जाए तो लेखक उसे सहर्ष स्वीकार करता है। भावावेग की मात्रा अधिक रहती है, शैली में इतना अधिक चटकीलापन है कि पाठक को निबंध के साथ व्यंग्य, चुहुल और विनोद का रस भी प्राप्त होता है। कला की दृष्टि से इनके

ललित निबंध बहुत श्रेष्ठ नही ठहरते किंतु शैली की एक अद्भुत छटा उनमें अवश्य लक्षित होती है।

बेनीपुरी के साहित्यिक निबंध 'बंदे वाणी विनायकौ' (१९५७) संग्रह में संकलित है। इसमें पच्चीस विषय है और प्रायः सभी सीधे साहित्य से संबंध रखते हैं। इन साहित्यिक निबंधों में बेनीपुरी की शैली की छाप देखी जा सकती है।

डा० नगेंद्र (सन् १९१५)

डा० नगेंद्र की गणना शुक्लोत्तर युग के समर्थ समालोचकों में की जाती है। दो समीक्षात्मक पुस्तकों के बाद डा० नगेंद्र निबंध के क्षेत्र में अवतरित हुए और अब तक इनके पाँच निबंधसंग्रह प्रकाशित हो चुके है जिनमें 'विचार और अनुभूति' 'विचार और विवेचन' (१९४९) 'विचार और विश्लेषण' (१९५५), 'अनुसंधान और आलोचना', 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' निबंध के क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं।

नगेंद्रजी के निबंधों का विषय तथा शैली की दृष्टि से वर्गीकरण करने पर उनमें विपुल वैविध्य लक्षित होता है। निबंध की शुद्ध शैली में लिखे गए उनके अधिकांश निबंधों को हम विचारात्मक संज्ञा से अभिहित कर सकते है। विचारात्मक कोटि के अंतर्गत ही साहित्यिक, समीक्षात्मक, सैद्धांतिक निबंध रखे जा सकते है। मिश्रित शैली मे लिखे गए निबंधों में स्वप्नशैली, आत्मकथाशैली, संस्मरणशैली, संवादशैली तथा तुलनात्मक शैली के निबंध आते है। निबंधों मे विषय प्रतिपादन करते समय नगेंद्रजी अनुभूति को प्रमुख स्थान देते है और विचारों को भी वे अनुभूति के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। जितना समय वे विचार और अनुभूति को पचाने के लिये लेते हैं उतना शायद कोई अन्य हिंदी लेखक नही लेता। एक ही विषय को अनेक पहलुओं से देखने, परखने के बाद उसपर लिखने का उपक्रम करते हैं और लिखते समय एक एक शब्द को तोलते है। आलोचनात्मक निबंधों मे भी उनका विचारपक्ष अनुभूति से संश्लिष्ट होकर आता है इसी कारण वह प्रामाणिक एवं ग्राह्य प्रतीत होने लगता है।

निबंध का विशिष्ट गुण निजीपन या व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व की गहरी छाप नगेंद्रजी के निबंधों में है अतः वे विचारप्रधान होते हुए भी स्वतंत्र स्वच्छंद चिंतन के धरातल पर आ जाते है। रसवादी सिद्धांत में अटूट आस्था रखने के कारण उनके निबंध भी रससिक्त होकर ही प्रकट हुए है—नीरस विचार, तर्क और प्रमाण से आच्छन्न नहीं है। जिन निबंधों में साहित्यिक वाद या सिद्धांत का विवेचन हुआ है उनमें गंभीर वातावरण सर्वत्र व्याप्त रहता है। किंतु गंभीर वातावरण की एकरसता (मोनोटनी) को दूर करने के लिये भावात्मकता की सृष्टि करने का अद्भुत कौशल उनके पास है। व्यंग्य, हास्य और विनोद के सरस वातावरण की सृष्टि द्वारा वे इस प्रकार की एकरसता को सहज ही दूर कर देते हैं। स्वानुभूत घटना के नियोजन से,

प्रासंगिक संदर्भों के उल्लेख से, जगत् और जीवन के विविध व्यापारों से ऐसे प्रसंग चुन लेते हैं कि पाठक गूढ़ गंभीर सिद्धांत को हृदयंगम करने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं करता।

सामान्यतः नगेंद्रजी गंभीर और चिंतनपूर्ण निबंधों के स्रष्टा हैं किंतु कुछ निबंधों में उनके सहज विनोदी स्वभाव की उत्फुल्लकारी छटा भी आ गई है। शैली में नवीनता लाने के लिये भी उन्होंने कुछ प्रयोग किए हैं जो अत्यंत रोचक एवं सफल सिद्ध हुए। केशव का आचार्यत्व, यौवन के द्वार पर, हिंदी उपन्यास, वाणी के न्याय मंदिर में, इस शैली से सुष्ठु उदाहरण हैं। कुछ संस्मरणात्मक लेख भी अत्यंत मार्मिक एवं मनोरंजक शैली में लिखे हैं। बीबी (श्रीमती होमवती), श्रीमती महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त (दद्दा), सी० महाजन आदि से संबद्ध लेख बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति से पूर्ण है। डा० नगेंद्र के संपूर्ण निबंध साहित्य का प्रकाशन 'आस्था के चरण' शीर्षक से हुआ है। यदि निबंधलेखक की दृष्टि से डा० नगेंद्र का मूल्यांकन किया जाय तो आलोच्यकाल मे उनका स्थान अप्रतिम ठहरता है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल (१९०४ ६६)

सांस्कृतिक विषयों पर निबंध लिखनेवालों मे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का नाम अन्यतम है। पुराण, इतिहास, धर्म, दर्शन और पुरातत्व को उपजीव्य बनाकर भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों का उद्घाटन जितना अधिक इन्होंने किया है उतना निबंध के माध्यम से किसी लेखक ने नही किया। सांस्कृतिक विषयो पर लिखते समय इनका दृष्टिकोण परंपरावादी न होकर तर्कसंमत वैज्ञानिक पद्धति पर आश्रित होता हैं। यही कारण है कि इनके निबंधों मे आर्ष रचनाओं की छाया के साथ नूतनता का पूरा समाहार रहता है। अपने निबंधो मे भारतवर्ष की अतीत गौरवगाथा के साथ ऐतिहासिक दृश्यों, व्यक्तियों और विवरणों का बड़ा ही जीवंत शैली से इन्होने चित्रण किया है। 'पृथ्वीपुत्र' (१९४९), 'कला और संस्कृति' (१९५२), 'मातृभूमि' (१९५३) आदि संकलन इनके श्रेष्ठ निबंधों के परिचायक है।

प्राचीन कला और संस्कृति की व्याख्या करते समय इनकी भाषा में वैदिक (आर्ष) शब्दों का प्रयोग बड़ी ही सुष्ठु शैली से पाया जाता है। आर्ष शब्दों के प्रति जैसा इनका मोह है वैसा ही उन्हें प्रयुक्त करने की क्षमता भी इनमें है। डा० अग्रवाल ने आधुनिक भारत के कलामर्मज्ञों के संबंध में भी वर्णनात्मक निबंध लिखे हैं। इन वर्णनों में व्यक्ति के माध्यम से कला की आत्मा में पैठने का पूरा प्रयास दृष्टिगोचर होता है। निबंधों की भाषा तत्सम, सरल और प्रवाहपूर्ण होती है। महाभारत और पुराण की कथाघटनाओं पर आश्रित इनके लघु निबंध तथा उपनिषद् पर आश्रित विस्तृत निबंध अपनी शैली के सुदर निबंध है। इनकी संख्या भी बहुत अधिक है।

डा० अग्रवाल के निबंधों में व्यक्तित्व की छाप अपेक्षाकृत कम है किंतु शब्दविधान तथा विषयचयन से उन्हें पहचाना जा सकता है।

सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय (१९११)

आधुनिक हिंदी गद्यशैली को उपन्यासों और निबंधों से प्रांजल एवं सप्राण बनानेवाले लेखकों में *वात्स्यायन का नाम* मूर्धन्य है। संप्रति पत्रकारिता के माध्यम से भी आप गद्यविधा की समृद्धि में योग दे रहे है। इनके तीन निबंधसंग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—त्रिशंकु, आत्मनेपद और 'अरे यायावर रहेगा याद।' अंतिम संग्रह नई शैली की सुंदर यात्राविवरण पुस्तक है। इस शैली में लिखी दूसरी पुस्तक हिंदी में नही है। यात्राविवरण होते हुए भी पाठक इसे फुटकर निबधो रूप में भी पढ़ सकता है।

अज्ञेय के साहित्यसमीक्षा विषयक निबध विचारात्मक कोटि मे आते है। आत्मनेपद में कुछ व्यक्तिपरक श्रेष्ठ निबंध भी है जिनमें लेखक ने साहित्य और संस्कृति के संबंध में अपनी मान्यताएँ व्यक्त की है। अपने से पूछे गए प्रश्नो के उत्तर भी इस संग्रह में पठनीय हैं, यद्यपि उन्हें निबंध नही कहा जा सकता फिर भी उनमे विषय प्रतिपादन की विलक्षण समर्थ शैली मिलती है। अज्ञेय के व्यक्तित्व की छाप तो 'त्रिशंकु और 'आत्मनेपद' (१९६०) दोनो ही संग्रहो मे है किंतु शब्दो को यथास्थान रखने और संदर्भानुकूल चयन करने की क्षमता देखनी हो तो इनके उपन्यासों में देखी जा सकती है। निबंध को व्यंजक बनाने के लिये इन्होने उर्दू अंग्रेजी के शब्द भी निबंधों मे स्वीकार किए है। वैसे तत्सम प्रधान पदावली का ही प्रयोग है।

इलाचंद्र जोशी

जोशीजी ने हिंदीगद्य की समृद्धि के लिये लेख, निवध, उपन्यास, कहानी आदि अनेक विधाओं को स्वीकार किया है। पत्रकार के रूप मे भी आपने संपादकीय टिप्पणी और लघु लेख लिखे है। जोशीजी के आधे दर्जन निबंधसंग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'विवेचना', 'साहित्य सर्जना', 'विश्लेषण' 'देखा परखा' आदि पर्याप्त प्रसिद्ध है। जोशीजी के प्रारंभिक लेख हिंदी जगत् में काफी चर्चा के विषय बने थे। इनके साहित्यिक विषयों पर लिखे निबंधों मे विचार और वितर्क को प्रमुख स्थान मिला है। जिस रूप में जोशीजी सोचते हैं उसी रूप और शैली को अक्षुण्ण रखते हुए उसे व्यक्त भी करते हैं। उनका मत है कि 'जबतक कोई लेखक अवचेतन मन के छायास्वप्नों को सचेतन मन की निहाई पर रखकर विवेक के हथौड़े की चोटों से उनका नवनिर्माण नहीं करता तबतक वह वास्तविक अर्थ मे साहित्यनिर्माता हो नहीं सकता और न उसका कच्ची अवस्था में दिया हुआ साहित्य पदार्थ स्वस्थ और मांगलिक हो सकता है।'

पाश्चात्य मनोविश्लेषण शास्त्र को दृष्टि में रखकर जिस प्रकार इन्होंने उपन्यासों की सृष्टि की है उसी प्रकार इनके लेखों और निबंधो में भी उनकी पृष्ठभूमि

रहती है। जोशीजी ने समीक्षात्मक निबंध भी लिखे है। व्यक्तिपरक निबंध इनके नही मिलते। भाषा यों तो तत्समप्रधान ही मानी जाएगी किंतु उर्दू अंग्रेजी के शब्दों का उपयोग सहज रूप में कर लेते है।

यशपाल (१९०३)

सुप्रसिद्ध उपन्यासकार यशपाल ने व्यंग्यप्रधान शैली में कुछ यथार्थवादी निबंध लिखे है। उनके कई निबंधसंग्रह प्रकाशित हुए हैं। चक्करक्लब, देखा, सोचा, समझा, 'बात में बात', 'गांधीवाद की शवपरीक्षा', 'न्याय का संघर्ष' आदि। उनके ये संकलित लेख पत्रकारिता के अच्छे निदर्शन है। वस्तुतः ये कई पत्र पत्रिकाओं में विशेष स्तंभ लिखते रहे है। वही से उन्हें निबंध लिखने की प्रवृत्ति हुई। उनके निबंधों में राजनीतिक आग्रह के साथ एक प्रतिबद्ध दृष्टि है जो उन्हें तटस्थ नहीं रहने देती। यदि वस्तुपरक दृष्टि से वे विषय का प्रतिपादन करें तो उनकी सहज व्यंग्यभरी शैली अत्यंत सफल सिद्ध होगी। कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थन का जितना आग्रह उनके प्रारंभिक उपन्यासों और कहानियों में था उतना ही इन निबंधों में भी है। भौतिकवादी दृष्टि के कारण सामाजिक असमानता, शोषण और अत्याचार को अंकित करने का कोई न कोई रूप वे यहाँ भी ढूँढ लेते हैं। सामान्यतः निबंध के कलेवर में यह समाता नहीं है, किंतु पूर्वाग्रह और विचारशैली के कारण वे इसका उपयोग तो करते ही हैं। भाषा का प्रवाह उनकी सिद्धि है, शब्द के लिये किसी रूपविशेष के आग्रह से बँधे नही हैं। बोलचाल की साधारण भाषा भी इनके निबंधों में उपलब्ध होती है।

प्रकाशचंद्र गुप्त (१९०८)

गुप्तजी प्रगतिशील विचारधारा के समर्थक के रूप में हिंदी क्षेत्र में अवतरित हुए। व्यवसाय से अंग्रेजी के अध्यापक होने पर भी हिंदी में समीक्षात्मक लेख लिखना इन्होंने तीस वर्ष पूर्व ही प्रारंभ कर दिया था। समाज के संघटन को ज्यों का त्यों स्वीकारकर लिखने की ओर इनकी प्रवृत्ति नही हुई वरन् इन्होंने समाज और साहित्य में गहरा संघर्ष मानकर समाज को प्रगतिशील बनाने और विचारों में सबलता लाने के लिये प्रगतिवादी दृष्टि का अपने लेखों में समर्थन किया। जीवन को साहित्य के माध्यम से परिवर्तित करने का स्वप्न प्रत्येक प्रगतिवादी लेखक देखता है। इनके निबंधों में भी इस प्रकार के विचार देखने को सहज ही में मिल सकते है। गुप्तजी अब भी यदा कदा लिखते रहते हैं। कम लिखने पर भी केवल निबंध, रेखाचित्र और स्केच लिखने के कारण इनका नाम निबंधकारों में परिगणित होता है। 'नया हिंदी साहित्य : एक भूमिका', 'साहित्यधारा', 'रेखाचित्र और पुरानी स्मृति' इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। गुप्तजी सरल सुबोध भाषा के पक्षपाती हैं। अंग्रेजी की सही छाप तो कहीं कहीं दिखाई देगी किंतु भोंड़ा अनुवाद या कृत्रिम शब्दविन्यास कही नही

मिलेगा। भाषा में प्रांजलता और भावों में स्पष्टता गुप्तजी के निबंधों का वैशिष्टय है। प्रगतिवादी विचारधारा के लेखकों में गुप्तजी का श्रेष्ठ स्थान है। गुप्तजी ने छोटे छोटे निबंध पर्याप्त संख्या मे लिखे हैं। इनकी लेखनी वर्तमान के साथ रहती है। प्रचलन विचारधारा को समझते हुए, नवीन चेतना को आत्मसात् करते हुए निबंध-लेखन इनकी सहज वृत्ति है।

रामविलास शर्मा (१९१४)

प्रगतिवादी विचारधारा के पोषक लेखक डा० शर्मा ने साहित्य, समाज, भाषा आदि विषयों पर अनेक निबंध लिखे हैं। इनके निबंधसंग्रहों में प्रगति और परंपरा, साहित्य और संस्कृति और प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ (१९५४), प्रेमचद, भारतेंदु युग आदि रचनाएँ पर्याप्त प्रसिद्ध है। व्यवसाय से अध्यापक होने के कारण आलोचनात्मक विषयों पर ही इनके निबंध अधिक संख्या में हैं। अंग्रेजी भाषा के अध्यापक होने के कारण आधुनिक युग की पाश्चात्य चेतना से शर्माजी पूरी तरह परिचित हैं। मार्क्सवादी विचारधारा के पोषक होने के कारण प्रगति को उसी दृष्टि से आँकते हैं। भारतेंदु, प्रेमचंद और निराला विषयक इनके लेख इसी कारण एक-पक्षीय अधिक हो गए है। आपके निबंधों का संग्रह 'विरामचिह्न' (१९५७) उल्लेखनीय है।

भारतीय साहित्य एवं भाषा का इनके निबंधों में प्रबल रूप से समर्थन रहता है। व्यंग्यात्मक शैली से सीधे और प्रखर कटाक्ष करने में भी इनका पक्षपात उभर आता है। पूँजीपतियों तथा सामंती भावनाओं का इन्होने बड़ी सशक्त शैली में अपने निबंधों में खंडन किया है। शर्माजी अपनी मान्यताओं को बड़ी दृढ़ता से प्रस्तुत करते हैं। इसी दृढ़ता मे इनका वैयक्तिक संस्पर्श भी निबंधो में प्रस्फुटित हो उठता है। इनके निबंध बड़े ओजस्वी हैं।

शिवदानसिंह चौहान (१९१८)

चौहानजी प्रगतिवाद के उन समर्थकों मे हैं जिन्होंने निबंध के क्षेत्र में सबसे पहले प्रगतिशील एवं प्रगतिवादी विचारधारा का सूत्रपात किया। प्रेमचंद ने अपने सभापति पद से दिए गए भाषण मे जिस प्रगतिशीलता का उल्लेख किया था उसे पूरी तरह शिवदानसिंह चौहान ने अपने निबंधों में स्थान दिया। मार्क्सवादी दृष्टि के कारण इनके निबंधों में भी पक्षधरता तो रहती है किंतु विवेचन विश्लेषण में तर्क-सम्मत पद्धति का ये त्याग नहीं करते। गंभीर एवं चिंतनपूर्ण विचारसरणि द्वारा प्रतिपाद्य विषय को खड़ा करते हैं। साहित्यानुशीलन (१९५५), प्रगतिवाद, आलोचना के मान (१९५८), 'हिंदी के अस्सी वर्ष' इनकी सुप्रसिद्ध गद्यकृतियाँ हैं। चौहान के लेखों में एक ही विचारसरणि को निरंतर पल्लवित करने की सुसंबद्ध शृंखला पाई जाती है। संख्या की दृष्टि से चौहान के लेख कम ही हैं किंतु प्रगतिवादी

विचारधारा के कारण उनका उल्लेख अनिवार्य हो जाता है। इधर कुछ समय से चौहानजी कुछ कम लिख रहे हैं फिर भी जब कभी लिखते हैं, स्वच्छ और स्पष्ट शैली में लिखते हैं। इनके विचारों से साम्य न होने पर भी इनके विचारों को पढ़ना पड़ता है।

डा० सत्येंद्र (१९०७)

लोकसाहित्य के गवेषक डा० सत्येंद्र ने हिंदी साहित्य में प्रवेश निबंध के माध्यम से ही किया था। उन्होंने अबसे तीस वर्ष पूर्व निबंध और समीचा द्वारा साहित्यजगत् में पदार्पण किया और समसामयिक कवियों तथा लेखकों की समीक्षा लिखकर अपना स्थान बनाया। इनके निबंधों में वैयक्तिकता का अभाव होने पर भी प्रतिपादन में वैज्ञानिकता और गंभीरता रहती है। इनके निबंधसंग्रहों में 'कला, कल्पना और साहित्य', 'साहित्य की झाँकी', 'समीक्षात्मक निबंध' आदि प्रसिद्ध हैं। शुक्लोत्तर युग में जिन निबंध लेखकों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट हुआ उनमें डा० सत्येंद्र का भी नाम है।

डा० सत्येंद्र मूलतः अध्यापक हैं अतः इनके लेखों और निबंधों में तथ्य को उद्घाटित और स्थापित करने की प्रायः वही शैली है जो अध्यापन करते समय अपेचित होती है। सत्येंद्रजी की भाषा प्रांजल एव प्रसादगुण युक्त है। निबंध के चेत्र में सत्येंद्रजी शुक्लयुग में ही आ गए थे किंतु उनके अधिकांश संग्रह आलोच्यकाल के ही हैं।

डा० विनयमोहन शर्मा (१९०५)

डा० विनयमोहन शर्मा ने आलोचना द्वारा निबंधक्षेत्र में पदार्पण किया। पाश्चात्य एवं भारतीय काव्यशास्त्र के प्रकाश में इन्होंने अपने समसामयिक कलाकारों की आलोचनाएँ लिखीं और काव्यसिद्धांतों पर भी निबंध लिखे। 'दृष्टिकोण' (१९५०), 'साहित्यावलोकन' (१९५२), 'साहित्य शोध, समीचा' (१९६१) उनके निबंधसंग्रह हैं। इनके निबंधों में कहीं कहीं तुलनात्मक दृष्टि भी उपलब्ध होती है। भाषा में स्पष्टता और सुबोधता को इन्होंने सर्वत्र स्थान दिया है। पांडित्य प्रदर्शन के लिये क्लिष्ट और कृत्रिम भाषा से सदैव बचकर निबंध लिखे हैं। अध्यापकीय दृष्टि समन्वित होने से निबंधों की सीमाएँ हैं और प्रायः उन्हीं सीमाओं में रहकर निबंध लिखे गए हैं। शर्माजी सुबोध शैली से निबंध लिखनेवालों में हैं।

डा० देवराज उपाध्याय (१९०८)

डा० उपाध्याय हिंदी के उन लेखकों में हैं जो साहित्य की प्रगति को निरंतर ध्यान में रखते हुए उसका निबंध के माध्यम से आकलन करते रहते हैं। उनके पाँच निबंधसंग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'विचार के प्रवाह', 'साहित्य तथा साहित्यकार', 'कथा के तत्व' और 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' उल्लेख्य हैं। 'बचपन के दो

दिन' तथा 'जवानी के दिन' भी उनके चिंतन, मनन और अध्ययन के प्रमाण हैं और सुष्ठु गद्यशैली के निदर्शन हैं, किंतु आत्मकथात्मक होने से इन्हें निबंध नहीं माना जा सकता। डा० उपाध्याय प्रखर मेधावाले आलोचक हैं। रचना को प्रेरित करनेवाली मूल प्रेरणा को पकड़ने में वे कभी भूल नहीं करते। उनके निबंधों में अधिकांश आलोचनात्मक हैं जो समसामयिक कथा, उपन्यास तथा काव्य से संबद्ध हैं। कथा-साहित्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का उन्होंने बड़ी गंभीरता से अध्ययन किया है। कविता, आलोचना, उपन्यास, कहानी आदि साहित्य विधाओं पर भी उन्होंने विचारपूर्ण निबंध लिखे हैं जिनमें सिद्धांत का प्रतिपादन शास्त्र के आधार पर न करके स्वानुभूत ज्ञान के आधार पर किया गया है। इसी कारण ये निबंध मौलिक हैं। निबंधों में आंग्ल साहित्य के विचारकों के मतों का स्थान स्थान पर उल्लेख करके लेखक ने अपने अध्ययन का अच्छा परिचय दिया है। निबंधों की भाषा प्रांजल है। उर्दू के शब्दों का बड़ी सावधानी के साथ साभिप्राय प्रयोग इनमें लक्षित होता है।

डा० कन्हैयालाल सहल (१९११)

साहित्यसमीक्षा के लिये निबंध के माध्यम का प्रयोग करनेवाले लेखक-प्राध्यापकों में डा० सहल का स्थान अन्यतम है। इन्होंने पिछले बीस वर्षों में पर्याप्त संख्या में निबंध लिखे हैं और विद्वत्समाज में उनका आदर हुआ है। डा० सहल के निबंधों का क्षेत्र व्यापक है। मूलतः साहित्यसमीक्षा के व्यवहार पक्ष को ही इन्होंने अपने निबंधों में स्वीकार किया है किंतु कुछ निबंध समीक्षा सिद्धांतों पर भी लिखे हैं। 'समीक्षांजलि', 'आलोचना के पथपर', 'समीक्षायण' आदि इनके प्रसिद्ध निबंध-संग्रह हैं। भारतीय सिद्धांतों के साथ निष्ठा रखते हुए भी सहलजी अपने निबंधों में पाश्चात्य चिंतनपद्धति के आधार पर सिद्धांतों का अवगाहन करते हैं। एक मंतव्य को ज्यों का त्यों ग्रहण न करके ऊहापोह द्वारा उसको उद्‌घाटित करने की कला इनके निबंधों में सर्वत्र लक्षित होती है। कामायनी, साकेत, कुरुक्षेत्र आदि आधुनिक महा-काव्यों पर इनके निबंध प्रबीत विद्वान् की शैली का परिचय देते हैं। आलोचकों ने इन्हें गुलाबराय की समन्वयवादी परंपरा में रखा है।

डा० प्रभाकर माचवे (१९१७)

माचवे, कवि, उपन्यासकार, निबंधकार और रेखाचित्र लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। यदि उनका यथार्थ सफल रूप देखना हो तो वह व्यंग्यपरक निबंधों में ही मिल सकता है। कलाकार की व्यापक दृष्टि उनके पास है अतः सभी प्रकार की रचनाओं में व्यापकता और विस्तार ले आते हैं। अपने मत की पुष्टि में तर्क प्रमाण के अतिरिक्त ग्रंथों के उद्धरण तो वे अनायास प्रस्तुत कर सकते हैं। किंतु निबंधकार के रूप में उनकी कृति 'खरगोश के सींग' अप्रतिम है। खरगोश के सींग में लेखक ने पैनी दृष्टि से विषयवस्तु का अवगाहन कर जैसी मार्मिक चोट की है वह देखते ही बनती है।

मराठी इनकी मातृभाषा है, दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी हैं और अंग्रेजी साहित्य के प्रबुद्ध पाठक हैं अतः इन सबका प्रभाव उनके निबंधों पर लक्षित हो सकता है। साहित्यसमीक्षा से संबद्ध विषयों पर इनके अनेक लेख प्रकाशित है। 'व्यक्ति और वाङ्मय', 'संतुलन' श्रेष्ठ निबंधसंग्रह हैं।

विद्यानिवास मिश्र (१९२६)

भारतेंदुयुग में व्यक्तिनिष्ठ निबंधों की एक अनोखी परंपरा प्रारंभ हुई थी जिसमें सजीवता के साथ विषयचयन की नवीनता और वर्णनशैली की रोचकता रहती थी। द्विवेदी और शुक्लयुग में उसका विकास उतने तीव्र रूप से नहीं हो सका। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसे अपनी मौलिक प्रतिभा से सर्वथा नए रूप और परिवेश में पुनरुज्जीवित किया। अशोक के फूल उसका श्रेष्ठ निदर्शन है। विद्यानिवास मिश्र ने द्विवेदीजी की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए उसकी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गरिमा को और अधिक समृद्ध बनाया। मिश्रजी के निबंध इस क्षेत्र में बेजोड़ हैं। 'छितवन की छाँह' के सर्वथा मौलिक व्यक्तिनिष्ठ किंतु भारतीय जीवन की अजस्र परंपरा से संयुक्त निबंधों में लेखक ने जिस शैली का प्रयोग किया है वह सांस्कृतिक आकलन की सर्वथा मौलिक पद्धति है। 'तुम चंदन हम पानी' के निबंध भी इसी प्रकार कला और संस्कृति के विविध रूपों को उद्घाटित करते हुए हमारे चिंतनक्षेत्र का विस्तार करने में सहायक होते हैं। 'कदम की फूली डाल' में भी भारतीय समाज तथा उसकी जीवनपद्धति का सजीव शैली से वर्णन है। निबंधों की भाषा तत्सम होने पर भी उसकी जीवंत शक्ति को अक्षुण्ण रखा गया है। स्वातंत्र्योत्तर युग के श्रेष्ठ निबंधलेखकों में विद्यानिवास मिश्र उल्लेखनीय हैं।

व्यक्तित्व के संस्पर्श से युक्त निबंध लिखनेवाले नए लेखकों में शिवप्रसाद सिंह और ठाकुर प्रसाद सिंह का नाम भी उल्लेख्य है। इन दोनों के श्रेष्ठ निबंध प्रकाशित हुए हैं।

वर्तमान युग के अन्य निबंधकार

पिछले पृष्ठों में हमने जिन निबंधकारों का वर्णन किया है उनके अतिरिक्त भी इस युग में अनेक श्रेष्ठ निबंधकार हुए हैं जो अभी किसी एक विधा या प्रवृत्ति में पूरी तरह समाविष्ट न होकर निरंतर विकासक्रम में लिख रहे हैं। मैंने आलोचनात्मक समीक्षा लिखनेवाले निबंधलेखकों को इस संदर्भ में स्मरण नहीं किया है। उनकी संख्या जानना भी कठिन है और शैलीनिर्माता निबंधकार न होने से उनका नामोल्लेख-पूर्वक संकेत करना उचित भी नहीं है। किंतु कतिपय लेखक ऐसे हैं जिन्होंने थोड़ी मात्रा में लिखकर भी अपनी प्रतिपादन शैली और विषयवस्तु का अच्छा परिचय दिया है। दार्शनिकता तथा आस्तिक भावना से संबद्ध विषयों पर तथा राजनीतिक महापुरुषों के वर्णन पर पं० हरिभाऊ उपाध्याय के श्रेष्ठ निबंध उपलब्ध हैं। 'मनन' में संकलित

इनके निबंध चिंतन, मनन और अध्ययन की सुसंबद्ध शृंखला ही हैं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के संस्मरणात्मक निबंध भी पठनीय हैं। प्रभाकरजी ने निबंधों की अपनी स्वतंत्र शैली ही बना ली है जो केवल संस्मरण में ही नहीं राजनीतिक विषयों के उद्‌घाटन में भी काम आती है। वस्तुतः ये दोनों व्यक्ति पत्रकार हैं और अपने पाठकों को रिझानेवाली शैली इनके पास है।

विचारात्मक शैली को स्वीकार कर समीक्षात्मक निबंध लिखनेवालों में पं० चंद्रबली पांडेय, शिवनाथ, रांगेय राघव, रघुवंश, गंगाप्रसाद पांडेय, विश्वंभर मानव, रामरतन भटनागर, कन्हैयालाल सहल, आदि का नाम उल्लेखनीय है। समालोचना को नई दिशा देनेवाले तथा कहानी और काव्य पर स्पष्ट विचार व्यक्त करनेवालों में डा० नामवरसिंह के निबंध 'इतिहास और आलोचना', (१९५६) आधुनिक साहित्य को प्रवृत्तियाँ (१९३८) में संकलित हैं। डा० विजयेंद्र स्नातक के 'समीक्षात्मक निबंध' तथा 'चिंतन के क्षण' विचारपूर्ण मौलिक निबंध हैं। 'चिंतन के क्षण' में संकलित निबंधों की दृष्टि मौलिक होने के साथ प्रतिपादनशैली स्पष्ट और प्रवाहमयी है। डा० इंद्रनाथ मदान ने भी आधुनिक साहित्य के विविध पक्षों पर अच्छे निबंध प्रस्तुत किए है।

इस युग के हास्य व्यंग्य निबंधकारों में कई नई प्रतिभाएँ सामने आई हैं। हरिशंकर परसाई तो अपनी विषयवस्तु, शैली, भंगिमा सभी में अनुपम निबंधकार है। लक्ष्मीकांत ने भी इस दिशा में बहुत अच्छा कार्य किया है। उनके निबंधों में गहरा व्यंग्य छिपा रहता है। गोपालप्रसाद हास्यरस के कवि है किंतु उन्होंने हास्य व्यंग्य के सुंदर निबंध भी लिखे है। गहरा व्यंग्य तो नामवरसिंह के 'बकलमखुद' में भी दृष्टिगत होता हैं। इन सभी लेखकों से हिंदी निबंध के उज्ज्वल भविष्य की आशा है। निबंध ही इस समय ऐसी विधा है जो निरंतर विकास को प्राप्त हो रही हैं। उसमें नई कविता और नई कहानी के समान अराजकता अभी नही आई है। विचारशील लेखकों का उसे सहयोग प्राप्त हो रहा है।

आलोचनात्मक निबंध लेखकों में तो और भी बहुत से निबंधकार हैं जिनमें से सर्वश्री परशुराम चतुर्वेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, विनयमोहन शर्मा, शिवपूजन सहाय, भगीरथ मिश्र, नलिनविलोचन शर्मा, रामकुमार वर्मा, रामरतन भटनागर, विश्वंभर मानव के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्य निबंधकारों में भदंत आनंद कौशल्यायन (जो मै भूल न सका, जो मुझे लिखना पड़ा, रेल का टिकट), महादेवी वर्मा (शृंखला की कड़ियाँ, साहित्यकार की आस्था), अमृतराय (सहचिंतन), मोहन राकेश (परिवेश), रघुवीर सहाय (सीढ़ियों पर धूप में), राबी (क्या मैं अंदर आ सकता हूँ), लक्ष्मीचंद जैन (कागज की किश्तयाँ, नए रंग नए ढंग), शिवप्रसाद सिंह (शिखरों का सेतु), विवेकीराय (फिर बैतलवा डाल पर) उल्लेखनीय नाम हैं। बालकृष्ण राव ने 'कमलाकांतजी ने कहा' में गोष्ठीसंलाप शैली का नया प्रयोग किया है।

वर्तमान युग के निबंध की शक्ति और सीमा

शुक्लोत्तर हिंदी निबंधसाहित्य में जिन प्रवृत्तियों को प्रमुख स्थान मिला उनमें सांस्कृतिक विषयों पर लिखे गए व्यक्तिनिष्ठ निबंध, समीक्षात्मक विषयों पर लिखे गए निबंध और हास्यव्यंग्यविनोद के निबंध हैं। शुक्लजी के युग में भी सांस्कृतिक विषयों पर कुछ निबंध लिखे गए थे किंतु उनका स्वर न तो व्यक्तिनिष्ठ था और न उनमें निबंधशैली से तथ्यों को प्रस्तुत किया गया था। सूचनाओं और तथ्यों के आँकड़े निबंध नहीं होते। इस युग के लेखकों में संपूर्णानंद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, विद्यानिवास मिश्र, भगवतशरण उपाध्याय आदि ने भारतीय जीवन के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन लोकपरंपराओं और मान्यताओं का सर्वथा मौलिक शैली से निबंधों में वर्णन किया। यह शैली शुक्लयुग के किसी निबंधलेखक में पूरी तरह विकसित नहीं हुई थी। भगवतशरण उपाध्याय के संग्रहों में 'ठूँठा आम', 'साहित्य और कला', सांस्कृतिक निबंध उल्लेख्य है।

समीक्षात्मक निबंधों का प्रचलन तो भारतेंदुयुग से ही हो गया था किंतु शुक्लयुग में वह अपने चरमोत्कर्ष को छूने में सफल हुआ। स्वयं रामचंद्र शुक्ल के निबंध समीक्षा के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पक्ष को पूरी शक्ति के साथ प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। किंतु वर्तमान युग में समीक्षात्मक निबंधों में कई नवीन दृष्टियों को स्थान मिला। सौंदर्यचेतना का शास्त्र तथा अनुभूति के आधार निबंधों में समाहार इसी युग में हुआ। सौष्ठववादी समालोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के आलोचनात्मक निबंध शुक्लजी की शैली से भिन्न रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के विवेचन से बचते हुए हृदयस्पर्शिता और आह्लाद को प्रधान मानकर उन्होंने समीक्षात्मक निबंधों का प्रणयन किया। काव्य को उपयोगिता के धरातल पर वाजपेयीजी ने स्वीकार नहीं किया। किंतु काव्य में जीवन की प्रेरणा, सांस्कृतिक चेतना और भावनाओं के परिष्कार की क्षमता उन्होंने स्वीकार की है। वाजपेयीजी के समीक्षात्मक निबंध पूर्णतः निगमनात्मक और इंगितशैली के हैं। इसी युग में डा० नगेंद्र जैसे समर्थ समालोचक का उदय हुआ। डा० नगेंद्र ने अपने निबंधों में काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को पूरी तरह ग्रहण किया है और उनको आधार बनाकर समीक्षात्मक लेख लिखे हैं। रससिद्धांत को पूरे आग्रह के साथ स्वीकार करते हुए उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक विवेचन से भी कवि और काव्य की परख की है। डा० नगेंद्र के निबंधों में वैविध्य के कारण इस युग के लेखकों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के समीक्षात्मक निबंधों में मानवतावादी भूमि को स्पष्ट करने का सफल प्रयास लक्षित होता है। समाजशास्त्रीय तत्वों का साहित्यिक समीक्षा में आचार्य द्विवेदी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ उपयोग किया है। निबंधों में गवेषणा और इतिहास का संमिश्रण भी द्विवेदीजी के निबंधों द्वारा हुआ।

हास्य, व्यंग्यविनोद की दिशा में निबंध का योगदान इस युग की विशेषता है। शुक्लयुग में हरिशंकर शर्मा और बेढब बनारसी ने जिस शैली में हास्यपरक निबंध लिखे थे उनमें गहरा व्यंग्य नहीं था। इस युग में व्यंग्य, कशाघात और कटाक्ष को निबंध के माध्यम से व्यक्त करनेवाले कई निबंधकार हुए।

राष्ट्रभाषा की समस्या पर इस युग में सैकड़ों निबंध लिखे गए। इन निबंधों में हिंदी के प्रचार प्रसार पक्ष का ही नहीं वरन् उसकी भाषाविषयक शक्ति का भी उद्घाटन हुआ। स्वातंत्र्योत्तर निबंधों में भाषा की समस्या और उसके विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ना अनिवार्य था और इस अनिवार्यता की पूर्ति का साधन निबंध और पत्रकारिता ही हो सकते थे।

स्वतंत्रताप्राप्ति के कारण राजनीति और समाजशास्त्र के विषय में हमारी दृष्टि में परिवर्तन आया और उसके विविध पक्ष जैसे लोकतंत्र, मताधिकार, जनता और शासन, नागरिकता, प्रजातंत्र शासन में जनमत की उपादेयता आदि विषयों पर नूतन आलोक में विचार किया गया। यद्यपि इस प्रकार के लेख वैचारिक धरातल पर कम और वर्णनात्मक धरातल पर अधिक लिखे गए किंतु उनकी उपादेयता में कोई संदेह नहीं हो सकता।

हिंदी के मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों के सहयोग से भी हिंदी निबंध को अच्छा प्रश्रय मिला। इधर पिछले आठ दस वर्ष से नवलेखन की जो धारा हिंदी में आई है उसका भी कुछ प्रभाव निबंधों पर हुआ है। यद्यपि अभी तक नव निबंध जैसा कोई रूप नहीं आया है किंतु कुछ लेखक, जिनका संबंध नवलेखन से है, निबंध क्षेत्र में भी योगदान कर रहे हैं।

वर्तमान निबंध की सीमाओं पर यदि विचार किया जाय तो वह भी कम स्पष्ट नहीं है। आलोचनात्मक निबंध में जितनी प्रगति हिंदी निबंध ने की है उतनी वैयक्तिक निबंध ने नहीं की। ललित निबंध की दिशा में नए हस्ताक्षर संख्या और गुण दोनों दृष्टियों से कम ही हैं। चार पाँच नए लेखकों को छोड़कर शेष पुराने लेखकों के प्रभाव में ही लिख रहे हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेंद्र, जैनेंद्र, और अज्ञेय की निबंधशैली से टक्कर लेनेवाले लेखक कम ही हैं। विद्यानिवास मिश्र और शिवप्रसाद सिंह की परंपरा में भी उल्लेख्य लेखक नहीं हैं। हरिशंकर परसाई का सानी कोई दूसरा नहीं। किंतु इन अभावों के होते हुए भी हिंदी निबंध पहले से अधिक समर्थ, व्यापक और शैलीसमन्वित हुआ है। निबंध के पठनपाठन की पहले सीमा थी पाठ्यपुस्तक, आज निबंध पत्रपत्रिकाओं तथा संग्रहों में भी पठनीय बन गया है।

●

द्वितीय अध्याय

शोधप्रबंध

आलोच्यकाल में अनुसंधान एवं गवेषणात्मक दृष्टि से लिखे गए शोधप्रबंधों के परिमाण तथा गुण दोनों रूपों में उल्लेखनीय कार्य हुआ है। वस्तुतः इसी काल को हिंदी शोधप्रबंधों का प्रारंभिक काल समझना चाहिए। जिस विपुल संख्या में शोधप्रबंध लिखे गए और प्रकाशित हुए उन सबका ब्यौरेवार विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना यहाँ संभव नहीं है। अतः हमने समस्त शोधप्रबंधों को विशिष्ट वर्गों में विभाजित कर समस्त शोधकार्य का समवेत शैली से परिचय प्रस्तुत करना ही ठीक समझा है। हिंदी में शोधकार्य के श्रीगणेश का भी इस संदर्भ में संक्षिप्त परिचय दे दिया है। आलोच्यकाल की दृष्टि से संभवतः पाठक को यह अप्रासंगिक प्रतीत होगा किंतु शोधकार्य के सिंहावलोकन के लिये यह आवश्यक है। यदि प्रत्येक शोधप्रबंध का लेखक आदि के नाम सहित परिचय लिखा जाय तो यह बहुत विस्तृत विवरण होगा। और उसका कलेवर आवश्यकता से अधिक बड़ा हो जायगा अतः हमने इस कार्य को वर्गीकृत रूप में ही प्रस्तुत किया है।

आलोच्यकाल के शोधप्रबंधों की प्रेरणा मूल रूप में पश्चिम के विश्वविद्यालयों की देन है। उपाधिसापेक्ष शोधप्रबंधों की परंपरा का अध्ययन इस तथ्य को पुष्ट करता है कि भारतीय तथा पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने हिंदी भाषा और साहित्य के विविध पक्षों को शोधप्रबंध का विषय बनाते समय पाश्चात्य विश्वविद्यालयों का अनुकरण किया है। हिंदी साहित्य एवं भाषा पर प्रारंभिक शोधकार्य विदेशों में प्रारंभ हुआ था और उसके उपरांत भारतवर्ष में प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अंतर्गत हिंदी की उपभाषा 'अवधी' से संबद्ध विषय पर प्रथम शोधप्रबंध डा० बाबूराम सक्सेना का है। हिंदी विभाग के अंतर्गत लिखा गया सबसे पहला शोधप्रबंध सन् १९३४ में डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल का था जो 'हिंदी काव्य की निर्गुण काव्यधारा' का गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसी वर्ष सूरदास के काव्य पर कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय से तथा पेरिस विश्वविद्यालय से डा० धीरेंद्र वर्मा का 'ब्रजभाषा' शीर्षक शोधप्रबंध प्रस्तुत हुआ। इन सभी प्रबंधों का माध्यम अंग्रेजी या फ्रेंच आदि हिंदीतर भाषाएँ थीं। अतः हिंदी से संबद्ध होने पर भी माध्यमभेद के कारण हम इन्हें हिंदी के शोधप्रबंधों में स्थान नहीं देते। यद्यपि बाद में कुछ का हिंदी रूपांतर शोधप्रबंध के लेखकों ने प्रस्तुत कर दिया है।

सन् १९६७ से पहले बनारस, इलाहाबाद, पंजाब, आगरा, कलकत्ता, पटना और लखनऊ विश्वविद्यालयों में ही हिंदी में शोधप्रबंध लिखने की सुविधा थी। इनमें से कुछ विश्वविद्यालयों का माध्यम प्रारंभ में अंग्रेजी ही था। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद शोधप्रबंध लेखन के लिये हिंदी माध्यम को स्वीकृति प्राप्त हुई। इन सभी विश्वविद्यालयों में सन् १९४७ तक लगभग ३५ शोधप्रबंध लिखे गए थे। हमारे आलोच्यकाल का प्रथम सोपान इन्हीं १० वर्षों तक सीमित है अतः प्रारंभिक १० वर्षों में केवल ३५ शोधप्रबंध संख्या की दृष्टि से अत्यंत न्यून हैं किंतु सन् १९४८ के बाद सन् १९५८ तथा परवर्ती काल में हिंदी शोधप्रबंधों की संख्या में विस्मयजनक परिवर्तन आया। सन् १९४८ से ५८ तक के स्वीकृत शोधप्रबंधों की संख्या लगभग चार सौ है। सन् १९५८ से ६५ तक की संख्या भी इतनी है। अर्थात् स्वातंत्र्योत्तर काल में लगभग सात सौ शोधप्रबंधों पर उपाधियाँ प्राप्त हुई हैं। इस आशातीत संख्यावृद्धि का पहला कारण तो है विश्वविद्यालयों की संख्यावृद्धि तथा हिंदीविभागों में अनुसंधान विभाग की स्थापना। दूसरा कारण है अनुसंधान की प्रक्रिया एवं प्रविधि से शोधार्थियों का अपेक्षाकृत अधिक परिचय। संप्रति भारतवर्ष के लगभग २८ विश्वविद्यालयों एवं शोधप्रतिष्ठानों में हिंदी में शोधकार्य करने की सुविधा भी विकसित हुई है और शोधछात्र उससे लाभान्वित हो रहे हैं।

आलोच्यकाल के शोधप्रबंधों को यदि विषयानुसार वर्गीकृत किया जाय तो मोटे तौर पर हम उन्हें दस ग्यारह वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। वह विभाजन सुविधा की दृष्टि से ही मान्य समझना चाहिए—इसे एकांतिक या पूर्ण कहना या मानना न तो मुझे अभिप्रेत है और न विद्वान् पाठक ही इसे ज्यों का त्यों स्वीकार करेगा।

पहले वर्ग में मैं उन शोधप्रबंधों को स्थान देता हूँ जिनका संबंध भाषाविज्ञान तथा भाषापरक अध्ययन से है। डा० बाबूराम सक्सेना ने 'अवधी भाषा' के विकास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया था और डा० धीरेंद्र वर्मा ने 'ब्रजभाषा' के स्वरूप निर्धारण के लिये व्याकरण संबंधी अनुसंधान को प्रमुखता देकर भाषाविषयक अनुसंधान की नीव रखी थी। स्वतंत्रता के बाद इस दिशा में बहुत अधिक कार्य हुआ और शायद हिंदी की भाषा, विभाषा और बोली का कोई रूप आज नहीं बचा है जिसका अनुसंधान के निकष पर अध्ययन न हुआ हो। मैथिली, भोजपुरी, ब्रजबुलि, बाँगरू, हलबी, राजस्थानी, बैसवाड़ी, ग्वालियरी, मालवी, खड़ीबोली, कन्नौजी, बुंदेलखंडी, दक्खिनी, बिहारी, रुहेली, मुंडारी, कुरमाली, हरियानी, कुमायूँनी, गढ़वाली, रावल्टी, सिराजी, निमाड़ी, खुरपल्टी, जौनसारी, सिरमौरी पहाड़ी, कुल्लू की बोली, डोगरी, भीली, बागरी बोली, कुरपाली बोली, शेखावाटी बोली, मेवाड़ी, मेवाती, मगही, छत्तीसगढ़ी, मतरी, पंजाबी आदि चार दर्जन भाषाएँ और बोलियाँ अनुसंधान के द्वारा प्रकाश में लाई गई हैं और उनका व्याकरण की दृष्टि से भी अध्ययन किया गया है।

भाषा के क्षेत्र में ही दूसरे प्रकार का अध्ययन व्याकरण और ध्वनि का है। जैसे व्रजभाषा, खड़ीबोली, भोजपुरी आदि का व्याकरणपरक अध्ययन। कुछ जनपदों की बोलियों का भी विशेष रूप से अध्ययन हुआ है: जैसे मेरठ जनपद की भाषा, बुलंदशहर जनपद की भाषा, दिल्ली की खड़ीबोली, गोरखपुर की भाषा, आजमगढ़ जिले की शब्दावली, अलीगढ़ की कृषक शब्दावली आदि। इस प्रकार के अध्ययन भी तीन दर्जन से ऊपर हैं। हिंदी भाषा के शब्द (आगत शब्द), धातु, परसर्ग, (प्रत्यय) उपसर्ग, कारक, ध्वनि कुछ भी ऐसा नहीं है जिसका विस्तार से अध्ययन न हुआ हो। जातियों के नाम, व्यक्तिनाम, नगरनाम, बिहार के स्थान का नाम आदि विषयों का पूरा अध्ययन हिंदी में हो चुका है। लोकसाहित्यके अध्ययन में भाषा का पूरा रूप समेटा गया है और विस्तारपूर्वक भाषा को अनेक दृष्टियों से आँका परखा गया है। किसी किसी विषय पर तो चार पाँच प्रबंध एक से ही प्रस्तुत हुए हैं। इसी क्रम में प्रसिद्ध कवियों की भाषा का अध्ययन भी आता है जैसे, चंदबरदाई, कबीर, जायसी, सूर, देव, बिहारी, पद्माकर, भूषण, केशव, प्रसाद, पंत, प्रेमचंद, निराला, रामचंद्र शुक्ल, छायावाद की भाषा, आधुनिक काव्यभाषा, आदि विषयों पर भी तीन दर्जन प्रबंध उपलब्ध हैं। भाषा के तुलनात्मक अध्ययन भी इसी वर्ग के भीतर हैं। जैसे हिंदी तथा पंजाबी की ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन, खड़ीबोली···· परिनिष्ठित हिंदी और पंजाबी का तुलनात्मक अध्ययन, तमिल, तेलुगु, संस्कृत, मलयालम, बँगला, मराठी आदि का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन हुआ है। लगभग एक दर्जन प्रबंध इस वर्ग में भी हैं। लिपि को भी मैं इसी वर्ग में रखता हूँ। लिपि के अध्ययन के लिये भी कई प्रबंध लिखे गए हैं।

संक्षेप में, यदि भाषा के विविध रूपों का समवेत रूप से विवरण प्रस्तुत किया जाय तो लगभग ढाई सौ प्रबंध इस वर्ग में आते हैं। इतनी बड़ी संख्या इस तथ्य को उद्‌घाटित करने में समर्थ है कि हिंदी भाषा का परिवार और परिवेश बहुत व्यापक है और अनेक उपभाषाओं, विभाषाओं और बोलियों में फैली हुई वह पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर पूर्वांचल तक व्याप्त है। दक्षिण की भाषाओं के साथ वैषम्य के धरातल पर भी उसका अध्ययन हो सकता है यह भी हिंदी अनुसंधान से विदित होता है।

अनुसंधान का दूसरा वर्ग है काव्यसिद्धांत तथा काव्यशास्त्र से संबद्ध विषय। इस वर्ग को भी हिंदी के अनुसंधाताओं ने बड़े आग्रह के साथ स्वीकार किया है। संस्कृत साहित्य के काव्यसंप्रदाय, रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य का अनेक बार अध्ययन हुआ है। लगभग तीन दर्जन प्रबंध इन्हीं काव्यसंप्रदायों पर हेरफेर के साथ प्रस्तुत हुए हैं। इसके बाद काव्यरूपों पर पृथक् पृथक् प्रबंध तैयार हुए। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी, गद्यकाव्य, निबंध, छंदशास्त्र, महाकाव्य, खंडकाव्य, प्रकृतिकाव्य आदि विषयों पर दर्जनों प्रबंध हैं। इन प्रबंधों में इतिहास पक्ष भी है और सिद्धांत पक्ष भी। अतः क्षेत्र के व्यापक होने से विस्तार

होना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्र के इस परिवेश में संस्कृत साहित्यशास्त्र के साथ अंग्रेजी काव्यशास्त्र को भी तुलनात्मक कसौटी पर रखा गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन अध्यापन हिंदी में निरंतर बढ़ रहा है इसलिये शोध के क्षेत्र में भी उसका समावेश उत्तरोत्तर बढ़ेगा और अरस्तू, प्लेटो, जानसन, ड्राइडन, क्रोचे, रिचर्ड्स, इलियट आदि के साथ तुलनात्मक दृष्टि से भी निबंध लिखे जा रहे हैं और भविष्य में और अधिक लिखे जायँगे। काव्य के रूप पर भी तीन चार शोध प्रबंध हैं।

तीसरा वर्ग है कविता का अनुसंधानपरक दृष्टि से अध्ययन। आदिकालीन काव्य से लेकर अधुनातन काव्य 'नई कविता' तक का व्यापक परिवेश इस अध्ययन में अंतर्निहित होने से इस वर्ग का विस्तार भी अत्यधिक है। लगभग दो सौ शोध-प्रबंध काव्य के विविध रूपों पर लिखे गए हैं। ये शोधप्रबंध युगविशेष, प्रवृत्ति, वाद, काव्यशैली, काव्यधारा आदि से संबद्ध हैं। विशिष्ट कवियों पर भी प्रबंधों का तांता लगा है। तुलसी और सूर पर दर्जनों प्रबंध हैं। यही स्थिति प्रसाद के काव्य की भी है। कुछ कवियों का तुलनात्मक शैली से भी अध्ययन हुआ है। काव्यशैली और काव्यभाषा के विविध रूपों पर भी आवृत्तिपरक अध्ययन इस वर्ग की विशेषता है।

चौथा वर्ग है हिंदी के सांप्रदायिक साहित्य का अध्ययन। मुख्य रूप से यह अध्ययन भक्तिकाल से संबंध रखता है किंतु कुछ संप्रदाय परवर्ती काल के भी हैं। गोरखनाथ, निर्गुण, सगुण, रामभक्ति, कृष्णभक्ति, गोसाईं, रसिक संप्रदाय, दादू, मलूक, रैदास, नानक आदि के पंथ, रामसनेही, प्राणनाथी, हरिदासी, जसनाथी, राधावल्लभी, रामानंदी, निंबार्की आदि तीन दर्जन संप्रदायों का अध्ययन इस वर्ग के भीतर समाविष्ट है। सांप्रदायिक अध्ययन में भी तुलनात्मक दृष्टि से शोधप्रबंध लिखे गए हैं। सामान्यत: सांप्रदायिक दृष्टि से जो अध्ययन हुआ है वह नवीन तथ्यों की सूचना अवश्य प्रस्तुत करता है।

पाँचवाँ वर्ग है गद्यसाहित्य का अनेक रूपों में अध्ययन। गद्य के विकास को स्पष्ट करनेवाले प्रबंधों से यह वर्ग प्रारंभ होकर गद्यरूपों और शैलियों के अध्ययन तक फैला हुआ है। हिंदी साहित्य का इतिहास और उसके विविध पक्ष भी इसी वर्ग के भीतर आते हैं। हिंदी गद्य के निर्माताओं पर भी स्वतंत्र रूप से शोधप्रबंध लिखे गए, जैसे बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त, शुक्लजी का गद्य, गद्य की विविध शैलियों का अध्ययन, द्विवेदीयुगीन गद्य, छायावादी कवियों का गद्य आदि। गद्यविधा के संबंध में चार दर्जन से ऊपर प्रबंध प्रस्तुत हुए हैं। इस विधा को अब सूक्ष्म धरातल पर अन्वेषण का विषय बनाया जा रहा है।

छठा वर्ग लोकसाहित्य, लोकगीत, लोकसंस्कृति तथा लोकतत्व से संबंध रखता है। लोकसाहित्य की ओर सबसे पहले विदेशी विद्वानों का ध्यान गया था। उन्होंने

भारतीय जनजीवन में व्याप्त लोकतत्वों के संबंध में अनेक ग्रंथ लिखकर इस पथ को प्रशस्त किया। तदनंतर हिंदी में इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ और अभी तक लगभग दो दर्जन शोधप्रबंध प्रकाश में आ चुके हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में लोकसाहित्य को एम० ए० कक्षाओं में वैकल्पिक प्रश्नपत्र के रूप में स्थान भी मिला है। यह अध्ययन अनेक अज्ञात विषयों को प्रकाश में लानेवाला सिद्ध हुआ है। यद्यपि कुछ समय तक यह विवाद का प्रश्न रहा कि लोकसाहित्य को शुद्ध साहित्य माना जाय या न माना जाय, क्योंकि इस साहित्य में ललित साहित्य के गुणों का अभाव होता है। किंतु इन शोधप्रबंधों में लोकसाहित्य, लोकगीत और लोककथाओं का ऐसा सुंदर रूप उजागर किया गया कि आज यह पठनीय साहित्य बन गया है। इसका पूरा पूरा श्रेय हिंदीशोध को ही प्राप्त है।

सातवाँ वर्ग तुलनात्मक तथा प्रभावपरक अध्ययन का है। तुलनात्मक अध्ययन दो प्रकार का है—एक तो हिंदी के कवियों या लेखकों की पारस्परिक तुलना दूसरा हिंदीतर भाषाओं से हिंदी साहित्य की विशिष्ट विधाओं, प्रवृत्तियों तथा कवियों की तुलना। इस अध्ययन में शोध की दृष्टि सर्वत्र स्वच्छ रही है यह कहना कठिन है। मैंने कई शोधप्रबंध ऐसे भी देखे हैं जहाँ बरबस तुलना की गई है और उसका फलितार्थ भी पक्षपात के साथ स्थिर किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन बहुत वांछनीय नहीं है। साम्य वैषम्य दिखाते हुए प्रवृत्तिपरक अध्ययन तो समीचीन हो सकता है, किंतु दो कवियों या लेखकों की तुलना सर्वत्र श्लाघ्य नहीं होती। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, समालोचना आदि में भी तुलनात्मक दृष्टि के अध्ययन उपलब्ध होते हैं, जो सभी ज्यों के त्यों ग्राह्य नहीं हैं। मुझे लगता है कि हिंदी में शोध-विषयों के अभाव के कारण शायद कुछ अनुसंधाता इस क्षेत्र में पहुँच जाते हैं और दो प्रवृत्तियों या कलाकारों को समता के धरातल पर ला खड़ा करते हैं। हाँ, कुछ शोधप्रबंधों में—विशेष रूप से भक्तिविषयक तुलनात्मक अध्ययन में—यह कार्य सुंदर रूप से गृहीत हुआ है और उसकी उपलब्धि केवल साहित्य क्षेत्र में ही नहीं राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भी सराहनीय है। हिंदीशोध ने तुलनात्मक शोध का क्षितिज खोला है। लेकिन अभी तक अपनी सीमाओं में ही है। यदि उसे व्यापक रूप से मानव जाति के विकास के फलक पर स्थापित किया जाय तथा देश विदेश की विचारधाराओं के संदर्भ में अनुसंधेय बनाया जाय तो शोध के लिये और अधिक उपादेय सामग्री उपलब्ध होने की संभावना है।

आठवाँ वर्ग प्रादेशिक साहित्य, भाषा तथा इतिहास का है। इस वर्ग में प्रादेशिक साहित्य का मूल्यांकन अनुसंधानपरक दृष्टि से करने का प्रयत्न लक्षित होता है। जैसे हिंदी साहित्य को पंजाब की देन, मध्यप्रदेश की देन, मत्स्य प्रदेश की देन, कानपुर के प्रमुख कवि, कूर्मांचल की देन, रीवाँ दरबार के कवि, काशी की देन, बैसवाड़े की देन आदि। यह वर्ग भी बहुत व्यापक है और इसके मूल में भी पिष्टपेषण

तथा विषयों के अभाव की ध्वनि है। लगभग तीन दर्जन शोधप्रबंधों में तीन तीन बार की आवृत्ति है और उस प्रदेश का भौगोलिक, ऐतिहासिक वर्णन मूल विषय की अपेक्षा दुगुना है। मैंने स्वयं लगभग आधे दर्जन शोधप्रबंधों का परीक्षण किया है और इस दोष को सभी प्रबंधों में समान रूप से व्याप्त पाया है कि विषय पर लिखने की सामग्री सीमित होने से कलेवर को बढ़ाने के मोह में यह त्रुटि जानबूझ कर दुहराई जाती है। रीवाँ, पन्ना, अमेरी, ओरछा आदि दरबारों के कवियों पर तीन तीन शोध-प्रबंध लिखने की गुंजाइश कहाँ है? और क्या लाभ है इस पुनरावृत्ति का जो इन प्रबंधों में हुई है। लेकिन अनुसंधाता सुगम पथ का पथिक बन गया है, निर्देशक अज्ञान में है, विश्वविद्यालयों मे प्रतिस्पर्धा और अज्ञान दोनों है। परिणाम यह है कि एक ही प्रदेश पर दो या तीन शोधप्रबंध यह मानकर लिखे गए हैं कि ये सब विषय स्वतंत्र और पृथक् है।

नवम वर्ग है सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से हिंदी साहित्य के अनुसंधान का। सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से काव्यानुशीलन फलप्रद होता है किंतु उसकी फलवत्ता तभी सिद्ध होगी जब सांस्कृतिक या सामाजिक अन्वेषण के लिये स्वच्छ दृष्टि अनुसंधाता के पास हो। मैंने इन प्रबंधों में मूलभाव का अभाव ही पाया है। तीन दर्जन प्रबंधों में आठ दस ही ऐसे हैं जिन्हें हम शोधप्रबंध कह सकें, शेष सब पिष्टपेषण और अवांतर विषयों से भरे हुए हैं। रामकाव्य, कृष्णकाव्य, रीतिकाव्य, निर्गुणकाव्य, मध्यकाल, संतकाव्य, आधुनिक काव्य में समाज और संस्कृति तथा आधुनिक उपन्यास में समाज एवं संस्कृति आदि विषयों पर जो प्रबंध लिखे गए हैं उनमें भी मूल विषय पर कम तथा अवांतर प्रसंगों पर ही अधिक लिखा गया है। इन प्रबंधों के लिये इतिहास, संस्कृति और दर्शन के अध्ययन तथा ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है जो हिंदी के छात्र के पास न्यून मात्रा में हैं।

दसवाँ वर्ग पाठालोचन या पाठानुसंधान का है। पाठानुसंधान का काम हिंदी में अभी द्रुतगति से प्रारंभ नही हुआ है। प्राचीन ग्रंथों में रासो, कबीरबीजक, मृगावती, पदमावत, रामचरितमानस, सूरसागर आदि के प्रामाणिक संस्करण अपेक्षित हैं। इनमें से कुछ पर अनुसंधान हुआ है और शेष पर कार्य हो रहा है। सूरदास, नंददास, केशवदास, देव, भूषण आदि के ग्रंथ शोधछात्रों के पास हैं और वे इनका पाठ-शोधन कर रहे है। यही एक दिशा ऐसी है जिसमें अभी पुनरावृत्ति प्रारंभ नहीं हुई है। यदि इसमें आवृत्ति का कुचक्र फैला तो हिंदीशोध परिहास के सिवा कुछ और नहीं रह जायगा। विद्वानों को इस क्षेत्र में पुनरावृत्ति रोकने का ध्यान रखना अनिवार्य है। यदि एक ही रचना के विविध पाठालोचन तैयार हुए तो अंत में यही परिणाम निकलेगा कि कबीरबीजक, सूरसागर और रामचरितमानस किसी एक कवि की रचना न होकर रासो की तरह अप्रामाणिक रचनाएं है। यह स्थिति लज्जास्पद होने के साथ उपाहासास्पद भी होगी।

ग्यारहवाँ वर्ग उन प्रबंधों का है जिन्हें हम विविध प्रकीर्णक विषय कह सकते हैं, जैसे 'हिंदी में बाल साहित्य', 'हिंदी में नाम साहित्य', हिंदी में कोश साहित्य', 'ध्रुवपद और हिंदी साहित्य,' 'हिंदी और संगीत', 'हिंदी में मंगलाचरण साहित्य', 'हिंदी में व्यंग्य साहित्य', 'हिंदी साहित्य में राष्ट्रीयता', 'हिंदी का यात्रा-साहित्य', 'पत्रसाहित्य', 'गुरुमुखी लिपि में हिंदी साहित्य', 'हिंदी के फिल्मी गीत' आदि। इन विषयों में भी पिष्टपेषण और पुनरावृत्ति की भरमार है। यात्रासाहित्य पर ही पाँच प्रबंध हैं, कोशरचना पर तीन, पत्रसाहित्य पर तीन, बाल साहित्य पर तीन, अनुवाद साहित्य पर तीन प्रबंध इस आवृत्ति के परिणाम हैं। इस वर्ग के भीतर हम उन सभी प्रबंधों को रख सकते है जो हिंदी भाषा और साहित्य को उपजीव्य बनाकर लिखे गए है जैसे 'अंग्रेज शासकों की शिक्षा नीति और हिंदी भाषा,' 'ईसाई मिशनरियों की हिंदी सेवा', 'आर्यसमाज की हिंदी सेवा', हिंदी भाषाशिक्षण और अध्यापन' आदि विषय भी आते है।

शोधप्रबंधों की समीक्षा : आलोच्यकाल के हिंदी अनुसंधान का वर्गानुसार आकलन करने के बाद हमारे सामने कुछ ऐसे तथ्य उभरकर आते हैं जो हिंदी अनुसंधान की शक्ति और सामर्थ्य का द्योतन कराने के साथ उसकी सीमाओं एवं त्रुटियों को भी स्पष्ट करते हैं। मैं संक्षेप में उनकी ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वतंत्रता के बाद हिंदीक्षेत्र में सबसे अधिक स्फूर्ति और सक्रियता शोध में ही हुई है। यदि परिमाण को सामने रखा जाय तो शोधप्रबंधों का परिमाण अन्य साहित्य से दुगुना अवश्य है। इस विपुल परिमाण से हिंदी की विपुल संभावनाएँ सामने आई हैं। उपाधिसापेक्ष कार्य के साथ ऐसे भी विद्वान् है जिन्होंने उपाधिनिरपेक्ष शोध की सामग्री इसी युग में हिंदी को दी है। इन विद्वानों में राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, परशुराम चतुर्वेदी, अगरचंद नाहटा, मुनि जिनविजय, वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रभुदयाल मीतल आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार के शोध का अभी तक पूरी तरह आकलन न होने पर भी हिंदीशोध के इतिहास में इनका उपयोग तो होता है किंतु इनकी कृतियों को हिंदीशोध में समाविष्ट नहीं किया जाता। यदि इन्हें भी शामिल कर दिया जाय तो हिंदी का संपूर्ण शोधकार्य बहुत ही समृद्ध प्रतीत होगा। किंतु इस समृद्धि से अभिभूत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो उपाधिसापेक्ष ग्रंथ शोधप्रबंध के नाम से प्रकाशित होकर सामने आए हैं उनकी अपूर्णता, अवज्ञानिकता, अमौलिकता और अप्रासंगिकता में ही उनकी दरिद्रता, हेयता और पिष्टपेषणता भी लिपटी हुई है।

आलोच्यकाल के हिंदीशोध की सबसे बड़ी और सबसे अधिक खटकनेवाली त्रुटि है विषयों की आवृत्ति और प्रस्तुतीकरण की अमौलिकता। केवल पिष्टपेषण ही नहीं तस्करी वृत्ति से भाव, विषय, शैली सभी कुछ अपहृतकर नया शोधप्रबंध लिखना

हिंदीशोध की चातुरी बन गई है। मैं दावे से कह सकता हूँ कि जो छह सात सौ प्रबंध स्वीकृत हुए हैं उनमें चार सौ शुद्ध पिष्टपेषण की कला के निदर्शन हैं। यदि इन चार सौ शोधप्रबंधों का अनुसंधानात्मक दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन किया जाय तो विदित होगा कि इन प्रबंधों के दो लाख पृष्ठों में से दो हजार ही नवीन हैं शेष सब पिष्टपेषण हैं, पुनरावृत्ति और संकलन मात्र हैं। यह कितनी हीन और दयनीय स्थिति है, इसके लिये कोई न कोई उपाय अवश्य सोचना चाहिए। जबतक प्रत्येक विश्वविद्यालय स्वतंत्र रूप से कार्य करने का अधिकार मानकर चलेगा तबतक यह पुनरावृत्ति होगी और फिर होगी। अतः संयोजन के निमित्त एक अखिल भारतीय स्तर की अनुसंधान संस्था अतिशीघ्र स्थापित होनी चाहिए जो विषयों की पुनरावृत्ति पर अंकुश रख सके। इस संस्था में विषयसूची के अतिरिक्त उन अधिकारी विद्वानों की भी सूची रहे जो किसी विशिष्ट विषय का प्रामाणिक शोध करा सकते हैं। अधिकारी विद्वानों के निदर्शन में ही यदि कार्य होगा तो उसकी प्रामाणिकता होगी और तस्करी आदि के हीन उपाय सफल नहीं हो सकेंगे।

मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि कुछ विषयों पर शोध तो हुआ है किंतु शोध की कोई ज्ञातव्य सामग्री उनमें नहीं है। इसके लिये कौन उत्तरदायी है यह मैं नहीं कहना चाहता किंतु विषयचयन में ही भूल है। उन विषयों को शोध क्यों समझा जाता है जो कक्षा में प्राध्यापक के भाषण के विषय हैं। कभी कभी साधारण समीक्षात्मक आकलन भी अनुसंधान की उपाधि से विभूषित होते हैं और कभी सामान्य सूचनाओं पर शोधउपाधि प्रदान की जाती है। इस प्रकार वैदुष्यहीन संकलनात्मक प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए। कभी कभी पुनराख्यान के नाम पर भी कविता को गद्य में व्याख्या कर अनुसंधान की मुद्रा से अंकित कर दिया जाता है। वस्तुतः पुनराख्यान के लिये विवेचन विश्लेषण की प्रतिभा और विषय के अभ्यंतर में पैठने की क्षमता अपेक्षित है। खेद है कि पुनराख्यान के नाम पर जो कुछ मुद्रित होकर आ रहा है वह पूर्वज्ञात को पुनः ज्ञात कराने से अधिक कुछ नहीं है। हिंदीशोध को मर्मकथा यह है कि वह हिंदी के नए पुराने ग्रंथों और रचनाकारों तक सीमित रहकर पुनराख्यान या विवेचन करता है। इतिहास, दर्शन, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान तथा अन्य उपयोगी साहित्य से अनुसंधाता प्रत्यक्ष या परोक्ष परिचय नहीं करना चाहता। फलतः कूपमंडूकता का आनंद और अभिशाप दोनों उसके प्रबंध में ओतप्रोत रहते हैं। रचनाकार की अंतर्दृष्टि से शून्य, संहृति के अभाव से ग्रस्त और आरोपित एवं असंबद्ध तथ्यों से मंडित ये शोधप्रबंध उपहास के अतिरिक्त और किसी भाव की सृष्टि नहीं करते।

एक और बात जो इन प्रबंधों में विशेष रूप से लक्षित होती है, वह है प्रबंधों का विशाल कलेवर। सामान्यतः पाँच सौ छह सौ पृष्ठ लघु कलेवर के द्योतक हैं। डेढ़ हजार से पौने दो हजार पृष्ठ तक के निबंध हिंदीशोध में स्वीकृत हुए हैं। यह धारणा कितनी भ्रांत और गर्हणीय है कि मोटे आकार के जलोदरपीड़ित प्रबंध

से परीक्षक प्रभावित होते हैं। इसके मूल में निर्देशक का अपना अज्ञान भी छिपा रहता है। हिंदी का शोधनिर्देशक सौ से ऊपर छात्रों का निर्देशन करने का दंभ करे तो यही स्थिति होगी। कुछ विश्वविद्यालयों में तो निर्देशक तथा अनुसंधाता का साक्षात्कार पहली बार उस समय होता है जब शोधार्थी का पंजीकरण होता है और दूसरी बार तब, जब वह अपना शोधप्रबंध पूर्णकर विश्वविद्यालय में दाखिल करता है। बीच में उसने क्या किया और क्या लिखा इसका सिरदर्द निरीक्षक महोदय उठाना नहीं चाहते। इस कटु सत्य को लिखकर मैं विश्वविद्यालयों का तथा उन द्रोणाचार्यों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो केवल अपनी शिष्यवत्सलता से धन्य होने पर भी अपने कर्तव्य से नितांत पराङ्मुख हैं।

शोध की वैज्ञानिक प्रक्रिया और प्रविधि का प्रशिक्षण अभी तक व्यापक रूप से प्रारंभ नहीं हुआ है। एक दो विश्वविद्यालयों में ही अनुसंधाताओं को शोध करने की विधि सिखाई जाती है। शेष स्थानों में तो जो शोध कर लेता है वही निर्देशक बन बैठता है। शिकारी बनने के लिये खरगोश मारना और शेर मारना समान ही समझा जाता है। शोधनिर्देशन में जितनी विडंबना है उतनी किसी और क्षेत्र में नहीं। यदि मैं इसके उदाहरण देना शुरू करूँ तो आश्चर्य होगा कि कौन सा अनर्थ है जो नहीं हो रहा है। नई कविता पर शोध करानेवाले ऐसे निर्देशक हैं जो मैथिलीशरण गुप्त से आगे के काव्य को पढ़ना भी पाप समझते हैं। सिद्ध साहित्य पर पथप्रदर्शन करते हैं द्विवेदीयुगीन विषय पर शोध करनेवाले और द्विवेदीयुग पर शोध करते हैं रासो तथा अपभ्रंश के विशेषज्ञ। यह सब गोरखधंधा कबतक जारी रहेगा, नहीं कहा जा सकता।

आलोच्यकाल के हिंदीशोध की उपलब्धियों को अवमूल्यन द्वारा मैं नगण्य नहीं बनाना चाहता। मेरा प्रयास भी आत्मनिरीक्षण की दिशा में ही है और उद्देश्य है अनुसंधान का सत्यानुशीलन द्वारा परिमार्जन। जिस विपुल मात्रा में और जिस द्रुतगति से हिंदी अनुसंधान का कार्य चल रहा है वह भारत की अन्य भाषाओं के लिये ईर्ष्या का विषय बन गया है। भारत की चौदह भाषाओं में मिलाकर जितना शोधकार्य हुआ है उसका बीस गुना अकेली हिंदी में सत्रह वर्षों में हुआ है। यह बात हिंदी के शोधार्थियों के अदम्य उत्साह की सूचक होने के साथ हिंदी साहित्य-भंडार की समृद्धि का भी बोध कराती है। यदि पच्चीस प्रतिशत प्रबंध भी मौलिक होने के साथ शोधनिकष पर खरे हैं तो डेढ़ सौ प्रबंध स्वातंत्र्योत्तर काल में श्रेष्ठ कृति के रूप में हिंदी में स्वीकृत हुए माने जायँगे। यह संख्या छोटी नहीं है। डेढ़ हजार विषयों पर अभी काम हो रहा है, उसमें भी यदि पच्चीस प्रतिशत श्रेष्ठ कार्य हुआ तो पौने चार सौ प्रबंध अगले चार पाँच वर्षों में हिंदी भंडार को समृद्ध बना सकेंगे।

लेकिन विपुल परिमाण और आकार ही अनुसंधान का प्राणतत्व नहीं है। सारग्राही बुद्धि से अनुसंधान को निष्ठा के साथ ग्रहण करने से उसकी गुणवत्ता बढ़ेगी।

एक ही बँधेबँधाए ढाँचे से हिंदी अनुसंधान को निकाल कर तथा विषयवस्तु परक उसकी कूपमंडूकता को हटाकर यदि व्यापक परिवेश और आयाम में उसे स्थित किया जाय तो निस्संदेह हिंदी अनुसंधान में नवजीवन का संचार हो सकेगा। शोधकार्य का क्षेत्रविस्तार अब आवश्यक हो गया है।

हिंदीशोध के क्षेत्र में हुई इस क्रांतिकारी प्रगति को भलीभाँति समझने के लिये कतिपय स्थूल तथ्यों की ओर मैं पाठक का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। पहली बात जो सभी क्षेत्रों में चर्चा का विषय बनी हुई है वह है शोध का स्तर। शोध का स्तर गुणवत्ता से आँका जाता है, परिमाण से नहीं। गुणवत्ता के संबंध में हिंदी-शोध के निर्देशकों में मत सम्मत बहुत निराशाजनक हैं, यदि मैं उन्हें यहाँ उद्धृत करूँ तो हिंदीशोध की प्रगति पर प्रतिबंध लगाने का आग्रह सभी के मत में व्यक्त होगा। शोध का स्तर इतना भिन्न क्यों हुआ यह विचारणीय होने के साथ चिंत्य भी है। शोध ही एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें निष्ठा के साथ वस्तुपरक दृष्टि से अनुसंधाता को कार्य करना चाहिए। उसमें न तो काल का प्रतिबंध होना चाहिए न किसी प्रकार के आरोपित प्रतिमानों का भय। अनुसंधाता सत्यान्वेषी की भाँति तथ्यों का अनुशीलन करता हुआ निर्णीत और छाने फटके हुए सत्य को प्रस्तुत करे जो पहले से अज्ञात होने के साथ यथार्थ रूपमें ग्राह्य एवं उपादेय हैं।

अनुसंधान का मूल है जिज्ञासा। जहाँ ज्ञान के विस्तार अथवा अज्ञात के उद्घाटन की आकांक्षा है वहीं अनुसंधान का बीज निहित है। यदि जिज्ञासा ही शोध का प्रेरक तत्व रहे तो निम्न स्तर के शोध का प्रश्न ही नहीं उठता। जब अनुसंधान को जीविका और व्यवसाय के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तभी उसके उद्देश्य से च्युत होने की आशंका पैदा हो जाती है। जब से पी० एच० डी० उपाधि को व्यवसाय के धरातल पर ग्रहण किया गया तभी से उसके स्वरूप और परिणति में परिवर्तन आ गया।

यह कहना असंगत न होगा कि गवेषणा या शोध के द्वारा नवीन तथ्य, नवीन सूचनाएँ, नवीन विचारधाराएँ और नवीन सिद्धांत प्रकाश में आते है। इंद्रियागोचर तथ्यों के आधार पर अनुभूति और कल्पना से कलाकार जिस जगत् का निर्माण करता है वह साहित्यजगत् है। साहित्य की रचनाप्रक्रिया में रचनाकार का अपना मनोजगत् या भावजगत् ही अधिक क्रियाशील रहता है। साहित्यिक रचना कलाकार की अपनी स्वच्छंद सृष्टि है, इसके निर्माण में कलाकार की अपनी मेधा, प्रतिभा और सर्जक शक्ति का ही योग है—यह एक आत्मपरक कृति है, किंतु अनुसंधान इससे सर्वथा भिन्न एक वस्तुपरक रचना है जिसमें अनुसंधाता को तटस्थ और निस्संगभाव से तथ्यों का अनुशीलन कर निर्णय और निष्कर्ष प्रस्तुत करने होते हैं। इन निष्कर्षों में तर्क, युक्ति, प्रमाण आदि का पूरा बल रहता है तभी ये स्वीकार्य बनते हैं। अतः अनुसंधानकर्ता के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने उपादान और निमित्त कारणों को दृष्टि में रखकर ही इस कार्य में प्रवृत्त हो। ●

तृतीय अध्याय

समीक्षा

शुक्लोत्तर युग की शुक्लसमीक्षापद्धति

शुक्लजी ने हिंदी साहित्य को एक निश्चित समीक्षादर्श तथा वैज्ञानिक पद्धति प्रदान की है। यह पद्धति कुछ परिवर्तित एवं परिष्कृत रूप में आज भी विद्यमान है। इसे शुक्लसमीक्षापद्धति कहना समीचीन है। इसके स्वरूपसंघटन में बाबू श्यामसुंदरदासजी, बख्शीजी आदि ने भी महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया था। साहित्यालोचन और विश्वसाहित्य के प्रभाव से इस समीक्षापद्धति में कुछ उदारता आई। उसमें शुक्लजी की सी नैतिकता और मर्यादावाद का आग्रह तथा वैयक्तिकता का कठोर नियंत्रण नहीं रह गया। आगे चलकर तो प्रबंधवाद का मोह भी बहुत कुछ कम हो गया। पाश्चात्य समीक्षा के तत्त्वों को भी पहले की अपेक्षा अधिक अपनाने की प्रवृत्ति जागी। शुक्लजी के समान इन समीक्षकों में समन्वय की क्षमता तो नहीं है पर भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा के तत्त्वों के मिलेजुले रूप का विकास करने का श्रेय इन समीक्षकों को अवश्य है। श्यामसुंदरदासजी के 'साहित्यालोचन', बाबू गुलाबरायजी के 'सिद्धांत और अध्ययन', रामदहिन मिश्र के 'काव्यदर्पण', 'काव्यालोक' आदि सिद्धांतग्रंथों का श्रेय भी इसी समन्वय भावना को है। इस परवर्ती काल की शुक्लपद्धति ने हिंदी की अन्य समीक्षापद्धतियों से भी कुछ तत्त्व ग्रहण कर लिए। नैतिक दृष्टिकोण एवं शास्त्रीय आधार पर मूल्यांकन तथा विवेचन, कवि के व्यक्तित्व तथा तत्कालीन परिस्थितियों का सामान्यकोटि का विवेचन, तुलना और निर्णय—सामान्यतः ये शुक्लसमीक्षापद्धति के अध्ययन की प्रधान विशेषताएँ हो गई हैं। यह पद्धति क्रमशः एक प्रकार से तटस्थ एवं विश्लेषणात्मक व्याख्या को अपनाती जा रही है। इसमें मौलिक प्रतिभाओं एवं नई सूझबूझ के लोगों का प्रायः अभाव ही है। विश्वविद्यालय के अध्यापकों एवं स्नातकों में इसी पद्धति का उपयोग सबसे अधिक है। इसी में सबसे अधिक व्यवहारोपयोगिता, सरलता, स्पष्टता एवं एक प्रकार की सर्वांगीणता भी है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० चंद्रबली पांडेय, बाबू गुलाबराय, पं० गिरिजादत्त 'गिरीश', डा० श्रीकृष्णलाल आदि समीक्षक शुक्लपद्धति के ही माने जा सकते हैं। इन्होंने अन्य समीक्षापद्धतियों से कुछ सामान्य तत्त्व ग्रहण करने की स्वतंत्रता अवश्य ली है। एक प्रकार से ये समीक्षक भी समन्वयवादी आकांक्षा को पुष्ट कर रहे हैं। बाबू गुलाबरायजी तो मोटे तौर पर समन्वयवादी समीक्षक कहे भी

जाते हैं। पर हिंदी में अभी तक समन्वय का पुष्ट आधार बन नहीं पाया है, इसलिये आज का समन्वय केवल कुछ पद्धतियों के तत्वों का मिश्रण मात्र है। कलात्मक सौष्ठव, अभिव्यंजनाकौशल एवं नैतिकता के भाव संवेदनामय रूप के साक्षात्कार तथा मूल्यांकन की जितनी क्षमता शुक्लजी में थी उतनी शुक्लपद्धति के अन्य समीक्षकों में नहीं। साधारणतः अन्य संप्रदायों के समीक्षकों में भी विवेचन की इतनी सूक्ष्मता और प्रौढ़ता प्रायः दुर्लभ ही है। भावजगत् की सूक्ष्मताओं तक पहुँचने की सहृदयता एवं मौलिक विश्लेषण की क्षमता के अभाव में समीक्षक को साहित्यशास्त्र के नियमों की जड़ता आक्रांत कर लेती है और समीक्षा नियमों और सिद्धांतों के आरोप से निर्मित ढाँचा मात्र रह जाती है। शुक्लसंप्रदाय के अनुगामी उन आलोचकों की समीक्षा के संबंध में यह बात बहुत कुछ सत्य है जिनकी समीक्षा में व्यक्तित्व के संस्पर्श का प्रायः अभाव ही रहता है। शुक्लसंप्रदाय की समीक्षापद्धति धीरे धीरे ऐसे ही ढाँचे में बदल रही है। उसके तत्व दूसरी पद्धतियों में विलीन होते जा रहे हैं, शीघ्र ही वह अतीत की वस्तु बन जाएगी। ऐसी संभावना स्पष्ट होने लगी है।

सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी समीक्षापद्धति

स्वच्छंदतावादी चेतना का सूत्रपात

चिंतन के क्षेत्र में तिथियों का वह महत्व नहीं होता जो घटनाओं के जगत् में होता है। घटनाओं का पूर्वापर क्रम स्पष्ट होता है, पर वैसा चिंतन धारणा या अनुभूति के जगत् में नहीं। एक चिंतनधारा व्यक्त होकर स्पष्ट नामरूप धारण करने से पूर्व बहुत समय तक अनामरूप अवस्था में प्रवाहित रहती है। जो विचारधाराएँ नामरूप धारण करने के बाद भी समानांतर चलती हैं, उनमें भी एक अपने विकास की चरम अवस्था पर पहुँचकर पहले ही विलीन हो जाती है और दूसरी कालक्रम के अनुसार उसके बाद अपने चरम पर पहुँचती है और आगे तक चलती रहती है। यही बात शुक्लसमीक्षापद्धति एवं स्वच्छंदतावादी समीक्षा के संबंध में कही जा सकती है। सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी समीक्षात्मक चेतना अपनी प्रारंभिक अवस्था में शुक्लजी के चिंतन के समानांतर चलती रही। सन् १९०९ के आसपास ही जो विचार 'इंदु' में प्रकाशित हुए थे, उन्हीं में इस चिंतनधारा के बीज अत्यंत स्पष्ट थे। स्वच्छंद चेतना के कवि अपनी काव्यसंबंधी मान्यताओं को कुछ कुछ तभी से तथा १९२० से तो निश्चित रूप से व्यक्त करने लगे थे। 'इंदु' के संपादकीय में प्रसादजी कविप्रतिभा की स्वतंत्रता तथा शास्त्रीय समीक्षा के नियमों से मुक्त आलोचना की घोषणा कर चुके थे। प्रसादजी ने आह्लाद एवं सौंदर्यसृष्टि को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन तभी मान लिया था। जिस समय द्विवेदीयुगीन नैतिकता, इतिवृत्तात्मकता, प्रबंधकाव्यवाद एवं शास्त्रीयता की धारा शुक्लपद्धति में विकसित एवं पुष्ट हो रही थी,

उसी समय उसी युग की सौंदर्य, आह्लाद एवं आत्माभिव्यंजन को प्रयोजन माननेवाली स्वच्छंदतावादी चेतना भी पहली धारा से असंतुष्ट होकर उसकी प्रतिक्रिया में धीरे धीरे पनपने लगी थी। एक अंश में शुक्लपद्धति की प्रतिक्रिया का परिमाप होने तथा परवर्ती काल तक (आज तक भी) उसके विकासशील रहने के कारण हिंदी समीक्षा की प्रवृत्तियों के इतिहास में स्वच्छंदतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षा शुक्लोत्तर ही मानी जाती है।

शुक्लसमीक्षापद्धति को शास्त्रज्ञ पंडितों एवं समीक्षकों ने स्वरूप प्रदान किया। पर यह स्वच्छंदतावादी चेतना मूलतः कवियों के आत्मालोचन से प्रेरणा प्राप्त करके रूपायित हुई है। प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला आदि कवियों ने स्वयं अपने और अपने युग के काव्य की प्रेरणा, वस्तु, अनुभूति, अभिव्यक्ति, एवं मूल्य पर शास्त्ररूढ़ियों से मुक्त होकर विचार किया। लोकसामान्य भावभूमि, लोकमंगल आदि तत्वों की अपेक्षा उन्होंने आत्माभिव्यंजन, सौंदर्य एवं आह्लाद पर अधिक बल दिया। परिणामतः समीक्षा में नीति का स्थान सौष्ठव एवं रमणीयता ने तथा शास्त्र के नियमों का स्थान स्वच्छंद अभिव्यक्ति ने ले लिया। पर स्वच्छंदतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षात्मक चेतना ने परंपरागत रस, नीति आदि की धारणाओं का तिरस्कार नहीं किया। अपितु उनको आत्मसात् करते हुए उन्हें कुछ नए एवं व्यापक आयाम प्रदान कर दिए। इस प्रकार यह पद्धति भी हिंदी समीक्षा की मूलचेतना का ही विकासशील रूप है। हाँ, इस विकास में पाश्चात्य रोमांटिक काव्य एवं साहित्यशास्त्र ने भी प्रबल प्रेरणा तथा उपादान दोनों का ही कार्य किया है। शुक्लपद्धति की अपेक्षा इस पद्धति पर पड़नेवाले बाह्य प्रभाव निश्चय ही अधिक प्रबल एवं महत्वपूर्ण हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्लजी में द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक साहित्य के सौंदर्य एवं अभिव्यंजनाकौशल के भावसंवेदन तथा उसके नैतिक मूल्यांकन की तो पूरी क्षमता थी, पर वे न नवीन युग की विकासोन्मुख काव्यधारा के सौष्ठव का पूर्णतया साक्षात्कार कर पाए, और न उसमें छिपे हुए यथार्थ पर अधिष्ठित मानव-मूल्य की नापजोख ही कर सके। प्रथम महायुद्ध के प्रभावस्वरूप भारतीय जीवन के मानमूल्यों में एक नवीन क्रांति का सूत्रपात हो गया था। उसी के अनुरूप साहित्य ने भी एक नया मोड़ ले लिया था। हिंदी में नवीन रहस्यवादी सौंदर्यचेतना से अनुप्राणित तथा दार्शनिक आभा एवं मधुर कल्पनाओं से पूर्ण अभिव्यंजना की नवीनता एवं संगीतमयी भाषा के साथ छायावाद के नाम से जिस आत्मपरक साहित्य का सर्जन प्रारंभ हुआ, उसका मूल्यांकन करने में शुक्लजी की नीतिप्रधान रसदृष्टि अपूर्ण एवं अनुपयुक्त ही रही। इसी का परिणाम हिंदी की सौष्ठववादी समीक्षा है। सर्जन के क्षेत्र में जिन प्रेरक शक्तियों से छायावाद का जन्म हुआ है उन्हीं शक्तियों ने भावना के क्षेत्र में स्वच्छंदतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षा को रूपायित किया है।

जैसा ऊपर के संकेतों से स्पष्ट है, साहित्य का प्रयोजन ही इस समय तक बदल गया था। इस युग का कवि भौतिक उपयोगितावाद या नैतिक उपदेश के उद्देश्य से सर्जन नहीं करता था। छायावादी कवि के सर्जन का प्रयोजन आत्माभिव्यंजन या सौंदर्यसृष्टि हो गया। इस सौंदर्यसृष्टि का सीधा संबंध नीति से नहीं अपितु आह्लाद से है। कला पर बाह्य जीवन संबंधी आरोप, चाहे वे धार्मिक हैं, चाहे नैतिक, इन कवियों और समीक्षकों को अनुचित ही प्रतीत हुए[1]। प्रसादजी ने सौंदर्य-सृष्टि को ही काव्य का एकमात्र प्रयोजन बतलाया है। कवि और भावक दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रसादजी ने कहा है कि साहित्य सौंदर्य को पूर्ण रूप से विकसित करता है और आनंदमय हृदय उसी का अनुशीलन करता है[2]। सौंदर्यबोध हमें प्रयोजन के संकुचित वातावरण से ऊपर उठाता है। यही 'संस्कृति' के विकास का सत्य है। सौंदर्यबोध का सबके प्रधान साधन साहित्य है। सौंदर्यबोध के संबंध में प्रसादजी तथा अन्य छायावादी कवि एवं कवींद्र रवींद्र का यही दृष्टिकोण है[3]। महादेवीजी ने काव्य और कला के आविष्कार का प्रयोजन सत्य की सहज अभिव्यक्ति माना है[4]। इस सत्य में सौंदर्य एवं शिव का सामंजस्य है। पंतजी ने भी सत्यं शिवं और सुंदरम् के सामंजस्य को स्वीकार किया है। 'सत्यं शिवं में स्वयं निहित है, जिस प्रकार फल में रूपरंग है। फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा ही होती है, उसी प्रकार सुंदरम् की परिणति शिवं में सत्यं द्वरा होती है[5]। रवींद्र ने भी साहित्य में सौंदर्य और मंगल का सामंजस्य माना है। इस प्रकार साहित्य मंगल को भी सृष्टि है। इस मंगल में उपयोगिता के अतिरिक्त एक निष्प्रयोजन आकर्षण भी रहता है। यह मंगल स्थूल नैतिकता या शील-विकास को आत्मसात् करते हुए भी उसकी रूढ़ धारणाओं से कहीं ऊपर की वस्तु है। यह आध्यात्मिक ऊँचाई को स्पर्श करने वाली भावना है। प्रसादजी ने कविता को 'श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा' कहकर सत्यं, शिवं और सुंदरम् के समन्वय पर ही जोर दिया है। साहित्य में इसी मंगल समन्वित सौंदर्य के दर्शन करना और कराना सौष्ठववादी समीक्षक का कार्य है। सौष्ठववादी समीक्षक सौंदर्य एवं मंगल की इस स्थूल उपयोगितावाद से अतिक्रांत अवस्था के दर्शन एवं विश्लेषण का इच्छुक है। वह भाव की अत्यंत सूक्ष्म अवस्थाओं की गरिमा का साक्षात्कार तथा उसकी

१. गंगाप्रसाद पांडेय : छायावाद और रहस्यवाद, पृष्ठ ७।
२. इंदु : कला प्रथम : किरण द्वितीय।
३. प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ १।
   रवींद्र : सौंदर्यबोध।
४. महादेवी : दीपशिखा की भूमिका, पृष्ठ २।
५. पंत : आधुनिक कवि, पृष्ठ ६।

तलस्पर्शी व्याख्या करना चाहता है। वाजपेयीजी ने सूर की समीक्षा में इसी आध्यात्मिकता के दर्शन का प्रयास किया है।

प्रयोजन संबंधी उपर्युक्त धारणा से अनुप्राणित काव्य का मूल्यांकन न स्थूल रसवादी दृष्टि से संभव था और न नीतिवादी दृष्टि से। इसके लिये स्वच्छंद अनुभूति-प्रवाह तथा अभिव्यक्ति के स्वतंत्र सौंदर्य का बोध ही अपेक्षित था। इसी लिये इस नवीन समीक्षापद्धति को रस, अलंकार आदि के स्थूल निर्देश करने तथा उसमें नैतिक संकेत ढूंढ़नेवाली शैली को छोड़कर जीवन के बदले हुए मानमूल्यों तथा ऊपर निर्दिष्ट की गई युग और कवि की नवीन काव्यसंबंधी धारणाओं के अनुरूप शैली को अपनाकर चलना पड़ा। सौष्ठववादी समीक्षा का मूल आधार ही काव्य की लोकोत्तर भावमयता की अनुभूति है; इसी के सौष्ठव का साक्षात्कार है। काव्य की संपूर्ण विचारधाराएँ, काव्यशैलियाँ, वर्ण्यविषय तथा रचना के नियम अपने से ही निर्मित होनेवाले इसी सौंदर्य में परिणत हो जाते हैं। इसी सौंदर्य का सम्यक् संवेदन ही सौष्ठववादी समीक्षक की दृष्टि से काव्यालोचन का प्राण है[1]। यही सौष्ठववादी समीक्षा का वास्तविक स्वरूप है। इस सौंदर्य में, इस लोकोत्तर भावमयता में भारतीय रसात्मकता तथा पाश्चात्य संवेदनीयता का सुंदर समन्वय हो जाता है। कविहृदय की जिस अनुभूति से उसका संपूर्ण काव्य प्राणस्पंदन का अनुभव करता है, उसी रसात्मक अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति काव्य का सौष्ठव है। यही कार्लाइल की दृष्टि से काव्य का गूढ़ार्थ अथवा काव्य की दिव्य ज्योति है। इसमें सौंदर्य एवं मंगल तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति का सुंदर समन्वय रहता है। इसी से संपूर्ण काव्य ज्योतिष्मान् रहता है। इसी दिव्य ज्योति का भावसंवेदनामय साक्षात्कार, उद्घाटन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन काव्य की सौष्ठववादी समीक्षा है।

समीक्षा के मानदंड और शैली

सौष्ठववादी समीक्षक संपूर्ण काव्य के वस्तुसौंदर्य पर विचार करता है। कविहृदय की किस अनुभूति से काव्य का सहज समुच्छलन हुआ है? किस प्रकार संपूर्ण वस्तु एक विशेष असाधारण भावोत्तेजना की सृष्टि करती है? काव्य में कैसे मर्मस्पर्शी जीवन का चित्रण है? कवि इनकी कितनी मार्मिक, मनोरम तथा प्रभावशाली व्यंजना कर पाया है? कवि का व्यक्तित्व तथा उसका सामाजिक परिवेष्टन इनको इस प्रकार रूपायित करने में कैसे और कितना उत्तरदायी है? यह अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के स्वरूप, स्तर तथा प्रभाव की दृष्टि से किस प्रकार तथा किस कोटि एवं स्तर की है? आदि अनेक प्रश्न इस समीक्षा के समक्ष होते हैं। सौष्ठववादी समीक्षक संश्लिष्ट विवेचन करता है। वह काव्य की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति अथवा भावपक्ष और कलापक्ष को पृथक् करके नहीं चलता है। वह तो काव्यानुभूति

१. नंददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३०६।

को अखंड रूप में ही देखता है। सांस्कृतिक मनोभावनाओं के स्वच्छंद अनुभूतिप्रवाह तथा उनकी मनोरम अभिव्यक्ति के सौंदर्य के अखंड रूप की काव्यात्मक, मनोवैज्ञानिक एवं प्रभाववादी समीक्षा ही उसका उद्देश्य है। इस कार्य में वह इतना तल्लीन हो जाता है कि वह शुक्लसमीक्षापद्धति की तरह काव्यसमीक्षा में भावपक्ष और कलापक्ष की पृथक् पृथक् व्याख्या कर ही नहीं पाता है। इस तन्मयता में उसे रसविवेचन या अलंकारनिर्देश की कुछ अधिक सुध नहीं रह जाती है। फिर भी यह मानना समीचीन नहीं है कि उसमें शुक्लसंप्रदाय के समीक्षक की अपेक्षा रसविवेचन का या अलंकार-निर्देश की क्षमता कम है। नगेंद्रजी की देवसंबंधी समीक्षा इस कथन की पुष्टि के लिये पर्याप्त प्रमाण है। यद्यपि देव की समालोचना में नगेंद्रजी शुक्लपद्धति के अपेक्षाकृत अधिक सन्निकट भी माने जा सकते हैं। अन्य कतिपय तत्वों की तरह सौष्ठववादी समीक्षक ने शुक्लशैली के इस तत्व को भी अपना लिया है। अलंकार आदि काव्य-तत्वों का निर्देश मात्र ही नहीं वरन् समष्टिगत काव्यसौंदर्य में उनके योगदान तथा उनके माध्यम से साकार होनेवाले सौष्ठव का विश्लेषण और मूल्यांकन सौष्ठववादी समीक्षा है। पाश्चात्य प्रभाव तथा कवियों की नवीन मौलिक उद्भावनाओं के कारण नवीन काव्यधारा के भावनियोजन एवं अभिव्यंजना पक्ष का स्वरूप तथा उनके तत्व ही कुछ नूतन प्रकार के हैं। उनका वास्तविक सौंदर्य उनपर रस या अलंकार की चिपकी लगा देने मात्र से कभी स्पष्ट नहीं होता। वह सौंदर्य तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के पूर्ण समन्वय एवं सापेक्षिकत के संतुलन में है। साहित्य की बदली हुई परिस्थिति में सौष्ठववादी समीक्षक को भावों के काव्यात्मक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा अभिव्यंजनापक्ष में लाक्षणिकता, प्रतीकविधान, मानवीकरण, भाषा की संगीतमयता आदि के सौंदर्य का विवेचन करने के लिये बाध्य होना पड़ा। पर इनमें से प्रत्येक तत्व भावपक्ष या कलापक्ष के एकांगी सौंदर्य का नहीं अपितु सापेक्ष तथा परस्परस्पर्धी सौंदर्य का ही बोधक है। शुक्लसमीक्षापद्धति में रस के औचित्य की दृष्टि से अलंकार का विवेचन भावपक्ष और कलापक्ष के समन्वय का प्रयासमात्र था। सौष्ठववादी समीक्षा में इन दोनों के समन्वय और अखंडता के सिद्धांत को ही नहीं माना गया अपितु व्यवहार में भी इसी का निर्वाह हुआ है। उसमें भाव और कला की अन्यून रमणीयता तथा परस्परस्पर्धी चारुत्व को देखने की चेष्टा हुई है। मानवीकरण, प्रतीकविधान आदि तत्वों की दृष्टि से की गई कुछ समीक्षाएँ चाहे तत्वों की दृष्टि से सौष्ठववादी हैं, पर व्यावहारिक समीक्षा की शैली में वह शास्त्रीय समीक्षा के अधिक नजदीक है। नगेंद्रजी की पंत पर लिखी गई पुस्तक में छायावाद की विशेषताओं का विश्लेषण तथा उसके आधार पर किया गया मूल्यांकन शास्त्रीय पद्धति की समीक्षा का आभास देता है।

सौष्ठववादी समीक्षक का झुकाव विशुद्ध काव्य की दृष्टि से ही आलोचना करने की ओर रहा। उसके मानदंड रचना से स्वतः निसृत होने चाहिए, बाहर से

या शास्त्र से आरोपित नहीं। नीति, दर्शन, संस्कृति आदि के स्थूल मानदंड ग्राह्य, आरोपित तथा काव्येतर हैं। यही उसकी प्रधान मान्यता रही है। उसने सौंदर्य एवं मंगल को स्थूल मानदंडों से न आँककर उसकी काव्यात्मक व्याख्या ही की। पर प्रयोग में वह समीक्षक भी विशुद्ध काव्य की दृष्टि से आलोचना के उस आदर्श तक पूर्णतया पहुँच नहीं पाया। हिंदी का स्वच्छंदतावादी समीक्षक निगमनात्मक पद्धति का पूर्णतया अनुगमन नहीं करता है। कवि या काव्यधारा के अनुरूप रस के मानदंड कुछ बदलते हैं वे उसी काव्य से निस्कृत भी होते हैं। पर वह कुछ तत्व शास्त्र से भी ले लेता है। काव्य का दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यांकन तथा काव्य की भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सौष्ठववादी समीक्षा की प्रमुख विशेषताओं में से है। काव्य को वह कवि का आत्माभिव्यंजन मानता है। कलाकार का व्यक्तित्व ही उसकी कलाकृति को रूपायित करनेवाली मूल शक्ति है। काव्य के जीवनसंबंधी दृष्टिकोण, वस्तुविन्यास, शैली आदि की व्याख्या कवि के व्यक्तित्व के आलोक में ही संभव है। इसी लिये सौष्ठववादी समीक्षकों ने कवि के व्यक्तित्व का विशद मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। व्यक्तित्व के स्वरूपनिर्माण तथा विकास को देशकाल से निरपेक्ष करना संभव नहीं है। न किसी कलाकृति का ठीक ठीक मूल्यांकन ही देशकाल से विच्छिन्न करके हो सकता है। यही कारण है कि युग के सांस्कृतिक एवं दार्शनिक आदर्शों तथा परिवर्तनशील परिस्थितियों के आलोक में भी कवि और उसकी कलाकृति का मूल्यांकन सौष्ठववादी समीक्षक को करना पड़ा है। इस प्रकार इस समीक्षापद्धति मे काव्यात्मक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा मूल्यांकन के साथ ही ऐतिहासिक समीक्षा का भी पूरा पूरा उपयोग हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण कुछ लोग इस समीक्षापद्धति को सांस्कृतिक समीक्षाधारा भी कहना चाहते हैं। वस्तुतः इस पद्धति के समीक्षक का प्रधान प्रयोजन काव्य के सौष्ठव के साक्षात्कार से आह्लादित होना तथा इसका विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना है। इसके लिये सहायक रूप में मनोवैज्ञानिक, काव्यात्मक, ऐतिहासिक तथा प्रभाववादी इन चारों शैलियों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार इस समीक्षापद्धति के ये भी प्रधान तत्व हो गए हैं। विभिन्न समीक्षकों में इसमें से किसी एक अथवा दो तत्वों को अन्यों की अपेक्षा प्रधानता भी मिलती है।

भारतेंदुयुग से हिंदी में जो समीक्षात्मक चेतना जागी उसका मूल उद्देश्य एक सार्वभौम मानदंड तथा पद्धति ढूँढना था। शुक्लजी इस स्वप्न को कुछ साकार कर पाए। उन्होंने समीक्षा के मानदंड को शास्त्रीय आधार तथा समीक्षा को एक वैज्ञानिक रूप दिया। पर फिर भी उसमें एकदेशीयता ही रही। वह समीक्षा युगविशेष की एक विशेष प्रकार की काव्यधारा का ही मूल्यांकन कर पाई। सौष्ठववादी समीक्षा कुछ अधिक व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित हुई। उसमें देशविदेश तथा अतीत एवं वर्तमान सभी प्रकार के साहित्यों के मूल्यांकन की अधिक क्षमता है। हिंदी समीक्षा की सभी

पद्धतियों में सिद्धांत की दृष्टि से सौष्ठववादी समीक्षा सार्वभौमता के सबसे अधिक नजदीक है। उसमें शास्त्रीय, चरितमूलक, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक शैलियों का उपयोग तो हुआ है पर वह प्रयोग बहुत स्थूल, रूढ़ एवं आरोपित ही रहा। सौष्ठववादी समीक्षा ने ही उसको अधिक सूक्ष्म, चेतन परंपराओं से युक्त तथा शक्तिशाली रूप प्रदान किया है। भारतेंदुयुग से जिस नवीन समीक्षात्मक चेतना का हिंदी में सूत्रपात हुआ उसके तीन प्रमुख तत्व अत्यंत स्पष्ट हैं। वह साहित्य की काव्यात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक परीक्षा है। इन तीनों के स्वस्थ एवं वैज्ञानिक रूप को हिंदी में उच्च स्तर पर सौष्ठववादी समीक्षा ने पहुँचाया है। सौष्ठववादी समीक्षा के बाद ये तत्व संप्रदायगत रूढ़िवादिता से आक्रांत हो गए हैं। इससे हिंदी समीक्षा के विकास में गत्यवरोध आ गया है।

व्यावहारिक समीक्षा

शुक्लपद्धति के समीक्षक का ध्यान कलाकार के व्यक्तित्व एवं देशकाल से प्रायः निरपेक्ष कलाकृति पर ही अधिक केंद्रित रहता था पर सौष्ठववादी समीक्षक ने कलाकृति की अपेक्षा कलाकार के व्यक्तित्व एवं उसके परिवेष्ठन का अधिक विवेचन किया है। इन दोनों तत्वों की सापेक्षता में ही उसने कलाकृति का विश्लेषण किया है। प्रत्येक कलाकार का व्यक्तित्व एक स्वतंत्र इकाई है। प्रतिभा शास्त्रीय नियमों के बंधन में अपनी सहज एवं सुंदर अभिव्यक्ति नहीं कर पाती है। इसी लिये काव्यसौष्ठव या रमणीयता की सृष्टि तथा अभिव्यक्ति के लिये साहित्य को शास्त्र के नियमों से स्वच्छंदता लेनी पड़ती है। इसी लिये सौष्ठववादी समीक्षा का दृष्टिकोण स्वच्छंदतावादी भी है। प्रत्येक कलाकार तथा कलाकृति को आँकने के लिये ऐसे समीक्षक ने स्वतंत्र शास्त्रीय आधार का सिद्धांत माना है। सूर को उसी शास्त्रीय मानदंड से ठीक नहीं आँका जा सकता जिससे तुलसी का मूल्यांकन हो सकता है। प्रत्येक कलाकृति में उसकी समीक्षा का मानदंड भी निहित रहता है। वह समीक्षक युगविशेष तथा कलाकार की काव्यसंबंधी धाराणाओं एवं कलाकृति में निहित मानदंड के आधार पर ही उस कलाकृति का मूल्यांकन करता है। इस प्रकार सौष्ठववादी समीक्षक को शास्त्रीय आधार बाहर से आरोपित नहीं करना पड़ता अपितु उसे कलाकृति में से ही प्राप्त हो जाता है। कवि पर काव्यरीति या काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का कोई प्रत्यक्ष नियंत्रण न मानते हुए भी यह समीक्षक काव्यालोचन का शास्त्रीय आधार मानता है। इन शास्त्रीय तत्वों का स्वरूप प्रत्येक कलाकृति के अनुरूप बदल अवश्य जाता है। इस प्रकार इसकी समीक्षा स्वच्छंदता और शास्त्रीयता का सुंदर सामंजस्य है। यही कारण है कि सौष्ठववादी समीक्षक सामयिक साहित्य के समान ही प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में भी पूर्णतया सफल हुआ है। उसमें इतिवृत्तात्मक काल के नीति कवियों, भक्तिकाल के भावप्रवण भक्त कवियों तथा रीतिकाल के शृंगारी कवियों को काव्यात्मकता के आधार

पर परखने का प्रयास किया है। सभी समीक्षकों में वैयक्तिक रुचि का कुछ अंतर तो होता ही है। पर साधारणतः इस पद्धति के सभी समीक्षकों ने दार्शनिक तथा नैतिक मान्यताओं पर गौण रूप से विचार करते हुए भावों की गरिमा एवं मर्मस्पर्शिता तथा अभिव्यंजनाकौशल को ही सबसे अधिक महत्व दिया है। इस मूल्यांकन के लिये शास्त्रीय नियमों के ज्ञान तथा उस शैली के प्रयोग की क्षमता की अपेक्षा उच्च स्तर की सहृदयता एवं सूक्ष्म विश्लेषणशक्ति अधिक आवश्यक है। नीतिमूलक प्रबंधरचनाओं की अपेक्षा प्रेमप्रगीतों में भावसौंदर्य देखना सहृदयसंवेद्य विशुद्ध काव्यात्मकता का ही दृष्टिकोण है। यही सौष्ठववादी दृष्टिकोण है। शुक्लजी ने प्रबंध में रस की धारा के दर्शन किए, पर इन समीक्षकों की मान्यता के अनुसार विशुद्ध भावसौंदर्य तथा रसात्मकता अपनी चरमसीमा पर प्रगीत में ही पहुँचती है। भक्ति के नाम पर रचित शुष्क तथा प्रायः भावशून्य गीतों को भी इन्होंने पहचाना है। भक्ति की अनन्यता के प्रदर्शन के लिये कवियों ने द्रौपदी, शबरी, सुदामा आदि की अत्युक्तिपूर्ण असक्षम-भावुकता तथा अयथार्थ आख्यानों की भी कल्पना की है। ऐसे स्थलों के मनोवैज्ञानिक निर्बलता तथा कोरी भावात्मकता पर आश्रित काव्यत्व को भी सौष्ठववादी ने परखा है। कोरी गीति के नाम पर रीतिकालीन शृंगारी गीतों की भावस्पर्शिता तथा अभिव्यंजनाकौशल का भी इन्होंने अवमूल्यन नहीं किया। कहने का तात्पर्य यह है कि सौष्ठववादी समीक्षा काव्यात्मकता, मनोवैज्ञानिकता एवं ऐतिहासिकता के आधार पर यथासंभव सार्वभौम समीक्षात्मक दृष्टिकोण तथा शैली की ओर अभिमुख रही। भावों की अत्यधिक सूक्ष्मता तथा आध्यात्मिक गहराई तक पहुँचने की तीव्र आकुलता, छायावादी प्रभाव के कारण शैली की अस्पष्टताजनित दुरूहता और साहित्य में व्यक्तिवादी धारणा के साथ समीक्षा के प्रभाववादी दृष्टिकोण की आत्मपरकता से अगर सौष्ठववादी समीक्षा आक्रांत न हो जाती तथा साथ ही हिंदी साहित्य की व्यक्तिवादी एवं समाजवादी विचारधारा से अनुप्राणित समीक्षात्मक चेतना फ्रायड आदि के अंतश्चेतना के व्यक्तिवादी और मार्क्स के समाजवादी यथार्थ के पश्चिमी मतवादों के दलदल में न फँस जाती तो सौष्ठववादी समीक्षा को स्वस्थ तथा निर्मल वातावरण में विकसित होने का सुयोग प्राप्त हो जाता। इसके परिणामस्वरूप सौष्ठववादी समीक्षक नैतिकता के रूढ़िगत आग्रहों से मुक्त शीलविकास, लोकमंगल, एवं रसवादी दृष्टि को आत्मसात् तथा शुक्लशैली के तत्वों का परिष्कार करती हुई सौंदर्य एवं मंगल, अनुभूति तथा अभिव्यंजना के समन्वय पर प्रतिष्ठित मनोवैज्ञानिक शैलियों का समुचित उपयोग करनेवाली स्वस्थ काव्यात्मक समीक्षापद्धति का पूर्ण निर्माण कर पाते। इस दिशा में इस पद्धति ने पर्याप्त प्रगति की है और आज भी उसी ओर अग्रसर है। निश्चय ही इस पद्धति में सार्वभौमिकता का अपेक्षाकृत अधिक विकास होता पर ऐसा होने से पूर्व ही हिंदी समीक्षा की प्रगति में प्रतिरोध आया और उसकी धाराएँ बँटकर कई दिशाओं में बहने लगीं।

प्रमुख समीक्षक : प्रसादजी

ऊपर हमने सौष्ठववादी समीक्षापद्धति के स्वरूप, उपलब्धि और प्रभाव का विवेचन किया है। यहाँ हमें इसके प्रतिनिधि समीक्षकों पर विचार करना है। सौष्ठववादी समीक्षा के स्वरूप संघटन का प्रधान श्रेय तो प्रसाद, पंत, निराला तथा महादेवीजी को ही है। प्रसादजी इस पद्धति के हिंदी में प्रथम सूत्रपात करनेवाले कवि समीक्षक हैं। वे काव्य की आनंदवादी धारा तथा कविप्रतिभा की शास्त्र के नियमों से स्वच्छंदता के समर्थक हैं। प्राचीन साहित्यसिद्धांतों की दृष्टि से वे रसवादी कहे जा सकते हैं। पर उन्होंने रस के अत्यंत व्यापक स्वरूप को ग्रहण किया है। काव्य को श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा[1] मानने में उनका भारतीय सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी रूप अत्यंत स्पष्ट है। 'रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अंतर्हित है[2]' यहाँ पर प्रसादजी ने आनंद एवं मंगल का सामंजस्य किया है। प्रसादजी ने रस, अलंकार, आदि सभी तत्वों का प्राचीन भारतीय दर्शनों की विभिन्न शाखाओं से संबंध स्थापित कर दिया है। उन्होंने रहस्यवाद, छायावाद आदि काव्यधाराओं की जो व्यावहारिक समीक्षा की है, सूर और तुलसी की प्रतिभा, उनकी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति एवं उनके व्यक्तित्व पर जो विचार प्रसादजी ने प्रकट किए हैं वे वस्तुतः इस सौष्ठववादी, स्वच्छंदतावादी एवं सांस्कृतिक समीक्षा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।[3]

पंतजी

पंतजी प्रारंभ से अपनी भूमिकाओं द्वारा विकासशील समीक्षात्मक चेतना को वाणी देते रहे हैं। 'पल्लव' की भूमिका को तो सैद्धांतिक आधारों के साथ ही इस पद्धति के प्रयोगात्मक रूप का सर्वप्रथम विस्तृत प्रयास भी कहा जा सकता है। इसके द्वारा पंतजी ने हिंदी की स्वच्छंदतावादी चेतना को घोषणा की थी तथा परवर्ती भूमिकाओं से उन्होंने स्वच्छंदतावादी, सौष्ठववादी एवं सांस्कृतिक पद्धति को बल प्रदान किया है। पंतजी ने प्रधानतः सर्जनकाल की प्रेरणाओं से कवि की सहृदयता और बौद्धिकता के विकास, बदलते हुए परिवेष्ठन में कवि के विकासशील व्यक्तित्व तथा युग की सांस्कृतिक चेतना आदि अनेक गूढ़ विषयों पर जो अपने विचार व्यक्त किए हैं, वे इस पद्धति की समीक्षा के प्रौढ़ उदाहरण हैं। उन्होंने काव्य पर सौष्ठववादी दृष्टि के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियों तथा सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक आदि मूल्यों की दृष्टि से भी विचार किया है। पंतजी बहिरंग तथा अंतरंग प्रगतिशीलता एवं उनके समन्वय पर जोर देते हैं। इस प्रकार वे

१. काव्य और कला तथा अन्य निबंध पृष्ठ ३८।
२. „ „ पृष्ठ ८६।
३. „ „ पृष्ठ ९८।

स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त स्वस्थ तथा उदार प्रगतिशीलता के भी समर्थक हैं। उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण की सीमाओं का संकेत करके उस पद्धति को स्वस्थ विकास की प्रेरणा दी है। 'गद्यपथ' और 'छायावादी युग एक पुनर्मूल्यांकन' उनके प्रौढ़ समीक्षात्मक ग्रंथ हैं। 'यदि मैं कामायनी लिखता' में उन्होंने अत्यंत संयत भाषा में इस काव्य की उपलब्धियों के साथ ही इसकी सीमाओं का भी सहृदयतापूर्ण विश्लेषण किया है। पंतजी भावात्मक तथा व्याख्यात्मक दोनों प्रकार की पद्धतियों को सफलतापूर्वक अपना सके हैं।

सौंदर्यप्रेमी, प्रबुद्ध कलाकार, गंभीर चिंतक, कवि एवं विकासशील समीक्षा के व्याख्याता पंतजी ने अपनी काव्यभूमिकाओं द्वारा नवीन समीक्षा के लिये सारभूत एवं उपादेय समीक्षासामग्री प्रस्तुत की है। पंतजी ने काव्य के बहिरंग एवं अंतरंग दोनों पक्षों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है। पल्लव का प्रवेश, आधुनिक कवि भाग २ का पर्यालोचन, युगवाणी का दृष्टिपात, उत्तरा की प्रस्तावना में समीक्षा का दृष्टिकोण सुस्पष्ट हुआ है। 'प्रवेश' में पंतजी ने काव्य, शैली एवं छंद पर गूढ़ विचार व्यक्त किए हैं। 'पर्यालोचन' में आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति ही परिलक्षित होती है। उनकी समीक्षा में सौष्ठववादी मान्यताओं की पुष्टि के साथ साथ भारतीय सांस्कृतिक आधार को भी अपनाया गया है। वे स्वस्थ उपयोगितावादी मान्यताओं को लेकर चले हैं। प्रगतिशीलता उनके समीक्षा सिद्धांतों में सर्वत्र परिव्याप्त है। पंतजी की समालोचनाओं का प्रधान स्वरूप उनका स्वयं का काव्यविश्लेषण है। अप्रत्यक्ष रूप से युगप्रवृत्तियों का तात्विक विवेचन भी सुलझे रूप में प्रस्तुत हो गया है। वादों की अतिशयताजनक दुराग्रही प्रवृत्ति से दूर रहकर उन्होंने उनके उज्ज्वल पक्ष को सार रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी समालोचनाओं में कहीं भी स्वैरवादी उच्छृंखलता के दर्शन नहीं होते। आध्यात्मिक विचारों में निमग्न आज पंत जी की समीक्षा प्रतिभा से भावी समीक्षा के पथ प्रशस्ति की आशा की जा सकती है जो युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप व्यापकता एवं अभिनवता से उसे सुसंपन्न बना सके।

महादेवीजी

महादेवीजी काव्यनुभूति को भी रहस्यानुभूति ही मानती हैं। उनकी मान्यता है कि काव्यानुभूति ऐंद्रिकता से परे परम मंगल एवं आनंद के साक्षात्कार की अवस्था है। उन्होंने साहित्य, दर्शन एवं काव्य की गतिविधियों की समीक्षा की है। महादेवीजी ने छायावाद, रहस्यवाद एवं प्रगतिवाद पर विचार करते हुए उनकी स्वच्छंदता, करुणा, व्यापक चेतना, अमूर्त और मूर्त के सामंजस्य, सर्वात्मवादी दर्शन की मान्यता आदि कतिपय प्रमुख विशेषताओंका विवेचन किया है। व्यावहारिक समीक्षक की अपेक्षा वे साहित्यदर्शन की व्याख्याता अधिक मानी जा सकती हैं।

उन्होंने हिंदी की काव्यधाराओं की सांस्कृतिक व्याख्या भी की है तथा सामयिक प्रश्नों पर भी गंभीर विचार किया है। महादेवीजी साहित्य और जीवन को स्वर एवं दिशा प्रदान करनेवाली समीक्षक हैं।

निरालाजी

छायावादी कविसमीक्षकों में निरालाजी स्वच्छंदतावादी एवं सौष्ठववादी चेतना के सबसे प्रबल समर्थक कहे जा सकते हैं। उन्होंने कला को सौंदर्य की पूर्ण सीमा माना है जिसमें शब्द, छंद, रस, अलंकार, ध्वनि आदि सभी तत्व समन्वित होकर पर्यवसित हो जाते हैं। उसको उन्होंने सत्रह साल की सुंदरी के लावण्य के रूपक से स्पष्ट किया है।[1] उस स्थिति में अश्लीलता का बाह्य एवं कल्पित रूप नहीं रह जाता। वह सौंदर्य एवं मंगल में पर्यवसित हो जाता है। निरालाजी ने विद्यापति एवं चंडीदास के ऐसे ही तथाकथित अश्लील प्रसंगों के रस में तन्मय करनेवाले कलासौष्ठव की अनुभूतिमय समीक्षा की है। वे काव्य में सौष्ठव देखने के पक्षपाती हैं। उन्होंने साहित्यिक सौष्ठव के द्रष्टा होने के कारण वाजपेयीजी की प्रशंसा की है।[2] निरालाजी की आलोचनाएँ प्रभावाभिव्यंजक समीक्षापद्धति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वे उस रचनात्मक समीक्षा के तत्वों का भी आभास देती हैं जो हिंदी में प्राप्त्याशा का विषय बना हुआ है।

सौष्ठववादी समीक्षापद्धति के प्रायः सभी तत्व प्रारंभ में इन कवियों के चिंतन से ही प्राप्त हुए हैं। पर इन कवियों के अतिरिक्त इस पद्धति का निर्माण करनेवाले आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, रामकुमार वर्मा, नगेंद्र, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीरामधारी सिंह दिनकर, श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री, श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु, श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी, डा० देवराज आदि हैं। इस पद्धति के स्वरूपसंघटन एवं विकास में इन सबका ही महत्वपूर्ण योगदान होने पर भी इनमें से सभी न सौष्ठववादी समीक्षा के पूर्ण प्रतिनिधि और न सब उसी तक सीमित कहे जा सकते हैं। स्थान की सीमाओं के कारण इन सबकी समीक्षाओं पर विशद विवेचन नहीं किया जा सकता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्वतंत्र समीक्षापद्धति पर नगेंद्रजी का समीक्षा के शुक्लसंप्रदाय तथा मनोविश्लेषणात्मक समीक्षापद्धति से संबंध पर, दिनकर आदि की दूसरी पद्धतियों की देन पर यथास्थान संक्षिप्त विचार किया जायगा। यहाँपर हमें मूलतः सौष्ठववादी समीक्षापद्धति के स्पष्टीकरण के लिये उससे संबद्ध प्रमुख समीक्षकों की पद्धति तथा इस पद्धति के विकास के लिये अन्यों के योगदान पर ही संक्षिप्त विचार करना है।

१. प्रबंध प्रतिमा, पृष्ठ २०५।

२. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी: व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ १५।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

वाजपेयीजी इस पद्धति के सबसे प्रमुख समीक्षकों में से हैं। वे इस पद्धति के अपेक्षाकृत अधिक सर्वांगीण रूप के प्रतिनिधि समीक्षक भी कहे जा सकते हैं। 'हिंदी साहित्य' : बीसवीं शताब्दी (१९४२), 'आधुनिक साहित्य' (१९४५), जयशंकरप्रसाद (१९४१), महाकवि सूरदास (१९५२), प्रेमचंद (१९५६), 'नया साहित्य : नए प्रश्न' : (१९५५), कवि निराला (१९६५) इस पद्धति की उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। इनमें वाजपेयीजी ने कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के सौष्ठव का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यांकन किया है। कविहृदय की अंतः-प्रेरणा किस प्रकार उसके वस्तुशिल्प और भावसौंदर्यमें परिणत हो गई है इसका भी वाजपेयीजी ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। वाजपेयीजी सूर के भावसौंदर्य की आध्यात्मिक गहराई तक पहुँचे हैं। वे कृष्णलीला के स्थूल एवं भवलोक की अतिक्रांत अवस्था की आध्यात्मिक ऊँचाई का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक मूल्यांकन कर पाए हैं। वाजपेयीजी में रससंवेदन की परिपक्व क्षमता है। साहित्यसमीक्षक का यह सबसे प्रथम एवं सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है। वाजपेयीजी ने ही शुक्लजी के प्रबंधकाव्यवाद तथा मर्यादावाद के कठोर नियंत्रण से हिंदी समीक्षा को मुक्ति दिलाई है। विशुद्ध काव्य की धारणा के वे प्रथम शक्तिशाली समर्थक हैं। वाजपेयीजी विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही काव्य को परखना चाहते हैं, इसी लिये वे अपनी समीक्षा को साहित्यिक आलोचना कहना अधिक समीचीन समझते हैं। वाजपेयीजी में एक प्रकार से शुक्लपद्धति एवं स्वच्छंदतावाद का समन्वय मिलता है। उन्होंने रसवादी दृष्टिकोण का उपयोग किया है। पर उसके मनोवैज्ञानिक एवं अनुभूतिवाले पक्ष का विश्लेषण भी किया है। उनका सभी शास्त्रीय शब्दावली में नाम निर्देशमात्र नहीं है। रस का पाश्चात्य संवेदना के सिद्धांत से समन्वय स्थापित करके उस समीक्षा के सार्वभौम भाग की क्षमता के दर्शन किए हैं। वाजपेयीजी ने सौंदर्य एवं मंगल के समन्वय के सिद्धांत को माना है तथा उसी को परखने की चेष्टा की है। साहित्य और जीवन के गहरे संबंध, मानव को ही साहित्य का उपादान, प्रेरणा एवं प्रयोजन तीनों मानने पर जोर, साहित्य में कल्पना, रूप, शब्दों की अर्थगर्भिता आदि की एक साथ ही स्वीकृति, किसी नवीन समन्वयवादी दृष्टि का आभास दे रही है। इसमें साहित्य के काव्यत्व तथा उसकी सामाजिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक उपादेयता इन दोनों के समन्वय की आकांक्षा है। हिंदी समीक्षा के वर्तमान गतिरोध को दूर करने एवं भावी विकास को प्रेरणा देने के लिये यही आवश्यक है। जैसे द्विवेदीजी ने एक नवीन मानवतावादी समीक्षासंप्रदाय का शिलान्यास किया है वैसे ही वाजपेयीजी ने भी शायद नवीन समन्वयवादी भावना पर आश्रित सौष्ठववादी समीक्षा के विकास का यह नया अध्याय खोलने का उपक्रम किया हो। मृत्यु से कुछ समय पूर्व 'धर्मयुग'

में धारावाहिक प्रकाशित उनकी अंतिम कृति 'नई कविता : एक पुनरीक्षण' उल्लेखनीय है जिसमें उनकी संतुलित शैली के दर्शन होते हैं।

डा० नगेंद्र

नगेंद्र का समीक्षक विकासशील है। सन् १९३६ से लेकर अबतक उनका समीक्षक कार्य निरंतर अबाध गति से चल रहा है। उन्होंने व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से हिंदी आलोचना को संवर्द्धित किया है। 'सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत एक अध्ययन', 'आधुनिक हिंदी नाटक', 'विचार और विश्लेषण', 'देव और उनकी कविता' आदि में उनकी व्यावहारिक समीक्षा मनोवैज्ञानिक एवं काव्यवस्तु के सौंदर्य का मूल्यांकन करनेवाली रही है। उस समय की समीक्षाओं पर मनोविश्लेषण शास्त्र का भी प्रभाव है। यही कारण है कि नगेंद्रजी की भी गणना कुछ विद्वान् मनोविश्लेषणात्मक समीक्षापद्धति में करना चाहते हैं। पर वास्तव में यह समीचीन नहीं है। नगेंद्रजी ने मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धांतों का उपयोग तो किया है। काव्य के हेतु और प्रयोजन पर विचार करते हुए उन्होंने फ्रायड, एडलर और युंग के सिद्धांतों का सहारा भी लिया है। उनकी व्यवहारिक समीक्षाओं में मनोवैज्ञानिक विवेचन के साथ ही मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का भी कुछ उपयोग है, पर नगेंद्रजी की साहित्य संबंधी निष्ठा मनोविश्लेषण शास्त्रीय नहीं रसवादी है। हाँ, वे रस के व्यक्तिवादी विवेचक कहे जा सकते हैं। उन्होंने समाजमंगल की दृष्टि की अपेक्षा रस पर व्यक्तिमंगल की दृष्टि से अधिक विचार किया है। वे साहित्य के सांस्कृतिक मूल्यांकन की ओर से प्रायः उदासीन भी कहे जा सकते हैं। नगेंद्रजी रस का मनोविश्लेषणात्मक विवेचन करने में भी प्रवृत्त हुए हैं। पर इतने से ही वे इस संप्रदाय के आचार्य नहीं बन जाते, वे प्रयोगवादी काव्य की अतिशय व्यक्तिवादी एवं बौद्धिकताप्रधान प्रवृत्ति का अभिनंदन नहीं करने पाए हैं। रसहीन बौद्धिकता की अभिव्यक्ति प्रयोगवादी काव्य को अकाव्य बना देने का हेतु है। यही नगेंद्रजी की मान्यता है। साधारणीकरण के सिद्धांत को न माननेवाला यह व्यक्तिवादी साहित्य-दर्शन नगेंद्रजी को मान्य नहीं, उसमें उनकी आस्था नहीं। इसलिये वे मूलतः मनो-विश्लेषणात्मक समीक्षक नहीं हैं। नगेंद्रजी सिद्धांततः रसवादी हैं और व्यवहार में शास्त्रीय तथा सौष्ठववादी। काव्यानुभूति के सूक्ष्मतम संवेदनों से स्पंदित होकर उनके सौष्ठव की संवेदनात्मक परख ही नगेंद्रजी की समीक्षा है, इसलिये उन्हें मूलतः रसवादी, शास्त्रीय तथा सौष्ठववादी कहना अधिक ठीक है। प्रारंभ में वे मनोविश्लेषण-वाद की ओर कुछ अधिक बढ़े हैं। पर आज तो उन्हें पूर्णतः नवीन रसवादी कह सकते हैं। उनके रसवाद में भारतीय शास्त्रसम्मत रस के स्वरूप को नए आयाम प्राप्त हुए हैं। उसने पाश्चात्य चिंतन से प्राप्त भावसंवेदना, उदात्त आदि तत्वों को भी आत्मसात् कर लिया है। इस प्रकार उसके सार्वभौम रूप की प्रतिष्ठा में नगेंद्रजी

के प्रयास से पर्याप्त प्रगति हो गई है। 'कामायनी' की आलोचना में इन मान्यताओं का थोड़ा बहुत प्रयोगात्मक रूप भी देखा जा सकता है। व्यावहारिक समीक्षा में अभी रस का वह व्यापक स्वरूप वास्तव में मानदंड नहीं बन पाया है। वह केवल भावी उपलब्धि का विषय है। शुरू में मात्र संवेदनाओं के सौष्ठव का साक्षात्कार तथा उसका शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नगेंद्रजी की प्रयोगात्मक समीक्षा के प्रधान तत्व रहे, इससे वे एक तरफ शुक्लसमीक्षा को तथा दूसरी तरफ सौष्ठववादी तथा स्वच्छंदतावादी समीक्षा को स्पर्श कर रहे थे। शुक्लपद्धति की रूढ़िवादिता से वे बहुत ऊपर उठे हैं। उनमें शास्त्रीयता तथा स्वच्छंदवादिता का समन्वय हुआ है इससे उनमें काव्यसौंदर्य के साक्षात्कार की अधिक व्यापकता आ गई है। छायावादी कवि ही उनके मर्म को अधिक स्पर्श करते हैं। उनकी समीक्षाशैली भी तदनुरूप ही है। अत: उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा प्रधानत: सौष्ठववादी ही कही जा सकती है। अब उसमें शास्त्रीयता का रूप भी निखर रहा है। नगेंद्रजी की समीक्षा में शुक्लपद्धति एवं सौष्ठववादी समीक्षापद्धति का स्वस्थ सामंजस्य हो रहा है; अथवा इसको शुक्लपद्धति की सौष्ठववादी एवं स्वच्छंदतावादी परिणति भी कह सकते हैं। नगेंद्रजी आरंभ में प्रधानत: व्यावहारिक समीक्षक थे। उसी में सिद्धांतविवेचन भी करते थे। पर अब उनका काव्यशास्त्र के विवेचक का रूप अधिक प्रबल होकर निखर रहा है। 'पंत' से 'काव्यबिंब' तक आते आते उनकी गहन विश्लेषणक्षमता, सैद्धांतिक गुत्थियों को सुलझाने की प्रवृत्ति, पैनी दृष्टि निरंतर बढ़ती ही गई है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदीजी प्रधानत: सांस्कृतिक समीक्षक हैं पर भावसंवेदनात्मकता के सूक्ष्मतम तथा मर्मस्पर्शी रूप की अनुभूति के साक्षात्कार तथा कलात्मक मूल्यांकन की क्षमता उनमें किसी से कम नहीं। सूर तथा अन्य कवियों की समीक्षा इस बात का प्रमाण है। द्विवेदीजी शास्त्रीय नियमों के कठोर नियंत्रण के नहीं अपितु कवि, प्रतिभा के स्वच्छंदता के समर्थक हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी की काव्यसंबंधी मान्यताओं का सौष्ठववाद समीक्षा से भी गहरा संबंध है। पर द्विवेदीजी में इसी धारा के कतिपय तत्व अन्यों की अपेक्षा इतने प्रबल हो गए हैं कि वे पृथक् पद्धति का ही रूप धारण कर गए। इसी आधार पर द्विवेदी जी को सौष्ठववादी कहने की अपेक्षा मानवतावादी एवं समाजशास्त्रीय समीक्षक कहना अधिक समीचीन है। इसपर आगे विवेचन किया गया है।

समीक्षा की कतिपय शैलियाँ

सौष्ठववादी समीक्षा तक के विकास के फलस्वरूप हिंदी समीक्षा के कुछ तत्व पुष्ट होकर स्वतंत्र समीक्षाशैलियों के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। इनमें से प्रधान हैं ऐतिहासिक, चरितमूलक, प्रभाववादी, सौंदर्यान्वेषी, अभिव्यंजनावादी। ये अपने

प्रकृत रूप में शैलियाँ ही हैं संप्रदाय नहीं। संप्रदाय सर्वांगीण साहित्यदर्शन पर प्रतिष्ठित होता है पर शैली किसी एक समीक्षातत्व की दृष्टि से मूल्यांकन का प्रकार मात्र होती है। विशेष साहित्यदर्शनों का प्रश्रय प्राप्त करके शैलियाँ संप्रदाय भी बन जाती हैं। हिंदी में ऐतिहासिक शैली ही मार्क्सवादी साहित्यदर्शन का आश्रय प्राप्त करके मार्क्सवादी समीक्षापद्धति के रूप में स्वतंत्र संप्रदाय बन गई है। कविजीवन और काव्य के घनिष्ठ संबंध के सिद्धांत का एक विशेष रूप ही मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-संप्रदाय में सघन हुआ है। शैली और संप्रदायों का बहुत गहरा संबंध रहता है। हिंदी में इन शैलियों की अपनी स्वतंत्र सत्ता भी है। सौष्ठववादी तथा अन्य समीक्षकों ने ऐतिहासिक, प्रभाववादी, अभिव्यंजनावादी एवं सौंदर्यान्वेषी शैलियों का यथास्थान प्रचुर प्रयोग किया है। पर इनके कुछ विशुद्ध उदाहरण भी मिलते हैं। ऐतिहासिक शैली मार्क्सवाद के अतिरिक्त भी एक और स्वतंत्र संप्रदाय का रूप धारण कर गई है। आगे हम उसके शैली और संप्रदायगत दोनों रूपों पर विचार करेंगे। भगवतशरण उपाध्याय की 'नूरजहाँ' की समीक्षा तथा भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' का 'संतसाहित्य' प्रभाववादी समीक्षा के अच्छे उदाहरण हैं। उपाध्यायजी की समीक्षा तो इस शैली का अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ प्रयास है। इसे हम इस शैली का शिलान्यास करनेवाला कह सकते हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी की समीक्षाओं में प्रभाववादी स्वर अत्यंत मुखर है। प्रकाशचंद्र गुप्त यद्यपि मार्क्सवादी विचारधारा के समीक्षक हैं पर उनकी शैली में भी प्रभाववादी तत्व स्पष्ट हैं। इलाचंद्र जोशी का मेघदूत की व्याख्या में प्रधानतः सौंदर्यान्वेषी दृष्टिकोण है। उसमें वे मेघदूत के काव्यसौष्ठव पर मुग्ध भी हुए हैं तथा उन्होंने उस प्रभाव का विश्लेषण भी किया है। सौंदर्य को ही काव्य का लक्ष्य मानने का अज्ञेयजी ने भी समर्थन किया है। आगे संभवतः वह संप्रदाय का रूप धारण कर जाय, पर अभी तो वह शैली ही है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद एवं सौंदर्यदर्शन का हिंदी साहित्यचिंतन पर थोड़ा प्रभाव भी पड़ा है। पर वह इतना गहरा नहीं हुआ कि समीक्षा के एक संप्रदाय का ही रूप धारण कर जाता। गंगाप्रसाद पांडेय का 'महाप्राण निराला' चरितमूलक समीक्षा का अच्छा उदाहरण है। अभिव्यंजनावाद के विशुद्ध पाश्चात्य रूप का कोई उदाहरण हिंदी में नहीं है, पर स्वच्छंदतावादी समीक्षक छायावादी काव्य को प्रधानतः अभिव्यंजना मानकर ही चला है और उसकी व्याख्या भी उसने इसी दृष्टि से की है। इस प्रकार वाजपेयीजी आदि की समीक्षा में इस शैली के दर्शन भी हो जाते हैं।

मानवतावादी समाजशास्त्रीय समीक्षा

युग की परिस्थितियों में रखकर साहित्य और साहित्यकार के स्वरूप का स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन ऐतिहासिक समीक्षा है। यह आधुनिक समीक्षा के प्रमुख तत्वों में से है। भारतेंदु-युग, द्विवेदी-युग, शुक्ल-युग, सौष्ठववादी तथा उसके बाद के

सभी युगों के समीक्षकों ने ऐतिहासिक शैली का उपयोग किया है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी में इसका सबसे सम्यक् पुष्ट एवं प्रौढ़ रूप मिलता है। द्विवेदीजी की समीक्षा में ऐतिहासिक शैली अपना स्वतंत्र एवं पृथक् अस्तित्व तथा महत्व बनाए हुए है। दूसरे समीक्षकों में यह उनके संप्रदायों की उपकारक शैलीमात्र है, पर द्विवेदीजी में उनके साहित्य संबंधी धारणाओं के माध्यम से यह शैली एक नवीन स्वतंत्र संप्रदाय बन गई है। एक तरफ यह शैली मार्क्सवादी समीक्षा में परिणत हुई तो दूसरी तरफ इसने द्विवेदीजी से मानवतावादी साहित्यदर्शन का आधार पाकर समाजशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक समीक्षा का रूप धारण कर लिया। इसलिये इसे द्विवेदीजी की दृष्टि से शैली मात्र न कहकर संप्रदाय कहना ही ठीक है। द्विवेदी की मान्यता है कि साहित्य जीवनधारा का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग है। धारा के विभिन्न भाग ही युग हैं। जीवन की यह धारा चिर गतिशील और चेतन है। साहित्य को उस युग के जीवन की संपूर्ण सांस्कृतिक गतिविधि के परिवेष्ठन में रखकर उसको गतिशील 'चेतन' परिवृत्ति के सहज परिणाम एवं जीवन को गति प्रदान करने की प्रमुख शक्ति मानकर ही उसका ठीक मूल्यांकन संभव है। यह उदार एवं असांप्रदायिक प्रगतिशील दृष्टिकोण है। जीवन और साहित्य की कोई प्रवृत्ति न अचानक जन्म लेती है और न अचानक समाप्त होती है। वह अपने पूर्ववर्ती युग का सहज परिणाम है और परवर्ती युग की प्रवृत्ति को रूपायित करती हुई उसी में विलीन हो जाती है। इस प्रकार साहित्य और जीवन की अविच्छिन्न धाराएं हैं, साहित्य और युग के इसी अन्योन्याश्रित तथा सापेक्ष रूप का अनुशीलन एवं मूल्यांकन ही द्विवेदीजी की दृष्टि से ऐतिहासिक समीक्षा है। उनके लिये इतिहास और साहित्य दोनों ही चेतन शक्तियाँ हैं। वे एक दूसरे से प्रभावित होती रहती हैं। इसी दृष्टि से द्विवेदीजी ने हिंदी साहित्य की भूमिका में हिंदी की विभिन्न प्रवृत्तियों तथा काव्यधाराओं के मूल की उस चेतना के विकासशील रूप का विश्लेषण किया है जो इन प्रवृत्तियों और धाराओं में रूपायित हुई हैं। उन काव्यधाराओं को जीवन और वाङ्मय के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर द्विवेदीजी ने उनमें पारस्परिक सजीव संबंध स्थापित किया है। उन्होंने 'कबीर' में कबीर के व्यक्तित्व तथा विभिन्न काव्यधाराओं का अध्ययन किया है। द्विवेदीजी ने साहित्य को अविरल स्रोत के रूप में तथा शेष वाङ्मय से उसका संबंध स्थापित करके देखा है। साहित्य और जीवन के पारस्परिक संबंध का विचार करने की यह पद्धति समाजशास्त्रीय है।

द्विवेदीजी की जीवनदृष्टि प्रकृतिवादी नहीं मानवतावादी है। जो जैसा है उसे वैसा ही मान लेना मनुष्यपूर्व जीवों का लक्षण था, पर जो जैसा है वैसा नहीं बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न मनुष्य की अपनी विशेषता है—'लोभ सहजात मनोवृत्ति है, यह पशु और मनुष्य में समान है। पर औदार्य परदुःख संवेदन पशु में नहीं होते, वे मनुष्य की अपनी विशेषता हैं' (साहित्य का मर्म)। 'सारे

प्रत्यक्षतः विरोधों का सामंजस्य एक ही बात में होगा मनुष्य का हित। हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य एक मात्र वही मनुष्य है। उसको वर्तमान दुर्गति से बचाकर मनुष्य के आत्यंतिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है। यही सत्य है, यही धर्म है' (साहित्य का मर्म)। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि द्विवेदीजी कला को कला के लिये नहीं अपितु कला को मानव कल्याण का साधन मानते हैं। उनका यह दृष्टिकोण मानवतावादी है। प्रकृतिवादी दृष्टिकोण विज्ञान पर आधारित है। उसके अनुसार मानव किसी प्रयोजन या लक्ष्य के लिये नहीं जीता है, पर पशु की तरह जीने भर के लिये जीता है। पर मानवतावादी जीवनदर्शन के अनुसार मानवजीवन का कुछ लक्ष्य है। वह आदर्शों के लिये जीता है, उन्हें प्राप्त करने के लिये जीता है—पर वह आदर्श कल्पना पर नहीं, यथार्थ पर प्रतिष्ठित है। द्विवेदीजी का मानव के कल्याण का दृष्टिकोण न विशुद्ध भौतिकवादी है, न निरा आध्यात्मिक और परलोकवादी ही। वह वास्तव में सांस्कृतिक है। मानव भौतिक आवश्यकताओं की उपेक्षा तो नहीं कर सकता पर औदार्य, प्रेम आदि हृदय की उदात्त वृत्तियों में ही मानव का वास्तविक अस्तित्व एवं स्वरूप है। हृदय और बुद्धि की इस विशालता को प्राप्त कराना ही मानवतावादी दृष्टि से साहित्य का प्रयोजन है। शुक्लजी के शीलविकास के सिद्धांत में रागात्मकता पर जोर था पर द्विवेदीजी ने मानव की संपूर्ण सांस्कृतिकता पर जोर दिया है। शुक्लजी का ध्यान व्यक्ति पर केंद्रित था पर द्विवेदीजी का समष्टि पर। शुक्लजी के लोकमंगल की भावना का ही यह विस्तार तथा नवीन संस्करण है। नैतिक आधार ही व्यापक रूप धारण करके सांस्कृतिक बन गया है। शुक्लजी की तरह द्विवेदी जी भी साहित्यदर्शन के मौलिक चिंतक हैं। उनके चिंतन का आधार भी भारतीय ही है। उनमें पाश्चात्य तत्वों के संग्रहत्याग का नीरक्षीरविवेक तथा भारतीय तत्वों के आधार पर उनके समन्वय की क्षमता है। द्विवेदीजी संस्कृति की अखंडता में विश्वास रखते हैं। द्विवेदीजी का समीक्षात्मक साहित्य उनके इतिहास संबंधी रचनाओं तथा साहित्यिक लेखों के रूप में है। अपने निबंधों और भाषणों में उन्होंने अपना मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट किया है, पर प्रयोगात्मक समीक्षा के क्षेत्र में विशेष युग के साहित्य अथवा विशेष साहित्यधारा ने मानवतावादी जीवनदर्शन के किस पक्ष के विकास में प्रेरणा दी है, इस प्रकार के विवेचन बहुत अधिक नहीं हैं। उनका संकेत भर है। प्रयोगात्मक के समीक्षा में द्विवेदीजी का महत्व हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्निर्माण में ही अधिक है। 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' (१९५२), 'मध्ययुगीन धर्मसाधना' और 'नाथ संप्रदाय' (१९५०) के द्वारा द्विवेदीजी ने हिंदीक्षेत्र के जीवन, समाज और साहित्य के विकास की कथा ही कही है। उन्होंने उस प्राणधारा को देखने का प्रयत्न किया है जो अनेक परिस्थितियों में से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशित कर रही है। द्विवेदीजी की व्यावहारिक समीक्षा वस्तुतः ऐतिहासिक ही अधिक कही जा सकती

है। वे विज्ञान और साहित्य का भेद मानकर नहीं चलते। ये दोनों विशाल वाङ्मय के अंग हैं और द्विवेदीजी इसी वाङ्मय के समीक्षक हैं। वे साहित्य को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से परखते हैं। पुरातत्व, नृतत्व, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि के सिद्धांतों के आलोक में साहित्य के स्वरूप को समझने और मूल्यांकन करने की द्विवेदीजी ने चेष्टा की है। कबीर आदि कवियों तथा काव्य की मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का परवर्ती काल के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, द्विवेदीजी ने इस दृष्टि से साहित्य और जीवन को देखा है। उनका कबीर (१६४२) अत्यंत महत्वपूर्ण कृति है। जैसा ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है मानवतावादी साहित्यदर्शन को कुछ अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट रूपरेखा देकर विभिन्न निश्चित मानव मूल्यों के आधार पर साहित्य का विशद अध्ययन एवं मूल्यांकन द्विवेदीजी अधिक नहीं कर पाये हैं, फिर भी उनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण एक नवीन संप्रदाय की आधारशिला है। इस समीक्षा को ऐतिहासिक मात्र कह देने से उसके वास्तविक तथा पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाता। द्विवेदीजी का सौष्ठववादी पद्धति में भी पूर्ण अंतर्भाव संभव नहीं। द्विवेदीजी ने उस पद्धति के सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक पक्ष का मानवतावादी साहित्यदर्शन के आधार पर एक नवीन संप्रदाय के रूप में विकास किया है। पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के प्रयासों में इसका पूर्वाभास मिल गया था पर स्पष्टता तो इसे द्विवेदी जी ने ही प्रदान की। रामधारी सिंह 'दिनकर' के इतिहास के आलोकवाले निबंध में इसी समीक्षा के दर्शन होते हैं। परशुराम चतुर्वेदी की 'उत्तर भारत की संत परंपरा', 'कबीर' आदि रचनाएँ साहित्य का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक मूल्यांकन ही हैं। चतुर्वेदीजी ने रचनाओं के जीवन पर पड़नेवाले प्रभाव का भी मूल्यांकन किया है। उनकी समीक्षा में यह तत्व अधिक प्रखर और स्पष्ट भी है। पर मानवतावादी समाजशास्त्रीय समीक्षापद्धति के संप्रदाय से संबद्ध कहलाने के योग्य स्वरूप तो द्विवेदीजी के चिंतन और प्रयोग ने ही प्राप्त किया है।

छायावादोत्तर समीक्षा

आधुनिक हिंदी साहित्य और समीक्षा के मूल में दो प्रधान वृत्तियों की क्रिया तथा प्रतिक्रिया प्रारंभ से ही रही है। इनमें पहली है व्यक्तिसत्य की और दूसरी समाजसत्य की। साहित्य और समीक्षा दोनों ही को स्वरूप एवं दिशा प्रदान करने में इन विचारधाराओं का महत्वपूर्ण योग रहा है। शुक्लजी तक की समीक्षा में इनमें प्रायः समन्वय हो था, क्योंकि इनका समन्वय ही भारतीय दृष्टिकोण है। लोकमंगल की भावना प्रकारांतर से समाजमंगल की ही भावना है। शुक्लजी के शीलविकास एवं रागात्मक प्रसार के औचित्य की कसौटी लोकमंगल है। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण ऊपर से व्यक्तिवादी दीखते हुए भी मूलतः समाजमंगल पर प्रतिष्ठित है, दोनों के सामंजस्य पर। वस्तुतः व्यक्ति और समाज का यह अंतर्विरोध उस समय

स्पष्ट ही नहीं था। व्यक्ति और समाज की पृथक्ता की चेतना उस समय तक पूर्णतया जागी नहीं थी। साहित्य समाज के मंगल के लिये है? अथवा व्यक्ति के मंगल के लिये? साहित्य व्यक्ति का प्रयास है या समाज का? ऐसे प्रश्न उत्कट रूप में उस समय के चिंतक के समक्ष नहीं थे। समाज की सापेक्षता में ही व्यक्ति के शील का विकास उस काल के साहित्य का प्रयोजन माना जाता था। यही समीक्षा का भी प्रधान मानदंड था, पर छायावाद के आगमन के साथ ही यह समस्या अधिक स्पष्ट रूप में सामने आने लगी। छायावादी काव्य एवं उसकी काव्यदृष्टि का झुकाव निश्चय ही व्यक्ति की ओर था। काव्य व्यक्तिप्रधान रहा और समीक्षा प्रधानतः कलाकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण। पर इस युग में भी व्यक्ति और समाज का यह अंतर्विरोध बहुत उत्कट नहीं हुआ। इसमें कुछ समन्वय की चेतना बनी रही। सौष्ठववादी समीक्षक ने भी व्यापक मंगल तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण को प्रश्रय देकर समन्वय के निर्वाह का ही प्रयत्न किया है। उसने कलाकार के व्यक्तित्व की समाजनिरपेक्ष कल्पना नहीं की। पर इस समन्वय का आधार व्यक्ति ही अधिक था। छायावादी काव्य और समीक्षा के मूल में व्यक्तिवादी दृष्टि का अपेक्षाकृत प्राधान्य रहा, यह कहना असमीचीन नहीं। जबतक साहित्य और समीक्षा पर आदर्शवादी दृष्टि का नियंत्रण रहा, व्यक्ति और समाज की इस भावना में थोड़ा बहुत समन्वय भी बना ही रहा। पर छायावादी काव्य अतिशय भावुकता, वैयक्तिकता, कल्पना की प्रधानता एवं आध्यात्मिक और दार्शनिक सूक्ष्मता की ओर अधिक झुककर जीवन के यथार्थ से दूर जाने लगा। यह उसके ह्रास में सहायक हुआ। सौष्ठववादी समीक्षा भी एक तरफ अतींद्रिय भावलोक के साक्षात्कार एवं व्यक्तित्व के अत्यधिक सूक्ष्म स्तरों का स्पर्श करने की आकुलता में अधिक व्यक्त होने लगी। इसी से बढ़ती हुई यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति के कारण छायावाद का ह्रास तथा सौष्ठववादी समीक्षा में गतिरोध हुआ। पाश्चात्य चिंतन का प्रभाव भी अधिक तेजी से बढ़ने लगा, हिंदी उसके स्वस्थ स्वरूप को पचाकर अपनाती और शेष को छोड़ देती, ऐसा अवसर ही हिंदीचिंतन को नहीं मिल पाया। उस प्रभाव के प्रवाह ने हिंदी के चिंतन को बहुत कुछ अपने साथ बहा ही लिया। इस प्रवाह की क्षमता छायावादोत्तर काल में बराबर बढ़ती रही है और हिंदी की उसे रोकने की अपनी शक्ति स्वतंत्रता के बाद से अधिक क्षीण हो रही है। हिंदी पर बाह्य प्रभाव संप्रति बहुत तेजी से पड़ रहा है। यही कारण है कि छाया-वादोत्तर साहित्य और समीक्षा बहुत अंशों में पाश्चात्य साहित्य और समीक्षा के हिंदी संस्करण कहे जा सकते हैं। इसको रोकने में कोई समर्थ समन्वयवादी दृष्टि सौष्ठववादियों के पास नहीं थी। वास्तव में तो व्यष्टि और समष्टि का अंतर्विरोध तो उस विचारधारा के आभ्यंतर में भी आ गया था। मार्क्स और फ्रायड के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त वातावरण में भी अगर सौष्ठववादी समीक्षा को विकास का अवसर प्राप्त होता तो भी व्यक्ति और समाज के द्वंद्व को लेकर समीक्षा दो रूपों में बँट ही जाती

है। द्विवेदीजी की समाजशास्त्रीय पद्धति तथा वाजपेयीजी और नगेंद्रजी आदि का व्यक्तिवाद की ओर झुकाव इस बात के प्रमाण हैं। अंतर के संघर्ष तथा परिवेश के सहज परिणाम होने के कारण भारतीय दृष्टि से भी यह विकास अधिक स्वस्थ होता, पर पश्चिम के यथार्थवादी सिद्धांतों के गहरे प्रभाव ने इस दिशा में विकास नहीं होने दिया। यह यथार्थवादी दृष्टि दो भिन्न स्रोतों से आई थी पर हिंदी में पहले इसके द्वारा किए गए विरोध का स्वर समवेत ही रहा। बाद में यह व्यक्ति और समाज के सहारे से दो स्पष्ट धाराओं में बँट गया। छायावादोत्तर काल में इस प्रभाव को अविकल रूप में ही ग्रहण करने की प्रवृत्ति जागी। मनोविश्लेषण शास्त्र तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के प्रभाव से हिंदी में क्रमशः जिस व्यक्तिवादी एवं समष्टिवादी साहित्य-दर्शन का विकास हुआ उसी से हिंदी में मनोविश्लेषणात्मक एवं प्रगतिवादी समीक्षा पद्धतियों का जन्म हुआ। सर्जन और भावन दोनों ही क्षेत्रों में इन साहित्यदर्शनों का गहरा नियंत्रण रहा है। इनके स्वतंत्र भी तथा पारस्परिक घात प्रतिघात से भी साहित्य और समीक्षा में विकास हुआ और हो रहा है।

मार्क्सवादी समीक्षा

जब छायावादी काव्यधारा एकांत व्यक्तिवादी, भावुकतामय, निराशापूर्ण एवं विषादमयी रागिनियों में परिणत होने लगी, कवि में सामाजिक अनुत्तरदायिता घर कर गई, समीक्षक भी जनजीवन पर इन गीतों के प्रभाव का सही मूल्यांकन न करके इनकी कल्पना एवं भावुकता पर मुग्ध होकर इनकी स्तुति की ओर ही अधिक झुक गया, तब 'साहित्य किसके लिये' के प्रश्न तथा 'साहित्य जनता के लिये' के उत्तर से एक स्वस्थ प्रतिक्रिया का जागना स्वाभाविक ही था। इस प्रतिक्रिया का स्वागत ही हुआ। शीघ्र ही 'साहित्य जनता के लिये' की विशद व्याख्या में 'साहित्य पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिये', तथा 'साहित्य समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिये', कहा जाने लगा। तत्कालीन परिस्थितियों में यह प्रतिक्रिया स्वस्थ ही मानी गई। भारतीय संस्कृति न पूँजीवादी शोषक नीति की समर्थक है और न समाजवादी मनोवृत्ति की विरोधी ही। शुक्लजी के लोकमंगल की भावना की ही नई परिणति हुई कि एक तरफ उसने द्विवेदीजी के मानवतावाद का रूप धारण किया तो दूसरी तरफ उसने मार्क्सवाद का जामा पहन लिया। प्रारंभ में प्रगतिशीलता की इस विचारधारा को रवींद्र और प्रेमचंद जैसे व्यक्तियों का समर्थन भी प्राप्त हुआ। पर जल्दी ही इसने मार्क्सवादी जीवनदर्शन को अविकल रूप में अपनाकर सांप्रदायिक कट्टरता को ग्रहण कर लिया। आज हिंदी की प्रगतिवादी समीक्षा को समझने के लिये मार्क्सवादी जीवनदर्शन का सम्यक् परिचय अपरिहार्य है। सन् १९३५ के आसपास हिंदी के चिंतन पर मार्क्सवादी प्रभाव पड़ने लगा था। इसी 'वर्ष प्रोग्रेसिव राइटर्स असोसिएशन' का प्रथम अधिवेशन पेरिस में हुआ। सन् १९३६ में भारत में भी इस अंतरराष्ट्रीय संस्था की

शाखा खुली। प्रेमचंदजी की अध्यक्षता में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। तबसे वह विचारधारा अबतक विकासशील है।

मार्क्स का जीवनदर्शन भौतिकतावादी है। वह जीवन और साहित्य को द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद एवं समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धांतों के आधार पर परखता है। मार्क्स समाज के ऐतिहासिक विकास, व्यक्तियों के पारस्परिक तथा समाज से संबंध को द्वंद्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर समझना चाहता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद का यही उद्देश्य भी है। इसके अनुसार उत्पादन एवं वितरण के प्रकारों से मानव का चिंतन, भावन, नीति आदि नियंत्रित होते हैं। मार्क्स के अनुसार कला और साहित्य का उद्भव व्यष्टि चेतना से नहीं अपितु समष्टि चेतना से होता है। मार्क्सवादी काडवेल ने काव्य के अहम् को सामाजिक अहम् (सोशल इगो) कहा है। मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य और कला का स्वरूप वर्गचेतना नियंत्रित करती है। कलाकार का व्यक्तित्व उसकी परिस्थितियों तथा वर्गचेतना के द्वारा ही नियंत्रित एवं रूपायित होता है। साहित्यकार अपने युग का उपभोक्ता मात्र नहीं अपितु उसका निर्माता भी है। वह जीवन के निर्माण की अप्रतिहत शक्ति है। जीवन की प्रत्येक यथार्थवादी परिस्थिति के अंतस्तल में जीवन के विकास की शक्ति अंतर्हित है और सच्चे कलाकार का कार्य उस शक्ति को पहचान कर साहित्य द्वारा उसी का आह्वान करना है। यही कलाकार की प्रगतिशीलता है। मार्क्सवादी साहित्यदर्शन की साहित्य को समाजमंगल के लिये मानने की भावना के मूल में विशुद्ध उदार एवं असांप्रदायिक प्रगतिशील चेतना भी है। हिंदी में प्रगतिशीलता की इस धारणा को सुदृढ़ बनाने का सबसे अधिक श्रेय भी मार्क्सवादी दर्शन को है। पर सांप्रदायिक मार्क्सवादी इस सर्वमान्य प्रगति के स्वरूप मात्र से संतुष्ट नहीं। वह प्रगतिशीलता को कुछ विशेष अर्थों में ग्रहण करता है। वह मानता है कि उत्पादन के बदलते हुए साधनों तथा बदलती हुई परिस्थितियों की प्रेरकशक्ति के कारण मानव-समुदाय अर्थव्यवस्था और समाजपद्धति के विशेष निश्चित प्रकारों में से विकास कर रहा है। मार्क्स ने यूरोप की भौतिक परिस्थितियों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि समाज प्रारंभिक साम्यवाद, सामंतवाद, पूंजीवाद से होता हुआ समाजवाद एवं साम्यवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। आज पूंजीवादी अर्थव्यवस्था इतनी रूढ़ एवं प्रतिक्रियावादी हो गई है कि मानव का कल्याण इस अर्थव्यवस्था को मिटाकर समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना में ही है। अतः रूढ़िवादी मार्क्सवाद के अनुसार आज का वही साहित्य प्रगतिशील है जो पूंजीवादी तत्वों के नाश तथा समाजवादी तत्वों के निर्माण का समर्थक हो। समाजवादी यथार्थवाद की मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार सामंतशाही के ह्रासकाल में पूंजीवादी व्यवस्था की तथा पूंजीवाद के शोषक एवं ह्रासशील तत्व के प्रतीक बन जाने के बाद समाजवाद को प्रेरणा देने-वाला साहित्य ही वास्तव में प्रगतिशील साहित्य है। ऐसे प्रगतिशील एवं सच्चे

साहित्य का सर्जन आज सर्वहारा वर्ग के द्वारा ही संभव है। वर्गचेतना के अभाव के कारण दूसरे वर्ग के कवि जीवन को सच्ची प्रेरणा नहीं दे पाते हैं। यही हिंदी के मार्क्सवादी प्रगतिशील चिंतकों की बद्धमूल धारणा बन गई है। इधर शिवदान सिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा आदि के चिंतन में कुछ उदार दृष्टिकोण का विकास भी हो रहा है। मार्क्सवादी दर्शन अर्थ को अत्यधिक महत्त्व देता है। अर्थ ही वर्गविभाजन का आधार है। कला, साहित्य, दर्शन, नीति, संस्कृति सभी कुछ अर्थ के द्वारा ही नियंत्रित और रूपायित होते हैं। मार्क्स 'अर्थ' शब्द से संपूर्ण भौतिक परिस्थितियों का ग्रहण करता है। ये भौतिक परिस्थितियाँ विचारजगत् का प्रत्यक्ष रूप नहीं, अपितु परोक्ष पद्धति से निर्माण करती हैं। साहित्य और कला का अंतर्भाव भी विचारजगत् में ही है। हिंदी का मार्क्सवादी सिद्धांततः चिंतन पर भौतिक परिस्थितियों के परोक्ष प्रभाव को मानते हुए भी उसके व्यावहारिक प्रयोग में अत्यंत रूढ़िवादी है। वह सामाजिक परिवेष्ठन से चिंतन का सीधा संबंध मान बैठता है। उसने मार्क्सवादी सिद्धांतों को भारतीय जीवन की परिस्थितियों पर स्वतंत्र रूप से लागू करके यहाँ के लिये उपयुक्त नियमों की उद्भावना नहीं की है। यही कारण है कि तुलसी में सामंतशाही नीति-व्यवस्था को प्रतिक्रियावादी कहा जाता है। यह यूरोप के जीवन की परिस्थितियों से प्राप्त सिद्धांतों का भारतीय जीवन पर विवेकहीन आरोप का परिणाम है। मार्क्सवादी साहित्यिक दृष्टिकोण किसी देशविशेष या युगविशेष पर लागू होनेवाली कोई विचारधारा मात्र नहीं है, अपितु वह एक स्वतंत्र एवं व्यापक साहित्यदर्शन है जिसका आध्यात्मिक आदर्शवादी तथा वैयक्तिक साहित्यदर्शनों से विरोध है और वह भौतिकवादी यथार्थवाद पर टिका हुआ है। इसके आधार पर सभी युगों और देशों के साहित्य का मूल्यांकन संभव है। हिंदी के प्रगतिवादियोंमें मार्क्सवाद के स्वतंत्र तथा अपने आप में पूर्ण साहित्यदर्शन के रूप को देखने की आकांक्षा तो है पर उनमें प्रायः सूक्ष्म विवेचन की विशाल एवं उदार दृष्टि का अभाव है। इन चिंतकों में से अधिकांश ऐसे हैं जिनमें कई कारणों से (शायद विशाल दृष्टि के अभाव के कारण भी) कुछ वर्गों के समाज की अर्थव्यवस्था या आचारव्यवस्था द्वारा शोषित या पददलित किए जाने के प्रति आक्रोश अधिक प्रबल हो गया है। इससे उनमें तटस्थ चिंतन कुछ कुंठित हो गया। हिंदी का मार्क्सवादी साधारणतः साहित्य के किसी शाश्वत चिंतन एवं युगनिरपेक्ष मानवमूल्यके सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता। इधर कालिदास के काव्य पर विचार करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने काव्यसौष्ठव के समाजनिरपेक्ष तथा शाश्वत मूल्यों के सिद्धांत को स्वीकार किया है। उन्होंने यह मान लिया है कि साहित्य के स्थायी तत्व सार्वजनीन होते हैं पर वे इन सार्वजनीन तत्वों को साहित्य के उत्कर्ष का मानदंड नहीं मानते। उत्कर्षक मानदंड पर वे मौन हैं। एक दूसरी स्थिति भी मान्य है। मार्क्सवादी भी साहित्य की अनुभूति को विषयी तंत्र मानता है। आज के युग के पाठक को कालिदास या वाल्मीकि के काव्य तथा उनका आनंद

अपने वर्तमान परिवेशन के अनुरूप ही अनुभूत होते हैं। उसे दुष्यंत और शकुंतला के माध्यम से अभिव्यक्त 'रति' उस काल की रति के रूप में नहीं पर आज की रति के रूप में अनुभूत होती है। विश्व के महान् मार्क्सवादी उपन्यासकार ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। इसमें सत्यांश अवश्य है पर यह नितांत भिन्न रति नहीं होती है, अन्यथा उसे कालिदास की रति कहने की कोई सार्थकता ही नहीं है। उस रति में तत्कालीन रति, आधुनिक रति तथा शाश्वत रति का एक अपूर्व मिश्रण है, अस्तु; पर वस्तुतः मार्क्सवादी प्रत्येक कलाकृति को अपनी परिस्थितियों में ही प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी मानता है, किसी चिरंतन आधार पर नहीं। मार्क्सवादी साहित्य की सिद्धांततः ऐतिहासिक व्याख्या करता है। वह साहित्य और कला को बौद्धिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से परखता है। इससे वह साहित्य और विज्ञान के व्यावर्तक तत्व का पूर्णतया साक्षात्कार नहीं कर पाया है। यही कारण है कि उसकी व्याख्या मूलतः साहित्येतर है, संगीत की तरह काव्य तथा अन्य कलाओं में जो विशुद्ध आनंद है जिसके कारण उसका काव्यत्व या कलात्व है, उसको परखने का कोई व्यापक एवं सर्वमान्य मूल्य उसके पास अभी नहीं है। इधर मार्क्सवादी ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा समाजवादी यथार्थवाद की अपेक्षा कला के सौंदर्य पक्ष को पहले की अपेक्षा अधिक महत्व अवश्य देने लगा है; रचनाकार की सौंदर्यचेतना के विकास का भी विवेचन करने लगा है। मार्क्स ने भी सौंदर्यचेतना को संवेदना का एक स्तर माना है। मार्क्सवाद के अनुसार इस सौंदर्यचेतना का मूल स्रोत मानवीय व्यापारों की समग्रता या वस्तुजगत् के प्रति मानवीय प्रतिक्रिया है। वह वास्तव में सामाजिक सौंदर्य है। डा० रामविलास शर्मा ने 'प्रगतिशील साहित्य' में उसके साहित्य होने की अनिवार्यता पर बल दिया है। साहित्य मर्मस्पर्शी होना चाहिए। शर्माजी तो साहित्य में रूप-सौष्ठव का होना भी आवश्यक मानते हैं। यहाँतक कि रस के आनंद की उपस्थिति की अनिवार्यता भी शर्माजी को मान्य है। इससे हिंदी का मार्क्सवादी चिंतन भी रससिद्धांत को मान्यता देकर (प्रगति और परंपरा, पृ० ५०) समन्वय में सहायक हो रहा है। पर शर्माजी के अनुसार कलाकृति का सौष्ठव उसकी विषयवस्तु की सामाजिकता से जुड़ा हुआ भी होना चाहिए। शर्माजी कहते हैं 'सौंदर्यमूलक प्रवृत्ति सामाजिक विकास और सामाजिक संबंधों से परे नहीं है।' शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त आदि भी सौंदर्यमूलक प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं। काव्य की भाषा को मार्क्सवादी भी विज्ञान की भाषा से भिन्न मानता है। इसी को गुप्तजी ने लय, संगीत आदि के सौंदर्यपूर्ण नियोजन द्वारा व्यक्त किया है। नामवर सिंह ने वैयक्तिक वैशिष्ट्य की बात भी कही है। इस प्रकार सौंदर्य एवं व्यक्ति के तत्वों का कुछ अधिक महत्व स्वीकार करने के कारण हिंदी का मार्क्सवादी दृष्टिकोण भी स्वतंत्रता के बाद विकासोन्मुख रहा है। मार्क्सवादी सौंदर्यचेतना वस्तुतः सामाजिक शिवत्व ही है। दोनों का अभेद है। शिव और सुंदर का अभेद तो अन्य विचारधाराएँ भी मानती हैं,

पर उनमें सौंदर्यचेतना का स्वरूप अनुभूतिस्तर पर पृथक् भी है। मार्क्सवाद के अनुसार सौंदर्यचेतना का सामाजिक शिवत्व से भिन्न अनुभूतिस्तर पर क्या स्वरूप है, यह स्पष्ट नहीं। पर शिवत्व से पृथक् रूप में सौंदर्य की अनुभूति मानव में सहज है। साहित्यदर्शन की सर्वांगीणता के लिये सुंदर का स्वरूपनिरूपण भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य है। मार्क्सवाद की अपनी अन्य सीमाएँ और पूर्वाग्रह भी हैं। उत्पादन के जो साधन, अर्थव्यवस्था का जो स्वरूप, उनके अनुरूप सामाजिक नियम तथा विचार जिस देश, काल और परिवेष्ठन में प्रगतिशील हैं, उस समय वे नैतिक भी हैं। उनकी प्रगतिशीलता एवं नैतिकता पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि वे उन परिस्थितियों में मानव के अथवा कम से कम उस वर्ग के ऐहिक समृद्धि के साधन तो हैं ही, इसी से वे प्रगतिशील एवं नैतिक हैं। मानव की ऐहिक समृद्धि तो कम से कम मार्क्सवाद के अनुसार अपेक्षाकृत शाश्वत जीवनमूल्य ही है। इसकी शाश्वतता को स्वीकृति न करना मार्क्सवाद की सीमा या पूर्वाग्रह ही है। ऐहिक समृद्धि के प्रति अनुराग को डा० रामविलास शर्मा ने स्थायी तत्व मानने का आभास भर अवश्य दिया है। इससे हिंदी के मार्क्सवाद में कुछ उदार दृष्टि के विकास की संभावना प्रकट हो रही है। पर ऐहिक समृद्धि ही सब कुछ नहीं है। उसका भी मूल्यत्व अपने आपपर नहीं टिका हुआ है। वह भी किसी अन्य के कारण ही जीवन का मूल्य बना हुआ है। ऐहिक समृद्धि के मूल में भी अन्य शाश्वत मानवीय मूल्य हैं जिनके कारण ऐहिक समृद्धि काम्य है और मूल्य बनी हुई है। यह चाहे मार्क्सवाद न मान सके, पर है सत्य। वाल्मीकि आदि महाकवि देश, काल और वर्गचेतना की सीमाओं से ऊपर उठकर आज भी सहृदय को आंदोलित करते हैं। आज भी उनसे मानवमूल्यों की चेतना प्राप्त होती है। भौतिकता और वर्गवाद से ऊपर उठी हुई एक मानवता की कल्पना भी तो की जा सकती है, और वह सत्य है। उसकी अभिव्यक्ति तो मानवहृदय को हमेशा ही आनंद और प्रेरणा देती रहेगी। वर्गों के स्वार्थ भी इसी मानवता के साथ समन्वय स्थापित करने पर ही उचित एवं प्रगति के सूचक कहे जा सकते हैं। अभी मार्क्सवाद के पास इस वर्गविवाद से ऊपर उठी हुई उदार मानवता के मूल्यांकन की कोई दृष्टि नहीं। अतः उसके पास साहित्य के मूल्यांकन के अपेक्षाकृत संकुचित एवं एकांगी दृष्टिकोण ही हैं।

जैसा ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है हिंदी के प्रगतिवादियों के उपजीव्य मार्क्स, लेनिन आदि ने प्रत्येक देश की कला, संस्कृति और साहित्य को वहाँ की भौतिक परिस्थितियों के अनुकूल परखने का आदेश दिया है। मानवविकास की जिन विभिन्न अवस्थाओं को उन्होंने माना है वे केवल योरप की भौतिक परिस्थितियों के अनुरूप ही हैं। उनके सिद्धांतों के आधार पर प्रत्येक देश के सामाजिक इतिहास की स्वतन्त्र व्याख्या होनी चाहिए। पर यहाँ का प्रगतिवादी उन्हीं अवस्थाओं को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है। भारतीय संस्कृति के अनुरूप उन सिद्धांतों के प्रयोग की क्षमता उनमें नहीं

हैं। उनमें मौलिक चिंतन का अभाव है। इसलिये वे अनुकरण की जड़ता से संकुचित एवं जड़ दृष्टिकोण का ही परिचय दे पाए हैं; उनमें उच्चस्तरीय उदार मानवता की दृष्टि नहीं काम पाई है। यही कारण है कि मानवतावादी या जनवादी सिद्धांतों के नाम पर वे हिंदी के कवियों और काव्यधाराओं के संबंध में कई एक अतिवादी निर्णय दे गए हैं। कबीर को तुलसी की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील मानना, तुलसी के मानवतावादी दृष्टिकोण की अपेक्षा सूर के मानवतावाद को कहीं अधिक उत्कृष्ट, स्वस्थ एवं प्रगतिशील मानना ऐसे ही कुछ अविचारित रमणीय निर्णय हैं। इन निर्णयों का वास्तविक कारण भारतीय संस्कृति की मूलभूत प्रकृति से अपरिचय है। तुलसी से कतिपय प्रगतिवादियों को इसलिये चिढ़ हो गई है कि तुलसी वर्णाश्रम धर्म के माननेवाले हैं। वर्णाश्रम धर्म को ब्राह्मण धर्म कहकर वे लोग प्रतिक्रियावादी एवं शोषक तत्व कह बैठते हैं। वे अपने पूर्वाग्रहों एवं संकुचित दृष्टि के कारण वर्णाश्रम धर्म में निहित समाजमंगल एवं व्यक्तिमंगल को पूर्णतया परख नहीं पाए। वे उसके जीवनतत्व तथा प्रगतिशीलता को भी आँकने में असमर्थ रहे। कभी तो वर्णाश्रम धर्म भी प्रगतिशील रहा ही होगा, यह तो मार्क्सवाद को भी मान्य है। सगुण भक्ति के सांस्कृतिक महत्व तथा प्रगतिशीलता का ठीक मूल्यांकन भी उनसे इस कारण नहीं हो सका। अपवादस्वरूप डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचंद्र आदि ने कहीं न कहीं तुलसी में प्रगतिशीलता के भी दर्शन किए हैं।

शैली की दृष्टि से मार्क्सवादी प्रधानतः ऐतिहासिक समीक्षक है। वह समाज के परिप्रेक्ष्य में साहित्य को रखकर देखता है और उसमें वर्गचेतना और वर्गसंघर्ष के स्वरूप को स्पष्ट करता है। उसमें प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी तत्वोंका निर्वचन करने के लिये वह मार्क्स द्वारा मान्य सामंतवाद, पूँजीवाद आदि अवस्थाओं का सहारा लेता है। इस प्रकार उसका समाजवादी यथार्थवाद का मानदंड साहित्य पर बाहर से आरोप बन जाता है और वह समीक्षा पूर्वाग्रहों से मुक्त, शुद्ध ऐतिहासिक, शुद्ध समाजशास्त्रीय, तथा रूढ़िमुक्त उदार प्रगतिशील समीक्षा नहीं रह जाती है। संप्रदायविशेष के आग्रहों का आरोप होने के कारण इस समीक्षा को निर्णयात्मक भी नहीं कहा जा सकता है। इस आग्रह के कारण साहित्य के वास्तविक सौष्ठव का उद्घाटन या मूल्यांकन भी नहीं हो पाता। *'कामायनी : एक पुनर्विचार'* में मनु को जीव या मन का प्रतीक नहीं अपितु मान प्रसाद की प्रकृति, सामंत व्यवस्था के शासकवर्ग का पुत्र, पूँजीवादी व्यक्तिवाद से युक्त ताानाशाहियत के संस्कारवाला व्यक्ति मानकर मुक्तिबोध ने हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षाशैली का अच्छा प्रतिनिधि उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कामायनीकार को अपने युग के प्रति सजग माना है तथा उसकी समस्याओंके लिये जो प्रतिक्रियाएँ प्रसादजी की हैं उनमें मुक्तिबोध ने आवेश और विश्वास देखा है। युग के परिवेष्टन तथा वर्गसंघर्ष में रखकर प्रसादजी में वर्गचेतना के दर्शन करके मुक्तिबोध ने एक प्रकार से मार्क्सवादी समीक्षा के व्यावहारिक रूप में एक उदारता का

सन्निवेश किया है। प्रसादजी के दर्शन को पूँजीवादी व्यक्तिवाद का दर्शन मानकर लेखक ने वर्तमान जीवनदर्शन से कामायनी का संबंध तो स्थापित कर दिया है पर उनकी प्रत्येकानुभूति को काल्पनिक एवं मानवीय, सामंतवादी विम्बकों को उसकी तथा कामायनी का विश्व के मानवीय साहित्य में उपेक्षणीय कहा है। इससे मुक्तिबोधजी ने कामायनी के काव्यगत, सांस्कृतिक, एवं उदार मानवीय मूल्यों को धूमिल कर दिया है। यह उस काव्य का अवमूल्यन है जिसके लिये मुक्तिबोधजी का सांप्रदायिक एवं रूढ़िवादी दृष्टिकोण उत्तरदायी है। इस समीक्षा में मुक्तिबोधजी ने प्रसादकालीन सामाजिक स्थिति का विश्लेषण भी किया है। मनु के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विवेचन भी विशद है। इसमें पराजित मनु की मानसिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण है, पर उस सबका देश की राष्ट्रीय एवं आर्थिक स्थिति के साथ समन्वय सहज एवं स्वाभाविक नहीं है। उस परिस्थिति में पले उस वर्ग के सभी कलाकारों के बारे में एक ही बात कही जा सकती है, ऐसा प्रतीत होता है। मार्क्सवाद व्यक्ति को समाज-निर्मित अवश्य मानता है, पर व्यक्तिभेद को भी मानता है और व्यक्तिभेद के कारणों को परिस्थितियों से समझा भी देता है। मुक्तिबोधजी के इस 'गज निमिलावितम्' का कारण कुत्सित समाजशास्त्रीय मान्यता ही है। नाटकों के प्रसाद में 'कामायनी' का प्रसादत्व अचानक कैसे आ गया? उसके लिये कौनसी परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं? इस दृष्टि से मुक्तिबोधजी का विवेचन सजीव एवं तर्कसंपन्न नहीं हो पाया है। उन्होंने तो एक ढाँचा, एकमुखौटा अपनाया है जो किसी भी उस वर्ग के कवि पर लगाया जा सकता है। फिर कामायनी और प्रसादजी के इस स्वरूप का कुछ आभास तो स्वयं प्रसादजी देते अथवा सहृदय व्यक्ति को ही होता। अन्यथा तो यह काव्य-सौंदर्य और उसके मानवमूल्यों को ढँकनेवाला आरोपमात्र ही हुआ। वह अपनी व्यक्तिगत अरुचि को तर्क का गहरा लबादा पहनाने का प्रयास ही अधिक है। मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय तथा मानववादी समीक्षा के साथ ही मार्क्सवादी समीक्षकों ने प्रभाववादी शैली का भी कहीं कहीं उपयोग किया है। प्रकाशचंद्र गुप्त में यह तत्त्व अधिक स्पष्ट है। काव्यवस्तु का विश्लेषण करने की प्रवृत्ति भी इन समीक्षकों में है, पर जब इस वस्तु की प्रगतिशीलता का मूल्यांकन करने लगते हैं तो संप्रदाय के पूर्वाग्रहों से ग्रसित हो जाते हैं। काव्य के कलापक्ष की दृष्टि से विभिन्न काव्यधाराओं का विवेचन अधिक नहीं हुआ। डा० शर्मा ने मध्यकालीन कवियों की मेधता का संक्षिप्त पर अच्छा प्रभाववादी निरूपण किया है। नामवर सिंह ने भी छायावाद, प्रगतिवाद का विश्लेषण किया है। उपन्यास, कहानी आदि के ग्रंथों का परीक्षण करते हुए भी इन समीक्षकों में उनकी शिल्पविधि का विश्लेषण और मूल्यांकन बहुत ही कम है। वे साहित्य की वैचारिक व्याख्या ही अधिक करते हैं। साहित्यिक व्याख्या प्रायः इनके द्वारा उपेक्षित रही है। इनकी समीक्षा में व्यक्तिगत रागद्वेष, एक दूसरे को निंदास्तुति की शैली में खंडन मंडन का भी अभाव नहीं है।

रांगेय राघव, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा ने परस्पर में ऐसी रागद्वेषपूर्ण आलोचनाएँ की है। तुलसी में ब्राह्मणवाद, वर्णाश्रम धर्म आदि की गंध आते ही इनमें से कतिपय समीक्षक तुलसी को प्रतिक्रियावादी मान बैठते हैं। 'वर्णाश्रम' व्यवस्था भी अपने आप में कभी प्रगतिशील अवश्य रही है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक लानेवाला एक तत्व एक विशेष देशकाल में तो प्रगति का प्रतीक होता ही है, उसी को पहचानना और उसी को प्रेरणा देना ही तो मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य के मूल्य की कसौटी है। वैसे प्रसन्नता की बात है कि डा० शर्मा ने दास प्रथा के मुकाबले में वर्णाश्रम व्यवस्था को प्रगतिशील मानकर सम्यक् उदार दृष्टि का भी परिचय दिया है।

उपलब्धि

प्रगतिवादी समीक्षापद्धति ने अपने से पूर्ववर्ती समीक्षासिद्धांतों एवं शैलियों का एक विशेष दिशा में विकास किया है। एक वर्ग ने मार्क्स द्वारा मान्य जीवन और साहित्य के दर्शन को ग्रहण किया है, यह तो सुस्पष्ट ही है पर इसके अतिरिक्त सामान्य दृष्टि में भी परिवर्तन हुआ। कुछ प्रायः मान्य धारणाएँ भी बनी। शुक्लजी के लोक-मंगल के भाव का भौतिक कल्याणवाला पक्ष अधिक पुष्ट हुआ। रस और काव्यसौष्ठव के एक रूप सामाजिक सौंदर्य का पहले की अपेक्षा अधिक महत्व हो गया। ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय समीक्षाशैली अधिक सजीव आधार पर प्रतिष्ठित होकर हिंदी-समीक्षा की एक प्रधान विशेषता बन गई। प्रगतिवादी समीक्षा आधुनिक हिंदीसाहित्य में बढ़ती हुई व्यक्तिवादी और भोगवादी मनोवृत्ति पर कुछ रोक अवश्य लगा पाई है। इसके द्वारा प्रयोगवादी कविताओं में मरणतत्व के दर्शन करके बढ़ती हुई उच्छृंखलता को रोकने के भी प्रयास हुए है। आज हिंदी में पाश्चात्य अनुकरण के कारण नग्नता और अश्लीलता की एक बाढ़ सी आ रही है। 'कला कला के लिये' वाली मनोवृत्ति बढ़ती जा रही है, इसकी रोकथाम करने में भी हिंदी का मार्क्सवादी समीक्षक कुछ सचेष्ट है। वैसे तो कहीं कहीं प्रगतिवादी कलाकार भी नग्नता का सहारा लेता है और यथार्थवाद के नाम पर उसके औचित्य का भी समर्थन करता है। पर मार्क्सवादी समीक्षा ने सामान्यतः समाजमंगल की भावना की ओर हिंदी जगत् का ध्यान अधिक आकृष्ट कर दिया है। समीक्षा में व्यक्तिनिष्ठता, भाववादिता एवं रूपवादिता के स्थान पर वैज्ञानिकता, जनकल्याणवादिता, ऐतिहासिकता तथा वस्तुनिष्ठता का जोर हो रहा है। इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा की अपनी कुछ वैयक्तिक सीमाएँ होते हुए भी इस समीक्षा की उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण हैं।

प्रधान समीक्षक

शिवदानसिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचंद्र गुप्त, नामवर सिंह, चंद्रबलीसिंह आदि हिंदी के प्रधान मार्क्सवादी समीक्षक हैं। ये सभी मार्क्सवादी जीवनदर्शन में विश्वास करनेवाले लोग हैं, इसलिये साहित्यदर्शन के सिद्धांत पक्ष

की दृष्टि से इन सबमें प्रायः ऐकमत्य है। मार्क्सवादी साहित्यदर्शन के मूलभूत सिद्धांतों की व्याख्या में कुछ व्यक्तिगत भेद अवश्य हैं। इसका कारण इनके स्वयं के व्यक्तिगत एवं जातिगत संस्कार तथा व्यक्तित्व का निर्णायक परिवेष्टन है। पर इनकी व्यावहारिक समीक्षाएँ एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। भेद का कारण एक तो यह है कि इन लोगों ने मार्क्सवादी साहित्यदर्शन को कुछ वैयक्तिक पूर्वाग्रहों के साथ ग्रहण किया है तथा दूसरे उसके भिन्न भिन्न पक्षों को लेकर व्याख्या की है। उनकी शैली और निर्णयों में भी काफी अंतर है। निर्णयों के अंतर के कारण ये एक दूसरे को कुत्सित समाजशास्त्री कहकर उनके निर्णयों की भर्त्सना भी करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हिंदी का मार्क्सवादी ऐसी किसी सर्वसम्मत समीक्षापद्धति का विकास नहीं कर पाया है, जिसको इस साहित्यदर्शन के आधार पर होनेवाली समीक्षा का प्रतिनिधि रूप कह सके। अभी हिंदी में कोई सर्वांगीण एवं प्रायः सर्वसम्मत मार्क्सवादी साहित्यदर्शन भी नहीं बन पाया है। ऐसी पुस्तक का अभाव है, निबंधों में फुटकर चिंतन ही है। अभी पारस्परिक मतों के संघर्ष की ही अवस्था है। पर इधर शिवदानसिंह, डा० रामविलास शर्मा आदि के निबंधों में समन्वय की अधिक ठोस भूमि पर पहुँचने की आकांक्षा के दर्शन होने लगे हैं।

शिवदानसिंह चौहान

इन्होंने कई निबंधसंग्रहों तथा 'आलोचना' नामक पत्रिका द्वारा इस धारा को समृद्ध किया है। 'प्रगतिवाद', 'साहित्य की परख', 'आलोचना के मान' तथा 'साहित्य की समस्याएँ' इनकी प्रधान रचनाएँ हैं। शिवदानसिंह ने आलोचक के मूलभूत प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान देने की चेष्टा की है। इसमें उनकी दृष्टि उदार अवश्य है, पर वह मार्क्सवादी ही है। आलोचना का स्वरूप तथा प्रयोजन स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं 'मूल्यांकन करते समय रचना में वस्तुगत एवं रूपगत मूल्यों का विवेचनकर साहित्य के इतिहास में कृतिविशेष का स्थान निर्दिष्ट करना चाहिए। रचना में व्यक्त मूल्य किस कोटि के हैं—सामाजिक या असामाजिक, स्वस्थ या अस्वस्थ, मानव के जीवनबोध को अधिक व्यापक और गहरा बनाते हैं या एकांगी या उथला, सौंदर्यचेतना को अधिक परिष्कृत करते हैं या कुत्सित' (आलोचनाके मान, पृ० १२२)। समीक्षा का यह स्वरूप व्यापक एवं उदार है पर स्वस्थ या अस्वस्थ का निर्णय करते समय चौहान मार्क्सवादी हैं। पर उनका मार्क्सवाद अन्य सब विचारधाराओं को अबुद्धिवादी, अवैज्ञानिक एवं प्रतिक्रियावादी घोषित कर देने में नहीं है। वे उनमें से भी स्वस्थ तत्व ग्रहण करते हैं। उन्होंने मार्क्स के भौतिकवादी दृष्टिकोण को भी एकांगी माना है। वह एक प्रणालीमात्र है। 'मार्क्सवाद एक मशाल है किंतु एकमात्र नहीं, कि केवल उसकी रोशनी में ही हमें मनुष्य के समस्त इतिहास, संस्कृति और ज्ञान को

देखना परखना चाहिए।"[1] शिवदानसिंह आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार ही नहीं करते अपितु भौतिकतावाद एवं आध्यात्मिकतावाद दोनों के समन्वय में ही मानवजीवन के निर्माण की शक्ति देखते हैं। पंतजी की समन्वयवादी चिंतनधारा को वे प्रगतिवादी दृष्टिकोण मानते हैं। पंतजी के काव्य में उन्होंने 'मंगलरस' का साक्षात्कार किया है। प्रधानतः वे साहित्य की समष्टिकल्याण की दृष्टि से वस्तुवादी तथा वैज्ञानिक व्याख्या करने के समर्थक हैं। जिस कृति में जीवन की जितनी व्यापक एवं यथार्थ कल्पना हो पाई है, चौहान उसको उतनी ही महान् मानते हैं। वे केवल वस्तुवादी अथवा केवल रूपवादी समीक्षा को एकांगी मानते हैं। इनमें आंशिक सत्य मानने की प्रवृत्ति ने ही चौहानजी में समन्वयवादी भावना के अंकुर पैदा किए हैं। उन्होंने व्यक्तिवादी साहित्य में विकृति, कुंठा, और कुत्सा के दर्शन किए हैं। प्रयोगवादी काव्य को इन्होंने मनुष्य की दमित इच्छाओं के विस्फोट, मानवद्रोह और अनास्था के कारण हेय कहा है।[2] इन रचनाओं के अंतस्तल में इन्होंने साम्यवाद के विरोध के सड़े हुए कंकालों के दर्शन किए हैं। पर जो प्रयोगशील कवि गांधीवाद और मानवतावाद की ओर झुके हुए हैं, उनका स्वागत करने की उदार दृष्टि भी चौहानजी में है। सिद्धांतों में चौहान साहित्य के शिल्प के प्रति अधिक उदार होते जा रहे हैं, और उनमें व्यक्तिस्वातंत्र्य का विरोध भी उतना तीव्र नहीं है। पर उनकी व्यावहारिक समीक्षा में सर्वत्र इतनी उदारता नहीं आ पा रही है। आधुनिक काल के अधिकांश साहित्यकारों-विशेषतः प्रयोगवादियों का तो वे स्वागत ही नहीं कर पा रहे हैं। अज्ञेयजी के 'नदी के द्वीप' नामक उपन्यास का चरित्रचित्रण प्रतिक्रांतिक है। अतः चौहान की दृष्टि में यह कलाकृति ही नहीं। अरक का 'गर्म राख', देवराज की 'पथ की खोज' तथा बहुत सी मनोवैज्ञानिक एवं प्रयोगवादी प्रवृत्ति की रचनाएँ उन्हें असफल कृतियाँ हो लगती हैं। चौहानजी समाजवादी सिद्धांत तथा मूल्यों को स्वीकार करते हैं, और इन्हीं के आधार पर वे कलाकृति को परखने की चेष्टा करते हैं, पर संकुचित मार्क्सवादियों की वे भर्त्सना भी करते हैं। अपने देश की प्रतिभाओं को तुच्छ समझनेवाले तथा विदेश के अधकचरे तुक्कड़ों को कंधों पर उछालनेवाले समीक्षकों में उन्होंने कृतघ्नता के दर्शन किए हैं। ऐसे कटु शब्दों का प्रयोग उनकी सच्ची व्यथा एवं आक्रोश का ही परिणाम है।

डा० रामविलास शर्मा

'प्रगति और परंपरा', 'संस्कृति और साहित्य', 'भारतेंदु युग', 'प्रेमचंद और उनका युग', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' आदि शर्माजी के कई ग्रंथ तो आलोच्य-

१. शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के मान, पृष्ठ ७३
२. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ

काल में ही प्रकाशित हो गए थे। ये सभी मार्क्सवादी साहित्यदर्शन के समर्थक ग्रंथ हैं। इधर के प्रकाशित 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य', 'आस्था और सौंदर्य' में व्यक्त उनका दृष्टिकोण भी इस धारा के समझने के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। इस धारा ने जो उदार एवं समन्वयवादी दृष्टि अपनाई है, उसमें शर्माजी का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रगतिवादी विचारधारा के सामान्य स्वरूप के विवेचन में हमने शर्माजी के मतों का मुक्तहृदय से प्रयोग किया है। इस प्रकार प्रकारांतर से उनपर भी पर्याप्त विचार हो गया है। पहले पहले डा० रामविलास शर्मा सिद्धांत और व्यवहार दोनों में ही अधिक रूढ़, सांप्रदायिक एवं प्रचारवादी रहे। उन्हें चौहान के दृष्टिकोण में पूँजीवाद की गंध आती है। शर्माजी की समीक्षा जनवादी मान्यताओं तथा समष्टिहित के मूल्यों पर आधारित है। वे समाजहित को ही समीक्षा का प्रधान मानदंड समझते हैं। केवल रूप की प्रशंसा करनेवालों को तो वे समीक्षक भी नहीं समझते। रससिद्धांत के महत्व को स्वीकार करते हुए भी शर्माजी उसमें आज के साहित्य के ठीक मूल्यांकन करने की पूरी क्षमता नहीं मानते। शर्माजी ने प्रेमचंदजी के साहित्य को जनवादी परंपरा का उत्कृष्ट साहित्य माना है। छायावादी काव्य को उन्होंने सामाजिक आधार पर परखा है। छायावादी कवियों में वे निरालाजी के प्रशंसक हैं। उन्होंने तुलसी की प्रगतिशीलता तथा बिहारी की प्रतिक्रियावादिता को भी स्पष्ट किया है।

प्रकाशचंद्र गुप्त

'नया हिंदी साहित्य', 'आधुनिक हिंदी साहित्य' तथा 'हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा' गुप्तजी की प्रमुख रचनाएँ हैं। प्रकाशचंद्र गुप्त ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मूल्यों की शाश्वतता का स्पष्ट निषेध किया है, इसलिये सत्यं शिवं और सुंदरम् का गत्यात्मक रूप ही उन्हें मान्य है। गुप्तजी ने 'नया साहित्य एक दृष्टि' में साहित्य और कला को संपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक विकास का एक अंग माना है। प्रत्येक युग के साहित्य में जनवादी और जनविरोधी प्रवृत्तियों में अंतर्विरोध के सिद्धांत को गुप्तजी स्वीकार करके चलते हैं। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार यही स्वाभाविक स्थिति भी है। गुप्तजी के अनुसार मार्क्सवादी समीक्षक का कार्य जनवादी और प्रगतिशील तत्वों की खोज करके उनका मूल्यांकन करना है। गुप्तजी ने साहित्यकार के व्यक्तित्व के महत्व को भी स्वीकार किया है। पर मार्क्सवादी सामाजिक परिवेश के संदर्भ में ही उस व्यक्तित्व का विश्लेषण करता है। इसी दृष्टि से गुप्तजी ने विचार भी किया है। गुप्तजी ने कबीर, तुलसी और सूर में जनवादी प्रवृत्तियों के दर्शन करके उनके काव्य को अपनी परिस्थितियों में प्रगतिशील कहा है। हाँ, सूर में उन्हें तुलसी की अपेक्षा अधिक उदार मानवतावाद के भी दर्शन हुए हैं। गुप्तजी प्रायः अभिव्यक्ति पक्ष की उपेक्षा करके साहित्य की वस्तु का मूल्यांकन करनेवाले समीक्षक

हैं। उनकी समीक्षा यांत्रिक न होकर गत्यात्मक है। शैली में कुछ प्रभाववादिता का भी हलका सा पुट है।

डा० नामवर सिंह

आपकी 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', मार्क्सवादी समीक्षा के व्यावहारिक रूप का अच्छा उदाहरण है। इसमें वर्गगत प्रवृत्तियों के आधार पर आधुनिक काल की सभी काव्यप्रवृत्तियों के विकास का इतिहास प्रस्तुत करते हुए उनका मूल्यांकन किया गया है। इस मूल्यांकन का आधार प्रधानतः जीवनशक्ति और जनवादी धारणा है। प्रत्येक काव्यप्रवृत्ति का एक ऐतिहासिक महत्व होता है। नामवर सिंह ने प्रयोगवाद के ऐतिहासिक महत्व को भी स्वीकार किया है। उसे उन्होंने ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण माना है। प्रयोगवादी कविताओं में भी समाज के एक अंग की मनःस्थिति का चित्रण हुआ है। इस प्रकार इस साहित्य का भी ऐतिहासिक महत्व आवश्यक है। नामवर सिंह मार्क्सवादी समीक्षक के अनुरूप उसमें जीवनशक्ति का अभाव तथा मरणशक्ति का उभार देखते हैं। उन्होंने मार्क्सवादी साहित्यदर्शन के आधार पर हिंदी साहित्य के इतिहास, साहित्य की विविध प्रवृत्तियों, साहित्यकारों और उनकी कृतियों का विश्लेषण किया है। इनकी शैली प्रधानतः ऐतिहासिक है। चौहान, गुप्त और डा० रामविलास शर्मा तीनों की समीक्षापद्धतियों को ये शुद्ध मार्क्सवादी नहीं मानते हैं। इनमें उनको भाववादी तथा व्यक्तिवादी संस्कारों की छाया प्रतीत होती है।

अन्य आलोचक

चंद्रबली सिंह की 'लोक दृष्टि और हिंदी साहित्य' की समीक्षा का दृष्टिकोण भी मार्क्सवादी ही है। पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है कि समीक्षा का आधार लोकदृष्टि है चंद्रबली सिंह वस्तुगत सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर की गई समीक्षा को ही ठीक अर्थ में समीक्षा कहते हैं। समीक्षक को भी साहित्याकार की तरह जीवन की व्याख्या करने में समक्ष होना चाहिए। सिद्धांततः मार्क्सवादी वस्तु और रूप को अभिन्न मानता है पर चंद्रबली सिंह की समीक्षा भी अन्य प्रगतिवादियों की तरह वस्तुगत ही अधिक है। 'स्वर्ण किरण', 'उत्तरा' तथा अज्ञेयजी के साहित्य को उन्होंने सांस्कृतिक विघटन और अनास्था का साहित्य कहा है[1]। उनकी दृष्टि से यह सब पूँजीवादी का ही परिणाम है। चंद्रबली सिंह ने पंत, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, इलाचंद जोशी आदि में प्रतिक्रियावादी तत्व देखे हैं। इस प्रकार चंद्रबली सिंह की समीक्षा भी लोकदृष्टि पर आधारित मार्क्सवादी ही है।

१. चंद्रबली सिंह : लोकदृष्टि और हिंदी साहित्य, पृष्ठ २१

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षापद्धति

छायावादी काव्य तथा सौष्ठववादी समीक्षा की प्रतिक्रिया यथार्थवादी आधार पर व्यक्तिवादी तथा समाजवादी साहित्य के दर्शनों के रूप में हुई। यह प्रतिक्रिया कुछ समय तक समवेत रूप में भी रही, पर बाद में वह दो धाराओं में बँट गई और इनका विकास पारस्परिक विरोध, आलोचना प्रत्यालोचना में भी हुआ। समाजवादी साहित्यदर्शन का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। व्यक्तिसत्य को साहित्य का मूल तत्व माननेवाली विचारधारा गहन, गंभीर एवं वैज्ञानिक होकर मनोविश्लेषणात्मक समीक्षापद्धति बन गई है। व्यक्तिवादी साहित्यदर्शन इस रूप में एक विशिष्ट वैज्ञानिक रूप धारण कर लेता है। इसका अन्य रूपों में विकास भी संभव है पर हिंदी में मनोविश्लेषणशास्त्र पर आधारित व्यक्तिवादी दर्शन के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों का सुस्पष्ट विकास नहीं हो पाया है। व्यक्तिवादी यथार्थवाद पर टिकी हुई यह पद्धति एक स्वतंत्र समीक्षादर्शन है, शैलीमात्र नहीं। यह व्यक्ति की निजी चेतना, अंतश्चेतना की अभिव्यक्ति को कला और साहित्य का प्रमुख तत्व मानती है। सामाजिक परिस्थितियाँ कवि के व्यक्तित्व के निर्माण में योग तो देती हैं पर व्यक्ति की एक स्वतंत्र सत्ता भी है। इनके अनुसार यही स्वतंत्र सत्ता साहित्य के लिये उत्तरदायी है। यह विचारधारा व्यक्ति को ही काव्य का हेतु और प्रयोजन दोनों मानती है। काव्य और कला को भी स्वप्न की तरह ये विचारक अंतश्चेतना की ही अभिव्यक्ति मानते हैं। स्वप्न में अंतश्चेतना प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। ये प्रतीक अंतश्चेतना की ही सृष्टि होते हैं, काव्य और कला में भी कलाकार की अंतश्चेतना से उद्भूत प्रतीक ही उसके निजी व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करते हैं। अंतश्चेतना से सीधे उद्भूत न होनेवाले प्रतीक ही कृत्रिम सृष्टिरूप काव्य को जन्म देते हैं। सच्चे प्रतीकों का काव्य ही पाठक की अंतश्चेतना को अभिव्यक्ति का अवसर देकर रेचन के द्वारा उसके व्यक्तित्व का उन्नयन करता है। इस सिद्धांत में यही काव्य का प्रयोजन माना गया। कवि के व्यक्तित्व के सामाजिक संस्कार बाह्यमात्र हैं। इसलिये वे काव्य की दृष्टि से दूरवर्ती और अनुपादेय हैं।

सैद्धांतिक आधार

फ्रायड, एडलर और युंग के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांतों पर ही यह पद्धति टिकी हुई है। फ्रायड मानता है कि सामाजिक बंधनों के कारण मानव की अनेक वासनाएँ और सामूहिक सहजात वृत्तियाँ चेतन स्तर पर अतृप्त रह जाती हैं, और अर्धचेतन में छिप जाती हैं। कामवासना को फ्रायड सबसे प्रधान मानता है, अवचेतन में दबी हुई वासनाएँ अभिव्यक्ति के लिये व्याकुल तो होती ही हैं पर अपने असली रूप में प्रकट न होकर कुछ उदात्तीकृत रूप में स्वरूप बदलकर तथा प्रतीकों में

परिष्कृत होकर अथवा उनका आवरण धारण करके ही अभिव्यक्त होती हैं। स्वप्न, भूल, हास्य, विनोद, कला और साहित्य ही इनकी अभिव्यक्ति के क्षेत्र हैं। इन वासनाओं की अभिव्यक्ति से रेचन होता है और यही आनंद का हेतु है, इस रेचन से वासनाओं का उन्नयन हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि मनोविश्लेषणशास्त्र काव्य और कला के आनंद को रेचनरूप मानता है। यह रस से भिन्न एवं निम्न कोटि का है। दमित वासनाएँ व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन को परिचालित करनेवाली प्रमुख शक्तियाँ हैं। इनकी स्वस्थ अभिव्यक्ति और उन्नयन में ही संस्कृति का विकास है। साहित्य और कला इस विकास के सुंदरतम एवं सबसे अधिक शक्तिसंपन्न साधन हैं। इस सिद्धांत में साहित्य का प्रयोजन तथा उसकी उच्चता का मान इन वृत्तियों का स्वस्थ उन्नयन ही माना गया है। फ्रायड जीवन के सभी कामों के मूल में कामवासना का अस्तित्व मानते हैं, पर एडलर ने प्रभुत्व की कामना को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। मानव अपने व्यक्तित्व के महत्व की समाज द्वारा स्वीकृति चाहता है। इस इच्छा की पूर्ति न होने पर उसमें हीनता का भाव जागता है, और हीनताग्रंथि बन जाती है। वह एक क्षेत्र की हीनता के भाव की क्षतिपूर्ति दूसरे क्षेत्र में करने का प्रयत्न करता है। स्वप्न, कल्पना, कला आदि में भी इसकी पूर्ति होती है। एडलर की मान्यता है कि मानव इसके लिये नवीन क्षेत्रों की उद्‌भावना भी कर लेता है। कला, साहित्य आदि ऐसे ही नवीन उद्‌भावित क्षेत्र हैं। नवनव उन्मेष करनेवाली बुद्धि भी इसी का परिणाम है। यह पूर्ति भी स्वस्थ एवं अस्वस्थ दोनों प्रकार की हो सकती है। साहित्य और कला अपने प्रकृत रूप में स्वस्थ पूर्ति का ही साधन है। युंग ने इन सबके मूल में जीवनेच्छा को माना है। मानव में जीवित रहने की ही नहीं अमर रहने की भी प्रबल एवं सहज आकांक्षा है। यही जीवनेच्छा व्यक्ति को अमर कर देनेवाले कार्यों में प्रवृत्त करती है, साहित्य और कला के मूल में युंग की दृष्टि से यही अमर होने की इच्छा कार्य कर रही है। लोक, वित्त और पुत्र की ऐषणाओं के मूल में भी यही जीवनेच्छा है। कामवासना और प्रभुत्व की कामना इसी जीवनेच्छा के दो प्रकार हैं। काम के प्राधान्य से व्यक्ति अंतर्मुखी तथा प्रभुत्व की कामना के कारण बहिर्मुखी हो जाता है। सर्जन मानव की जीवनेच्छा की ही अभिव्यक्ति है। मानव का व्यक्तित्व ही इस सर्जन के स्वरूप का नियंत्रण करता है। यही कारण है कि प्रभुत्व की कामनावाले बहिर्मुखी तथा कामवासना के प्राधान्यवाले अंतर्मुखी व्यक्तियों के साहित्यों में वर्ण्यविषय, चरित्र, शैली आदि का पर्याप्त अंतर रहता है। अंतर्मुखी कवि की रचनाएँ व्यक्तिप्रधान तथा बहिर्मुखी की विषयप्रधान होती हैं। ये सभी सिद्धांत व्यक्तिवादी हैं। मनोविश्लेषण के इन सिद्धांतों ने हिंदीसर्जन और भावन दोनों को ही प्रभावित किया है पर भावन की अपेक्षा इस विचारधारा से सर्जन अधिक प्रभावित हुआ है। भावनक्षेत्र में भी इसने हिंदी में एक स्वतंत्र संप्रदाय को जन्म दे दिया है।

व्यावहारिक समीक्षा

हिंदी के मनोविश्लेषणात्मक समीक्षकों ने आधुनिक काव्य की गतिविधि पर कला की वैयक्तिकता तथा जीवनशक्ति प्रदान करने की क्षमता की दृष्टि से विचार किया है। इन्होंने प्राणशक्ति के अभाव का भी विश्लेषण किया है। यह समीक्षक छायावादी काव्य के कलात्मक सौष्ठव के प्रशंसक हैं पर उन्होंने उसकी विलासिताजन्य पलायनवादी प्रवृत्ति की ओर निंदा भी की है। प्रगतिवाद को भी इन्होंने कुंठाओं का ही परिणाम कहा है। प्रगतिवादियों के नग्न चित्रणों में उन्हें दमित वासनाओं के दर्शन होते हैं। जोशीजी ने छायावादी काव्य में दांभिकता और विकृत मनोभावों की आकांक्षा के दर्शन किए हैं। उनका कहना है प्रगतिवादी काव्य के मूल में सामूहिक कल्याण की कामना नहीं; कवि के अपने महत्व की स्थापना की भावना है। वे प्रगतिवाद के समाजविद्रोह के उद्गारों में रोमांटिक रस का आनंद मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने प्रगतिवाद का मनोविश्लेषणात्मक विवेचन किया है[1]। धीरे धीरे इनको मार्क्सवाद व्यापक जीवनदर्शन नहीं अपितु मात्र अर्थनीति का एकांगी प्रसार प्रतीत होने लगा है। उसमें साहित्य के वास्तविक मूल्यांकन की क्षमता भी इन्हें नहीं प्रतीत होती है। इनकी समीक्षापद्धति प्रधानतः विश्लेषणात्मक है। कवि के व्यक्तित्व, काव्य-वस्तु के स्वरूप, चरित्र आदि सभी का मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक विवेचन तथा उनकी मूल प्रेरक शक्ति के रूप में विद्यमान कुंठाओं का स्वरूपनिर्धारण ही इस पद्धति का प्रधान उद्देश्य है। कहीं कहीं समीक्षक उनके स्वस्थ और अस्वस्थ होने का संकेत भी कर देता है। पर आलोच्य ग्रंथ रेचन के द्वारा कितना और कैसे स्वास्थ्य प्रदान कर सका है, इसकी व्याख्या वे नहीं कर पाए हैं। आलोच्य रचना के काव्यत्व के स्तर प्रतिपादन के लिये यह पद्धति किसी भी मानदंड को नहीं उभार पाई है।

प्रमुख समीक्षक : अज्ञेय

हिंदी में मनोविश्लेषणात्मक समीक्षापद्धति के प्रधान समीक्षक अज्ञेय तथा इलाचंद्र जोशी हैं। स्वच्छंदतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षापद्धति के प्रसाद, पंत आदि कविसमीक्षकों के बाद के मौलिक कविचिंतकों में अज्ञेयजी का स्थान सर्वोपरि माना जा सकता है। इनका चिंतन अभी विकासशील है। पिछले दशक में भी इनकी काव्यसंबंधी मान्यताएँ बहुत विकासशील रही हैं। प्रारंभ में अज्ञेयजी की साहित्य-संबंधी धारणा प्रधानतः एडलर से प्रभावित थी। प्रभुत्व की कामना और क्षतिपूर्ति के सिद्धांतों को ही उन्होंने कला के मूल में माना है। उनकी दृष्टि से कला व्यक्ति की प्रभुत्व की कामना और समाज में अपनी उपयोगिता सिद्ध करने की भावना से सृष्ट नवीन क्षेत्र है। सौंदर्यबोध को भी अज्ञेयजी ऐसी नवीन सृष्टि मानते हैं—'हमारे कल्पित प्राणी ने

१. इलाचंद्र जोशी : विवेचना, पृष्ठ १७०।

हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर अपने विद्रोह द्वारा इस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया। उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है। पहली कलाचेष्टा ऐसा ही विद्रोह रहा होगा"[1]। अज्ञेय के अनुसार व्यक्तित्व की एक प्राणवायु होती है, उसकी मौलिकता का एक घनीभूत रस होता है। यह परिस्थितियों के समक्ष समर्पण नहीं करता, अपितु उनसे स्वीकृति चाहता है। यही विद्रोह का कारण भी है। यही अंश उन्नयन और क्षतिपूर्ति की प्रेरणा देता है। इसी अंश के विद्रोह को अज्ञेयजी कला मानते हैं—'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करनेका प्रयत्न है, अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है[2]।' इससे स्पष्ट है कि उस समय के अज्ञेय की विचारधारा का प्रधान उपजीव्य एडलर है। पर वे वासनाओं के दमन का फ्रायडवाला सिद्धांत भी मानते हैं। उस युग की धारणा के अनुसार व्यक्ति के विशिष्ट अंश की खोज, उसके प्रेरक रूप का विश्लेषण, उस अंश का विश्लेषण तथा मूल्यांकन ही अज्ञेय की दृष्टि से समीक्षा है। इस दृष्टि से उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों और कलाकारों का अध्ययन भी किया है। जब परिस्थितियों के विरोध के कारण कलाकार का व्यक्तित्व खंडित हो जाता है तब उसमें पलायन का भाव आजाता है। प्रसाद के छायावाद और प्रेमचंद के सुधारवाद में अज्ञेय को इसी पलायन के दर्शन होते हैं। प्रगतिवाद को वे सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों की अव्यवस्था का परिणाम कहते हैं[3]। सर्वहारा वर्ग के साहित्यसृजन की उपयुक्तता के सिद्धांत का भी अज्ञेय खंडन करते हैं। पिछले दशक में अज्ञेय के साहित्यसिद्धांत का आधार अपर्याप्तता की अनुभूति तथा उसके विरुद्ध विद्रोह था। 'त्रिशंकु' में ही अज्ञेय ने कविता को व्यक्तित्व का अभिव्यंजन नहीं अपितु व्यक्तित्व का मोक्ष कहा है[4]। यही चिंतन बाद में निर्वैयक्तिकता तथा आत्मविलयन के रूप में परिणत हो गया है। 'आत्मनेपद' में अज्ञेय ने कला या काव्य को व्यक्तित्व का संपूर्ण विलयन, महत्तर इकाई में उसका विलयन, माना है[5]। इधर के चिंतन में अज्ञेय ने साहित्य के मूल्यों में सौंदर्य और नीति पर भी प्रौढ़ विचारधारा प्रदान की है। वे सौंदर्यमूल्यों में लय और वक्रता को स्थान देते हैं। उनके अनुसार सीधी रेखा नहीं अपितु वक्र रेखा कला है। पुष्ट सौंदर्यबोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध का होना अज्ञेय ने सहज एवं अपरिहार्य माना है[6]। यह वास्तविक स्थिति

१. अज्ञेय : त्रिशंकु : सौंदर्यबोध, पृष्ठ २६।
२. वही : त्रिशंकु : कला का स्वभाव, पृष्ठ २३।
३. वही : त्रिशंकु : पृष्ठ ६७।
४. वही : त्रिशंकु : पृष्ठ ३६।
५. वही : आत्मनेपद : पृष्ठ ३३।
६. कल्पना (मार्च १९६१) : सौंदर्यबोध और शिवत्वबोध।

भी है। सौंदर्य और मंगल का अंतर्विरोध कभी संभव ही नहीं। अज्ञेय इस सौंदर्य को सामाजिक मंगल या सौंदर्य से अधिक महत्तर एवं स्थायी भी मानते हैं। 'नई समीक्षा' को मूल आधारभित्ति देनेवाली यह विचारधारा अभी विकासशील है। हिंदीसमीक्षा की यह प्रयत्न अवस्था है। इसमें साधारणीकरण तथा अन्य भारतीय सिद्धांतों (रस आदि) को कुछ नवीन आयाम दिए जा रहे हैं। हिंदीसमीक्षा की शुक्लपद्धति सौष्ठववादी, मानवतावादी चेतनाएँ कुछ नवीन रूपों में विकसित हो रही हैं। अज्ञेय तथा अन्य लोगों पर रिचर्ड्स आदि का प्रभाव भी गहरा पड़ा है। इससे समन्वय की आकांक्षा भी दृढ़तर हो रही है। पर इसका प्रधान विकासयुग बाद का ही है। उसके बीज पिछले दशक में अत्यंत स्पष्ट हो गए थे। वे ही अंकुरित हो रहे हैं। इसी लिये विवेचन की सुबोधता के लिये यह संक्षिप्त निरूपण आवश्यक था। 'तार सप्तक' की भूमिकाओं के अतिरिक्त 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद', 'आज का भारतीय साहित्य' तथा पत्रिकाओं के लेखों में अज्ञेय का समीक्षासाहित्य है। इन रचनाओं में व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक समीक्षाओं का प्रायः एक में संमिश्रण करनेवाली हिंदीसमीक्षा की आधुनिक शैली को अपनाया गया है। इनकी अधिकांश रचनाएँ आलोच्यकाल के बाद की हैं।

इलाचंद्र जोशी

आपका दृष्टिकोण प्रारंभ से ही कुछ समन्वयवादी रहा है। उन्होंने अपनी व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक समीक्षाओं में एडलर और फ्रायड दोनों के सिद्धांतों का खूब प्रयोग किया है। स्वप्न की तरह कला में भी दमित वासनाएँ ही अपना स्वरूप बदल कर आती हैं, यह बात जोशी जी को मान्य है। इसी से वे अस्पष्टता और रूपक को साहित्य के अनिवार्य अंग मानते हैं। 'शेषनाग की तरह फन उठाकर ऊपर आनेवाली दमित वासनाओं की अज्ञात शक्ति में ही कला की अभिव्यक्ति ही प्रमुख प्रेरणा है'[1]। जोशीजी ने हीन भावना की क्षतिपूर्ति तथा अहम् भाव के सिद्धांतों का भी साहित्य और समीक्षा में महत्त्व माना है। इस प्रकार उन्होंने मनोविश्लेषणशास्त्र के सभी सिद्धांतों का उपयोग किया है। वे साहित्य और समीक्षा का उद्देश्य जीवन को स्वस्थ मार्ग पर ले चलना मानते हैं। मनोविश्लेषणशास्त्र अस्वस्थ मार्गों की प्रेरणाओं का उद्घाटन करके मानव को जीवन का स्वस्थ मार्ग दिखाता है। जोशीजी मनोविश्लेषण का इतना ही उपयोग मानते हैं। उनका कहना है 'किसी कलाकार की कृति से उसके मन के भीतर की अंतश्चेतना में निहित पाशविक प्रवृत्तियों के कारण अथवा स्वास्थ्यकर मानवीय भावनाओं के आलोडन का पता निश्चित रूप से लगाया जा सकता है'[2]। यह कार्य उनके अनुसार मनोविश्लेषणशास्त्र द्वारा ही

१. इलाचंद्र जोशी : विवेचना, पृष्ठ ३४।
२. वही : पृष्ठ ५१।

संभव है। जोशीजी अपने को प्रगतिशील (प्रगतिवादी नहीं) समीक्षक कहते हैं, वे काव्य का लक्ष्य मंगलसमन्वित सौंदर्य मानते हैं। इसी सौंदर्य का अन्वेषक जोशीजी का समीक्षक करता है। जोशीजी सौंदर्यान्वेषी समीक्षक हैं, इस चिरंतन मंगलमय सौंदर्य की प्रेरणाओं का अध्ययन करने के लिये ही उन्होंने मनोविश्लेषण शास्त्र का सहारा लिया। जोशीजी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में फ्रायड और एडलर के सिद्धांतों का स्पष्ट उपयोग किया है। वे छायावाद को दमित और अतृप्त भावनाओं का परिणाम मानते हैं, उन कवियों में हीन भावना के दर्शन करते हैं और उनके काव्य को उस भावना की क्षतिपूर्ति के प्रयास के रूप में ही देखते हैं। प्रगतिवाद को भी उन्होंने हीन भावना का परिणाम ही कहा है। जोशीजी में सांप्रदायिक कट्टरता का अभाव है। उन्होंने एक ही लकड़ी से सबको हाँकने की रूढ़िवादिता नहीं अपनाई है। पंत की नवीन रचनाओं के मूल में उन्हें अहम् के विस्फोट के दर्शन होते हैं पर कामायनी को उन्होंने छायावाद का अपवाद कहा है। अतिशयता की कोटि पर पहुँचकर समष्टिवाद और व्यष्टिवाद दोनों ही जोशीजी की दृष्टि में अस्वास्थ्यकर हो जाते हैं। इन्होंने अज्ञेयजी के शेखर के अहम् भाव की तीव्र आलोचना की है[1]। व्यक्तिवादी यथार्थ पर आधारित अज्ञेयजी की रचनाओं में भी इन्हें कई स्थानों में जीवनशक्ति का अभाव लगता है। इससे स्पष्ट है कि उनका दृष्टिकोण सांप्रदायिक आग्रहों से मुक्त है। इनमें सौंदर्यान्वेषी तथा मनोविश्लेषणात्मक समीक्षक के समन्वित रूप के दर्शन होते हैं। मनोविश्लेषणशास्त्रियों में पारस्परिक मतभेद कम तथा अपने सिद्धांतों के प्रति अधिक निष्ठा है।

पर हिंदी समीक्षा के नए परिप्रेक्ष्य में कुछ ऐसा स्पष्ट होता जा रहा है कि मनोविश्लेषणात्मक समीक्षापद्धति के तत्व दूसरी पद्धतियों में विलीन होते जा रहे हैं। वस्तुतः यह चिंताधारा प्रयोगवादी तथा नई समीक्षा द्वारा आत्मसात् कर ली गई है। इससे आज हिंदी के लिये इसे स्वतंत्र समीक्षासंप्रदाय कहना उतना समीचीन नहीं रह गया। इसके प्रधान स्तंभ रहे अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी। अज्ञेय 'नई समीक्षा' के प्रमुख आचार्य हो गए हैं। उस नई समीक्षा में मनोविश्लेषणात्मक चिंतन से प्राप्त तत्व अग्राह्य तो नहीं पर वे मूल आधारभूमि नहीं हैं। जोशीजी समन्वयवाद के पोषक हो गए हैं। मनोविश्लेषणात्मक समीक्षापद्धति कवि के व्यक्तित्व की अंतश्चेतना का काव्य के साथ गहरा संबंध स्थापित कर देती है। यह सिद्धांत स्वयं ही एकांगी है। फिर इसमें सर्जनस्तरों का स्पष्ट विवेचन नहीं हो पाया जिससे उच्च साहित्य को शेष साहित्य से पृथक् किया जा सकता। हिंदीसमीक्षा को इस पद्धति के साहित्यमूल्यों का सैद्धांतिक चिंतन भी बहुत गहराई तक नहीं जा पाया, व्यावहारिक समीक्षा में तो इनका उपयोग और भी सतही रहा है। फिर भी कवि के व्यक्तित्व, उसके

१. इलाचंद्र जोशी : विवेचना, पृष्ठ ६४।

स्वस्थ तथा अस्वस्थ··········के अनुकरण, काव्यवस्तु के चुनाव, प्रतीकविधान आदि को समझने के लिये इस चिंतनपद्धति की हिंदीसमीक्षा को देन अवश्य ही महत्वपूर्ण एवं स्थायी है। इसने हिंदीसमीक्षा के विकासक्रम को प्रगति प्रदान की है।

नई समीक्षा

नई समीक्षा : महायुद्धों से उत्पन्न कठोर जीवनसंघर्ष की चेतना को आत्मसात् करने तथा उसे अभिव्यक्ति देने में छायावादी एवं रहस्यवादी काव्यपद्धतियाँ असमर्थ रहीं। उनकी प्रतिक्रिया में आगी हुई प्रगतिवादी एवं अंतश्चेतनावादी काव्यधाराएँ जीवन के यथार्थ को स्वर देने में प्रवृत्त हुईं और उनमें इसकी कुछ क्षमता भी थी। पर वे अपनी ही सांप्रदायिक मान्यताओं और रूढ़ियों में जकड़ जाने के कारण असली अर्थ में युगबोध को साकार नहीं कर पाईं। मार्क्सवाद अपने पूर्वनिश्चित मार्गों पर जीवन को ढकेलने की कृत्रिमता, सांप्रदायिकता एवं अपनी ही रूढ़िवादिता में फँस जाने के कारण विश्वव्यापी जीवन को तथा प्रधानतः भारतीय जीवन को विकास का सहज मार्ग दिखाने में असमर्थ रहा। अंतश्चेतनावादियों ने भी मानव को कुछ बँधी हुई कुंठाओं से नियंत्रित तथा पूर्वनिश्चित दिशाओं में यंत्रवत् चलनेवाला मानव मान लिया था। इन सबमें सहज, स्वतंत्र, अपने भाग्य के स्वयं निर्मायक, समाज एवं परिवेश की सापेक्षता में निर्मित व्यक्तित्ववाले यथार्थ मानव की उपेक्षा हुई। प्रयोगवाद इसी रूढ़िग्रस्तता से मुक्ति प्राप्त करने की पूर्वपीठिका का और नई कविता एवं नवलेखन इसी का व्यवस्थित प्रयास है। यह नई धारा इस मानव के यथार्थ को कितना अंकित कर पाई है, यह मूल्यांकन का विषय है, पर इसकी मूल आकांक्षा यही है। जैसे छायावादी समीक्षा का सम्यक् मूल्यांकन शुक्लसमीक्षा नहीं कर पाई थी और उसके परिणामस्वरूप नवीन स्वच्छंदतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षाचेतना ने जन्म लिया था, वैसे ही इस नए साहित्य के मूल्यांकन में पूर्ववर्ती समीक्षात्मक प्रणालियाँ कुंठित हो गईं और एक नई समीक्षात्मक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। इस नए साहित्य का मूल्यांकन करने के लिये जो साहित्यचेतना साकार हो रही है, उसी को हम नई समीक्षा के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इसका मूल आधार नवमानवतावाद है। अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद एवं अरविंददर्शन के अतिमानसवाद का इस चेतना के निर्माण पर गहरा प्रभाव है। नई समीक्षात्मक चेतना साहित्येतर मानदंडों के आक्रामक रूपों से मुक्ति चाहती है और साहित्य का विशुद्ध साहित्य के रूप में मूल्यांकन करने की अभिलाषिणी है। इसी लिये यह कलाकार की सर्जनात्मकता तथा उसकी रचनाप्रक्रिया के विश्लेषण पर जोर दे रही है। इस समीक्षा का समीक्षक सौंदर्यबोध के विकासशील रूप में ही साहित्य के शाश्वत मूल्यों को देखना चाहता है। यह समीक्षात्मक चेतना बौद्धिकता को साहित्य का अनिवार्य एवं उत्कृष्ट

तत्व मानकर चलती है। अभी इस समीक्षात्मक चेतना का स्वरूप पूर्णतः संघटित नहीं हो पाया है। अतः इसके इत्थंभूत रूप का निर्वचन भी भविष्य की वस्तु है।

'तारसप्तक' का प्रकाशन सन् १९४३ ई० में हुआ। हिंदी में प्रयोगवादी चेतना का जन्म इसी समय हुआ है। इस समय छायावाद एवं रहस्यवाद के विरोधी स्वर तो काफी प्रबल हो चुके थे, पर तारसप्तक में कतिपय कविसमीक्षकों ने कम्युनिस्ट विचारधाराका भी विरोध प्रारंभ कर दिया था। यह चिंताधारा नई समीक्षा की पूर्व-पीठिका है। 'प्रतीक'पत्रिका (१९४६) के प्रकाशन से नई समीक्षात्मक चेतना कुछ स्पष्ट रूप में साकार होने लगी थी। प्रतीक में आलोचना और पुस्तकसमीक्षा को गंभीरता के साथ ग्रहण करने का प्रयास किया गया। 'गिरती दीवारें', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'कुरुक्षेत्र' पर समीक्षाएँ प्रकाशित हुई।

प्रतीक के बाद आलोचना का प्रकाशन महत्वपूर्ण उपलब्धि है। सन् १९५३ से धर्मवीर भारती तथा उनके सहयोगियों के संपादन में इसका प्रकाशन हुआ। बाद में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, शिवदान सिंह चौहान और आजकल डा० नामवर सिंह इसके संपादक हैं। 'उपन्यास', 'काव्यालोचन' तथा 'स्वातंत्र्योत्तर साहित्य' विशेषांक विशेष उपलब्धियाँ हैं। सन् १९५८ में रामविलास शर्मा के संपादकत्व में 'समालोचक' दो वर्ष तक चला। सन् १९६२ से नगेंद्र के संपादकत्व में 'वार्षिकी' तथा १९६७ से प्रो० देवेंद्रनाथ शर्मा के संपादकत्व में प्रकाशित 'समीक्षा' उल्लेखनीय उपलब्धि है। संमेलन पत्रिका, ना० प्र० पत्रिका, हिंदुस्तानी के अतिरिक्त बालकृष्ण राव के संपादकत्व में 'माध्यम' ने विशेष योग दिया है।

नई कविता (१९५४ ई०) नामक पत्रिका से तो निश्चित रूप से ही यह नई चिंताधारा बन गई थी। उसके बाद से तो अनेक पत्र पत्रिकाओं के परिसंवादों, परिचर्चाओं तथा स्वतंत्र लेखों द्वारा यह धारा पुष्ट हो रही है। अज्ञेय के 'त्रिशंकु' (१९४३), आत्मनेपद (१९६०), हिंदी साहित्य एक परिचय (१९६७), डा० देवराज के साहित्य चिंता (१९५०), साहित्य और संस्कृति (१९५८), प्रति-क्रियाएँ (१९६५), लक्ष्मीकांत वर्मा का 'नई कविता के प्रतिमान' (१९५७), धर्मवीर भारती का 'मानवमूल्य और साहित्य' (१९६० ई०), रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'मध्यलेखन' (१९६० ई०), डॉ० रघुवंश का 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' (१९६३), डॉ० देवीशंकर अवस्थी का 'विवेक के रंग', राजेंद्र यादव का 'दुनिया एक समानांतर (भूमिका भाग) आदि इस धारा की उल्लेखनीय सामग्री है।

इस धारा को सबसे प्रमुख, शक्तिशाली एवं नया मोड़ देनेवाली क्रांतिकारी प्रतिभा अज्ञेय हैं। इनमें सर्जन, मनन एवं चिंतन तीनों का अद्भुत मिश्रण है। ये

मार्क्सवाद को मात्र एकांकी विचारधारा मानते हैं, जीवनदर्शन नहीं। इसके विरोध में उन्होंने मानवतावादी दृष्टि की स्थापना की है। भौतिकता, आध्यात्मिकता, समाजवादी यथार्थवाद सभी की अपेक्षा अज्ञेय मानवीय संवेदनाओं की यथार्थता को महत्व देते हैं, जो इस नए चिंतन की आधारभूमि है। इस प्रकार अज्ञेय इस धारा के प्रमुख आधारस्तंभ हैं। अज्ञेय ने काव्य के विषय एवं वस्तु, परंपरा तथा प्रयोग, श्लील, अश्लील, नैतिकता तथा सौंदर्यबोध, आधुनिकता, अहं के विलय, अस्तित्ववाद, प्रेषणीयता आदि महत्वपूर्ण सैद्धांतिक पक्षों का विवेचन किया है। इस विवेचन पर पाश्चात्य चिंतन का गहरा प्रभाव है, पर अज्ञेय ने उस चिंताधारा को आत्मसात् किया है। उससे उनके संपूर्ण चिंतन पर उनके व्यक्तित्व की मौलिकता की गहरी छाप है।

लक्ष्मीकांत वर्मा ने 'लघुमानव' के अपने लघु परिवेश में यथार्थ अनुभवों को महत्त्व दिया है। उन्होंने मानवजीवन के प्रेम, घृणा, सत्, असत्, क्षुधा, संयम के अंतर्विरोध के अनुभवों की मानवीय संवेदना को साहित्य में सर्वोपरि माना है। इसी आलोक में उन्होंने नए भावबोध को स्पष्ट किया है। लघुमानव के साथ क्षण के महत्त्व को स्वीकृति मिल जाती है। युगचेतना को अनुभव की कटुता, कुरूपता, प्रतारणा आदि सभी की संवेदनीयता स्वीकार करनी पड़ती है। वर्माजी ने नई कविता का मूल्यांकन करते हुए चिंतन के तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया है। धर्मवीर भारती ने मानव की अंतरात्मा, उसकी आंतरिकता, गौरव, विवेक, आत्मान्वेषण तथा आत्मोपलब्धि पर सबसे अधिक जोर दिया है। डॉ० रघुवंश में प्राचीन परंपरा के प्रति भी संमान और प्रेम है। अतः उन्होंने 'रस' आदि प्राचीन सिद्धांतों का नए परिप्रेक्ष्य में पुनर्मूल्यांकन किया है। उनमें इस चिंताधारा की व्यावहारिक समीक्षा को अधिक अभिव्यक्ति मिली है। उनमें समीक्षक की प्रौढ़ता, गंभीरता तथा तटस्थता का अभाव नहीं है। उनके सजग ऐतिहासिक समीक्षक ने भारतेंदु से लेकर प्रयोगवाद एवं नई कविता तक के विकास का अच्छा विश्लेषण किया है, जिसे हम किसी वाद के आग्रहों से प्रायः मुक्त कह सकते हैं। उनके निष्कर्ष नई चेतना के अनुरूप हैं, पर अधिक तर्कसंगत हैं। छायावाद में आधुनिक भावबोध एवं सौंदर्यबोध की क्षमता तथा प्रगतिवाद के रूढ़ एवं एकांगी मानदंड में अतीत के साहित्य के समुचित मूल्यांकन की संभावना का निषेध इस नई चेतना से सामंजस्य रखता हुआ भी एक प्रकार से पुष्ट तर्कों पर आधारित कहा जा सकता है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस चेतना का कई दृष्टियों से विश्लेषण किया है और अंग्रेजी साहित्य के 'न्यू राइटिंग' के आंदोलन से हिंदी नवलेखन को भी संबद्ध कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने पाश्चात्य चिंतन के आलोक में इसके मानदंडों, प्रवृत्तियों आदि का विश्लेषण किया है। इसको उन्होंने व्यापक आंदोलन के रूप में देखा है जिसका साहित्य की सभी विधाओं से संबंध है। आपके अन्य उल्लेखनीय ग्रंथ हैं—'भाषा और संवेदना, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या।' डॉ० जगदीश गुप्त ने 'अर्थलय' के सिद्धांत पर सबसे अधिक जोर दिया

है। 'लघुमानव' के प्रत्यय के आलोक में आधुनिक संपूर्ण काव्यसाहित्य का परीक्षण भी हुआ है। उन्होंने रसानुभूति के साथ ही सहग्रनुभूति की भी स्थिति मानी है। यही नहीं अकविता आदि के विषय में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। वास्तव में इनके द्वारा प्रस्तुत प्रत्यय अपने आप में बहुत स्पष्ट नहीं हैं। अंग्रेजी साहित्य और समीक्षा के गंभीर ज्ञान के कारण विजयदेवनारायण साही का समीक्षक प्रौढ़ रूप में उभरा है। वे साहित्य को अखंड इकाई मानकर हिंदी साहित्य के दशकों एवं युगों की समीक्षा करते हैं।

नई चेतना पर दूसरी धारा के समीक्षकों ने भी पर्याप्त विचार किया है। उनका दृष्टिकोण प्रायः सहानुभूतिशून्य एवं खंडनात्मक ही अधिक कहा जा सकता है। पंत, स्वर्गीय वाजपेयी और नगेंद्र का विवेचन प्रयोगवाद तक ही सीमित रहा है। प्रयोगवाद तो नई कविता की पूर्वपीठिका मात्र प्रस्तुत करता है। पंतजी का विवेचन अत्यंत गंभीर एवं तात्त्विक है। बालकृष्ण राव ने इस नई धारा पर अत्यंत सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है। उनका प्रतिपादन भी अत्यंत प्रौढ़ है। धीरे धीरे यह नई चिंताधारा हिंदी चिंतकों का ध्यान आकृष्ट कर रही है और उसे सहानुभूति भी मिल रही है। यह हिंदी साहित्य की नवीन उपलब्धि का आभास दे रही है। ये साहित्य के साथ ही जीवन के समीक्षक हैं, इससे वे इतिहास, संस्कृति, मानवशास्त्र के प्रबुद्ध अध्येता भी हैं। एक विशेष विचारधारा के प्रति आकृष्ट होते हुए भी इनकी समीक्षा में आग्रह नहीं है।

मुक्त प्रयास

ऊपर हमने संप्रदायों में बँटी हुई तथा हिंदीसमीक्षा की मूल विकासशील समीक्षाचेतना पर विचार किया है। पर संप्रदायों के आग्रहों से मुक्त तथा सभी स्रोतों से उपयोगी तत्त्व ग्रहण करनेवाली समीक्षाचेतना भी आज हिंदी में विद्यमान है। इस चेतना के कई रूप हैं तथा एक रूप का एक समीक्षासंप्रदाय से अन्य की अपेक्षा अधिक निकट का संबंध भी माना जा सकता है। सभी संप्रदायों के कुछ समीक्षकों में समन्वय की आकांक्षा है, जिनका हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं। उन सबकी ही समीक्षाएँ इस मुक्त धारा को पुष्ट कर रही हैं। इस प्रकार समन्वयवादी चेतना के विकास में इन मुक्त प्रयासों का भी महत्त्वपूर्ण सहयोग है। डा० देवराज की समीक्षा में सौष्ठववादी समीक्षा से अधिक तत्त्व ग्रहण करने तथा उसी को समन्वय का मूल आधार बनानेवाली मुक्त पद्धति के दर्शन होते हैं। 'छायावाद का पतन', 'साहित्य चिंता', 'आधुनिक समीक्षा' और 'प्रतिक्रियाएँ' नामक उनकी रचनाएँ सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा के प्रौढ़ प्रयास हैं। इन प्रयासों को हम संप्रदायों के बंधनों से मुक्त तथा स्वच्छंद कह सकते हैं। इनमें गंभीर चिंतन का आधार सांस्कृतिक है। डा० देवराज सांस्कृतिक बोध को साहित्य के मूल्यांकन का मूल आधार बनाना चाहते हैं, पर अभी यह चिंतन स्पष्ट एवं प्रौढ़ आधार पर स्थापित नहीं कहा जा सकता है।

प्रभाकर माचवे, नलिनविलोचन शर्मा, इंद्रनाथ मदान आदि अनेक आधुनिक समीक्षक मुक्तधारा के विकास के लिये प्रयासशील कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी का शोधकार्य भी विकासोन्मुख है। उसमें भी अनेक दृष्टिकोणों, पद्धतियों एवं शैलियों का प्रयोग हो रहा है।

लोकतात्विक अध्ययन

साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन भी इस काल की समीक्षा का विशेष रूप है। लोकजीवन एवं लोकसंस्कृति किस प्रकार साहित्य में रूपायित होते हैं? विभिन्न काव्यधाराओं, एवं ग्रंथों के विषय, अभिव्यंजना और शैली को लोकजीवन ने कैसे प्रभावित किया है? आदि अनेक प्रश्नों पर इस पद्धति में गंभीर विवेचन हुआ है। इससे जनपदीय एवं सामासिक संस्कृति तथा साहित्यके पारस्परिक संबंध पर अच्छा प्रकाश पड़ रहा है। डा० कन्हैयालाल सहल, डा० सत्येंद्र, डा० कृष्णदेव उपाध्याय, इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। 'राजस्थानी कहावतों की गवेषणा और वैज्ञानिक अध्ययन', 'ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन', 'मैथिली लोकगीतों का अध्ययन', 'हिंदी उपन्यासों में लोकतत्व', 'मध्यकालीन काव्य में लोकतत्व' आदि इस पद्धति के कतिपय प्रमुख ग्रंथ हैं। डा० सत्येंद्र का ग्रंथ 'लोकसाहित्य विज्ञान' इस दिशा में मानदंड प्रस्तुत करता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समीक्षा के क्षेत्र में डा० सत्येंद्र शुक्ल-युग से ही आ चुके थे, 'गुप्तजी कला', 'प्रेमचंद की कहानी कला', 'मृगनयनी', 'सूर की झाँकी' आपके उल्लेख ग्रंथ हैं।

पाठालोचन

टीकापद्धति अत्यंत प्राचीन समीक्षाशैली है। इसमें पाठांतरों तथा शुद्ध पाठों पर विचार होता था। पाठालोचन के रूप में इसने नया रूप धारण किया है। आधुनिक कला में ग्रंथ की अंतरंग एवं बहिरंग परीक्षा से इसके प्रौढ़ एवं वैज्ञानिक स्वरूप का विकास हो रहा है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा डा० माताप्रसाद गुप्त का कार्य इस दिशा में अग्रणी है। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त तथा डा० पारसनाथ तिवारी भी इस दिशा में संलग्न हैं। 'रामचरितमानस', 'पृथ्वीराज रासो', 'जायसी ग्रंथावली', कबीर, सूर, बिहारी आदि के प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करनेके स्तुत्य प्रयास हुए हैं और हो रहे हैं। इस काल में टीकापद्धति की समीक्षाएँ भी हो रही हैं। वासुदेवशरण अग्रवाल की 'पदमावत' की टीका इसी पद्धति का उल्लेखनीय ग्रंथ है। वियोगी हरि की 'विनयपत्रिका' की टीका अत्यंत प्रौढ़, गंभीर एवं प्रामाणिक है।

आधुनिक काव्यशास्त्र

ऊपर हमने हिंदी की समीक्षात्मक चेतना के विकासशील रूप के दिग्दर्शन कराए हैं। इसमें समीक्षा के व्यावहारिक, सैद्धांतिक एवं साहित्यदर्शन तीनों ही रूपों का अंतर्भाव है। इससे विषय के वैज्ञानिक प्रतिपादन के लिये तीनों पर यथोचित

विचार हुआ है। साहित्यदर्शन अथवा साहित्य संबंधी मूल धारणा ही सिद्धांतों एवं मानों में साकार होती हुई व्यावहारिक समीक्षा को स्वरूप प्रदान करती है। वही साहित्यदर्शन सर्जनात्मक साहित्य के स्वरूपनिर्माण का भी प्रमुख विधायक तत्त्व है। एक युग के साहित्य का दूसरे युग के साहित्य से जो भेद होता है उसमें साहित्यदर्शन के स्वरूप का भी कम महत्वपूर्ण योग नहीं कहा जा सकता है। ऊपर हमने इतिवृत्तात्मक काल से लेकर आधुनिक काल तक के साहित्य को मूल में रहकर स्वरूप प्रदान करनेवाली साहित्यदर्शन की इस प्रेरकशक्ति के विकासशील रूप का निरूपण भी किया है। विभिन्न कलाकृतियों की भूमिकाओं के रूप में कलाकार समीक्षकों ने जो चिंतन दिया है वह इस विकासशील साहित्यदर्शन का प्रधान स्रोत है। उसी ने हिंदी की संपूर्ण समीक्षा को भी दिशा प्रदान की है। इस साहित्यदर्शन के साथ ही तथा व्यावहारिक समीक्षा के प्रतिपादन पर प्रधान दृष्टि रखते हुए हमने समीक्षा के सैद्धांतिक पक्ष का भी पर्याप्त विवेचन कर दिया है। इन तीनों की समवेत धारा ही प्रायः चलती है। पर विश्लेषण तथा प्रतिपादन की सुविधा के लिये इन तीनों के पृथक्, पृथक् रूपों का विवेचन भी आवश्यक है। ऊपर हम साहित्यदर्शन तथा व्यावहारिक समीक्षा का विशद विवेचन कर चुके हैं। यहाँपर हमे हिंदी के आधुनिक साहित्यशास्त्र का विवेचन करना है। एक तरह हिंदी को संस्कृतसाहित्य से अत्यंत प्रौढ़, उदार, उन्नत एवं सर्वांगीण साहित्यशास्त्र की परंपरा विरासत में प्राप्त हुई है। दूसरी तरफ आधुनिक काल में हिंदी ने पाश्चात्य चिंतन से भी मुक्तहृदय होकर ग्रहण किया है। इन दोनों परंपराओं का वैज्ञानिक विश्लेषण करके आज का हिंदी चिंतक इनमें समन्वय स्थापित करता हुआ किसी सार्वभौम साहित्यशास्त्र की रूपरेखा तैयार करने का इच्छुक है। इस प्रकार हम आज की हिंदी में साहित्यशास्त्र की तीन धाराएँ मान सकते हैं—(१) भारतीय साहित्यशास्त्र की, (२) पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की और (३) समन्वयवादी। आलोच्यकाल में साहित्यशास्त्र की उक्त तीनों धाराओं की पुष्टि निबंधों तथा स्वतंत्र ग्रंथों से हो रही है। विचारस्वातंत्र्य एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति इस युग की प्रधान चेतना है। समन्वयवादी साहित्यशास्त्र की तो यह चेतना मूल आधार ही है। पर भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यसिद्धांतों के प्रतिपादन एवं विश्लेषण में भी इस चेतना को अपनाया गया है। इससे इन धाराओं के ग्रंथ भी सर्वथा उधार ली हुई सामग्री मात्र नहीं अपितु इनमें भी प्रायः मौलिक चिंतन का पुट है। भारतीय तत्त्वों की उपादेयता के परख की कसौटी भी आज का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है तथा पाश्चात्य तत्वों की परख इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त भारतीय साहित्यशास्त्र की मूलभूत चेतना से प्राप्त रस, औचित्य, ध्वनि आदि से भी की गई है। इस प्रकार हिंदी अपने साहित्यशास्त्र के निर्माण की ओर अभिमुख है। शुक्लजी, प्रसाद, पंत, हजारी-प्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, अज्ञेय आदि अनेकों का शास्त्रचिंतन इसी के लिये प्रयत्नशील रहा है और आज भी है। शुक्लजी की 'रस मीमांसा', प्रसादजी के

'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पंतजी की भूमिकाएँ, द्विवेदीजी की 'साहित्य मीमांसा' वाजपेयीजी के निबंध, अज्ञेयजी का सौंदर्यबोध, नगेंद्रजी का रससिद्धांत आदि हिंदी के काव्यशास्त्र के निर्माण के प्रौढ़ प्रयास तथा विभिन्न स्तरों का उपलब्धियाँ हैं। भारतीय साहित्यशास्त्रवाली धारा के शुक्लपूर्व युग में अनेक ग्रंथ लिखे गए थे, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', हरिऔधजी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार आदि के ग्रंथ इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण रहे। पर इनका दृष्टिकोण बहुत कुछ रीतिकालीन विवेचन का प्रक्षेपण मात्र ही रहा। शुक्लयुग में आगे प्रयासों के स्वर बदले हैं। उसमें मनोवैज्ञानिक, सौंदर्यशास्त्र, इतिहास, विज्ञान या समाजशास्त्र आदि से प्राप्त तत्वों का भी उपयोग होने लगा है। 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'रसगंगाधर' 'ध्वन्यालोक', 'अभिनवभारती', 'औचित्य विचार चर्चा', 'दशरूपक', 'नाटयशास्त्र' आदि ग्रंथों के अनुवाद भी हुए तथा उनपर आधुनिक ढंग के भाष्य भी लिखे गए। अनुवादकों तथा भाष्यकारों में शालिग्राम शास्त्रीजी, आचार्य विश्वेश्वर, सत्यव्रत सिंह, जवाहरलाल चतुर्वेदी आदि ने उल्लेखनीय काम किए हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास तथा उसके विभिन्न तत्वों पर इस युग में कतिपय प्रौढ़ ग्रंथ प्रकाश में आए हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का संस्कृत साहित्यशास्त्र का इतिहास (दो भाग), बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खंड), विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'वाङ्मय विमर्श, रामदहिन मिश्र के 'काव्यदर्पण', 'काव्यप्रदीप' आदि, श्यामसुंदरदासजी का 'रूपक-रहस्य', डा० रसाल का 'अलंकार पीयूष', नगेंद्र का 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' आदि उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों का मूल आधार तो भारतीय सिद्धांत है, पर इनमें समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र परंपरा के रूप में सेंट्सबरी के 'लोकाई क्रिटिकाई' के ढंग का ग्रंथ भी इस परंपरा में आया। डा० नगेंद्र की 'रीतिकाल की भूमिका', डा० राकेश गुप्त के 'नायक नायिका भेद', डा० आनंदप्रकाश दीक्षित के 'रसस्वरूप : सिद्धांत और विश्लेषण', डा० राममूर्ति त्रिपाठी के 'लक्षणा का विषय विस्तार', डा० प्रेमस्वरूप गुप्त के 'रसगंगाधर का शास्त्रीय विवेचन' आदि ग्रंथों में इसी धारा के साहित्यशास्त्र का प्रतिपादन है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इस युग के हिंदीचिंतन पर बहुत गहरा प्रभाव है। विवेचन की विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक शैली प्रदान करने का अधिकांश श्रेय तो इसी परंपरा को है। पर यह परंपरा हिंदी साहित्यशास्त्र की मूल प्रकृति के इतनी अनुकूल नहीं कि इसको यथावत् रूप में पूर्णतया आत्मसात् किया जा सकता। 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', लांजिनस का 'दि सबलाइम' होरेस का 'आर्सपोएतिका' के हिंदी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। उनपर परिचयात्मक तथा विश्लेषणात्मक भूमिकाएँ भी लिखी गई हैं। 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' में पश्चिम के प्रमुख आचार्यों के साहित्यसंबंधी मतों को मूल से अनूदित किया गया। डा० नगेंद्र ने इस दिशा में विशेष प्रयास किया। देवराज उपाध्याय ने रोमांटिक साहित्यशास्त्र में

स्वच्छंदतावादी कविचिंतकों के सिद्धांतों का विश्लेषणात्मक परिचय दिया है। 'आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' उल्लेखनीय कृति है। अनेक व्यक्तियों के द्वारा हीगल क्रोचे, मार्क्स, टी० एस० इलियट, रिचर्ड्स आदि के काव्यसिद्धांतों का भी विवेचन हुआ। पाश्चात्य समीक्षा के स्वरूप, सिद्धांत, शैली तथा इतिहास पर भी कई निबंध और पुस्तकें लिखी गई हैं। नंददुलारे वाजपेयी, केसरी नारायण शुक्ल, रामअवध द्विवेदी, लीलाधर गुप्त, विजयदेवनारायण साही, डा० सावित्री सिन्हा, प्रो० देवेंद्रनाथ शर्मा, डा० शंभुदत्त झा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पाश्चात्य आलोचना तथा काव्य-सिद्धांतों की ओर इस युग में अभिरुचि धीरे धीरे बढ़ रही है। यही कारण है कि पश्चिम के साहित्यचिंतन की अधुनातन प्रवृत्तियों से आज का हिंदीचिंतक केवल परिचित ही नहीं रहना चाहता अपितु उससे पुष्कल मात्रा में ग्रहण भी करता है; यद्यपि उसे पचा कम पा रहा है। आज पश्चिमी कला, साहित्यसमीक्षा और सौंदर्य-शास्त्र के यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, प्रकृतवाद, रूपवाद आदि अनेक वादों की मुक्त परिचर्चा हिंदी क्षेत्र में होती है। इन वादों ने हिंदी के सर्जन एवं भावन दोनों ही क्षेत्रों को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित भी किया है, यह ऊपर के विवेचन से पूर्णतया स्पष्ट हो गया है। पश्चिम में साहित्यशास्त्र के सिद्धांत को वैज्ञानिक पद्धति से विज्ञान के तत्वों के समानांतर रखकर समझने के प्रयास हो रहे हैं। इससे साहित्य पर नया प्रकाश पड़ रहा है, उसके नए तत्व उद्भासित हो रहे हैं। कला के रूप को 'मैकनिज्म' से भिन्न बताते हुए उसकी ऑरगैनिज्म से समानता सिद्ध करने से साहित्य की अंतर्हित शक्ति एवं प्रकृति के नए तत्व प्रकट होते है। साहित्य जीवित वस्तु सा चेतन प्रतीत होने लगा है। यह चिंतन की नवीन प्रगति है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र का यह क्रम भी हिंदी में आ रहा है। पर दूसरी तरफ कुछ अंशों में अनुकरण की जड़ता के कारण हिंदी का चिंतन साहित्यविज्ञान के नाम से साहित्य पर विज्ञान की थेगली ही लगा पा रहा है। शक्ति, आकर्षण, द्रव्य, प्रक्रिया आदि नामो के प्रयोग मात्र से साहित्य का वैज्ञानिक रूप नही हो जाता है। परंपरा से प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के स्थान पर इन नवीन शब्दों का प्रयोग गंभीर चिंतन और इनके स्वरूप तथा इनकी नवीन दिशा प्रदान करने की क्षमता एवं औचित्य के साक्षात्कार की अपेक्षा रखता है। साहित्य का विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति से किया जाना चाहिए पर उसके शास्त्र को विज्ञान बना देने का आग्रह केवल नवीनता का मोह मात्र है। साहित्य का विवेचन दर्शन और शास्त्र दोनों दृष्टियों से हो सकता है, केवल पद्धति वैज्ञानिक अपनाई जा सकती है और अपनाई जानी चाहिए।

काव्यशास्त्र की तीसरी धारा समन्वयवादी है। यही आधुनिक काल की मूल धारा है। शेष दो धाराओं में भी वस्तुतः यही व्याप्त है। उनका चिंतन भी इसी की पुष्टि कर रहा है। इसका सूत्रपात भारतेंदुजी की 'नाटक' नामक रचना से ही हो गया था। श्यामसुंदरदासजी के 'साहित्यालोचन', बख्शीजी के 'विश्वसाहित्य' जैसे

ग्रंथों में आलोच्यकाल पूर्व ही इस धारा को प्रारंभिक स्वरूप प्रदान कर दिया था। शुक्लजी की 'चिंतामणि' के निबंधों, और 'रसमीमांसा', प्रसादजी के 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पंत, महादेवी, वाजपेयी, नगेंद्र, द्विवेदी आदि की भूमिकाओं, निबंधों तथा ग्रंथों में काव्यशास्त्र की यह धारा आलोच्यकाल में विकसित और पल्लवित हो रही है। इसी में हिंदी काव्यशास्त्र की मूल आधारभूमि तैयार हो रही है। काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, हेतु, अभिव्यक्ति, अंग उपांग, सभी तत्वों के विश्लेषण एवं प्रतिपादन में भारतीय और पाश्चात्य चिंतनों का समन्वय तथा मौलिक उद्भावनाएँ इस धारा की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इसके मूलभूत तत्त्व भारतीय हैं। रस,ध्वनि, औचित्य आदि ही वह कसौटी है जिसपर कसकर विदेशी तत्त्व ग्रहण किए जाते हैं। उन्हीं के नए आयाम विकसित हो रहे हैं। इस प्रकार धारा का मूल स्वर भारतीय है। शुक्लजी का चिंतन तो इसकी मूल आधारभूमि ही है। वह तो उस शक्ति का द्योतक है जिसमें पाश्चात्य तत्त्वों को ग्रहण, त्याग, अथवा आत्मसात् करने की क्षमता है। सौष्ठववादी चिंतकों ने भी इसी को रूढ़िमुक्त करके शक्ति प्रदान की है। परवर्ती काल के मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणशास्त्री, नई समीक्षा के कर्णधार अज्ञेयजी आदि भी काव्यशास्त्र की प्रकारांतर से इसी मूल चेतना को पुष्ट कर रहे हैं। उनके चिंतन के जितने तत्त्व भारतीय चेतना के अनुरूप हैं, वे इस धारा में आत्मसात् हो रहे हैं। 'रस' की नई व्याख्या जिस सीमा तक अभारतीय नहीं हुई हैं मान्य होती जा रही हैं। मार्क्सवाद का समाजमंगल भी शुक्लजी के लोकमंगल, पंतजी के भौतिक एवं आध्यात्मिक मंगल के समन्वित रूप, द्विवेदीजी के मानवतावाद आदि में आत्मसात् होकर इन्हीं के साथ हिंदी काव्यशास्त्र के स्वरूप का विधायक तत्त्व बन रहा है। व्यक्ति के अहं के महत्तर अहं में विलय आदि की धारणा भी भारतीय रंग में रँगकर इस धारा को पुष्ट कर रही है; साधारणीकरण को नया अर्थ दे रही है। लक्ष्मीनारायण सुधांशु के 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्त्व और काव्य' के सिद्धांत, गुलाबरायजी के 'सिद्धांत और अध्ययन' एवं 'काव्य के रूप', रामअवध द्विवेदी के 'साहित्य सिद्धांत' और 'साहित्य रूप', वाजपेयीजी तथा द्विवेदीजी के सैद्धांतिक निबंध, नगेंद्रजी का 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' व 'रस सिद्धांत' आदि इसी समन्वयवादी काव्य-शास्त्र के निर्माण में सहायक हो रहे हैं।

साहित्यशास्त्र का संस्कृति से संबंध है, अतः प्रत्येक संस्कृति का अपना स्वतंत्र साहित्यशास्त्र होता है, यह सिद्धांत मान्य है। पर प्रत्येक साहित्यिक भाषा का भी अपना कोई पृथक् साहित्यशास्त्र होना ही चाहिए, यह विवादास्पद है। भारतीय संस्कृति के अनुरूप भारत का अपना प्राचीन साहित्यशास्त्र है। आधुनिक काल का एक स्वतंत्र भारतीय साहित्यशास्त्र भी बन रहा है। समन्वय उसका आधार है। हिंदी भी उसमें सहयोग दे रही है। हिंदी के अपने स्वतंत्र सर्वांगीण साहित्यशास्त्र की बात अभी भविष्य के गर्भ में है, पर उसकी कुछ मोटी रूपरेखा बन रही है। आधुनिक

काल के प्रारंभ से अबतक हिंदी साहित्य की मूलचेतना निरंतर विकासशील रही है। इस विकासशील साहित्यचेतना और साहित्यदर्शन ने अपने विकास के विभिन्न स्तरों पर मोटे तौर से साहित्यशास्त्र के कुछ रूप दिए हैं। इतिवृत्तात्मक, स्वच्छंद मार्क्सवादी, सांस्कृतिक एवं समाजवादी लोकचेतनावाले, तथा मानववादी आदि दृष्टिकोण हिंदी के साहित्यशास्त्र के स्वरूप के क्रमिक निर्माण के लिये उत्तरदायी हैं।

उपलब्धि और अभाव

हिंदी की व्यावहारिक समीक्षा का इतिहास कोई बहुत लंबा नहीं है, पर उसकी उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण हैं। उसने एक निश्चित तथा सुदृढ़ भूमि तैयार कर ली है। प्राचीन साहित्यसिद्धांतों के गंभीर अध्ययन, पाश्चात्य चिंतन के आलोक तथा आज के जीवन के नवीन परिवेश में उनके पुनर्मूल्यांकन के परिणामस्वरूप हिंदी के पास अपना एक मानदंड भी है। उसका सर्वसामान्य तथा मूल आधारभूत तत्व तो रस ही है। आज की रससंबंधी धारणा में पाश्चात्य तत्वों का आकलन भी हो गया है। रस का स्वरूप आज उसकी मध्यकालीन धारणाओं की अपेक्षा कहीं अधिक उदार व्यापक एवं रूढ़िमुक्त हो गया है। संपूर्ण प्रकार के काव्यानंदों तथा परिश्रम से गृहीत भावसंवेदन के तत्वों के अंतर्भाव की उसकी क्षमता को पहचाना जाने लगा है। रस का मूल आधार मानवता की उच्च भूमि है, अतः वह सहज मंगलमय है। यही कारण है कि साहित्य के आधुनिक मूल्यवादी दृष्टिकोण का उसके स्वरूप से अंतर्विरोध नहीं अपितु सामंजस्य है। कविता द्वारा व्यक्ति के अहं के विलयन, बृहत्तर इकाई में विलयन, का अज्ञेय का सिद्धांत भी रसप्रक्रिया का एक तत्व ही है। इस प्रकार आधुनिकमत सैद्धांतिक मान्यताएँ प्रकारांतर से रससिद्धांत की अंतर्हित शक्तियों को उद्घाटित कर रही हैं। साहित्य के मूल्यांकन की आज की विशुद्ध काव्यात्मक दृष्टि का आधारभूत सिद्धांत भी मूलतः रस ही है। रस ही वह कसौटी है जिसपर कसकर साहित्य के सभी सिद्धांतों की उपादेयता और अनुपादेयता को परखा जा सकता है, हिंदी में यह धारणा बन रही है। पर हिंदी 'रस' के सार्वदेशिक मानदंड के उपयुक्त रूप की पूर्ण प्रतिष्ठा में सफल हो गई है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। उसकी तो अभी आकांक्षा भर ही है। प्रयोगवादी और प्रगतिवादियों ने उसके समक्ष साहित्य के बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न भी उपस्थिति कर रखे हैं। उनके समाधान से 'रस'-सिद्धांत में और भी व्यापकता आ जाएगी। रस की शीलविकास और नैतिक प्रभाव की क्षमता के सिद्धांत ने उसको काव्य के मूल्यवादी दृष्टिकोण का भी प्रधान आधार बना दिया है। भारत में सर्जनात्मक समीक्षापद्धति का आधार भी अंततोगत्वा 'रस' ही होगा।

इस विशुद्ध काव्यदृष्टि के अतिरिक्त हिंदी में कुछ ऐसे मानदंडों का भी उपयोग हो रहा है, जिन्हें हम कुछ हद तक काव्येतर कह सकते हैं। मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणशास्त्र,

इतिहास तथा मानवतावाद के दृष्टिकोण ऐसे ही हैं। इनमें साहित्य की प्रधानतः बुद्धित्व की दृष्टि से समीक्षा होती है। साहित्य के व्यावर्तक तत्व भाव और रूप की स्थिति बहुत कुछ गौण हो जाती है। साहित्य विज्ञान आदि वाङ्मय की सभी शाखाओं के इन दृष्टियों से किए गए मूल्यांकन के स्वरूप में बहुत मौलिक अंतर नहीं रह जाता। इससे इन मूल्यों को साहित्येतर मानने में कुछ अत्युक्ति नहीं है। पर इन संप्रदायों की देन भी हिंदी के लिये कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन्हीं के कारण साहित्य की युगसापेक्षता, जीवन की विभिन्न प्रकार की उपादेयताओं की दृष्टि से साहित्य के मूल्यांकन, व्यक्ति के स्वभाव, चरित तथा अंतश्चेतना से साहित्य के घनिष्ठ संबंध के सिद्धांत आज के मानदंड के अंश बन गए हैं। इन्होंने रस के सार्वदेशिक रूप की प्रतिष्ठा में परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप से सहयोग भी दिया है। वैसे हिंदी के विभिन्न समीक्षा-संप्रदायों में पारस्परिक अंतर्विरोध है, इससे हिंदीसमीक्षा में गत्यवरोध भी है। पर इनमें समन्वय की आकांक्षा भी धीरे धीरे प्रबल रूप से जाग रही है। नंददुलारे वाजपेयी, शिवदान सिंह चौहान, एक दूसरे के दृष्टिकोणों को सहानुभूतिपूर्वक समझने के इच्छुक रहे। अन्य संप्रदायवाले भी समन्वय के लिये प्रयत्नशील हैं।

हिंदी में अनेक समीक्षासंप्रदाय बन गए हैं। कई शैलियों का विकास हो गया है। ऊपर हम इनका विशद विवेचन कर चुके हैं। अभी नए संप्रदाय और बन रहे हैं, नई शैलियाँ जन्म ले रही हैं। नई समीक्षा पद्धति ने अपना स्वरूप संघटित कर लिया है। सर्जनात्मक, प्रभावाभिव्यंजक, विश्लेषणात्मक आदि पद्धतियों के आधुनिकतम रूप की ओर हिंदी के समीक्षक का ध्यान तेजी से जा रहा है। पुरानी शैलियों को भी वह विकसित करके प्रौढ़ रूप देना चाहता है। वस्तुतः हिंदी में समीक्षा की चेतना जाग गई है। कई दिशाओं में कार्य हो रहा है। विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान कार्य चल रहे हैं। साहित्य का अनेक दृष्टियों से अध्ययन हो रहा है। हिंदी के पास अपनी समीक्षाशैलियाँ भी हैं। आज का समीक्षक कलाकृति के परिवेष्टन, कलाकार के व्यक्तित्व और चरित, कलाकृति के वस्तुविन्यास, रूपतत्व, भावसंवेदन तथा कलाकृति के प्रभाव का विभिन्न दृष्टियों से मूल्यांकन करता है। हिंदीसमीक्षा के क्षेत्र में सांप्रदायिक मान्यताओं में मतभेद होते हुए भी उसकी शैली में एक ही साथ ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक, चरितमूलक, शास्त्रीय आदि कई शैलियों के तत्वों का मिश्रण है। ये तत्व आज हिंदी की समीक्षाशैली के स्थायी तत्व हैं। यह मिश्रण समन्वय का रूप धारण नहीं कर पाया है। समन्वयवादी संप्रदाय का विकास भविष्य में शैली के भी नवीन समन्वित रूप की उद्भावना कर लेगा, ऐसी आशा है।

हिंदीसमीक्षा की सीमाएँ

समीक्षासंप्रदायों के सैद्धांतिक आधार व्यापक एवं प्रौढ़ हैं, पर व्यावहारिक क्षेत्र में अनेक रूढ़, संकुचित, स्थूल एवं पूर्वाग्रहों से ग्रसित रूप के ही दर्शन होते हैं।

अभी हिंदी में उच्चस्तरीय तथा तलस्पर्शी समीक्षाओं की विरलता है। जीवन की उदात्तता एवं विराटता की दृष्टि से समीक्षकों ने साहित्य का मूल्यांकन नहीं किया है। अभी हिंदी का समीक्षक स्थायी मूल्यों की उदार दृष्टि से मूल्यांकन करने का अभ्यासी नहीं हो पाया है। भावसंवेदनाओं की मर्मस्पर्शिता का साक्षात्कार करानेवाली तथा उनके सूक्ष्मतम प्रकारों के स्वरूप एवं पारस्परिक अंतर के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का दुष्काल ही है। साहित्य और परिवेष्टन में सजीव संबंध दिखानेवाली समीक्षाएँ भी विरल ही हैं। उपन्यास आदि विविध विधाओं पर आजकल काफी समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं। शिलीमुख, जगन्नाथप्रसाद शर्मा, दशरथ ओझा, विजयेंद्र स्नातक, कन्हैयालाल सहल आदि ने साहित्य की विभिन्न विधाओंके अध्ययन किए हैं, इनमें विधाओं के तत्वों के आधार पर थोड़ा बहुत विश्लेषण भी हुआ है। कहानी पर डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, भालचंद्र गोस्वामी, लक्ष्मीनारायण लाल के उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। नाटक और रंगमंच पर पर्याप्त सामग्री है जिनमें से डा० सुरेश अवस्थी, बलवंत गार्गी तथा जगदीशचंद्र माथुर की कृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। 'रेखाचित्र' डा० हरबंसलाल शर्मा तथा भाटिया का ग्रंथ है। उपन्यास पर भी अनेक ग्रंथ हैं। किसी कलाकृति की नाटकीयता, औपन्यासिकता, कहानीतत्व आदि के वास्तविक स्वरूप तथा उनके उपभेदों का साक्षात्कार करानेवाला संवेदनामय विश्लेषण इस दृष्टि से उनकी सफलता का मूल्यांकन एवं उनके कलागत स्तरों का निर्देश करनेवाली समीक्षाएँ धीरे धीरे आ रही हैं। सौंदर्यवादी दृष्टि से डा० रमेश कुंतलमेघ, डा० कुमार विमल के ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं। कलाकार की शिल्पविधि की विशिष्टता, दो कलाकारों की शिल्पविधियों के सूक्ष्म अंतर तथा शिल्पविधि के क्रमिक विकास को स्पष्ट करनेवाली प्रौढ़ समीक्षाओं का अभी अभाव ही है। विषयवस्तु और कलाकार के व्यक्तित्व के साथ विधाओं का अभिन्न संबंध स्थापित करके तदनुरूप उनके स्वरूप एवं कलात्मक सौष्ठव का मूल्यांकन करनेवाली उत्कृष्ट रूपात्मक समीक्षाओं के अभी दर्शन नहीं होते हैं। हिंदीसमीक्षा अभी परिचयात्मक कोटि एवं वर्णनात्मक शैली की समीक्षा से आगे बढ़ी है। उसमें अनुभूति, सर्जन तथा प्रभाव के स्तरों की गहराई एवं उच्चता का मूल्यांकन करनेवाली समीक्षाओं का अभाव है। हिंदीसमीक्षक को सिद्धांतों और शैलियों का ज्ञान है वह उनका आरोप अपनी आलोच्य रचनाओं पर करता है। पर उसमें कलाकृति से झंकृत होकर तदनुरूप संगीत की सृष्टि की भावात्मकता तथा जीवन एवं साहित्य को पथनिर्देश करने की प्रौढ़ बौद्धिकता की विरलता ही है।

हिंदीसमीक्षा में अभावों का जो दर्शन कराया गया है उससे निराशापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना उचित न होगा। हिंदी में समीक्षात्मक चेतना है। जिस साहित्य में आत्मालोचन की विशालता एवं क्षमता होती है उसकी समीक्षा का भविष्य उज्ज्वल ही होता है। हिंदीसमीक्षा के गर्भ में भी भविष्य की उज्ज्वल आशाएँ हैं।

●

षष्ठ खंड

विविध विधाएँ

लेखक

डा० कैलाशचंद्र भाटिया
डा० रवींद्र भ्रमर
डा० विश्वनाथ शुक्ल
डा० सुरेंद्र माथुर

प्रथम अध्याय

रेखाचित्र

ललित गद्य के अंतर्गत अनेक नवीन विधाओं का विकास हुआ है—कहानी, जीवनी, गद्यकाव्य, ललित निबंध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि। रेखाचित्र तथा रिपोर्ताज अपेक्षाकृत नवीन विधाएँ हैं जिनका विकास निबंध और कहानी के बाद हुआ है। आधुनिक जीवन की परिस्थिति एवं व्यस्तता ने साहित्यकारों को इस नवीन विधा या उसके स्वरूप को अपनाने की प्रेरणा दी है। सामाजिक परिस्थितियाँ किसी विशेष विधा या उसके स्वरूप को कितना प्रभावित करती हैं, यह रेखाचित्र के विकास से जाना जा सकता है। जब परंपरागत विधाएँ कलाकार की भावनाओं की सफल अभिव्यक्ति नहीं कर पाती तो नवीन विधाओं की खोज की जाती है। इसी के परिणामस्वरूप रेखाचित्र, एकांकी, रिपोर्ताज, डायरी आदि नवीन विधाओं का प्रयोग किया गया है। इनमें से रेखाचित्र, कहानी और निबंध की मध्यवर्तिनी भूमि पर स्थित है। रेखाचित्र न पूरी तरह से कहानी है और न निबंध, किंतु इन दोनों के तत्त्वों का कुछ न कुछ समावेश उसमें अवश्य है। यही कारण है कि रेखाचित्र को जब तब निबंध की श्रेणी में रख दिया जाता है या उसकी गणना कहानियों में की जाती है।

रेखाचित्र कहानी की अपेक्षा एक ठोस और यथार्थ भूमि पर तैयार होता है। उसमें कल्पना का आश्रय कम लिया जाता है। लेखक उन व्यस्त क्षणों में रेखाचित्र का निर्माण करता है जब अपनी भावनाओं को अलंकृत रूप में प्रस्तुत करने के लिये उसके पास कोई अवकाश नहीं होता। यथार्थ परिस्थितियों से प्रभावित होकर लेखक अपने अनुभव को सीधे शब्दों में तीव्रता के साथ व्यक्त कर देना चाहता है। ऐसी विधाओं का जन्म संक्रांतिकाल में होता है। यूरोप में औद्योगिक क्रांति के युग में इन विधाओं का विकास हुआ। इसी प्रकार भारत में बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक में आर्थिक उथलपुथल के समय रेखाचित्रों का आविर्भाव हुआ।

'रेखाचित्र' शब्द का प्रयोग हिंदी में रेखाओं से बनाए हुए चित्र के लिये होता है। गुजराती में 'रेखाचित्र' का प्रयोग अंग्रेजी के 'पेन ऐंड स्केच' के लिये होता है। मलयालम में 'तूलिका चित्र' शब्द भी चलता है। 'रेखाचित्र' के अर्थ में 'व्यक्तिचित्र', 'चरितलेख', 'शब्दचित्र' आदि अन्य शब्द भी हिंदी में चलते हैं परंतु रेखाचित्र ही सबसे अधिक उपयुक्त एवं सफल अर्थ वहन करता है।

पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने रेखाचित्र की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। रेखाचित्र की आधुनिक परिभाषा प्रस्तुत करते हुए 'ए हैंडबुक अव् लिटरेरी टर्म्स' में कहा गया है कि 'स्केच या रेखाचित्र एक लघु नाटक, कहानी अथवा चरितविवरण होता है।' नाटकीय स्केच जो रेखाचित्र का एक प्रकार है, प्रायः सामाजिक घटनाओं के विद्रूपात्मक चित्रण से युक्त विशृंखल नाटकों की अथवा वेशभूषा प्रदर्शनी की वस्तु है, जो हल्के, विनोदात्मक एवं व्यंग्यात्मक होते हैं। इसके ही अन्य प्रमुख प्रकार हैं साहित्यिक स्केच, व्यंग्य स्केच आदि जो अत्यंत लघु तथा विवरणप्रधान होते हैं।

रेखाचित्रकार की सीमाएँ निश्चित हैं। उसे तो कम से कम शब्दों में सजीव रूपविधान प्रस्तुत करना पड़ता है। छोटे से छोटे वाक्य से अधिक से अधिक तीव्र और मर्मस्पर्शी भावव्यंजना करनी पड़ती है। अपने इस कार्य में वही कलाकार सफल होता है जिसका हृदय अधिक संवेदनशील और जिसकी दृष्टि सूक्ष्म पर्यवेक्षणनिपुण एवं मर्मभेदिनी होती है। रेखाचित्र वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना का शब्दों द्वारा चित्रित मर्मस्पर्शी और भावमय रूपविधान है जिसमें लेखक अपना निजीपन भी समाहित कर देता है।

रेखाचित्र का 'चित्र' से घनिष्ठ संबंध है। इस संबंध में आचार्य विनयमोहन शर्मा लिखते हैं, 'जिस प्रकार विभिन्न रंगों के अनुपात से तूलिका चित्र सजीव हो जाता है उसी प्रकार मानव की आकृति, उसके अंगविक्षेप तथा उसके स्वभाववैशिष्ट्य से शब्दों का रेखाचित्र रंगीन हो उठता है। मानवप्रकृति की किन रेखाओं और मन के किस विकार से उसका मन अंतर्हित है उन्हें खोजकर खींचना रेखाचित्र की सफलता है। विभिन्न परिप्रेक्ष्य में विभिन्न दृष्टिकोण से रेखाचित्र अंकित किए. जा सकते हैं। चित्रकार जिस प्रकार 'स्केच' में रेखाओं से आंतरिक भावों को उभार देता है उसी प्रकार रेखाचित्रकार लेखनीतूलिका से वर्णन द्वारा'।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर रेखाचित्र के स्वरूप के विषय में यह स्पष्ट हो जाता है कि रेखाचित्र किसी एक व्यक्ति स्थान, घटना, दृश्य या उपादान का ऐसा वस्तुगत वर्णन होता है जो संक्षेप में उसकी बाह्य विशेषताओं को प्रस्तुत करता है। बाह्य विशेषताओं के भीतर ही उसकी आंतरिक विशेषताओं का भी समाहार हो जाता है। रेखाचित्र सरल, सुघटित, लघु तथा वर्णनप्रधान होना चाहिए। उसमें थोड़े से शब्दों के द्वारा सजीव रूपविधान और सफल अभिव्यक्ति करने की आवश्यकता होती है।

जैसा उल्लेख किया जा चुका है कि हिंदी में रेखाचित्रों का लेखन तीसरे दशक से ही प्रारंभ हो गया था पर 'रेखाचित्र' का शास्त्रीय विवेचन पहली बार व्यवस्थित रूप से मार्च १९४१ में श्रीशिवदानसिंह चौहान ने प्रस्तुत किया। निष्कर्ष रूप में श्रीचौहान लिखते हैं; 'किसी व्यक्ति के रेखाचित्र में यह विशेषता होगी कि

उसके व्यक्तित्व ने जो विशेष मुद्राएँ, चेष्टाएँ, शारीरिक अवयवों की बनावट में जो विकृतियाँ ऊपर को उभार दी हैं उनके आभास को चित्र में ज्यों का त्यों पकड़ा जाय ताकि लेखक की अनुभूति के साथ उसके व्यक्तित्व की रेखाएँ और भी सघन होकर दिखाई पड़ने लगें।'

रेखाचित्र तथा अन्य साहित्यिक विधाएँ

रेखाचित्र में संस्मरण, रिपोर्ताज, कहानी, निबंध आदि अन्य विधाओं के तत्व इस प्रकार मिले रहते हैं कि उसकी विशिष्ट प्रकृति को व्यक्त करना कठिन है। यही कारण है कि रेखाचित्र को पूर्व इतिहासकारों ने कभी निबंध के अंतर्गत तो कभी कहानी के अंतर्गत मान लिया है। रेखाचित्र और संस्मरण के बीच तो सीमारेखा खींचना और भी कठिन है। संभवत: इन्हीं कारणों से रेखाचित्र को कथा, संस्मरण और जीवनी का समन्वित रूप मान लिया जाता है।

रेखाचित्र और कहानी

गद्य की विधाओं में कहानी को प्राय: रेखाचित्र के अधिक निकट माना जाता है, यद्यपि इन दोनों विधाओं में व्यापक अंतर है। विषय की दृष्टि से इनमें यह अंतर है कि रेखाचित्र का विषय यथार्थ जगत् होता है जबकि कहानी का विषय यथार्थ और कल्पित दोनों प्रकार का हो सकता है। रेखाचित्र में किसी पात्र का बाह्य चित्रण महत्वपूर्ण होता है। यद्यपि आंतरिक प्रवृत्तियाँ भी उसके सौंदर्य की वृद्धि करती हैं, कहानी में पात्र की अंत:प्रवृत्तियों का चित्रण ही विशेष गुण होता है।

डा० नगेंद्र के मतानुसार कहानी और रेखाचित्र में कोई आत्यंतिक अंतर करना कठिन है। रेखाचित्र चित्रकला का शब्द है और जब यह शब्द साहित्य में आया तो इसकी परिभाषा भी इसके साथ आई। इस परिभाषा के अनुसार रेखाचित्र शब्द ऐसी रेखारचना के लिये प्रयुक्त होने लगा जिसमें रेखाएँ हों पर मूर्त्तरूप यानी कथानक का उतार चढ़ाव न हो, केवल तथ्योंका उद्घाटन हो। उसमें पूर्वनिश्चित स्वरूप या उसका विकास न हो। रेखाचित्र में तथ्यों का उद्घाटन होता है, संयोजन नहीं। इसमे घटना का न होना आवश्यक है। कहानी में घटना का होना आवश्यक नहीं। कहानी में विश्लेषण के लिये कोई स्थान नहीं है, किंतु रेखाचित्र में उसका होना अनिवार्य है।

रेखाचित्र और निबंध

रेखाचित्र को प्राय: आत्मपरक या संस्मरणात्मक निबंधों की श्रेणी में रख दिया जाता है। अंग्रेजी साहित्य में भी सत्रहवीं शताब्दी से पहले रेखाचित्र के लिये निबंध शब्द ही प्रयोग में आता रहा। निबंधविशेष की विशृंखलित अभिव्यक्ति और रेखाचित्र के प्रभावाभिव्यंजन में साम्य होने के कारण आत्मपरक या संस्मरणात्मक निबंध रेखाचित्र की श्रेणी में रख दिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त यदि निबंध में उन्मुक्त

भावप्रवाह उमड़ने लगता है या रेखाचित्र में गंभीर चिंतन का समावेश हो जाता है तो ये दोनों विधाएँ एक दूसरे के निकट आ जाती हैं। इस संबंध में प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त का कथन उल्लेखनीय है, 'स्केच अथवा रेखाचित्र निबंध और कहानी की बीच की भूमि पर उगता है। वह किसी स्थितिविशेष अथवा पात्र का चित्र खींचता है, किंतु उसमें कथानक नहीं रहता। चित्र की भाँति ही उसमें गति का इशारा रहता है, किंतु गति नहीं होती। किसी सामाजिक अथवा वैयक्तिक स्थिति का वह एक स्नैपशाट होता है। उसमें सर्जनात्मक साहित्य के सभी गुण रहते हैं। कल्पना, भावना, चिंतन होता है, भावावेश में उसका जन्म नहीं होता। दूसरी ओर कहानी का कहानीपन, कथानक की गति स्केच अथवा रेखाचित्र में हम नहीं पाते। फिर भी कोई कोई स्केच मात्र निबंध रह जाते हैं, और कुछ कहानी में भी मिल जाते हैं। निबंध और कहानी के बीच में फैली हुई विस्तृत भूमि को रेखाचित्र दो छोरों पर स्पर्श करता है।'

रेखाचित्र और जीवनी

इन दोनों विधाओं की प्रकृति में अंतर है। जीवनी के निर्माण में बुद्धि और भावना का योग अधिक रहता है, कल्पना का कम। किंतु रेखाचित्र में इन तत्वों का मिश्रण हो जाता है। रेखाचित्र में जीवनी के समान घटनाओं का संकलन तिथिक्रम से नहीं होता। इसमें घटनाओं का पूर्ण आकलन भी नहीं होता।

रेखाचित्र और संस्मरण

इन विधाओं में किसी प्रकार विरोध नहीं है और न कोई विशेष मौलिक अंतर। संस्मरण में प्रायः अनुभूत स्मृतियाँ सजाई जाती हैं और उनमें कल्पना के लिये स्थान कम होता है। संस्मरण परिचित व्यक्तियों से संबंधित होते हैं और पाठकगण उनके संबंध में और अधिक जानने की इच्छा रखते हैं। संस्मरण में लेखक की दृष्टि प्रधान होती है और वह अपने दृष्टिकोण से घटना तथा पात्रों का विश्लेषण करता चलता है। संस्मरण में भावात्मकता अधिक रहती है। इसमें किसी भी छोटे या बड़े व्यक्ति का 'तटस्थ स्मरण' किया जाता है। संस्मरण तथा रेखाचित्र दोनों विधाओंके वरिष्ठ लेखक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने १७-२-१९६५ के पत्र में लेखक को सूचित किया, 'रेखाचित्र में किसी वस्तु या व्यक्ति के जीवन का चित्रण होता है, उसके प्रकाश भाग तथा छाया भाग के साथ, गुण दोषों का विधिवत् वर्णन करते हुए। संस्मरण में मुख्यतया पुरानी बातें याद की जाती हैं। चरित्रचित्रण तो दोनों में ही हो जाता है। संस्मरण प्रायः बीती हुई बातों या दिवंगत व्यक्तियों के बारे में लिखे जाते हैं।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज

रेखाचित्र और रिपोर्ताज इन दोनों में घटना, स्थान अथवा व्यक्तियों का चित्रण किया जाता है। इनमें अंतर केवल इतना है कि रेखाचित्र को कल्पना के रंग में

रंगा जा सकता है किंतु रिपोर्ताज को उतना नहीं। रिपोर्ताज का वर्ण्यविषय कभी कल्पित नहीं होता, हाँ तथ्य को रूप देने भर के लिये उसमें कल्पना की सहायता ली जा सकती है। काल्पनिक रिपोर्ताज ही गद्यकाव्य के निकट चला जाता है।

रेखाचित्र और गद्यकाव्य

गद्यकाव्य में मानवहृदय की संकुल भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। उसमें भावना के अतिरिक्त कल्पना और अनुभूति की भी प्रधानता रहती है। उसमें विचारों की सूत्रबद्धता कम होती है। भावनाओं की अभिव्यक्ति के समय गद्यकाव्य की भाषा के समान रेखाचित्र की भाषा भी प्रवाहमयी हो जाती है, फिर भी इन दोनों विधाओं में अंतर है। प्रकृति की दृष्टि से गद्यकाव्य में गांभीर्य होता है, रेखाचित्र में व्यंग्य की प्रधानता भी हो सकती है। रेखाचित्र में विचारों का तारतम्य मिलता है गद्य-काव्य में उसका अभाव होता है। गद्यकाव्य कल्पनाप्रधान होता है और रेखाचित्र में कल्पना की ऊँची उड़ानें नहीं होतीं। रेखाचित्र में जब भावात्मकता बढ़ जाती है तो वह गद्यकाव्य के निकट पहुँच जाता है, जैसे कहीं कहीं बेनीपुरीजी के रेखाचित्रों में गद्यकाव्य का आभास होने लगता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रेखाचित्र में किसी वस्तु या व्यक्ति का बाह्य (साथ ही आंतरिक) स्वरूपविश्लेषण प्रमुख होता है। रेखाचित्रकार स्वयं को विषय से अलग रखकर उसका अध्ययन करता है। वह कभी कभी निर्जीव वस्तुओं से भी ऐसा तादात्म्य स्थापित कर लेता है कि उनके काल्पनिक सुख दुःख और भावनाओं को व्यक्त करने लगता है। रेखाचित्रकार शब्दोंके माध्यम से व्यक्ति या वस्तु की विशेषताओं—गुण तथा दोष का चित्रण करता है। वह कुशल चित्रकार के समान छोटे छोटे किंतु सधे स्पर्शों से चित्रण करता है और मानवीय भावनाओं को सरल और प्रभावशाली रूप में व्यक्त करता है।

रेखाचित्रों का वर्गीकरण

रेखाचित्रों को विषय अथवा स्वरूप की दृष्टि से कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। कलाकार के अपने भाव, विचार, वातावरण तथा अभिरुचि का प्रभाव उसके विषयचयन पर पड़ता है तथा दूसरी ओर उसकी भाषाशैली और अभिव्यक्ति विषय के अनुसार स्वरूप ग्रहण करती है। इस प्रकार रेखाचित्र के अनेक भेद किए जा सकते हैं। कभी कभी एक ही रेखाचित्र में कई प्रकार की शैलियों का संमिश्रण हो जाता है जिससे उसको भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न भिन्न कोटियों में रखा जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक रेखाचित्र

हिंदी में मनोवैज्ञानिक रेखाचित्र अधिक संख्या में लिखे गए हैं। मानवमन तथा उसके रहस्यों को समझने का जो प्रयास फ्रायड, एडलर, युंग आदि यूरोपीय

मनोवैज्ञानिकों ने किया उसका प्रभाव भारतीय साहित्यकारों पर भी पड़ा। मनस्तत्व के इन ज्ञाताओं ने मानव के भावविचार, क्रियाप्रतिक्रिया का कारण पता लगाने की चेष्टा की है। अन्य कलाकारों की भाँति रेखाचित्रकारों ने भी मनोविज्ञान की सहायता ली तथा उन्होंने चारों ओर व्याप्त परिस्थितियों के कारण मन पर पड़नेवाले अच्छे बुरे प्रभावों का अंकन किया। उन्होंने पात्रों के राग, विराग, घृणा, द्वेष, आशा, निराशा का सफल चित्रण किया है। इन मनोवैज्ञानिक रेखाचित्रों के रचयिताओं में पं० श्रीराम शर्मा, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, वृंदावनलाल वर्मा प्रकाशचंद्र गुप्त, महादेवी वर्मा, देवेंद्र सत्यार्थी तथा कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के नाम उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक रेखाचित्र

ये रेखाचित्र किसी 'ऐतिहासिक पात्र' के स्वरूप तथा मानसिक स्थिति को प्रस्तुत करते हैं। ऐसे रेखाचित्रों में पात्रों के साथ घटनाएँ भी इतिहास से ले ली जाती हैं। प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त ने ऐतिहासिक रेखाचित्रों की रचना की है। बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा लिखे गए कुछ रेखाचित्र भी इस कोटि में आ जाते हैं पर उनका झुकाव जीवनी की ओर अधिक है।

तथ्य या घटनाप्रधान रेखाचित्र

तथ्यप्रधान रेखाचित्र में कलाकार पात्रों के वार्तालाप द्वारा तथ्यों की ओर इंगित करता है। ये 'पात्र' सजीव तथा निर्जीव वस्तु रूप में भी हो सकते हैं। इस प्रकार के रेखाचित्र लिखनेमें बेनीपुरी, प्रकाशचंद्र गुप्त, प्रेमनारायण टंडन सिद्धहस्त हैं।

वातावरण प्रधान रेखाचित्र

इस प्रकार के रेखाचित्रों में पात्रों तथा घटनाओं के माध्यम से एक विशेष प्रकार के वातावरण की सृष्टि की जाती है। वातावरण की प्रधानता होने के कारण ये इस कोटि में आ जाते हैं। प्रेमचंद्र की कहानी 'पूस की रात' इस प्रकार के रेखाचित्र का आदर्श उदाहरण है। कहानी के तत्व उसमें कम हैं। बेनीपुरीजी के प्रकृतिसौंदर्य प्रधान रेखाचित्र इस कोटि में रखे जा सकते हैं। परोपकारिता प्रदर्शित करने वाले रेखाचित्र भी इस कोटि में आते हैं। इस दृष्टि से पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का 'बंधुवर नवीन जी' महत्वपूर्ण रेखाचित्र है। बेनीपुरीजी का 'बल्देवसिंह' शीर्षक रेखाचित्र भी परोपकारिता के वातावरण की सृष्टि करता है।

प्रभाववादी रेखाचित्र

जब रेखाचित्रकार किसी विशेष सत्य या तथ्य का प्रभाव पाठक के मन पर डालना चाहता है तब वह उसे अधिक पुष्ट और चटकीला बना देता है। बेनीपुरी के प्रसिद्ध रेखाचित्र 'गेहूँ और गुलाब' में अनेक सत्यों की प्रभावशाली व्यंजना की गई

है। इसमें गेहूँ और गुलाब भौतिक और मानसिक जगत् के प्रतिनिधि हैं, दोनों जीवन के लिये अनिवार्य हैं। यही प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा लेखक इसमें करता है।

व्यंगप्रधान रेखाचित्र

व्यंग्य का सहारा उस समय लिया जाता है जब किसी सामयिक कुरीति या बुरी परंपरा के विरोध की आवश्यकता होती है। अस्वस्थ रीति या परंपरा के निवारण हेतु आलोचना के स्थान पर व्यंग्य का प्रयोग बिना कटुता उत्पन्न किए उद्देश्य को सफल कर देता है। इस प्रकार के रेखाचित्रों में जगनाथ नलिन के रेखाचित्र लिए जा सकते हैं। आपने अनेक भारतीय तथा विदेशी नेताओं, लेखकों तथा महापुरुषों को अपनी लेखनी का निशाना बनाया है। लेखक की व्यंग्यप्रधान शैली इसमें विशेष सफल हुई है। महापुरुषों के बाह्य स्वरूप का हास्यमय वर्णन, उनकी विचारधारा की व्यंग्यपूर्ण आलोचना पाठक के हृदय में गुदगुदी उत्पन्न कर देती है। हर्षदेव मालवीय ने भी इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त की है। हास्यव्यंग्यात्मक रेखाचित्रकारों में सर्वश्री पं० हरिशंकर शर्मा, बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानंद, अमृतलाल नागर, कृष्णचंद्र, रजनी पनिकर, डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी, डा० संसारचंद्र, महावीर अधिकारी, वीरेंद्र, मोहन रतूड़ी, प्रभाकर सोलवलकर, देवराज दिनेश, सूर्यनारायण सक्सेना, सुरीरवाला, मोहनलाल गुप्त आदि उल्लेखनीय हैं। डा० र० श० केलकर के २१ व्यंग्यपूर्ण शब्द-चित्रों का संग्रह 'कुत्ते की दुम' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

व्यक्तिप्रधान रेखाचित्र

किसी व्यक्ति के बाह्य और आंतरिक स्वरूप का चित्रण रेखाचित्र का प्रमुख उद्देश्य होता है। रेखाचित्रकार किसी एक व्यक्ति को चुनकर विभिन्न घटनाओं के द्वारा उसके चरित्र के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है। जब केवल बाह्य रेखाओं का अंकन हो तो व्यक्तिप्रधान रेखाचित्र बन जाता है। मनोवैज्ञानिक रेखाचित्रों को भी इसमें रख सकते हैं। व्यक्तिप्रधान रेखाचित्रों के निर्माताओं में श्रीराम शर्मा, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीमती सत्यवती मल्लिक, डा० विनयमोहन शर्मा, जगनाथ नलिन, बेनीपुरी, जगदीशचंद्र माथुर, डा० नगेंद्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं तथा सर्वोच्च स्थान पर सुशोभित हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा संपादित 'अमिट रेखाएँ' में व्यक्तिप्रधान रेखाचित्रों का सुंदर संग्रह है, जिसमें भारत तथा विदेश के महान् पुरुषों तथा विशिष्ट नारियों का चरित्रचित्रण किया गया है। जगदीशचंद्र माथुर ने 'दस तसवीरें' में अपने जीवन को प्रभावित करनेवाले कई व्यक्तियों के रेखाचित्र खींचे हैं। श्रीमाथुर ने इन व्यक्तिप्रधान रेखाचित्रों को 'चरितलेख' की संज्ञा दी है। प्रेम-नारायण टंडन तथा कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने भी अनेक रेखाचित्र इस प्रकार के लिखे हैं। डा० नगेंद्र के इस प्रकार के रेखाचित्र 'चेतना के बिंब' में संकलित हुए हैं।

आत्मपरक रेखाचित्र

लेखक किसी रेखाचित्र के साथ जब अपने निजी जीवन का चित्रांकन भी कर देता है तो वे इस कोटि में लिए जा सकते हैं। महादेवीजी के रेखाचित्रों में यह तत्व है। वैसे इधर 'शिकायत है' शीर्षक से कई लेखकों ने अपने निजी अच्छे रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं, इनमें से श्रीभगवतीचरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर तथा डा० नगेंद्र के रेखाचित्र उल्लेखनीय है।

विशेष प्रयास

हंस का रेखाचित्रांक (मार्च १६३६)

प्रेमचंदजी के सुपुत्र श्रीपतराय के संपादकत्व में यह विशेषांक प्रकाशित हुआ। हंस के सलाहकारी संपादकमंडल में उर्दू, मराठी, गुजराती, उड़िया, बँगला, पंजाबी, कन्नड़ आदि भाषाओं के साहित्यकार भी संमिलित थे। हमारे आलोच्यकाल के प्रारंभ में ही 'रेखाचित्रांक' का प्रकाशित होना इस विधा के तत्कालीन महत्त्व को सिद्ध करता है। उस समय गिनेचुने व्यक्ति ही इस विधा में लिख रहे थे अतएव संपादकमंडल को इस विशेषांक को प्रस्तुत करने में विशेष आयास करना पड़ा जिसको स्पष्टत: संपादकीय में स्वीकार किया गया है, 'सच्चे और मार्मिक शब्दचित्र लिखने का युग अभी भारत में नहीं आया है। इसमें अभी आलोचना के प्रति सहिष्णुता का भाव नहीं आया है। हम अभी उचित मूल्यांकन का आदर करना नहीं सीखे हैं। बेलौस बात की कद्र करना जरूरी है। पर हम वह धीरे धीरे ही बर्दाश्त कर सकेंगे। और इसी लिये सूक्ष्मदृष्टि से हमारे गुणदोषों पर प्रकाश डालने वाले भी हमारे यहाँ नहीं हैं।' फिर भी हमें स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं कि यह विशेषांक उस युग को देखते हुए सफलता के साथ प्रकाशित हुआ।

इसमें केवल उन्हीं विभूतियों के शब्दचित्र प्रकाशित किए गए है जो साहित्यिक हैं या राजनीतिक होते हुए भी मूलतः साहित्यिक हैं। हिंदी के रेखाचित्रों में २ पत्रकार, ३ साहित्यकार, १ अध्यापक, ६ कवि, १ कथाकार, २ लेखिकाओं पर हैं। बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, कन्नड़ तथा उर्दू के साहित्यकारों पर भी उच्चकोटि के रेखाचित्र प्रकाशित हुए हैं। लगभग सभी लेखक उच्चकोटि के प्रतिष्ठित साहित्यकार थे। सारे रेखाचित्रों में से केवल एक व्यक्ति ऐसा है जिसपर दो रेखाचित्र लिखाए गए हैं, वह हैं श्रीकृष्णदत्त पालीवाल। इस रेखाचित्र के दोनों लेखक हिंदी के सुप्रसिद्ध वरिष्ठ रेखाचित्रकार हैं—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी तथा पं० श्रीराम शर्मा। महादेवीजी पर शब्दचित्र तो है पर उनके द्वारा लिखा हुआ इस विशेषांक में कोई रेखाचित्र न होना खटकता है। श्रीरामनाथ सुमन ही ऐसे रेखाचित्रकार हैं जिन्होंने दो व्यक्तियों पर रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं—पराड़कर तथा संपूर्णानंद।

मधुकर का रेखाचित्रांक (१९४६ ई०)

इस दिशा में दूसरा सफल प्रयास रेखाचित्र विधा के वरिष्ठ लेखक पं० बनारसी-दास चतुर्वेदी के संपादकत्व में मधुकर का विशेषांक है। इसके सहकारी संपादक हैं श्रीयशपाल जैन। हंस के विशेषांक से इसमें मौलिक भेद यह रहा है कि हंस का क्षेत्र भारत तक सीमित रहा, वहाँ इसका परिवेश अधिक विस्तृत था। इसमें विश्वप्रसिद्ध रचनाओं को स्थान दिया गया है। विशेषांक के प्रारंभ में संपादक महोदय ने सारगर्भित भूमिका में रेखाचित्र के विकास पर प्रकाश डाला है।

इसके आगे विशिष्ट व्यक्तियों पर प्रकाशित विशेषांकों में रेखाचित्र प्रकाशित होते रहे। 'संकेत' में कुछ अच्छे रेखाचित्र संकलित हैं।

प्रारंभिक विशिष्ट रेखाचित्रकार

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी (१९८२ ई०)—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी हिंदी के वरिष्ठतम साहित्यकार तथा पत्रकार हैं जिन्होंने इस विधा को अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ सन् १९१२ से ही विकसित किया। विशालभारत तथा अन्य पत्रों के संपादक रहने के समय आपने अद्वितीय रेखाचित्र प्रकाशित भी किए। पं० पद्मसिंह शर्मा, जो स्वयं अच्छे रेखाचित्रकार थे, के समय से ही आप रेखाचित्र लिख रहे हैं। चतुर्वेदीजी के शब्दों में, 'जिस प्रकार अच्छा चित्र खींचने के लिये कैमरे का लेंस बढ़िया होना चाहिए और फिल्म भी काफी कोमल या सेंसिटिव, उसी प्रकार सफल चित्रण के लिये चित्रकार में, विश्लेषणात्मक बुद्धि तथा भावुकतापूर्ण हृदय, दोनों का सामंजस्य होना चाहिए। परदुःखकातरता, संवेदनशीलता, विवेक और संतुलन इन सब गुणों की आवश्यकता है।' निस्संदेह चतुर्वेदीजी में ये सभी गुण विद्यमान हैं तभी तो वे इतने सुंदर रेखाचित्र लिख सके। वैसे 'हमारे आराध्य' में चतुर्वेदी जी यह स्वीकार करते हैं कि 'ए० जी० गार्डिनर की तरह रेखाचित्र तैयार करने के लिये हमें अभी बीसियों वर्ष तक साधना करनी पड़ेगी, तथापि हमारे आदर्श वही रहे हैं।' आपने यह भी स्वीकार किया है कि आपका पहला रेखाचित्र सन् १९१२ में मर्यादा में प्रकाशित हुआ था।

आपने अपने अबतक के दीर्घ जीवन में सैकड़ों रेखाचित्र लिखे हैं, उनमें से कुछ संस्मरणात्मक शैली में है और कुछ जीवनी शैली में। पत्रशैली तो हर रेखाचित्र में मिल जाएगी।

सन् १९३८ ई० से पूर्व भी आपके अनेक रेखाचित्र प्रकाशित हो चुके थे, जिनमें से प्रिंस क्रोपाटकिन (१९३६ ई०), एमर्सन (१९३२-३४), पतिव्रता जमिनी (१९३६), समाजसेवी कागावा (१९३७), संपादकाचार्य सी० पी० स्काट (१९३४), फक्कड़ थोरो (१९३५) उल्लेखनीय हैं।

आपके अधिकांश रेखाचित्र पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं, जैसे, प्रिंस क्रोपाटकिन (१९४० ई०), हमारे आराध्य (१९५२ ई०), संस्मरण (१९५२ ई०), रेखाचित्र (१९५३ ई०), सेतुबंध (१९६२ ई०) उल्लेखनीय हैं, इनके अतिरिक्त अनेक फुटकर रेखाचित्र अनेक पत्र-पत्रिकाओं में अभी तक बिखरे पड़े हैं। 'हमारे आराध्य' में महाप्राण माइकेल बाकूनिन, लुई माइकेल, अराजकवादी मैलटेस्ता, गोल्डमेन, रोमें रोलाँ, स्टीफन ज्विग, नेविनसन, आचार्यवर गीडीज, उपन्यासकार तुर्गनेव आदि उल्लेखनीय हैं।

'संस्मरण' शीर्षक पुस्तक हमारी परिधि के बाहर की है जिसमें २१ व्यक्तियों पर संस्मरण संकलित हैं। इनमें से कुछ संस्मरणात्मक शैली में लिखे गए उच्चकोटि के रेखाचित्र भी हैं, जैसे बड़े दादा द्विजेंद्रनाथ ठाकुर, दीनबंधु ऐंड्रूज, आजाद की माताजी। इनके अतिरिक्त श्री कृष्ण बलदेव वर्मा, भवानीदयाल संन्यासी, स्वर्गीय देवीदयालु गुप्त, श्री शीलजी आदि भी रेखाचित्र हैं।

देशविदेश के साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों, पत्रकारों तथा समाजसेवियों के रेखाचित्र के साथ निर्धन, उपेक्षित, शोषित पात्रों के भी रेखाचित्र यदि कहीं मिल सकते हैं तो वह साहित्य चतुर्वेदीजी का है। 'रेखाचित्र' के बीच बीच में चित्रात्मक शैली के दर्शन भी होते हैं।

'सेतुबंध' नवीन रेखाचित्रों का संकलन है जिसमें विश्वनागरिक गैरिसन, मेरी फोस्टर, क्रांतिकारी क्रोपाटकिन, आदि के चित्र बड़े मार्मिक तथा प्रेरणाप्रद हैं। प्रेम और सेवा की भावना ही इन चित्रों के मूल में व्याप्त है। विषय के विस्तार की दृष्टि से चतुर्वेदीजी का क्षेत्र विस्तृत है।

हंस के रेखाचित्रांक (१९३९) में आपका 'पालीवाल' शीर्षक से उल्लेखनीय शब्दचित्र प्रकाशित हुआ था। मधुकर का रेखाचित्रांक तो सन् १९४६ में आपके ही संपादकत्व में प्रकाशित हुआ।

रोचकता, मनोरंजकता, सरलता आपकी शैली की विशेषता रही है। भाषा-शैली में समयानुकूल ओजस्विता, व्यंग्यात्मकता, औपन्यासिकता तथा दार्शनिकता आपकी पुस्तकों की विशेषता है

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि चतुर्वेदीजी के रेखाचित्रों में जहाँ एक ओर राष्ट्रीयता तथा देशप्रेम की भावना कूट कूटकर भरी हुई है वहाँ दूसरी ओर उसमें सर्वत्र विश्वप्रेम तथा अंतर्राष्ट्रीयता की भावना भी व्याप्त है।

पं० श्रीराम शर्मा (१८९५ ई० से १९६७ ई०)—हिंदी साहित्य में शिकार-साहित्य के प्रख्यात लेखक श्रीरामजी रेखाचित्र लिखने में निष्णात हैं। आपके रेखाचित्रों को पढ़कर पं० पद्मसिंह शर्मा भी अत्यधिक प्रभावित हुए थे। पं० बनारसी दासजी चतुर्वेदी आपको पद्मसिंह शर्मा का असली उत्तराधिकारी मानते हैं।

शर्माजी के रेखाचित्रों का प्रथम संग्रह 'बोलती प्रतिमा' शीर्षक से सन् १९३७ में ही प्रकाशित हो गया था। इसमें पंद्रह लेख, कहानियाँ और स्केच संकलित हैं। इस संबंध में लेखक ने स्वयं प्रस्तावना में घोषित किया है :

'बोलती प्रतिमा के मंदिर की प्रत्येक प्रतिमा बोलती और सजीव है।''''लेखों, स्केचों और कहानियों की सामग्री लेखक की अनुभूति ही समझना चाहिए। कठोर सत्य तथा संघर्ष, लेखक की मार्मिक वेदना, जीवन के घात प्रतिघात और मानसिक द्वंद्व का रूप ही शब्दों में है—'बोलती प्रतिमा। यदि इस संग्रह को माला मान लिया जाय तो बोलती हुई प्रतिमा इस माला का सुमेरु है।'

वस्तुत: 'बोलती प्रतिमा' शीर्षक रेखाचित्र इस माला का ही सुमेरु नहीं है वरन् समस्त भारतीय साहित्य में लिखित रेखाचित्रों में सर्वोपरि है जिसको हम सगर्व विश्वसाहित्य में रख सकते हैं। इस रेखाचित्र में एक ऐसे रोगी का चित्रण है जो लगातार १४ वर्षों से शैया पर पड़ा रहता है पर उसकी घ्राण, श्रवण तथा स्मरण-शक्ति प्रशंसनीय है। इन रेखाचित्रों में लोकजीवन की झाँकी मिलती है। शैली कितनी ओजस्विनी है इसका ज्ञान तो एक दो पृष्ठ पढ़ने से ही हो जाता है। घटनाएँ यथार्थ हैं, केवल लेखक ने यत्र तत्र उन्हें कल्पना से छू भर दिया है। शर्माजी का दृष्टिकोण यथार्थवादी रहा है, मौन पात्रों को उनकी लेखनी ने मुखर बना दिया है। भारतीय जनता अधिकांशत: ग्रामीण है अतएव उसके जीवन के मार्मिक चित्र देश के चित्र हैं।

इस पुस्तक के चित्रों में कहीं हम चंदा चमारको लँगोटा पहने नंगे शरीर और नंगे पैर जेठ की दुपहरी में कंकड़ खोदते हुए पाएँगे तो कहीं हकीम पीतांबर को, जो जाति का धोबी था।

'प्राणों का सौदा' (१९३९) वस्तुत: प्रकृति, शिकार तथा वन्य पशुओं से संबंधित है। इसमें मशहूर शिकारियों पर बीती घटनाओं अथवा दुर्घटनाओं का चित्रण है जिसका बहुत कुछ आधार चैंडविक, मेजर फौरन आदि की पुस्तकें हैं। इसमें १३ दृश्यचित्र हैं।

आपकी सबसे उल्लेखनीय कृति है 'जंगल के जीव' (मई १९४९ ई०)। इसमें जंगली जीवों, काला हिरन, बघेरा, घड़ियाल, शेर, हाथी, जंगली सूअर, बया, सियार, जंगली मुर्ग के जीवन स्केच हैं। यह लेखक के पच्चीस वर्ष के अन्वेषण, निरीक्षण और प्रकृति अध्ययन का फल है। लेखक ने स्वीकार किया है कि इन स्केचों के अध्ययन में बहुत अधिक समय लगा है।

आपका चौथा संग्रह है—'वे जीते कैसे हैं' (१९५७ ई०)। इस पुस्तक के प्रारंभ में पं० बनारसीदासजी का श्रीरामजी पर लिखित रेखाचित्र भी संकलित है। इस संग्रह में आपके २० शब्दचित्र हैं जिनमें से कुछ पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं।

जीवन के अंतिम दिनों में शर्माजी के नेत्रों ने जवाब दे दिया था अन्यथा कुछ और उत्तम रेखाचित्र हिंदी साहित्य को दे जाते। जीवन पर्यंत वह किसान की तरह रहे और खेतीबारी, बागवानी आदि करते रहे।

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी (१६००-१६६८ ई०)—स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, क्रांतिकारी, कर्मनिष्ठ पत्रकार [बेनीपुरीजी शब्दशिल्पी थे जिन्होंने रेखाचित्र लिखने में शैली का चमत्कार दिखाया है। बेनीपुरीजी अपनी लेखनी से कैसा जादू चलाते हैं और संस्मरणात्मक शैली में कैसे शब्दचित्र प्रस्तुत करते हैं यह उनके रेखाचित्रों में देखा जा सकता है।

बेनीपुरीजी ने सैकड़ों रेखाचित्र लिखे जो कई पुस्तकों में संग्रह रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। नई धारा के अंक तो आपके रेखाचित्रों से भरे पड़े हैं, जिनमें सबसे उल्लेखनीय रेखाचित्र है 'रजिया' (१६६२ ई०)। 'माटी की मूरतें' के नवीन संस्करण में वह संकलित कर लिया गया। संस्मरणात्मक शैली में लिखा गया 'रजिया' ऐसा रेखाचित्र है जो विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य के समक्ष सगर्व रखा जा सकता है। मधुकर के रेखाचित्रांक में सन् १६४६ में 'बलदेवसिंह' शीर्षक से प्रकाशित हुआ रेखाचित्र ही बाद में 'माटी की मूरतें' में संकलित हुआ। बलदेवसिंह में एक पहलवान का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है।

ये दोनों रेखाचित्र जिस संग्रह में संकलित हैं उसके संबंध में राष्ट्रकवि मैथिली-शरण गुप्तजी ने सत्य ही कहा था, 'लोग माटी की मूरतें बनाकर सोने के भाव बेचते हैं पर बेनीपुरी सोने की मूरतें बनाकर माटी के मोल बेच रहे हैं।''''यह लेखनी है या जादू की छड़ी आपके हाथ में।'

'माटी की मूरतें (१६४६ ई०) में इनके अतिरिक्त दस और शब्दचित्र हैं जिनपर लेखक के विचार इस प्रकार हैं, 'कला ने उनपर पच्चीकारी की है किंतु मैंने ऐसा नहीं होने दिया कि रंगरंग में मूल रेखाएँ ही गायब हो जायँ। कला का काम जीवन को छिपाना नहीं, उसे उभाड़ना है। कला वह, जिसे पाकर जिंदगी निखर उठे, चमक उठे।'

वैसे इस संग्रह से पूर्व ही लेखक का शब्दचित्रों का प्रथम संग्रह लालतारा शीर्षक से सन् १६३८ में प्रकाशित हो चुका था। 'लालतारा मेरे शब्दचित्रों का पहला संग्रह है। इसका पहला रूप उस जमाने में निकला था, जब मैं सिर से पैर तक लाल लाल था।' 'लालतारा' एक नए प्रभात का प्रतीक है जिसमें १६ शब्दचित्र हैं। इसमें संकलित रेखाचित्र 'इंक्लाब जिंदाबाद' पर तो लेखक को डेढ़ साल की सख्त कैद मिली थी। उसका एक अंश इस प्रकार है, 'भगतसिंह हँसते हँसते, गाते गाते 'मेरा रँग दे बसंती चोला' फाँसी के तख्ते पर झूल गया।

'उसने मैजिस्ट्रेट से कहा, 'तुम धन्य हो मैजिस्ट्रेट कि यह देख सके कि विप्लव के पुजारी किस तरह हँसते हँसते मृत्यु का आलिंगन करते हैं।' सचमुच मैजिस्ट्रेट

धन्य था, क्योंकि न केवल हमें, किंतु उनके माँ बाप, सगे संबंधी को भी उनकी लाश तक देखने को न मिली। हाँ, सुनते हैं कि किरासिन के तेल में धधकते मांस के कुछ पिंड, हड्डियों के कुछ टुकड़े और इधर उधर बिखरे खून के कुछ छींटे मिले हैं। अहे किस्मत।'

इस मार्मिक तथा करुण चित्र को पढ़कर किसकी आँखों में आँसू नहीं छलछला आयेंगे। इस साहित्यिक अलबम में शब्दचित्रों के माध्यम से अनेक भावचित्र, रेखाचित्र तथा कल्पनाचित्र हैं। कुछ रचनाएँ गद्यकाव्य को भी स्पर्श कर रही हैं।

'गेहूँ और गुलाब' (१९५० ई०) की भूमिका में लेखक ने स्वीकार किया है, 'ये शब्दचित्र, पिछले शब्दचित्रों से भिन्न हैं—छोटे, चलते, जीवंत। मैंने कहा—हैंड कैमरा के स्नैप शाट, आलोचक ने उस दिन डाँटा·····'हाथीदाँत पर की तस्वीरें।'

इस संग्रह के रेखाचित्रों में बेनीपुरीजी भावुक अधिक हैं। यही कारण है कि इन शब्दचित्रों में 'गद्यकाव्य' की सी झलक अधिक मिलती है। इस संकलन में २५ शब्दचित्र हैं।

'मील के पत्थर' लेखक के हृदयस्पर्शी रेखाचित्रों तथा संस्मरणों का संकलन है। छोटे छोटे वाक्यों तथा भावभरे शब्दों के चित्रात्मक प्रयोग से भाषा सजीव होकर उस व्यक्ति का सहज में ही चित्रांकन कर देती है। इस संग्रह में पंद्रह संस्मरणात्मक चित्र हैं।

रेखाचित्रों को इतने साज सँवार के साथ गढ़कर कोई दूसरा व्यक्ति नहीं रखता। शैलियाँ बदलती रहती हैं—कहीं संस्मरणात्मक, कहीं नाटकीयता और कहीं डायरी, पर भाषा सर्वत्र सहज फुदकती चलती है जिसमें छोटे छोटे भावभीने वाक्य पाठकों को मुग्ध किए रहते हैं। बेनीपुरीजी ने चतुर पारखी जौहरी की भाँति यत्र-तत्र जहाँ कहीं भी पात्र मिले हैं उन्हें अपनी कुशल लेखनी से चित्ररूप में खड़ा कर दिया है। विषय की विविधता और शैली का जितना अद्भुत चमत्कार बेनीपुरीजी में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं।

बेनीपुरीजी के संबंध में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का कथन उल्लेखनीय है :

'यदि हमसे प्रश्न किया जाय कि आजकल हिंदी का सर्वश्रेष्ठ शब्दचित्रकार कौन है, तो हम बिना किसी संकोच के बेनीपुरी का नाम उपस्थित कर देंगे।'

महादेवी वर्मा (१९०७ ई०)—छायावादी काव्यधारा में रहस्यवादी कवयित्री महादेवी वर्मा का उल्लेखनीय स्थान है। आपने अपनी अभिव्यक्ति के लिये काव्य तथा चित्र दोनों ही माध्यमों को अपनाया है। चित्र बनाने में कुशल होने के कारण महादेवीजी रेखाचित्र लिखने की कला में भी निपुण हैं। हो सकता है रेखाचित्र लिखने की कला उन्होंने चित्रकला से ग्रहण की हो। टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं के

माध्यम से हम किसी पात्र का बाह्य अंकन करना चाहते हैं। आपने अपने गीतों तथा चित्रों में जहाँ सामंजस्य स्थापित किया है वहाँ रेखाचित्रों में भी काव्यात्मकता आ गई है। आपने सन् १९२० से रेखाचित्र लिखना आरंभ कर दिया था।

महादेवीजी ने समाज के निम्न वर्ग में से अपने पात्र लिए हैं जो उनकी लेखनी का आश्रय पाकर आज अमर हो गए हैं। इन रेखाचित्रों में उनके पात्र 'रामा, भक्तिन' आदि कम बोलते हैं केवल लेखिका द्वारा किया गया पात्रों का रेखांकन अधिक मुखर है। आपके रेखाचित्रों में स्मृतिचित्र तथा संस्मरण दोनों का सामंजस्य है जिसके कारण बहुत से आलोचक उन्हें भ्रमवश 'संस्मरण' मात्र मान लेते हैं।

इस विधा में उनके अबतक तीन संग्रह पठनीय हैं :

१. अतीत के चलचित्र (१९४१ ई०), २. स्मृति की रेखाएँ (१९४३ ई०) तथा ३. पथ के साथी (१९५६ ई०)।

महादेवीजी के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों का पहला संग्रह 'अतीत के चलचित्र' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। वस्तुतः इसमें रेखाचित्र के साथ संस्मरण का धूपछाँही मिश्रण है। इस संग्रह में ११ शब्दचित्र हैं जिनमें दीनहीन, पीड़ित, विवश, परित्यक्त, समाज से प्रताड़ित पात्रों की जीवनकथाएँ हैं जिनमें महादेवीजी की अपनी जीवनगाथा भी दिखाई देती है। 'इन स्मृतिचित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था। अँधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश की धुँधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं, उसके बाहर तो वे अनंत अंधकार के अंश हैं। मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े होकर चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं, वही बाहर रूपांतरित हो जायगा।' इन शब्दचित्रों में ४ नायकप्रधान हैं—रामा, घीसा, अलोपी, बदल तथा शेष सभी सात रेखाचित्र नायिकाप्रधान हैं। जिनमें से मुख्य है— बिंदो तथा बिट्टो बालविधवाएँ, मेहतरानी सबिया, कुम्हारिन रधिया तथा कर्मठ पहाड़िन नौकरानी लछमी।

नवाँ रेखाचित्र सन् १९३८ में लिखा हुआ है। इसमें अंधे अलोपी की करुणामय गाथा है। अलोपी सब्जी बेचता है। अंधा होते हुए भी कर्त्तव्यपरायण है। पुरुषार्थी और परिश्रमी अलोपी सबकी ममता का पात्र बन गया है। नेत्रहीन होते हुए भी उसको स्पर्शज्ञान है। ग्यारहवाँ रेखाचित्र पहाड़ी कर्मठ महिला लछमी (सन् १९३९ ई०) का है। वह हँसी से आँसुओं को छुपाए रहती है। बाहर से मैली कुचैली पर भीतर से बिल्कुल साफ थी।

अतीत के चलचित्र में जहाँ एक ओर ग्रामीण नौकरों के गुणदोषों का विवेचन है वहाँ दूसरी ओर विमाताओं के दुर्व्यवहार तथा सामाजिक रूढ़ियों से प्रताड़ित निरीह बालिकाओं तथा बालविधवाओं के जीवन के करुण चित्र हैं। हृदयहीन स्वार्थी समाज के अत्याचारों की चक्की में पिसते, तिल तिलकर जीवन को समाप्त कर देने-

वाले पात्रों की मूक गाथा है। पाठक लेखनी से प्रस्तुत इस करुणासागर में गोते लगाता रहता है और इन पात्रों के प्रति सहानुभूति रखता है। सहानुभूति का विराट् रूप 'तुच्छ' को अमर कर देने में समर्थ होता है और यह तथ्य सिद्ध होता है महादेवीजी के इन रेखाचित्रों से।

'स्मृति की रेखाएँ' शीर्षक आपका दूसरा संग्रह है। इसमें संस्मरणात्मक शैली में लिखे गए सात रेखाचित्र हैं। जिनमें महादेवी का चित्रकार, पर्यटक, प्रधानाध्यापिका आदि सभी रूप उभरकर आए हैं और इनमें सर्वोपरि है उनका नारी रूप। गाँव निवासियों की सरलता, भावुकता और उनका भोलापन चित्रित करना ही इन चित्रों का लक्ष्य है। भारतीय समाज की पृष्ठभूमि पर आधारित इन चित्रों में आपने कला की तूलिका से रेखा और रंग के माध्यम से रस भरा है। रसभरे ऐसे कलात्मक रेखाचित्र अन्यत्र दुर्लभ हैं।

सभी पात्र लेखिका के जीवन के अभिन्न अंग हैं। जिन परिस्थितियों में पात्र रहते हैं उनसे सीधा संबंध लेखिका का भी है। दुःख एवं दारिद्रय से उत्पन्न पात्रों की समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन महादेवीजी ने किया है। 'स्मृति की रेखाएँ' के सभी पात्रों में दु:खवाद की प्रधानता है। महादेवीजी ने जो अनेक यात्राएँ की हैं, कल्पवास किए हैं उनका अनुभव भी इन चित्रों में समाया हुआ है। इनमें वृद्धा परिचारिका भक्तिन, चीनी फेरीवाला वस्त्रविक्रेता, बदरीकेदार यात्रा के दो बंधु-जंग-बहादुर और धनिया, निर्धन मुन्नन की माई, कल्पवास के भावुक मानव ठकुरी बाबा, उत्पीड़िता घो.बन, मूक किंतु ममतामूर्ति 'गुँगिया'।

इन करुणात्मक रेखाचित्रों पर टिप्पणी करते हुए हंस (मई १९४४) में प्रसिद्ध आलोचक अमृतरायजी ने लिखा था, 'उन्होंने अधिकांश में उन व्यक्तियों के संस्मरण दिए हैं जो करुणा और भावना और सहज मानवता के स्रोत हैं, जो बिना कानपूँछ हिलाए गऊ के समान सब अत्याचार सहन कर लेते हैं।'

भारतीय जीवन के समाजप्रताड़ित, शोषण से सताए, अशिक्षित, दीनहीन पर सरल पात्रों के ही सजीव चित्र 'स्मृति की रेखाएँ' में प्राप्त होते हैं। इसमें विमाता का दुर्व्यवहार, अनमेल विवाह के दुष्परिणाम तथा कुव्यसनों में फँसे पति के व्यवहार से प्रताड़ित नरनारियों के मार्मिक चित्र हैं। महादेवीजी के अंतर में व्याप्त ममता, वात्सल्य, निश्छलता आदि गुण ही इन पात्रों के माध्यम से मुखर हो उठे हैं। रेखा-चित्रों की चित्रात्मक भाषा तो सर्वत्र है पर पात्रानुकूल।

'पथ के साथी' आपका तीसरा संग्रह है जिसमें 'रेखाएँ' शीर्षक से आपने अपने छह सहयोगियों का रेखांकन किया है। प्रारंभ में 'प्रणाम' के अंतर्गत रवींद्रनाथ टैगोर का काव्यात्मक भाषा में लिखा रेखाचित्र है जो मंगलाचरण का स्थान रखता है। प्रथम रेखाचित्र राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त पर है जिसमें उनकी कर्मनिष्ठा, भावुकता

स्पष्टवादिता, सरलता आदि गुण प्रधान रूप से उभर कर आए हैं। दूसरा चित्र सुभद्राकुमारी चौहान का है जिनका चित्र बनाना कुछ सहज नहीं है; क्योंकि चित्र की साधारण जान पड़नेवाली प्रत्येक रेखा के लिये उनकी भावना की दीप्ति 'संचारिणी दीपशिखेव' बनकर उसे असाधारण कर देती है।

'निराला' में उनकी उदारता, दानवृत्ति, अतिथिप्रेम विशेष रूप से व्यक्त किया गया है। प्रसादमय शैली में 'प्रसाद' का रेखांकन किया गया है। पंत के बाह्य तथा आंतरिक व्यक्तित्वपरक रेखाएँ स्पष्ट उभरकर आई हैं। पंत कोमलता और सुकुमारता की मूर्ति मात्र हैं। उनमें प्रकृति प्रेम अटूट समाया हुआ है। पंत की हँसी का चित्र द्रष्टव्य है।

'सुमित्रानंदनजी की हँसी पर श्रमबिंदुओं का बादल नहीं घिरा हुआ है, वरन् श्रमबिंदुओं के बादल के दोनों छोरों को जोड़ता हुआ उनकी हँसी का इंद्रधनुष उदय हुआ है।'

इन रेखाचित्रों में साहित्यकारों की निर्धनता का भी चित्रण किया गया है, निराला का संपूर्ण रेखाचित्र निर्धनता के परिवेश में है।

इस प्रकार रेखाचित्र साहित्य में महादेवीजी का स्थान अद्वितीय है। आपने अपनी लेखनी से जहाँ अपने जीवन में आनेवाले छोटे छोटे पात्रों का चित्रांकन किया है वहाँ सहयोगियों का भी रेखांकन किया है।

अन्य विशिष्ट रेखाचित्रकार

आचार्य विनयमोहन शर्मा (१६०५)—आचार्य विनयमोहन शर्मा हिंदी के वरिष्ठ साहित्यकारों में से हैं। साहित्य जगत् में रेखाचित्रकार के रूप में उनकी ख्याति कम है। आपने अनेक रेखाचित्र लिखे हैं जिनका संग्रह बहुत पहले ही हुआ था। हाल में ही इस संग्रह का दूसरा संस्करण 'रेखा और रंग' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है जिसमें चौदह रेखाचित्र संकलित हैं। आचार्यजी ने पत्र द्वारा सूचित किया था कि इन रेखाचित्रों में 'नजर नसाय गई मालिक' संभवतः ४१-४२ में विशाल भारत में, 'वह वृक्ष और वह चिड़िया' नागपुर से प्रकाशित आलोक में (४३-४४), 'अग्गू काका' हैदराबाद की कल्पना में (५३-५४), 'ब्लैकी' मध्यप्रदेश संदेश में १६५५ के किसी अंक में और 'इला' विशाल भारत में १६४४ में छप चुके हैं।

'डबली बाबू' शीर्षक से उनका पहला रेखाचित्र नर्सरी में काम करनेवाले एक व्यक्ति का है। दूसरा रेखाचित्र नौकर 'शंकर' पर 'नजर नसाय गई मालिक' शीर्षक से है जिसमें एक अधेड़ उम्र का दुबला और लंबा सा आदमी अपने दोनों हाथों को जोड़े खड़ा था। शरीर पर एक मैला कुर्ता था जो कंधों और बाजुओं पर फटकर अपने जीर्ण होने की शहादत दे रहा था।

'क्लीकी' शीर्षक से एक कुत्ते का शब्दचित्र भी इसमें संकलित है। एक शब्द-चित्र नागपुर के धरमपेठ में खाली जगह पर झोपड़ी डालकर रहनेवाले उत्तरप्रदेश के एक अहीर 'कन्हैया' का है। इसमें ही पूसी बिल्ली पर भी रेखाचित्र है। हास्टल लाज के प्रह्लाद धोबी पर भी आपने लेखनी से रेखांकन किया है। दूधवाले बंसी, अस्पताल में पड़ी हुई रोगिणी उनकी दृष्टि से बच नहीं सकी है।

हैदराबाद स्टेशन पर 'थर्ड क्लास का डिब्बा' शीर्षक से रेखांकन किया है।

सभी रेखाचित्रों में आचार्यजी की सरस, सरल तथा प्रवाहमयी भाषा के दर्शन होते हैं। रेखाचित्र अधिकांशत: महाराष्ट्र से संबद्ध होने के कारण मराठी शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में सहायक हुआ है। वातावरण को यथार्थ रूप देने में प्रकृतिचित्रण का पर्याप्त सहारा लिया गया है। भाषा को आलंकारिक रूप भी प्रदान किया गया है।

इन शब्दचित्रों में आचार्यजी के व्यक्तिगत जीवन के संस्मरण भी घुले मिले हुए हैं। कहीं कहीं उन्होंने अपना चित्र भी प्रस्तुत कर दिया है। 'उनके भारी भरकम शरीर से मेरी दुबली पतली हड्डियों का संस्पर्श असह्य हो गया।'

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (१९०६ ई०)—आप हिंदी के वरिष्ठ पत्रकार हैं। शैली की दृष्टि से बेनीपुरीजी की टक्कर के दूसरे रेखाचित्रकार हैं। 'जीवन को प्रेरणाएँ' देनेवाले निबंध लिखने में आपका सानी नहीं है।

संस्मरण लिखने की कला में आप सिद्धहस्त हैं। आपने कभी भी अपने जीवन के किसी भाग में किसी घटना को या व्यक्ति को देखा है, बस उसको ही आप अपना विषय बना सकते हैं। कोई भी विषय आपकी चुस्त शैली और प्रांजल भाषा में ढलकर निखर उठता है। प्रभाकरजी के पास शैली की ऐसी खराद है कि कितनी भी भद्दी वस्तु या खराब मैटिरियल हो आपके पास से साफ सुथरा और निखार लेकर निकलेगा।

'जिंदगी मुस्कराई' (१९५३ ई०) में ३९ विशेष रूप से लिखे गए संस्मरणात्मक निबंध हैं। रेखाचित्र, संस्मरण आदि विधाओं में लिखने का विधिवत् प्रयास सन् १९३२ की जेलयात्रा से किया। आपने अपने स्केचों की कलम को माँजने में बहुत श्रम किया है। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है सन् १९३५-५० तक के पंद्रह वर्षों में स्केच में नए प्रयोग किए हैं और बराबर उन्हें नई चमक देते रहे।

'बाजे पायलिया घुँघरू' में मिश्रजी के ३६ व्यक्तिगत निबंधों का संग्रह है जिनमें चित्रात्मकता है।

'महके आँगन चहके द्वार' (१९६३ ई०) भी लेखक के व्यक्तिगत निबंधों का संग्रह है जिसकी भूमिका में 'श्रीमती रमा जैन' शीर्षक से शब्दचित्र है।

'माटी हो गई सोना' में बल और बलिदान की जीवनचेतना देनेवाले सत्रह अमर अक्षरचित्र हैं। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक राष्ट्रीय महापुरुषों तक के हृदय-

स्पर्शी रेखाचित्रों का संग्रह है जिनमें वर्णित कथाओं को लेखक ने खून से लिखा है कलेजे के खून से, आत्मा के खून से और कलेजे का खून ही इन कथाओं की कला है।' लेखक ने राष्ट्रहित के लिये जीवन की बलि लगा देनेवाले शहीदों के रेखाचित्र इसमें प्रस्तुत किए हैं।

'दीप जले शंख बजे' प्रभाकरजी के सजीव, सशक्त एवं सप्रवाह भाषा में लिखे हुए २६ रेखाचित्रों का संग्रह है जिसमें चतुर्दिक् बिखरी हुई छोटी छोटी घटनाओं को भी महान् और असाधारण बना दिया है। इन चित्रों में पात्रों एवं घटनाओं का बारीकी से अध्ययन किया गया है। रेखाचित्रों में मानवजीवन के सत्यों का उद्घाटन-मात्र करना ही मिश्रजी की कुशल लेखनी द्वारा संभव है। इनमें पहला रेखाचित्र मिश्रजी के पिताजी का है जिसमें उनके व्यक्तित्व की सहज झाँकी है; दूसरे में 'मुहम्मद अली कोतवाल' तथा तीसरे में 'मुखिया सुचेत' शीर्षक है। हजरत मौलाना मदनी का शब्दचित्र बड़ा सजीव है। पाँचवाँ 'डा० खेलराजसिंह' में उस व्यक्ति का चित्र है जिसे मनहूसियत से दुश्मनी थी 'न खुद सुस्त होते थे, न दूसरों को सुस्त होने देते थे।' लघुता के अणु में विराटता का प्रदर्शन इन रेखाचित्रों में होता है।

श्रीमती सत्यवती मल्लिक (१९०७ ई०)—श्रीमती मल्लिक ने हिंदी साहित्य का भंडार लघु कथाओं, कहानियों, जीवनी, निबंध आदि सभी विधाओं के माध्यम से भरा है। आपके द्वारा संपादित 'अमिट रेखाएँ' शीर्षक से रेखाचित्रों का संग्रह सन् १९५१ में प्रकाशित हुआ है। आपकी प्रारंभिक रचनाएँ विशाल भारत में प्रकाशित होती थीं; जिनमें वह अपनी सूक्ष्मबुद्धि, अद्भुत निरीक्षणशक्ति, उत्कट प्रकृति-प्रेम तथा स्वाभाविक सहृदयता से मुग्ध कर देती थीं। हंस (फरवरी १९४२ ई०) में 'यात्रा में' शीर्षक रेखाचित्र प्रकाशित हुआ था जिसमें उनका मूविंग कैमरा यात्रा के साथ चित्र खींचता रहा। मधुकर के रेखाचित्रांक में 'ग्रामों के अन्वेषणकर्त्ता फरीदो साहब' शीर्षक से पठनीय रेखाचित्र प्रकाशित हुआ। 'अमिट रेखाएँ' शीर्षक संग्रह में ग्यारह रेखाचित्र आपके रचित है। 'स्मृति की रेखाएँ' में 'कैदी' शीर्षक स्केच चेखव की कला का स्मरण दिलाता है। 'अमर क्षण' में लेखिका के अनेक शब्दचित्र हैं, जिनमें से एक चित्र पहचानिए, 'किंतु किसी दिन इस प्रकार अकस्मात् समुद्र सी गंभीर, मानसरोवर सी निर्मल, हिमालय के उत्तुंग धवल शिखर सी उज्ज्वल यह भव्य मूर्ति–वाणी जिसके मुख से साकार शीतल निर्झर सी झरती है—मेरे घर को पवित्र करेगी, इसकी मुझे कल्पना भी न थी।

प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त (सन् १९०८)—आधुनिक रेखाचित्रकारों में प्रो० गुप्त अग्रणी हैं। इस विधा के नामकरण में भी आपका काफी योग रहा है। सन् १९३६ से आप रेखाचित्र स्केच लिख रहे हैं। हंस, नया पथ तथा नया साहित्य पत्रिकाओं में आपके रेखाचित्र प्रकाशित होते रहे हैं। इस क्षेत्र में आपके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके है :

१. रेखाचित्र (जुलाई १६४०) प्रकाशगृह, प्रयाग।
२. पुरानी स्मृतियाँ (१६४७ ई०) इंडिया पब्लिशर्स, प्रयाग।
३. विशाख (सन् १६५७) लोकभारती से प्राप्य, राजकमल प्रकाशन लि०।
४. रेखाचित्र (परिवर्द्धित संस्करण) विद्यार्थी ग्रंथागार।

हंस के रेखाचित्रांक (सन् १६३६) में आपने 'बच्चन' पर उल्लेखनीय रेखाचित्र लिखा है। 'संकेत' में संकलित रेखाचित्रों में आपका 'पुराना नगर प्रयाग' रेखाचित्र है। लेखक ने निर्जीव वस्तुओं, पदार्थों, स्थानों पर अधिक संवेदनशील दृष्टि डाली है। आपने विशिष्ट शैली में 'लेटर बाक्स', 'दिल्ली दरवाजा' शीर्षक स्केच लिखे हैं।

श्रीदेवेंद्र सत्यार्थी (सन् १६०८)—लोककला, लोकसंस्कृति एवं लोकगीत के क्षेत्र में सत्यार्थीजी की देन सर्वविदित है। रेखाचित्रकार के रूप में आप नई शैली के जन्मदाता हैं। भावात्मक रेखाचित्रों का संग्रह 'रेखाएँ बोल उठीं' शीर्षक से सन् १६४६ में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में संकलित चित्रों में रेखाएँ बोल उठीं, सौंदर्यबोध, आज मेरा जन्मदिन है, भावात्मक रेखाचित्रों में से हैं। 'रवींद्रनाथ ठाकुर' में जीवनप्रसंगों को रेखाओं के मध्य चित्र उपस्थित किया गया है। गांधीजी के व्यक्तित्व पर चित्र 'चिरनूतन' में है। 'सौंदर्य बोध' में भावुक महात्मा बुद्ध के चरणों में बैठकर प्रेयसी का नाम वीणा के स्वरों में सँजोकर रख रहा है। साहित्यकारो पर लिखे रेखाचित्रों में महादेवी पर 'महाश्वेता महादेवी' शीर्षक से कल्पना में तथा अश्क पर 'अश्क मेरा दोस्त' शीर्षक से आजकल में (सन् १६५१ ई०) में प्रकाशित हुए हैं। मुंशी अभिनंदन ग्रंथ में 'एक मित्र का रेखाचित्र' (१६५० ई०) शीर्षक से मुंशीजी का रेखाचित्र प्रकाशित हुआ।

'क्या गोरी, क्या साँवरी' में सत्यार्थीजी ने कुछ ऐसे आत्मपरक निबंध लिखे' हैं जो रेखाचित्र विधा के अधिक निकट हैं। पं० बनारसीदासजी को आपका 'जन्मभूमि रेखाचित्र पसंद आया है।' 'एक युग एक प्रतीक' (सन् १६४८) में भी कुछ रेखाचित्र हैं।

श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' (सन् १६०८)—दिनकरजी मूलतः कवि हैं और कविता के क्षेत्र में ही निरंतर प्रगति करते हुए आज मूर्द्धन्य साहित्यकारों में हैं। हंस के रेखाचित्रांक में आपने छद्म नाम 'अमिताभ' से राहुलजी पर पठनीय रेखाचित्र लिखा था। यही फिर 'वट पीपल' में संकलित हुआ है। आपके उल्लेखनीय रेखाचित्र हैं : राहुल (१६३६ ई०), मामा बरेरकर (सन् १६५६), सुमित्रानंदन पंत (१६६० ई०), पुण्यश्लोक जायसवाल (१६६० ई०)। दिनकरजी ने जननायक नेहरूपर भी धारावाहिक रूप से संस्मरणात्मक लेखमाला लिखी है जिसमें कहीं कहीं रेखाचित्र का भी आभास मिलता है।

उपेंद्रनाथ अश्क (सन् १९१०)—श्रीउपेंद्रनाथ अश्क हिंदी उर्दू के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार हैं जिन्होंने कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कथाकार, निबंधकार सभी रूपों में साहित्यभंडार भरा है। नवीनतम विधाओं में भी आप सिद्धहस्त हैं। संस्मरण तथा रिपोर्ताज के साथ आपने अच्छे रेखाचित्र भी लिखे हैं। 'ज्यादा अपनी कम पराई' में आपके आत्मपरक संस्मरण संकलित हैं। आपकी दूसरी पुस्तक है 'मंटो : मेरा दुश्मन' संस्मरणात्मक शैली में स्थान स्थानपर इसमें कुछ अच्छे रेखाचित्र हैं।

'रेखाएँ और चित्र' शीर्षक आपका ऐसा संग्रह है जिसमें आपके लिखे कुछ स्केच भी संकलित हैं। दो रेखाचित्र उल्लेखनीय हैं—१. यशपाल, २. होमवतीजी।

श्रीभगवतशरण उपाध्याय (सन् १९१०)—राहुलजी के बाद विश्व का भ्रमण करनेवालों में उपाध्यायजी का स्थान है। 'वो दुनियाँ' आपके रेखाचित्रों का संग्रह है, जिसमें अमेरिका यात्रा के सजीव वर्णन हैं। विश्व के अनेक राजनीतिज्ञों के रेखाचित्र भी इसमें हैं। आपकी दूसरी कृति 'ठूँठा आम' है जिसमें भी कुछ रेखाचित्र तथा रिपोर्ताज हैं।

विष्णु प्रभाकर (१९१२ ई०)—कहानी तथा एकांकी साहित्य में श्रीवृद्धि करने के साथ विष्णुजी अच्छे रेखाचित्र भी लिखते रहे हैं। हंस के रेखाचित्रांक में आपका जैनेंद्रजी पर पठनीय रेखाचित्र प्रकाशित हुआ था। आगे चलकर फिर लहर १९४७ में भी आपका जैनेंद्र पर एक रेखाचित्र प्रकाशित हुआ। मधुकर के रेखाचित्रांक सन् १९४६ में भी आपका 'सियारामशरण : मेरी नजर में' शीर्षक रेखाचित्र प्रकाशित हुआ।

आपके अनेक फुटकर रेखाचित्रों का संग्रह 'जाने-अनजाने' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। दूसरा संग्रह है 'कुछ शब्द : कुछ रेखाएँ'। 'अमिट रेखाएँ' में आपका रचित 'टीपू सुल्तान' पठनीय रेखाचित्र है। यात्रा के अनेक चित्र खींचने में भी विष्णुजी पटु हैं। इस प्रकार के अनेक चित्र उनके 'हँसते निर्झर दहकती भट्ठी' में संकलित हैं।

डाक्टर रामविलास शर्मा (सन् १९१२)—हिंदी के मूर्धन्य आलोचक डा० शर्मा ने अच्छे रेखाचित्र भी लिखे हैं। चाँद में (अप्रैल १९३६ ई०) पं० सालिगराम पर आपका जीवनचित्र प्रकाशित हुआ था। हंस के रेखाचित्रांक में भी आपने 'निराला' पर रेखाचित्र लिखा। हंस (१९४३ ई०) में कम्यूनिस्ट पार्टी के मंत्री पूरनचंद जोशी पर एक पठनीय रेखाचित्र प्रकाशित हुआ था। आपके निबंधसंग्रह 'विराम चिह्न' में कुछ रोचक तथा व्यंग्यप्रधान चित्र भी हैं। इस संग्रह में उल्लेखनीय रेखाचित्र तीन हैं—१. निराला, २. गुलाबराय, ३. हृषीकेश चतुर्वेदी।

डा० नगेंद्र (सन् १९१२)—सुप्रसिद्ध आलोचक तथा निबंधकार रसशास्त्री डा० नगेंद्र ने आधुनिक कवियों की समालोचना में प्रारंभ में ही कवियों के व्यक्तित्व पर सुंदर शब्दचित्र प्रस्तुत किए हैं। 'कहानी और रेखाचित्र' विधाओं का सूक्ष्म अंतर आपने अपने निबंध में स्पष्ट किया है।

स्वर्गीया बहन होमवती देवी पर 'बीबी' शीर्षक से संस्मरणात्मक शैली में लिखा गया आपका पठनीय रेखाचित्र है।

डा० नगेंद्र के दस स्मृतिचित्रों का संकलन 'चेतना के बिंब' में है। इस संकलन के निवेदन में डा० नगेंद्र ने स्पष्ट किया है कि 'यदि रेखाचित्र और संस्मरण में स्पष्ट भेद मानें तो यह कहा जा सकता है कि उनमें दोनों के शिल्प का सामंजस्य है। प्रत्येक रचना एक प्रकार से मेरी साहित्यिक श्रद्धांजलि का अभिलेख है जिसमें बुद्धि ने प्रायः भावना के अनुशासन में रहकर काम किया है।' 'आत्मविश्लेषण' शीर्षक से डा० नगेंद्र ने अपना ही रेखाचित्र प्रस्तुत किया है।

डा० प्रेमनारायण टंडन (सन् १६१५)—रेखाचित्र विधा के माध्यम से आपके लिखे गए सात शब्दचित्रों का संकलन 'रेखाचित्र' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इस संकलन में कूकी, रोगी, मैं पत्रकार हूँ, अफसर, हिंदी लेखक, भैया साहब और हिंदू नारी शीर्षक रेखाचित्र हैं। प्रत्येक चित्र एक वर्ग का प्रतीक है। टंडनजी के ये रेखाचित्र समाज पर करारे व्यंग्य हैं और उसके खोखलेपन को चित्रित करते हैं।

जगदीशचंद्र माथुर (सन् १६१७)—हिंदी जगत् श्रीमाथुर को नाटककार के रूप में जानता है पर नाटक और रंगमंच के अतिरिक्त 'रेखाचित्र' लिखने में आप कितने निष्णात हैं इसका ज्ञान आपकी पुस्तक 'दस तसवीरें' पढ़कर चल सकता है। माथुरजी की इस कृति में दस पेनपोर्ट्रेट (व्यक्ति चित्रलेख) हैं जो उनके जीवन में आए प्रोफेसर, मास्टर, कवि और संगीतज्ञ, अभिनेता और पुरातत्ववेत्ता, राजनीतिज्ञ और प्रशासक से संबंधित हैं। इस पुस्तक का सबसे पठनीय चित्र है—'जीवननिर्माता अध्यापक—अमरनाथ झा।' यह चित्र सर्वांगपूर्ण है। बंगला रंगमंच के अद्वितीय कलाकार श्रीशिशिर भादुड़ी, मर्मज्ञ मराठी साहित्यकार पुरुषोत्तम मंगेश लाड, विराट् स्वरविधायक पन्नालाल घोष, बालचर संस्था के उन्नायक श्रीराम बाजपेयी पर उल्लेखनीय रेखाचित्र संकलित हैं। अंतिम तसवीर लेखक ने अपने पिता लक्ष्मीनारायण माथुर की खींची है जो आदर्शवादी हेडमास्टर और शिक्षक थे।

डा० प्रभाकर माचवे (सन् १६१७)—साहित्य क्षेत्र में विविध विधाओं के माध्यम से लिखते हुए भी आपने पहले रेखाचित्र लिखना प्रारंभ किया। आपका पहला रेखाचित्र सन् १६३३ में प्रकाशित हुआ। हंस में आप नियमित रूप से लिखते रहे। हंस के रेखाचित्रांक में आपका 'अज्ञेय : जितने कि वे मुझे ज्ञेय हुए' शीर्षक से रेखाचित्र प्रकाशित हुआ। सन् १६३६ में ही वीणा में शुक्लजी पर रेखाचित्र प्रकाशित हुआ। इसी समय भारती (१६४० ई०) में अहिंदी भाषाभाषियों में प्रिय मैथिलीशरण गुप्त पर 'कलम और कूँची के साथ' प्रकाशित हुआ। संगम के विशेषांकों में निराला तथा एक भारतीय आत्मा पर रेखाचित्र प्रकाशित हुए। मुक्तिबोध पर प्रकाशित लेख भी उल्लेखनीय है जिसमें रेखाचित्र के तत्व समाहित हैं। यशपाल, रांगेय राघव, डा० रामकुमार वर्मा, मामा, काका आदि आपके पठनीय रेखाचित्र हैं।

ओंकार शरद (सन् १९२६)—शरदजी उपन्यास और कहानी लिखने के साथ रेखाचित्र तथा संस्मरण लिखने की कला में भी पटु हैं। आपका सुप्रसिद्ध पठनीय रेखाचित्र 'लंका महाराजिन' लहर १९४७ में प्रकाशित हुआ था, बाद में अन्य १६ स्केचों कहानियों के साथ 'लंका महाराजिन' शीर्षक से संग्रह प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में ही 'केदार' का चित्र पठनीय है। जो कहानियाँ हैं भी उनमें कथानक सूक्ष्म है, बाह्य चौखटे में तो तस्वीरों को बाँधा है पर तस्वीरों के पीछे जीते जागते पात्र हैं। 'निशानियाँ' शीर्षक से नई धारा (जून १९५०) में मिरजापुर की जेल का चित्र है। नई धारा में मई १९५१ के अंक में 'नरनाहर निराला' शीर्षक पठनीय रेखाचित्र प्रकाशित हुआ। 'संकेत' में आपका 'मौत का सट्टा' शीर्षक रेखाचित्र संकलित है।

आपके रेखाचित्रों का दूसरा संग्रह 'खाँ साहब' है जिसमें 'खाँ साहब' के साथ आठ दूसरे स्केच भी हैं।

आपके रेखाचित्रों का तीसरा संकलन है 'देश काल पात्र'। इस कृति में बर्नार्ड शा का जादू, निराला की याद, शेरशाह की सड़क के किनारे आदि अच्छे चित्र हैं।

डा० महेंद्र भटनागर (१९२६ ई०)—उदीयमान कवि, आलोचक तथा निबंधकार डा० भटनागर ने छोटे छोटे मार्मिक स्केच भी लिखे हैं जो कुछ समय पूर्व 'विकृतियाँ' शीर्षक से संकलित हुए थे और बाद में 'विकृत रेखाएँ : धुँधले चित्र' शीर्षक से संकलित हैं। वस्तुतः ये समय समय पर लिखे गए व्यंग्यचित्रों का संकलन है जो सामाजिक विकृतियों पर आधारित हैं। कल्पित पात्रों पर आधारित ये व्यंग्य शब्दचित्र समाज की बुराइयों पर आघात करते हैं। लेखक ने स्वीकार किया है कि उसने चित्र के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिये सांकेतिक रूप से अपनी ओर से भी कुछ रंग छिटके हैं। कुछ स्केचों की शैली आत्मप्रधान है।

श्रीरामकुमार भ्रमर—उदीयमान कहानीकार भ्रमरजी की कहानियों में चित्रात्मकता मिलती है। भ्रमरजी ने मार्के के अनेक शब्दचित्र प्रस्तुत किए हैं, जिनमें उल्लेखनीय है,—'भगतजी', 'प्रो० मिचलू', 'चाची गुलबदन', 'मौसीजी', 'बाबू चंदन-सहाय', 'मुईन साहब' आदि।

व्यंग्यात्मक रेखाचित्रों के अतिरिक्त भ्रमरजी ने व्यक्तियों के रेखाचित्र भी लिखे हैं जिनसे कुंदनलालजी की त्याग और तपस्या की ६० वर्षीय कहानी प्रकाशित हुई है।

अन्य उल्लेखनीय रेखाचित्रकार

बाबू गुलाबराय (सन् १८८७-१९६३)—हिंदी निबंध के विकास में बाबू गुलाबरायजी का अपूर्व स्थान है। आत्मसंस्मरणात्मक निबंधों में उनका स्थान सर्वोच्च है। इस शैली में लिखते समय ही आपने अनेक रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं। रेखाचित्र में शैली की वैयक्तिकता के साथ विषय में भी वैयक्तिकता होती है। बाबूजी के 'ठलुआ क्लब' में हास्यव्यंग्यात्मक निबंध हैं परंतु वे रेखाचित्रों के अधिक निकट हैं।

इनमें से उल्लेखनीय हैं—१. मधुमेही लेखक की आत्मकथा, २. बेकार वकील, ३. विज्ञापन युग का सफल नवयुवक, ४. निराश कर्मचारी, ५. प्रेमी वैज्ञानिक।

'मेरे नापिताचार्य' सफल रेखाचित्र है। यह 'जीवन और जगत्' में तथा 'मेरी असफलताएँ' के परिशिष्ट में संकलित है। इसमें ही संकलित 'मेरे शिकारपुरी मित्र' उल्लेखनीय है। 'कुछ उथले कुछ गहरे' में संकलित 'साँवलिया बीमवाला' भी रेखाचित्र है। 'मेरी असफलताएँ' में 'नमोगुरुदेवेभ्यो' से अनेक शब्दचित्र प्रस्तुत किए हैं। इसमें गुलाबरायजी ने अपने सभी गुरुओं के स्केच खींचे हैं। गंभीर से गंभीर विषय में उनके व्यंग्य का पुट विषय को रोचक बना देता है।

डा० वृंदावनलाल वर्मा (सन् १८८९ ई० १९६९ ई०)—हिंदी के वरिष्ठ सुप्रसिद्ध उपन्यासकार वर्माजी ने अपने उपन्यासों तथा कहानियों में चित्रात्मक भाषा का प्रयोग किया है। हिंदी में रेखाचित्र शैली का प्रारंभिक विकास वर्माजी के उपन्यासों के माध्यम से स्वीकार किया जा सकता है। आपके प्रसिद्ध उपन्यास 'मृगनयनी' में अनेक सुंदर रेखाचित्र भरे पड़े है। नई धारा में आपके लिखे अनेक रेखाचित्र प्रकाशित हो चुके हैं जिसमें से स्वामिभक्त नौकर 'हलकू' पर प्रकाशित रेखाचित्र उल्लेखनीय है।

माखनलाल चतुर्वेदी (सन् १८८९-१९६८)—चतुर्वेदीजी के रेखाचित्र 'समय के पाँव' शीर्षक पुस्तक में संकलित हैं। इस पुस्तक में २५ संस्मरणात्मक शैली में चित्र उपस्थित किए गए हैं जिनमें से सुभाष मानव, गणेश शंकर : एक संस्था, तथा विनोबा पठनीय हैं। 'रंगों की बोली' में भी रेखाचित्र संकलित हैं।

राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह (१८९१ ई०)—राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध शैलीकार हैं जिनकी लेखनी का चमत्कार उनकी कृतियों में दृष्टिगत होता है। राजाजी जैसा शब्दशिल्पी कोई दूसरा नहीं। उनकी गद्यात्मक कृतियों में कला की कारीगरी मिलती है। संस्मरणात्मक शैली में लिखी हुई पहली पुस्तक है 'सावनीसमाँ' (१९३८ ई०) जिसमें राजा साहब की बस्ती का ४०-५० वर्ष पूर्व का चित्र है।

'टूटा तारा' (सन् १९४० ई०) राजा साहब के संस्मरणों की दूसरी पुस्तक है जिसके अंतर्गत 'मौलवी साहब' और 'देवी बाबा' शीर्षक से दो विस्तृत संस्मरण हैं।

'सूरदास' (सन् १९४०) आपकी तीसरी पुस्तक है जिसमें अंधों की दुनिया की निराली झाँकी प्रस्तुत की गई है।

श्रीसत्यजीवन वर्मा 'भारतीय' (१८९८ ई०)—भारतीयजी बहुत समय पूर्व कहानियाँ लिखा करते थे। कहानी साहित्य के साथ आपने अच्छे रेखाचित्र भी लिखे हैं जिनका संग्रह 'एलबम' या 'शब्दचित्रावली' शीर्षक से १९४९ में प्रकाशित हुआ है। ये रेखाचित्र प्रारंभिक अवस्था में लिखे गए हैं अतएव कहीं कहीं कहानी से भ्रांति होती है।

श्रीरामनाथ सुमन—हिंदी पत्रकारिता के प्रकाशस्तंभ 'बाबूराव विष्णु पराड़कर' पर आपका अद्वितीय रेखाचित्र हंस के रेखाचित्रांक में प्रकाशित हुआ। यह आदर्श रेखाचित्र कहा जा सकता है। इस शब्दचित्र की एक एक पंक्ति मार्के की है। हंस के इसी विशेषांक में संपूर्णानंद पर 'एक बहुमुखी व्यक्तित्व' शीर्षक से दूसरा रेखाचित्र है।

जैनेंद्र (१६०५ ई०)—सुप्रसिद्ध कहानीकार, उपन्यासकार एवं विचारक जैनेंद्रजी ने शब्दचित्र भी प्रस्तुत किए हैं। हंस के रेखाचित्रांक में ही आपका 'मैथिलीशरण गुप्त' पर रेखाचित्र था। प्रेमचंद आपके समकालीन रहे हैं। आजकल में आपके कई अच्छे रेखाचित्र प्रकाशित हुए हैं। प्रतीक में भी रेखाचित्र प्रकाशित होते रहे हैं। आपके निबंधसंग्रह में ही रेखाचित्र भी संकलित हैं।

इंद्र विद्यावाचस्पति—संस्मरणात्मक शैली में रेखाचित्र लिखने की कला में इंद्रजी सिद्धहस्त थे। इस शैली में लिखे आपके लेखों का संग्रह 'मैं इनका ऋणी हूँ' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। इस पुस्तक में पठनीय अंश है—तिलक, बापू, मोतीलाल नेहरू, हकीम अजमल खाँ, पं० मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय।

यशपाल (१६०३ ई०)—यशपालजी का एक रेखाचित्र 'हमने भी इश्क किया था' बहुत पहले 'रूपा' में प्रकाशित हुआ था। लेखक की कहानियों का संग्रह 'तुमने क्यों कहा कि मैं सुंदर हूँ' शीर्षक कृति में रेखाचित्रों के तत्व भी समाहित हैं।

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' (१६०४ ई०)—द्विजजी जीवनचरित लिखने में अच्छी सफलता प्राप्त कर चुके हैं। हंस के रेखाचित्रांक में बाबू श्यामसुंदर दास पर छोटा किंतु प्रभावशाली रेखाचित्र प्रकाशित हुआ।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (सन् १६०७ ई०)—हिंदी में वैयक्तिक निबंध लिखने की परंपरा का सम्यक् विकास आचार्य द्विवेदीजी के निबंधों से ही होता है। वैयक्तिक निबंधों के आपके अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'संकेत' में संकलित 'गुरुदेव' शीर्षक रचना में चित्रात्मकता है। कवींद्र रवींद्र पर लिखे आपके चित्रों का संग्रह 'मृत्युंजय रवींद्र' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है।

अज्ञेय (सन् १६११)—सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, विचारक आदि सभी रूपों में अपना स्थान बना चुके हैं। आपने यत्र तत्र अच्छे रेखाचित्र भी लिखे हैं जिनमें से हंस के रेखाचित्रांक में प्रकाशित 'सियारामशरण' पठनीय है। यात्रा वर्णनों के साथ स्थानों पर भी आपके रेखाचित्र हैं। 'आत्मनेपद' में भी चित्रात्मकता है।

श्रीगंगाप्रसाद पांडेय (सन् १६१८-१६६८)—प्रसिद्ध आलोचक तथा निबंधकार पांडेयजी की लेखनी से सजीव रेखाचित्र भी प्रस्तुत हुए हैं। हंस (अक्टूबर १६४३) में 'दस्यु' शीर्षक से रेखाचित्र प्रकाशित हुआ। साहित्यकारों में से राष्ट्रकवि

गुप्त पर (आजकल १९५० ई०) पठनीय है। यह रेखाचित्र ही कुछ हेरफेर के साथ 'लहर' के द्वितीय अंक में प्रकाशित हुआ। इस रेखाचित्र का एक अंश इस प्रकार है, 'मोटा कुर्ता, मिरजई बुंदेलखंडी बनियऊ पगड़ी ऊपर की ओढ़ लेती सो, चढ़ती हुई घुटनों तक धोती, लंबा लटकता हुआ दुपट्टा और सबसे सटीक बिना किसी काटछांट अथवा रोकथाम से मनमानी गति से बढ़ती हुई मूँछें। काली घनी ठीक गोर्की या स्टैलिन जैसी। सब मिलाकर एक पुरानापन लिए हुए दिव्य व्यक्तित्व अपने सगे बाबा जैसे आत्मीय।'

लहर (३) में ही हरिऔधजी पर शब्दचित्र लिखा। निबंधनी (१९४० ई०) में संकलित निबंध रेखाचित्र के अधिक समीप हैं जैसे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। काव्यात्मक भाषा में रेखाचित्र लिखने में पांडेयजी अग्रणी हैं।

सेठ गोविंददास—सेठजी ने हिंदी रंगमंच के लिये अनेक स्तुत्य प्रयत्न किए हैं। रेखाचित्र विधा में भी आपने काफी लिखा है। अपने राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक और व्यापारिक जीवन में आनेवाले अनेक महान् व्यक्तियों का चित्रण किया है। स्मृतिकण (सन् १९५९ ई०) में संस्मरणात्मक शैली में लिखे गए ४० रेखाचित्र हैं। 'चेहरे जाने पहचाने' में १७ रेखाचित्र संकलित हैं जिनमें से अधिकांश चित्र पारिवारिक व्यक्तियों के हैं। इस चित्रावली में सबसे सुंदर चित्र उनके पिताजी का है।

सियारामशरण—गांधीवादी विचारधारा के पोषक सियारामशरणजी के निबंधसंग्रह 'झूठसच' के कुछ निबंधों में रेखाचित्र की भ्रांति होती है। व्यक्तिव्यंजक निबंधों की परंपराओं में इस संकलन का विशेष महत्त्व है। 'मुंशी अजमेरी' शीर्षक से मुंशीजी पर अच्छा रेखाचित्र है। 'शुष्को वृक्ष' तथा 'घूँघट' रेखाचित्र शैली में लिखे हुए हैं।

रांगेय राघव—आपने सभी विधाओं से हिंदी साहित्य को योग दिया है। प्रथम उपन्यास 'घरौंदे' में भी अनेक सुंदर रेखाचित्र हैं। 'पाँच गधे' शीर्षक पुस्तक में 'मन', 'बुद्धि', और 'पेट' पर रेखाचित्र संकलित हैं। आजकल में 'गूंगे' शीर्षक रेखाचित्र प्रकाशित हुआ था।

अमृतराय—आपने भी अच्छे रेखाचित्र लिखे हैं। नया पथ (१९५३ ई०) में 'रेल की खिड़की' शीर्षक स्केच प्रकाशित हुआ। आपकी अनेक कहानियों में भारतीय जीवन के प्रतिनिधित्व करनेवाले चित्र हैं और ग्रामीण जीवन की झाँकियाँ भी।

पहाड़ी—कहानी के साथ कभी कभी स्केच भी लिखते हैं। 'धुंधली रेखाएँ' में एक निम्न मध्यकुल का चित्र खींचा गया है। 'पतझड़' में बंगाल के अकाल का चित्र है। 'आखरी स्केच' (विश्वमित्र १९३७) पठनीय रेखाचित्र है।

हर्षदेव मालवीय—आपके 'लाला लूलीलाल' (समाज १९५४) तथा बाबू सूरजप्रसाद चौरासिया (समाज १९५४) उल्लेखनीय रेखाचित्र हैं जिनमें हास्य का पुट है। व्यंग्यचित्र लिखने में आप निष्णात हैं, उदाहरणार्थ 'बिलकुल गुरु' लिया जा सकता है जिसमें समाज की रूढ़ियों पर करारा व्यंग्य है।

लक्ष्मीचंद्र जैन—आपके 'नए रंग नए ढंग' में अच्छे रेखाचित्र हैं। शैली सरस तथा सरल है, व्यंग्यात्मक चुटकियाँ यत्र तत्र हैं।

चतुरसेन शास्त्री—के उपन्यासों में सजीव वर्णन तथा चित्र मिलते हैं। 'अंतस्तल' में भी चलती फिरती जीती जागती तसवीरें हैं।

अमृतलाल नागर के उपन्यासों मे चित्रात्मक शैली के दर्शन होते हैं। हंस (नव० १९४७) में प्रकाशित 'अब न कहूँगी तुझे पूतों फल' करुण रेखाचित्र है।

श्रीउदयशंकर भट्ट के 'सागर, मनुष्य और लहरें' शीर्षक उपन्यास में पठनीय रेखाचित्र हैं। 'वह जो मैंने देखा' में अनेक अच्छे रेखाचित्र हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने यात्रा साहित्य के साथ कहानियाँ भी लिखी हैं। 'सतमी के बच्चे' कहानी संग्रह में आदर्श रेखाचित्र हैं। **भदंत आनंद कौशल्यायन** स्केच लिखने में पटु हैं। 'जो लिखना पड़ा' मे व्यंग्य का पुट है। 'आह ऐसी दरिद्रता' में देश की गरीबी का चित्र है। **कामेश्वर शर्मा** का 'सुकवि दिनकर' पर एक शब्दचित्र हंस के रेखाचित्रांक में प्रकाशित हुआ।

श्रीविनोदशंकर व्यास—ने 'प्रसाद और उनके समकालीन' में कुछ अच्छे चित्र प्रस्तुत किए हैं जिनमें से प्रसाद तथा निराला के चित्र पठनीय है।

श्रीशिवचंद्र नागर—ने 'महादेवी विचार और व्यक्तित्व' शीर्षक पुस्तक में महादेवी के बाह्य तथा आंतरिक व्यक्तित्व का अच्छा चित्रण किया है। अन्यत्र प्रकाशित रेखाचित्रों में 'पंत का व्यक्तित्व एक रेखाचित्र' उल्लेखनीय है। **शांतिप्रिय द्विवेदी** ने समकालीन साहित्यकारों के जीवनचित्र अपनी लेखनी से संस्मरणात्मक शैली में अंकित किए हैं। 'पथचिह्न' में इसी प्रकार के लेखों का संग्रह है। 'पथचिह्न' में ही अपनी स्वर्गीया बहिन को भारतमाता की आत्मा के रूप में स्मरण किया गया है।

श्रीगणेश वासुदेव मावलंकर—ने बंदियों के जीवन की कुछ हृदयस्पर्शी यथार्थ घटनाएँ 'मानवता के झरने' शीर्षक पुस्तक में संकलित की है। इनमें जहाँ घटनाओं का यथार्थ चित्रण है वहाँ संस्मरणात्मक शैली है। **श्रीप्रकाशजी** ने राजनीति से अवकाश लेकर इधर संस्मरणात्मक शैली में जो लेखमालाएँ लिखी हैं उनमें अच्छे चित्र भी हैं। जमनालाल बजाज की स्मृति में प्रकाशित 'स्मरणांजलि' में आपका भी स्मृतिचित्र है। **श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी** के 'निबंध संग्रह' 'कुछ'

में रामलाल पंडित, प्रेमचंद तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी पर परिचयात्मक रेखाचित्र हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा भी कुछ अच्छे पठनीय रेखाचित्र प्रस्तुत किए गए, जिनमें से उल्लेखनीय है—'राधाकुमुद मुखर्जी' तथा टी० एल० वासवानी। सुप्रसिद्ध अभिनेता बलराज साहनी का 'हजारीप्रसाद द्विवेदी' पर रेखाचित्र हंस के रेखाचित्रांक में प्रकाशित हुआ था। श्रीकृष्णानंदजी का गणेशशंकर विद्यार्थी पर एक रेखाचित्र 'जैसा मैंने देखा' में संकलित है। अजितकुमार के 'अंकित होने दो' में पाँचवी तथा छठी रचनाएँ क्रमशः 'मास्टर जी' तथा 'दफ्तर का बाबू' शीर्षक रेखाचित्र की कोटि में आ सकती हैं। अविनाशचंद्र के रेखाचित्रों में १२० सेकिंड (हंस १९४६) तथा दास बाबू (हंस नव० १९४६) पठनीय हैं। राजेंद्र लाल हाँडा के शब्दचित्रों में दिलीप भंडारी (आजकल १९५२), वाह कैलाशजी, तथा साहित्यकारजी (आजकल १९५१) उल्लेखनीय हैं। अक्षयकुमारजी ने भी 'दूसरी दुनिया' में यात्रासंबंधी विवरणों के मध्य रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं। 'अमिट रेखाएँ' में चरित्रनिर्माण संबंधी रेखाचित्र संकलित हैं। वैकुंठनाथ मेहरोत्रा का 'एक्सीडेंट' शीर्षक रेखाचित्र आकाशवाणी से प्रसारित हुआ। ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ ने गुप्त अभिनंदन ग्रंथ में जीवनी प्रस्तुत करते हुए रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं। माखनलालजी चतुर्वेदी की जीवनी में भी रेखाचित्र शैली का आश्रय लिया गया है। अनंत गोपाल शेवड़े ने 'तीसरी भूख' में व्यंग्यात्मक शैली में चित्रण किया है।

कुलभूषण, शिवानी, हंसराज रहबर की कहानियों में रेखाचित्र के तत्व मिलते हैं। अन्य उल्लेखनीय रेखाचित्रों में 'मूक नहीं पत्थर' (शमशेरसिंह नरुला), लहर में 'सोनिया' (रामगोपाल विजयवर्गीय), नई धारा में 'कविप्रिया (मदन वात्स्यायन) आजकल में 'कुँजड़ा' (विष्णुअंबा लाल जोशी), सरस्वती में 'मास्टर मोशाय' (भिक्खु), हंस में 'अस्पताल' (कृष्ण सोबती), कौमुदी विशेषांक में रामकुमार वर्मा (गोपीकृष्ण गोपेश) लिए जा सकते हैं।

इधर कुछ उदीयमान लेखकों के इस विधा में संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें कपिल की 'सूरतें और सीरतें', कुंतल गोयल की 'धुँधली रेखाएँ', शिवचंद्र प्रताप की 'बोलती तस्वीरें', धर्मेंद्र गुप्त की 'व्यक्ति, व्यक्ति, व्यक्ति' तथा रसिकबिहारी ओझा निर्भीक की 'सुरतिया ना बिसरे' कृतियाँ ली जा सकती हैं।

हंस, नई धारा, नयापथ, रसवंती, धर्मयुग, कादंबिनी आदि पत्र पत्रिकाओं में रेखाचित्र बिखरे पड़े हैं। यदि पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित शब्दचित्रों को संकलित कर लिया जाय तो संग्रह कई खंडों में प्रकाशित होगा। इन शब्दचित्रों के अन्य लेखकों में हिमांशु जोशी, मन्मथनाथ गुप्त, सूर्यनारायण ठाकुर, निरंजननाथ आचार्य, रामप्रकाश कपूर, चंद्रमौलि बख्शी, राजबिहारी लाल, भवानीदयाल संन्यासी, डा० कमलेश,

डा० कुमार विमल, रामचंद्र तिवारी, हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय', बी० जी० वैशंपायन, सुरेंद्रनाथ दीक्षित, मणिंद्रनाथ, प्रो० नागप्पा, कुंदनलाल उप्रेति, अमरनाथ, तेजबहादुर चौधरी, प्रकाश कुमार, रामखेलावन चौधरी, मनोरमा गोयल, हरिकृष्ण त्रिवेदी, विश्वमोहन कुमार सिंह, फणीश्वरनाथ रेणु, मलखान सिंह सिसौदिया, रामनारायण श्रीवास्तव, इकराम साबरी, मोहनसिंह सेंगर, रावी, नंदकुमार पाठक, सत्यपाल आनंद, प्रेम प्रकाश गोविल, बलभद्र दीक्षित, भुवनेश्वर प्रसाद, धर्मवीर भारती, मिसल मिश्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी तथा सुभद्राकुमारी चौहान आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इनमे सिद्ध लेखक तथा उदीयमान लेखक भी सम्मिलित हैं। यह सब सिद्ध करता है कि हिंदी में इस विधा का भविष्य उज्ज्वल है।

•

द्वितीय अध्याय

रिपोर्ताज साहित्य

'रिपोर्ताज' हिंदी गद्य की नवीन विधा है। यह अंग्रेजी शब्द 'रिपोर्ट' का समानार्थी फ्रांसीसी शब्द 'रिपोर्ताज' ही है जिसमें किसी घटना का यथातथ्य वर्णन किया जाता है। इसमें लेखक प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर किसी घटना की रिपोर्ट तैयार करता है और उसमें लेखक अपनी सहज साहित्यिक कला से जब लालित्य ले आता है तो वही गद्य की आकर्षक विधा 'रिपोर्ताज' कहलाती है। इस प्रकार से 'रिपोर्ट' के कलात्मक एवं साहित्यिक रूप को ही 'रपोर्ताज' कहते हैं। सुनी हुई घटना के आधार पर लेखक अपनी प्रतिभाजन्य कला से भी कभी कभी ऐसा चित्र उपस्थित कर देता है कि प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर कलाविहीन रिपोर्ट मात्र से अधिक प्रभावोत्पादक बन जाता है। इस प्रकार इसमें किसी स्थान, घटना का यथातथ्य चित्रणमात्र ही आवश्यक नहीं वरन् लेखक की कल्पना, कला एवं प्रतिभा भी आवश्यक है जिससे वह साहित्य का अंग बन सके। किसी तथ्य की इतिवृत्तात्मक रिपोर्ट मात्र अनिवार्य होते हुए भी एकमात्र इस विधा की साहित्यिकता को निष्पन्न नहीं करती। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ लेखक चटपटी शैली में कल्पना पर आधारित ही किसी घटना का यथातथ्य कलात्मक चित्रण कर देते हैं वस्तुतः यह रिपोर्ताज नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह वास्तविक घटना से परे है। संघर्ष के क्षणों को तत्काल शब्दों में प्रस्तुत करना ही 'रिपोर्ताज' है। युगसंघर्ष, युगचेतना तथा असाधारण जीवन को कला में बाँधना ही इसको साहित्यिकता प्रदान करता है। सहसा घटित होनेवाली अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना ही इस विधा को जन्म देने का उपादान कारण बन जाती है। घटनाओं की मार्मिकता सहृदय लेखक में सहज रूप से ही तीव्र भावावेश उत्पन्न कर देती है जिससे इस विधा में आर्द्र या रौद्र तरलता उत्पन्न हो जाती है। घटना की तात्कालिक प्रतिक्रिया से भावावेशप्रधान शैली में लिखी गई विधा ही रिपोर्ताज है।

इस विधा का विकास यूरोप में युद्धक्षेत्र में हुआ। सन् १९३६ के लगभग द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इस विधा का जन्म हुआ और यह विधा युद्धभूमि में विकसित हुई। महायुद्ध की विभीषिका भी नवीन कलारूपों को जन्म देती है। इलिया एहरेनबुर्ग के रिपोर्ताज के साथ अमरीका के डॉस पैसोस, फ्रांस के आंद्रे मैलरोज और इंगलैंड के क्रिस्टोफर इशरवुड के नाम उल्लेखनीय हैं। डिकिंस की पहली पुस्तक 'बोज के स्केच' में लंदन की शाम तथा सुबह के अच्छे चित्र हैं। ग्रोसमैन, लेवस्का, शोलोखोव आदि

प्रमुख रिपोर्ताज लेखक हैं। रूस की समाजवादी क्रांति का रिपोर्ताज जान रीड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'टेन डेज दैट शुक द वर्ल्ड' में लिखा है।

'रिपोर्ताज में लेखक को वर्ण्य घटना या वस्तु का चित्रण करने के लिये निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना होता है : (१) मनोवैज्ञानिक विश्लेषण जो सहज होता हुआ सबल तथा ग्राह्य हो। (२) पात्रों का चित्रण यथार्थ होना चाहिए। (३) वर्ण्य घटना या वस्तु का पूरा पूरा ज्ञान। किसी भी घटना का इतिहास और उसका परिवेश तो लेखक के समक्ष रहता ही है पर रिपोर्ताज का रूपविधान ही उसको कला के रूप में प्रस्तुत करता है। इन तत्वों में शिवदानसिंह चौहान तीसरा तत्व आवश्यक मानते हुए उस घटना में भाग लेनेवाली शक्तियों के भीतरी इरादों, उनके कार्यक्रमों, उनकी गतिविधि, रीतिनीति और संघर्ष के परिणाम पर निर्भर भविष्य की दिशाओं का स्पष्टीकरण भी आवश्यक मानते हैं।

रिपोर्ताज में घटना चित्रपट की तरह आँखों के सामने से तेजी के साथ घूम जाती है। परिवेश की संपूर्ण चित्रात्मकता के साथ, भावों और संवेदना की तरंगों से युक्त घटना सजीव बन जाती है। रेखाचित्र और रिपोर्ताज का अंतर स्पष्ट करते हुए आलोचना, भाग ३६ में डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय लिखते हैं, 'रिपोर्ताज में ध्यान, धारणा, कल्पना और भाव की गति में समन्विति होती है जबकि रेखाचित्र में इन सबकी संगति 'स्थिर गति' में होती है। रेखाचित्र में लेखक की चेतना का चमत्कार मिलता है, रिपोर्ताज में क्रिया और लेखक पर उसकी तीव्रतम प्रतिक्रिया इन दोनों का अतः रिपोर्ताज क्रिया का सौंदर्य है, संस्मरण क्रिया और व्यक्तित्व के स्मरण का सौंदर्य है और रेखाचित्र बाह्याकृतियों और चेष्टाओं की पुनःप्रस्तुति का सौंदर्य।'

'रिपोर्ताज' विधा पर सर्वप्रथम शास्त्रीय लेख मार्च १९४१ में शिवदान सिंह चौहान ने लिखा था। चौहान स्वयं अच्छे रिपोर्ताज भी लिखते रहे हैं। आपकी राय में 'आधुनिक जीवन की इस नई द्रुतगामी वास्तविकता में हस्तक्षेप करने के लिये मनुष्य को नई साहित्यिक रूपविधा को जन्म देना पड़ा। रिपोर्ताज उनमें से सबसे प्रभावशाली और महत्वपूर्ण रूपविधान है।'

हिंदी में रिपोर्ताज का प्रारंभ करने का श्रेय 'हंस' को है जिसमें 'समाचार और विचार' शीर्षक से एक स्तंभ की सृष्टि की गई। इस स्तंभ में प्रस्तुत सामग्री रिपोर्ताज ही होती थी। बाद में चलकर जून १९४४ के अंक से 'अपना देश' शीर्षक से स्थायी स्तंभ ही चला दिया गया। हंस के संपादक महोदय ने ही सर्वप्रथम 'रिपोर्ताज' विधा का महत्व समझा था। 'रिपोर्ताज साहित्य का अभिनव क्रांतिकारी रूपविधान है। रिपोर्ताज रिपोर्ट है जिसमें वर्ण्य घटना अपने परिवेश की संपूर्ण चित्रात्मकता के साथ अंकित की जाती है।' इस लक्षण की सिद्धि के लिये जो शृंखला प्रस्तुत हुई है उसकी पहली कड़ी रिपोर्ताज के रूप में थी 'मौत के खिलाफ जिंदगी की लड़ाई।' इसके लेखक थे शिवदान सिंह चौहान। 'हंस' में प्रकाशित इस ९ पृष्ठीय

रिपोर्ताज में स्वतंत्रता से पूर्व की देश की गतिविधि पर पूरा पूरा प्रकाश पड़ता है। स्वतंत्रता की पुकार के साथ इसमें बंगाल का अकाल, गांधीजी की रिहाई, एमरी के भाषण की चर्चा भी है इस रिपोर्ताज के अंत में लेखक इस निर्णय पर पहुँचता है कि अंततोगत्वा संपूर्ण देश की आजादी की लड़ाई और जातीय आत्मनिर्णय के अधिकार की लड़ाई में कोई वैषम्य नहीं है।

जिस समय हंस में चौहान यह रेखाचित्र लिख रहे थे उसी समय विशाल भारत के लिये 'अदम्य जीवन' शीर्षक से रांगेय राघव लिख रहे थे। इस दृष्टि से दोनों समकालीन हैं पर इस विधा की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित करने का श्रेय शिवदानसिंह चौहान को ही है क्योंकि आपके द्वारा प्रस्तुत 'लक्ष्मीपुरा' शीर्षक रचना, जो 'रूपाभ' दिसंबर १९३८ में हमारे आलोच्यकाल के प्रारंभ में ही प्रकाशित हुई, एक प्रकार से 'रिपोर्ताज' ही है। चौहान उन लेखकों में से हैं जो घटनास्थल पर रहकर उस घटना को जानने समझने की कोशिश करते हैं और समाज के प्रतीक क्रांतिकारी संघर्ष से लेखकीय सीधा संबंध स्थापित करते हैं।

रांगेय राघव

हिंदी में रिपोर्ताज का प्रारंभ हमारे आलोच्यकाल मे ही होता है। पीछे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'रिपोर्ताज विधा दूसरे महायुद्ध की ही देन है। द्वितीय महायुद्ध में जनता का सरकार के साथ सहयोग नही था अतः जिस तेजी से इस विधा का विकास भारतीय भाषाओं में होना चाहिए था उतना नही हुआ। आगे चलकर चीन और फिर पाकिस्तान के युद्ध के समय कुछ समय में ही यह विधा काफी विकसित हो गई।

द्वितीय महायुद्ध के मध्य ही सन् १९४३-४४ में बंगाल में भयंकर अकाल पड़ा जिससे भयंकर तथा अप्रत्याशित स्थिति उत्पन्न हो गई। अकाल के साथ महामारी भी फैल गई, इस समय ही जनता को डाक्टरी सेवा अर्पित करने के लिये गए हुए जत्थे के साथ आगरा से उदीयमान साहित्यकार डा० रांगेय राघव भी लेखक रूप में साथ चले गए थे। उन्होंने इस अकाल के अनेक मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए जिनमें आशा निराशा में झूलती, अदम्य उत्साह के साथ परिस्थितियों से संघर्ष करती हुई जनता की भावनाओं का चित्रण है। उन्होंने वहाँ दुर्भिक्ष से आक्रांत मानवता को चीत्कार को सुना था, अपनी आँखों से उन आँखों को देखा था जो निरंतर निर्झर की भाँति बहने पर भी सूख गई थीं। अकाल के साथ पनपी हुई पशुता के उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन किए थे।

अकाल के इन दृश्यों से उनके हृदय पर जो आघात पहुँचा वह लेखनी से प्रस्फुटित हुआ। आपने घटनास्थल पर रहकर जो प्रत्यक्ष पैशाचिक लीला देखी उस

पापलीला का ही रिपोर्ताज शैली में 'विषाद मठ' शीर्षक से उपन्यास भी लिखा। इस उपन्यास की शैली भी मार्मिक है।

अकाल के दृश्यों से आप इतने द्रवित हुए कि आपने इस भंयकरता के अनेक मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए जो उस समय ही विशाल भारत तथा हंस में प्रकाशित हुए। बाद में यही 'तूफानों के बीच' शीर्षक से संगृहीत हुए। अंतर्मन को झकझोरने-वाले ये रिपोर्ताज रांगेय राघव की लेखनी से घटनाओं का मार्मिक चित्र उपस्थित करने के साथ साथ आग भी उगलते चलते हैं। उनके इन रिपोर्ताजों पर टिप्पणी करते हुए डा० रामगोपालसिंह चौहान लिखते हैं, 'एक सचेतन जागरूक प्रगतिशील साहित्यकार के रूप में डा० रांगेय राघव की प्रतिष्ठा इन्हीं रिपोर्ताजों के आधार पर हुई कि रांगेय राघव की कलम में शक्ति है, भाषा में आग है, वर्णन में हृदय की मार्मिक पकड़ है, परिस्थितियों के जाल में फँसी जनता के संघर्ष की गति को समझने की जागरूकता है, जीवन की विषमताओं से तमसावृत समय के पार भविष्य के प्रकाश को देख पाने की पैनी दृष्टि है और पाठक के मनप्राण को उद्वेलितकर अपनी रचनाओं से जीवन के प्रति सचेत करने की चेतना है।'

अकाल की भयंकरता के अनेक यथार्थ चित्र आपने प्रस्तुत किए हैं। भूख के कारण धूल में से चावल के दाने बीनकर खाने और बीनने खाने के ऊपर ही झगड़े के दृश्य भी मिलते हैं।

इन रिपोर्ताजों के माध्यम से डा० रांगेय राघव ने केवल अकाल के दृश्यों को ही उपस्थित नहीं किया वरन् व्यापारियों, महाजनों, मुनाफाखोरों की अमानुषिक प्रवृत्ति का भी बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया है। अनाज पैदा करनेवाले इनके हाथ भूखो मर रहे थे, कपड़ा बनानेवाले स्वयं आज नंगे थे। ऐसी स्थिति में इन चित्रों के द्वारा हृदय में विद्रोह की आग भड़क उठती है।

इन रिपोर्ताजों की भाषा सरस तथा सहज है। ऐसी प्रवाहमयी भाषा का प्रयोग किया गया है जो सरल तथा बोधगम्य है। कहीं कहीं काव्यात्मकता है। शैली व्यंग्यात्मक अधिक है।

अकालसंबंधी रिपोर्ताजों के अतिरिक्त इन्होंने अनेक रिपोर्ताज लिखे जो हंस में प्रकाशित हुए थे। इनमें से पहला उल्लेखनीय है 'उपचेतना का तांडव'। इसमें अनेक चित्र-स्वतंत्रता का आंदोलन, मुन्नी की पढ़ाई, भिखारी का आगमन, प्रस्तुत है। सांप्रदायिक दंगो की विभीषिका प्रकट होती है। गोली, छुरी और आगजनी की घटनाएँ घटित होती है। पूरा रिपोर्ताज प्रभावग्रस्त अवचेतन मन का चित्र है जो पूर्णतया असंबद्ध होते हुए भी एक दूसरे से किसी न किसी प्रकार उलझा हुआ है।

'यह ग्वालियर है' दूसरी प्रकार का रिपोर्ताज है जिसमें दमन एवं अत्याचार का सजीव चित्र है : 'मजदूरों की माँगों पर, रोटी की माँगों पर गोली, न्याय की

माँगों पर गोली, सभी ओर से गोली ही मिलती है। मजदूरों पर गोली चलती है तो नाटक, नाच, तमाशा सब बंद हो जाता है।' इसके साथ ही इसमें हड़ताल, युद्ध, दमन, श्रमिक, मिलमालिक (पूँजीपति) और भूखे नंगे आदि के चित्र है।

इन रिपोर्ताजों में संघर्ष और दमन के प्रति साहसिक लेखनी ने आग उगली है। किसी भी गोलीकांड पर लिखे गए रिपोर्ताज से कहीं अधिक मार्मिकता इसमें है। हिंदी साहित्य में रांगेय राघव का नाम रिपोर्ताज शैली के लिये चिरस्मरणीय बना रहेगा।

इस दिशा में तीसरे उल्लेखनीय लेखक है—प्रकाशचंद्र गुप्त। गुप्तजी ने घटना-प्रधान रिपोर्ताज अधिक लिखे हैं जिनमें बंगाल का अकाल एवं अल्मोड़े का बाजार उल्लेखनीय है। श्रीगुप्त ने अपने रिपोर्ताजों को भी स्केचों के संग्रह में ही रख दिया है। ये घटनाप्रधान रेखाचित्र वस्तुतः रिपोर्ताज हैं। घटनाओं का महत्व ही इनमे सर्वाधिक है। हंस (मार्च १९४९) में प्रकाशित स्वराज्य भवन' उल्लेखनीय रिपोर्ताज है।

इस विधा के अन्य लेखकों में रामनारायण उपाध्याय ने 'गरीब और अमीर पुस्तकें' मे सर्वथा भिन्न शैली का प्रयोग किया है। भगवतशरण उपाध्याय ने रिपोर्ताजों में कमाल किया है। आपने भी हंस मे अनेक रिपोर्ताज लिखे हैं। उपाध्यायजी के रिपोर्ताजों में पर्यटन एवं जीवनसंघर्ष की छाप स्पष्ट है। आपका 'खून के छीटें' शीर्षक रिपोर्ताज उल्लेखनीय है। पर्यटकों में राहुलजी ने भी परिचयात्मक रिपोर्ताजों की सृष्टि की है।

रामकुमार ने 'यूरोप के स्केच' में चित्रात्मकता के साथ विवरण भी दिया है अतएव इन स्केचो मे रेखाचित्र तथा रिपोर्ताज दोनों विधाओं का मिश्रण हो गया है। कोपेनहेगन की विशाल झील, नेपल्स का नीला आकाश आदि शीर्षक इसके अंतर्गत रखे जा सकते हैं क्योंकि इनमें चित्रात्मक विवरण है।

जगदीशचंद्र जैन ने 'पेकिंग की डायरी' में रिपोर्ताज शैली में विवरण प्रस्तुत किए हैं। डायरी शैली में रिपोर्ताज लिखने में निष्णात हैं श्रीअमृतलाल नागर। आपने 'गदर के फूल' में अवध की क्रांति का वर्णन प्रस्तुत किया है। इसमें ही प्राचीन जनश्रुतियों, लोककथाओं, इतिहास तथा वीरगीतों का भी उपयोग किया गया है। इधर इस प्रकार अनेक चीजों का मिश्रणकर नवीन विधा में समर्थ लिखनेवाले हैं—हिंदी के यशस्वी आंचलिक उपन्यासकार फणीश्वरनाथ रेणु जिन्होंने 'मैला आँचल' तथा 'परती परिकथा' में इस शैली का सफल प्रयोग किया है। कहानियों में भी इस शैली के दर्शन होते हैं। आपका ही 'संकेत' में संकलित 'एकलव्य के नोट्स' (पृ० ४८९-५०४) सर्वथा नवीन शैली में लिखा रिपोर्ताज है :

ग्राम—नरानपुर
पोस्ट—एजम
थाना—फारबिसगंज
जिला—पूर्णियाँ
काल—सितंबर ५४

आबादी सात, आठ हजार

जिस एकलव्य के इसमें नोट्स हैं वह अपने को सामाजविज्ञानी कहते हैं और पटने के एक सचित्र हिंदी साप्ताहिक में सहायता करते थे।

श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के 'कुछ' शीर्षक निबंधसंग्रह में 'मोटर स्टैंड' रिपोर्ताजमात्र है। बख्शीजी निबंधों में संस्मरण, रेखाचित्र; रिपोर्ताज तीनों शैलियो में आत्मपरक कथन कहते चलते हैं।

उपेंद्रनाथ अश्क के 'रेखाएँ और चित्र' में ·रिपोर्ताज भी संकलित हैं। 'निबंध रिपोर्ताज', शीर्षक से 'कलम घसीट', 'पहाड़ों का प्रेममय संगीत', 'रंगमंच के व्यावहारिक अनुभव', 'है कुछ ऐसी बात जो चुप हूँ' संकलित हैं। 'कलम घसीट' को रिपोर्ताज शैली में लिखा गया रेखाचित्र कहा जा सकता है।

डा० प्रभाकर माचवे ने 'जब प्रभाकर पाताल गए' में इस शैली में रिपोर्ताजों के सफल प्रयोग किए हैं।

श्रीलक्ष्मीचंद्र जैन ने भी अच्छे रिपोर्ताज लिखे हैं। 'कागज की किश्तियाँ' शीर्षक संग्रह में 'इतिहास और कल्पना' शोर्षक से संकलित सामग्री में 'जब पॅपेआई को प्रलय ने वरा' शीर्षक काल्पनिक रेडियो कमेंट्री रिपोर्ताज शैली में ही लिखी गई है।

कामताप्रसाद सिंह लिखित 'मैं छोटा नागपुर में हूँ' में छोटा नागपुर के जीवन और प्रकृतिवैभव पर संस्मरणात्मक शैली में भौगोलिक, ऐतिहासिक ज्ञान के परिवेश में रिपोर्ताज है। तिलकराज सिंह ने 'बिंदु बिंदु' में इस विधा में ही सफल प्रयोग किए हैं।

भदंत आनंद कौसल्यायन की कृति 'देश की मिट्टी बुलाती है' में कुछ अच्छे रिपोर्ताज हैं। जापानी युद्धबंदियों के अंतिम क्षण ऐतिहासिक महत्व का रिपोर्ताज है।

अमृतराय तथा ठाकुरप्रसाद सिंह ने भी अच्छे रिपोर्ताज लिखे हैं। सत्यकाम विद्यालंकार तथा धर्मवीर भारती भी धर्मयुग में रिपोर्ताज लिखते रहे हैं। हाल में ही चीन पाकिस्तान युद्ध के समय अच्छे रिपोर्ताज प्रस्तुत किए गए। मिर्जापुर व बिहार में भयंकर सूखे पर भी रिपोर्ताज लिखे गये।

जिन पत्रों ने इस विधा को प्रश्रय दिया है उनमें से 'हंस' का स्थान तो अप्रतिम है जिसमें यह विधा अंकुरित ही नहीं पल्लवित तथा पुष्पित भी हुई। बंबई से प्रकाशित 'नया पथ' में सन् १९५३-५५ के मध्य अच्छे रिपोर्ताज प्रकाशित हुए।

इधर ज्ञानोदय, कल्पना, माध्यम तथा लहर में इस विधा में अथवा इस शैली में कुछ रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

भारतपाक युद्ध पर शिवसागर मिश्र का रिपोर्ताज प्रकाशित हुआ है। धर्मयुग में समुद्रतट के मछुओं की जिंदगी पर एक रिपोर्ताज 'गरजते सागर के समक्ष निहत्थे' शीर्षक से ओमप्रकाश शर्मा ने लिखा। इधर विनेश पालीवाल, अवधेशकुमार श्रीवास्तव ने भी रिपोर्ताज लिखे हैं।

रिपोर्ताज का लेखक घटना का स्वयं अंश भी होता है और उसका प्रत्यक्ष द्रष्टा भी, तब ही तो वह घटनाओं को देखकर उनका यथातथ्य चित्रण करता है। उत्सवों, मेलों, बाढ़ों, अकालों, युद्धों, महामारियों आदि के समय जो जनता को निकट से देखे और प्रभावोत्पादक शैली में उसका कलात्मक चित्रमय विवरण उपस्थित कर दे वही सफल रिपोर्ताज लेखक है। आकाशवाणी के द्वारा प्रस्तुत गांधी, नेहरू तथा शास्त्रीजी की मृत्यु पर प्रसारणों, रिपोर्ताजों, समाचार दर्शनों एवं आँखों देखे हाल के प्रसारणों से रिपोर्ताज को बल मिला है। इन रिपोर्ताजों में शब्दों की डोर में घटनाओं को पिरोकर प्रस्तुत किया जाता है। विवेच्यकाल में जिन नवीन विधाओं ने जन्म लिया है उनमें 'रिपोर्ताज' उल्लेखनीय है। इसका प्रसार भी हो रहा है।

●

तृतीय अध्याय

संस्मरण, आत्मकथा एवं जीवनी

विवेच्यकाल (वि० सं० १९९५-२०१०) में हमारी समस्त विधाओं ने अपनी अपनी अभीप्सित दिशा और गति प्राप्त कर ली है, लेकिन उपन्यास, नाटक, कहानी अथवा कविता की तुलना में संस्मरण, आत्मकथा अथवा जीवनी साहित्य की स्थिति बहुत संतोषप्रद नहीं दिखाई पड़ती । लगता है कि हमारे साहित्य में ये विधाएँ यथोचित भाव से लोकप्रिय एवं प्रतिष्ठित नहीं हो पाई हैं । इन विधाओं को कुछ असाहित्यिक समझा जाता है और ऐसे लोगों का अभाव नहीं है जो इन्हें साहित्य की मूल्यवान् एवं सर्जनात्मक विधा मानने में कुछ संकोच का अनुभव करते हों ।

विचार्य विधाएँ हमारे साहित्य में पश्चिम के प्रभाव से आई । यह नहीं कि हमारे यहाँ प्राचीन काल में जीवनीप्रधान अथवा आत्मवृत्त निरूपक रचनाएँ होती ही नहीं थीं । नाभादास कृत 'भक्तमाल' (१७ वीं शताब्दी ई०) प्रभृति कृतियाँ वस्तुतः जीवनीसाहित्य के अंतर्गत आएँगी । संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों, नाटकों अथवा पुराणसाहित्य में अनेक घटनाओं के संस्मरण तथा अनेक महापुरुषों के जीवन-वृत्त सुरक्षित हैं । किंतु उस कोटि के प्राचीन वाङ्मय में तथ्य के साथ कल्पना का, यथार्थ के साथ मिथ्या का और वस्तुस्थिति के साथ संस्तुति अथवा प्रशस्ति का कुछ ऐसा घालमेल कर दिया गया है कि उसके साथ जीवनी अथवा आत्मकथा के आधुनिक रूप की संगति बैठाना असंभव नहीं तो अस्वाभाविक प्रतीत होता है । आधुनिक काल के हमारे साहित्य में इन विधाओं का जो स्वरूप निर्धारित हुआ है, वह पश्चिमी साहित्य और उसकी यथार्थोन्मुख जीवनदृष्टि का परिणाम है । संभवतः पश्चिम की अनुकृति होने के कारण ही हमारे साहित्य में इन विधाओं का उतना प्रचार प्रसार नहीं हो पाया जितना कि होना चाहिए था । संभावना इस बात की भी है कि हमारे लेखक इस टटके गद्य रूपों के मूल्य और महत्त्व को ठीक तरह से समझ न पाए हों ।

१९३२ ई० में प्रेमचंदजी के संपादकत्व में 'हंस' का एक संस्मरण अंक प्रकाशित हुआ था । उसका विज्ञापन आत्मकथा अंक के रूप में हुआ किंतु प्रकाशन संस्मरण अंक के रूप में । उस समय 'आत्मकथा' के विषय को लेकर प्रेमचंदजी तथा श्रीनंददुलारे वाजपेयी के बीच कुछ साहित्यिक 'कहासुनी' हो गई थी । वाजपेयीजी ने आत्मकथा लिखने अथवा तद्विषयक विशेषांक निकालने का विरोध किया था । इस दृष्टि से इन्होंने एक लेख लिखा था जिसके कुछ अंश निम्नलिखित हैं :

'और जब हम 'आत्मकथांक' का विरोध करते हैं, तब अपने साहित्य में बढ़ते हुए आत्मविज्ञापन के कलुष का ध्यान करते हैं और यह निर्विकल्प रूप से जानते हैं कि ऐसे व्यक्ति, जो आत्मकथा लिखने में योग्य हों, हिंदी संसार में अधिक नहीं, उँगलियों पर ही गिने जा सकते हैं।

हमारे देश में आत्मकथा लिखने की परिपाटी नहीं रही। यहाँकी दार्शनिक संस्कृति में उसका विधान नहीं है। यहाँके संत हिमालय की कंदराओं में गलकर विश्वशक्ति की समृद्धि करते थे और करते हैं। प्राचीन भारत अपना इतिवृत्त और अपनी आत्मकथा नष्टकर आज चिरजीवन का रहस्य बतलाता है और जिन्होंने गाथाएँ लिखीं, वे बिला गए।

लौकिक उपकार ही साहित्य की कसौटी नहीं है और न वह साहित्यकार के विकास में सहायक बन सकता है। नीति के दोहे लिखनेवाले दिन गए। इस समय हिंदी के रचनाकारों को अपने संस्कार और अपनी साधना की आवश्यकता है। दूसरों की भलाई का बीड़ा वे आगे कभी उठाएँगे। फिर इस साधारण परोपकारी दृष्टि से भी आत्मकथा लिखने के योग्य हिंदी में कितने आदमी हैं? कितने ऐसे महच्चरित हैं, जिनकी जीवनी हिंदी जनता की पथनियामक बन सकती है[१]?'

वाजपेयी जी की उपर्युक्त विचारणा से उस मनोवृत्ति का कुछ बोध संभव है जिसके परिणामस्वरूप हमारे यहाँ संस्मरण अथवा आत्मकथा लेखन की प्रवृत्ति का यथोचित मात्रा में विकास नहीं हो पाया। जीवनी के संदर्भ में गोस्वामी तुलसीदास की 'प्राकृत जन गुनगान' वाली उक्ति सहज स्मरणीय है। सांसारिक मनुष्यों को केंद्र बनाकर साहित्य अथवा काव्यरचना करने से सरस्वती सिर धुनकर पछताने लगती है। यह देश, वस्तुतः दार्शनिक एवं अंतर्मुखी प्रवृत्तियों को प्रश्रय देता रहा है। आधुनिक कालमें पश्चिम की बहिर्मुखी, भौतिक एवं व्यक्तिप्रधान चिंताधारा से इसका संघर्ष अवश्य हुआ किंतु पुराने संस्कार धीरे धीरे ही जाते हैं।

श्रीवाजपेयी ने संस्मरण तथा आत्मकथालेखन के विरुद्ध जब अपना उपर्युक्त निबंध लिखा था, प्रेमचंद्रजी ने उस समय जी भर कर उसकी आलोचना की थी। साहित्य के एक आधुनिक कृती और विचारक के रूप में उन्होंने श्रीवाजपेयी को स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया था कि जीवनीसाहित्य आत्मविज्ञापन नहीं है कि जीवनी अथवा आत्मकथा लिखने के लिये महच्चरितों की ही अपेक्षा नहीं—'मेरा खयाल है कि मेरे घर के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं जिनसे हमें प्रकाश मिल सकता है।' प्रस्तुत संदर्भ में प्रेमचंदजी की विचारणा के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश निम्नलिखित हैं :

१. श्रीनंददुलारे वाजपेयी, हिंदी साहित्य—बीसवीं शताब्दी, लखनऊ १९५१, पृ० ९७-९८।

'हम तो कहते हैं कि एक मामूली मजदूर के जीवन में भी खोजने से कुछ ऐसी बातें मिल जायँगी, जो अमर साहित्य का विषय बन सकती हैं। केवल देखनेवाली आँख और लिखनेवाली कलम चाहिए।

भारत के संत हिमालय में गल गए, मगर अमर साहित्य की सृष्टि भी कर गए, नहीं तो आज आप उपनिषद्, वेद, रामायण और महाभारत के दर्शन करते? कालिदास, माघ, भास, और बाण ने साहित्य लिखा या नहीं? या वह भी गल गए और उनके नाम से आत्मविज्ञापन के इच्छुक जनों ने पुस्तकें लिख डाली? प्राचीन भारत ने अपनी आत्मकथा नहीं नष्ट की, कभी नहीं, उसकी आत्मकथा आज भी सूर्य की भाँति चमक रही है—हम आज गद्यलेख में और 'डाइरेक्टली' लिख रहे हैं।

आत्मकथा का आशय है कि केवल आत्मानुभव लिखे जावें, उसमें कल्पना का लेश भी न हो। बड़े बड़े लोगों के अनुभव बड़े बड़े होते हैं, लेकिन जीवन में ऐसे कितने ही अवसर आते हैं, जब छोटों के अनुभव से ही हमारा कल्याण होता है।

एक आदमी अपने जीवन के तत्व आपके सामने रखता है, अपनी आत्मा के संशय और संघर्ष लिखता है, आपसे अपनी बीती कहकर अपने चित्त को शांत करना चाहता है, और आप कहते हैं, यह वाणीविलास है[1]।'

हमारे विवेच्यकाल से कोई चार वर्ष पूर्व प्रेमचंदजी तथा श्रीनंददुलारे वाजपेयी के बीच संपन्न हुए उपर्युक्त 'आत्मकथा विवाद' को हम उस आधारभूमि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिसपर आगे चलकर संस्मरण, आत्मकथा अथवा जीवनीसाहित्य की प्रतिष्ठा हुई। उक्त विवाद पुरातन और नवीन मनोवृत्ति के उस पारस्परिक संघर्ष को भी ध्वनित करता है जिसके बीच से पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से आई हुई इन विधाओं को अपना रास्ता बनाना पड़ा।

स्वरूपनिर्णय

हमारे साहित्य में आधुनिक प्रकार के जीवनीलेखन का शुभारंभ उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दो एक दशकों से माना जाता है। बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने १८९३ में 'मीराबाई का जीवनचरित्र' लिखा था। सात आठ वर्ष उपरांत १९०१ ई० में प० अंबिकादत्त व्यास की 'निज वृत्तांत' नामक रचना सामने आई जिसके प्रकाशन के साथ आत्मकथाविषयक साहित्य का व्यवस्थित सूत्रपात हुआ। किंतु कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे आचार्यों और आलोचकों ने इन विधाओं को बहुत समय तक साहित्य के सर्जनात्मक रूप की मान्यता नहीं प्रदान की। हिंदी में आधुनिक साहित्यालोचन के आद्याचार्य बाबू श्यामसुंदर दास का 'साहित्यालोचन' नामक

१. श्रीनंददुलारे वाजपेयी, हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी, लखनऊ १९४६, पृ० १०२-१०४।

ग्रंथ १६२२ ई० में प्रकाशित हुआ था। 'बाबूसाहब' ने अपनी इस प्रसिद्ध कृति में विविध साहित्यरूपों की विस्तृत एवं तात्त्विक विवेचना अत्यंत मनोयोगपूर्वक की है किंतु गद्यसाहित्य की आधुनिक विधाओं के संदर्भ में उन्होंने संस्मरण, जीवनी अथवा आत्मकथा का नामोल्लेख तक नहीं किया है। 'बाबूसाहब' ने इन विधाओं को या तो इस योग्य नहीं समझा या फिर उनके समय में इनका उतना प्रचलन नहीं हो पाया था। किंतु 'बाबूसाहब' के ही बाग्द्वार से आलोचनाशास्त्र में प्रवेश करनेवाले एक अन्य आचार्य बाबू गुलाबराय ने इन विधाओं की सम्यक् विवेचना की है। 'बाबूजी' का 'काव्य के रूप' नामक साहित्यसमालोचना विषयक ग्रंथ पहली बार १६४७ ई० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में इन विधाओं के शास्त्रीय निरूपण को यथोचित स्थान दिया गया है। सिद्धांतप्रधान आलोचना के परवर्ती प्रयत्नों को देखा जाय तो अब कोई ऐसी कृति विरल ही मिलेगी जिसमें इन आधुनिक गद्यविधाओं की उपेक्षा की गई हो। जीवनचरित के विषय को लेकर लखनऊ विश्वविद्यालय में एक शोधप्रबंध भी प्रस्तुत किया जा चुका है, जो प्रकाशित है।[1] विवेच्य विधाओं के स्वरूपगत एवं विकासात्मक अध्ययन की दृष्टि से श्रीशिवनंदन प्रसाद की 'साहित्य के रूप और तत्व' (पटना १६५४) एवं डा० दशरथ ओझा की 'समीक्षा शास्त्र' (दिल्ली १६५७) नामक कृतियाँ भी उल्लेख्य हैं।

विवेच्यकाल में हमारी विचार्य विधाओं के स्वरूपनिर्धारण एवं साहित्यिक प्रतिष्ठापन की यथोचित चेष्टा की गई। इस दृष्टि से यह कालखंड दुहरे महत्व का है। इस अवधि में एक ओर तो इन साहित्य रूपों को रचना का निमित्त बनाकर कुछ अधिक मात्रा में साहित्यसृष्टि की गई और दूसरी ओर उसी अनुपात में उनकी समालोचना के मूल्यमान भी विकसित हुए। पाश्चात्य साहित्य में उनके तत्व एवं स्वरूपादि की विशद चर्चा बहुत पहले ही हो चुकी थी। हमारे यहाँ इसका अभाव था। लेकिन, जब इन विधाओं के सर्जन का प्रचार हुआ तो अनुगता की भाँति आलोचना एवं मूल्यान्वेषण की परिपाटी भी चल निकली। यहाँ हम इस प्रकार के समस्त प्रयत्नों के निष्कर्ष के रूप में विवेच्य विधाओं के तात्त्विक विश्लेषण एवं स्वरूपनिर्धारण का कुछ प्रयास करेंगे।

संस्मरण गद्यसाहित्य की एक आत्मनिष्ठ विधा है। आत्मनिष्ठ इस अर्थ में कि संस्मरणलेखक मन की निजी अनुभूतियों एवं संवेदनाओं की पीठिका पर सर्जन करता है। संस्मरण के अंतर्गत बहुधा वैयक्तिक जीवन अथवा व्यक्तिगत संपर्क में आए हुए अन्य व्यक्तियों के जीवन के किसी विशिष्ट क्षण, प्रहर अथवा कुछ अधिक विस्तृत

१. हिंदी साहित्य में जीवनचरित का विकास—डा० चंद्रावती सिंह, इलाहाबाद, १६५८।

कालखंड की स्मृतियों को अंकित किया जाता है। इसके मूल में अनेक प्रकार की प्रेरणाएँ कार्य कर सकती हैं किंतु व्यक्तिगत जीवन अथवा विशिष्ट चरित्र के पक्षविशेष को उजागर करना इसका मुख्य उद्देश्य माना गया है। संस्मरणलेखक कई अर्थों में इतिहास के लिये भी बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करता है क्योंकि वह समसामयिक जीवन और चातुर्दिक् परिवेश का चितेरा होता है। वह जिन लोगों को आधार बनाकर संस्मरणरचना करता है, वे बहुधा बड़े और विशिष्ट लोग होते हैं। निजी जीवन के संदर्भ में उसके लेखन का मूल्य तब आँका जाता है जब उसके स्मृतिकोश में समाज को देने योग्य कुछ अनुभव सुरक्षित हों। लेकिन संस्मरणलेखक इतिहासकार नहीं होता। संस्मरण, इतिहास की वस्तुपरक भंगिमा से बहुत दूर, साहित्य की भावानुभूतिपरक ललित विधा है। संस्मरण की लेखनशैली प्रायः निबंध अथवा ललित गद्यशैली के निकट होती है। कभी कभी उसमें कहानी की शैली का भी पूरा आस्वाद आ जाता है। आत्मकथा और जीवनीसाहित्य की दृष्टि से संस्मरण बड़े मार्के की विधा है। इसे जीवनी और आत्मकथा का मूलाधार समझना चाहिए। इसमें उन दोनों के प्रायः सभी तत्व सुरक्षित हैं। अंतर केवल इतना है कि संस्मरण जीवन के खंडरूप को लेकर चलता है जबकि उक्त विधाएँ संपूर्ण जीवन को अपना उपजीव्य बनाती है। जीवनी और आत्मकथा के संदर्भ में संस्मरण की दो शैलियाँ मानी गई हैं। पाश्चात्य साहित्य में ये दोनों भेद भलीभाँति प्रचलित हैं। जीवनी साहित्य के निकट पड़नेवाली अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति के स्मृतिसंदर्भ का अंकन करनेवाली संस्मरण शैली को 'मेमायर्स' की संज्ञा दी गई है। आत्मवृत्तनिरूपक संस्मरणविधा को 'रेमिनिसेंसज' कहा जाता है।

व्यक्तिगत जीवन अथवा आत्मचरित के यथातथ्य किंतु रोचक एवं साहित्यिक रूपांतर को 'आत्मकथा' कहते हैं। 'आत्मचरित' और 'आत्मचरित्र' इसके लिये पर्यायवाची शब्दों के रूप में व्यवहृत होते हैं। आत्मकथालेखक एक परिपक्व प्रौढ़ वय में पहुँच कर अतीत की स्मृतियों के आधार पर विगत जीवन का उद्घाटन और विश्लेषण करता है। फिर कल्पना में नए सिरे से जिए गए उस जीवन को आत्माभिव्यक्ति अथवा आत्मप्रकाशन की दृष्टि से वह लिपिबद्ध कर देता है। आत्मकथा लिखते समय कोई व्यक्ति अपने विगत जीवन और कृतित्व के पक्ष में अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहता है अथवा अपनी उपलब्धियों और अनुभवों को मूल्यवान् समझ कर उन्हें भावी पीढ़ियों के लिए छोड़ जाना चाहता है। आत्मकथालेखक का कार्य इतिहासकार अथवा उपन्यासकार की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। इतिहासकार की दृष्टि वस्तु एवं घटनापरक होती है। वह उन्हें तिथियों के क्रम में पिरोता जाता है। उपन्यासकार के लिये कल्पना और अनुभव की पूरी छूट है। आत्मकथालेखक को कल्पना और अनुमान का परित्याग करते हुए व्यक्तिगत जीवन के तथ्यपरक इतिहास को सार्थक, सरस और साहित्यिक प्रतिष्ठा देनी होती है। उसे आत्मप्रशस्ति एवं

दूसरों की निंदा तथा स्तुति से भी बचना पड़ता है। कुल मिलाकर उसे व्यक्तिगत रागद्वेष को जीतना पड़ता है।

'जीवनी' के अंतर्गत अन्य व्यक्तियों का जीवनचरित्र लिखा जाता है। जीवनीकार इतिहास से या समाज से, अतीत से या वर्त्तमान से अपनी रचना के प्रधान पुरुष का चयन करके उसके संपूर्ण समग्र जीवन को देशकालगत परिस्थितियों के अनुसार अवतारित करता है। घटनाओं का यथातथ्य विवरण प्रस्तुत करना अथवा कल्पनाकला के योग से मनचाहे प्रभाव की सृष्टि करना जीवनीकार का धर्म नहीं। उसका कर्त्तव्य है चयन करना, कुछ तो प्रत्यक्ष जीवन से और बहुत कुछ अपने मानसलोक की प्रतिक्रिया से। जीवनियाँ बहुधा महान् पुरुषों की लिखी जाती हैं। इतिहासपट पर अपनी कीर्तिकथा लिख जानेवाले कालजयी सम्राट्, शासक, योद्धा, नेता, समाजसुधारक, कवि, लेखक और बड़े बड़े संत महात्मा ही बहुधा जीवनीसाहित्य के प्रधान उपजीव्य होते हैं। अत्याधुनिक समाजवादी एवं मानववादी दृष्टि के परिणामस्वरूप अति सामान्य लोगों की जीवनियाँ अथवा संस्मरण लिखने की भी एक पद्धति चल निकली है। साधारण लोगों को, पास पड़ोस के किसी कामगर, किसान अथवा मजदूर की जीवनी लिखते समय जीवनीकार कतिपय मानवमूल्यों अथवा सामाजिक व्यवस्थाओं पर विशेष बल देता है। जीवनी को श्रेष्ठ साहित्य का रूप देना जीवनीकार की क्षमता पर निर्भर करता है। यह नहीं समझना चाहिए कि जीवनीलेखन के माध्यम से उच्चकोटि के साहित्य की सृष्टि नहीं की जा सकती। जीवनीकार के पास जीवन को देखने परखने, अपनी संवेदना में उसे जीने और अपनी लेखनी से उसे पुनरुज्जीवित करने की क्षमता हो तो जीवनी उपन्यास की अपेक्षा अधिक रोचक और इतिहास से अधिक मूल्यवान् हो सकती है।

संस्मरण साहित्य

विवेच्यकाल की पंद्रह वर्ष की अवधि में कम से कम दो दर्जन लेखकों ने संस्मरण साहित्य की अभिवृद्धि में योग प्रदान किया है। इस बीच साहित्य के क्षेत्र में पहले से रचना करनेवाले अनेक लेखकों ने यथोचित प्रतिष्ठा प्राप्त की है और अनेक नए लेखकों का भी आविर्भाव हुआ है। नए लोगों में डा० प्रभाकर माचवे, डा० रघुवंश, डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', श्रीविद्यानिवास मिश्र, डा० प्रेमशंकर, श्रीसुधाकर पांडेय एवं डा० शिवप्रसाद सिंह आदि के नाम उल्लेख्य हैं। डा० माचवे के संस्मरणलेख जब तब पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। डा० रघुवंश की 'हरी घाटी' नामक एक पुस्तक कुछ समय पूर्व प्रकाशित हुई है जिसमें यात्रा वृत्तांत एवं डायरी के पृष्ठों के अतिरिक्त कुछ संस्मरण भी संकलित हैं। डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' की 'मैं इनसे मिला' (दिल्ली, १९५२ ई०) नामक कृति ने उन्हें संस्मरण लेखक के रूप में अच्छी ख्याति दी है। इसमें विभिन्न साहित्यकारों के

संस्मरण दिए गए हैं। यह तीन खंडों में प्रकाशित हुई है। कमलेशजी को उनकी इस कृति पर उत्तरप्रदेश सरकार ने पुरस्कृत भी किया है। श्रीविद्यानिवास मिश्र एवं श्रीसुधाकर पांडेय मुख्यतः निबंधकार हैं और डा० शिवप्रसाद सिंह कथाकार, लेकिन संस्मरणलेखन की दृष्टि से भी इन लोगों ने अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। डा० प्रेमशंकर प्रकृत्या आलोचक हैं किंतु इन्होंने जहाँ तहाँ आचार्य नरेंद्रदेव के कई एक भावपूर्ण संस्मरण लिखे हैं। डा० रवींद्र भ्रमर ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के संस्मरण लिखे हैं। इन्होंने अपने चारों ओर परिवेश अर्थात् परिवार और समाज से संबद्ध सामान्य लोगों के भी अनेक संस्मरण लिखे हैं जो 'राष्ट्रवाणी' (बंबई) और 'ज्ञानोदय' (कलकत्ता) में प्रकाशित हुए हैं।

रचना के क्षेत्र में पहले से ही संलग्न प्रमुख लेखकों के नाम निम्नलिखित हैं। इनमें से प्रत्येक लेखक की कोई न कोई संस्मरण कृति विवेच्य काल में प्रकाशित हुई है।

१. काकासाहेब कालेलकर,	स्मरणयात्रा—१९५३ ई०
२. गुलाबराय,	मेरी असफलताएँ—१९४६ ई०
३. माखनलाल चतुर्वेदी,	समय के पाँव
४. राधिकारमण प्रसाद सिंह,	वे और हम—१९५६ ई०
	तब और अब—१९५९ ई०
५. बनारसीदास चतुर्वेदी,	संस्मरण—१९५२ ई०
६. श्रीराम शर्मा,	सेवाग्राम की डायरी—१९३६ ई०
	सन् बयालीस के संस्मरण—१९४८ ई०
७. राहुल सांकृत्यायन,	बचपन की स्मृतियाँ—१९५३ ई०
८. सियारामशरण गुप्त,	झूठ सच—१९३९ ई०
९. मोहनलाल महतो,	'वियोगी', सात सुमन
१०. रामवृक्ष बेनीपुरी,	माटी की मूरतें—१९४५ ई०
११. विनोदशंकर व्यास,	प्रसाद और उनके समकालीन—१९६० ई०
१२. रामनाथ सुमन,	हमारे नेता—१९४२ ई०
१३. भदंत आनंद कौसल्यायन,	जो न भूल सका—१९४८ ई०
१४. कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर,	दीप जले-शंख बजे—१९५८ ई०
१५. शांतिप्रिय द्विवेदी,	पथ चिह्न—१९४६ ई०
१६. महादेवी वर्मा,	अतीत के चलचित्र—१९४१ ई०
	स्मृति की रेखाएँ—१९४३ ई०
	पथ के साथी—१९५६ ई०
१७. हजारीप्रसाद द्विवेदी,	मृत्युंजय रवींद्रनाथ—१९६३ ई०
१८. महाराजकुमार रघुबीर सिंह,	शेष स्मृतियाँ—१९३९ ई०

१९. देवेंद्र सत्यार्थी, रेखाएँ बोल उठीं—१९४९ ई०
२०. भगवतशरण उपाध्याय, मैंने देखा—१९५० ई०
२१. अज्ञेय, अरे यायावर रहेगा याद—१९५३ ई०
आत्मनेपद—१९६० ई०

संस्मरण साहित्य के विकास में उपर्युक्त लेखकों का योगदान महत्वपूर्ण माना गया है। इनमें से कई एक लेखक तो, भाषाशैली की विशिष्ट भंगिमा अथवा आत्मभिव्यक्ति के विशिष्ट कौशल की दृष्टि से संस्मरण विधा के वास्तविक निर्माता सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिये पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के व्यक्तित्व और कृतित्व को लिया जा सकता है। आधुनिक पत्रकारिता के इतिहास में चतुर्वेदीजी का स्थान महत्वपूर्ण माना जाता है। संस्मरण, रेखाचित्र एवं डायरीलेखन प्रभृति गद्य की आधुनिक ललितविधाओं के क्षेत्र में भी इनकी सेवाएँ मान्य ठहरती हैं। इनकी लेखनशैली बोलचाल की भाषा के निकट होने के कारण एक प्रकार के सहज सौंदर्य से अलंकृत है। अनुभव की प्रौढ़ता और अनुभूति की सघनता ने इनके संस्मरणों को मूल्यवान् एवं मार्मिक बना दिया है। चतुर्वेदीजी के समवयस्क श्रीश्रीराम शर्मा का कृतित्व शिकार विषयक साहसिक वृत्तांत तथा राष्ट्रीय आंदोलन के संस्मरणों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। शिकार और जंगल के साहसिक वृत्तांतों के रूप में शर्माजी की कृतियाँ हमारे साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। आपके द्वारा लिखे गए राष्ट्रीय आंदोलन विषयक संस्मरणों में प्रत्यक्ष अनुभव और प्रगाढ़ अनुभूति का आकर्षण है। भाषाशैली की दृष्टि से आपकी कृतियाँ सहज और रोचक बन पड़ी हैं।

संस्मरण साहित्य के सर्जन और विकास में बिहार के दो लब्धप्रतिष्ठ लेखकों, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह और श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी का योगदान महत्वपूर्ण माना गया है। राजाजी और बेनीपुरीजी अपनी अपनी भावुकताप्रधान, काव्यात्मक, लच्छेदार और मुहावरेदार भाषाशैली के लिये प्रसिद्ध हैं। राजाजी की 'वे और हम' तथा 'तब और अब' नामक गद्यकृतियाँ उनके आकर्षक संस्मरणशिल्प को भलीभाँति उजागर करती हैं। बेनीपुरीजी की 'माटी की मूरतें' नामक पुस्तक प्रसिद्ध है। दिन प्रति दिन के पारिवारिक, सामाजिक जीवन से संबद्ध सामान्य व्यक्तियों के प्राणमय रेखांकन तथा भावात्मक संस्मरणलेखन की दृष्टि से उनकी यह रचना एक आदर्श मानी गई है।

शांतिप्रिय द्विवेदी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' एवं रामनाथ सुमन विवेच्यकाल के अन्य प्रसिद्ध संस्मरणशिल्पी हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी छायावादयुग के श्रेष्ठ लेखक माने गए हैं। 'पथचिह्न' नामक इनकी संस्मरणप्रधान कृति इन्हें उच्चकोटि का शैलीकार सिद्ध करती है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के संस्मरण लेखों में भाषा की सादगी और अनुभूतियों का सौंदर्य पाया जाता है। सहज आत्मीयतापूर्ण साथ ही तटस्थ एवं अकृत्रिम भाषाशैली के कारण इनकी रचनाएँ मर्मस्पर्शी होती हैं। इनकी

पुस्तक 'दीप जले-शंख बजे' साधारण, सामान्य किंतु मूल्यवान् एवं मार्मिक चरित्रों के संस्मरण सुनाती है। 'भूले हुए चेहरे' प्रभाकरजी की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति है जिसमें उनकी भावपूर्ण संस्मरणशैली द्रष्टव्य है। सुमनजी ने महामना मालवीय, मोतीलाल नेहरू, लाल लाजपतराय, मौलाना आजाद जैसे राजनैतिक महापुरुषों के संस्मरण लिखे हैं। रामनाथ सुमन की संस्मरणकला संबद्ध व्यक्तियों के सजीव रेखाचित्रांकन एवं उनके व्यक्तित्व के मूलपक्ष के उद्‌घाटन का संकल्प लेकर चली है और इस दिशा में सुमनजी को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। जैनेंद्र की 'गांधी-कुछ स्मृतियाँ' तथा जानकीवल्लभ शास्त्री की 'स्मृति के वातायन' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, महाराजकुमार रघुवीर सिंह एवं अज्ञेय गद्यशैली और साहित्य के आधुनिक निर्माताओं में गिने जाते हैं। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी उच्चकोटि के निबंधलेखक एवं शैलीकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। प्रगाढ़ पांडित्य, अबाध चिंतन, सहज उदार हृदय, एवं मनमौजी स्वभाव के कारण इन्होंने हिंदी की गद्यशैली को एक विशिष्ट भंगिमा प्रदान की है जो इनकी अपनी वस्तु है। इन्होंने अपने चारों ओर के सामाजिक परिवेश तथा अपनी सर्जनात्मक प्रेरणा के एक प्रमुख स्रोत 'गुरुदेव' रवींद्रनाथ के अनेक संस्मरण लिखे हैं जो पांडित्य, संवेदनशीलता, सहज भाषा एवं समर्थ शैली के कारण अत्यंत मनोहर बन पड़े हैं। रवींद्रनाथ विषयक संस्मरणों की इनकी एक पुस्तक 'मृत्युंजय रवींद्रनाथ' अभी हाल में प्रकाशित हुई है। श्रीमती महादेवी वर्मा आधुनिक काव्य (छायावाद) के तीन चार समर्थ शिल्पियों में से एक हैं। समर्थ कवयित्री होने के साथ साथ ये उच्चकोटि की गद्यलेखिका भी रही हैं। इनके गद्य पर इनके कवित्व की गहरी छाप है। अत्यंत परिमार्जित परि-निष्ठित भाषा, किंचित् संगीतपूर्ण सुमधुर पदविन्यास एवं अप्रस्तुतों तथा बिंबों के योग से उत्पन्न की गई अलंकृति इनके शैलीशिल्प की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस दृष्टि से इनकी 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' नामक पुस्तकें पठनीय हैं। इन कृतियों में सामान्य पात्रों के सजीव तथा मार्मिक संस्मरण प्रस्तुत किए गए हैं। 'पथ के साथी' नामक परवर्ती कृति में महादेवीजी ने मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सियारामशरण गुप्त एवं सुभद्राकुमारी चौहान के संस्मरण लिखे हैं। महाराजकुमार रघुवीर सिंह तथ्य एवं कल्पना पर आश्रित अपने ऐतिहासिक संस्मरणों के लिये प्रसिद्ध हैं। इनकी शैली मुख्यतः गद्यकाव्यात्मक है जिसके सफल प्रयोग द्वारा इन्होंने मुगलकाल के विभव-पराभव को रोमांचक स्मृतियों को साकार किया है। अज्ञेय (सच्चिदानंद वात्स्यायन) हिंदीगद्य की नवीनतम शैली के सूत्रधार कहे जा सकते हैं। भाषा की ताजगी, शब्दों के सार्थक प्रयोग, अभिव्यक्ति की परिपक्वता, थोड़े में कुछ अधिक कह देने की कलात्मक क्षमता आदि गुणों के कारण इनका गद्य बहुतों के लिये अनुकरणीय सिद्ध हुआ है। 'अरे यायावर रहेगा याद' और 'आत्मनेपद' इनकी प्रसिद्ध संस्मरणात्मक

कृतियाँ हैं जिनमें निकट भाव से देखेपरखे और सोचेसमझे जगत् की मनोहर प्रतिच्छवियाँ अंकित हुई हैं। सुप्रसिद्ध नाटककार सेठ गोविंदास ने भी संस्मरण लिखे हैं। इस दृष्टि से 'स्मृतिकण' नामक संग्रह उल्लेख है। रायकृष्णदास का 'जवाहर भाई' तथा गंगाप्रसाद पांडेय का 'ये दृश्य : ये व्यक्ति' भी महत्वपूर्ण हैं। तनसुखराम की दो कृतियाँ 'विस्मृति के भय से' तथा 'जीवन के कुछ खाणों में इस शैली में' लिखी गई हैं।

आत्मकथा

विवेच्यकाल के आत्मकथा विषयक साहित्य के सिंहावलोकन के लिये तत्कालीन राष्ट्रीय एवं सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखना होगा। १६३८ ईस्वी से १६५२ ईस्वी तक का समय हमारे लिये घोर राजनैतिक उथलपुथल एवं सामाजिक संक्रांति का समय रहा है। इस अवधि में हमारे स्वाधीनता संघर्ष में विशेष शक्ति और गति का संचार हुआ।

किसी भी नवजागृत देश और साहित्य की प्रेरणा के मूल स्रोत कुछ महापुरुष होते हैं। विवेच्यकाल में हमें ऐसे महापुरुषों और उनके नेतृत्व की उपलब्धि हुई। राष्ट्रीयता की भावना के समुचित विकास के कारण देश की जनता अपने नेताओं के जीवनचरित्र, उनके उपदेश और प्रेरणादायी संदेशों में रुचि लेने लगी। अतएव, तत्कालीन नेताओं ने एक ओर तो अपनी जीवनियाँ स्वतः लिखीं और दूसरी ओर, सामान्य लेखकों ने भी राष्ट्र के पूज्य पुरुषों के जीवनवृत्तांत को रुचिपूर्वक लिखना प्रारंभ किया।

विवेच्यकाल के आत्मकथालेखक तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं :

१. राजनैतिक क्षेत्र के आत्मकथालेखक

२. सामाजिक क्षेत्र के आत्मकथालेखक

३. साहित्यिक क्षेत्र के आत्मकथालेखक

प्रथम वर्ग के लेखकों में महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, डा० राजेंद्र प्रसाद, सर्वपल्ली श्रीराधाकृष्णन् के नाम उल्लेख्य हैं। राजेंद्र बाबू की आत्मकथा को छोड़कर शेष लेखकों की कृतियाँ हिंदी अनुवाद के माध्यम से सुलभ हैं। महात्मा गांधी की आत्मकथा मूलतः गुजराती है। इसका हिंदी अनुवाद श्रीहरिभाऊ उपाध्याय ने किया जो १६२७ ई० में प्रकाशित हुआ। उपाध्यायजी ने गांधीजी की एक संक्षिप्त आत्मकथा का भी अनुवाद किया है जिसका प्रथम संस्करण १६३६ ई० में प्रकाशित हुआ है। जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा 'मेरी कहानी' १६३६ ई० में प्रकाशित हुई। अँगरेजी में लिखे गए इस विश्वविख्यात ग्रंथ का हिंदी अनुवाद श्रीहरिभाऊ उपाध्याय ने ही किया है। नेताजी सुभाषचंद्र बोस की आत्मकथा का हिंदी अनुवाद—'तरुण के स्वप्न' (१६३५ ई०) श्रीगिरीशचंद्र जोशी ने प्रका-

शित कराया था। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की आत्मकथा के अनुवादक हैं श्रीशालिग्राम। यह 'सत्य की खोज' के नाम से १६४८ ई० में प्रकाशित हुई। हिंदी के आत्मकथाविषयक साहित्य की दृष्टि से ये सभी कृतियाँ अनुवाद होने के बावजूद महत्वपूर्ण हैं। जैसी महान् कृतियाँ ये हैं वैसे ही इनके अनुवाद भी हुए हैं। इनके माध्यम से हमारे साहित्य में आत्मकथालेखन की प्रतिष्ठा हुई है, लोगों ने इस विधा के मूल्य और महत्व को समझा है।

देशरत्न राजेंद्र प्रसाद ने अपनी 'आत्मकथा' अपनी मातृभाषा हिंदी में लिखी है जो बोलचाल की सरल भाषा में होने के कारण सबके लिये बोधगम्य है।

राजेंद्र बाबू की 'आत्मकथा' उनके सहज किन्तु त्याग तपस्यापूर्ण जीवन को भलीभाँति प्रतिबिंबित करती है। राजेंद्र बाबू हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की एक देवोपम सृष्टि थे। उनकी 'आत्मकथा' उनके व्यक्तिगत जीवन एवं अनुभवों का प्रतिफलन होने के कारण स्वाधीनता संग्राम के महत्वपूर्ण संस्मरण सुनाती चलती है। राजेंद्र बाबू के चरित्र की प्रतिच्छवि के रूप में यह कृति देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत है। इसका प्रथम संस्करण १६४७ ई० में प्रकाशित हुआ।

सामाजिक क्षेत्र के लेखकों में भवानीदयाल संन्यासी, सत्यानंद परिव्राजक, तथा वियोगी हरि उल्लेख्य हैं। भवानीदयाल संन्यासी का कार्यक्षेत्र दक्षिणी अफ्रीका रहा है। इन्होंने वहाँके आंदोलनों में विशेष भाग लिया था। इनका आत्मचरित्र 'प्रवासी की आत्मकथा' १६४७ ई० में प्रकाशित हुआ। स्वामी सत्यानंद परिव्राजक ने भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता का प्रचार विदेशों में किया। इस दृष्टि से इन्होंने कई देशों की यात्रा की। 'स्वतंत्रता की खोज में' नामक इनकी आत्मकथा इनके जीवनचरित्र पर अच्छा प्रकाश डालती है। वियोगी हरि से हिंदीसंसार भलीभाँति परिचित है। इनकी 'वीर सतसई' प्रसिद्ध है। सामाजिक क्षेत्र में भी इनकी सेवाएँ महत्वपूर्ण समझी गई हैं। गांधी सेवासंघ, हरिजन सेवकसंघ, तथा भारत सेवकसमाज जैसी संस्थाओं से संबद्ध रहकर इन्होंने गांधीजी के आदर्शों के प्रचार में योग दिया है। इनकी आत्मकथा—'मेरा जीवनप्रवाह' १६४८ ई० में प्रकाशित हुई। इस ग्रंथ की भाषा शुद्ध और शैली साहित्यिक है किंतु अधिक इतिवृत्तात्मक होने के कारण इसमें सरसता का कुछ अभाव सा है।

बाबू श्यामसुंदर दास, सियारामशरण गुप्त, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल एवं शांतिप्रिय द्विवेदी विवेच्यकाल के उन साहित्यकारों में प्रमुख हैं जिन्होंने आत्मकथाविषयक साहित्य को समृद्ध बनाया। परवर्ती काल में सेठ गोविंददास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा चतुरसेन शास्त्री ने अपनी अपनी आत्मकथा प्रकाशित कराई। बाबू श्यामसुंदर दास की आत्मकथा 'मेरी आत्मकहानी' १६४१ ई० में लिखी गई। बाबूसाहब अपने समय के उत्कृष्ट निबंधकार, आलोचक तथा हिंदीसेवी के रूप में प्रख्यात हैं। उनकी आत्मकथा उनके इन्हीं रूपों का अंकन है। व्यक्तिगत

जीवन एवं व्यक्तित्व की निजी अनुभूतियों के प्रकाशन की दृष्टि से यह कृति सफल नहीं हो पाई है किंतु बाबूसाहब की भाषासेवा एवं साहित्यसाधना की जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से इसका अपना महत्व है। श्रीसियारामशरण गुप्त ने स्वतंत्र रूप से कोई आत्मकथा नहीं लिखी है। १९३९ ई० में प्रकाशित उनके 'झूठसच' नामक निबंधसंग्रह में आत्मवृत्तिनिरूपक कुछ रचनाएँ संकलित हैं। हिंदी के आधुनिक कवियों में गुप्तजी का विशिष्ट स्थान है अतएव उनके हृदयपक्ष और व्यक्तित्व को जानने समझने की दृष्टि से 'झूठसच' के निबंध पठनीय हैं। राहुलजी का आत्मचरित्र 'मेरी जीवनयात्रा' के नाम से १९४६ ई० में प्रकाशित हुआ। केवल नाम लेते ही उनकी विद्रोही, यायावरी एवं विद्याव्यसनी वृत्ति का स्मरण होना सहज स्वाभाविक है। वे संभवतः अपने समय के सर्वाधिक उदार, ईमानदार एवं क्रांतिद्रष्टा साहित्य कृती रहे हैं। अतएव उन जैसे महिमामंडित पंडित व्यक्तित्व के अध्ययन की दृष्टि से उनकी आत्मकथा एक महत्वपूर्ण वस्तु है। यह कृति सरल मुहावरेदार सुंदर भाषा में लिखी हुई है और इसकी शैली भी रोचक है। यशपालजी की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' १९५२ ई० में प्रकाशित हुई। यह रचना अपने कृती के क्रांतिकारी संघर्षशील जीवन को मार्मिक एवं समर्थ भाषाशैली में रूपायित करती है। यशपाल समाजवादी साम्यवादी विचारधारा के उपन्यासकार एवं लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनकी आत्मकथा उनके प्रगतिशील जीवनदर्शन को समझने की दृष्टि से भी उपयोगी है। शांतिप्रिय द्विवेदी की आत्मकथा 'परिव्राजक की प्रजा' (१९५२ ई०) संस्मरण शैली में है। यह कृति 'आपबीती' कहने के साथ-साथ जगबीती कहने का एक सुंदर साहित्यिक प्रयत्न है। शांतिप्रियजी साधु, शांत और स्वाभिमानी प्रकृति के लेखक थे। छायावाद युग के आलोचकों में ये अपने ढंग के अकेले व्यक्ति माने जाते हैं। इनकी आत्मकथा इनके जीवन के विविध आयामों को एक व्यवस्था प्रदान करती है।

आत्मकथाविषयक परवर्ती लेखन के संदर्भ में 'आत्मनिरीक्षण', 'मेरी अपनी कथा', 'आत्मकहानी', 'अपनी खबर' और 'मेरी असफलताएँ' नामक—कृतियाँ उल्लेख्य हैं। 'आत्मनिरीक्षण' (दिल्ली, १९५८) के लेखक हैं सेठ गोविंददास। सेठजी हमारे युग के प्रतिष्ठित नाटककार एवं लेखक माने जाते हैं। 'मेरी अपनी कथा' (प्रयाग, १९५८) सुप्रसिद्ध निबंधकार श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का आत्मचरित है। 'आत्मकहानी' (दिल्ली १९६३) नामक ग्रंथ में श्रीचतुरसेन शास्त्री ने अपने जीवन तथा अनुभवों के विषय में लिखा है। 'अपनी खबर' पांडेय बेचन शर्मा उग्र की आत्मकथा है। 'मेरी असफलताएँ' में बाबू गुलाबराय ने अपनी रामकहानी कही है। ये कृतियाँ अपने अपने लेखकों के व्यक्तित्व की दृष्टि से पठनीय हैं। आत्मकथा के साहित्यिक स्वरूप की इनमें अच्छी प्रतिष्ठा हुई है।

एक अनुपम अपवाद

विवेच्यकालीन कृतियों में एक ऐसा भी ग्रंथ है जो प्रकाशित हुआ है 'आत्मकथा'

के नाम से किंतु जिसकी कोई प्रत्यक्ष संगति उसके लेखक के आत्मचरित से नहीं जुड़ती। ग्रंथ की शैली आत्मकथाशैली है। प्रधान कथा प्रथम पुरुष सर्वनाम के माध्यम से कही गई है। एक जीवनवृत्त को उजागर करने की चेष्टा है उसमें। उसके आमुख अथवा 'कथामुख' में उसे 'आत्मकथा' अर्थात् 'आटो बायोग्राफी' के रूप में प्रदर्शित किया गया है। कुछ विद्वानों को भ्रम हुआ कि यह ग्रंथ यदि मौलिक आत्मकथा नहीं है, तो अनुवाद या रूपांतर है। लेकिन, यह वस्तुस्थिति नहीं है। ग्रंथ के आरंभ में उससे संबद्ध किसी प्राचीन पांडुलिपि की उपलब्धि का जो रोचक वृत्तांत दिया हुआ है वह कोरी साहित्यिक गप्प है अर्थात् जाली है। उक्त वृत्तांत को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो पता चलेगा कि अपनी कृति को सामान्यजन की जिज्ञासा और कौतूहल का विषय बनाने के लिये विद्वान् लेखक ने एक कौशलपूर्ण कलात्मक विधि का अवलंब ग्रहण किया है। आखिर यह कौन सी कृति है? क्या है? हमारा तात्पर्य 'बाणभट्ट की आत्मकथा' से है जो 'बाण' के रचनाकाल से लगभग तेरह सौ वर्ष बाद १९४६ ई० में प्रकाशित हुई है। जैसा कि उल्लेख किया गया है, ग्रंथ के आमुख में दिए गए वृत्तांत को सत्य मान बैठनेवाले कुछ लोगों की धारणा है कि उसकी सामग्री उसके यशस्वी लेखक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को शोण नद के तट पर पर्यटन करनेवाली किन्हीं संभ्रांत आस्ट्रियन ईसाई महिला मिस कैथराइन से प्राप्त हुई। वस्तुतः यह कृति आत्मकथाशैली में लिखी गई, आचार्य द्विवेदी की मौलिक उपन्यास-रचना है। देश की कई प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। अन्यत्र अन्य भाषाओं में हो रहा है। इसे अपने ढंग का अद्वितीय ऐतिहासिक सांस्कृतिक उपन्यास होने का गौरव प्राप्त है। इसमें सातवीं शताब्दी के हर्षकालीन भारत और 'हर्षचरित' तथा 'कादंबरी' जैसी अभिजात कृतियों के कवि लेखक बाणभट्ट को पुनरुज्जीवित करने का सफल प्रयत्न किया गया है। ग्रंथ की भाषाशैली भी 'बाण' की अलंकृत गर्वीली शैली के अनुरूप बन पड़ी है। अतएव, यह कृति किसी मौलिक अथवा रूपांतरित आत्मकथा की संज्ञा भले ही न प्राप्त कर सके किंतु इस बात में संदेह की कुछ गुंजाइश नहीं कि इसे लिखते समय आचार्य द्विवेदी की आत्मा में बाणभट्ट की आत्मा अपने संपूर्ण तेज के साथ अवतरित हुई है। कहीं कहीं कुछ ऐसा भी आभास मिलता है कि द्विवेदीजी 'बाण' के बहाने आपबीती कह रहे हैं।

जीवनी साहित्य

विवेच्यकाल में आत्मकथा की अपेक्षा अन्य महापुरुषों के जीवनीलेखन की परिपाटी का अच्छा विस्तार दिखाई पड़ता है। इस अवधि में विभिन्न क्षेत्र के आदर्श चरित्रों की अनेक जीवनियाँ लिखी गईं जिन्हें सुविधा की दृष्टि से ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक आदि वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

विवेच्यकाल में जीवनीविषयक पुस्तकें प्रभूत मात्रा में लिखी गईं। विवेच्य-कालीन जीवनी साहित्य मात्रा नहीं, स्तर की दृष्टि से निराश करता है। अधिकांश

पुस्तकें विवरणात्मक और नीरस हैं। उनमें चरितनायक के जीवन अथवा व्यक्तित्व को संवेदन एवं सहानुभूतिपूर्वक अंकित नहीं किया गया है। चरितनायक के देशकालगत परिवेश, स्वभाव और उसके जीवन के उद्देश्य आदि के विश्लेषण के अभाव में, अधिकांश कृतियाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं का विवरण जान पड़ती हैं। इन रचनाओं को जीवनी अवश्य कहा जा सकता है किंतु इन्हें साहित्य कहने में थोड़ी कठिनाई होगी। इनमें जीवनी का ऊपरी कलेवरमात्र है, आत्मा नहीं है। नायक के चरित के प्रभावपूर्ण अंकन, घटनाओं के सरस औपन्यासिक वर्णन एवं कलात्मक भाषाशैली की दृष्टि से इन्हें देखने पढ़ने पर बहुधा निराशा होती है।

कुछेक कृतियाँ साहित्यिक और महत्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक जीवनियों में प्रेमचंद-लिखित दुर्गादास, यदुनाथ सरकार लिखित शिवाजी, भदंत आनंद कौसल्यायन लिखित भगवान बुद्ध एवं जीवनलाल 'प्रेम' लिखित 'गुरु गोविंद सिंह' हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। सरकार कृत शिवाजी को ऐतिहासिक जीवनी के श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। इस ग्रंथ में छत्रपति शिवाजी के जीवन और व्यक्तित्व को प्रामाणिक साथ ही कलात्मक रूप में अंकित किया गया है। प्रेमचंद, कौसल्यायन तथा प्रेमीजी की कृतियाँ भाषाशैली की दृष्टि से सुन्दर बन पड़ी हैं। संत महात्माओं की जीवनियों में मन्मथनाथ गुप्तकृत 'गुरु नानक', रामनारायण मिश्र लिखित 'महात्मा ईसा', सुंदरलाल कृत 'हजरत मुहम्मद' तथा बलदेव उपाध्याय लिखित 'शंकराचार्य' नामक कृतियाँ पठनीय हैं। बलदेवजी की पुस्तक इस वर्ग की रचनाओं का सुंदर उदाहरण है। इसमें जगत्गुरु शंकराचार्य के जीवनचरित्र, व्यक्तित्व और उपदेशों का प्रामाणिक एवं आकर्षक वर्णन सहज सुंदर भाषाशैली में किया गया है। राजनैतिक जीवनियों में महात्मा गांधी, देशरत्न राजेंद्र प्रसाद तथा जवाहरलाल नेहरू से संबद्ध, कुछ पुस्तकों को देख पढ़कर संतोष नहीं होता। उनमें उनके चरितनायकों के महान् जीवन और व्यक्तित्व के अनुकूल पड़नेवाली साहित्यिक गरिमा का समावेश नहीं हो पाया है। उक्त महापुरुषों द्वारा लिखित आत्मकथाओं की तुलना में उनकी ये जीवनियाँ बहुत फीकी जान पड़ती हैं। इस वर्ग की अन्य रचनाओं में मन्मथनाथ गुप्तकृत 'चंद्रशेखर आजाद', रामनाथ सुमन कृत 'मोतीलाल नेहरू', 'युगाधार गांधी', महादेव देसाई लिखित 'मौलाना अबुलकलाम आजाद', जवाहरलाल नेहरू लिखित 'राष्ट्रपिता', कमलापति त्रिपाठी लिखित 'युगपुरुष' तथा रामवृक्ष बेनीपुरी कृत 'जयप्रकाश नारायण' की जीवनियाँ अपेक्षाकृत अधिक सुंदर और पठनीय हैं। इनमें तथ्यनिरूपण के साथ साथ साहित्यिक भाषाशैली का भी निर्वाह हुआ है।

कवि और लेखकों की जीवनी के अंतर्गत अधिकांश उस कोटि की रचनाएँ हैं जिनका संबंध अनुसंधान अथवा आलोचना से है। इन ग्रंथों के आरंभ में संबद्ध व्यक्तियों की प्रामाणिक जीवनी देने की चेष्टा अवश्य की गई है किंतु ये जीवनीग्रंथ नहीं हैं। इनमें किसी विशिष्ट लेखक अथवा कवि के साहित्यिक कृतित्व और जीवनवृत्त-

विषयक प्रामाणिकता पर विशेष बल दिया गया है। किसी साहित्यकार की जीवनी के संदर्भ में हम परवर्ती काल में प्रकाशित 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' नामक ग्रंथ का उल्लेख करना चाहेंगे। यह पुस्तक प्रेमचंदजी के पुत्र श्रीअमृतराय द्वारा लिखी गई है। अमृतजी उत्कृष्ट कथाकार और यशस्वी लेखक हैं। उनकी यह कृति हिंदी में लिखे गए अद्यतक के जीवनी ग्रंथों में अत्यंत श्रेष्ठ कही जा सकती है। इसमें जीवनी की प्रामाणिकता, उपन्यास की सरसता और साहित्य की मार्मिकता का भव्य संगम उपस्थित हुआ है। हिंदी साहित्यकारों की जीवनी की शृंखला में डॉ० रामविलास शर्मा ने महाकवि निराला की प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत करके एक और महत्वपूर्ण कड़ी जोड़ दी है।

विवेच्यकालीन जीवनीसाहित्य की दृष्टि से कतिपय अभिनंदन ग्रंथ उल्लेख्य हैं। इस प्रकार के ग्रंथों में संबद्ध व्यक्ति के जीवनचरित एवं व्यक्तित्व का थोड़ा बहुत लेखा-जोखा अवश्य प्रस्तुत किया जाता है। विभिन्न लोगों द्वारा लिखे गए कुछ संस्मरण दिए जाते हैं। अतएव, जीवनीसाहित्य पर विचार करते समय इन अभिनंदन ग्रंथों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

पटेल अभिनंदनग्रंथ में सरदार वल्लभ भाई पटेल, पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ में मथुरा के सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी स्वर्गीय सेठ कन्हैयालालजी, काटजू अभिनंदन ग्रंथ में डा० कैलाशनाथ काटजू, नेहरू अभिनंदन ग्रंथ में स्वर्गीय श्रीजवाहरलाल नेहरू तथा निराला अभिनंदन ग्रंथ में आधुनिक हिंदीकविता के सुमेरुपुरुष स्वर्गीय श्रीसूर्यकांत त्रिपाठी निराला विषयक संस्मरणों एवं जीवनियों का संकलन किया गया है। वैसे तो ये सभी ग्रंथ अपने अपने ढंग के अनुपम प्रकाशन हैं फिर भी सामग्री संपदा की दृष्टि से पोद्दारजी एवं नेहरूजी के अभिनंदन ग्रंथ विशेष मूल्यवान् हैं। निराला अभिनंदन ग्रंथ का महत्व महाकवि निराला के व्यक्तित्व के कारण है।

एक और अपवाद

आत्मकथाविषयक साहित्य पर विचार करते समय हमने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को एक ऐसे अपवाद के रूप में उपस्थित किया है जो नाम से तो आत्मकथा है किंतु स्वरूप और प्रकृति में उपन्यास। ठीक उसी प्रकार, जीवनीसाहित्य के संदर्भ में भी एक ऐसी उल्लेख्य कृति है जो अपने नाम से जीवनी का भ्रम उत्पन्न करती है, किंतु जीवनी नहीं है। हमारा तात्पर्य श्रीअज्ञेय कृत 'शेखर : एक जीवनी' नामक ग्रंथ से है जिसके पहले भाग का पहला संस्करण १९४० ई० में और दूसरे भाग का पहला संस्करण १९४४ ई० में प्रकाशित हुआ। ग्रंथ की भूमिका में अज्ञेयजी ने उसके स्वरूप के संबंध में कुछ शंकाएँ उठाई हैं और उनका समाधान भी किया है। एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि 'क्या यह जीवनी आत्मजीवनी है?' उत्तर में अज्ञेयजी ने कहा है कि यह आत्मघटित नहीं, आत्मानुभूत है। 'यह वाद

हिंदी के कम लेखक समझते या मानते हैं कि कल्पना और अनुभूतिसामर्थ्य (सेन्सीबिलिटी) के सहारे दूसरे के घटित में प्रवेश कर सकना, और वैसा करते समय आत्मघटित को पूर्व धारणाओं और संस्कारों को स्थगित कर सकना—ग्राबजेक्टिव हो सकना ही लेखक की शक्ति का प्रमाण है[1]।' दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह कि क्या यह रचना किसी अन्य व्यक्ति की जीवनी है, बायोग्राफी है ? अज्ञेय वे स्वतः इसे जीवनी कहा है—'शेखर निस्संदेह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज रिकार्डमात्र परसनल सफरिंग है, यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युगसंघर्ष का प्रतिबिंब भी है।' ....'मैंने स्वयं अनुभव किया है कि मैं एक स्वतंत्र व्यक्ति की प्रगति का दर्शक और इतिहासकार हूँ, उसके जीवन पर मेरा किसी तरह का भी वश नहीं रहा है[2]।' लेकिन वह कौन सा व्यक्ति है ? समाज उसके विषय में कुछ जानता है ? अज्ञेय की अनुभूति और कल्पना का आधार बनते समय उस शेखर नाम के व्यक्ति ने क्या अपने 'स्व' को विसर्जित नहीं कर दिया है ? इन प्रश्नों के मूल में यह उत्तर छिपा हुआ है कि 'शेखर : एक जीवनी' सचमुच जीवनी नहीं, जीवनीशैली के परिधान में प्रस्तुत एक अभिनव उपन्यास है।

उपसंहार

संस्मरण, आत्मकथा और जीवनी आधुनिक साहित्य की स्वतंत्र विधाएँ हैं। प्रस्तुत संदर्भ में इनके स्वरूप एवं विकासात्मक इतिहास का अध्ययन करने की चेष्टा की गई है। इस क्रम में प्रमुख अप्रमुख लेखकों एवं कृतियों का वर्णन सहज रूप से हुआ है। जो विशिष्ट हैं, जिनकी उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण मानी गई हैं, उनके शैलीशिल्प पर यथोचित विचार किया है। इस अध्ययन की एक सीमा रही है, फिर भी विशिष्ट संदर्भों में हमने कुछ पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कृतियों का भी उल्लेख किया है और चेष्टा की है कि हिंदी के आधुनिक साहित्य के संदर्भ में इन विधाओं की स्थिति स्पष्ट हो सके। समसामयिक साहित्य में इन साहित्यरूपों की प्रतिष्ठा बढ़ी है। इन्हें व्यापक रूप से अंगीकार किया गया है। आधुनिक काल में इनसे संबद्ध जो छोटे बड़े प्रयोग किए गए वे अंततः महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। परिमाण और स्तर दोनों ही दृष्टियों से उन सबकी महिमा है। प्रारंभ में हमने जिस 'आत्मकथाविवाद' की चर्चा की थी, उसकी सत्यता अब प्रमाणित हो गई है। विवाद केवल विवाद के लिये ही नहीं होते। उनके मूल में विकास की संभावनाएँ छिपी होती हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये विधाएँ भविष्य में और परिपुष्ट एवं विकसित होंगी।

●

१. शेखर : एक जीवनी, पहला भाग, भूमिका पृ० ८, ९।

२. वही, ,, ,, पृ० वही।

चतुर्थ अध्याय

इंटरव्यू साहित्य

एक साहित्यिक विधा के रूप में 'इंटरव्यू' हिंदी के लिये रेखाचित्र, संस्मरण, आदि की अपेक्षा नई वस्तु है। अपने आधुनिक रूप और अर्थ में रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज आदि के समान इंटरव्यू की साहित्यिक विधा भी हिंदी साहित्य को पश्चिम की देन है, जैसा कि अंग्रेजी के 'इंटरव्यू' शब्द से स्वतः प्रमाणित है। हिंदी की भाँति अब प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में पर्याप्त इंटरव्यू साहित्य निर्मित हो चुका है, और साहित्यशास्त्रियों ने इसे एक महत्त्वपूर्ण, मनोरंजक एवं उपयोगी साहित्यविधा के रूप में प्रतिष्ठा और स्वीकृति प्रदान कर दी है। हिंदी साहित्य के समीक्षकों एवं अनुसंधाताओं ने अब इस विधा के क्रमिक विकास एवं स्वरूपलक्षण पर विचार करना भी प्रारंभ कर दिया है।[1] इस विधा के विकास एवं शास्त्रीय विवेचन का प्रथम श्रेय श्रीचंद्रभान को दिया जाना चाहिए। हिंदी में भारतीय स्वाधीनता के उपरांत साहित्य में जहाँ नई कविता, नई कहानी जैसे नए द्वार और नई दिशाएँ उन्मुक्त हुई वहाँ इंटरव्यू विधा का भी आश्चर्यजनक रूप से विकास हुआ। दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से इसका जन्म हुआ। उन्हीं के विस्तृत प्रांगण में इसका शैशव देखते देखते पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त हो गया है। आज विविध क्षेत्रों की पत्र-पत्रिकाओं एवं स्वतंत्र पुस्तकों द्वारा हिंदी में प्रभूत इंटरव्यू साहित्य प्रणीत हो चुका है और अनुदिन हो रहा है। अतः उसका लेखाजोखा और निरीक्षण परीक्षण भी आवश्यक हो गया है।

'इंटरव्यू' का स्थानापन्न अभी कोई हिंदी पर्याय हमारी भाषा में सामान्यतया स्वीकृत और प्रचलित नहीं हुआ है। यद्यपि 'भेंट', 'भेंट वार्ता' 'साक्षात्कार', 'चर्चा', 'विशेष परिचर्चा' जैसे कुछ पर्याय पत्र-पत्रिकाओं में प्रयुक्त हुए हैं, किंतु अधिकतर लेखकों ने 'इंटरव्यू' शब्द ही इस विशेष विधा के लिये ग्रहण किया है और यही शब्द इस समय सबसे अधिक प्रचार में है। अतः हम भी आवश्यकतानुसार इसी का

१. (क) इंटरव्यू : एक कला—श्रीचंद्रभान राधेश्याम, साहित्य संदेश, जनवरी १९५०।
(ख) शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत—डा० गोविंद त्रिगुणायत, १९५६ ई०।
(ग) आधुनिक हिंदी साहित्य : १९४७–१९६२—डा० रामगोपाल सिंह चौहान, १९६५।

प्रयोग प्रकृत प्रसंग में करेंगे। 'इंटरव्यू' शब्द से आज एक ऐसी विशिष्ट कोटि की साहित्यिक विधा का बोध होता है, जिसमें एक जिज्ञासु व्यक्ति जीवन के किसी क्षेत्र में विद्यमान अन्य किसी व्यक्ति (विशेषकर प्रख्यात और महत्वपूर्ण व्यक्ति) से प्रत्यक्ष मिलकर उसके बारे में सोधे सीधे जानकारी प्राप्त करता है।

इंटरव्यू विधा के उद्भव का कारण १९ वीं और २० वीं शताब्दी में पश्चिमीय देशों में व्यक्तिस्वातंत्र्य और व्यक्ति की महत्ता की स्वीकृति है। इस काल में संस्था और समाज के घटक मानव व्यक्ति की सर्वातिशायी शक्ति उभरकर आई। वैसे तो सभी देश कालों में व्यक्तिविशेष का महत्व रहा है, किंतु पिछली दो शताब्दियों में साधारण मानव के व्यक्तित्व को भी अभिव्यक्ति और आत्मानुभूति के प्रकाशन का विशेष अवसर मिला है। मानव अपनी गुणदोषमयी समग्रता में—यथार्थता और सचाई के साथ आज के इंटरव्यू का नायक बन गया है।

व्यक्ति के अंतर्बाह्य, उसके परिवेश और युग का इतने मनोरंजक, रोचक और प्रभावशाली ढंग से ज्ञान करानेवाली विधा की साहित्यिक स्वीकृति और प्रतिष्ठा स्वाभाविक ही थी। इसी लिये आज विश्व की सभी समर्थ भाषाओं के साहित्य में यह विधा विद्यमान है। पाश्चात्य साहित्य में विशेषकर अँग्रेजी में इसका अच्छा विकास हुआ है। वहाँ यह विधा काफी पहले से प्रचलित है और अपनी रोचकता के कारण दिनोदिन लोकप्रियता प्राप्त कर रही है। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से यह विधा बँगला, मराठी, गुजराती, हिंदी, उर्दू आदि उत्तरभारतीय भाषाओं में और तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़—दक्षिण भारतीय भाषाओं में प्रविष्ट हुई। हिंदी में यह विधा स्पष्टतया स्वाधीनताप्राप्ति के बाद ही विकसित हुई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पत्रपत्रिकाओं में ही इसका श्रीगणेश हुआ। आज भी अधिकांश इंटरव्यू पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित होते हैं। वस्तुतः इस विधा में 'सामयिकता' का विशेष गुण है। इसी लिये यह विधा पत्रपत्रिकाओं के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रथम प्रकाशित इंटरव्यू ही कालांतर में स्थायी पुस्तकाकारों में प्रकाशित हुए हैं।

हिंदी में इस विधा का प्रारंभ आलोच्यकाल से कुछ पूर्व हुआ है। हिंदी में इस विधा का सूत्रपात करने का प्रथम श्रेय पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को है। उन्होंने 'रत्नाकरजी से बातचीत' शीर्षक इंटरव्यू सितंबर १९३१ के विशाल भारत में प्रकाशित किया था। इसके कुछ ही महीने बाद 'प्रेमचंदजी के साथ दो दिन' शीर्षक से उनका दूसरा इंटरव्यू जनवरी १९३२ के विशाल भारत में प्रकाशित हुआ। संभवतः १९३१ का रत्नाकरजी वाला इंटरव्यू हिंदी का प्रथम साहित्यिक इंटरव्यू है। पत्रकारों के इंटरव्यू की परंपरा को सर्वप्रथम हिंदी में लाने का श्रेय पं० श्रीराम शर्मा को दिया जा सकता है। चतुर्वेदीजी द्वारा प्रेमचंद के साहित्यिक इंटरव्यू के एक डेढ़ वर्ष बाद विशाल-भारत में शर्माजी ने नवंबर १९३३ में 'कबूतर' शीर्षक इंटरव्यू प्रकाशित किया।

हिंदी में इंटरव्यू विधा को साहित्यिक प्रतिष्ठा और सुदृढ़ आधार कुछ वर्षों बाद श्रीसत्येंद्रश्री (अब डाक्टर) द्वारा संपादित 'साधना' के परिचयांक में मिला। साधना के मार्च, अप्रैल १९४१ के अंक में अनेक कवियों और लेखकों के इंटरव्यू और विभिन्न साहित्यिक मतवादों और समस्याओं पर गण्यमान्य साहित्यकारों के अभिमत और विचार इंटरव्यू रूप में प्रकाशित हुए। परिचयांक में एक निश्चित प्रश्नावली के आधार पर ईप्सित जानकारी एकत्र की गई थी। उस प्रश्नावली के कुछ प्रश्न इस प्रकार थे : १. आपका जन्म संवत्? २. आपने शिक्षा कहाँ पाई? ३. शिक्षालय की कोई विशेष घटनाएँ जिन्होंने आपको प्रभावित किया? ४. क्या कोई ऐसी बातें हैं, जिनसे आपको लेखनकार्य में निरुत्साह हुआ हो? आदि। इसी प्रकार की कुछ प्रश्नावली आगे चलकर हिंदी के प्रसिद्ध इंटरव्यूकार श्रीपद्मसिंह शर्मा कमलेश ने भी अपनाई। प्रारंभ में हिंदी में तीन प्रकार से इस विधा का सूत्रपात हुआ—१. प्रसिद्ध लेखकों के पास एक निश्चित प्रश्नावली भेजकर उनके उत्तर प्राप्त करना; २. लेखकों से स्वयं मिलकर प्रत्यक्ष वार्तालाप द्वारा जानकारी प्राप्त करना और ३. दिवंगत साहित्यकारों से काल्पनिक इंटरव्यू करना। आजकल बहुधा द्वितीय प्रकार के इंटरव्यू ही सर्वाधिक प्रचलित हैं, और जीवंत होने के कारण इन्हीं को सर्वश्रेष्ठ भी माना जाता है। 'साधना' में प्रथम प्रकार के इंटरव्यू अधिक प्रकाशित हुए थे। प्रत्यक्ष वार्तालाप रूप इंटरव्यू श्रीजगदीशप्रसाद चतुर्वेदी द्वारा लिए गए थे, इनमें भदंत श्रीआनंद कौसल्यायन का इंटरव्यू कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। परिचयांक में ही श्रीचिरंजीलाल 'एकाकी' द्वारा 'देवी महादेवी से भेंट' शीर्षक श्रीमती महादेवी वर्मा का इंटरव्यू प्रकाशित हुआ। तृतीय प्रकार के काल्पनिक इंटरव्यू सर्वप्रथम पं० हरिशंकर शर्मा ने लिखे। उनका *'ब्रह्मांड कवि कौन हो ?'* इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। डा० नगेंद्र एवं डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश ने भी कुछ साहित्यकारों के काल्पनिक इंटरव्यू लिखे हैं। डा० कमलेश द्वारा स्व० बाबू श्यामसुंदरदास का इंटरव्यू उल्लेखनीय है। साधना के परिचयांक के बाद इंटरव्यू विधा की ओर कुछ लेखकों की प्रवृत्ति हुई और सर्वश्री नरोत्तम नागर, प्रभाकर माचवे, उमापति राव चंदेले आदि ने कुछ साहित्यकारों के इंटरव्यू लिखे। इसी समय के आसपास श्रीबेनीमाधव शर्मा ने 'कवि दर्शन' नामक पुस्तक में सर्वश्री *हरिऔध, श्यामसुंदर दास, रामचंद्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, सनेही* आदि कवियों और लेखकों के इंटरव्यू प्रकाशित किए। पुस्तकाकार में इंटरव्यू साहित्य की यह प्रथम कृति है, किंतु शैलीगत रोचकता एवं सजीवता के अभाव में इस पुस्तक का अधिक प्रचार नहीं हुआ और यह विस्मृति के अँधेरे में खो गई। पुस्तकाकार में प्रकाशित सर्वाधिक लोकप्रिय इंटरव्यू साहित्य की पुस्तक डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश की 'मैं इनसे मिला' है। इन्हें हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों के इंटरव्यू लेकर प्रकाशित करने की प्रेरणा सं० २००२ वि० (सन् १९४५ ई०) में बंबई में बंबई हिंदी विद्यापीठ के संस्थापक श्रीभानुकुमार जैन के यहाँ हिंदी के साहित्यकारों के

व्यक्तिगत जीवन, संघर्ष, उनकी साहित्यसाधना आदि के विषय में चर्चा करने से प्राप्त हुई। दूसरे ही दिन उन्होंने बंबई में हिंदी के प्रसिद्ध शैलीकार और लेखक पांडेय बेचन शर्मा उग्र का इंटरव्यू लिया। उन दिनों हिंदी के एक वयोवृद्ध पत्रकार और नाटककार श्रीहरिकृष्ण जौहर (अब स्वर्गीय) भी बंबई में रहते थे। डा० कमलेश जब उनका इंटरव्यू लेने उनके घर पहुँचे तो ७०–७२ वर्षीय अनुभवी साहित्यकार श्रीजौहर ने गद्‌गद होकर कहा—'जीवन के अंतिम दिनों में आज आप मेरी साहित्य-साधना के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये आनेवाले एकमात्र सज्जन हैं। मेरे हर्ष की सीमा नहीं है।' अपने इंटरव्यू के संग्रह 'मैं इनसे मिला' की भूमिका में डा० कमलेश ने लिखा है 'उस वृद्ध साहित्यकार के इन शब्दों ने मुझे अनुभव कराया कि उन जैसे अनेक महारथी हिंदी की सेवा में मर खप रहे हैं और उनके संबंध में कोई कुछ नहीं लिखता। फलतः लोगों को उनके जीवन के विषय में भी कोई जानकारी नहीं होती। यदि ऐसे अनुभवी साहित्यकारों से उनके तथा उनके समकालीन साहित्यकारों के विषय में कुछ तथ्य संग्रह हो सके तो हिंदी में एक नई सामग्री भावी आलोचकों और इतिहासलेखकों को मिल जायगी जिसके प्रकाश में वे उनके साहित्य को ठीक ठीक कसौटी पर कस सकेंगे[1]।'

श्रीकमलेश द्वारा बंबई से लिए गए श्री 'उग्र' और श्री 'जौहर' के उक्त इंटरव्यू सर्वप्रथम दिल्ली के साप्ताहिक पत्र 'नवयुग' में प्रकाशित हुए। इनपर पाठकों की काफी अनुकूल प्रतिक्रिया हुई और लोगों ने 'इंटरव्यू' के साहित्यिक महत्व को स्वीकार किया। श्रीकमलेश द्वारा लिए गए कुछ और इंटरव्यू फिर 'हंस' में प्रकाशित हुए। उनकी आलोचना 'हिमालय' में निकली। हिमालय के यशस्वी संपादक (अब स्वर्गीय) बाबू शिवपूजन सहाय ने श्रीकमलेश को प्रोत्साहित किया कि इसी प्रकार यदि वे हिंदी के सभी वर्तमान साहित्यिकों के इंटरव्यू लेकर लिपिबद्ध कर दें तो वे हिंदी की एक बड़ी सेवा करेंगे। स्वयं बाबू शिवपूजनजी ने भी हिमालय में श्रीकमलेश के कई इंटरव्यू छापे। उनकी प्रेरणा से उत्साहित होकर श्रीकमलेश ने न केवल हिंदी के ही समस्त साहित्यकारों के इंटरव्यू लेकर प्रकाशित करने का संकल्प किया, अपितु भारत की अन्य सभी प्रादेशिक भाषाओं के मूर्धन्य साहित्यकारों के भी इंटरव्यू लेकर राष्ट्रभाषा हिंदी में उन्हें प्रकाशितकर उसकी श्रीवृद्धि करने का मनोरथ बाँधा। किंतु वैसा न हो सका। यदि उनका यह शुभ संकल्प पूरा हुआ होता तो न केवल हिंदी का महान् उपकार होता अपितु देश की भावात्मक एकता के संपादन की दिशा में भी एक बड़ा उपयोगी कदम होता। किंतु अनेक बाधाओं के कारण, जिनमें आर्थिक बाधाएँ ही सर्वोपरि रही होंगी, श्रीकमलेश की वह योजना पूरी न हो सकी और वे हिंदी के कुछ ही लेखकों के इंटरव्यू दो भागों में प्रकाशित कर सके।

१. मैं इनसे मिला—मेरा दृष्टिकोण, पृ० ८।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदी के वयोवृद्ध और लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों के साक्षात्कार द्वारा प्रमाणित तथ्य आलोचकों और साहित्य के इतिहासलेखकों के लिये अमूल्य सामग्री है। उनके व्यक्तिगत जीवन, उनके संघर्ष, सफलता असफलताओं की सही जानकारी से उनके साहित्य के सही मूल्यांकन का मार्ग प्रशस्त होता है। साथ ही साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करनेवाले युवा और प्रतिभाशाली लेखकों को अमूल्य अनुभव और प्रेरणा प्राप्त होती है।

श्रीपद्मसिंह शर्मा कमलेश द्वारा लिए गए इंटरव्यू के दो संग्रह 'मैं इनसे मिला' नाम से सं २००६ वि०, सन् १९५२ ई० में दिल्ली से प्रकाशित हुए[1]। इनके उपरांत 'इंटरव्यू' के स्पष्ट नामोल्लेखपूर्वक पुस्तकाकार कोई ग्रंथ देखने में नहीं आया। यद्यपि अन्य नामों से एकाध पुस्तक इंटरव्यू संबंधी और प्रकाशित हुई, जिनमें देवेंद्र सत्यार्थी की 'कला के हस्ताक्षर' उल्लेखनीय है[2]। इसकी चर्चा कुछ विस्तार से हम आगे करेंगे।

'मैं इनसे मिला' की पहली किस्त में जिन साहित्यकारों के इंटरव्यू संगृहीत हैं, वे क्रमशः ये हैं—१. सर्वश्री गुलाब राय, २. रामनरेश त्रिपाठी, ३. सुदर्शन, ४. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, ५. डा० धीरेंद्र वर्मा, ६. चतुरसेन शास्त्री, ७. उदयशंकर भट्ट, ८. श्रीमती महादेवी वर्मा, ९. लक्ष्मीनारायण मिश्र, १०. शांतिप्रिय द्विवेदी ११. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' और १२. डा० रामविलास शर्मा।

दूसरी किस्त में जिन साहित्यकारों के इंटरव्यू संगृहीत हैं, वे हैं—१. सर्वश्री इंद्र विद्यावाचस्पति, २. रायकृष्ण दास, ३. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', ४. जैनेंद्र कुमार, ५. यशपाल, ६. श्रीमती दिनेशनंदिनी डालमिया, ७. डा० नगेंद्र, ८. रामेश्वर शुक्ल अंचल, ९. प्रभाकर माचवे और, १०. विष्णु प्रभाकर। 'मैं इनसे मिला' के दोनों भागों में मिलाकर कुल २२ व्यक्तियों के इंटरव्यू हैं।

श्रीकमलेश ने इन इंटरव्यूओं को लेने की अपनी प्रणाली के विषय में अपनी पुस्तक की भूमिका 'दृष्टिकोण' में सविस्तर विवेचन किया है। पहले वे एक निश्चित प्रश्नावली बनाकर साहित्यिकों से उनके उत्तर माँगते थे। इन साहित्यकारों में कवि, कथाकार, नाटककार, पत्रकार, आलोचक सभी प्रकार के व्यक्ति थे। सबके सामने एक ही प्रकार की प्रश्नसूची रखकर उत्तर संकलन करने से न केवल एकरसता आने लगी, अपितु कुछ अपूर्णता भी रहती थी। जब उन्होंने श्रीमती महादेवी का इंटरव्यू लेते समय उनके सामने भी वही सेट प्रश्नावली रखी तो महादेवी जी बोलीं, 'मैं

१. मैं इनसे मिला : हिंदी के कुछ प्रमुख साहित्यसेवियों के इंटरव्यू, श्रीकमलेश — १९५२ ई०, आत्माराम एंड संस, दिल्ली।

२. कला के हस्ताक्षर : बारह रेखाचित्र, देवेंद्र सत्यार्थी—१९५४ ई०, एशिया प्रकाशन, दिल्ली।

प्रश्नों के उत्तर नहीं देती। वैसे जो बातें करनी हों, कीजिए।' तब इंटरव्यूकार ने सहज स्वाभाविक वार्तालाप के दौरान ही, न केवल अपने समस्त प्रश्नों के उत्तर प्राप्त कर लिए, अपितु उसे अनेक अतिरिक्त तथ्य और सूचनाएँ भी प्राप्त होती गईं, जिनके लिये उसने प्रश्न ही नहीं बनाए थे। किंतु फिर भी 'मैं इनसे मिला' के प्रायः सभी इंटरव्यू सेट प्रश्नावली पर ही आधारित हैं, जिसके कुछ प्रमुख प्रश्न इस प्रकार हैं—

१. आपका बाल्यकाल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके साहित्यकार के निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई ?

२. वे देशी विदेशी कलाकार कौन से हैं, जिनको आप अधिक पसंद करते हैं और जिनका आपके जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा है ?

३. क्या इतनी लंबी साहित्यसाधना में आपका जी भी ऊबा है ? यदि हाँ, तो उसके क्या कारण रहे हैं ?

४. आपकी सर्वश्रेष्ठ कृति कौन सी है, जिसे लिखकर आपको संतोष हुआ है ?

५. आपका साहित्यसर्जन कब और कैसे प्रारंभ हुआ और उसके लिये आपको प्रेरणा कहाँ से मिली ?

६. छायावाद, रहस्यवाद तथा प्रगतिवाद के संबंध में आपका क्या मत है ?

७. क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि सर्जन के पूर्व, सर्जन के समय और सर्जन के बाद आपकी मनःस्थिति क्या होती है ? आदि।

'मैं इनसे मिला' के इंटरव्यू में से एक इंटरव्यू कुछ भिन्नता लिए हुए है। वह निराला का इंटरव्यू है। वह प्रश्नोत्तरात्मक नहीं है। वह वस्तुतः एक इम्प्रेशन है। जब इंटरव्यूकार महामानव निराला के पास उनके इंटरव्यू के उद्देश्य से पहुँचा तो महाकवि की मनःस्थिति प्रश्नोत्तरों के लिये उपयुक्त नहीं थी। अतः उसने निरालाजी के साक्षात्कार के बाद अपने ऊपर पड़े इम्प्रेशन (प्रभाव) को ही लिपिबद्ध कर दिया है। साक्षात्कार के कारण ही हम इसे इंटरव्यू की परिभाषा के अंतर्गत ले सकते हैं। अन्यथा इसमें श्रीनिराला ने ही उलटे इंटरव्यूकार से प्रश्न पूछे हैं। उत्तर के रूप में उन्होंने स्वयं ही बहुत कुछ कह दिया है।

इंटरव्यू का पात्र जिस देश, काल, अवस्था, मनःस्थिति और वातावरण में हो, उसका चित्रण, सूक्ष्मता और सजीवता से करना आवश्यक है। 'मैं इनसे मिला' में लेखक ने इसका ध्यान रखा है—जिस कोठरी में वह स्वयं रहता है, उसके एक कोने में मिट्टी के तीन चार बर्तन रखे हैं, जिनमें से एक में आटा है, एक में दाल। बाकी खाली पड़े हैं। दो तीन ईंटों के टुकड़े हैं जो इन बर्तनों के जमाने के काम आते हैं। सूखी सी चटाई, और टूटा सा होल्डर है, जिससे यह कलाकार कलाकृतियों की रचना करता है। दो, तीन बँगला, अंग्रेजी और उर्दू की पुस्तकें हैं, एक दो मासिक और साप्ताहिक पत्र भी बिखरे पड़े हैं। एक छोटा सा ट्रंक है, जिसपर अपरा (निरालाजी का नया काव्यसंग्रह) के फार्म रखे हैं। एक खूँटी पर खादी का पुराना कुर्ता

टँगा है। एक दूसरे कोने में पुराने जूते रखे हैं। सामने की खिड़की में कड़वे तेल का एक दीपक है, जिसके पास ही तेल की एक शीशी है, जो खाली पड़ी है। कोठरी के ठीक बीच में एक पुराना फटा सा गूदड़ है, जिसपर शक्तिशाली कलाकार रैन-बसेरा करता है। यों पूरा घर उस कलाकार की लापरवाही की ओर संकेत करता है। ठीक भी है, जिसने दुनिया की कोई परवाह नहीं की, उसे ठुकरा दिया, वह इस घर की क्या चिंता करे।

इस प्रकार मैं घर का निरीक्षण कर रहा था और उसकी जीर्ण शीर्ण स्थिति से हिंदी के उस गौरवशाली कलाकार के व्यक्तित्व को मिलाकर आश्चर्य कर रहा था।[1]

कविवर श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' का 'वट पीपल' इंटरव्यू, संस्मरण और रेखाचित्र का समवेत रूप लिए हुए है। इसमें अन्य विषयों के लेखों के अतिरिक्त श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल, श्रीराहुल सांकृत्यायन, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पं० सुमित्रानंदन पंत, मराठी साहित्यकार मामा वरेरकर, दाक्षिणात्य नृत्य की प्रख्यात कलाविद् रुक्मिणी देवी, पोलैंड के राष्ट्रकवि आदम मित्सकेविच आदि लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों के चरित, लेख, इंटरव्यू एवं संस्मरण गुंफित रूप में हैं। 'वट पीपल' शीर्षक पुस्तक में संकलित रेखाचित्र और इंटरव्यू विभिन्न पत्रों में १६३६ और १६५३ के मध्य प्रकाशित हो चुके हैं। कविवर दिनकर ने अप्रैल १६५३ में अडयार (मद्रास) स्थित रुक्मिणी देवी के कलाक्षेत्र का दर्शन कर उनसे प्रत्यक्ष वार्तालाप द्वारा कलाक्षेत्र, संगीत एवं नृत्यकला के संबंध में अनेक प्रश्नों का समाधान प्राप्त किया। इस इंटरव्यू में कवि दिनकर की शैली भावावेश-युक्त है। कवि ने इंटरव्यूपात्र रुक्मिणी देवी के जो कलाविषयक विचार उन्हीं के मुख से व्यक्त कराए हैं उनमें भी भावातिरेक और मार्मिकता है। इस प्रकार कला की चरम साधना में आपादमस्तक निमग्न अहिंदीभाषी क्षेत्र के महान् व्यक्तियों के विचारों से भी हिंदी के भंडार की श्रीवृद्धि हमारे जागरूक एवं उदार लेखक इंटरव्यू विधा के द्वारा कर रहे हैं। दृष्टिकोण की इस विशालता, व्यापकता, एवं वैविध्य से ज्ञान के पवित्र सीमांतों का उद्घाटन होता है, इसे कौन नकार सकता है। कला, जीवन और साहित्य के विविध क्षेत्रों की जितनी ही अधिक विभूतियों के इंटरव्यू हिंदी में आएँगे, हिंदी की ऊर्जा और शक्ति उतनी ही बढ़ती जायगी।

इंटरव्यू साहित्य के अंतर्गत पुस्तकाकार प्रकाशित हिंदी में एक अन्य पुस्तक श्रीदेवेंद्र सत्यार्थी की 'कला के हस्ताक्षर' है। यह इंटरव्यू संग्रह है, जिसमें इंटरव्यू की पूर्वोक्त सब विशेषताएँ और लक्षण पाए जाते हैं किंतु न जाने क्यों श्रीसत्यार्थी इसके स्वरूप के विषय में स्पष्ट नहीं हैं। शायद वे 'इंटरव्यू' शब्द की अंग्रेजी आत्मा से तादात्म्य नहीं कर सके हैं। अतः इन्हें वे 'रेखाचित्र' कहते हैं, जैसा कि पुस्तक के

१. मैं इनसे मिला : निराला जी का इंटरव्यू : प्रथम भाग, पृ० ४७,४८।

गौण नाम 'बारह रेखाचित्र' से विदित होता है। किंतु 'रेखाचित्र' कहते समय लेखक के मन में कुछ दुविधा है, पुस्तक की भूमिका में वह कहता है, 'कोई शायद यह बहस शुरू कर दे कि ये निबंध या संस्मरण भले ही हों, रेखाचित्र तो हरगिज नहीं हैं।' किंतु श्रीसत्यार्थी ने भूमिका में आगे जो कुछ कहा है, उससे तो स्पष्ट ही हो जाता है कि उसने कुछ व्यक्तियों के 'इंटरव्यू' लिए हैं। वह कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों से मिला है, उसने उनसे वार्तालाप किया है और उनसे विविध प्रकार की जानकारी प्राप्त की है। वास्तव में बात यह है कि इंटरव्यू में एक साथ ही रेखाचित्र, संस्मरण और निबंध के गुण विद्यमान होते हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व, रूपचेष्टाएँ, वेशभूषा, आदि का अंतर्बाह्य चित्रण होने के कारण इंटरव्यू एक रेखाचित्र भी है। एक क्षण-विशेष के अनुभवों का आकलन होने के कारण संस्मरण भी है और विचारों का संकलन होने के कारण निबंध भी।

'कला के हस्ताक्षर' ने 'मैं इनसे मिला' के आगे के सोपान का कार्य किया है। श्रीकमलेश की जो योजना हिंदीतर क्षेत्र के साहित्यिकों के इंटरव्यू लेने की थी, उस दिशा की ओर श्रीसत्यार्थी ने पदार्पण किया। उन्होंने वल्लत्तोल, अमृता प्रीतम, भाई वीर सिंह और मुल्कराज आनंद के इंटरव्यू लेकर न केवल हिंदीतर साहित्य के लेखकों को हिंदीजगत् में परिचित कराया, अपितु संगीत, चित्र, अभिनय आदि कलाओं के मर्मज्ञ पुरुषों के इंटरव्यू द्वारा इंटरव्यू के क्षेत्र को विस्तृत भी किया। लेखक अपने द्वारा लिए गए इंटरव्यू में व्यक्ति के बाह्यचित्रण के द्वारा रेखाचित्र के स्वरूप को बनाए रखता है।

डा० कमलेश एवं श्रीसत्यार्थी के बाद इधर कई इंटरव्यूलेखक हिंदी के रंग-मंच पर आए हैं। श्रीराजेंद्र यादव ने रूसी उपन्यासकार चेखव से भेंटकर उसका बड़ा ही सजीव एवं रंजक वर्णन किया है। श्रीलक्ष्मीचंद जैन का 'भगवान् महावीर : एक इंटरव्यू', 'कागज की किश्तियाँ' (१९६०) तथा शरद देवड़ा का 'हिंदी की चार नवोदित लेखिकाओं से एक रंगमंचीय काल्पनिक इंटरव्यू' ('ज्ञानोदय' अप्रैल १९६२) इस विधा की काल्पनिक शाखा के निदर्शन हैं। श्रीविष्णु प्रभाकर ने अपनी पुस्तक 'कुछ शब्द कुछ रेखाएँ' में एक थाई साहित्यकार श्री 'फाय अनुमान राजधन' का इंटरव्यू संगृहीत किया है। हाल ही में श्री कैलाश कल्पित द्वारा हिंदी के कुछ प्रसिद्ध साहित्यकारों के इंटरव्यू भी पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। इस दिशा में श्रीशिवदान सिंह चौहान, डा० रामचरण महेंद्र एवं श्रीलक्ष्मीनारायण शर्मा सोत्साह प्रवृत्त हुए हैं। कई पत्र पत्रिकाओं में अब इंटरव्यू को नियमित स्थान दिया जाने लगा है। 'नई धारा' में तो 'हम इनसे मिले' शीर्षक से एक स्थायी स्तंभ ही स्थापित हो गया। अब विशिष्ट अवसरों, पुरस्कारादि प्राप्त करने, उपाधियों द्वारा संमानित होने और जयंतियों आदि पर भी विशिष्ट व्यक्तियों के इंटरव्यू लेने की प्रथा बढ़ती जा रही है।

'सारिका' नामक कहानी की मासिक पत्रिका, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, इंटरव्यू विधा के विकास में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस विधा को विषयवस्तु की नवीन सामग्री से सज्जित करने, उसे कलात्मक परिपक्वता प्रदान करने और शैली-शिल्प में नया प्रयोग करने में इस पत्रिका का काफी योगदान है। सारिका के मई १९६३ से मई १९६५ तक के अंकों में विभिन्न लेखकों द्वारा लिए गए बाईस इंटरव्यू प्रकाशित हुए हैं। नई धारा में 'हम इनसे मिले' स्तंभ में कुछ अच्छे इंटरव्यू प्रकाशित होते रहे हैं। डॉ० महेशनारायण का राष्ट्रपति राजेंद्रप्रसाद एवं नंदकुमार कोहिली का जैनेंद्र का इंटरव्यू उल्लेखनीय है। इन इंटरव्यूओं में जीवन के विविध क्षेत्रों में कार्य करते हुए, विभिन्न जीवनस्तरों और अवस्थाओं के स्त्रीपुरुषों, युवकयुवतियों, कन्याकुमारियों, प्रेमीयुगलों, विद्यार्थियों, अभिनेता अभिनेत्रियों, व्यापारी मजदूरों आदि के इंटरव्यू भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों और उद्देश्यों से भिन्न भिन्न शैलियों में लिखे गए हैं। इधर धर्मयुग (अगस्त १९६५) में भी कुछ व्यक्तियों के इंटरव्यू प्रकाशित हुए हैं। हिंदी साहित्य संमेलन प्रयाग के प्रसिद्ध मासिक माध्यम (मार्च १९६६) में सेठ गोविंददासजी द्वारा आचार्य रजनीश से एक महत्त्वपूर्ण 'भेंट वार्ता' प्रकाशित हुई है। संगीत नामक मासिक पत्र में 'संगीत साधकों से भेंट' शीर्षक से प्रसिद्ध संगीतज्ञों के इंटरव्यू प्रायः प्रकाशित होते हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने भी कुछ साहित्यकारों एवं कलाकारों के इंटरव्यू लिए हैं। (दे० उदयशंकर भट्ट : व्यक्ति और साहित्यकार, दिल्ली, १९६५ ई०)। इधर इंटरव्यू की विधा को वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से नया मोड़ देनेवाले लेखकों में सर्वश्री प्रेम कपूर, मनोहर श्याम जोशी और शैलेश मटियानी उल्लेखनीय हैं। इंटरव्यू विधा का भविष्य उज्ज्वल है। उसमें नए आयामों के उद्घाटन की अभी बड़ी संभावना है।

●

पंचम अध्याय

पत्रसाहित्य

पत्रों का महत्त्व : पत्रलेखन मानवसमाज की अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य ने जिस दिन कोई लिपि उपकल्पित कर लेखनकला के विकास द्वारा पहले पहल अपने हृद्गत भावों को व्यक्त किया होगा, संभवतः उसी दिन सबसे पहले पत्र भी बीज रूप में उसकी मानसभूमि में जम आया होगा। इस पत्र का फलक तब कोई शिलातल, वृक्ष का तना, भूर्जपत्र, तालपत्र या कमलपत्र जैसा सावकाश पदार्थ रहा होगा। विश्व के प्राचीन साहित्य में पत्र के आधारफलक के रूप में इन उपादानों की चर्चा मिलती है। महाकवि कालिदास की शकुंतला दुष्यंत के लिये मन ही मन एक 'मदनलेख' (प्रणयपत्र) तैयार कर लेती है किंतु उसे अंकित करने के लिये उपयुक्त फलक न मिलने की समस्या उसके सामने उठ खड़ी होती है—'न खलु स निहितानि पुनर्लेखन साधनानि (यहाँ लेखन की सामग्री तो तैयार ही नहीं है)। इसपर उसकी प्रत्युत्पन्नमति सखी प्रियंवदा तुरंत कहती है—'एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु' (तोते के उदर जैसे सुकोमल हरे कमलिनीपत्र पर नखों से अक्षरों को उभार लो, अभि० शाकु० अंक ३)। और इस प्रकार बड़ी सरलता से शकुंतला की पत्रलेखन सामग्री की समस्या हल हो जाती है।

महाकवि बाणभट्ट के हर्षचरित में भी सम्राट् हर्षवर्धन के भाई कृष्ण के द्वारा बाण को लिखे गए और मेखलक नामक दूत द्वारा प्रेषित पत्र की चर्चा है। 'एप खलु स्वामिनो माननीयस्य लेखः प्रहित इति विमुच्य चार्पयत्। अथ बाण सादरं गृहीत्वा स्वयमेवावाचयत् (हर्षचरित द्वितीय उच्छ्वास)। यह हमारे स्वामी के माननीय आपके लिये पत्र है। ऐसा कह कर पत्र दे दिया। तब बाण ने उसे सादर लेकर स्वयं ही पढ़ा।' शाकुतल और हर्षचरित दोनों ही ग्रंथों में पत्र के लिये 'लेख' शब्द का प्रयोग हुआ है। पत्रवाहक के लिये बाण ने 'लेखहारक' शब्द उपकल्पित किया है। इन दो प्राचीन संदर्भों से पत्र के संबंध में दो बातें ज्ञात होती हैं—१. पत्र हृदय की सच्ची, गहन और सुकुमार अनुभूतियों का वाहक है। २. प्राचीन भारतीय साहित्य में 'पत्र' के स्थान पर 'लेख' शब्द का प्रयोग पाया जाता है जैसा कि हम आगे के कतिपय संदर्भों में देखेंगे। 'चिट्ठी', 'पत्री', 'पत्र', 'पत्रिका' और इनके तद्भव रूप 'चीठी', 'पाती', 'पतिया' और इनका व्यंग्यात्मक रूप 'चिट्ठा' आदि प्रयोग परवर्ती हैं। और इन हिंदी के मध्यकालीन प्रसिद्ध कवियों ने, यथा कबीर, जायसी सूर, तुलसी और मीरा ने 'पाती', 'पतिया' आदि का प्रयोग किया है।

रामचरितमानस (सं० १६३१ वि०) में पत्र के लिये प्रयुक्त प्राय: सभी पर्यायों के प्रयोग मिलते हैं—'तेहि खल जहँ तहँ पत्र पठाए। सजि सजि सेन भूप सब आए। (प्रतापभानु कथा, बालकांड)। करि प्रनामु तिन्ह पाती दीन्हीं। मुदित महीप आपु उठि लीन्ही। रामु लखनु उर कर बर चीठी। रहि गए कहत न खाटी माठी। पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। हरषी सभा बात सुनि साँची। (रामविवाह प्रसंग, बालकांड)। कबीर, सूर, मीरा आदि द्वारा प्रयुक्त 'पतिया' अथवा इसका बहुवचन रूप 'पतियाँ' 'पत्रिका' का तद्भव है। जहाँतक प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त 'लेख' के स्थान पर इस समय लोकप्रचलित 'पत्र' शब्द के ग्रहण और प्रचलन का प्रश्न है, वह परवर्ती काल में उसके फलक या आधार को दृष्टि में रखकर किया गया जान पड़ता है जब कि 'लेख' शब्द से वक्ता की 'कथ्य वस्तु' का बोध होता है। अर्थात् 'लेख' आधेय और 'पत्र' आधार का बोधक है। किंतु आज 'पत्र' शब्द से आभ्यंतर कथ्य वस्तु (कंटेंट) और उसके बाह्य स्थूल आकार दोनों ही अर्थों का बोध होता है। प्रारंभ में संभवत: विभिन्न लताद्रुमों के चौड़े और सचिक्कण पत्र (पत्ते) ही पत्रलेखन के सर्वाधिक सुलभ और सुविधाजनक साधन रहे होंगे, जिनका स्थान आगे चलकर कागज के आविष्कार ने ले लिया। बोलचाल में अब भी 'कागजपत्र' या 'कागजपत्तर' शब्द संयुक्त और यौगिक रूप में व्यवहृत होता है। हमें लगता है, पहले पहल पत्तों पर ही 'प्रणयपत्र' लिखे गए जिसकी परंपरा शाकुंतल में प्राप्त होती है। 'पत्र' के नामकरण का आधार भी यही मालूम होता है।

पत्र की प्राणभूता शक्ति उसके सहज सत्य में निहित है। कोई व्यक्ति जिन बातों को कहीं भी व्यक्त करने में झिझकता है, उन्हें वह अपने पत्रों में नि:संकोच बड़े ही अकृत्रिम और अनावृत रूप में कह जाता है। किसी साहित्यिक को जहाँ किसी विशिष्ट विधा के साहित्यसर्जन में एक आभिजात्य मर्यादा का पालन करना होता है, वहाँ पत्रलेखन उसका एक ऐसा निभृत कक्ष है, एक ऐसा स्वच्छंद और उन्मुक्त मनोराज्य है, जहाँ का वह एकमात्र स्वामी और एकच्छत्र सम्राट् होता है। इसलिये यदि किसी व्यक्ति को हम उसके मुक्त और सहज रूप में देखना चाहें तो उसके पत्रों में देख सकते हैं। पत्रों में वह हमसे सीधे सीधे बातें करता है और साहित्यिक अलंकरण को प्राय: दूर रखता है। पत्र के मूलभूत स्वरूपलक्षण में हृदय की स्निग्ध, सीधी सच्ची भावनाओं की अभिव्यक्ति का तत्व शाश्वत रूप से विद्यमान है। पत्रों की इस आत्मोद्घाटन की विशेषता के संबंध में पाश्चात्य विद्वान् जेम्स हॉवेल ने कहा है—'ऐज कीज टु ओपिन चेस्ट्स, सो लैटर्स ओपिन ब्रेस्ट्स।' यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि पत्रलेखन स्वयं एक सुंदर कला है और उसका सौंदर्य एक विशिष्ट आकर्षण रखता है, तथापि सहज सत्य के अनिवार्य उपादान से साधारण से साधारण पत्र भी बड़ा मोहक हो जाता है। विश्व में अनेक महान् पत्रलेखक हुए हैं जिनके पत्र उनके साहित्य से कम रंजक या महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन पत्रों में निहित सहज

सत्य ही उनकी महान् शक्ति है। साहित्यिक प्रतिभासंपन्न व्यक्ति के पत्रों में उसकी सहजात प्रतिभा के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उसकी विशिष्ट शैली, संप्रेषणक्षमता, अनुभूति की सत्यता और गहनता, उसकी भाषा, सभी से उसके व्यक्तित्व की पृथक् विशेषताओं का आभास मिलता है।

व्यक्ति के महत्त्व से उसके पत्रों का महत्त्व लोक में स्वीकृत हो जाता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में कठोर तपश्चर्या, श्रम, सेवा, त्याग, बलिदान करनेवाले अथवा असाधारण प्रतिभा या सर्जक शक्ति के कारण लोक में विपुल ख्याति, कीर्ति अर्जित करनेवाले व्यक्तियों के पत्र भी समाज के लिये दुर्लभ, बहुमूल्य और संग्राह्य संपत्ति बन जाते हैं। तभी पत्रसामग्री भी साहित्य की विशाल परिधि में पदार्पण कर जाती है। पत्रलेखन मनुष्य के लिये एक सहज और अनिवार्य क्रिया है किंतु जब किसी व्यक्ति के पत्र उसके व्यक्तित्व की गरिमा के कारण मानवसमाज को प्रभावित करते हैं तब वे महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। ऐसे ही पत्र प्रकाश में आते हैं शेष पत्र कालकवलित हो जाते हैं। आज पौरस्त्य और पाश्चात्य साहित्य में न जाने कितनी विभूतियों के पत्रों को साहित्य की स्थायी संपत्ति होने का गौरव प्राप्त है। ये पत्र न केवल अपने लेखकों का अंतदर्शन कराते हैं, अपितु अपने देशकाल और परिस्थियों का भी सच्चा चित्र हमारे सामने खड़ा कर देते हैं। पत्रलेखक दैनंदिन जीवन और तात्कालिक घटनाचक्र से सीधे सीधे अपने पत्रों का अंतर्बाह्य रूपसंस्थान निर्माण करता है, अतः किसी देश या समाज के विविधवर्णी इतिहास पर यथार्थ प्रकाश डालने के लिये पत्रसामग्री एक बहुत बड़ा आलोककेंद्र है। यदि औपचारिक पत्रों—यथा व्यापार व्यवसाय, नौकरी पेशे, सरकारी कामकाज, आदि से संबंधित पत्रों को साहित्य के अंतर्गत न भी संमिलित किया जाय तब भी इन पत्रों का ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही। साहित्य के अंतर्गत जिन पत्रों ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है, वे अधिकांश निजी या व्यक्तिगत पत्र ही हैं।

किसी कवि, विद्वान्, दार्शनिक, कलाकार या विशिष्ट साधक के मनपर किसी विशिष्ट घटना, परिस्थिति या दृश्य की कैसी प्रतिक्रिया होती है, किसी व्यक्ति के प्रति उसकी रागद्वेषात्मक कैसी धारणा है, उसके विभिन्न मनोवेग—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान, नैराश्य, घृणा, विस्मय, करुणा, स्नेह, संकोच, औदार्य, संतोष, कृपा, सहानुभूति आदि किस कोटि के हैं, ये सब मनोविकार उसके पत्रों में प्रतिबिंबित हो उठते हैं। किसी कवि या साहित्यकार की कृतियों को ठीक ठीक समझने में भी उसके पत्र अत्यंत सहायक और उपयोगी सिद्ध होते हैं। उस साहित्यकार का जीवन, दृष्टिकोण या प्रवृत्तियों में किस समय क्या प्रगति या जड़ता आई, क्या ह्रास, विकास या परिवर्तन हुआ, उसकी शक्तियाँ, दुर्बलताएँ क्या रही हैं आदि प्रश्नों के उत्तर उसके निजी पत्रों से बड़ी सरलता से मिल सकते हैं। कभी कभी साहित्यकार स्वयं भी अपनी रचना और शैलीगत रहस्यों की व्याख्या अपने पत्रों में कर

जाता है। जैसे श्रीसुमित्रानंदन पंत ने अपनी अनेक रचनाओं का मंतव्य बच्चन को लिखे व्यक्तिगत पत्रों में खोला है। इस दृष्टि से कवि के सही अभिप्रेत पर सत्यता की छाप लगानेवाला उसके स्वयं के पत्र से अधिक प्रामाणिक कोई दूसरा दस्तावेज नहीं हो सकता।

प्रसिद्ध अंग्रेज कवि कीट्स की रचनाओं को समझने में उसके व्यक्तिगत पत्रों ने जो योग दिया है उसे लक्ष्य में रखकर 'लैटर्स ऑफ कीट्स' (कीट्स के पत्र) शीर्षक समीक्षात्मक निबंध लिखा गया। इसी प्रकार पत्रों के महत्त्व पर पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा 'लाइफ ऐंड लेटर्स' (जीवन और पत्र) जैसे समीक्षात्मक निबंध भी लिखे गए। कभी कभी कोई कवि, साहित्यकार या नेता अपनी रचनाओं या व्याख्यानों में अपना ऐसा रूप व्यक्त करता है जो उसका प्रकृत या असली रूप नहीं होता। उसपर आदर्शवाद का आवरण पड़ा रहता है किंतु उसके पत्रों में उसका असली चेहरा झाँके बिना नहीं रहता। इस दृष्टि से भी पत्रों का महत्त्व कम नहीं है। प्रतिभाशाली कलाकार के पत्रों में तो विशेषता रहती ही है, अति साधारण साक्षर मनुष्य भी जब डूबकर कागज पर कलेजा काढ़कर रख देता है, तो उसका पत्र भी प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी हुए बिना नहीं रह सकता। अतः अनुभूति की सचाई और गहराई ही पत्र को असाधारण और हृदयंगम बनानेवाले मूलतत्त्व हैं। श्रीहरिशंकर शर्मा ने पत्रों के महत्त्व के संबंध में एक लेख में ठीक ही कहा है कि 'यों सब चिट्ठियाँ, चाहे वे कलात्मक न हों, हृदय की भाषा होने के कारण महत्त्वपूर्ण और उपयोगी होती हैं। उनसे निस्संदेह किसी का भाव, स्वभाव, प्रभाव, और व्यक्तित्व जानने में बड़ी सहायता मिलती है।' (चिट्ठियों का महत्त्व, -'आज कल', अप्रैल १९५४ ई०)।

आधुनिक युग में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के पत्रों को संगृहीतकर प्रकाशित करने की प्रवृत्ति पश्चिम से आई है। पत्रों को साहित्य का अंग मानने और उन्हें साहित्य, संस्कृति, राजनीति, इतिहास और सामाजिक गतिविधियों के मर्म को समझने के एक अमोघ साधन के रूप में ग्रहण करने की प्रेरणा भी हमें पाश्चात्य साहित्य से मिली है, इसमें संदेह नहीं किंतु जहाँ तक पत्रों को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति का प्रश्न है, भारतवर्ष के इतिहास में मध्यकाल से ही महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के पत्रों को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति के प्रमाण मिलते हैं। मेवाड़ की रानी कर्णवती ने हुमायूँ को भाई मानकर राखी के साथ जो पत्र भेजा था वह लोकविश्रुत है। अकबर के दरबार में स्थित पृथ्वीराज राठौर का महाराणा प्रताप को लिखा गया पत्र भी प्रसिद्ध है। गोस्वामी विट्ठलनाथजी के लिये दिए गए जहाँगीर के विशिष्ट अनुमतिपत्र (फरमान) प्रकाशित हो चुके हैं। गोस्वामी विट्ठलनाथजी द्वारा अपने पुत्रों को लिखे गए पत्र भी मुद्रित रूप में प्राप्त हैं। छत्रपति शिवाजी का जयसिंह को लिखा पत्र इतिहासप्रसिद्ध है। जनश्रुति है कि मीरा ने गोस्वामी तुलसीदास को एक पत्र लिखकर अपना आध्यात्मिक मार्गदर्शन माँगा था, जिसके उत्तर में

तुलसीदास ने उन्हें 'जाके प्रिय न राम वैदेही' वाला प्रसिद्ध पद लिख भेजा था। इन सब उदाहरणों से प्रमाणित होता है कि भारत में प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण पत्रों को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति मध्यकाल से ही विद्यमान है और लोकमानस में उसकी परंपरागत स्मृति भी शेष है। कौन कह सकता है कि इस महादेश में कहाँ कहाँ कैसी कैसी विभूतियों के सहस्रों अमूल्य पत्र अप्रकाशित रूप में दबे पड़े होंगे। यदि विशाल हिंदीक्षेत्र में ही प्राचीन पत्रों की खोज और सुरक्षा का अभियान प्रारंभ किया जाय तो बड़ी ऐतिहासिक क्रांति हो सकती है। ऐसे अनेक अज्ञात तथ्यों का उद्घाटन हो सकता है, जिनके आलोक में हमारे साहित्य की प्रगतियात्रा और सफल होगी। अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में १८वीं शती से ही महत्त्वपूर्ण पत्रों का प्रकाशन प्रारंभ हो गया था। अंग्रेजी में प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों, लेखकों और राजनयिकों के पत्र-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। हमारे देश की अनेक भाषाओं में भी पत्रसंग्रह प्रकाशित करने की ओर पहले से ही ध्यान गया है। बंगाल का पत्रसाहित्य काफी समृद्ध है। विवेकानंद, सुभाष, शरच्चंद्र और रवींद्रनाथ के पत्र अब हिंदी में रूपांतरित हो चुके हैं। उर्दू में भी गालिब से लेकर अबुलकलाम आजाद तक प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों और लेखकों के पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। गालिब आदि कुछ कवियों के पत्र हिंदी में भी रूपांतरित हो गए हैं।

हिंदी का पत्रसाहित्य हिंदी के विशाल क्षेत्र के समान ही विशाल है, किंतु खेद है कि अभी तक इस अमूल्य राशि की समुचित खोज और सुरक्षा की ओर हिंदीप्रेमियों और साहित्यसेवियों का उतना ध्यान नहीं, जितना आवश्यक है। अभी हाल में ही हिंदी के संपादक महारथी पं० पद्मसिंह शर्मा को विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गए पत्रों के कई बक्से हिंदीविद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय ने अपनी सुरक्षा में लिए हैं। इनमें से कुछ पत्रों का संग्रह क्रमशः 'भारतीय साहित्य' में प्रकाशित हुआ है। किंतु यह सारा प्रयत्न सागर में बिंदु के समान ही है। शर्माजी को लिखे पं० नाथूराम शंकर शर्मा, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा अन्य अनेक हिंदी महारथियों के अभी हजारों पत्र प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं। आवश्यकता है कि जिस प्रकार प्रेमचंद के महत्त्वपूर्ण पत्रों का संग्रह 'चिट्ठी पत्री' प्रकाशित हुआ है, उसी प्रकार हिंदी की सभी विभूतियों—भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, गुप्तबंधु, नवीन, उदयशंकर भट्ट, राहुल, माखनलाल चतुर्वेदी, वासुदेवशरण, हजारीप्रसाद द्विवेदी और मुक्तिबोध तक के पत्रों के संग्रह प्रकाशित हों। प्रथम कल्प यह है कि जिन महानुभावों के पास हिंदी साहित्य की विभूतियों के जो भी पत्र हों, वे उन्हें सुरक्षित रखें और उनकी सूचना नागरीप्रचारिणी जैसी किसी हिंदी संस्था को दें जिससे कालांतर में उनका प्रकाशन संभव हो सके। यह हिंदीसेवा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसमें हम सब हिंदीसेवियों को अविलंब जुट जाना चाहिए।

जब हम हिंदी के पत्रसाहित्य के इतिहास पर दृष्टिप्रक्षेप करते हैं तो हमें

ज्ञात होता है कि किसी पत्रसंग्रह को सर्वप्रथम प्रकाशित रूप में लाने का श्रेय स्व० महात्मा मुंशीरामजी (स्वामी श्रद्धानंद) को है। स्वामीजी ने आज से लगभग ६४ वर्ष पूर्व संभवतः सन् १६०४ में स्वामी दयानंद सरस्वती संबंधी पत्रों का एक संग्रह प्रकाशित कराया था। उक्त संकलन में स्वामी दयानंद के पत्रों के अतिरिक्त उनको लिखे गए अन्य व्यक्तियों के पत्र भी थे। वस्तुतः इस संग्रह में स्वामी दयानंद के पत्रों की अपेक्षा अन्य व्यक्तियों के पत्रों का ही बाहुल्य था। कुछ समय बाद संभवतः १६०६ ई० में पं० भगवद्दत्त ने अथक परिश्रम और खोजबीन करके स्वामी दयानंद सरस्वती के पत्रों का एक विशाल संकलन 'ऋषि दयानंद का पत्रव्यवहार' शीर्षक से 'सद्धर्म प्रचारक यंत्रालय, गुरुकुल काँगड़ी' से प्रकाशित किया। इस पत्रसंकलन से स्वामी दयानंद सरस्वती के अंतर्बाह्य व्यक्तित्व का बहुत स्पष्ट ज्ञान होता है। ये पत्र बताते हैं कि स्वामीजी न केवल एक उच्च कोटि के विद्वान् चिंतक, निर्भय शास्ता और सच्चे देशभक्त थे, अपितु वे एक अत्यंत लोकदक्ष, व्यवहारकुशल सामाजिक नेता भी थे। रुपए पैसे के हिसाब-किताब में स्वच्छता, लेनदेन में स्पष्टता, योग्य अयोग्य कार्यकर्ताओं की परख, प्रेस संबंधी सभी आवश्यक ज्ञान, टाइप, छपाई, कागज आदि की पूरी जानकारी उन्हें रहती थी। अपने आंदोलन की गतिविधियों की सूचना सामयिक हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित कराने की ओर उनका ध्यान सदैव रहता था। अपने मत-प्रचारकों की सुखसुविधा का भी वे निरंतर ध्यान रखते थे। एक बार उन्होंने लाहौर स्थित अपने एक अनुयायी को लिखा था—'वे···पहुँचें तो अपने लोग स्टेशन पर मौजूद रहें और उनको अच्छी प्रकार खातिर के साथ लेकर अपनी बैठक या किसी अच्छे मकान में ठहरावें।' स्वामीजी को अपने देश के गौरव और संमान की चिंता निरंतर रहती थी। उन्होंने अपने शिष्य और प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा को विदेश भेजते समय बड़ा मार्मिक पत्र लिखा था—'देखो तुम विदेश में जाकर अपने को भारत का एक बहुत छोटा विद्यार्थी बताना और कोई ऐसा काम न करना जिससे अपने देश का ह्रास होवे। जो कुछ कहो, समझकर कहना।' (१५ जुलाई १८७२ ई०)। संस्कृत और हिंदी के प्रबल समर्थक स्वामीजी अंग्रेजी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के भी विरोधी नहीं थे। फारसी शब्दबहुल उर्दू शैली में उनकी अनेक चिट्ठियाँ प्राप्त हैं। इस शैली में एक बार उन्होंने लिखा था—'हम बमुकाम छलेसर परगना मोरथल, जिला अलीगढ़ में कयाम पजीर हैं। जुलाब जो लिया था उससे फारिग हो गए। मगर कमजोरी किसी कदर है।' (२३ जून १८७९ ई०)। वेदज्ञ स्वामी दयानंद द्वारा ऐसी भाषा में लिखित पत्रों को पढ़कर आश्चर्य होता है और व्यवहारजगत् में उनकी उदार भाषानीति का पता चलता है। डा० वीरेंद्र वर्मा को खोज में स्वामीजी के २८ पत्र मिले थे। उनमें से कुछ चित्र सहित हिंदुस्तानी (अप्रैल १९४०) में भी प्रकाशित हुए थे। इनमें १७ पत्र हिंदी में थे।

महर्षि दयानंद के पत्रसंग्रह के पश्चात् हिंदी में कई अन्य महापुरुषों के पत्र पुस्तकाकार में प्रकाशित हुए। इनसे पूर्व किन्हीं सतीशचंद्र द्वारा संपादित केवल एक पत्रसंग्रह पत्रांजलि (१९२२ ई०) का पता चलता है। इसके बाद श्रीरामकृष्ण आश्रम, देहरादून से विवेकानंद पत्रावली और मेरठ से सुभाषचंद्र बोस के १५१ पत्रों का संग्रह 'पत्रावली' नाम से प्रकाशित हुए। स्वामी विवेकानंद के पत्रों में अध्यात्मज्ञान के साथ भारतीय गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने की उनकी उत्कट अभिलाषा व्यक्त होती है। सुभाषचंद्र बोस के पत्र १९१२ से १९३० ई० के बीच के लिखे हुए हैं। इस काल में वे लंदन में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। स्वदेश लौटने पर जब वे स्वातंत्र्य संग्राम में कूदने पर बंदी बना लिए गए, तब उन्होंने कुछ पत्र मांडले जेल से लिखे। इन पत्रों में सुभाष का दृढ़ आत्मविश्वास, चिरविजय की कामना, पदलोलुपता का सर्वथा अभाव, मिशनरी भावना से देशसेवा की प्रबल इच्छा और भारतीय युवक युवतियों को देश के कल्याण कार्य में जुटने की अजस्र प्रेरणा फूटी पड़ती है। सुभाष के जीवनादर्शों का क्रमविकास भी इन पत्रों से लक्षित होता है।

पं० जवाहरलाल नेहरू के पत्रों का प्रसिद्ध सकलन 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' १९३१ में प्रयाग से प्रकाशित हुआ। जवाहरलाल नेहरू ने ये पत्र अंग्रेजी में अपनी पुत्री इंदिरा को लिखे थे। इनका अनुवाद मुंशी प्रेमचंद ने किया था। इन पत्रों में एक स्नेहार्द्रहृदय पिता ने बड़ी ही मनोरंजक शैली में अपनी प्रिय पुत्री को विविध विषयों की शिक्षा दी है। नेहरू का यह पत्रसंकलन बहुत लोकप्रिय हुआ। इसकी प्रेरणा से लोगों में विविध विषयों के पत्रों को प्रकाशित करने का उत्साह जगा। १९३१ में बड़ौदा से शांतिप्रिय आत्माराम ने 'आलमगीर के पत्र' नामक ऐतिहासिक पत्रों का संग्रह प्रकाशित किया। डॉ० धीरेंद्र वर्मा के 'यूरोप के पत्र', चंद्रशेखर के 'स्त्री के पत्र', भदंत आनंद कौसल्यायन के 'भिक्षु के पत्र' (२ भाग १९४० ई०), प्रेमचंदजी के पत्र (प्रकाशचंद्र गुप्त, हंस, अक्टूबर १९४८), विवेकानन्द के पत्र (नागपुर, १९४९), सत्यभक्त स्वामी के अनमोल पत्र (वर्धा, १९५० ई०), सूर्यबली सिंह के 'मनोहर पत्र' (काशी १९५२ ई०), ब्रजमोहनलाल वर्मा के 'लंदन के पत्र' (बंबई १९५४ ई०), पं० किशोरीदास वाजपेयी के 'साहित्यिकों के पत्र (कनखल १९५८ ई०) आदि कुछ वैविध्य लिए उल्लेखनीय पत्रसंग्रह हैं।

१९५९ ई० में 'प्राचीन हिंदीपत्र संग्रह' नाम से डॉ० धीरेंद्र वर्मा और लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा संपादित एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पत्रसंकलन प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ। इसमें भारत सरकार के महाभिलेखागार (नेशनल आर्काइव्स) में सुरक्षित एक सौ उनचास महत्त्वपूर्ण हिंदी पत्र कालक्रमानुसार संकलित हैं। इन पत्रों का लेखनकाल वि० सं० १८४९-१८७१ (सन् १७९३-१८१४ ई०) है। ये पत्र मराठा इतिहास से संबद्ध हैं। इनके लेखक पेशवा, अन्य देशी राजा, और अंग्रेज अधिकारी आदि हैं। ये पत्र भारतीय इतिहास के उस काल पर प्रकाश डालते हैं

जब हमारे आंतरिक विघटन से उत्पन्न दुर्बलता का लाभ उठाकर एक विदेशी सत्ता (ब्रिटिश सत्ता) हमारे देश में गहरे से गहरे पाँव गड़ाए जा रही थी और उसके छद्म व्यवहार एवं कूटनीतिक चालों के सामने भारतीय शक्तियाँ अस्तप्राय हो गई थीं। ये पत्र हमारे इतिहास की अनेक अज्ञात राजनीतिक एवं सामाजिक घटनाओं को उजागर करते हैं। साथ ही खड़ी बोली हिंदी के पुराने व्यावहारिक रूप का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करते हैं। इन पत्रों से उन्नीसवीं शती के प्रारंभ से ही खड़ी बोली हिंदी के व्यापक प्रयोग का प्रमाण मिलता है। यद्यपि इनकी भाषा में किसी एक आदर्श साहित्यिक रूप के दर्शन नहीं होते और लेखक की अपनी क्षेत्रीय भाषा का प्रभाव अनिवार्य रूप से विद्यमान है, फिर भी अनेक भाषाओं और बोलियों के मिश्रण के पीछे भी खड़ी बोली का ढाँचा स्पष्ट झलकता है। यथा—'एक घरी दीन चढ़ा था। तब हम दारोगा राम लोचन के पास रोजी के वासते जो दशतक चीठी ढोते हैं गए थे। उहा शो अपने घर को चले।' (पत्र सं० ५)। इन पत्रों में संस्कृत (तत्सम-तद्भव), फारसी, भोजपुरी, अवधी, ब्रजभाषा, बुंदेली और स्वल्प मात्रा मे नेपाली के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'खड़ी बोली के विकास के अध्ययन में इन पत्रों से प्राप्त भाषासामग्री अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी। इन पत्रों से उन्नीसवीं शताब्दी की देशी पत्रलेखन शैली के अतिरिक्त खड़ी बोली की समन्वयात्मक शक्ति, मुहावरेदानी और तद्भवप्रधानता का परिचय प्राप्त होता है। वर्तनी की दृष्टि से भी उनका महत्व कम नहीं है।' (भूमिका पृ० १०)। निस्संदेह यह पत्रसंग्रह हिंदी पत्र-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसका स्थान समूचे भारतीय भाषाओं के पत्रसाहित्य में भी उल्लेखनीय है।

सन् १९५३ से प्रसिद्ध गांधीवादी समाजसेवी स्व० श्रीजमनालाल बजाज संबंधी साहित्य का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इसमें विपुल पत्रसाहित्य भी है। श्रीजमनालाल बजाज, गांधीजी और विनोबा भावे के बीच हुआ पत्रव्यवहार तात्कालिक भारतीय परिस्थितियों का सच्चा चित्रण करता है। ये सारे पत्र पाँच भागों में 'पत्रव्यवहार माला' में प्रकाशित हुए हैं। महात्मा गांधी विश्व के महान् पत्रलेखकों में अग्रणी हैं। उन्होंने अपने जीवन में असंख्य लोगों के पत्र पाए और स्वयं सहस्रों पत्र लिखे। दैनिक कार्यक्रम में पत्रोत्तर देने का समय नियत था। अनेक लोगों को लिखे उनके पत्रों के अनेक छोटे बड़े संग्रह हिंदी में उपलब्ध हैं। हाल ही में 'गांधी स्मारक निधि' के अंतर्गत उनके पच्चीस हजार पत्र एकत्र किए गए हैं। इनके ब्लॉक फोटो और फिल्में तैयार की गई हैं। इस संस्था द्वारा इन्हें संपादित और रूपांतरित करके समस्त प्रादेशिक भाषाओं में प्रकाशित करने की योजना भी बनाई गई है।

उपर्युक्त विविध विषयों और प्रसंगों से संबद्ध पत्रसंग्रहों के लेखक या संपादकों में से अनेक ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र के बाहर रहकर भी हिंदी में पत्रसाहित्य की अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, यह स्पष्ट है। जब हम विशेष रूप से हिंदी

जगत् की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि आधुनिक हिंदी के निर्माता और सूत्रधार भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके मंडल के अनेक नक्षत्र दक्ष और सजग पत्रलेखक थे। भारतेंदुजी तो प्रत्येक बार को उसके वर्ण के कागज पर ही पत्र लिखते थे। वे पत्रों के अंतर्बाह्य रूप में अपनी सहज भावुकता और कलात्मकता का समावेश कर देते थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र और बाबू बालमुकुंद गुप्त अपने ढंग के अनोखे पत्रलेखक थे। बाबू बालमुकुंद गुप्त का 'शिवशंभू का चिट्ठा' अपनी चुटीली व्यंग्यात्मक शैली में लिखे हुए खुले पत्र ही हैं। ये पत्र 'भारत मित्र' में प्रकाशित हुए थे। इनमें भारत के तात्कालिक सर्वोच्च शासक वाइसराय लार्ड कर्जन की तीव्र आलोचना थी। प्रत्येक शब्द से बाबू बालमुकुंद गुप्त की देशभक्ति का प्रमाण मिलता है। निश्चय ही 'शिवशंभू का चिट्ठा' हिंदी में अपने ढंग की एक अद्वितीय रचना है। भारतेंदुयुग के पत्रलेखकों में से प्रायः सभी के पत्रों में हास्य, व्यंग्यविनोद और एक चुलबुलाहट विद्यमान है। इन सभी महानुभावों के अनेक पत्र विभिन्न ग्रंथों और पत्रपत्रिकाओं में इतस्ततः प्रकीर्ण रूप में प्रकाशित हुए हैं।

हिंदी पत्रसाहित्य के इतिहास में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का युग सबसे महत्त्वपूर्ण है। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' के संपादनकाल में लोगों के पत्र पाए और उन्होंने स्वयं सहस्रों पत्र लिखे। संभवतः द्विवेदी युग के साहित्यिकों के पत्र ही सबसे अधिक संख्या में संपादित और प्रकाशित हुए हैं। स्वयं आचार्य द्विवेदी के पत्रों के अनेक संकलन प्रकाशित हुए जिनकी चर्चा प्रसंगानुसार होगी।

प्रसिद्ध समालोचक पं० पद्मसिंह शर्मा पत्रलेखन कला में अत्यंत निष्णात थे। उनके पत्र हिंदी साहित्य की निधि हैं। उनके पत्रों का एक संग्रह पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और पं० हरिशंकर शर्मा के संपादन में १९५६ ई० में आत्माराम एंड सन्स से प्रकाशित हुआ। पं० पद्मसिंह शर्मा के १९०५ से १९१३ ई० तक के पत्र काशी नागरीप्रचारिणी सभा में भी सुरक्षित हैं। पंडितजी का व्यक्तित्व गरिमामंडित था। उनके पत्रों से उनका पांडित्य और सौजन्य व्यक्त होता है। कवि अकबर इलाहाबादी ने अपने एक पत्र में पंडितजी के इन्हीं गुणों का उल्लेख किया है—'आपकी काबिलियत और खुशफहमी ने मुझे आपका आशिक बना दिया है। मेरे लिये दुआ फरमाया कीजिए। अब बजुज यादेखुदा और जिक्रे आखिरत के कुछ जी नहीं चाहता। लेकिन इसी रंग के सच्चे साथी नहीं मिलते। आप बहुत दूर हैं।' ('पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्र' भूमिका, पृ० ३८) शर्माजी के पत्रों से हिंदी की तात्कालिक विकासयात्रा के साथ ही भारतीय समाज की अनेक ज्वलंत समस्याओं पर भी प्रकाश पड़ता है।

हिंदी में पत्रसाहित्य के महत्त्व को प्रतिष्ठित कर परिश्रमपूर्वक विधिवत् प्रकाश में लाने का कार्य पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० हरिशंकर शर्मा, श्रीबैजनाथ सिंह

विनोद और आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने किया है। इन महानुभावों ने हिंदी और हिंदीतर क्षेत्र की अनेक विभूतियों के पत्रों को संगृहीत कर पत्रपत्रिकाओं में उसके यथासमय प्रकाशन का स्वयं भी प्रयत्न किया तथा अन्य लोगों को भी प्रेरित किया। श्रीबैजनाथ सिंह विनोद द्वारा संपादित दो पत्रसंग्रह विशेषतया उल्लेखनीय हैं—१. 'द्विवेदी पत्रावली' (१९५४ ई०) २. 'द्विवेदी युग के साहित्यकारों के कुछ पत्र' (१९५८ ई०)। प्रथम संग्रह में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के महत्वपूर्ण पत्र हैं। इन पत्रों की उपलब्धि के विषय में संपादक ने लिखा है—'श्रीरायकृष्णदास जी तथा कुछ अन्य महानुभावों की कृपा से मुझे स्व० द्विवेदीजी के ११६७ पत्र देखने को मिले। प्राप्त पत्रों में ७२ प्रकाशित हैं, शेष सभी अप्रकाशित। इन सभी पत्रों को पढ़कर और उनमें से कुछ को चुनकर मैंने प्रस्तुत 'द्विवदी पत्रावली' का संकलन किया है।' संपादक ने कुछ और लोगों के पास आचार्य द्विवेदी के पत्र होने की संभावना व्यक्त की है, यथा, पं० कृष्णदत्त वाजपेयी, पं० रामचंद्र शुक्ल, पं० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, पं० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, (जयपुर), पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० श्रीराम शर्मा, श्रीसुरेश सिंह, श्रीकालिदास कपूर, तथा रायगढ़ नरेश। आचार्य द्विवेदी के पत्र बड़े ही साहित्यिक और सामाजिक महत्व के हैं, और प्रायः समसामयिक कवियों, लेखकों और प्रतिष्ठित साहित्यकारों को लिखे गए हैं। अधिकतर पत्र उन्होंने 'सरस्वती' के संपादक पद से लिखे हैं। कुछ व्यक्तिगत प्रसंगों को छोड़कर इन पत्रों में हिंदी भाषा या साहित्यसंबंधी किसी न किसी प्रश्न या समस्या पर विचार किया गया है। यथा—प्रादेशिक भाषाओं के साथ सार्वदेशिक हिंदी के निर्माण का प्रश्न, खड़ी बोली को गद्य और पद्य दोनों का माध्यम बनाने का प्रश्न, संस्कृतनिष्ठ सुबोध हिंदी के स्वरूपगठन का प्रश्न, हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये नवीन विषयों का प्रवर्तन, हिंदी में स्वस्थ और निर्भीक पत्रकारिता का प्रवर्तन, आदि उनके पत्रों के विषय हैं। आचार्य द्विवेदी ने अपनी सुरुचिसंपन्नता, व्यापक अनुभव, प्रौढ़ संस्कृतज्ञान, तर्कसम्मत विषयप्रतिपादन और सर्वोपरि राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और आस्था से, उसी के माध्यम से लोकमंगल के एक सच्चे साधक के रूप में भीष्मपितामह के समान यावज्जीवन जो तपश्चर्या की थी ये पत्र उसी की कहानी कहते हैं। कहीं कहीं इसमें आचार्य द्विवेदी के परदुःखकातर, उपकारी और पूत जीवन की अंतरंग झलक भी मिल जाती है।

श्रीबैजनाथ सिंह विनोद द्वारा संपादित दूसरा पत्रसंकलन द्विवेदी युग के कुछ महारथियों के पत्रों का है, जिनका लेखनकाल १९०३ ई० से प्रारंभ होता है। इस संग्रह के विषय में हिंदुस्तानी एकेडेमी के तात्कालिक मंत्री डॉ० धीरेंद्र वर्मा ने लिखा है—'आचार्य द्विवेदीजी तथा उनके समकालीन लेखकों के व्यक्तित्व का परिचय साधारणतया हमें उनकी रचनाओं द्वारा प्राप्त होता है, किंतु यह परिचय अधूरा है। उनके वैयक्तिक पत्र इस अधूरी जानकारी को पूरा करते हैं। इन पत्रों से हमें यह भी

ज्ञात होता है कि हमारे साहित्यनिर्माताओं ने देश के संकटकाल में किस अदम्य उत्साह, उत्कट विश्वास और कठोर साधना से हिंदी भाषा और साहित्य की निःस्वार्थ सेवा की थी।' इस संकलन में आचार्य द्विवेदी और पं० पद्मसिंह शर्मा के अन्य पत्रों के अतिरिक्त पं० श्रीधर पाठक, पं० बालकृष्ण भट्ट, बाबू बालमुकुंद गुप्त और पं० रामचंद्र शुक्ल के पत्र संगृहीत हैं। पं० श्रीधर पाठक के पत्रोंमें तात्कालिक लेखनशैली और व्याकरणसंबंधी विवाद है। श्रीबालमुकुंद गुप्त ने सुदूर अतीत की अनेक ऐसी घटनाओं की चर्चा की है, जिनका इन पत्र के अभाव में कभी आभास भी नही मिल सकता था। उस समय की साहित्यिक चोरियाँ, साहित्यिक वितंडावाद, एक दूसरे के प्रति अनुराग और उपरति, साहित्यिक और सामाजिक समस्याओं का प्रस्तुतीकरण और समाधान इन पत्रों में मुखरित हुए है। हिंदी भाषा और साहित्य के विकास और प्रगति की अत्यंत जीवंत कहानी इन पत्रों में अंकित है। साथ ही ये पत्र भारतवर्ष की तात्कालिक ऐतिहासिक परिस्थिति के प्रामाणिक दस्तावेज हैं।

हिंदी पत्रसाहित्य के दो महत्त्वपूर्ण संकलन पं० किशोरीदास वाजपेयी के दीर्घकालीन साहित्यिक जीवन की देन हैं। ये दोनों संकलन छोटे होते हुए भी अपनी अंतःसाक्ष्य की बहुमूल्य सामग्री से ओतप्रोत होने के कारण सदैव उपादेय रहेंगे। प्रथम संकलन है 'साहित्यिकों के पत्र' (उनकी अपनी लिखावट में १९५८) और दूसरा संकलन है 'आचार्य द्विवेदी और उनके संगी साथी (१९६५)।' प्रथम संकलन में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, मिश्रबंधु, डा० अमरनाथ झा, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, श्रीरामदास गौड़, आचार्य अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, बेचनशर्मा उग्र, राहुल सांकृत्यायन, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्रकुमार, प० देवीदत्त शुक्ल, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० शकलनारायण शर्मा, पं० सिद्धनाथ माधव आगरकर, डॉ० संपूर्णानंद, पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, पं० रामाज्ञा द्विवेदी और प० हरिशंकर शर्मा—इन चौबीस साहित्यकारों के पत्र उनके ब्लॉक सहित मुद्रित हैं। प्रत्येक पत्र के उपरांत संपादक पं० किशोरीदासजी वाजपेयी ने पत्रलेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व पर संस्मरणात्मक मनोरंजक शैली में प्रकाश डाला है। 'प्रासंगिक निवेदन' में संपादक ने पत्रों के आत्मोद्घाटक रूप के महत्त्व पर एक पद्य में कहा है—'अति दुरूह विस्तृत जीवन जो, ग्रंथों में है नहीं समाता। वही किसी के एक पत्र में ज्यों का त्यों पूरा बँध जाता॥' संपादक श्रीवाजपेयीजी अधिक से अधिक साहित्यिकों के पत्र ब्लॉक सहित प्रकाशित करने की अभिलाषा से लिखते हैं—'कितने ही स्वर्गीय तथा जीवित साहित्यिकों के कार्डों के ब्लाक नहीं बन पाए हैं, जिनके बिना इस चीज में बट्टा लग गया है—रुपया पंद्रह आने का ही रह गया है। पर चलो, पंद्रह आने तो सामने आए। आगे वह घाटा पूरा हो जाएगा, ब्याज भी लग जाएगा।' इन पत्रों का लेखन-

काल १९३१ से १९५६ के बीच है। 'आचार्य द्विवेदी और उनके संगी साथी' नामक संकलन के पूर्वार्ध में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के १९३२ से १९३८ के बीच लिखे ३४ पत्र और उत्तरार्ध में आचार्य द्विवेदी के युग के कतिपय हिंदी महारथियों के संस्मरणों के साथ उनमें से कुछ के कतिपय पत्र भी संगृहीत हैं। आधुनिक हिंदी के विकासक्रम को समझने में ये पत्र काफी सहायक हो सकते हैं। वाजपेयीजी ने स्वीकार किया है कि उन्हें हिंदी की ओर प्रवृत्त करने में आचार्य द्विवेदी के पत्रों का बड़ा हाथ है—'आचार्य का आशीर्वाद सफल कैसे न होता ? उनकी ही पद्धति पर मैं आगे बढ़ा, उनका बल पाकर।''''''''फिर आचार्य का पत्र आया और आगे यह कृपा बराबर बनी ही रही। पचास साठ पत्र आचार्यने अपने हाथ से लिखकर भेजे। कुछ खो गए, शेष सब 'संमेलन' के हिंदी संग्रहालय में सुरक्षित हैं।'

जैसे आचार्य द्विवेदी और पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने पत्रकार जीवनमें सहस्रों पत्र लिखे और पाए, उसी प्रकार मुंशी प्रेमचंद को भी अपनी सुदीर्घ पत्रकारिता और साहित्यिक यात्रा में एक पत्रलेखक के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रेमचंदजी एक श्रेष्ठ पत्रलेखक थे। उनके पत्रों की संख्या भी सहस्रावधि है। उनके महत्त्वपूर्ण पत्रों का संकलन उनके सुपुत्र श्रीअमृतराय ने 'चिट्ठीपत्री' नामक संग्रह में किया है। कुछ पत्र श्रीअमृतराय ने प्रेमचंद के व्यक्तित्व और कृतित्व पर लिखित 'कलम का सिपाही' में भी उद्धृत किए हैं। इन संकलनों में प्रेमचंद के हिंदी, उर्दू और अंग्रेजी पत्रों के ब्लॉक भी मुद्रित हैं। प्रेमचंद के पत्रों में कठिन फारसी शब्दावली, सरल फारसी, संस्कृत शब्दावली, बोलचाल की खिचड़ी भाषा आदि कई प्रकार की शैली के नमूने मिलते हैं। प्रेमचंद ने जिस प्रकार अपनी रचनाओं में अपनी भाषा को पात्रानुकूल बनाने का सजग प्रयत्न किया है, उसी प्रकार उनके पत्रों की भाषा भी उस व्यक्ति की सीमा और रुचि के अनुसार है, जिसे उन्होंने अपने पत्रों में संबोधित किया है। इस तरह प्रेमचंद के पत्रों की भाषा उनके उपन्यास कहानियों की भाषा से बहुत अलग थलग नहीं है। उन्होंने अपने बहुरंगी जीवन के विविध क्षेत्रों से जो सहस्रों पत्र लिखे हैं उनसे लगता है कि प्रेमचंद का जीवन एक खुली पुस्तक है। एक गृहस्थ, एक स्कूलमास्टर, शिक्षाविभाग इंस्पेक्टर, संपादक प्रकाशक, प्रेस प्रबंधक, और एक प्रख्यात लेखक के रूप में प्रेमचंद की मधुर-कटु-तिक्त अनुभूतियों की एक विशाल रंगभूमि इन पत्रों में विद्यमान है। सतत संघर्षशील जीवन में भी प्रसन्नचेता प्रेमचंद ने यथालाभ संतोष के साथ मानवमूल्यों के प्रति पूरी ईमानदारी और गहन आस्था व्यक्त की है। १९३२ ई० में लिखे उनके एक पत्र से उनका समस्त व्यक्तित्व और जीवनदर्शन एकबारगी ही मुखरित हो उठता है—'मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बँगले की मुझे हविस नहीं। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि ऊँची कोटि

की दो चार पुस्तकें लिखूं। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई बड़ी लालसा नहीं है। यही चाहता हूँ कि वे ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हों। विलासी, धनी, खुशामदी संतान से मुझे घृणा है। मैं शांति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिये कुछ न कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ, रोटी, दाल और तोलाभर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।' क्या आज का साहित्यकार स्वदेश और हिंदी के इस तपस्वी उपासक के जीवन से कुछ ग्रहण करने की कल्पना भी कर सकता है? 'चिट्ठीपत्री' और 'कलम का सिपाही' में अनेक ऐसे प्रेरणादायक पत्र भरे पड़े हैं। उक्त दोनों पुस्तकों में अन्य अनेक व्यक्तियों और साहित्यिकों के भी पत्र संकलित हैं, जो प्रेमचंद को लिखे गए हैं।

१९६० ई० में 'कुछ पुरानी चिट्ठियाँ' नाम से पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा संपादित उनके पत्रसंग्रह से १९१७ से १९४८ के बीच लिखे ३६८ पत्रों का एक संकलन प्रकाशित हुआ। यह उनके अंग्रेजी संकलन 'ए बंच ऑफ ओल्ड लेटर्स' का हिंदी रूपांतर है। इसमें संगृहीत छह पत्र मूलरूप में हिंदी में ही हैं जो महात्मा गाँधी के लिखे हुए हैं। इनका लेखनकाल १९४२-४५ ई० है। महात्मा गाँधी राष्ट्रभाषा हिंदी में ही पत्रव्यवहार करने के आग्रही थे। उन्होंने अपने दो पत्रों में श्रीनेहरू को लिखा था—'मेरे खत पढ़ने में कोई कठिनाई आवे तो मैं और भी साफ अक्षर लिखने की कोशिश करूँगा। लेकिन हमारा धर्म है कि हम एक दूसरे को राष्ट्रभाषा में लिखते ही जायँ। कुछ अर्से में इस तरह लिखने में हम ज्यादा आसानी महसूस करेंगे। गरीबों को बहुत लाभ होगा' (४ मार्च १९४२, पत्र सं० ३३३)। दूसरा पत्र है—'चि० जवाहरलाल, तुमको लिखने का तो कई दिनों से इरादा किया था, लेकिन आज ही उसका अमल कर सका हूँ। अंग्रेजी में लिखूँ या हिंदुस्तानी में, यह भी मेरे सामने सवाल रहा था, आखिर मैंने हिंदुस्तानी में ही लिखने को पसंद किया' (५ अक्टूबर १९४५, पत्र सं० ३५८)। गाँधी के तथाकथित अनुयायियों को अंग्रेजी की आत्मघाती दासता से मुक्ति पाने के लिये उक्त दोनों पत्रों से प्रेरणा लेनी चाहिए।

१९६० ई० में ही श्रीवियोगी हरि ने अपने संग्रह से 'बड़ों के प्रेरणादायक कुछ पत्र' शीर्षक से एक छोटा सा पत्रसंकलन प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने प्रत्येक पत्र का संदर्भ देते हुए उससे मिली प्रेरणा और प्रभाव का उल्लेख भी कर दिया है। संग्रह में छह महापुरुषों के पत्र हैं जो वियोगी हरिजी को संबोधित करते हैं, वे हैं, महात्मा गाँधी, महादेव देसाई, किशोरलाल मशरूवाला, ठक्कर बापा, विनोबा भावे और पुरुषोत्तमदास टंडन। इन पत्रों का लेखनकाल १९३२ से १९५५ ई० तक है।

कवि सुमित्रानंदन पंत के १२६ पत्रों का संकलन भी १९६० में प्रकाशित हुआ। यह संग्रह पंतजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर हरिवंशराय बच्चन द्वारा १९४७-६० ई० में लिखित निबंधसंग्रह 'कवियों में सौम्य संत' के परिशिष्ट

रूप में है। पंतजी द्वारा बच्चनजी को ये पत्र १९४०–६० ई० में लिखे गए हैं। तीन पत्र मूलतः अंग्रेजी में लिखित रोमन लिपि और हिंदी अनुवाद सहित हैं। पत्रों में अंतर्हित अस्पष्ट संदर्भों को संपादक ने छोटी टिप्पणियों से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। ये पत्र नितांत वैयक्तिक हैं जिनमें पंतजी का ऋजु स्निग्ध अंतःकरण मुक्तदशा में बोल रहा है। हिंदी के आधुनिक साहित्यकारों में इतनी व्यक्तिगत पत्रावलीवाला संभवतः यह पहला पत्रसंग्रह है, जिसमें घर के रुपये पैसे के हिसाब किताब और राशन से लेकर कवि पंत ने अपनी काव्यचेतना और दर्शन तक की चर्चा कर दी है। बच्चन और उनकी पत्नी तेजी बच्चन के प्रति पंतजी के असीम स्नेह, वात्सल्य और विश्वास की किरणों से ये पत्र प्रकाशमान् हैं। अपनी काव्यसर्जना के एकांत क्षणों में परिनिष्ठित शब्दग्राम और वाग्वैदग्ध्य के संबल के साथ किसी अन्य लोक में विचरण करनेवाला क्लासिक कवि पंत इन पत्रों में कुछ दूसरा ही लगता है। हमारे शहराती जीवन की बोली में अंग्रेजी ने जिस धड़ल्ले से आक्रमण किया है, उसके प्रभाव से पंतजी बहुत ग्रस्त हैं। उनके अनेक हिंदी पत्रों की भाषा इस प्रकार की है— 'यहाँ कंपनी न होने के कारण लोनली फील होता हूँ' (पत्र सं० २६)। 'मुझे फिल्म लैंड का एक्सपीरिएंस भी हो जायगा। × × × वाटर राशनिंग यहाँ अभी से शुरू हो गया। हालाँकि अभी इतना स्ट्रिक्ट नहीं है। × × तुम्हारी अर्लियर पोएम्स जिस वाल्यूम में छपें, कृपया उसे भी भेजवा देना।' (पत्र सं० २९) आदि। कवि के निजी सुख, दुःख और माधुर्यसिक्त व्यंगविनोद की भाषा का स्वरूप कुछ भिन्न है—'कार की बात तो ठीक थी पर रुपया कहाँ है ? यहाँ अनेक प्रकार के नवीन पारिवारिक संकट आ खड़े हुए, जिनकी चर्चा मिलने पर करूँगा। तुम ले लो। यदा कदा मेरे भी काम आ जायगी। मैं और तेजीजी घूमने जाएँगे। तुम अजीत को देखभाल करना। अब की छुट्टियाँ यानी ये दो महीने इतने बुरे बीते हैं कि तुम अनुमान भी नहीं कर सकोगे। ऐसे खोटे महीने मेरे जीवन में बहुत कम आए हैं' (पत्र सं० ७०)। स्व-साहित्य के विवेचन (पत्र सं० ७१), अपने भविष्य के लेखनकार्यक्रम (पत्र सं० ११७), और अपने काव्य के दुरूह और अस्पष्ट अंशों की स्वयं कविकृत व्याख्या की दृष्टि से पत्रसंख्या ११८ से १२६ तक विशेष महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय हैं।

राष्ट्रवाणी (पूना १९६५ ई०) के 'मुक्तिबोध स्मृति अंक' में गजानन माधव मुक्तिबोध को अनेक व्यक्तियों और साहित्यिकों द्वारा लिखे गए पत्र तथा मुक्तिबोध द्वारा उनके उत्तर में लिखे गए कुछ पत्र संकलित हैं। पत्रों का संपादन श्रीकांत वर्मा ने किया है। इनसे मुक्तिबोध की पारिवारिक कहानी, अर्थसंकट, समकालीन असंतुलित जीवन के प्रति उनका आक्रोश, उनकी रचनाप्रक्रिया आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

हिंदी साहित्य संमेलन की पत्रिका (भाग ५२, सं० ३,४ तथा भाग ५३ संख्या १-२) में श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने संग्रह से स्व० डॉ० वासुदेव-

शरण अग्रवाल के क्रमशः सत्ताईस एवं उन्तीस अत्यंत महत्त्वपूर्ण और मार्मिक पत्र प्रकाशित कराए हैं, जिनका लेखनकाल १९४०-१९६६ ई० है। इन पत्रों में प्रथम दो को श्रीचतुर्वेदीजी ने हिंदी के समूचे पत्रसाहित्य में उच्च स्थान का अधिकारी बताया है जो उचित ही है। ये दोनों पत्र अत्यंत प्रसन्न शैली में अग्रवालजी की आत्मकथा कहते हैं। ऐसे पत्रों की उपादेयता और महत्त्व के विषय में पत्रसंग्राहक ने कहा है—'जीवनचरित्रों में पत्रों का बड़ा महत्त्व है। शरीर में रक्त मांस का जो स्थान है, वही स्थान जीवनचरित्रों में छोटे छोटे किस्से कहानियों तथा पत्रों का है। पत्रों के महत्त्व के बारे में स्वयं वासुदेवशरणजी ने १९५६ के अपने एक पत्र में चतुर्वेदीजी को लिखा है—'मुझे तो डाक का रोग है। पत्रों से रस चूसता हूँ। मेरी समझ में किसी व्यक्ति की भारी भरकम साहित्यिक कृति आँधी के समान है। उसके साहित्यिक पत्र उन झोंकों के समान हैं, जो धीरे से आते जाते रहते है और वायु की थोड़ी मात्रा साथ लाने पर भी साँस बनकर जीवन देते हैं। अन्न की उत्पत्ति और मेघों की वृष्टि के लिये अंधड़ भी चाहिए पर मंद वायु में जो फरहरी है, उसका भी कुछ अनूठा आनंद है।' किसी व्यक्ति के साहित्यिक पत्रों के रसार्द्र रूप के विषय में स्व० अग्रवालजी ने जो लिखा है, वह उनके स्वयं के पत्रों पर भी पूर्णतया चरितार्थ होता है। उनके पत्र हिंदी की अमूल्य निधि है।

प्रस्तुत संकलन के पत्र काफी विस्तृत रूप में हैं, और बड़े मनोयोग, गांभीर्य, एवं उच्च भावभूमि से लिखे गए हैं। लगता है कि ये पत्र श्रीअग्रवालजी की कारयित्री प्रतिभा के फल हैं। इनमें उनकी जीवनव्यापी साहित्यसाधना का रहस्य प्रकट हुआ है। उनका भारतीय संस्कृति और साहित्य का विशद गंभीर अध्ययन, साधुप्रकृति, कवियों जैसी गलदश्रु भावुकता, जनपदीय प्रतिभाप्रज्ञा के प्रति अचव्य अनुराग, और चिर अतृप्त जिज्ञासा सभी कुछ इन पत्रों में मूर्त हो उठे हैं। ये पत्र न केवल वेद, उपनिषद्, महाभारत, पुराण, काव्य, कोष, व्याकरणादि के उच्चतम ज्ञानकणों से प्रमाणपुष्ट हैं, अपितु सहज सरल जानपदीय लोकोक्तियों, मुहावरों और अर्थभरित शब्दों की ऊर्जा से स्पंदित भी हैं। प्राचीनतम भारतीय आर्षज्ञान के लुप्तप्राय और दुरूह सूत्रों को लोकजीवन से अविच्छिन्न रूप में जोड़ने की जो अद्भुत क्षमता अग्रवालजी में थी उसके दर्शन इन पत्रों में भी होते हैं। भारतवर्ष और उसकी प्रकृति के प्रति अतीव रागात्मक दृष्टि अनेक पत्रों में उभर आई है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी षष्टिपूर्ति के अवसर डॉ० शिवप्रसाद सिंह द्वारा संपादित अभिनंदन ग्रंथ 'शांतिनिकेतन से शिवालिक' (१९६७ ई०) के अंत्य भाग में द्विवेदीजी को विभिन्न साहित्यकारों द्वारा लिखे गए कुछ पत्र संकलित हैं। इन पत्रों का लेखनकाल १९४०-६० है। संपादक के अनुसार 'ये (पत्र) हिंदी के साहित्यिक विकास के दस्तावेज तो हैं ही, साथ ही स्वतः स्फूर्त होने के कारण, द्विवेदीजी के व्यक्तित्व और उनके साहित्यकार के विकास के साक्षी भी हैं।' पत्र

में है। जर्मन कथाकार स्टीफेन ज्विग के पत्रशैली में लिखित एक प्रसिद्ध उपन्यास के दो हिंदी अनुवाद 'अपरिचिता के पत्र तथा 'एक अनजान औरत का खत' प्रकाशित हुए। अंग्रेजी में ऐसे उपन्यासों को 'एपिस्टोलेरी नॉवेल' के नाम से वर्गीकृत किया गया है। साधारण उपन्यास कहानियों में भी मार्मिकता लाने के लिये अनेक लेखकों ने पत्रों का प्रयोग किया है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने तो आत्मसमर्पण की चरमावस्था व्यक्त करने के लिये पत्र से बढ़कर अन्य साधन न मानकर अपनी प्रसिद्ध नाटिका 'श्री चंद्रावली' में चंद्रावली द्वारा कृष्ण को एक पत्र लिखवाया है। इस नाटिका के 'समर्पण' में स्वयं भी भारतेंदुजी ने अपने आराध्य कृष्ण को एक पत्र ही लिखा है।

•

षष्ठ अध्याय

डायरी साहित्य

मानव की समस्त भावसृष्टि, विचारसरणि, अनुभूति और उस अनुभूति की अभिव्यक्ति का समग्र आयाम और माध्यम साहित्य का क्षेत्र और रूप संस्थान है। इस व्यापक दृष्टि से डायरी भी, जो किसी व्यक्ति की अपनी मानसी सृष्टि और उसका अंतर्दर्शन है, प्रकाश में आकर साधारणीकृत हो जाने के कारण साहित्यजगत् की संपत्ति बन जाती है, यद्यपि किसी व्यक्ति की यह दैनंदिन अनुभूति और व्यापारप्रकाश या डायरी उस व्यक्ति की नितांत वैयक्तिक संपत्ति होती है, किंतु अपनी सार्वजनीन मानवीय तत्वराशि के कारण समस्त मानवसमाज हो उससे साहित्य के व्यापक प्रयोजन 'शिवेतर क्षति' की सिद्धि कर सकता है। विशेषकर जब किसी व्यक्ति की साधना या प्रतिभाजन्य महनीयता लोक में प्रतिष्ठित और स्वीकृत हो जाती है तो उसकी दैनंदिनी और भी अमूल्य साहित्यिक निधि बन जाती है। महात्मा गांधी और टालस्टाय जैसी विश्वविभूतियों की डायरियाँ इसका प्रमाण हैं। इस अनुभूतिप्रधान दैनिक व्यापार व्यवहार के आत्मनिष्ठ और घनिष्ठ उल्लेख से ही उस साहित्यिक विधा या रचनाशैली विशेष का सूत्रपात होता है, जो गत २५,३० वर्षों से हिंदी साहित्य में उत्तरोत्तर विकसित और लोकप्रिय हो रही है, और गत दशक में जिस विधा की कुछ उल्लेखनीय साहित्यिक कृतियों से हिंदी की श्रीवृद्धि हुई है।

आधुनिक संदर्भ और रूप में इंटरव्यू विधा की भाँति डायरी विधा का उद्गम भी पाश्चात्य साहित्य ही है किंतु भारत में उसका विकास अपने संस्कारों और वातावरण में हुआ। डायरी की मौलिक धारणा को महात्मा गांधी ने एक नया अर्थ प्रदान किया, यद्यपि पश्चिम से आई डायरी के मूल साँचे को भी हिंदी साहित्य ने अपनी प्रकृति के अनुकूल बनाकर ग्रहण कर लिया। महात्मा गांधी के प्रभाव से भारत में डायरीलेखन का प्रवर्तन जीवनसाधना के एक माध्यम के रूप में हुआ जिसमें अध्यात्मदृष्टि का प्राधान्य है। पश्चिम के भौतिक और यथार्थवादी दृष्टिकोण को लेकर जिसमे युगजीवन का यथातथ्य चित्रण और वैयक्तिक अनुभूतियों और विचारों की अभिव्यक्ति का प्राधान्य है, हिंदी डायरी विधा की एक अन्य शाखा विकसित हुई। इस प्रकार कोई व्यक्ति अपने जीवन का सिंहावलोकन कर उसे वांछित दिशा में अग्रसर करने लिये डायरी लिखता है, कोई भावुक कवि, साहित्यिक या चिंतक अपने अंतर्मंथन को डायरी के पृष्ठों में वाणी देता है या कोई इतिहासकार अथवा जीवनीलेखक समसामयिक घटनाओं पर संक्षिप्त टिप्पणी प्रतिदिन अपनी डायरी में करता है। तिथिवार, दिनांक,

सन् संवत् आदि का आनुपूर्व्य से उल्लेख करते हुए दैनंदिन अनुक्रम से जो लेखन होता है, वही डायरी विधा के रूपसंस्थान का हेतु है। अंग्रेजी शब्द डायरी स्वयं भी अपने मूल स्रोत के लेटिन शब्द 'डाइस' (संस्कृत शब्द 'दिवस' का सहोदर और समानार्थक) से दैनंदिनता का ही बोध कराता है। पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार डायरी एक दैनंदिन आत्मकथा है। डायरीलेखक घटनाओं को उसी अनुक्रम से लिखता जाता है, जिस क्रम से वे घटित होती हैं। ये घटनाएँ उसकी स्वयं की देखी हुई या किसी के द्वारा उसे सुनाई हुई हो सकती हैं। इस विधा का लाभ यह है कि लेखक घटनाओं को भूल नहीं सकता। (कैसेल्स एनसाइक्लोपेडिया आफ लिटरेचर वाल्यूम १ १९५३ संपा० एस० एच० स्टीनबर्ग)। पाश्चात्य समीक्षकों ने डायरी को इसी लिये साहित्यकोटि में रखा है कि या तो वह किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति के व्यक्तित्व का उद्घाटन करती है, या मानवइतिहास के किसी कालखंड अथवा मानवसमाज के किसी वर्गविशेष का सूक्ष्म और जीवंत चित्र उपस्थित करती है। डायरीलेखक अपनी रुचि और आवश्यकतानुसार मानवइतिहास के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक किसी पक्ष का स्वतंत्र अथवा सभी पक्षों का युगपत् चित्रण कर सकता है। इस प्रकार डायरी के दो रूप सामने आते हैं—१. व्यक्तिनिष्ठ और २. वस्तुनिष्ठ। किंतु दोनों रूप अन्योन्याश्रित और परस्पर गुंफित हैं। यह असंभव है कि व्यक्तिगत डायरी में घटना का एकांत अभाव हो और वस्तुनिष्ठ डायरी में व्यक्ति एकदम अनुपस्थित हो। पाश्चात्य साहित्य में दोनों प्रकार की डायरियों को साहित्यिक मान्यता प्राप्त हुई। यदि टालस्टाय की डायरी व्यक्तिनिष्ठ डायरी के रूप में प्रख्यात है तो सेम्युअल पेपिस की डायरी वस्तुनिष्ठ डायरी के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। हिंदी में भी दोनों शैलियों का डायरीसाहित्य गत ३०-३५ वर्षों से विकसित हो रहा है, यद्यपि आरंभ में विकास की गति कुछ मंथर रही है।

काव्य, नाटक, उपन्यास, निबंध, आदि की भाँति डायरी विशुद्ध साहित्यिक विधा न होते हुए भी अपनी वैयक्तिक धार्मिकता, अनुभूति की ऐकांतिक तीव्रता, वर्णन की प्रत्यक्ष सजीवता के कारण आज साहित्य में एक लोकप्रिय रचनाशैली के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है। दो शताब्दी से पश्चिम में गद्यसाहित्य की एक विधा के रूप में प्रतिष्ठित डायरी विधा का आगमन भारत में १९ वीं शताब्दी में हुआ। अन्य भारतीय भाषाओं के साथ हिंदी में भी उसी समय डायरीलेखन का श्रीगणेश हुआ और हिंदी-लेखकों ने अपनी व्यक्तिगत डायरी लिखना आरंभ किया। सन् १८८५ की मुद्रित डायरी पुस्तिका के पृष्ठों पर श्रीराधाचरण गोस्वामी की स्वहस्तलिखित दिनचर्या और कुछ प्रतिज्ञाएँ प्राप्त होना, इस बात के प्रमाण हैं कि हिंदी साहित्यकारों में बहुत पहले से डायरीलेखन की रुचि और सजगता विद्यमान थी। यह असंभव नहीं है कि हिंदी साहित्य में नवीनता का सूत्रपात करनेवाले भारतेंदु हरिश्चंद्र, आचार्य द्विवेदी और उनके अनेक सहधर्मी डायरी लिखते हों, किंतु अभी हमारा ध्यान अपनी साहित्यिक

विभूतियों की विविधवर्णी, अज्ञात इतस्ततः बिखरी हुई अमूल्य डायरियों की ओर नहीं गया है। जिस समय हमारे पूर्वज साहित्य महारथियों की व्यक्तिगत डायरियाँ प्रकाश में आएँगी, उस समय हमारे साहित्यिक इतिहास को एक नया आलोक मिलेगा। अभी तो केवल पत्र पत्रिकाओं में जब तब किसी पुराने साहित्यकार की डायरी के कुछ अंश दिखाई पड़ जाते हैं। जैसे श्रीमैथिलीशरण गुप्त की १९९२ से २००७ तक की डायरी के कुछ अंश अभी प्रकाशित हुए अथवा धर्मयुग (५ फरवरी १९६७) में श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी की पुरानी निजी डायरी के कुछ छुटपुट प्रसंगों की अवतारणा हुई। किंतु एक साहित्यिक अभियान के उत्साह उल्लास से अपने पूर्ववर्ती साहित्यिकों की डायरी की खोज और उनका प्रकाशन हमारा आवश्यक कर्तव्य है। तब तक हिंदी साहित्यकारों की पुस्तकाकार में प्रकाशित शुद्ध डायरी के लिये हमें 'दैनंदिनी' (सुंदरलाल त्रिपाठी १९४५ ई०), 'मेरी कालिज डायरी' (डा० धीरेंद्र वर्मा १९५८ ई०) जैसी इनीगिनी कृतियों पर ही संतोष करना पड़ेगा।

हिंदी में हिंदी के साहित्यकारों की डायरी से अधिक पुस्तकाकार प्रकाशित साहित्य अन्य क्षेत्र के व्यक्तियों की डायरियों का है। ये अपने रूढ़ अर्थ और रूप में शुद्ध डायरियाँ हैं। इस प्रकार के डायरी लेखन के मूल प्रेरणास्रोत महात्मा गांधी थे। वे एक महान् डायरी लेखक थे। उन्होंने न केवल अपने अनुयायियों को डायरी लिखने की प्रेरणा और आदेश दिया अपितु अपने युग के अनेक साहित्यिकों को भी डायरी लिखने की प्रेरणा दी। इन सभी डायरियों का प्रधान स्वर आत्मनिरीक्षण का है। पश्चिम की इस स्वगत और यथार्थवादी विधा को महात्मा गांधी ने सत्य की साधना का एक माध्यम बनाकर एक मौलिक प्रयोग किया। उनके जीवन के उत्कर्ष के अनेक हेतुओं में प्रतिदिन सच्ची डायरी लिखना भी एक महत्वपूर्ण हेतु रहा है। डायरी लेखन के महत्व पर उन्होंने कहा है—'डायरी का विचार करके देखता हूँ तो मेरे लिये तो वह एक अमूल्य वस्तु हो गई है। जो सत्य की आराधना करता है, उसके लिये वह पहरेदार का काम करती है, क्योंकि उसमें सत्य ही लिखना है। आलस्य किया हो तो लिखे ही छुटकारा, काम किया हो तो भी लिखे ही छुटकारा × ×। डायरी रखने की आदत ही हमें अनेक दोषों से बचा लेगी।' ('हरिजन बंधु' २० अक्टूबर १९३३)। स्पष्ट है कि डायरी के प्रति यह साधनात्मक दृष्टिकोण पाश्चात्य साहित्य में पहले से चले आते हुए डायरी के उस उद्देश्य से भिन्न है जो डायरी को यथार्थानुभूति, विचारों की अबाध अभिव्यक्ति और युगजीवन के सजीव चित्रण के रूप में मान्य है। हिंदी में आत्मनिरीक्षण प्रधान शुद्ध डायरी के प्रेरणास्रोत के रूप में महात्मा गांधी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। गांधी युग के डायरी लेखकों में श्रीमहादेव देसाई, जमुनालाल बजाज, राजेंद्र बाबू, घनश्यामदास बिड़ला, मनुबहन गांधी, सुशीला नायर, नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ आदि उल्लेखनीय हैं। इन लोगों की व्यक्तिगत डायरियाँ अथवा गांधीजी और बिनोवा को केंद्र मानकर लिखी गई अनेक लोगों की डायरियाँ सम-

कालिक भारत का यथार्थ चित्र उपस्थित करती हैं। इनमें से कुछ उल्लेखनीय कृतियों की चर्चा यथाप्रसंग की जायगी।

नामकरण

गांधीयुग के लेखकों ने ही डायरी शब्द के कुछ हिंदीपर्यायों का उल्लेख किया है। डायरी मे दैनंदिनता का लक्षण ही प्रमुख होने के कारण उसे 'दैनिकी', 'दैनंदिनी', 'रोजनामचा', 'रोजनिशी' आदि नाम दिए गए। काका कालेलकर ने 'वासरी' अथवा 'वासरिका' पर्याय सुझाए हैं। गुजराती का 'नोंध' शब्द भी डायरी में लिए गए टिप्पण के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इधर श्रीअजितकुमार ने डायरी के लिये कुछ व्यापक अर्थ मे अंकन शब्द का प्रयोग किया है। किंतु आश्चर्य है कि इनमें से कोई नाम हिंदीजगत् मे धड़ल्ले से नही चला। दैनिकी और दैनंदिनी दो नाम ही अपेक्षाकृत कुछ प्रचार पा सके हैं। साहित्यिक विधा के रूप मे तो अब अंग्रेजी नाम डायरी ने ही पाँव रोप लिए हैं और प्रकाशित साहित्य में डायरी नाम का ही अधिकतर लोगों ने प्रयोग किया है।

अन्य साहित्यिक विधाओं के लिये डायरी नाम

डायरी के रूढ़ अर्थ और मूल रूप के अतिरिक्त हिंदी में प्रभूत आधुनिक साहित्य ऐसा है जो डायरी के बाहरी ढाँचे और नाम में वस्तुतः अन्य विधाओं का साहित्य है। हिंदी के अनेक समर्थ और सशक्त लेखकों ने डायरी के व्यंजनापूर्ण अभिधान से आत्मकथा, संस्मरण, कहानी, उपन्यास, ललित निबंध, रिपोर्ताज आदि की रचना की है, जिनमे समसामयिक इतिहास, साहित्य और जीवन का सफल विश्लेषण हुआ है। ऐसी कृतियो मे प्रारंभ में तिथिवार आदि का निर्देश जो डायरी के वाह्य अवयवसंस्थान का एक स्वरूपभूत लक्षण है, उन कृतियो को यथार्थता, नवीनता और सजीवता का अद्भुत आकर्षण प्रदान कर देता है। डायरी में जो आत्मकथात्मकता, एक आत्यंतिक नैकट्य, वैयक्तिक संस्पर्श और सत्यवत्ता है, दैनिक जीवन में वस्तुतः घटित होनेवाली घटनाओं को आनुपूर्व्य के साथ कह डालने की उत्सुकता है, मन के प्रत्यग्र भावो और मस्तिष्क के सद्यः स्फूर्त विचारों को लिपिबद्ध कर डालने को जो आकुलता है, उसी ने आधुनिक अनेक लेखको को साहित्य की अन्य विधाओं की रचना के लिये भी डायरी शीर्षक देने के लिये आकृष्ट किया। हिंदी में इस शैली मे कई उपन्यास, कहानियाँ, संस्मरण, रिपोर्ताज और आत्मकथात्मक रचनाएँ आधुनिक काल मे हमारे सामने आई हैं। उदाहरणार्थ, राहुल सांकृत्यायन के संस्मरणात्मक यात्रावर्णन 'यात्रा के पन्ने', इलाचंद्र जोशी के स्वानुभूतिपूर्ण संस्मरण 'मेरी डायरी के नीरस पृष्ठ', डा० देवराज का उपन्यास 'अजय की डायरी' (१९६०) विश्वंभर मानव का उपन्यास, 'पीले गुलाब की आत्मा' (१९६२), सज्जन सिंह का प्रवासवर्णन 'लद्दाख यात्रा की डायरी', रावी की भारतकृति 'एक बुकसेलर की

डायरी', अमृतलाल नागर का रिपोर्ताज 'गदर के फूल', जगदीशचंद्र जैन का रिपोर्ताज 'पैकिंग की डायरी', इसी विधा में लिखित हैं। काशी के प्रसिद्ध दैनिक 'आज' के साप्ताहिक विशेषांकों में प्रायः नियमित रूप से 'मनबोध मास्टर की डायरी' शीर्षक से समसामयिक जीवन और साहित्य की गतिविधि का मूल्यांकन करनेवाले निबंध प्रकाशित होते रहे हैं। इधर व्याख्यानों का एक संकलन 'राज्यपाल की डायरी से' (१९६०) प्रकाशित हुआ है, जिसमें उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्रीवराहवेंकट गिरि के विभिन्न अवसरों पर दिए गए भाषण तिथिक्रम से संगृहीत हैं। ऐसा लगता है कि उपर्युक्त सभी रचनाओं में कल्पित अथवा वास्तविक तिथि मास, वर्ष आदि के उल्लेख ने अनेक रचनाकारों को डायरी नाम देने के लिये प्रेरित किया है और वस्तुतः डायरी और डायरी विधा में लिखी गई रचनाओं का संकर हो गया है। यद्यपि हिंदी में दोनों ही प्रकार की रचनाएँ विद्यमान हैं, फिर भी इधर डायरी विधा की ओर लोगों की प्रवृत्ति विशेष रूप से उन्मुख लगती है।

हिंदी का डायरी साहित्य

हिंदी में इस समय डायरी साहित्य तीन भिन्न रूपों में उपलब्ध है—

१. वस्तुतः दैनिक और नियमित डायरी—इसमें लेखक अपनी यथार्थ दिनचर्या, गुणदोषों, कार्यकलापों और समकालिक घटनाओं का आवश्यकतानुसार संक्षिप्त या विस्तृत उल्लेख करता है। हिंदी का ऐसा लगभग सारा डायरी साहित्य गांधी युग की देन है और अपने विस्तार एवं विषयवैविध्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। महात्मा गांधी, महादेव देसाई, जमनालाल बजाज और मनुबहन गांधी की डायरियाँ इसी कोटि में आती हैं।

२. दैनिकता के पालन का अधिक आग्रह न रखते हुए भी लेखनकाल का यथार्थ निर्देश करनेवाली डायरी—इसमें लेखक अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों, प्रतिक्रियाओं, विचारों की अभिव्यक्ति के साथ समसामयिक इतिहास और जीवन का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। डा० धीरेंद्र वर्मा की **'मेरी कालिज डायरी'** श्रीवाल्मीकि चौधरी की **'राष्ट्रपति भवन की डायरी'** और एलेन कैंपबेल की **'भारतविभाजन की कहानी'** इसी कोटि की कृतियाँ हैं।

३. वैयक्तिक घनिष्ठताप्रधान निबंधात्मक डायरी—इसमें लेखक आत्मकथा की ओर विशेष रूप से उन्मुख रहता है। ऐसी डायरी में लेखक के जीवन के मार्मिक प्रसंग, विशिष्ट घटनाएँ, उसकी अतीत और वर्तमान अनुभूतियाँ, मनोविश्लेषण और चिंतन सभी कुछ व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ निबंधों के रूप में एकाकार हो जाते हैं। श्रीसुंदरलाल त्रिपाठी की 'दैनंदिनी' और गजानन माधव मुक्तिबोध की **'एक साहित्यिक की डायरी'** इस श्रेणी की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। इस तीसरे वर्ग की रचनाएँ ही डायरी विधा के विकास और प्रगति की भविष्य संभावनाओं की सूचक हैं। तीनों कोटियों के डायरी साहित्य का परिचय यथाक्रम प्रस्तुत किया जायगा।

जैसा पहले कहा जा चुका है हिंदीलेखकों की व्यक्तिगत डायरी के प्रमाण हमें भारतेंदु युग (१८५०-१८८५ ई०) में मिलते हैं। १८८५ ई० की श्रीराधाचरण गोस्वामी की वैरागोचित प्रतिज्ञाओं की पूर्वोद्दिष्ट हस्तलिखित डायरी के अतिरिक्त गोस्वामीजी की १८७२ अथवा १८७६ की भी हस्तलिखित डायरियाँ चैतन्य पुस्तकालय, पटना में सुरक्षित हैं। किंतु ये तथ्यनिरूपक व्यक्तिगत डायरियाँ हैं। डायरी में साहित्यिक कलात्मकता का उन्मेष एक लंबे अंतराल के बाद हुआ। हिंदी में कलात्मकता, जीवंत व्यक्तित्व की छाप और भावुकता से पुलकित मौलिक डायरी लेखन के शिलान्यास का श्रेय श्रीनरदेव शास्त्री वेदतीर्थ को है। १९३० के आसपास उनकी डायरी 'नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ की जेल डायरी' नाम से प्रकाशित हुई। इसमें गहन अनुभूतियों और सच्ची घटनाओं का चित्रण ऐसी भावुकता और सजीवता से किया गया है कि यह कृति बड़ी आकर्षक हो गई है। इससे कुछ पहले टाल्स्टाय की डायरी का हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुआ, जिससे प्रेरणा लेकर अनेक हिंदी लेखकों का झुकाव कलात्मक डायरी लेखन की ओर हुआ। प्रकाशित डायरियों में श्रीसुंदरलाल त्रिपाठी की 'दैनंदिनी' हिंदी के डायरी साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

प्रथम कोटि : वस्तुतः दैनिक और नियमित डायरी

गांधी युग के डायरी साहित्य की ओर दृष्टिप्रक्षेप कर तो हमें कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ मिलती हैं, जो न केवल भारतीय भाषाओं के साहित्य में अपितु समस्त विश्व के डायरी साहित्य में विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी होने योग्य हैं। इनमें से अन्यतम है 'महादेव भाई की डायरी' जो मूल गुजराती से हिंदी में अनूदित है। वह तीन भागों में १९४८-१९५१ में प्रकाशित हुई। गांधीजी के अभिन्न साथी और अनुयायी महादेव देसाई को विश्व के महान् डायरी लेखकों में परिगणित किया जाना चाहिए। १९१७ में गांधीजी का साथ होने से लेकर १९४२ में अपने निधनवर्ष तक उन्होंने निरंतर अपनी डायरी लिखी। उक्त डायरी यरवदा जेल में १९३२-३३ में लिखी गई थी, जो बाद में श्रीनरहरि द्वारकादास परीख द्वारा संपादित और श्रीरामनारायण चौधरी द्वारा अनूदित होकर हिंदी जगत् में आई। डायरी का पहला भाग गांधीजी द्वारा सर सम्युअल होर को लिखे गए पत्र से प्रारंभ होता है। हिंदू समाज को छिन्न विच्छिन्न करने की कलुषित भावना से १९३० को गोलमेज कांफ्रेंस में अंग्रेजों ने अंत्यज जातियों के लिये पृथक् निर्वाचन मंडल बनाने की जो घोषणा की थी, उसका प्राणपण से जो विरोध गांधीजी ने किया, अस्पृश्यता निवारण और हरिजनों के मंदिर प्रवेश के लिये उन्होंने जो आंदोलन किए उनका सजीव वर्णन इन पृष्ठों में है। इस डायरी में अंग्रेजों के नागपाश से छूटने के लिये आकुल भारत का मार्मिक और जीवंत चित्र है। महात्मा गांधी और महादेव देसाई के अतिरिक्त अनेक महापुरुषों के अंतर्बाह्य व्यक्तित्व की झाँकी इस डायरी में दर्शनीय है। महात्मा गांधी की अधिकृत जीवनी के

जिसे यह डायरी सबसे बड़ा अनमोल कोश है। इसके अतिरिक्त मानवजीवन को ऊर्ध्व-मुखी बनाने और उसे प्रेरणा देनेवाले सत्साहित्य के अनेक गुण इस डायरी में इतस्ततः परिव्याप्त हैं। शैली की दृष्टि से यह डायरी इतिवृत्तात्मक होते हुए भी हास्य, व्यंग्यविनोद के छुटपुट प्रसंगों के कारण काफी रोचक हो गई है। इसकी भाषा बोलचाल की सरल स्पष्ट और प्रवाहमयी है। गांधीजी और अनेक व्यक्तियों के वार्तालाप और पत्राचार इस डायरी में अविकल रूप से उद्धृत हैं। इससे इस डायरी की प्रामाणिकता और रोचकता और भी बढ़ गई है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—'२२।३।३२ आज के छोटे छोटे अनुभव भी सब लिखने लायक हैं।× ×सुबह चार बजे प्रार्थना के बाद बापू नीबू और शहद का पानी पीते हैं। उबलता हुआ पानी शहद और नीबू के रस पर उड़ेला जाता है।× ×, कल से बापू ने अपने पानी पर कपड़े का टुकड़ा ढँकना शुरू किया है। आज सवेरे पूछने लगे, महादेव तुम्हें मालूम है, यह कपड़ा क्यों ढँकता हूँ ? छोटे छोटे जंतु हवा में इतने होते हैं कि पानी की भाप के मारे अंदर पड़ सकते हैं, उनसे बचाव हो जाता है। वल्लभ भाई सदा की तरह बोले, इस हद तक हमसे अहिंसा नहीं पाली जा सकती। बापू हँसकर बोलने लगे, अहिंसा तो नहीं पाली जा सकती, मगर स्वच्छता तो पाली जा सकती है न ?' महादेव देसाई अपनी डायरी के ऐसे आकर्षक प्रसंग 'नव जीवन,' 'यंग इंडिया' और 'हरिजन' पत्रों में समय समय पर प्रकाशित करते रहते थे।

महादेव देसाई की इस महत्वपूर्ण डायरी के समान ही मनुबहन गांधी की गुजराती से अनूदित डायरी है, जो कई शीर्षकों में १९५२ और उसके बाद प्रकाशित हुई। महात्मा गांधी की अंतेवासिनी और उनके परिवार की सदस्या होने के कारण मनुबहन गांधी की डायरी तत्कालीन जीवन का सच्चा दस्तावेज है। मनुबहन दिसंबर १९४६ से ३० जनवरी १९४८—गांधीजी की निधनतिथि—तक निरंतर उनके साथ रहीं। इस पूरे समय में उन्होंने प्रतिदिन डायरी लिखी। वे डायरी लिखकर गांधीजी को दिखातीं और वे उसपर अपने हस्ताक्षर कर देते थे। गांधीजी के ७८ वर्षों की जीवनसाधना की चरम परिणति के अंतिम दिनों की यह डायरी अद्भुत है। इसमें उनकी उस समय की मनोदशा, कार्यकलापों और गतिविधियों का यथार्थ चित्रण है। मनुबहन गांधी की यह विशाल डायरी हिंदी में चार पृथक् पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुई।

१. एकला चलो रे—इसमें गांधीजी की नोआखली यात्रा की १९।१२।४६ से ४।३।४७ तक की डायरी है।

२. कलकत्ते का चमत्कार—इसमें १।८।४७ से ७।८।४७ तक गांधीजी के कलकत्ता प्रवास की डायरी है।

३. बिहार की कौमी आग में—इसमें ५।३।४७ से २४।५।४७ तक की गांधीजी की बिहारयात्रा की डायरी है।

४. दिल्ली डायरी—इसमें गांधीजी के दिल्ली निवास और उनके निधन-दिवस तक अर्थात् ८।९।४७ से ३०।१।४८ तक की डायरी संकलित है। इन सभी डायरियों में महात्मा गांधी के उन महान् प्रयत्नों का विवरण है जो उन्होंने सांप्रदायिक विद्वेष की ज्वाला को शांत करने के लिये घोर शारीरिक श्रम, महान् साहस और धैर्य के साथ अपने जीवन की अंतिम साँस तक किए थे।

गांधी युग की एक और महत्वपूर्ण डायरी जमनालाल बजाज की डायरी है जिसमें उनके १९१२ से १९१५ तक के जीवन की झाँकी है। इसका प्रकाशन १९६६ में हुआ। उनके सुपुत्र श्रीरामकृष्ण बजाज ने इस डायरी को एक ग्रंथमाला के रूप में प्रकाशित करने की योजना बनाई है। प्रथम खंड में श्रीजमनालाल बजाज के गांधीजी के संपर्क में आने से पूर्व की डायरी है। अनुपलब्ध होने के कारण १९१३ की बीच की डायरी इस खंड में नहीं दी जा सकी है। जमनालालजी की डायरी दैनिकता के पालन के साथ लिखी गई है। इसमें उनकी व्यक्तिगत दिनचर्या, विविध यात्रा, प्रवासों, विविध क्षेत्र के व्यक्तियों से संपर्क और महत्वपूर्ण घटनाओं का संक्षिप्त उल्लेख है। इससे गांधीयुगीन भारत के इतिहास की कुछ झलक तो मिलती है, किंतु जमनालाल बजाज के हार्दिक भावों और विचारों का ज्ञान नहीं होता। इस डायरी में याददाश्त के लिये उनकी कुछ सूचनाएँ ही लिखी हैं। जहाँ महादेव भाई की डायरी व्यासशैली में है, वहाँ जमनालाल बजाज की डायरी समासशैली में। गांधीजी इन दोनों को अपने दो हाथों के समान मानते थे। इस प्रकार इन दोनों महानुभावों की डायरियों का अपना अपना महत्व है। गांधीजी के संपर्क में आने के बाद से जमनालाल बजाजजी के जीवन की धारा ने एक नया मोड़ लिया। अतः आगे दस खंडों में जब उनकी संपूर्ण डायरी प्रकाशित होगी तो वह डायरी साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान बनाएगी इसमें संदेह नहीं।

गांधी युग के डायरी लेखकों में घनश्यामदास बिड़ला, सुशीला नायर, निर्मला देशपांडे और दामोदरदास मूँदड़ा उल्लेखनीय हैं। श्रीबिड़ला एक बड़े उद्योगपति होते हुए भी अपने जीवन को साहित्य और कला की धारा से जोड़े हुए हैं। उनकी कृति डायरी के कुछ पन्ने १९३१ की गोलमेज कांफ्रेंस की गतिविधियों का चलचित्र के समान मनोरम दृश्य उपस्थित करती है। सुशीला नायर ने गांधीजी की कारावास कथा में अपने अनुभवों के साथ गांधीजी के व्यापक प्रभाव को अभिव्यक्ति दी है। विनोबा की पदयात्रा के संबंध में लिखी गई निर्मला देशपांडे और दामोदरदास मूँदड़ा की दो डायरियाँ—१. सर्वोदय पदयात्रा, २. विनोबा के साथ—भी युगधारा की दिशा का किंचित् ज्ञान कराती हैं किंतु इन डायरियों में इतिवृत्तात्मक तथ्यांकन की बहुलता और अनुभूति की न्यूनता है।

दूसरी कोटि

दैनिकता का पालन कठोरता से न करते हुए लिखी गई डायरियों की दूसरी कोटि में और एक साहित्यकार की यथार्थ डायरी के रूप में डा० धीरेंद्र वर्मा की मेरी कालिज डायरी (१९५८) उल्लेखनीय है। यह अपने सही अर्थ में व्यक्तिगत डायरी है जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुई है। डा० वर्मा को डायरीलेखन की प्रेरणा अपने पिता से मिली। म्योर सेंट्रल कालिज इलाहाबाद के हिंदू बोर्डिंग हाउस में रहते हुए वे नियमित रूप से डायरी लिखते थे। उन्होंने अपनी दिनचर्यात्मक प्रारंभिक डायरी का कुछ नमूना दिया है—'छह बजे से पहले उठा। सुबह तीन घंटे पढ़ा। दिन में पाँच घंटे पढ़ा। शाम को टेनिस खेला था। संध्या को नित्य पार्क जाने लगा हूँ। आँखें ठीक न होने के कारण रात में बिल्कुल नहीं पढ़ा। नौ बजे सो गए थे।' किंतु युवावस्था में प्रवेश करने पर उन्हें उक्त रूप में डायरी को खानापूरी करने से संतोष नहीं हुआ। और उन्होंने लिखा है कि इस अवस्था में प्रत्येक नवयुवक के मन, प्राणों और शरीर में परिवर्तन होते हैं। भावनाएँ, संशय, शंकाएँ और समस्याएँ डूबती उतराती हैं और अभिव्यक्ति के लिये छटपटाती हैं। वर्माजी अपने मन में उठनेवाली उलझनों और अंतरंग बातों को सही सही लिखकर मन को हलका कर लेते थे। लगभग सात वर्ष (१९१७ से १९२३) की अवधि में उनके मन और बुद्धि में भावों और विचारों का जो आवेग और मंथन हुआ, 'मेरी कालिज डायरी' उसी बड़ी डायरी का संपादित रूप है। भूमिका में लेखक कहता है—'व्यक्तिगत होते हुए भी यह डायरी किसी भी संवेदनाशील आदर्शवादी किंतु संकोची १८,१९ से २५,२६ वर्ष तक की आयु के नवयुवक के हृदय का चित्र हो सकता है। व्यक्तिगत अंशों को भी इसी रूप में देखा जा सकता है—यत्पिंडे तत्ब्रह्मांडे। इसमें संदेह नहीं कि यह डायरी एक भोले और जिज्ञासु नवयुवक का सच्चा आत्मचरित है। इसके कच्चे पक्के रूप, इसकी अपूर्णता और सचाई में ही इसका महत्व है। मन के गदरेपन का आनंद डायरी के इसी रूप में है। लेखक के शब्दों में, पाठकों से अनुरोध है कि वे इसे हिंदी के प्रकांड विद्वान् और भाषाशास्त्र के पंडित, प्रोफेसर धीरेंद्र वर्मा की कृति समझ कर न पढ़ें बल्कि इसमें स्वयं अपने जीवन की १८ से २४ वर्ष तक की मानसिक स्थिति की परछाँई देखने का प्रयत्न करें। सचाई यह है कि इससे अधिक अथवा भिन्न इसका महत्व नहीं है।'

इस छोटी सी डायरी को लेखक ने चार खंडों में विभाजित किया है जिनमें क्रमशः जिज्ञासाओं, संशय, अपने भविष्य, जगत्, देश की तात्कालिक राजनीतिक स्थिति, स्वाधीनता संग्राम, असहयोग आंदोलन, आदि का उल्लेख है। लेखक के संपर्क में आए व्यक्तियों का मूल्यांकन और विभिन्न क्षेत्र के महत्वपूर्ण व्यक्तियों और महापुरुषों की आनुषंगिक चर्चा इस डायरी में स्वाभाविक रूप से आ गई है।

विषयवस्तु के गंभीर विश्लेषण और विस्तार की दृष्टि से 'भारतविभाजन की कहानी' अत्यंत महत्वपूर्ण डायरी है। हिंदी में यह १९४७ के उपरांत मूल अंग्रेजी से अनूदित होकर प्रकाशित हुई। इसके लेखक एलेन कैंपबेल जान्सन भारत के तत्कालीन वाइसराय माउंटबैटन के प्रेस अटैची थे। कैंपबेल ने अपने दैनिक टिप्पणों, पत्रों और दस्तावेजों के आधार पर लिखी पुस्तक 'मिशन विद माउंटबैटन' में भारत के विभाजन और सत्ताहस्तांतरण की लोमहर्षक और अभूतपूर्व घटना को बड़े ही रंजक ढंग से चित्रित किया है। इस डायरी में इतिहास की अपेक्षा इतिहास के सविस्तर और विधिवत् लेखन की सामग्री ही अधिक है जिसकी प्रामाणिकता ही उसका महत्व है।

राष्ट्रपति भवन की डायरी (१९६०) : यह श्रीवाल्मीकि चौधरी की मनोरंजक कृति है। इस डायरी में लेखक ने जनवरी १९५० से १९५२ तक राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद के साथ राष्ट्रपति भवन में निवास के दौरान अपने मार्मिक संस्मरणों का तिथिक्रम से उल्लेख किया है। इस डायरी में राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के पूर्व और पश्चात् राजेंद्र बाबू की मन:स्थिति और राष्ट्रसेवा के प्रति उनके विचार लेखक ने उन्हीं के शब्दों में रख दिए हैं। राष्ट्रपति बनने के बाद राजेंद्र बाबू ने निश्चय किया था कि जहाँ तक संभव होगा वे प्रतिदिन अपनी डायरी लिखा करेंगे। इस डायरी में उनके महामानव के पद पद पर दर्शन होते हैं। प्रासाद में रहकर भी वे कैसे वीतराग ऋषि थे और उनका मन सदा भारत के गाँवों में रहनेवाले कोटि कोटि जनपदजनों के बीच कैसा अटका रहता था, यह इस डायरी में दर्शनीय है—राष्ट्रपति बनने के एक दिन बाद उनके हृदय के ये उद्‌गार उनकी डायरी में अंकित हुए—'आज यह क्या का क्या हुआ? भारत स्वतंत्र, सर्वशक्तिसंपन्न प्रजातंत्रात्मक गणराज्य हो गया और मैं उसका पहला राष्ट्रपति। ईश्वर ने बड़ी जिम्मेदारी सिर पर डाली—वही निबाहेगा। × यह मैं साढ़े चार बजे सबेरे २७ जनवरी को लिख रहा हूँ। हजारों बधाई के तारों का गट्ठर सामने रखा है, अब उनको उलटकर जरा देख लूँ।' राजेंद्र बाबू के निरीह निश्छल मन के ऐसे कितने ही सुंदर छायाचित्र इस डायरी के एलबम में एकत्र हैं। इसी प्रकार की एक डायरी बलराज साहनी की पाकिस्तान का सफर है, जिसमें इतिवृत्त और अनुभूतियों का संतुलित रूप देखने को मिलता है।

तीसरी कोटि

डायरी विधा की साहित्यिक कमनीयता से अनुप्राणित और साथ ही डायरी की मूल धारणा से निरंतर संपृक्त कृतियाँ तीसरे और अंतिम वर्ग में आती हैं। आधुनिक लेखन की प्रवृत्ति इसी दिशा की ओर है। गत दो तीन दशकों में कुछ मौलिक प्रतिभावान् हिंदी लेखकों ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया है। इनकी ये रचनाएँ डायरी विधा की सजगसाधना से नि:सृत हैं, यद्यपि प्रारंभ में कोई रचनाकार साहित्य के

शास्त्रीय आधार को ध्यान में रखकर रचना नहीं करता किंतु कालांतर में एक ही कोटि की प्रभूत साहित्यसामग्री उपस्थित होने पर साहित्यसमीक्षकों का ध्यान शास्त्रीय विवेचन की ओर जाता है। डायरी विधा के शास्त्रीय विचार की ओर भी समीक्षकों का ध्यान कुछ बाद में गया और स्पष्टतः डायरी विधा की रचनाओं को गद्यसाहित्य की निबंधरचनाओं के अंतर्गत ही परिगणित कर लिया गया। इस प्रकार का एक उदाहरण श्रीसुंदरलाल त्रिपाठी की 'दैनंदिनी' है जिसका नाम और रूप स्पष्टतः हिंदी में डायरी विधा के प्रौढ़ रूप का निदर्शन है जिसे श्रीनंददुलारे वाजपेयी ने केवल एक निबंधरचना की कोटि में रखा है। डायरी के उद्देश्य, रूप और धारणाओं की दृष्टि से दैनंदिनी हमारे आलोच्यकाल की प्रथम प्रतिनिधि क्लासिक रचना ठहरती है। इसे नंददुलारे वाजपेयी ने भी शैली की दृष्टि से हिंदी में सर्वथा नवीन प्रयास तथा डायरी और निबंधलेखन के संमिलित आदर्श की पूर्ति बतलाया है।

'दैनंदिनी' (लेखनकाल १९३९ ई०, प्रकाशन १९४५ ई० के आसपास) में वास्तविक तिथि, मास, वर्ष आदि का उल्लेख, डायरीसुलभ व्यक्तिगत घनिष्ठता, भावुकता, आत्मीयता और एकालाप इसे शुद्ध साहित्यिक डायरी विधा का प्रौढ़ निदर्शन मानने के लिये विवश करते हैं। लेखक अपनी कृति में स्वयं डायरी लिखने का संकल्प करता है—'वर्षा की १२-८ (१९३९) की मेरी डायरी अधूरी रह गई। डायरी ही सिर्फ क्यों—जीवन के अनेक ऐसे मेरे कार्य हैं, अवसर के दिन जो अधूरे रह गए हैं। × × डायरी लिखने का उद्देश्य, मकसद डायरी लिखने का, दिन गिनते किसी दिन पूरा हो जाय, तो मैंने भर पाया। (दैनंदिनी)। श्रीसुंदरलाल त्रिपाठी का साहित्य व्यक्तित्व यद्यपि हिंदी जगत् में कोई बहुचर्चित व्यक्तित्व नहीं रहा, किंतु साहित्यिक डायरी विधा के एक मौलिक और प्रतिभाशाली पुरस्कर्ता के रूप में उनका योगदान निर्विवाद रहेगा। दैनंदिनी की भाषा आवेशमयी सशक्त शैली अपने पृथक् वैशिष्ट्य के कारण निश्चय ही पाठक को आकृष्ट करती है। उसमें लेखक के साथ तादात्म्य उत्पन्न करने की सहज शक्ति है। यद्यपि संस्कृत की तत्सम शब्दावली बहुल उसकी शैली इस युग की सामान्य गद्यशैली से नितांत भिन्न है, किंतु लेखक का भावावेश, श्रद्धातिरेक या निजी आस्था उसकी भाषा को एक नया अर्थ देती सी दिखाई पड़ती है।

विषयवस्तु की दृष्टि से दैनंदिनी के आरंभिक अंश में कुछ नितांत वैयक्तिक और पारिवारिक चर्चा है, जिससे लेखक की वेदना, गलदश्रु भावुकता संघर्ष और मनस्विता व्यंजित होती है। हिंदीतर क्षेत्र के श्रीशरच्चंद्र चट्टोपाध्याय और गांधीजी के संबंध में लेखन के अतिरिक्त इस डायरी में लेखक ने हिंदी के समसामयिक साहित्य और साहित्यकारों के संबंध में समीक्षात्मक संस्मरण लिखे हैं। अपनी कटुतिक्त अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं को भी लेखक ने बड़ी व्यंजक किंतु संयमित शैली में व्यक्त किया है। विषयवस्तु के विवेचन के साथ अनेक मार्मिक प्रसंगों और

घटनाओं के उल्लेख ने रंजकता उत्पन्न कर दी है और इतिवृत्त की शुष्कता नहीं आने दी है।

इस युग की दूसरी उल्लेखनीय कृति गजाननमाधव मुक्तिबोध की एक साहित्यिक की डायरी है। इसे समीक्षकों ने नवीनतम डायरी विधा की मौलिक रचना कहा है, जो ठीक ही है। इसमें मुक्तिबोध ने साहित्यिक की वर्तमान जटिल परिस्थिति, एक ईमानदार लेखक के दायित्वबोध और सृजन के दौरान उसके युगबोध के विभिन्न स्तरों को बड़ी ही कलात्मकता तथा सचाई से व्यक्त किया है। इस डायरी में मुक्तिबोध की चरम संवेदनशीलता और बौद्धिकता का अद्भुत योग है। एक साहित्यकार की आस्था और संघर्षों का यह प्रामाणिक दस्तावेज है। इस मधकृति को मुक्तिबोध ने 'वसुधा' के लिये डायरी रूप में ही लिखना प्रारंभ किया था, किंतु बाद में पुस्तकाकार प्रकाशन में तिथि आदि का उल्लेख नहीं किया।

अपनी विषयवस्तु और शैली की व्यंग्यात्मकता की दृष्टि से मुक्तिबोध की डायरी इस युग की सबसे सशक्त रचना है। आज के तथाकथित साहित्यिक की यथार्थ तसवीर मुक्तिबोध की तीखी तूलिका से इस प्रकार उभरी है—'विद्यार्जन, डिग्री और इसी बीच साहित्यिक प्रयास, विवाह, घर, सोफासेट, ऐरिस्टोक्रेटिक लिविंग, महानों से व्यक्तिगत संपर्क, श्रेष्ठ प्रकाशकों द्वारा अपनी पुस्तकों का प्रकाशन, सरकारी पुरस्कार, अथवा ऐसी ही कोई विशेष उपलब्धि और चालीसवें वर्ष के आसपास अमरीका या रूस जाने की तैयारी, किसी व्यक्ति या संस्था की सहायता से अपनी कृतियों का अंग्रेजी में या रूसी में अनुवाद, किसी बड़े भारी सेठ के यहाँ या सरकार के यहाँ ऊँचे किस्म की नौकरी। अब मुझे बताइए कि यह वर्ग क्या तो यथार्थवाद प्रस्तुत करेगा और क्या आदर्शवाद।' ऐसे अनेक प्रखर और गंभीर यथार्थ व्यंग्यों से समूची कृति भरी हुई है। अनेक प्रकार के मुलम्मे और उपाधियों से विजड़ित आज के लेखक साहित्यकार, और वर्तमान युग की व्यवस्था पर सीधी चोट करनेवाली इतनी उच्च कोटि की वैचारिक और संवेदनात्मक शायद ही कोई अन्य कृति डायरी विधा में अब तक प्रकाशित हुई हो। डा० सत्यप्रकाश संगर की व्यंग्यात्मक डायरी 'मिनिस्टर की डायरी' उल्लेखनीय है। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि युगयथार्थ को जितनी सफलता से आज का सजग और ईमानदार लेखक इस विधा द्वारा चित्रित कर पाता है, उतना अन्य माध्यमों से नहीं। इसी लिये यह विधा अनुदिन विकसित हो रही है। इस प्रकार की कुछ नवीनतम कृतियाँ, रघुवंश की हरी-घाटी (१९६१), अजितकुमार की अंकित होने दो (१९६२) इस विधा के भविष्यविकास की सूचना देती है।

साहित्य की नव्यतम धाराओं और माध्यमों के प्रति सजग समीक्षकों ने आधुनिक या नए साहित्यकार की यह एक विशेषता मानी है कि वह न केवल

परंपरागत कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि प्रसिद्ध विधाओं में रचना करता है, अपितु डायरी, इंटरव्यू, रिपोर्ताज, फाइलेश, रेडियो रूपक जैसे अनेक माध्यमों से युगजीवन का चित्रण करता है। अज्ञेय के शब्दों में 'आज का साहित्यकार अपने युग के बहुविध बहुमुख और नए संबंधों के पूरे आयाम को अंकित करने के लिये एक से अधिक नई नई साहित्यिक विधाओं या माध्यमों में रचना करता है। एक ही लेखक अब कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, रेडियो रूपककार और डायरी लेखक हो गया है।' अंकित होने दो में अजितकुमार ऐसे ही विविध रूपों के साथ एक डायरी लेखक के रूप में भी विद्यमान हैं। इस कृति की भूमिका में अज्ञेय ने कहा है—'जिन लघुतर रचनाओं को लेखक ने अंकन कहा है, उनपर आधुनिकता के एक प्रभाव की छाप है। लेखक ही नहीं आज का पाठक भी यह चाहता है कि गृहीता के भावयंत्र ने जो भी नई छाप ग्रहण की हो, वह भरसक उसी जीवनस्पंदित रूप में उसके संमुख प्रस्तुत कर दी जाए। × × साहित्य का पाठक भी संपूर्ण रचना के साथ साथ उसके पूर्वरूप और अन्य रचनाओं के लिये ली गई नींव भी देखना चाहता है। केवल कृति को समझकर ही वह संतुष्ट नहीं है, बल्कि लेखक की आत्मा के भीतर भी झाँकना चाहता है, जहाँ कृति रूप लेती है।' इस दृष्टि से हिंदी के पूर्व आचार्यों, महावीरप्रसाद द्विवेदी की संशोधक टिप्पणियाँ, प्रेमचंद की डायरियाँ, बाबू बालमुकुंद गुप्त के टिप्पण और 'आत्मारामी नोट' (१९०७) कितने महत्वपूर्ण हैं यह सहज अनुमेय है। हिंदी साहित्यिकों की ऐसी कितनी ही अप्रकाशित डायरियाँ इस नवीन सशक्त और साहित्यिक विधा की पूर्वजा हैं, इसमें संदेह का अवकाश नहीं।

गत कुछ वर्षों से हिंदी के अनेक शास्त्रीय समीक्षात्मक लक्षण ग्रंथों में डायरी विधा के स्वरूप और मूल्यांकन की ओर समीक्षकों ने विधिवत् ध्यान दिया है। शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत (१९५९), साहित्य कोश संकेत (१९५६), समसामयिक हिंदी साहित्य (१९६०) जैसे संदर्भग्रंथों में इसके स्वरूपलक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इस विधा की ओर सजग रूप से कुछ आधुनिक लेखक अधिकाधिक प्रवृत्त भी हो रहे हैं। इससे इस विधा की शक्तिसामर्थ्य और भविष्य की अच्छी संभावनाओं के प्रति आशा बँधती है। इस युग के कुछ रुचिजागरणशील साहित्यिक डायरी लेखकों में सर्वश्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, अमृत राय, प्रभाकर माचवे, शमशेरबहादुर सिंह, धर्मवीर भारती, रघुवंश, अजितकुमार, जगदीश गुप्त, विष्णु प्रभाकर आदि उल्लेखनीय हैं। इधर 'लहर' (अजमेर १९६७) जैसी कुछ आधुनिक पत्रिकाओं ने अपने डायरी विशेषांक भी प्रकाशित किए हैं जिनमें इस विधा की कुछ सुंदर रचनाएँ संकलित हैं। ज्ञानोदय में 'सापेक्ष डायरी' शीर्षक से कुछ अच्छी सामग्री प्रकाशित हुई है। दूधनाथ सिंह की आत्मपरक 'बर्फ के टुकड़े' (ज्ञानोदय, जनवरी १९६५), हरिशंकर परसाई की व्यंग्यप्रधान 'हम वे और भीड़'

(ज्ञानोदय, मार्च १९६५) तथा विश्वनाथप्रसाद तिवारी की दार्शनिक चिंतन लिए हुए 'डायरी के पाँच पृष्ठ' (ज्ञानोदय, जुलाई १९६६) उल्लेखनीय हैं। प्रभाकर माचवे की 'पश्चिम में बैठकर पूर्व की डायरी' (ज्ञानोदय, जनवरी १९६७) वर्णनात्मक संस्मरणप्रधान डायरी है। अब प्रायः सभी साहित्यिक पत्रिकाओं में इस विधा के प्रति रुचि और सजगता के दर्शन होने लगे हैं जो इसकी लोकप्रियता और विकास के प्रमाण हैं।

●

सप्तम अध्याय

यात्रासाहित्य

'यात्रा' शब्द

'यात्रा' शब्द की व्युत्पत्ति या + ष्ट्रन शब्द से हुई है। व्याकरण[1] के अनुसार यह स्त्रीलिंग शब्द है। पंडित महेशदत्त शास्त्री के मतानुसार यात्रा शब्द का अर्थ : 'जीतने की इच्छा से राजाओं का जाना, धावा करना या देवता के उद्देश्य से एक प्रकार का उत्सव' माना गया है। चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा इसका अर्थ : 'सफर, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया' (यात्रा चैव हि लौकिकी) से लगाते हैं।[2] शर्माजी का यह अर्थ कहीं तक सही सिद्ध होता है परंतु हिंदी विश्वकोशकार श्रीनगेंद्रनाथ वसु के मत से इसका साम्य नहीं बैठता, क्योंकि उन्होंने इसका अर्थ—विजय इच्छा से कहीं जाना, चढ़ाई, पर्याय व्रज्या, अभिनिर्याण, प्रस्थान, गमन, गम, प्रस्थिति, दर्शनार्थ देवस्थानों को जाना, तीर्थाटन, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की क्रिया आदि से लगाया है।[3] वास्तव में यही अर्थ अधिक वैज्ञानिक एवं ठोस है। अंग्रेजीसाहित्य के विद्वान् मैकडोनल ने भी इस अर्थ की पुष्टि की है।[4] इन अर्थों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि 'यात्रा का वास्तविक अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया ही अधिक न्यायसंगत और उपयुक्त है।' साथ ही यात्रा का प्रमुख लक्षण है संचरणशीलता—एक स्थान से स्थान से दूसरे स्थान को जाना, निरंतर स्थानपरिवर्तन करना। संसार इस यात्रा का क्षेत्र है।

यात्रासाहित्य

यात्रा का जीवन से अविच्छिन्न संबंध है। मनुष्य जीवनगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सदैव से ही बड़े बड़े पर्वत, घनघोर जंगल और जलते हुए रेगिस्तानों की यात्रा करता आया है। बिना यात्रा किए उसका जीवननिर्वाह दूभर था। धीरे धीरे भ्रमण द्वारा मानव यात्राक्षेत्र में प्रगति करने लगा। उसने अपना क्षेत्र व्यापक बनाया और दूर दूर के स्थानों का भ्रमण प्रारंभ किया। उसे नवीन बातों की जानकारी प्राप्त हुई और उसके जीवन का बौद्धिक विकास हुआ, साथ ही उसकी विचार-

१. शब्दार्थकोश—पृ० ४०१, तृतीय संस्करण १९३५ ई०।
२. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ—पृ० ६८९-९०, प्रथम संस्करण १९२८ ई०।
३. हिंदी विश्वकोश—१८वां भाग, पृ० ६३०, सं० १९२९ ई०, कलकत्ता।
४. ए प्रैक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी, मेकडोनेल, पृ० २४४।

धाराएँ भी विकसित हुईं। मनुष्यजाति का इतिहास उसकी इन्हीं यायावरी प्रवृत्तियों से संबद्ध दिखाई देता है। सौंदर्यबोध के विकास के साथ प्रकृति ने भी उसे आकर्षित किया। ऋतुओं के परिवर्तन, देशों के विविध रूपों, प्रकृति की विचित्रता और सौंदर्य के वैचित्र्यों ने उसे एक स्वाभाविक गति प्रदान की, जिसमें उसे आनंद मिला। इस प्रकार आनंद और उल्लास की भावना से तथा सौंदर्यबोध की दृष्टि से ही प्रेरणा प्राप्त कर उसने यायावरी प्रवृत्ति को साहित्यिक मनोवृत्ति में परिणत किया और इन यात्रियों की मुक्त अभिव्यक्ति को यात्रासाहित्य की संज्ञा प्रदान की गई। साहित्यिक यात्री मंत्रमुग्ध होकर विभिन्न अद्भुत आकर्षणों की ओर खिंचकर चले जाते हैं। बड़े बड़े घुमक्कड़ अपनी मनोवृत्ति में साहित्यिक थे। वे नि:संग भाव से भ्रमण करते थे, घूमना ही उनका उद्देश्य था। इनमें संसार के प्रसिद्ध फाहियान, ह्वेनसांग, इत्सिंग, इब्नबतूता, अलबरूनी, मार्कोपोलो, टैवर्नियर और बर्नियर का नाम लिया जा सकता है। परंतु मात्र यात्रा करने से कोई साहित्यिक यात्री की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता और न यात्राविषय मात्र प्रस्तुत कर देना यात्रासाहित्य है। इन यात्रियों के विवरणों से इनकी आंतरिक प्रेरणा का आभास भी मिलता है, साथ ही उस युग की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं का पता भी चल जाता है। भारत में यात्रियों की कमी नहीं रही है, क्योंकि तिब्बत, बर्मा, चीन, मलाया और सुदूरपूर्व के द्वीपों में भारतीय धर्म और संस्कृति के संदेश इसके प्रमाण हैं, जो यात्रासाहित्य में लिपिबद्ध होने के कारण ही भारतीय साहित्य के महत्वपूर्ण ग्रंथ बन गए हैं। हिंदीसाहित्य में भी यह साहित्यिक रूप कई अन्य रूपों के साथ पाश्चात्य साहित्य के संपर्क में आने के बाद विकसित हुआ और लेखकों के यात्राविवरण यात्रासाहित्य के नाम से संबोधित किए गए।

यात्रासाहित्य की परंपरा

यात्राओं का हमारे यहाँ प्रागैतिहासिक युग से ही बड़ा महत्व रहा है। वैदिक युग में व्यापारिक यात्राओं का प्राधान्य था। व्यापार के अतिरिक्त धर्मयात्राएँ होती थीं। सभ्य, शिक्षित, साहसी, उदार, व्यापारकुशल, शिल्पकलानिपुण, वीर और अध्यवसायी भारतीय यात्राओं द्वारा ही दूसरे देशों से संबंध बनाए रखते थे, जिसके संकेत हमारे साहित्यिक ग्रंथों में मिल जाते हैं।

ऋग्वेद संसार का सबसे प्राचीन ग्रंथ (१५०० ई० पूर्व) माना जाता है। इसके पाँच मंत्र[1] उस समय की यात्रापरंपरा का संकेत देते हैं। संहिताओं[2] में भी यात्रासंकेत मिलते हैं। वैदिक युग के यात्रियों में केवल व्यापारी वर्ग ही नहीं वरन्

१. देखिए ऋग्वेद—१-२५।७; १-४८।३; १-५६।२; ७-८८।३,४; १-११६।३ ।
२. काठक संहिता—३७।१४ ।

साधु संन्यासी, तीर्थयात्री, फेरीवाले, खेल तमाशेवाले, पढ़नेवाले छात्र एवं देशदर्शन के लिये निकलनेवाले चरक नामक विद्वान् भी होते थे। ऐतरेय ब्राह्मण[1] का 'चरैवेति मंत्र' यात्रा पर बहुत बल देता है। वैदिक युग के अतिरिक्त पुराणों[2] में यात्रा के उल्लेख भरे पड़े हैं। रामायण युग[3] में भी यात्रापरंपरा का संकेत देनेवाले अनेक उल्लेखनीय स्थल हैं। रामायण की भाँति ही महाभारत[4] में भी यात्रा के प्रसंगों की प्रचुरता है। ऐतिहासिक युग के सांस्कृतिक ग्रंथों[5] से भी यह सिद्ध हो जाता है कि देशों का भ्रमण व्यापार और ज्ञानार्जन के लिये किया जाता था। जातक ग्रंथ यात्राविवरणों से सराबोर हैं।

यात्रासाहित्य की परंपरा के इस क्रमिक विकास को देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यात्रापरंपरा भारतीय जीवन में प्रारंभिक युग से चली आई है। वैदिक युग से आरंभ होकर यह परंपरा पौराणिक युग, रामायण युग और महाभारत युग में होती हुई ऐतिहासिक युग तक चलती रही। इससे स्पष्ट होता है कि यात्रासंबंधी यह परंपरा अनिवार्य सी थी, जिसके पीछे मूलरूप से निहित थी सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा व्यक्तिगत भावनाएँ। पहले पहल यात्राक्षेत्र सीमित

१. ऐतरेय ब्राह्मण—७।१५।
२. वाराह पुराण—अध्याय १९६; ब्रह्मवैवर्तपुराण—अध्याय ५४; वामनपुराण—अध्याय ८४; मार्कंडेयपुराण—अध्याय ६; भागवतपुराण—अध्याय १९; नारद पुराण—अध्याय ४६।
३. किष्किंधाकांड—४० सर्ग; अयोध्याकांड—सर्ग ८४; बालकांड—सर्ग ५०; अरण्यकांड—सर्ग १४; सुंदरकांड—सर्ग ५७; उत्तरकांड—सर्ग ९५।
४. महाभारत-तीर्थयात्रापर्व—अ० ८३; वनपर्व—अ० ९; आदिपर्व—अ० १६८; सभापर्व अ० ३।
५. शिशुपालवध तृ० सर्ग, श्लोक ७६, रघुवंश सर्ग ४, श्लोक ३६, रत्नावली पृ० ८, दशकुमारचरित प्रथमोच्छ्वास—पृ० १७-२८, द्वितीय उच्छ्वास—पृ० ५०, कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० ५३ (डा० शामाशास्त्री का अनुवाद), अवदानशतक १ पृ० १४८, दिव्यावदान ३ पृ० ५५-५६, कथासरित्सागर-लंबक ६, तरंग १,२, ६। विक्रमांकदेवचरित, राजतरंगिणी, बृहत्कथाश्लोक संग्रह—अध्याय १८, श्लोक १७१; मनुस्मृति—श्लोक ४०६,४०८-९; मिलिंद प्रश्न—पृ० ३५९,२८०,३०२,३७७; बृहत्कल्पसूत्रभाष्य ३०९३-९४, ३१०७,३११०; समराइच्चकहा—पृ० २६४,३९८,५१०; तिलकमंजरी—पृ० ८८; अवदानकल्पलता—७।२, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति; वासुदेवहिंडी—पृ० १७७।

था, जो अन्य युगों में विभिन्न प्रकार के यात्रावाहनों के प्राप्त होने पर क्रमिक विकास की ओर अग्रसर होता गया।

यही परंपरा ब्रिटिश युग की यात्राओं में भी मिलती है। इस युग में भी युद्धों के लिये, व्यापार के लिये, ईसाई धर्म के प्रचार के लिये यात्राएँ की जाती रही हैं। इसके अतिरिक्त संवत् १६०० से १९९६ वि० के बीच यात्रासाहित्य के कुछ हस्तलिखित ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि इस समय भी यात्रासाहित्य के ग्रंथों की रचना का कार्य होता था। इन ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं :

वनयात्रा—१६०० वि० (गुसाईं जी); वनयात्रा—सं० १६०९ (श्रीमती श्रीमनजी की माँ—वल्लभसंप्रदायी); वनयात्रा—१६०९ वि० श्रीमनजी की माँ (गोकुल निवासी); सेठ पद्मसिंह की यात्रा—सं० १७०५ (अज्ञात); बात दूर देश की—सं० १८८६ (अज्ञात); बद्रीयात्रा कथा—१८८८ (श्रीमती सुवासि), वनयात्रा परिक्रमा १८९१ (रामसहायदास); ब्रज चौरासी कोस वनयात्रा—सं० १९०० (अज्ञात), बद्रीनारायण सुगम यात्रा—१९९६ वि० (पं० वाचस्पति शर्मा)। ये समस्त यात्राविवरण ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए हैं, जिनकी शैली चंपू है, साथ ही ये वर्णनात्मक हैं।

यात्रासाहित्य पूर्वसंकेत

भारतेंदु युग के यात्रासाहित्य की दो विशेषताएँ कही जा सकती हैं, प्रथम रेल के आगमन से यात्रा का एक सशक्त साधन उपलब्ध हुआ और दूसरे भारत में मुद्रणयंत्रों द्वारा पत्रपत्रिकाओं तथा ग्रंथों के प्रकाशन को प्रसार मिला, जिससे हिंदी यात्रासाहित्य की उन्नति हुई। विभिन्न यात्राप्रेमियों ने अपनी यात्राओं के विवरणों को लिपिबद्ध किया। यद्यपि इस समय का यात्रासाहित्य अधिकांशतः मासिक पत्रपत्रिकाओं में लेखों के रूप में निकला। भारतेंदु का इसमें विशेष महत्व है। भारतेंदुजी ने अपने यात्रानिबंधों में यात्रास्थान की छोटी से छोटी बात पर भी दृष्टि दौड़ाई है और प्रकृतिसौंदर्य से लेकर रीतिरिवाज और खानपान, बोलचाल तक सबका वर्णन अत्यंत रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। इनके निबंधों में—सरयूपार की यात्रा, मेहदावल की यात्रा, लखनऊ की यात्रा, हरिद्वार की यात्रा, वैद्यनाथ की यात्रा प्रमुख हैं। बालकृष्ण भट्ट ने—कातिकी का नहान, गयायात्रा और प्रतापनारायण मिश्र ने विलायतयात्रा लिखी। पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित इन निबंधों के अतिरिक्त धीरे धीरे यात्रासाहित्य के ग्रंथों का मुद्रण भी आरंभ हुआ। इस मुद्रित रूप में यात्रासाहित्य का सर्वप्रथम ग्रंथ लंदन यात्रा (हरदेवी—सन् १८८३ ई०) नाम से है। इसके बाद यात्रासाहित्य पर लिखे गए महत्वपूर्ण ग्रंथों में—लंदन का यात्री (१८८४) भगवानदास वर्मा; मेरी पूर्वदिग्यात्रा (१८८५) पं० दामोदर शास्त्री; मेरी दक्षिण दिग्यात्रा (१८८६) दामोदर शास्त्री, ब्रजविनोद (१८८८) तोताराम वर्मा, केदारनाथ यात्रा (१८९०)

लाला कल्याणचंद; विलायत की यात्रा (१८९२) अज्ञात लेखक; रामेश्वर यात्रा (१८९३) देवीप्रसाद खत्री; ब्रजयात्रा (१८९४) पं० बिगूमिश्र का नाम उल्लेखनीय है।

द्विवेदी युग में सरस्वती, चित्रमय जगत, मर्यादा, इंदु, गृहलक्ष्मी आदि पत्रिकाओं में—व्योम विचरण, उत्तरध्रुव की यात्रा, दक्षिण ध्रुव की यात्रा, मसूरी शैल यात्रा, मारिशस यात्रा, विलायत की सैर, देहरादून शिमला यात्रा, विलायत समुद्र यात्रा, युद्धक्षेत्र की सैर, रेलयात्रा, जापान की सैर, रामेश्वर यात्रा, दक्षिण भारत यात्रा आदि यात्रानिबंध प्रकाशित हुए। इन लेखों के अतिरिक्त इस युग में यात्रा-साहित्य पर अनेक सुंदर साहित्यिक ग्रंथ भी प्रकाश में आए। इन ग्रंथों में विशेषकर—दुनिया की सैर (१९०१) अज्ञात लेखक, बदरिकाश्रम यात्रा (१९०२) बाबू देवी-प्रसाद खत्री; हमारी एडवर्ड तिलक विलायत यात्रा (१९०३) ठाकुर गदाधर सिंह; भारत भ्रमण ५ भाग (१९०३) साधुचरणप्रसाद; पंजाब यात्रा (१९०७) पं० रामशंकर व्यास; अमेरिका दिग्दर्शन (१९११) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक; द्वारिकानाथ यात्रा (१९१२) धनपतिलाल, पृथ्वी प्रदक्षिणा (१९१४) शिवप्रसाद गुप्त; मेरी कैलाश यात्रा (१९१५), अमेरिका भ्रमण—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक; लंका यात्रा का विवरण (१९११) गोपालराम गहमरी; हमारी विलायत यात्रा (१९२६) केदारनाथ राय; लंदन पेरिस की सैर (१९२६) वेणी शुक्ल; मेरी जर्मन यात्रा (१९२६) सत्यदेव परिव्राजक, रूस की सैर (१९२६) जवाहरलाल नेहरू; श्याम देश यात्रा (१९२७) महता जेमिनी, अफ्रीका यात्रा (१९२८) स्वामी मंगलानंद पुरी; हमारी जापान यात्रा (१९३१) पं० कन्हैयालाल मिश्र; विदेश की बात (१९३२) कृपानाथ मिश्र; मेरी यूरोप यात्रा (१९३२) गणेश नारायण सोमाणी, यूरोप यात्रा में छह मास (१९३२) पं० रामनारायण मिश्र, तिब्बत में सवा बरस (१९३३) राहुल सांकृत्यायन; मेरी दक्षिणभारत यात्रा (१९३४) हरिकृष्ण झाझड़िया; दक्षिण-भारत की यात्रा (१९३५) सत्येंद्र नारायण; मेरी यूरोप यात्रा (१९३५) राहुल सांकृत्यायन, यूरोप में सात मास (१९३६) धर्मचंद सरावगी; यात्रीमित्र (१९३६) सत्यदेव परिव्राजक; उत्तराखंड के पथ पर (१९३६) प्रो० मनोरंजन; यूरोप की सुखद स्मृतियाँ (१९३७) सत्यदेव परिव्राजक; स्वतंत्रता की खोज में (१९३७) सत्यदेव परिव्राजक; मेरी तिब्बत यात्रा (१९३७) राहुल सांकृत्यायन, कैलाश पथ पर—रामशरण विद्यार्थी, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनसे यात्रासाहित्य की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई।

यात्रासाहित्य (१९३८–१९५३ ई०)

हिंदी साहित्य के अद्यतन काल (१९३८-१९५३ ई०) में यात्रासाहित्य के लेखन की गति और भी तीव्र हुई। इस काल में कुछ तो बहुत ही महत्वपूर्ण यात्रा-साहित्य के लेखक रहे हैं, जो रचनापरिमाण और भावाभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों

है महत्व के अधिकारी हैं। इस काल में यात्रासाहित्य ने साहित्यिक दृष्टि से भी परिपूर्णता प्राप्त की है। तात्पर्य यह कि इस काल में यात्रासाहित्य का उत्कर्ष चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। इस युग में यात्रासाहित्य की बहुमुखी उन्नति हुई है। इस युग के यात्रासाहित्य के लेखक, उनके ग्रंथों के नाम और उनका रचनाकाल निम्नलिखित रूप में है :

यूरोप के झकोरे में (१९३८) डा० रामनारायण; मेरी लद्दाख यात्रा (१९३९) राहुल सांकृत्यायन; रोमांचक रूस में (१९३९) डा० सत्यनारायण, युद्ध यात्रा (१९४०) डा० सत्यनारायण; कैलाश दर्शन (१९४०) शिवनंदन सहाय; ईराक की यात्रा (१९४०) कन्हैयालाल मिश्र; काश्मीर (१९४०) गोपाल नेवटिया; स्वदेश विदेश यात्रा (१९४०) संतराम; इंग्लैंड यात्रा (१९४१) रामचंद्र शर्मा, सागर प्रवास (१९४१) पं० सूर्यनारायण व्यास; दुनिया की सैर (१९४१) योगेंद्रनाथ सिन्हा; मेरी काश्मीर यात्रा (१९४१) देवदत्त शास्त्री; यूरोप के पत्र (१९४२) डा० धीरेंद्र वर्मा; कैलाश मानसरोवर (१९४३) स्वामी प्रणवानंद; विकट यात्रा (१९४३) रामचंद्र वर्मा; संयुक्त प्रांत की पहाड़ी यात्राएँ (१९४३) लक्ष्मीनारायण टंडन; काश्मीर और सीमाप्रांत (१९४०) कृष्णवंश सिंह बाघेल; संयुक्त प्रांत के तीर्थस्थान (१९४४) लक्ष्मीनारायण टंडन; कैलाशदर्शन (१९४६) स्वामी रामानंद ब्रह्मचारी; मेरी जीवनयात्रा (१९४६) राहुल सांकृत्यायन; भारतवर्ष के कुछ दर्शनीय स्थान (१९४६) चक्रधर हंस; विश्वयात्री (१९४७) डा० भगवतशरण उपाध्याय; किन्नर देश में (१९४८) राहुल सांकृत्यायन; राहुल यात्रावली (१९४९) राहुल सांकृत्यायन; दार्जिलिंग परिचय (१९५०) राहुल सांकृत्यायन; प्रमुख भारतीय तीर्थस्थान (१९५०) लक्ष्मीनारायण टंडन; काश्मीर की सैर (१९५०) सत्यवती मल्लिक; दिल्ली से मास्को (१९५१) महेश प्रसाद श्रीवास्तव; देशविदेश (१९५२) नवल किशोर अग्रवाल; सत्यलोक (१९५२) स्वामी सत्यभक्त; पैरों में पंख बाँधकर (१९५२) श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी; वो दुनियाँ (१९५२) डा० भगवतशरण उपाध्याय; यात्रा के पन्ने (१९५२) राहुल सांकृत्यायन; माओ के देश में (१९५२) रामप्यारे; रूस में २५ मास (१९५२) राहुल सांकृत्यायन; हिमालय परिचय (१९५३) राहुल सांकृत्यायन; लाल चीन (१९५३) डा० भगवतशरण उपाध्याय; लोहे की दीवार के दोनों ओर (१९५३) तथा राहबीती-यशपाल; अरे यायावर रहेगा याद (१९५३) 'अज्ञेय'; आँखों देखा रूस (१९५३) पं० जवाहरलाल नेहरू; तिब्बत में २३ दिन (१९५३) कृष्णवंश सिंह बाघेल; खोज की पगडंडियाँ, लंडहरों का वैभव (१९५३) मुनिकांत सागर; आखिरी चट्टान तक—मोहन राकेश; शिवालिक की घाटियों में—श्रीनिधि सिद्धांतालंकार, उड़ते चलो, उड़ते चलो—रामवृक्ष बेनीपुरी; पृथ्वी परिक्रमा—सेठ गोविंददास और बदलते दृश्य—राजवल्लभ ओझा।

इस प्रकार उपर्युक्त यात्रासंबंधी ग्रंथों की सूची से यह स्पष्ट होता है कि आज यात्रासाहित्य की ओर लेखक विशेष ध्यान दे रहे हैं और इस प्रकार का साहित्य अधिक लिखा जा रहा है। इस युग में लंदन, हालैंड, जापान, रूस, अमेरिका, ईराक, लाल चीन की विदेश यात्राएँ वर्णित हैं। स्वदेश यात्राओं में—कैलाश, काश्मीर, संयुक्त प्रांत, हिमालय, आदि का नाम आता है। साहित्य में वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद का पूर्ण विश्लेषण किया गया है। यात्रासाहित्य की ओर लेखकों की दृष्टि विशेषतया बौद्धिक ही है। राकेट की चमत्कारपूर्ण यात्रा की संभावना और वायुयान की नित्य-प्रति की सरल यात्राओं ने यात्रासाहित्य को अत्यंत रोमांचक बना दिया है। इसमें काल्पनिकता तथा औपन्यासिकता का भी समावेश हो गया है।

अद्यतन काल के संपूर्ण हिंदी यात्रासाहित्य पर दृष्टिपात करते हुए हम उसे दो प्रमुख वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वर्ग यात्रा के साधनों से संबद्ध है और दूसरा उसमें वर्णित विषय से। साधनों के अंतर्गत यात्रा यातायात साधन लिए जा सकते हैं तथा विषय के अंतर्गत विभिन्न यात्रियों तथा यात्रा उद्देश्यों को लिया जा सकता है।

१. यात्रामार्ग तथा यातायात के साधन।

१. विषयानुसार यात्रासाहित्य।

इन दो रूपों के अंतर्गत हम विभिन्न प्रकार की यात्राओं को रख सकते हैं :

१. यात्रामार्ग तथा यातायात के साधन—(अ) स्थल यात्राएँ, (आ) जल यात्राएँ, (इ) आकाश यात्राएँ।

२. विषयानुसार यात्रासाहित्य—(क) पशु पक्षियों की यात्राएँ, (ख) धार्मिक यात्राएँ, (ग) शिकारियों की यात्राएँ, (घ) सांस्कृतिक यात्राएँ, (ङ) साहित्यिक यात्राएँ, (च) ऐतिहासिक यात्राएँ, (छ) भौगोलिक यात्राएँ, (ज) राजनैतिक यात्राएँ।

यात्रामार्ग तथा यातायात के साधन : स्थल यात्राएँ

स्थलमार्ग की यात्राओं से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो स्थल-मार्ग पर भ्रमण हेतु की गई हों। मार्गों के स्वरूप के क्रमिक विकास के साथ साथ इस प्रकार की यात्राएँ अधिक होने लगी हैं। आज यात्राओं में इतनी अधिक असुविधा नहीं होती, क्योंकि यातायात साधनों में रेल, मोटर, वायुयान आदि विभिन्न प्रकारों का प्रयोग होता है। इस प्रकार की साहित्यिक यात्राओं के ग्रंथ अधिकतर गद्यशैली में ही लिखे गए हैं। कुछ ग्रंथों में यात्राओं को भावात्मक शैली में वर्णित किया गया है, इनमें काश्मीर, मेरी काश्मीर यात्रा, भारत के कुछ दार्शनिक स्थान, आखिरी चट्टान तक, अरे यायावर रहेगा याद, आदि उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

कुछ बुद्धिवाद की प्रधानता दिखाई देती है—जैसे तिब्बत में सवा बरस, मेरी तिब्बत यात्रा, मेरी लद्दाख यात्रा, किन्नर देश में आदि। स्थल की यात्राओं के इन ग्रंथों में किसी किसी में कलात्मकता का सुंदर समावेश किया गया है। इस प्रकार के यात्राग्रंथों में गोपाल नेवटिया का 'काश्मीर', देवव्रत शास्त्री का 'मेरी काश्मीर यात्रा' और अज्ञेय का 'अरे यायावर रहेगा याद' प्रमुख हैं। इनमें हमें कल्पनात्मकता और आलंकारिकता का पूर्ण सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। जहाँ तक प्रकृति मनोरमता का प्रश्न है इसमें उपर्युक्त तीनों ग्रंथों के अतिरिक्त दुनिया की सैर, काश्मीर और सीमाप्रांत, भारत के कुछ दर्शनीय स्थान का नाम भी आता है। भाषासौष्ठव मेरी लद्दाख यात्रा, काश्मीर, दुनिया की सैर, मेरी काश्मीर यात्रा, संयुक्त प्रांत की पहाड़ी यात्राएँ, भारत के कुछ दर्शनीय स्थान, यात्रा के पन्ने, आखिरी चट्टान तक, अरे यायावर रहेगा याद, तिब्बत में तेइस दिन आदि ग्रंथों में बहुत सुंदर है। दार्शनिक विचारधारा किसी किसी लेखक में प्रासंगिक रूप में पाई जाती है। वर्णनों में भावात्मकता एवं कलात्मकता का योग भी मिल जाता है। अज्ञेयजी के प्रकृति मनोरमता के चित्रणों में जहाँ भी कल्पना ने जोर पकड़ा है, आलंकारिकता स्वत: आ गई है। शैली भी यात्रासाहित्य में अपने ढंग की निराली है। अधिकतर लेखकों ने यात्राओं को विवरणात्मक रूप ही दिया है।

जल यात्राएँ

जलमार्ग की यात्राएँ देश के बाहर जाने के लिये ही अधिकतर की गई हैं। इस मार्ग की यात्राएँ कोई नवीन नहीं हैं। इस प्रकार की सभी साहित्यिक यात्राएँ गद्यप्रधान हैं। विवरणात्मकता की सभी लेखकों में प्रधानता है। भावात्मकता पं० सूर्य नारायण व्यास जैसे लेखकों में ही दिखाई देती है। साहित्यिक कलात्मकता हमें पं० सूर्यनारायण व्यास, डा० धीरेंद्र वर्मा के यात्राग्रंथों में खूब मिलती है। कलात्मक और आलंकारिक शैली भी हमें कुछ ही लेखकों में मिलती है जैसे पं० सूर्यनारायण व्यास आदि। भाषासौष्ठव सभी लेखकों का सुंदर और स्पष्ट है। प्राकृतिक मनोरमा के चित्रण में सत्यदेव परिव्राजक, सेठ गोविंददास एवं पं० सूर्यनारायण व्यास का ही नाम विशेष उल्लेखनीय है। व्यासजी की शैली निराली है जिसमें भाषासौष्ठव सबसे सुंदर है। जलमार्गीय यात्रा संबंधी ग्रंथ निम्नलिखित हैं :

हमारा प्रधान उपनिवेश, ईराक की यात्रा, इंग्लैंड यात्रा, सागरप्रवास, यूरोप के पत्र, मेरी मारीशस आदि देशों की यात्रा, अनजाने देशों में आदि।

आकाश यात्राएँ

आकाश की यात्राओं से हमारा तात्पर्य उन साहित्यिक यात्राओं से है जो आकाश-मार्ग पर वायुयान द्वारा की गई हों और उन्हें अपने अनुभवों के आधार पर शब्दबद्ध

कर दिया गया हो। वायुयान के चलन के बाद से आकाशमार्ग का प्रारंभ हुआ, बहुत से व्यक्ति आकाशमार्ग से विदेशों की यात्रा करते हैं, पर सभी अपनी उस यात्रा का वर्णन साहित्य के लिये लिपिबद्ध नहीं करते। हम यहाँ केवल उन्हीं यात्राओं का संकेत दे रहे हैं, जो हमें साहित्यिक रूप में लिपिबद्ध मिलती हैं। भारत के स्वतंत्र होने के बाद से इस प्रकार की यात्राओं को प्रेरणा मिली है।

आकाशमार्गीय यात्राओं का साहित्य भी हमें गद्य रूप में ही मिलता है। भावात्मक और विवरणात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता हमें सेठ गोविंददास, रामवृक्ष बेनीपुरी, डा० भगवतशरण उपाध्याय और राजवल्लभ ओझा में अधिक मिलती है। साहित्यिक कलात्मकता में भी उपर्युक्त लेखक ही उल्लेखनीय हैं। राहुलजी में बुद्धिवादी दृष्टिकोण ही अधिक मिलता है। भाषा में आलंकारिकता का पुट कई लेखकों द्वारा दिया गया है, पर इसकी प्रधानता किसी में भी नहीं है। कलात्मकता में डा० सत्यनारायण, डा० भगवतशरण उपाध्याय, रामवृक्ष बेनीपुरी, राजवल्लभ ओझा, सेठ गोविंददास अग्रणीय हैं। प्रकृतिमनोरमता के दृश्यों में मौलिकता है, पर बेनीपुरीजी में केवल कल्पनात्मकता। भाषासौष्ठव में डा० सत्यनारायण, सेठ गोविंददास, डा० भगवतशरण उपाध्याय, यशपाल, बेनीपुरी और राजवल्लभ ओझा आदि का स्थान सर्वोपरि है। इन लेखकों ने बड़ी ही सरल भाषाशैली में अपनी आकाशमार्गीय यात्राओं के वर्णनों को समावेशित किया है, जो पाठकों को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। आकाशमार्गीय यात्राओं संबंधी प्रमुख ग्रंथ निम्नलिखित हैं :

रोमांचक रूस में, यूरोप के झकोरे में, सुदूर दक्षिणपूर्व, दिल्ली से मास्को, दो दुनियाँ, पैरों में पंख बाँधकर, रूस में २५ मास, लोहे की दीवार के दोनों ओर, कलकत्ता से पेकिंग, उड़ते चलो, उड़ते चलो, अरबों के देश में बदलते दृश्य, 'तंत्रालोक से यंत्रालोक तक' आदि।

विषयानुसार यात्रासाहित्य

पशुपक्षियों की यात्राएँ

ऐसे साहित्य से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो पशुपक्षियों की यात्राओं पर लिखा और प्रकाशित किया गया हो। इस प्रकार की यात्राएँ बालसाहित्य में अवश्य मिलती हैं, जिनके लेखकों में कुँवर सुरेशसिंह कालाकांकर और पं० श्रीराम शर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

धार्मिक यात्राएँ

वे यात्राएँ जो धार्मिक स्थानों के दर्शनहेतु की गई हों और दर्शन पूजन के बाद साहित्यरूप में लिपिबद्ध कर दी गई हों। इस प्रकार की यात्राएँ हिंदी में बहुत सी मिलती हैं। गद्यात्मक यात्राओं के इस रूप में भी विवरणात्मकता की ही प्रधानता दिखाई

देती है। भावात्मकता और कलात्मकता हमें प्रो० मनोरंजन और रामशरण विद्यार्थी में ही मिलती है। धार्मिक भावना सभी लेखकों में प्रधान है। कलावैचित्र्य और प्रकृतिमनोरमता के क्षेत्र में ये ही लेखक प्रमुख हैं। ऐसे धार्मिक यात्राओं के ग्रंथों में—उत्तराखंड के पथ पर, कैलाशपथ पर, संयुक्त प्रांत के तीर्थस्थान, कैलाशदर्शन, मेरी दक्षिणभारत यात्रा का नाम लिया जा सकता है।

शिकारियों की यात्राएँ

वे यात्राएँ जो शिकारियों द्वारा स्वयं की गई हों और उन्हीं के द्वारा प्रचरबद्ध कर दी गई हों। इस प्रकार का यात्रासाहित्य हिंदी में बहुत कम है, फिर भी जो है बहुत ही रोचक एवं मनोरंजक है। भावात्मक और कलात्मकता के क्षेत्र में पं० श्रीराम शर्मा और श्रीनिधिसिद्धांतालंकार ऊँचे कलाकार हैं। इनकी शिकारी यात्राओं में भौगोलिकता के दर्शन हो जाते हैं। वन, पर्वत, नदी, नाले आदि सभी के प्रकृति-मनोरम शब्दचित्र इन्होंने अपने 'शिवालिक की घाटियों में' नामक ग्रंथ में अंकित कर दिए हैं, जो सरल और सुघटित भाषा में हैं।

सांस्कृतिक यात्राएँ

वे यात्राएँ जो किसी देश की संस्कृति को समझने या समझाने के लिये की जाती हैं। इस प्रकार की यात्राएँ की अवश्य जाती हैं, परंतु इनका साहित्य नहीं के बाराबर है। पं० सत्यदेव परिव्राजकजी की 'ज्ञान के उद्यान में' और 'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ' शीर्षक पुस्तकें इस क्षेत्र में अवश्य प्राप्त हैं जिनका उद्देश्य दूसरे देशों में हिंदू संस्कृति का प्रचार करना मात्र था।

साहित्यिक यात्राएँ

साहित्यिक यात्राओं से हमारा तात्पर्य उन यात्राओं से है जो साहित्यकारों द्वारा साहित्यिक दृष्टिकोण से की गई हों। इस प्रकार की यात्राओं में वे सभी यात्राएँ संमिलित कर ली गई हैं, जो साहित्यिक महारथी दर्शनार्थ, साहित्यसदन दर्शनार्थ, साहित्यिक सामग्री के एकत्रीकरण हेतु या साहित्य के प्रचारार्थ की गई हैं। ऐसी यात्राओं के ग्रंथ प्रकाशित नहीं हैं। केवल कुछ लेख पत्र पत्रिकाओं में अवश्य प्रकाशित हुए हैं।

ऐतिहासिक यात्राएँ

ऐतिहासिक यात्राएँ वे हैं जो विद्वानों द्वारा पुरातत्वान्वेषण, अध्ययन और प्राचीन सुंदरता का अवलोकन करने के लिये की गई हैं। इस प्रकार की साहित्यिक यात्राएँ संख्या में बहुत कम हैं। इनमें ऐतिहासिक तत्वों का ही निरूपण किया गया है। इस प्रकार की यात्राओं में मुनिकांत सागर का 'खंडहरों का वैभव' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ के अतिरिक्त इस संदर्भ में लेख भी पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

भौगोलिक यात्राएँ

भौगोलिक यात्राओं से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो भौगोलिक क्षेत्रों में की गई हैं और उनका वृत्तांत भौगोलिक दृष्टिकोण से लिखा गया है। देश की सुरक्षा के लिये हमें अपने देशों के महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थानों का ज्ञान होना आवश्यक है, या किसी देश अथवा उसके प्रदेश की भौगोलिक स्थिति के संबंध में यदि हम मौन हैं तो वहाँ की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त जो यात्राएँ की जाती हैं वे भी भौगोलिक यात्राएँ ही कहलाती हैं। इस प्रकार की भौगोलिक यात्राओं में भावात्मकता और कल्पनात्मकता का पूर्ण अभाव है। भाषासौष्ठव के कारण इनमें कलात्मकता अवश्य आ गई है। इस क्षेत्र में स्वामी प्रणवानंद का 'कैलाश मानसरोवर (१९४३), और राहुल सांकृत्यायन का दार्जलिंग परिचय (१९५०) नामक ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों में वर्णनात्मकता की प्रधानता है।

राजनैतिक यात्राएँ

वे यात्राएँ जो देश विदेश की राजनीति का अध्ययन करने या उससे संबंधित संमेलनों में एकत्रित होने, अपने देश की समस्याओं को हल करने के लिये की जायें— राजनैतिक यात्राएँ कहलाती हैं। इसमें वे यात्राएँ भी सम्मिलित हैं जो देश के नेताओं द्वारा राजनीति के संबंध में की गई हैं और दूसरे लेखकों द्वारा लिपिबद्ध कर दी गई हैं। इस प्रकार की यात्राओं में रामप्रसारे का 'माओ के देश में' (१९५३) ग्रंथ का नाम विशेष महत्व का है। यशपाल के ग्रंथ में भावात्मकता भी है। कल्पना का किसी लेखक ने आश्रय नहीं लिया है। इस प्रकार को यात्राओं के ग्रंथ हिंदी में बहुत कम हैं।

यात्रासाहित्य : मूल्यांकन :

यात्रासाहित्य का साहित्यिक मूल्यांकन करने में हमारा उद्देश्य केवल यही है कि हम यात्रासाहित्य के काव्यसौंदर्य, उसमें निहित लेखक अथवा कवि के व्यक्तित्व, उसकी विभिन्न शैलियों का विवेचन, भाषासौंदर्य आदि तत्वों को संमुख लाएँ, क्योंकि ये रचनाएँ किसी शास्त्रीय पद्धति पर प्रस्तुत नहीं की गई हैं, इनका उद्देश्य तो सीधे सादे मनोभावों, उद्गारों को अभिव्यंजित करना मात्र रहा है और हम उसी अभिव्यंजनातत्व की छानबीन कर लेना चाहते हैं। वस्तुतः मेरे विचार से साहित्य की समीक्षा करने के लिये जो नियम या सिद्धांत बनाए जाएँ, वे इतने व्यापक और लचीले हों कि साहित्य की विकासोन्मुख प्रकृति के अनुरूप वे स्थानांतरित होती हुई दृष्टि को अपने में समाहित कर सकें। समालोचना के सिद्धांत वसंतकालीन उस प्राकृतिक वैभव के अनुरूप हों, जिसमें प्रत्येक प्रकार के पुष्प का विकास हो सके, अथवा सूर्य का ऐसा आलोक हो, जिसमें प्रत्येक प्रकार के रंगों की अंतर्व्याप्ति संभव हो। उक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए हमने यात्रासाहित्य में केवल उन तत्वों पर दृष्टिपात

किया है जिसमें लेखक की वृत्ति रमती हुई दिखाई पड़ती है। प्रधानतया प्रकृतिसौंदर्य, दार्शनिक भावना तथा मनोरंजनवृत्ति ही ऐसे तत्व हैं, जिनमें यात्री तन्मय होता हुआ दिखाई देता है, अतः रसात्मक दृष्टि से ये ही यात्रासाहित्य के मूल्यांकन के प्रमुख तत्व हैं।

यात्रासाहित्य के लेखकों में मुख्यतः दो प्रकार के यात्री हैं, एक तो वे जो स्वदेश में ही यात्रा करते रहे हैं और द्वितीय वे जो दूर दूर जाकर विदेशों में यात्राओं का आनंद उठाते रहे हैं। निश्चय ही द्वितीय प्रकार के लेखक जहाँ एक ओर स्वयं विशेष आनंद उल्लास का उपभोग करते हैं, वहाँ पाठकों को भी अधिक आकर्षित करते हैं। अवश्य ही विदेश यात्राओं के विवरण अधिक मनोरंजक तथा कौतूहलवर्धक होते हैं। उनमें एक नवीनता की रोचकता आद्यंत बनी रहती है।

यात्राकृत्यों की परीक्षा इन तीन दृष्टियों से की जा सकती है—

१—प्राकृतिक, २—दार्शनिक और ३—मनोरंजनमूलक दृष्टि :

१—प्राकृतिक दृष्टि :

प्राकृतिक दृष्टि में पार्वत्य प्रकृति के प्रति अधिक आकर्षण रहा है। हिमाच्छादित शृंगों, सरिताओं तथा झीलों का वर्णन प्रधान रूप से किया गया है। प्रकृति के सूक्ष्म रंगों, मेघों द्वारा उत्पन्न मोहक वातावरण, पुष्पों की फैली हुई विस्तृत क्यारियों और उनके मनोमुग्धकारी रंगों का वर्णन बड़ी ही मनोरम शैली में मिलता है। वनों की हरीतिमा, उनका व्यापक प्रसार, सघन गंभीरता का चित्र लेखकों ने सफलता के साथ अंकित किया है। विभिन्न ऋतुओं के वर्णनों में लेखकों की वैयक्तिक झलक भी दृष्टिगोचर होती है। उनकी दार्शनिकता, विनोदवृत्ति, कलाप्रेम, संस्कृति आदि के स्पष्ट चित्र हमारे संमुख खिंच जाते हैं। यात्राओं में इस प्राकृतिक दृष्टि का बड़ा महत्व है। आधुनिक यात्रासाहित्य के लेखकों को भी पर्वत के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करने का अवकाश मिला और वे अपने चारों ओर प्रकृति की मुग्धकर माधुरी का दर्शन करते हुए उसका यथार्थ और विस्तृत चित्रण करने लगे।

२—दार्शनिक दृष्टि :

दार्शनिक (रहस्यवादी) प्रकृति में परम तत्व के दर्शन करता है और इस प्रकार प्रकृति विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। अपनी पर्वतीय यात्राओं में वह प्राकृतिक दृश्यों पर ही अपनी दार्शनिकता का आरोप करता है। पर्वतीय यात्राओं में हमें ऐसे लेखक मिलते हैं जिन्होंने अपने यात्रावर्णनों में कहीं कहीं दार्शनिक दृष्टिकोण को भी अपनाया है। यद्यपि अधिकतर इन लेखकों ने प्रकृति पर ही बल दिया है। यात्रालेखकों ने अपने व्यक्तित्व के अनुसार समय समय पर भारतीय दर्शन के दृष्टिकोण को अपनी रचनाओं में प्रतिफलित किया है।

मनोरंजनमूलक दृष्टि

जीवन की संघर्षमयी परिस्थितियों और अतिव्यस्तता के बीच मनुष्य को अपना मन हलका करने के लिये मनोरंजन अनिवार्य होता है। यात्रा के बीच भी मनोरंजन का अंश विद्यमान रहता है। कहीं कहीं अन्य उद्देश्यों के अतिरिक्त मनोरंजन के लिये भी यात्राएँ की जाती रही हैं। इन यात्राओं में लेखकों की मनोरंजनवृत्ति, प्राकृतिक दृश्यों में तन्मयता, स्वच्छंदता, अनिश्चितता आदि के दर्शन होते हैं। मनोरंजनपूर्ण यात्राओं में भी यात्रियों के कुछ उद्देश्य रहे हैं, कहीं पुरातत्व दर्शन, कहीं साहित्यिक यात्रा, कहीं तीर्थयात्रा और कहीं केवल भ्रमणेच्छा की प्रेरणा से यात्राएँ की गई हैं।

इस प्रकार की मनोरंजनवृत्ति को लेकर की गई यात्राओं में एक हलकापन, मन का उल्लास, क्रीड़ावृत्ति आदि भावनाएँ विद्यमान दिखाई देती हैं।

अद्यतनकाल का यात्रासाहित्य अधिकतर गद्यशैली में ही लिखा गया है, पर कुछ लेखकों के यात्राग्रंथ गद्य-पद्यमिश्रित शैली में भी प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त निबंधशैली द्वारा भी कुछ लेखकों ने अपने यात्राग्रंथों में रसात्मकता, भावुकता और कलात्मकता का समावेश किया है। कुछ साहित्य ऐसा है जिसे केवल यात्रोपयोगी साहित्य कहा जा सकता है, जिसका उद्देश्य केवल विभिन्न देशों, स्थानों का व्यापक परिचय देना मात्र ही है। कुछ यात्रियों का उद्देश्य देश विदेश के व्यापक जीवन को उसके संपूर्ण परिप्रेक्ष्यों में प्रस्तुत करना रहा है। अधिकतर यात्रासाहित्य संस्मरणात्मक ही है, इसमें लेखकों ने अपने प्रभावों, प्रतिक्रियाओं और संवेदनाओं को अधिक महत्व दिया है जिसके कारण उनके यात्राग्रंथ अधिक साहित्यिक बन पड़े हैं। प्रकृतिसौंदर्य यात्रासाहित्य का महत्वपूर्ण अंग रहा है। कुछ लेखकों द्वारा विभिन्न देशों के इतिहास, संस्कृति और समाज की अनुभूतियों को समेट लिया गया है, जिससे उनके यात्राग्रंथों में उपन्यास की सी रुचि, कहानी का सा आकर्षण और संस्मरणों की आत्मीयता और भावशीलता मिल जाती है। उत्कृष्ट कोटि के यात्रासाहित्य के लिये ये तत्व आवश्यक होते हैं। अद्यतन काल के यात्रासाहित्य में ये समस्त गुण विद्यमान दिखाई देते हैं, जिससे यात्रासाहित्य का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।[1]

●

१. विशेष विवरण के लिये देखिए लेखक का ग्रंथ 'यात्रासाहित्य का उद्भव और विकास;' साहित्यप्रकाशन, मालीवाड़ा, दिल्ली।

अष्टम अध्याय

उर्दू का आधुनिक साहित्य

(१९३५–१९६६)

'आधुनिक' की परिभाषा आसान नहीं, इसलिये किसी बहस में पड़े बिना यह कहा जा रहा है कि आधुनिक उर्दू साहित्य का युग सन् १९३५ से आरंभ होता है। जाहिर है कि आधुनिक युग अभी समाप्त नहीं हुआ है। परंतु हम सन् ६५ से इधर आना नहीं चाहते क्योंकि सन् ६५ से इधर का साहित्य हमारी आँखों से इतना सटा हुआ है कि उसका नाकनक्शा हमें साफ दिखाई नहीं दे रहा है। किसी चीज को साफ-साफ देखने के लिये आवश्यक है कि हम उस चीज से जरा दूरी पर खड़े हों।

परंतु साहित्य और राजाओं के इतिहास में एक बड़ा फर्क होता है। साहित्य राजा की तरह किसी दिन गद्दीनशीन नहीं होता कि हम वह दिन याद कर लें। साहित्य में दिन तारीख देखकर काम नहीं किया जाता। आधुनिक युग की रेखा हम सन् ३५ से खींचते हैं तो इससे हमारा मतलब यह नहीं कि दिसंबर सन् ३४ का साहित्य आधुनिक नहीं है। परंतु दूसरी ओर हमारा मतलब यह भी नहीं कि आज सन् ७० में पैदा होनेवाला सारे का सारा साहित्य आधुनिक है। ३५ के उधर इकबाल, हसरत मोहानी, मौलाना अबुलकलाम आजाद और प्रेमचंद जैसे लोग हैं और ६५ के इधर जाफर अली खाँ 'असर' और 'अर्श' मलसियानी वगैरह हैं। आधुनिकता आधुनिक चेतना का नाम है। इसी लिये साहित्य को बरसों में बाँटना हमेशा खतरनाक होता है। और इसी लिये चाहे हम बात सन् ३५ से सन् ६५ तक की करें, परंतु हमें बात बहुत पहले से शुरू करनी पड़ेगी क्योंकि यह इतिहास राजाओं का नहीं है बल्कि राज्यभाषा के इतिहास का है। इसलिये बात यहीं से शुरू करें कि उर्दू लिपि में लिखित हिंदी साहित्य की कहानी देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी साहित्य की कहानी से जरा अलग है। यह अलगाव आत्मा या नाकनक्शे का नहीं है। यह फर्क केवल कपड़े लत्ते और बनावसिंगार का है।

बात यह है कि मनुष्य की तरह लिपि का भी व्यक्तित्व होता है। हमने इस ऊपरी फर्क को इतना महत्व दिया कि उर्दू लिपि में लिखे जानेवाले साहित्य ही को अपनाने से इनकार कर दिया। यह करते समय हम यह भूल गए कि हम फारसी लिपि में लिखनेवाले जायसी, कुतबन, ताज और रसखान वगैरह को अपना चुके हैं। लिपि भाषा नहीं है। उर्दू साहित्य पर विचार करते समय हम इसी बात को भूल जाते हैं। उर्दू लिपि में लिखित हिंदी साहित्य को अपनाए बिना हिंदी साहित्य

का इतिहास अधूरा है। हम आज तक एक अधूरे इतिहास से काम चलाते रहे हैं। परंतु अधूरे इतिहास से काम चलाने की भी एक हद होती है।

उर्दू लिपि में लिखित हिंदी साहित्य को अपनाना यूँ भी आवश्यक है कि देवनागरी लिपि का साहित्य अपने क्षेत्र की पूरी सच्चाई को संप्रेषित नहीं करता। स्वतंत्रताप्राप्ति से पहले तक देवनागरी लिपि हिंदी ने केवल हिंदू जीवन को संप्रेषित किया है। देवनागरी लिपि हिंदी में कोई मुसलमान या सिख लेखक पैदा नहीं हुआ।[1] हिंदी साहित्य की इस कमी को उर्दू लिपि के हिंदी साहित्य ने पूरा किया। यह बात देखी जा सकती है कि देवनागरी लिपि के हिंदी साहित्य में जो युग निराला, पंत, महादेवी, यशपाल, अमृतलाल नागर, भैरवप्रसाद, अज्ञेय, भगवती बाबू और जैनेंद्र का है वही युग उर्दू साहित्य में प्रेमचंद, अली, अब्बास, हुसैनी, सुदर्शन, कृष्णचंद्र, राजेंद्र सिंह बेदी, जोश मलीहाबादी और फिराक गोरखपुरी का है। यह हिंदू, मुसलमान और सिख नाम खुद अपनी कहानी सुनाते हैं। यह उर्दू साहित्य की रंगारंगी है। परंतु इस ओर इशारा करके हम देवनागरी लिपि के हिंदी साहित्य पर सांप्रदायिकता का आरोप नहीं लगा रहे हैं। हम तो केवल यह कहना चाहते हैं कि देवनागरी हिंदी साहित्य में प्रकट होनेवाली सच्चाई आधी से अधिक सही परंतु पूरी हरगिज नहीं है। आज हम इतिहास के जिस मोड़ पर हैं उसपर हमें अधूरी सच्चाइयों से काम चला लेने की आदत छोड़नी पड़ेगी। इसलिये आइए उर्दू लिपि के हिंदी[2] साहित्य की बातें करें।

एक तरीका तो यह हो सकता है कि साहित्य को कथासाहित्य, काव्य, नाटक, जीवनी और आलोचना में बाँटकर लेखकों या कवियों के नाम के साथ उनकी रचनाओं की फेहरिस्त दे दी जाय। साहित्य के नाम पर अधिकतर यही हो भी रहा है परंतु इससे कोई लाभ नहीं होता। इससे विचारधाराओं का पता नहीं चलता और यह भी पता नहीं चलता कि साहित्य समाज से मेल खा रहा है या नहीं। साहित्य के इतिहास को विचारों का इतिहास होना चाहिए और उससे पाठक को यह पता चलना चाहिए कि किन हालात में कैसा साहित्य पैदा होना चाहिए और कैसा साहित्य पैदा हुआ। इसी लिये हम ३५ से ६५ तक के साहित्यकारों की सूची बनाना नहीं चाहते बल्कि यह दिखलाना चाहते हैं कि इस युग में उर्दू साहित्य जगत् में कैसी हवाएँ चलीं, कैसे तूफान आए और कैसी कलियाँ चिटकीं, अपनी बात कहने के लिये जहाँ नामों की जरूरत पड़ेगी, वहाँ नाम भी लिए जायँगे।

१. यहाँ 'खड़ी बोली' हिंदी की बात की जा रही है इसलिये अवधी और ब्रज के कवियों का नाम लेना ठीक न होगा।

२. यहाँ से आगे उर्दू लिपि के हिंदी साहित्य को उर्दू साहित्य लिखा जायगा और देवनागरी लिपि के हिंदी साहित्य को हिंदी साहित्य क्योंकि लोगों में यह प्रचलित है।

उर्दू साहित्य में केवल दो आंदोलन चले हैं। एक को सर सैयद या अलीगढ़ आंदोलन कह सकते है। जिस प्रकार अलीगढ़ आंदोलन का युग आंदोलन के समर्थकों और विरोधियों में बँटा हुआ था, उसी प्रकार आधुनिक युग भी प्रगतिशील आंदोलन के समर्थकों और विरोधियों में बँटा हुआ है। और चूँकि प्रगतिशील लेखक संघ का स्वप्न सन् ३५ में देखा गया इसलिये हम आधुनिक युग को वहीं से शुरू करते हैं और इसे प्रगतिशील साहित्य का युग कहते हैं।

जिस तरह भारत की पहली आजाद सरकार काबुल में बनाई गई थी उसी तरह भारतीय प्रगतशील लेखक संघ की बुनियाद लंदन में पड़ी। यह सन् ३५ की बात है।

मुल्कराज आनंद, सैयद सज्जाद जहीर आदि ने मार्क्सवाद के प्रभाव में आकर यह सोचना शुरू किया कि साहित्यकार का काम यह नहीं है कि रईसों को कहानियाँ सुनाकर सुलाए और राजाओं नव्वाबों की सरकार में अपनी आत्मा को कसीदे के चीथड़े में लपेटकर पेश करता रहे। वह इस नतीजे पर पहुँचे कि साहित्यकार के हाथ में साहित्य एक तलवार है और यह तलवार साम्राज्यवाद के विरोध में उठनी चाहिए। इन लोगों का खयाल यह भी था कि चूँकि क्रांति केवल मजदूर वर्ग के नेतृत्व में आ सकती है इसलिये अच्छे साहित्य को मजदूर वर्ग के पीछे चलना चाहिए यानी साहित्य को पढ़े लिखे मध्यमवर्ग की तरफ से मुँह फेर लेना चाहिए। वह लोग इस नतीजे पर भी पहुँचे कि साहित्य के पाँव में पड़ी हुई परंपराओं की जंजीर तोड़ देनी चाहिए और धर्म सबसे बड़ी और पुरानी परंपरा है। साम्राज्यवाद और मजदूरवर्ग की लड़ाई में धर्म साम्राज्यवाद का साथ देता है, इसलिये धर्म मनुष्य की सबसे बड़ी बदनसीबी है। यह सारे विचार नए और चौंका देनेवाले थे क्योंकि हम तो आजादी के संघर्ष में कालीपूजा कर रहे थे और अल्ला हो अकबर के नारे लगा रहे थे। हमारे लिये भारत चार हाथों वाली एक देवी था और हम मंदिरों और मसजिदों में स्वतंत्रताप्राप्ति के लिये दुआएँ माँग रहे थे। यही कारण है कि सारे देश में इस आंदोलन के विरोध में एक तूफान आ गया। अंग्रेज सरकार ने भी स्थिति का पूरा पूरा फायदा उठाया परंतु जो साहित्यकार थे और जो साहित्यकार का कर्तव्य जानते थे उन्होंने इस आंदोलन का समर्थन किया। इस आंदोलन के समर्थकों में रवींद्रनाथ ठाकुर, प्रेमचंद, जवाहरलाल नेहरू, सरोजनी नायडू, अबुलकलाम आजाद, हसरत मोहानी, काजी अब्दुल गफ्फार, मजनूँ गोरखपुरी, अब्दुल हक, इकबाल, न्याज फतहपुरी और वल्लातोल जैसे महान् साहित्यकारों और देशभक्तों के नाम लिए जा सकते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मोहनदास करमचंद गाँधी को इस आंदोलन की खबर न लग सकी। वह मरते दम तक साहित्य के इस महान् आंदोलन से बेखबर रहे या फिर यह कहा जा सकता है

कि अफलातून की तरह शायद वह भी साहित्य से डरते थे ! और सच्ची बात यह है कि इंडियन नेशनल कांग्रेस के चौखटे में साहित्य के लिये कोई जगह नहीं थी। हमारे राष्ट्रीय संघर्ष ने कला के महत्व को स्वीकारने से परहेज किया। हिंदुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी कला की शक्ति को पहचान सकी इसलिये उसने अगुआई की और प्रगतिशील साहित्य का आंदोलन कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ में चला गया। चुनांचे आज भी इस आंदोलन पर कम्युनिस्ट पार्टी के उतार चढ़ाव का असर पड़ता रहता है। हम प्रगतिशील साहित्य के पन्नों में यह देख सकते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी में पी० सी० जोशी का सूर्य कब तक अस्त हुआ और बी० टी० रणदिवे का सूर्य कब उदय हुआ। इस बात से यह नतीजा निकाल लेना ठीक न होगा कि प्रगतिशील लेखकों ने केवल 'एजीटेशनल' साहित्य पैदा किया। हम जिस युग की बात कर रहे हैं उसमें यदि अच्छा और जीवित रहनेवाला साहित्य पैदा हुआ है तो वह प्रगतिशील लेखकों ही के कलम से पैदा हुआ है क्योंकि केवल कोई प्रगतिशील कवि ही यह कह सका है कि :

> मताय लौहो कलम छिन गई तो क्या गम है,
> कि खूने दिल में डुबो ली हैं उँगलियाँ मैंने ॥
> जबाँ पर मुहर लगी है तो क्या, कि रख दी है,
> हर एक हलकए जंजीर में जबाँ मैंने ॥

यह दोनों शेर फैज अहमद फैज के हैं। यह इतिहासकार फैज को पाकिस्तानी कवि इसलिये नहीं मानता कि फैज की शायरी की उम्र पाकिस्तान की उम्र से ज्यादा है।[1]

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि कोई सवा सौ बरस पहले गालिब भी यही बात कह चुके हैं :

> लिखते रहे जुनूँ की हिकायते खूँ चका,
> हर चंद इसमें हाथ हमारे कलम हुए ॥

साहित्य का इतिहास लिखने में यही कठिनाई होती है कि यहाँ जो राजा मर जाता है वह भी जीवित रहता है। यही कारण है कि साहित्य के इतिहास में जन्म और मृत्यु की तारीखों का इसके सिवा कोई और महत्व नहीं कि वह तारीखें वह तय करने में सहायक होती हैं कि लेखक को किस समाजी कसौटी पर कसा जाय। कहने का मतलब यह है कि चूँकि १४ अगस्त सन् ४७ को पाकिस्तान बन गया इसलिये हिंदुस्तानी कवि फैज अहमद फैज भी पाकिस्तानी हो गए। फैज का व्यक्तित्व भारतीय है। यूँ तो पाकिस्तान का नागरिक होने के नाते भी जो जोश

१. इस इतिहास में उन कवियों की बातें नहीं की जा रही हैं जो पाकिस्तान बन जाने के बाद कवि हुए हैं और पाकिस्तान के पैदायशी नागरिक हैं।

मलीहाबादी या न्याज फतहपुरी या तेग इलाहाबादी है उसे हम पाकिस्तानी साहित्यकार नहीं मान सकते। राजनीति और साहित्य की सीमाएँ एक नहीं होतीं। साहित्य में तो भारत अभी तक पूरी तरह तक्सीम नहीं हुआ है क्योंकि :

> जबाँ पे मुहर लगी है तो क्या, कि रख दी है
> हर एक हलकए जंजीर में जबाँ मैंने ॥

यह बात आधुनिक युग में भी सही है। यही बात ग़ालिब के युग में सही थी। यही बात उनसे पहले मीर तकी मीर के जमाने में इतनी ही सही थी।

> एक जलता है तो सौ मरने को आ बैठे हैं।
> मुद्दतों से है ये दस्तूर हमारे याँ का ॥

और पीछे जाया जाय तो यही बात और पीछे भी सुनी जा सकती है। जाहिर है कि ग़ालिब और मीर प्रगतिशील लेखक संघ के मेंबर नहीं थे। तो इससे यह नतीजा निकला कि प्रगतिशील आंदोलन और प्रगतिशील साहित्य दो चीजें हैं। प्रगतिशील साहित्य था और प्रगतिशील लेखक संघ नहीं था। प्रगतिशील साहित्य है और प्रगतिशील लेखक संघ नहीं है। परंतु जब कुछ झल्लाए हुए नौजवानों ने सन् ३५ में प्रगतिशील साहित्य का ख्वाब देखा तो उन्होंने यह जरूरी जाना कि हर पुरानी चीज को छोड़ दिया जाय। वह अपनी झल्लाहट और नए नवेले जोश में यह भूल गए कि नया साहित्य पुरानी परंपराओं से निकलता है वैसे ही जैसे जमीन का सीना फाड़कर नई कोंपल सिर निकालती है। साहित्य में कई युग साथ साथ चलते हैं। यही कारण है कि प्रगतिशील कलाकारों ने जो पहला संग्रह 'अंगारे' प्रकाशित किया, उसमें साहित्य कम था और तोड़फोड़ ज्यादा। इस संग्रह में रशीद जहाँ, अहमद अली और सिब्ते हसन वगैरा की कहानियाँ थीं। शुरू की इन कहानियों में खराबी यह थी कि यह कहानियाँ केवल विरोध की कहानियाँ थीं, यह किसी चीज का समर्थन नहीं कर रही थीं। नतीजा यह हुआ कि उर्दू जगत् इस नए साहित्य के विरोध में पंक्ति बाँधकर खड़ा हो गया। ब्रिटिश सरकार के लिये इससे ज्यादा खुशी की बात और क्या हो सकती थी। यह किताब जब्त कर ली गई और स्वतंत्रताप्राप्ति के २३ बरस बाद भी इस किताब पर से कानून का पर्दा नहीं हटा है। साहित्य के दृष्टिकोण से इस किताब का महत्व केवल इतना है कि यह प्रगतिशील लेखकों का पहला कथासंग्रह है। साहित्य की सतह पर प्रगतिशील लेखकों का पहला दस्तावेज 'लंदन में एक रात' है। यह लंदन में पढ़नेवाले हिंदुस्तानी लड़कों और लड़कियों के जीवन की एक रात की कहानी है जिसे सैयद सज्जाद जहीर ने बड़ी मेहनत और बड़े चाव और गंभीरता से सुनाया है। सज्जाद जहीर ने फिर कोई कहानी नहीं लिखी परंतु 'लंदन में एक रात' लिखकर उन्होंने खुद अपने बड़े शरीफ और मुसकुराते हुए सलोने

कलम से इस युग के उर्दू साहित्य के इतिहास में अपना नाम लिख दिया है।[1] परंतु इस एक कहानी के बाद उन्होंने फिर कोई कहानी नहीं लिखी। वह संघटन बनाने में लग गए और यूँ एक जीता जागता कलम लगभग जाया हो गया। सज्जाद जहीर के कलम में जो शक्ति है वह न रशीद जहाँ के कलम में था, और न मिर्जे हसन के कलम में। अहमद अली का कलम कुछ दिन अवश्य जीता रहा। अहमद अली आज जो पाकिस्तान में जिंदा हैं परंतु उनके कलम का रंग देखकर कोई नहीं कह सकता कि इसने सन् ३५ में प्रगतिशील लेखकों के मेनिफेस्टो पर हस्ताक्षर किया होगा।

प्रगतिशील लेखक संघ की पहली कान्फ्रेंस अप्रैल सन् ३६ में हुई। यह बात बड़ी दिलचस्प है कि प्रगतिशील लेखकों ने अपनी पहली कान्फ्रेंस लखनऊ में की, जो परम्परावादी साहित्य का बहुत बड़ा गढ़ था और जहाँ हकीम साहबे आलम की तूती बोल रही थी।

मुंशी प्रेमचंद ने इस कान्फ्रेंस की सदारत की। रवींद्रनाथ ठाकुर आ तो न सके परंतु उन्होंने इस कान्फ्रेंस को एक पत्र अवश्य लिखा :

'जनता से अलग रहकर हम बिलकुल अकेले रह जायेंगे। साहित्यकारों को इन्सानों से मिल जुलकर उन्हें पहचानना है। मेरी तरह एकांतवास में रहकर उनका काम नहीं चल सकता। मैंने एक लंबे समय तक समाज से अलग रहकर, अपनी साधना में जो भूल की है, अब मैं उसे समझ गया हूँ और यही कारण है कि आज यह नसीहत कर रहा हूँ। मेरी चेतना की यह माँग है कि मानवता और समाज से प्रेम करना चाहिए। अगर साहित्य मनुष्यता का अभिन्न अंग न बनेगा तो वह असफल और अस्वीकृत रहेगा। यह वास्तविकता मेरे दिल में सत्य के प्रकाश की भाँति प्रकाशमान है और तर्क उसे बुझा नहीं सकता।[2]'

उस कान्फ्रेंस ने यह एलान किया कि इस समय भारतीय समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं और मरणासन्न प्रतिक्रियावाद जिसकी मृत्यु अवश्यंभावी

१. पिंडी कांस्प्रेसी कांड में उनकी सजा हो गई तो जेल में सज्जाद जहीर ने दो किताबें लिखीं। 'रोशनाई' और 'जिक्रे हाफिज'। 'रोशनाई' में उनकी यादें हैं जो प्रगतिशील आंदोलन और प्रगतिशील साहित्य को समझने में मदद करती हैं। दूसरी किताब में ईरान के कवि हाफिज के काव्य का मूल्यांकन किया गया है—जेल से उन्होंने रजीआ सज्जाद जहीर को जो पत्र लिखे थे वह भी महत्वपूर्ण हैं। नुकूशे जिंदाँ। सन् ६४ में उनके गद्य काव्य का संग्रह 'पिघला नीलम' भी छपा तब पता चला कि सज्जाद जहीर, जो प्यार में बन्ने भाई कहे जाते हैं, कवि भी हैं। 'पिघला नीलम' के बारे में आगे बातें करेंगे क्योंकि यह काव्यसंग्रह भी 'लंदन में एक रात' ही की तरह महत्वपूर्ण है।

२. अली सरदार जाफरी : तरक्की पसंद अदब।

और निश्चित है, अपने जीवन की अवधि बढ़ाने के लिये पागलों की भाँति हाथ पाँव मार रहा है। पुरानी सभ्यता के ढाँचे के टूटने के बाद से हमारा साहित्य एक प्रकार के पलायनवाद का शिकार रहा है और जीवन की वास्तविकताओं से मुँह मोड़कर, खोखली आध्यात्मिकता और जड़ आदर्शवाद में शरण लेता रहा है जिसके कारण उसकी रगों में नया खून आना बंद हो गया है और साहित्य में बहुत अधिक कलावाद और गुमराह करनेवाले दृष्टिकोण का शिकार हो गया है।

भारत में साहित्यकारों का यह कर्तव्य है कि वे भारतीय जीवन में प्रकट होनेवाले परिवर्तनों को संपूर्ण रूप से अभिव्यक्ति दें और वैज्ञानिक एवं बौद्धिक चिंतन को बढ़ाते हुए, प्रगतिशील आंदोलनों का समर्थन करें। उनका यह कर्तव्य है कि वे इस प्रकार की आलोचना का प्रचलन करें, जिससे खानदान, धर्म, सेक्स, युद्ध और समाज के विषय में प्रतिक्रियावादी और पुनरुत्थानवादी विचारों की रोकथाम की जा सके। उनका कर्तव्य है कि वे ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियों को बढ़ने से रोकें जो सांप्रदायिकता, जाति, रंगभेद और मानव के शोषण का पक्ष लेती हैं।

हमारे संघ (प्रगतिशील लेखक) का उद्देश्य साहित्य और कला को उन प्रतिक्रियावादी वर्ग और तत्वों के चंगुल से छुड़ाना है जो अपने साथ साहित्य और कला को भी पतन के गर्त में धकेल देना चाहते हैं और इसे जीवन का सच्चा चितेरा तथा भविष्य को उज्ज्वल बनाने का एक सफल माध्यम बनाना चाहते हैं। हम अपने-आपको भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठ परंपराओं का उत्तराधिकारी समझते हैं। और उन परंपराओं को अपनाते हुए हम अपने देश में हर प्रकार के प्रतिक्रियावाद के विरोध में संघर्ष करेंगे और हर ऐसी भावना का प्रतिनिधित्व करेंगे जो हमारे राष्ट्र को एक नया और बेहतर जीवन का मार्ग दिखाएगी। इस काम में हम अपने और दूसरे देशों की सभ्यता और संस्कृति से लाभ उठाएँगे। हम चाहते हैं कि भारत का नया साहित्य, हमारे जीवन के मूल प्रश्नों और समस्याओं को अपना विषय बनाए। यह भूख, गरीबी, सामाजिक पतन और पराधीनता की समस्याएँ हैं, हम उन तमाम व्यर्थ संस्कारों का विरोध करेंगे जो हमें, लाचारी, सुस्ती और अंधभक्ति की ओर ले जाता है। हम उन तमाम बातों को जो हमारी आलोचना शक्ति को उभारती हैं और रीति रिवाजों और संस्थाओं को बुद्धि की कसौटी पर परखती हैं[1] प्रगति और परिवर्तन का माध्यम समझकर स्वीकार करते हैं।

यह एलान कई एतबार से महत्वपूर्ण है। सर सैयद आंदोलन ने इस प्रकार का कोई एलान नहीं किया था। हाली के 'मोकद्दमये शेरो शायरी' ही उस आंदोलन

१. अली सरदार जाफरी : तरक्की पसंद अदब, दूसरा संस्करण, प्रका० अंजुमन तरक्कीये उर्दू।

का मेनिफेस्टो है। इस भूमिका के अलावा सर सैयद के बिखरे हुए लेख हैं। 'तहज़ीब-उल-अख़लाक़' में प्रकट होनेवाले हिमायती के विचार हैं। 'आबे हयात' में बिखरी हुई मुहम्मद हुसैन आज़ाद की बातें हैं और डिप्टी नज़ीर अहमद के उपन्यास और उनकी लिखी हुई कुरआन की तफ़सीर की भाषा है जिससे नतीजे निकाले जा सकते हैं। परंतु सर सैयद आंदोलन ने न तो लेखकों का कोई संघ ही बनाया और न तो कोई कान्फ्रेंस करके साहित्य के बारे में अपने दृष्टिकोण को किसी प्रस्ताव में स्पष्ट करके रखा। वह केवल एक आंदोलन था—संगठन नहीं था। प्रगतिशील आंदोलन पहला आंदोलन था जिसने साहित्यकारों का एक संगठन बनाने की जरूरत महसूस की, और इसी लिये यह आवश्यक है कि हम इस आंदोलन को अच्छी तरह पहचान लें।

अगले वक्त के लोगों ने इस आंदोलन का विरोध किया। यहाँ मौलाना हसरत मोहानी, काजी अब्दुल गफ्फार और मजनूँ गोरखपुरी के नाम खास तौर पर लिए जा सकते हैं।[1] परंतु अगले वक्तवालों में कुछ आधुनिक आत्माएँ भी थीं जिनका पूरा समर्थन और बल इस आंदोलन को मिलता रहा।

ये दिन भारत में बड़ी उथल पुथल के दिन रहे हैं। सन् ३५ के चुनाव हो चुके थे। मुसलिम लीग मुसलमानों में जड़ पकड़ चुकी थी। सन् २१–२२ में लगाए हुए हिंदू मुसलिम भाई भाई के नारों की आवाज धीमी पड़ चुकी थी। परंतु 'इंक़िलाब जिंदाबाद', 'बंदेमातरम्', 'भारत माता की जय', 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' और 'चीनोअरब हमारा हिंदोस्ताँ हमारा' की आवाज से वातावरण ठसाठस भरा हुआ था। इन आवाजों में दिल की आवाज सुनना मुश्किल है। इसलिये जरूरी है कि ऊँची आवाज में बातें की जा सकें। यही कारण है कि प्रगतिशील साहित्य का स्वर ऊँचा है। इतना ऊँचा है कि जो एकदम से गूँजनेवाले नारे चुप हो जायँ तो पता चले कि यह साहित्यकार चिल्ला रहे हैं। परंतु जिस आवाजों भरे वातावरण में यह साहित्यकार काम कर रहे हैं उसमें साधारण स्वर के गुम हो जाने का डर है।

स्वर के ऊँचे होने के कारण कई और कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। असाधारण स्वर में साधारण बात नहीं की जा सकती। इसलिये यह प्रगतिशील लेखक इसके सिवा और कुछ कर भी नहीं सकते थे कि साधारण को असाधारण बनाएं। यही कारण है कि प्रगतिशील साहित्य समाजवादी यथार्थवाद के रास्ते पर न चलकर रोमांटिसिज्म के रास्तों पर चल रहा है। चुनांचे यह बात साफ-साफ दिखायी देती है कि मार्क्सवादी चेतना रखनेवाले प्रगतिशील कवियों पर जोश

१. हैदराबाद में होनेवाली सन् ४५ की कान्फ्रेंस में अश्लीलता के खिलाफ प्रस्ताव आया तो नौजवानों ने उसका समर्थन किया और हसरत मोहानी और काजी अब्दुल गफ्फार जैसे बूढ़ों ने विरोध।

मलीहाबादी जैसे रूमानी कवि की परछाईं पड़ रही है। 'प्रजातंत्र' की धुन में वह मीर, गालिब, दर्द, कायम, मोमिन, आतिश, अनीस, और हसन और दयाशंकर नसीम को रद्दी कागज के टुकड़ों की तरह टोकरी में फेंककर नजीर अकबराबादी जैसे दूसरे दर्जे के कवि के दीवान की गर्द झाड़ रहे हैं, और लूई अरागाँ, पैब्लो नरूदा, मायाकाव्स्की और ह्विटमन जैसे छोटे कद के देवताओं की पूजा कर रहे हैं। फिर भी यह साहित्य जीवित है। इसकी साँसों की आवाज सुनी जा सकती है। यह जड़ नहीं है सक्रिय है। समय से इसका स्वर मिला हुआ है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि हिंदुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी बन चुकी है परंतु वह गैरकानूनी है। यानी अभी लोग कई छलनियों में छाने जाने के बाद पार्टी के मेंबर होते हैं। इसलिये अभी अवसरवादियों के लिये कम्युनिस्ट होना संभव नहीं है। केवल तपे और ठुँके ठुँकाए हुए लोग कम्युनिस्ट हैं। यह लोग बाकायदा प्रगतिशील साहित्य के आंदोलन में दिलचस्पी नहीं ले सकते क्योंकि यह आंदोलन अंडर ग्राउंड नहीं और कम्युनिस्ट अभी तक इंडियन नेशनल कांग्रेस में हैं। इसलिये इस प्रगतिशील आंदोलन में वह लोग भी हैं जो कम्युनिस्ट नहीं हैं। इस सिलसिले में ख्वाजा अहमद अब्बास, अली जवाद जैदी, सागर निजामी, सआदत हसन मंटो, उपेंद्रनाथ अश्क, बलवंत सिंह, राजेंद्र सिंह बेदी और इसमत चुगताई वगैरह के नाम लिए जा सकते हैं। कुछ ऐसे बुजुर्ग भी आए जो साहित्य की शक्ति को जानते थे और साहित्यकार के ऐतिहासिक कर्तव्य से वाकिफ थे। हसरत मोहानी, काजी अब्दुल गफ्फार, जिगर मुरादाबादी, फिराक गोरखपुरी और मजनूँ गोरखपुरी के नाम इस सिलसिले में लिए जा सकते हैं।

दूसरी तरफ सीमाब अकबराबादी, जाफर अली खाँ असर, नूह नारवी, माहिरुल कादिरी और यास यगाना चंगेजी जैसे लोग हैं। यह लोग आपस में लड़ रहे हैं परंतु प्रगतिशील साहित्य के विरोध में वह लोग एक हैं। बड़ी हद तक यह लोग ठीक कह रहे थे। इन लोगों का कहना यह है कि प्रगतिशील साहित्य धर्म, रीति और परंपरा का विरोधी है, यह बात अपनी जगह ठीक है। इनका कहना यह भी है कि यह प्रगतिशील साहित्यकार भाषा का आदर नहीं करते और काव्यशास्त्र के बने बनाए नियमों को तोड़ते हैं। यह बात भी अपनी जगह ठीक है। इनका कहना यह भी है कि यह साहित्य अश्लील है और माँ बहनों को नहीं पढ़ाया जा सकता। यह बात भी एक हद तक ठीक है। मंटो की कहानियाँ 'बू', 'काली शलवार' और 'ठंडा गोश्त' अवश्य विवादास्पद हैं। इसमत चुगताई की कहानी 'लिहाफ' के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। हसन अस्करी की कहानी 'फिसलन' भी इसी कबीले की कहानी है। यह बात अपनी जगह सही है कि इन कहानियों में जिन समाजी गंदगियों को उभारा गया है वह गंदगियाँ हमारे समाज में हैं परंतु गंदगियों

को समाजी जिंदगी से अलग करके बयान करना यथार्थवाद नहीं है। यथार्थवाद नाम है वर्तमान को भूतकाल और भविष्य के अटूट सिलसिले में देखने का। यथार्थ नाम है एक क्षण को दूसरे क्षणों के साथ देखने का। इन प्रगतिशील लेखकों ने यही नहीं किया। इसमत चुगताई का 'लिहाफ' किसी उपन्यास में ओढ़ा जाता या मंटो ने 'ठंडे गोश्त' की दूकान किसी उपन्यास के पन्नों में खोली होती जहाँ और दूकानें भी होतीं तो इन कथाकारों पर अश्लीलता का आरोप न लगता। परंतु इसमत, मंटो और हसन असकरी ने यह क्षण समय की निरंतरता से अलग करके दिखाए हैं और इसी लिये शायद यह अश्लील हैं।[1] और यह कहानियाँ अवश्य इस क़ाबिल नहीं कि राशिदुल खैरी की मासिक पत्रिका 'इसमत' में प्रकाशित होनेवाली कहानियाँ और ख्वाजा हसन निजामी की 'बेगमाते दिल्ली के आँसू' जैसी किताबें पढ़नेवालियाँ इन्हें पढ़ें। माँ बहनें तो अलग रहीं यह कहानियाँ तो बहुत से 'भाइयों' के लायक भी नहीं। 'कामशास्त्र' लिखा गया होगा कभी इस देश में परंतु अब यह शास्त्र नहीं पढ़ाया जाता और यदि कोई मतगणना की जाय तो आम 'भाई बहन' यह नहीं बता पाएँगे कि इसमत चुगताई की कहानी 'लिहाफ' के अंदर क्या हो रहा था। इसलिये यह कहानी एक कुरेद की भावना पैदा कर सकती है और इसलिये यह लेखक इस कहानी को, और इस जैसी दूसरी तमाम कहानियों को अश्लील मानता है और यूँ यहाँ भी लेखक उन बूढ़ों से सहमत है जो प्रगतिशील साहित्य पर अश्लीलता का आरोप लगाते हैं। परंतु यह बातें कहकर यास अजीमाबादी, मादिरुल कादरी, जाफर अली खाँ असर और घरेलू बड़े बूढ़ों ने जो नतीजा निकाला वह गलत था। उनका कहना था कि प्रगतिशील साहित्य साहित्य ही नहीं है।

इसी बीच में एक दिन दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया। वास्तव में ऊपर जिन कहानियों की बात की गई है वह सबकी सब महायुद्ध के छिड़ जाने के बाद लिखी गई हैं।

यह महायुद्ध प्रगतिशील साहित्य के आंदोलन में एक महत्वपूर्ण मोड़ है। इस युद्ध ने इस आंदोलन में दरार डाल दी, और यह केवल एक कम्युनिस्ट आंदोलन होकर रह गया। जैसे ही जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया वैसे ही कम्युनिस्ट पार्टी ने युद्ध को 'कौमी जंग' बना दिया[2]। प्रगतिशील लेखक संघ में कई लोगों ने इस नारे का विरोध किया। इन लोगों में ख्वाजा अहमद अब्बास, हयातुल्लाह अंसारी और अली जवाद जैदी के नाम खास तौर पर लिए जा सकते हैं। ख्वाजा अहमद अब्बास ने जंग को 'कौमी जंग' न मानने के बाद भी अपने आपको संघ से अलग नहीं किया।

१. 'शायद' इसलिये कहा गया कि अदालतों ने इन्हें अश्लील नहीं माना।

२. बंबई से निकलनेवाले कम्युनिस्ट साप्ताहिक का नाम भी 'कौमी जंग' रखा गया।

परंतु हयातुल्लाह अंसारी और अली अब्बास हुसैनी अलग हो गए। प्रगतिशील आंदोलन को त्यागे हुए साहित्यकारों की ट्रैजिडी यह है कि प्रगतिशील लेखक संघ से अलग होने के बाद उन्होंने देखा कि देश में कोई पत्रिका ऐसी नहीं जिसमें वह अपनी कविताएँ और कहानियाँ प्रकाशित करवा सकें। सारी पत्रिकायें प्रगतिशील लेखकों के कब्जे में थीं और यह लोग उन मासिक या साप्ताहिक पत्रिकाओं से नाता जोड़ नहीं सकते थे जो परंपरावादी या धार्मिक थीं।

यह वह दिन है जब सरकार प्रगतिशील और मार्क्सवादी लेखकों पर मेहरबान है। चुनांचे आल इंडिया रेडियो पर भी इन्हीं लोगों का कब्जा है। कृष्णचंद्र, मंटो, अश्क रेडियो पर कब्जा किए बैठे हैं। दूसरी तरफ प्रगतिशील आलोचक इसे अपना धार्मिक कर्तव्य समझे बैठे है कि हर उस चीज की तारीफ करनी है जो किसी प्रगतिशील लेखक ने लिखी है। मार्क्सवाद उनका फलसफा नहीं था धर्म था। एहतिशाम हुसैन, आलेअहमद सुरूर, मुमताज हुसैन—गरज कि मजनूँ गोरखपुरी तक अपने इस धार्मिक कर्तव्य का पालन कर रहे थे। यही कारण है कि अच्छे आलोचक मिलने के बाद भी प्रगतिशील आलोचना का स्तर बहुत नीचा है। इन बातों से यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि यह प्रगतिशील आलोचक बस यूँ ही है क्योंकि ईमानदारी की बात तो यह है कि यह केवल अफवाह है कि सर सैयद, हाली, आजाद, शिबली या बाद में आकर बिजनौरी आलोचक थे। आलोचना तो प्रगतिशील आंदोलन के साथ शुरू हुई। यह देखा जा सकता है कि सर सैयद और उनके साथियों की तरह यह प्रगतिशील आलोचक शब्दों के सागर के किनारे खड़े लहरें नहीं गिनते। यह कविता या कहानी के अंदर उतरने का प्रयत्न करते हैं। यह विवेचन करते हैं। यक-तरफा होने के बाद भी इन प्रगतिशील आलोचकों ने अपने ऐतिहासिक कर्तव्य को पूरा किया है परंतु यह प्रगतिशील आलोचना छोटे छोटे लेखों में बिखरी पड़ी है। इन आलोचकों ने किसी एक लेखक या किसी एक किताब पर किताब लिखने का साहस नहीं किया और न तो इन्होंने आलोचना के नियम बनाने की कोशिश की। आलोचना की शब्दावली का कोई कोश भी नहीं बना, जिससे पाठक को पता चलता कि किस शब्द का क्या अर्थ है। एक ही शब्द दो या दो से ज्यादा अर्थों में इस्तेमाल होता रहता है और पाठक उलझकर रह जाता है। परंतु यहाँ तीन आलोचकों का जिक्र करना आवश्यक है। मुमताज हुसैन, डाक्टर खुर्शीदुल इसलाम और खलीलुर्रहमान आजमी। मुमताज हुसैन ने मीर अम्मन की कहानी 'बागो बहार' पर एक बड़ी गंभीर भूमिका लिखी। डॉक्टर खुर्शीदुल इसलाम ने रुसवा के उपन्यास 'उमराव जान अदा' पर अपनी भूमिका लिखकर उर्दू आलोचना के इतिहास को एक नए रास्ते पर चलाया और खलीलुर्रहमान आजमी ने 'मोकद्दमये कलाम आतिश' लिखकर यह बताया कि प्रगतिशील आलोचक ही पुराने साहित्य को आधुनिक बनाने का कर्तव्य पूरा कर सकते

है।[1] ऐसा नहीं है कि उर्दू में इस प्रकार का काम ही नहीं हो रहा था। डॉक्टर यूसुफ हुसैन खाँ, डाक्टर ज़ोर और इस प्रकार के दूसरे लोग जो जड़ परंपराओं और मुर्दा रीतियों के पुजारी हैं, धड़ाधड़ किताबें लिख रहे हैं परंतु चूंकि उनकी आलोचना के स्वर समय से मिले हुए नहीं हैं इसलिये उनकी आलोचना भी जड़ और मुर्दा है। उससे पुराने खयालों और पुराने कागज की महक आती है और इसलिये उनका कोई आधुनिक अर्थ नहीं है। यह यूसुफ हुसैन खाँ वगैरह वास्तव में शिबली और मुहम्मद हुसैन आज़ाद के समकालीन हैं।

यूँ हम बातों में दूसरे महायुद्ध से आगे निकल आए। बात यह है कि साहित्य के इतिहास के पाँवों में दिनों और तारीखों की बेड़ी नहीं डाली जा सकती। चूँकि आलोचना में थोड़ी सी असाहित्य की मिलावट भी है इसलिये यह उचित दिखाई दिया कि आलोचना की बात यहीं खत्म कर ली जाय।[2]

कहने का मतलब यह है कि उर्दू साहित्य के बाजार में केवल प्रगतिशील आंदोलन का सिक्का चल रहा था और जो इस दायरे के बाहर था वह किसी काबिल न था। प्रगतिशील होकर मशहूर होने में भी बड़ी आसानियाँ थीं। इसलिये वह लोग भी प्रगतिशील लेखक बन गए जिन्हें अपनी नालायकी के कारण नौकरी

१. इस लेखक ने भी यास यगाना चंगेज़ी की शायरी के कस बल को देखा और उनपर एक किताब लिखी और एक हद तक इस इलज़ाम का जवाब दिया कि प्रगतिशील लेखक पार्टीबंदी करते हैं और विरोधियों की अच्छाई नहीं देख पाते। इस लेखक ने पी एच० डी० के लिये 'दास्ताने तिलिस्मे होशरुबा' पर थीसिस लिखकर उर्दू क्लासिकिल साहित्य को आधुनिक अर्थ देने की एक राह निकाली।

२. आलोचना की बात कलीमुद्दीन अहमद का जिक्र किए बिना पूरी नहीं हो सकती। कलीमुद्दीन अहमद उर्दू साहित्य को अंग्रेजी फीते से नापते हैं और इसी लिये उन्हें सारा उर्दू काव्य बेमानी और लचर दिखाई देता है। 'उर्दू शाइरी पर एक नज़र' में उन्हें नज़ीर के सिवा कोई कवि ही नहीं दिखाई दिया। परतु 'उर्दू में फन्ने दास्तान गोई' उनकी बहुत बड़ी देन है और वह इस किताब के लिये याद रक्खे जायँगे। इसके इलावा उन्होंने आलोचना की है वह 'हास्य रस' में है। दास्तानों पर विकार अज़ीम ने भी एक अच्छी किताब लिखी, 'हमारी दास्तानें' परतु इसमें दुनिया की सबसे बड़ी दास्तान 'तिलिस्मे होशरुबा' ही का जिक्र नहीं है। प्रोफेसर ख्वाजा अहमद फारुकी ने 'मीर' पर एक किताब लिखी जिसपर उन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला परतु इस किताब में बड़ी गलतियाँ हैं।

नहीं मिल रही थी या जो किसी रईस लड़की के इश्क में असफल हुए थे—या जिन्हें आतंकवाद पसंद था। इसलिये भीड़ बढ़ती गई और लोग कम होते गए। फिर भी जो यह भीड़ छाँटी जाय तो कुछ चमकते हुए चेहरे दिखाई देते हैं। कवियों में जोश, शाद आरिफी, मजाज, जज्बी, फिराक गोरखपुरी, अली सरदार जाफरी, परवेज शाहिदी, मखदूम मोहिउद्दीन, फैज अहमद फैज, अहमद नदीम कासिमी और अख्तर अन्सारी के साथ साथ मजरूह सुलतांपुरी, कैफी आजमी, साहिर लुधियानवी, वामिक जौनपुरी, न्याज हैदर, अख्तरुल ईमान, सलाम मछलीशहरी और मसऊद अख्तर जमाल के नाम लिए जा सकते हैं। कथाकारों में कृष्णचंद्र, राजेंद्रसिंह बेदी, सआदत हसन मंटो, इसमत चुगताई, ख्वाजा अहमद अब्बास, गुलाम अब्बास, अहमद नदीम कासिमी, उपेंद्रनाथ अश्क, बलवंतसिंह के नाम याद आते हैं। व्यंग्य में कन्हैयालाल कपूर, कृष्णचंद्र और फिक्र तौंसवी के नाम आते हैं। आलोचना में मजनूँ, एहतिशाम हुसैन, आले अहमद सुरूर, मुमताज हुसैन के नामों के साथ सरदार जाफरी फैज और कृष्णचंद्र के नाम आते हैं जो बाकायदा आलोचक नहीं परंतु जिन्होंने कुछ महत्वपूर्ण भूमिकाएँ लिखी हैं। इन नामों के निकल जाने के बाद बचता ही कौन है। हाँ, व्यंग्य में प्रगतिशील लेखकों के पास रशीद अहमद सिद्दीकी का कोई जवाब नहीं है। और चूँकि इनका कोई जवाब नहीं है इसी लिये यह उन दिनों को झेल भी गए जब प्रगतिशील विचारधारा का विरोध करना लगभग असंभव था। कवियों में सीमाब अकबराबादी, नूह नारवी, जाफर अली खाँ असर, आरजू लखनवी और यास यगाना चंगेजी बचते हैं। इनमें भी आरजू और यास यगाना के सिवा किसी की शायरी में वह कस बल नहीं कि प्रगतिशील आंदोलन की आँखों में आँखें डाल सके। आरजू एक खामोश आदमी थे और कलकत्ते में पड़े हुए फिल्मी गीत लिख रहे थे। यगाना ने प्रगतिशील आंदोलन से लोहा लिया और शायद यही कारण है कि कम्युनिस्ट पार्टी के 'कौमी दारुल इशाअत' ने उनका काव्यसंग्रह प्रकाशित किया। कथाकारों में केवल दो—हयातुल्लाह अंसारी और अजीज अहमद बचते हैं जो इस खेमे से बाहर धूप में खड़े गालियाँ बक रहे हैं[1]। रही आलोचना, तो आलोचकों में एक भी ऐसा नहीं रह गया जिसको बात माननेवाला उसके सिवा कोई और भी हो।

प्रगतिशील लेखकों ने सन् ४२ के आंदोलन का विरोध किया। इस बहस का संबंध राजनीति से है कि यह करके उन्होंने अच्छा किया या बुरा, परंतु महायुद्ध

१. कुर्रतुल ऐन हैदर और मुमताज शीरीं भी हैं; और एक इबराहीम जलीस भी हैं। मुमताज शीरीं तो न जाने कहाँ डूब गईं, इबराहीम जलीस पाकिस्तान जाकर 'मुसलमान' हो गए और हिंदुस्तान दुश्मनी की दलदल में धँस गए, कुर्रतुल ऐन हैदर अबतक जी रही हैं क्योंकि पाकिस्तान जाने के बाद उन्हें यकीन आया कि उनका वतन हिंदुस्तान है। वह लौट आईं—अपनी 'आग का दरिया' पैरकर।

के धर्म को उन्होंने अपने आंदोलन के फैलाव के लिये इस्तेमाल किया और इस कार्य में वह सफल हुए। यह तै करना हमारा काम नहीं कि यह सौदा मँहगा पड़ा या सस्ता।

सन् ४२ के आंदोलन के विरोध का अर्थ यह नहीं निकालना चाहिए कि वह लोग अंग्रेजों के दोस्त हो गए थे या देश की आजादी के संघर्ष से कट गए थे। यह कहना यूँ ठीक नहीं कि इनमें से दो एक के सिवा सभी तपे हुए और इमतिहान में पूरे उतरे हुए देशभक्त हैं। पाकिस्तान बनने के बाद उर्दू के मुसलमान प्रगतिशील लेखकों में से जोश और तेग इलाहाबादी के सिवा कोई पाकिस्तान नहीं गया। इन बातों के अलावा खुद प्रगतिशील साहित्य उनकी देशभक्ति का गवाह है। जोश मलीहाबादी ने ठीक लड़ाई के दिनों में अपनी कविता 'इस्ट इंडिया के फरजंदों के नाम' लिखी। यह कविता पिघले हुए फौलाद की तरह बह रही है और जिसके पास से होकर गुजरती है वह इसकी आँच महसूस करता है :

मुजरिमों के वास्ते जेबा नहीं यह शोरो शैन।
कल यजीदो शिम्र थे और आज बनते हो हुसैन।
खैर ऐ सौदागरो अब है तो बस इस बात में।
वक्त के फर्मान के आगे झुका दो गरदनें।
इक कहानी वक्त लिक्खेगा नए मजमून की।
जिसकी सुर्खी को जरूरत है तुम्हारे खून की।
वक्त का फर्मान अपना रुख बदल सकता नहीं।
मौत टल सकती है यह फर्मान टल सकता नहीं।

मखदूम मोहउद्दीन बोले :

रात के हाथ में एक कासये दरयूजागरी[1]
यह चमकते हुए तारे ये दमकता हुआ चाँद
भीख के नूर में, माँगे के उजाले में मगन
...इस अँधेरे मे वो मरते हुए जिस्मों की कराह
...खंदकें
बाढ़ के तार
बाढ़ के तार में उलझे हुए इंसान के जिस्म
और इसान के जिस्मों पे वो बैठे हुए गिद्ध

१. भीख माँगने का प्याला।

वो तड़पते हुए सिर
मय्यतें हाथ कटी, पाँव कटी
लाश के ढाँचे के इस पार से उस पार तलक
सर्द हवा

···रात के माथे पे आजुर्दा[1] सितारों का हजूम
सिर्फ खुर्शीदे-दरख्शाँ[2] के निकलने तक है
रात के पास अँधेरे के सिवा कुछ भी नहीं।

मखदूम की इस कविता का शीर्षक है 'अँधेरा' यह वातावरण एक कंसंट्रेशन कैंप का है। यानी युद्ध चाहे 'कौमी जंग' क्यों न कही जा रही हो परंतु कवि युद्ध का विरोधी है क्योंकि युद्ध रात है और रात के पास अँधेरे के सिवा कुछ भी नहीं।

और 'कौमी जंग' के नारों के शोर में फैज ने अपनी धीमी आवाज में कहा :

बोल, कि लब आजाद हैं तेरे
बोल जबाँ अब तक तेरी है
तेरा सुतवाँ जिस्म है तेरा
बोल कि जाँ अबतक तेरी है
देख, कि आहनगर[3] की दुकाँ में
तुंद हैं शोले सुर्ख है आहन
खुलने लगे कुफ्लों[4] के दहाने[5]
फैला हरेक[6] जंजीर का दामन
बोल ये[7] थोड़ा वक्त बहुत है
जिस्मो जबाँ की मौत से पहले
बोल जो कुछ कहना है कह ले।

और जब फैज ने यूँ सच बोलने पर उकसाया तो 'साहिर' सच बोल पड़े :

मुस्कुरा ऐ जमीने तीरओ तार[8]
सिर उठा ऐ दबी हुई मखलूक[9]
···कुहना शाहिर[10] बहम[11] उलझने लगे
कोई तेरी तरफ नहीं निगराँ

१. उदास। २. चमकदार। ३. लोहार। ४. ताले। ५. मुह। ६. हर इक। ७. यह। ८. अँधेरी जमीन। ९. जनता। १०. खिलाड़ी। ११. आपस में।

यह गिरांबार[1] सर्द जंजीरें
जंग खुर्दा हैं, आहनी ही सही
आज मौका है टूट सकती हैं
फुरसते यक नफस[2]
सिर उठा ऐ दबी हुई मखलूक।

यह और ऐसी ही सैकड़ों कविताएँ प्रगतिशील कवियों की देशभक्ति की गवाही दे रही हैं। खुद सन् ४२ का आंदोलन भी इनकी जबान की नोक पर आया जब कि इनकी राजनीति इस आंदोलन का विरोध कर रही थी। फिराक गोरखपुरी ने अपनी खनखनाती हुई शैली में कहा :

कुछ इरादे भी तो चमकें, क्या कजा और क्या कदर,
वस्ले मुसतकबिल से अपनी किसमतों को छीन लो।

× × ×

जमीन जाग रही है कि इंकिलाब है कल,
वो रात है कोई जर्रा भी महवे ख्वाब नहीं।

और कैफी आजमी जैसे कट्टर कम्युनिस्ट ने 'किलये अहमद नगर' जैसी कविता लिखी। यह कविता इस नोट पर समाप्त होती है कि :

देख ऐ जोरो अमल यह सक्फ,[3] यह दीवार है,
एक रौजन[4] खोल देना भी कोई दुश्वार है।

इस जगह पर इस युग का पहला हिस्सा समाप्त होता है। इसलिये यहाँ कुछ बातें साफ कर देना जरूरी है।

आल इंडिया रेडियो और लगभग तमाम अच्छे मासिक और साप्ताहिकों पर कब्जा हो जाने के बाद भी अभी तक प्रगतिशील साहित्य लोकप्रिय नहीं हुआ है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि इन प्रगतिशील लेखकों ने परंपरा से अपना नाता बिलकुल तोड़ लिया था और पढ़नेवाले मध्यम वर्ग के लोगों को यह बात पसंद नहीं थी। दूसरा कारण यह है कि यह लेखक खुद मध्यम वर्ग के थे परंतु बातें या तो खजुराहो की मूर्तिकला जैसी कर रहे थे या किसान मजदूरों के बारे में लिख रहे थे। मध्यम वर्ग के यह लोग किसानों मजदूरों को भला क्या जानते। इसी लिये इस बीच का लगभग सारा प्रगतिशील साहित्य 'एजीटेशनल' होकर रह गया।

१. भारी। २. साँस। ३. छत। ४. सूराख।

इसी जमाने में लेखकों का एक नया गिरोह पैदा हुआ जिसमें नून, मीम, राशिद, डॉक्टर तासीर, कय्यूम नजर और मीरा जी[1] जैसे कवि थे। हसन असकरी और मीरा-जी इस गिरोह के फलसफी ठहरे। इनके साहित्य की गंदगी प्रगतिशील साहित्य के सिर थोपकर माहिरुल कादिरी और अख्तर तिलहरी जैसे आलोचक प्रगतिशील साहित्य के खिलाफ जिहाद कर रहे थे। परंतु साहित्य में न इन गंदे कवियों की कोई जगह है और न इन आलोचकों की। पहले भी जान साहब और चिरकीं जैसे कवि गुजर चुके हैं। और पहले ऐसे आलोचक भी गुजर चुके हैं जिनके बारे में गालिब ने एक पत्र में लिखा था कि इन लोगों को गाली बकना भी नहीं आता। बूढ़े को माँ की गाली देते हैं! इसलिये इन लोगों की बातें करने की जरूरत नहीं। परंतु यह प्रगतिशील इतिहासकार इस आंदोलन के सबसे बड़े दुश्मन यास यगाना चंगेजी का जिक्र करना नहीं भूल सकता। इकबाल के बाद यास इस युग के सबसे बड़े कवि हैं। यास की शायरी में जो बांकपन था वह जोश के यहाँ भी नहीं। अली सरदार जाफरी वगैरह तो छोटे कद के लोग हैं जिनकी शायरी अनुवादों के चबूतरे पर चढ़ी हुई अँगूठों के बल खड़ी है ताकि बड़ी दिखाई देने लगे।

> उठे महफिल मेरा जिंदा, मेरा मुर्दा भारी,
> कौन उठाता है मुझे, कौन बिठाता है मुझे।
>
> × × ×
>
> दावरें हश्र होशयार, दोनों मे इम्तियाज रख,
> सज्दये ना उमीद और सज्दये बे नयाज में।
>
> × × ×
>
> उमीदो बीम ने मारा मुझे दोराहे पर,
> कहाँ के देरो हरम, घर का रास्ता न मिला।
>
> × × ×
>
> हाँ कट गई शायद तेरे दीवाने की बेड़ी,
> पिछले पहर आई थी कुछ आवाज इधर आई भी।
>
> × × ×
>
> टकरा के देखें तुम क्या हो हम क्या,
> जीते तो जीते, हारे तो हारे।
>
> × × ×

१. मीरा जी अपने स्कूल के बड़े अच्छे आलोचक भी थे। परंतु यह बीमार दिमागों के लोग थे। इनके नजदीक हर मर्ज का इलाज सेक्स था।

हाँ क्यों न पार उतर चलूँ समियाजा झेलकर,
डूबे मेरी बला अरके इंकेशाल में।

× × ×

कीमियाये दिल क्या है, खाक है, मगर कैसी,
लीजिए तो मँहगी है, बेचिए तो सस्ती है।

× × ×

दिल है पहलू में कि उम्मीद की चिनगारी है,
अब तक इतनी है हरारत कि जिए जाते हैं।

× × ×

बंदे न होंगे जितने खुदा है खुदाई में,
किस किस खुदा के सामने सिजदा करे कोई।

× × ×

सच बोल के क्या हुसैन बनना है तुझे,
इतना सच बोल, दाल में जैसे नमक।

× × ×

पहाड़ काटने वाले जमीं से हार गए,
इसी जमीन में दरिया समाए हैं क्या क्या।

× × ×

हवा में उड़ गया इक एक पत्ता,
गुलों को जग हँसाई हो चुकी, बस।[1]

इस शायरी में कस बल इसलिये दिखाई दे रहा है कि मध्यम वर्ग का कवि मध्यम वर्ग के लोगों से मध्यम वर्ग की बातें कर रहा है। प्रगतिशील लेखक भी जहाँ राजनीति से अलग हुए हैं वहाँ उन्होंने बड़ी खूबसूरत शायरी की है और यही

१. यही जमाना असगर गोंडवी, अजीज लखनवी, आरज़ू लखनवी, हसरत मोहानी, नूह नारवी, इकबाल सुहैल, सीमाब अकबराबादी और सफी लखनवी का है, परंतु यगाना के सिवा केवल हसरत मोहानी ऐसे हैं जिनकी शायरी में कुछ दिन जीने का दम है। रहे जिगर मुरादाबादी तो वह तो सीमाब, आरज़, सफी और असगर गोंडवी के मुकाबले में भी मामूली शायर हैं। लोगों ने उनकी आवाज से धोखा खाकर उनकी शायरी को अच्छा समझ लिया।

खूबसूरत कहानियाँ लिखी हैं। जोश ने 'फाक़ाकशों की आवाज़' और 'जामन वालियाँ' जैसी नज़्में लिखीं, मजाज़ ने कहा :

शहर की रात और मैं नाशादो-नाकारा फिरूँ।

और फिर पूछा :

अब मेरे पास जो आई हो तो क्या आई हो।

और तब वह बड़ी उदासी से बोला :

फिर इसके बाद सुब्ह है, और सुब्हे-नौ मजाज़,
हम पर है ख़त्म शामे-ग़रीबाने-लखनऊ।

जज़्बी ने कहा :

इलाही मौत न आए तबाह हालों में,
ये काम होगा ग़मे रोज़गार सह न सका।

राजेंद्र सिंह बेदी ने 'ग्रहण', गुलाम अब्बास ने 'नंदी' और मंटो ने 'टोबा टेकसिंह' और 'मास्टर गोपीनाथ' जैसी कहानियाँ सुनाईं। कृष्णचंद्र के साथ 'बिर्जन की एक शाम' देखी गई। फिर उन्हीं ने 'बालकनी' लिखी[1]। इसमत ने 'टेढ़ी लकीर' जैसा उपन्यास भी शायद इन्हीं दिनों लिखा[2]।

सन् ४३ तक आते आते पहला जोश ठंडा पड़ चुका था और प्रगतिशील साहित्य ऐसा ही गया था कि उसे 'नए अदब' से अलग पहचाना जा सके कि यकायक बंगाल से बुरी बुरी खबरें आने लगीं। वह अकाल ऐसा भयानक था कि प्रगतिशील साहित्यकार कौमी जंग को भूल गए—

यू० पी० के एक राशनिंग अफ़सर वामिक़ अहमद मुजतबा जौनपुरी ने चंग पर आवाज़ लगाई—

पूरब देस में डुग्गी बाजी, फैला दुख का जाल
दुख की अगिनी कौन बुझाए, सूख गए सब ताल
जिन हाथों ने मोती रोले, आज वही कंगाल
—रे साथी, आज वही कंगाल।
भूखा है बंगाल रे साथी, भूखा है बंगाल।

इस उदास स्वर ने सारे उर्दू जगत् के दिलों के दरवाज़े खटखटाए। सब निकल पड़े। ग़ज़ल की चादर तानकर सोनेवाले जिगर जैसे शायर ने भी देख लिया और कहा—

१. अज़ीज़ अहमद के उपन्यास 'गुरेज़' और 'गहमर और खून' भी इन्हीं दिनों लिखे गए थे।

२. अहमद अली की कहानी 'मेरी गली' भी इन्हीं दिनों की यादगार है।

बंगाल की मैं शामो सहर देख रहा हूँ,
हर चंद कि हूँ दूर मगर देख रहा हूँ।

साहिर ने कहा[1]—

पचास लाख फसुर्दा सड़े गले लाशे,
निजामे-जर के खिलाफ इस्तेगासा करते हैं।

देवेंद्रनाथ सत्यार्थी ने 'नये धान से पहले' जैसी कहानी लिखी। ख्वाजा अहमद अब्बास ने 'एक पावली चावल' लिखा। सत्यार्थी और ख्वाजा साहब दोनों ही की कहानियाँ एक ही तरह शुरू होती हैं।

सत्यार्थी यूँ शुरू करते हैं अपनी कहानी—'वह कंगलों की कतार थी। हू-ब-हू कमान की तरह एक दूसरे के ओतबाजी…।'

ख्वाजा साहब यूँ शुरू करते हैं—'नागियों की तरह बल खाती, चीटियों की रफ्तार से रेंगती, शहद की मक्खियों के छत्ते की तरह भनभनाती, दो लंबी कतारें—एक मर्दों की एक औरतों की—सरकारी अनाज की दुकान की तरफ बढ़ रही थीं…।'

इन कतारों को याद रखिए क्योंकि कोई तीन साढ़े तीन साल बाद यह कतारें फिर दिखाई देनेवाली हैं।

इस अकाल पर सभी ने लिखा। परंतु इस अकाल की जमीन पर जो सबसे अच्छी बहुत दिनों जिंदा रहनेवाली कहानी उपजी वह कृष्णचंद्र की 'अन्नदाता' है। 'अन्नदाता' केवल अकाल पर एक अच्छी प्रतिक्रिया ही नहीं है बल्कि वह एक अच्छी कहानी भी है। वह केवल उर्दू की बहुत अच्छी कहानी नहीं बल्कि आधुनिक कथा-साहित्य की बेहतरीन कहानियों में से है। इस कहानी के तीन रूप हैं। वास्तविकता को तीन ओर से देखने का प्रयत्न किया गया। वह 'मनुष्यता' है जो प्रगतिशील आंदोलन की वजह से फैशन बन गई थी। लोग होटलों में डिनर खाते हैं, स्काच पीते हैं, नाचते हैं और भूखे बंगाल के लिये उदास हो जाते हैं। वह डिप्लोमेसी है जो अपनी सरकारों को सूचना देती रहती है कि लोग किस तरह मर रहे हैं और वह इस सूरते हाल को कैसे इस्तेमाल कर सकते हैं। और इसमें वह आदमी है 'जो अभी जिंदा' है।

'जब मैंने उसे पहलेपहल देखा तो वह मुझे एक जलपरी की तरह हसीन दिखाई दी। वह उस वक्त पानी में तैर रही थी और मैं साहिल रेत पर टहल रहा

१. असरारुल ईमान ने भी इस अकाल पर एक बड़ी खूबसूरत नज्म 'एक तसवीर' लिखी थी।

था। ···मैंने कहा ! क्या तुम सात समुंदर पार से आई हो ? वह हँसकर बोली ! नहीं। मैं इसी गाँव में रहती हूँ। वह धरती मेरे बाप की है···

अब वह मेरी बनकर मेरे घर आई तो सात रुपए का दो सेर था।

"···जब यह नन्हीं सी बच्ची पैदा हुई उस वक्त आठ रुपए का एक सेर था। लेकिन हम लोग इसपर भी खुदा का शुक्र अदा करते थे जिसने चावल के दाने उगाए और जमींदार के पाँव चूमते थे जिसने हमें चावल के दाने खिलाए···"

भात रुपए का एक सेर था।
फिर भात रुपए का तीन पाव हुआ।
फिर भात रुपए का आध सेर हुआ।
फिर भात रुपए का एक पाव हुआ।
और फिर भात—नाबूद हो गया।

"···सैकड़ों हजारों आदमी उस सड़क पर चल रहे थे। यह सड़क जो कलकत्ते के मजाफात में से बंगाल के दूर-दूर फैले हुए गाँवों में से घूमती हुई आ रही थी। यह सड़क जो इंसानों के लिये शाहरग की तरह थी।

"···चलो कलकत्ते चलो···चींटियाँ रेंग रही थीं। खाको खून में अटी हुई। लुथड़ी हुई···' (अन्नदाता)।

यह फिर वही सड़क है जो देवेंद्र सत्यार्थी और ख्वाजा अहमद अब्बास की कहानी में नजर आई थी।

"···रास्ते में कहीं कहीं खैरात भी मिल जाती थी। हिंदू हिंदुओं को और मुसलमान मुसलमानों को खैरात देते थे···

मेरी बीबी ने कहा ! हम भी अपनी बच्ची बेच दें···' (अन्नदाता)।

प्रगतिशील लेखकों ने बंगाल की आत्मा की खबर सारे देश तक पहुँचाई। उनकी कविताएँ दिलों के किवाड़ पीटने लगीं, और इस संघर्ष ने हमें अपनी स्वतंत्रता के पास पहुँचा दिया। और इन बुरे दिनों में प्रगतिशील लेखकों ने कुछ चूहों के सिवा सबके दिल जीत लिए। और फिर देश आजाद हो गया। नहीं, इतिहासकार को झूठ नहीं बोलना चाहिए चाहे वह झूठ कितना ही सुंदर क्यों न हो। यह बात इतनी सादा नहीं है कि देश आजाद हो गया। पहले दंगे हुए। फिर देश बँटा। फिर देश आजाद हुआ। और फिर दंगे हुए। स्वतंत्रता तो इस चौमुखी हकीकत का केवल एक रुख है। नेता चौपहल हकीकत के एक परत में खो गए। लेखकों के हिस्से में बाकी तीन परत आए।

जाफरी ने कहा :

कौन आजाद हुआ
किसके माथे से गुलामी की स्याही छूटी।

वामिक ने कहा :

अब ये पंजाब नहीं
एक हसीं ख्वाब नहीं
अब ये वो ख्वाब है, लेह ख्वाब है, पंजाब नहीं।

साहिर ने कहा :

यह शाखेनूर जिसे जुलमतों ने पाला है
अगर फली तो शरारों के फूल लाएगी,
न फल सकी तो नई फस्लेगुल के आने तक
जमीरे-अर्ज में इक जहर छोड़ जाएगी।

कैफी ने कहा :

कभी जिसे मुँह पे मल के निकले, कभी जिसे खूबखूब उछाला
वो यूँ शहीदों का आखिरे-कार रहम रहनुमाओं ने बेच डाला।[1]

यह बड़ा सख्त जमाना था। कई लोगों को लगा कि मनुष्य मर गया है। रामानंद सागर ने लिख दिया 'और इंसान मर गया' परंतु, रामानंद सागर के अकेले कहने से क्या होता है। मनुष्य कैसे मर सकता है। 'तीन गुंडे' लिखा कृष्ण-चंदर ने और ख्वाजा अहमद अब्बास ने 'अजंता' और 'सरदार जी' जैसी कहानियाँ लिखीं। इसमत ने 'धानी बाँके' जैसा ड्रामा लिखा और 'जड़ें' जैसी कहानी लिखीं। मुमताज हुसैन जो आलोचक हैं वह भी कथाकार बन गए। 'सूरज सिंह' शायद उनकी दूसरी हो कहानी है और इसके बाद शायद उन्होंने फिर कोई कहानी नहीं लिखी। और कृष्णचंद्र ने आगे बढ़कर 'हम वहशी हैं' की कहानियाँ सुनाई। 'पेशावर एक्सप्रेस' बोली—

'मैं लकड़ी की एक बेजान गाड़ी हूँ। इस गोश्त और अफूनत के बोझ से मुझे न लादा जाय। मैं कहतजदा इलाकों में अनाज ढोऊंगी। मैं कोयले और लोहे के कारखानों में जाऊँगी। मैं किसानों के लिये नए हल और नई खाद मुहय्या करूँगी। मैं अपने डब्बों में किसानों और मजदूरों की खुशहाल टोलियाँ लेकर जाऊँगी और बाइसमत औरतों की मीठी निगाहें अपने मर्दों के दिल टटोल रही होंगी। और उनके आँचलों में नन्हे मुन्ने खूबसूरत बच्चों के चेहरे कंवल के फूलों की तरह खिले नजर आएंगे—जब न कोई हिंदू होगा-न मुसलमान। सब मजदूर होंगे। और इंसान होंगे।'

१. इसी संदर्भ में मेरी कविता 'ऐ अजनबी'—
जामा मसजिद में अल्लाह की बात थी,
चाँदनी चौक में रात ही रात थी।

'पेशावर एक्सप्रेस' की यह तकरीर शायद कला के तकाजों के विरुद्ध हो। परन्तु जब मंटो जैसा कथाकार दंगों के लतीफे बना रहा हो और रामानंद सागर यह कह रहे हों कि 'इंसान मर गया' तो ईमानदार साहित्यकार केवल कला के तकाजे चाटकर मुँह का जायका ठीक नहीं कर सकता। वह तकरीर करेगा क्योंकि यह तकरीर ही करने का अवसर है।

सन् ५५ तक यह शोर रहा। दंगों ने नवयुवकों को प्रगतिशील लेखकों के पास पहुँचा दिया और मजरूह ने लहक कर कहा :

मैं अकेला ही चला था जानिबे मंज़िल मगर,
लोग साथ आते गए और कारवाँ बनता गया।

लेकिन यह 'शामिल होना' आसान नहीं था। मजरूह ही ने बड़ी कड़ी शर्त लगाई है :

जला के मिश्र अले जाँ हम जुनूं सिफात चले।
जो घर में आग लगाए, हमारे साथ चले।

देखा आपने कि यह स्वर किसके स्वर से मिल रहा है :

कबिरा ई घर प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस कटाय हाथ धरे, सो पैठेइ घर माहिं।

× × ×

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ।

वास्तव में यह साहित्यकार पाठकों को इसी मंजिल तक लाना चाहता था। कबीर से मजरूह तक एक सिलसिला है। यह प्रगतिशील लेखक अपनी तमाम कमजोरियों के साथ कबीर के सिलसिले की एक कड़ी है। लूई अरागाँ, पेब्लो नेरूदा, मायाकाव्स्की का मेकअप उतर जाय तो वही निडर जुलाहा निकल आता है जिसे कड़वे सच बोलने की आदत थी।

४७ से ६५ तक नए लिखनेवालों की एक पूरी खेप सामने आई। उनमें बहुत से ऐसे भी हैं जिनके दिलों में चिराग जल रहे हैं और जिनके नाम याद रखने की जरूरत है। कविता में खलीलउर्रहमान आजमी, बाकर मेंहदी, जावेद कमाल, मोहम्मद अली ताज, शहाब जाफरी, मजहर इमाम, मंजर शहाब, हसन नईम, अख़तर ज्यामी और तेग इलाहाबादी।

कहानीकारों में रजिया सज्जाद जहीर, रामलाल, कलाम हैदरी, गयास अहमद गद्दी, आमेना अबुल हसन, जीलानी बानो, काजी अब्दुस्सत्तार, धीरेंद्र पाल, और सुरेंद्र प्रकाश।

हास्य और व्यंग्य में मजीमबेग चुगताई भुलाए जा चुके हैं। शौकत थानवी याद हैं, रशीद अहमद सिद्दीकी का झंडा लहरा रहा है परंतु, सिक्का कृष्णचंद्र और कपूर ही का चल रहा है। एक अहमद जमाल पाशा ने भी कलम संभाल लिया है। और हास्य कविता में शौक बहराइची का जादू चल रहा है।

आलोचना में वही पुराने सिक्के चल रहे हैं। नयों में खलीलुर्रहमान ने यह काम बाकायदा शुरू कर दिया है। बाकर मेंहदी भी इस तरफ चल पड़े हैं परंतु यह बात कहने में कोई झिझक महसूस नहीं करता कि आधुनिक युग को अभी तक अपने आलोचक का इंतजार है।

लेकिन इस बीच में दो हादसे ऐसे हुए जिनका जिक्र जरूरी है। जब कम्युनिस्ट पार्टी में रणदिवे की आंधी आई तो इस आंधी ने प्रगतिशील साहित्य के आंदोलन की जड़ें हिला दीं। सरदार, मजरुह, कैफी और मखदूम गिरफ्तार हैं। जिसने प्यार या हुस्न की बात की वह लेखक संघ से निकाल दिया गया। जब यह आंधी थमी तो यह आंदोलन थकन से हाँफ रहा था और बहुत सी जगह खाली पड़ी थी। देश में निर्माण का कार्य आरंभ हो चुका था और वातावरण में नारों की गूँज नहीं थी। यह जुझारू प्रगतिशील लेखक इस सन्नाटे के लिये तैयार नहीं थे। यह उसी पुरानी आवाज में बोले तो यह खुद अपनी आवाज पर चौंक पड़े। इन्हें लगा कि यह चिल्लाकर बोल रहे हैं। इन्होंने महसूस किया कि इनका स्वर वक्त के स्वर से अलग हो गया है तो यह घबराकर चुप हो गए। अब वह आवाजें सुनी गईं जो नारों में दबी हुई थीं। यह आवाजें हैं फिराक गोरखपुरी और असतरुलईमान की। अब साहित्य सार्वजनिक जलसों में हजारों लाखों से बातचीत नहीं कर रहा था। अब साहित्यकार एक एक आदमी से अलग अलग बातें कर रहा है[1]। जावेद कमाल ने नए मूल्यों और जटिल मानसिक परिस्थितियों की सशक्त अभिव्यक्ति में अपने आपको परंपरा से जोड़कर एक नया स्वर देने का प्रयत्न किया है। उनकी कविताओं में अपार संभावनाएँ नजर आती हैं। हसन नईम ने इस सामान्य स्वर में लिखना शुरू ही किया था। इसलिये उन्हें कोई परेशानी नहीं थी। खलीलुर्रहमान और शहाब जाफरी जैसे कवि स्वर के इस टकराव को न देख पाए तो 'रंगे-मीर' में शेर कहने लगे। बात यह है कि मीर मध्यम स्वर के कवि हैं।

अब एक तरफ तो आवाज गुम हो गई है और दूसरी तरफ चिह्न भाषा (लिपि) की समस्या खड़ी हो गई। अरबी फारसी के चिह्न अब बात पहुँचा नहीं पाते। और खिजाँ बहार, रात दिन, सुबह शाम, दारो जिन्दाँ जैसे शब्द अब अपना अर्थ खो चुके थे। क्योंकि यह आजादी–गुलामी के 'शब्दचिह्न' थे। देश आजाद हो

१. कम्युनिस्ट प्रगतिशील कवियों में यह बात सबसे पहले मैंने महसूस की और मैंने अपना स्वर बदला।

चुका तो यह चिह्न (बिंब) यहीं आधे रह गए। और जो आज़ादी आई थी उसका हाल यह था कि :

वो इंतिज़ार था जिसका ये वो सहर तो नहीं।

इन लेखकों के पास इस स्थिति का कोई जवाब नहीं था नतीजा यह हुआ कि प्रगतिशील लेखक संघ टूट गया। किसी कान्फ्रेन्स में यह एलान नहीं किया गया, परंतु हुआ यही।

सन् ३५ में इस संघ का सपना देखनेवाले सज्जाद जहीर ने इस चुनौती को स्वीकार किया और उन्होंने अपने पहले काव्यसंग्रह 'पिघला नीलम' की कविताएँ लिखीं, इन कविताओं में नई भाषा और नए बिंबों का प्रयोग किया गया है और इसी लिये इस युग के साहित्य के इतिहास में 'पिघला नीलम' की कविताओं का बड़ा महत्व है।

तुमने मुहब्बत को मरते देखा है ?
चमकती हँसती आँखें पथरा जाती हैं
दिल के दालानों में परेशाँ लू के झक्कड़ चलते हैं।
गुलाबी एहसास के बहते सोते सूख
और लगता है जैसे
किसी हरी भरी खेती पर पाला पड़ जाए।

(मुहब्बत की मौत)

यह एक नई भाषा है और जिन बिंबों का प्रयोग किया गया है वह हमारी जिंदगी हैं। यहीं से गद्यकाव्य का युग आरंभ होता है जिसे नई कवितावाले ले उड़े और जो उनकी भागदौड़ की धूल में गुम होता जा रहा है।

●

परिशिष्ट : कुछ नाम

कहानीकार : सज्जाद जहीर, रशीद जहाँ, सिब्ते हसन, अली अहमद, गुलाम अब्बास, हसन अस्करी, मुमताज मुफ्ती, सआदत हसन मंटो, कृष्णचंद्र, राजेंद्र सिंह बेदी, हयातुल्लाह अंसारी, अजीज अहमद, ख्वाजा अहमद अब्बास, पतरस, बलवंत सिंह, अहमद नदीम कासिमी, मुमताज शीरी, इसमत चुगताई, खदीजा मस्तूर, हाजेरा मसरूर, कर्रतुलऐन हैदर, इब्राहीम जलीस, रजीया सज्जाद जहीर, रामलाल, कलाम हैदरी, जीलानी बानो, आमेना अबुल हसन, गयास अहमद गद्दी, सुरेंद्र प्रकाश, काजी अब्दुस्सत्तार, प्रकाश पंडित, सलमा सिद्दीकी।

बड़े बूढ़े : प्रेमचंद, इमतियाज अली ताज, हिजाब इमतियाज अली, ए० आर० खातून, रशीदुल खैरी, सादेकुल खैरी, अली अब्बास हुसैन, सुदर्शन, मजनूँ गोरखपूरी, काजी अबदुल ग़फ्फार।

हास्य कहानियाँ और व्यंग्य लेखक : कृष्णचंद्र, कन्हैयालाल कपूर, फिक्र तौंसवी, तुग़रल फुमार्न (असरार नारवी), अहमद जमाल पाशा।

बड़े बूढ़े : रशीद अहमद सिद्दीकी, अज़ीम बेग चुग़ताई, इमतियाज अली ताज, हाजी बगलोल, शौकत थानवी।

काव्य रस : मखदूम मोहीउद्दीन, फैज़ अहमद फैज़, नूनमीम राशिद, अली सरदार जाफरी, मोईन अहसन जज्बी, असरारुल हक मजाज, अख़तरुल इमान, जाँ निसार अख़तर, अली जवाद जैदी, अख़तर अंसारी, यूसुफ जफर, कय्यूम नज़र, अहमद नदीम कासिमी, परवेज शाहिदी, न्याज़ हैदर, सलाम मछलीशहरी, मीरा जी, राजा महदी अली खाँ, मजरूह सुलतांपूरी, साहिर लुधियानवी, खुर्शीदुल इसलाम, वामिक जौनपूरी, शहाब सर्मदी, सुलैमान उरीब, मुनीबुर्रहमान, कैफी आजमी, मख़मूर जालंधरी, फिक्र तौंसवी, नरेशकुमार शाद, जगन्नाथ आजाद, अर्श मलसीयानी, तेग इलाहाबादी, खलीलुर्रहमान आजमी, बाकर महदी, शहाब जाफरी, जावेद कमाल, मोहम्मद अली ताज, मजहर इमाम, अख़तर पयामी, मंजर शहाब, सगीर अहमद सूफी, राही मासूम रजा, शहरयार और सज्जाद जहीर।

बड़े बूढ़े : हसरत मोहानी, आर्जू लखनवी, यास यगाना चंगेजी, अजीज लखनवी, सरीफ लखनवी, असगर गोंडवी, आनंद नारायण मुल्ला, इकबाल सुहैल, जाफर अली खाँ असर, नूह नारवी, जमील मजहरी, सायल देहलवी, जिगर मुरादाबादी, जोश मलीहाबादी और फिराक गोरखपूरी।

आलोचना : सय्यद एजाज हुसैन, मजनूँ गोरखपूरी, सय्यद इहतिशाम हुसैन, आले अहमद सुरूर, इबादत बरेलवी, फिराक गोरखपूरी, हसन असकरी, मीरा जी, मुमताज हुसैन[1], अजीज अहमद[1], खुर्शीदुल इसलाम, किशन प्रसाद कौल, खलीलुर्रहमान आजमी, सज्जाद जहीर, बाकर महदी, मोहम्मद हसन, अख़तर अंसारी, अख़तर बरेलवी और राही मासूम रजा।

बड़े बूढ़े : जाफर अलीखाँ असर, अख़तर तिलहरी।

एकांकी : सज्जाद जहीर, राजेंद्रसिंह बेदी, इस्मत चुग़ताई, कृष्णचंद्र, सआदत हसन मंटो, हाजरा मसरूर और उपेंद्रनाथ अश्क।

इतिहासकार यह दावा नहीं करता कि ऊपर दी गई फेहरिस्त पूरी है। कई नाम रह गए होंगे। एक नाम तो अवश्य रह गया है। और वह नाम है मौलाना

१. इन दोनों आलोचकों ने प्रगतिशील साहित्य के विरोध में किताबें लिखी।

अबुलकलाम आजाद का। समझ में न आया कि 'गुब्बारे खातिर' लिखनेवाले का नाम किस जगह लिखा जाय। ड्रामों का जिक्र इसलिये नहीं किया गया कि उर्दू में ड्रामों की सतह बहुत नीची है। उपन्यासों का भी यही हाल है। उर्दू में अच्छे उपन्यास बहुत कम लिखे गए हैं। परंतु अजीज अहमद के उपन्यासों 'आग' और 'मरमर और खून' और इसमत के उपन्यास 'टेढ़ी लकीर' और कृष्णचंद्र के उपन्यास 'शिकस्त' और कर्रतुलऐन के दो उपन्यासों 'मेरे भी सनमखाने' और 'आग का दरिया' का जिक्र करना जरूरी है। यात्राओं का साज भी उर्दू में नहीं फिर भी एहतिशाम हुसैन के 'साहिल और समुंदर' का नाम लिया जा सकता है। उर्दू में रिपोर्ताज एक ही लिखा गया और वह है कृष्णचंद्र का 'पौदे' जो प्रगतिशील लेखक संघ की हैदराबाद कान्फरेंस की एक जीतीजागती दस्तावेज है।

●

नामानुक्रमणिका